धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक

हिन्दी-अनुशीलन

धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक

वर्ष १३ : अंक १–२ (जनवरी-जून)

भारतीय हिन्दी परिषद् • प्रयाग

समर्पण तिथि : ३० मई १९६० ई०

[दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में भारतीय हिन्दी परिषद् के सत्रहवें अधिवेशन (२८, २९, ३० मई, १९६० ई०) के अवसर पर]

मूल्य १० रु०
सदस्यों तथा ग्राहकों से ५ रु०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशक
व्रजेश्वर वर्मा, प्रबन्ध-मंत्री, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद

भारतीय हिन्दी परिषद्

प्रयाग

"खोज से सम्बन्ध रखनेवाला विद्यार्थी ज्ञानमार्ग का पथिक होता है। भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग से उसे दूर रहना चाहिए। संभव है आगे चल कर सत्य के अन्वेषण की तीन धाराएँ आपस में मिल जाती हों—कदाचित् मिल जाती हैं—किन्तु इसकी इस ज्ञानमार्ग-पथिक को चिन्ता नहीं होनी चाहिए। वह क्षेत्र तो असाधारण विचारक आचार्यों का है। मनुष्य की ज्ञान सम्बन्धी समस्त खोजों का चरम लक्ष्य सबसे बड़े अज्ञात सत्य का अन्वेषण करना है। ज्ञान सम्बन्धी छोटी-से-छोटी खोज इसी चरम लक्ष्य की ओर संकेत करती है और उसके निकट पहुँचाने में सहायक होती है।"

—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

[हि० अनु०, व० ३, अं० ४, पृ० ४]

प्राक्कथन

भारतीय हिन्दी परिषद् की कार्यसमिति ने परिषद् के संस्थापक एवं संरक्षक तथा उसके मुखपत्र के प्रथम प्रधान संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण करने के उपलक्ष्य में उनके सम्मानार्थ 'हिन्दी-अनुशीलन' का एक विशेषांक निकालने का प्रस्ताव लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व किया था। इसके लिए योजना बनाने के उद्देश्य से एक समिति बनायी गयी थी। समिति ने 'धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक' की योजना बनायी और सुझाव दिया कि इसमें हिन्दी भाषा, संस्कृति तथा साहित्य के अध्ययन से सम्बन्धित देश-विदेश के प्रतिष्ठित विद्वानों के शोध-निबन्धों का उत्कृष्ट संकलन प्रस्तुत किया जाय। साथ ही उसके संपादक-मंडल के लिए हिन्दी भाषा तथा साहित्य के १४ प्रतिष्ठित विद्वानों के नाम भी प्रस्तावित किये। इस योजना पर विचार करने के बाद कार्यसमिति ने इसे परिषद् के रायगढ़ अधिवेशन में प्रस्तुत किया और यह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुई।

एक वर्ष से अधिक के अनवरत परिश्रम से यह विशेषांक प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसकी विषय-सूची तथा लेखकों की नामावली से स्पष्ट हो जायगा कि विद्वानों के व्यापक सहयोग तथा सामग्री की उत्कृष्टता की दृष्टि से हम अपने आदर्श में एक सीमा तक सफल हो सके हैं। हम देश-विदेश के इन भाषा, संस्कृति तथा साहित्य के विद्वानों के प्रति आभारी हैं जिनके बहुमूल्य सहयोग से इस कार्य को इस रूप में संपादित करने में सफलता प्राप्त हो सकी है।

इस विशेषांक के लिए विभिन्न देशों के विद्वानों का सहयोग मिला है। इनमें अनेक ने अपने निबन्ध अपनी भाषाओं में भेजे थे। यद्यपि हमने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि इनका बहुत ठीक हिन्दी अनुवाद दिया जा सके, पर विशेषज्ञों के इन विशिष्ट निबन्धों के रूपान्तर के पूर्ण निर्दोष होने का दावा करना कठिन है। विशेष कर कुछ लेखों का पहले अंग्रेज़ी में और फिर उससे हिन्दी में रूपान्तर करने के कारण उनमें कुछ अशुद्धियाँ रह जाने की सम्भावना बनी रही है। कुछ निबन्ध अधिक विस्तृत थे और अपनी सीमाओं के कारण हम उनके संक्षिप्त रूप को ही दे सके हैं। हम आशा करते हैं कि हमारी सीमाओं को देखते हुए ये विद्वान् हमें क्षमा करेंगे। इस सम्बन्ध में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रूसी भाषा के प्राध्यापक श्री सुरेशचन्द्र सेनगुप्त के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने बहुत कम समय के अन्दर ८ लम्बे रूसी निबन्धों का अनुवाद हमारे लिए प्रस्तुत किया।

अनुवाद-कार्य में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हमारे सहयोगियों में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० जगदीश गुप्त, श्री माताबदल जायसवाल, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा श्री संगम लाल पाण्डेय (दर्शन-विभाग) और शोध-विद्यार्थियों में डॉ० रामचन्द्र राय, श्री अमरबहादुर सिंह, श्री नित्यानन्द तिवारी तथा श्री अरुण कुमार (प्रा० इतिहास-विभाग) ने बहुमूल्य सहायता दी

है। इसके अतिरिक्त डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने इस योजना को अनेक स्तरों पर कार्यान्वित करने में, डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस विस्तृत विशेषांक के प्रूफ़ देखने के दुस्तर कार्य में तथा श्री नित्यानन्द तिवारी ने सूचियाँ आदि तैयार करने में विशेष सहयोग प्रदान किया है। फ़ादर कामिल बुल्के ने अस्वस्थ रह कर भी राँची से अनुवाद करके (फ़्रेंच से) तथा प्रूफ़ देखकर इस कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा ही व्यक्त की है। हम इन सबके आभारी हैं।

संपादक-मंडल समय-समय पर निर्देशन तथा सुझाव देकर बहुमूल्य सहयोग देता रहा है, विशेष कर डॉ० विनयमोहन शर्मा और डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तथा स्थानीय सदस्य डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० माताप्रसाद गुप्त के सक्रिय सहयोग से हमको बहुत बल मिला है। इस विशेषांक के भाषा-खण्ड के संपादन में डॉ० बाबूराम सक्सेना से पग-पग पर सहायता और निर्देशन मिला है। अपनी अनेक व्यस्तताओं के बीच उन्होंने बहुत-सी सामग्री देखने का कष्ट भी किया है। पं० उमाशंकर शुक्ल जी के सहयोग के बिना इस योजना का कार्यान्वित होना कठिन होता। पर ये सभी महानुभाव परिषद् से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहे हैं, अत: इनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन में भी संकोच होता है।

अन्त में सम्मेलन मुद्रणालय के संचालक श्री सीताराम गुंठे, तथा अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों के प्रति आभार प्रकट करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिनके सक्रिय सहयोग से ही हम इस विशेषांक को इतने कम समय में और इस रूप में निकालने में सफल हो सके हैं।

रघुवंश
विजयेन्द्र स्नातक

२० मई, १९६०

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : भाषा

द्वितीय खण्ड : संस्कृति

तृतीय खण्ड : साहित्य

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

परिचय

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के पितामह श्री रंजीतराय, ग्राम शकरस, तहसील बहेड़ी, जिला बरेली के प्रतिष्ठित जमींदार थे। उनके एक मात्र पुत्र श्री खानचन्द हुए। इन्होंने रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज में इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त की और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग में ओवरसियर के पद पर नियुक्त हुए। श्री खानचन्द्र कर्मठ और सक्रिय आर्यसमाजी रहे हैं और धीरेन्द्र जी ने बचपन से भारतीय संस्कृति के विषय में चिन्तन तथा मनन की प्रेरणा इन्हीं से ग्रहण की है। भाषा और संस्कृति के प्रति इनकी विशेष अभिरुचि का मूल स्रोत भी वे हैं। आज अपनी अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था में भी वे भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध पुस्तकों के अध्ययन में संलग्न रहते हैं और इसी विषय पर वार्तालाप करना पसन्द करते हैं।

धीरेन्द्र जी का जन्म वैशाख पूर्णिमा संवत् १९५४ वि० (सोमवार, १७ मई, १८९७ ई०) को मुहल्ला भूड़, बरेली शहर में हुआ। ५-६ वर्ष की अवस्था में पिता जी इनको भारतीय संस्कृति के अनुकूल वातावरण में शिक्षा देने के लिए गुरुकुल काँगड़ी भेजना चाहते थे, पर स्नेहाधिक्य के कारण दादी और माँ ने इन्हें अपने से अलग रखना स्वीकार नहीं किया। इस पर दोनों पक्षों में समझौता इस बात पर हुआ कि डी० ए० वी० कॉलेज, देहरादून में इनकी पढ़ाई हो तथा दादी और माँ वहीं मकान लेकर साथ रहें। इस स्कूल में इनका प्रवेश १९०८ ई० में हुआ। पर यह क्रम अधिक नहीं चल सका और एक वर्ष बाद ये अपने पिता के पास लखनऊ में आ गये जहाँ वे उस समय काम कर रहे थे। यहाँ इनका नाम क्वींस एंग्लो हाईस्कूल में लिखाया गया। अपने कोमल और शिष्ट स्वभाव, अध्यवसाय तथा मेधाशक्ति के कारण ये अपने स्कूल के अध्यापक और सहपाठियों के स्नेह-पात्र बन गये। इनके स्कूल के सहपाठियों में श्री दुलारेलाल भार्गव थे।

इस स्कूल से इन्होंने स्कूल लीविंग सर्टीफ़िकेट परीक्षा सन् १९१४ ई० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। इसके बाद आगे की शिक्षा के लिए इन्होंने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में प्रवेश प्राप्त किया और निवास हिन्दू बोर्डिंग हाउस में ग्रहण किया। उस समय मालवीय जी के इस छात्रावास की बहुत प्रतिष्ठा थी। छात्रावास के इनके साथियों में आचार्य नरेन्द्रदेव, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पं० सुमित्रानन्दन पंत तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना जी के नाम विशिष्ट हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना इनके सहपाठी रहे और इन दोनों की अभिन्नता साथ-साथ रहने के कारण बढ़ती गयी है। इण्टरमीडिएट परीक्षा में इन्हें विशेष योग्यता प्राप्त हुई और छात्रवृत्ति मिली। सन् १९२१ ई० में इसी कॉलेज से इन्होंने एम० ए० परीक्षा संस्कृत (वैदिक ग्रुप) में पास की। इसके उपरान्त इन्हें सरकारी डी० लिट० स्कॉलरशिप मिला और इसी कालेज में डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य के निर्देशन में ये ब्रजभाषा के विकास पर शोध-कार्य करने लगे।

जुलाई १९२४ ई० में जब नव-संगठित इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी की कक्षाएँ खोली गयीं, उस समय वाइस चांसलर डॉ० गंगानाथ झा के अनुरोध से ये हिन्दी के प्रथम लेक्चरर नियुक्त हुए। इनकी अध्यक्षता में यह विभाग शीघ्र ही उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ और तब से ये बराबर उसके अध्यक्ष रहे। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की समस्त प्रगति का इतिहास डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के सुयोग्य निर्देशन और नियोजन में ही अग्रसर हुआ है। एक अध्यापक और पाँच विद्यार्थियों से आरम्भ करके लगभग १४०० विद्यार्थियों तथा १८ अध्यापकों के विभाग को संगठित करना और व्यवस्था देना साधारण महत्त्व का कार्य नहीं है। परन्तु विश्वविद्यालय के किसी विभाग का गौरव मात्र संख्या पर निर्भर नहीं रह सकता। आचार्य श्यामसुन्दरदास प्रभृति विद्वानों ने विश्वविद्यालय के स्तर पर हिन्दी के पाठ्यक्रमों को निर्धारित, नियोजित और व्यवस्थित करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था, धीरेन्द्र जी ने उस दिशा में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन्होंने स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों को निरन्तर व्यापक, गम्भीर तथा पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। भाषा और साहित्य की व्यापक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इन्होंने आनुषांगिक विषयों का भी पाठ्यक्रमों में स्थान निर्धारित किया है और कुछ विशिष्ट सहयोगी भाषाओं, साहित्यों तथा विषयों को वैकल्पिक तथा विशिष्ट प्रश्नपत्रों के रूप में स्वीकार किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर परीक्षाओं के विशेष और वैकल्पिक प्रश्नपत्रों की व्यवस्था इस बात की साक्षी है।

अपने ही विश्वविद्यालय में नहीं वरन् एक प्रकार से सभी विश्वविद्यालयों के हिन्दी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति (साहित्य के संदर्भ में) से सम्बन्धित वैज्ञानिक और व्यवस्थित शोध-कार्य के पथ-प्रदर्शन, नियोजन तथा संगठन का श्रेय इनको है। जो कार्य हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया, हिन्दी शोध के क्षेत्र में वही कार्य धीरेन्द्र जी का है। वस्तुतः अपनी संश्लिष्ट चिन्तन शैली के कारण इन्होंने भाषा और साहित्य को सदा संस्कृति के व्यापक परिवेश में ग्रहण किया। यही कारण है कि इन्होंने हिन्दी शोध-कार्य को जो दिशा दी है वह बहुत व्यापक है। उसमें भाषा और साहित्य के अध्ययन के साथ सम्पूर्ण सांस्कृतिक पीठिका भी आ जाती है, ऐतिहासिक अध्ययन के साथ सांस्कृतिक इतिहास की प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया गया है, साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों, युगों तथा प्रवृत्तियों के विवेचन के साथ अन्य सम-कालीन भारतीय भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को स्वीकार किया गया है।

विभाग की व्यवस्था के गम्भीर दायित्व के साथ इन्होंने आदर्श अध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य को सदा अपना पवित्र कर्तव्य माना है। अपने विद्यार्थियों के बीच इस रूप में इनका बहुत सम्मान रहा है और कक्षा का कोई भी विद्यार्थी इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। विषय का व्यवस्थित, क्रमिक और सुस्पष्ट विवेचन इनकी अध्यापन शैली की विशेषता रही है। भाषा-विज्ञान, भाषा का इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति का इतिहास इनके प्रिय विषय रहे हैं। भाषा जैसे विषय को सुगम और रोचक बना देना और साहित्य तथा संस्कृति की जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया की सुस्पष्ट विवेचना प्रस्तुत करना इनकी अध्यापन शैली का आकर्षण रहा है।

विभाग के दायित्व तथा अध्यापन कार्य के साथ इन्होंने निरन्तर अपने अध्ययन तथा शोध-कार्य को जारी रखा है। अपने अध्ययन-काल में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके जो निबन्ध

छपे थे, उनसे इनके चिन्तन की दिशा और मौलिक दृष्टि का निश्चित संकेत मिलने लगता है। विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त होने तक इनके कई शोध-निबन्ध विशिष्ट पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। इन निबन्धों के आधार पर भाषा, साहित्य तथा संस्कृति सम्बन्धी अनेक गम्भीर शोध-कार्य आगे चलकर इनके द्वारा सम्पन्न कराये गये। अपने समय तक के भारतीय भाषाओं से सम्बद्ध समस्त शोध-कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर इन्होंने सन् १९३३ ई० में हिन्दी भाषा का प्रथम वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखा। सन् १९३४ ई० में ये भाषा-विज्ञान के उच्च अध्ययन के लिए पेरिस गये और प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी ज्यूल ब्लाख के निर्देशन में इन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त की और सन् १९३५ ई० में ये स्वदेश वापस आये। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इनको अपने मध्यदेश की संस्कृति सम्बन्धी अध्ययन तथा अनुशीलन के आधार पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। इन भाषणों को उक्त परिषद् ने सन् १९५५ ई० में पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में इनकी अपनी मौलिक दृष्टि है और इस आधार पर एक स्वतंत्र इतिहास लिखने का इनका भाव रहा है। भारतीय हिन्दी परिषद् के तत्त्वावधान में हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन की एक ऐसी योजना सर्वप्रथम इनके द्वारा प्रस्तावित की गयी जिसमें विभिन्न कालों, युगों, धाराओं तथा परम्पराओं पर लिखने के लिए अधिकारी विद्वानों को आमंत्रित किया गया। इसका द्वितीय भाग 'हिंदी साहित्य' नाम से इनके प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य कोश' भी इनके प्रधान सम्पादकत्त्व में प्रकाशित हुआ है।

विश्वविद्यालय में ये सन् १९३२ में रीडर नियुक्त हुए और सन् १९४६ में प्रोफ़ेसर, और इस पद से इन्होंने मार्च १९५९ में अवकाश ग्रहण किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ३५ वर्षों की सेवा की लम्बी अवधि में इन्होंने अन्य अनेक उच्च तथा दायित्व के पदों पर रह कर अपनी योग्यता का परिचय दिया है। डायमंड जुबली हास्टल के निर्माण के बाद से ही ये इसके वार्डन रहे, अनेक वर्षों तक विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य रहे और कुछ वर्षों तक आर्ट्स फ़ैकल्टी के डीन के पद पर भी रहे।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक सम्माननीय पदों के लिए इनको चुना गया है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना के समय (सन् १९२७) से ही ये इसके सदस्य रहे तथा लम्बी अवधि तक इसके मंत्री भी रहे हैं। वस्तुतः इस एकेडेमी के निर्माण में तथा इसके कार्य के नियोजन में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। एकेडेमी की भाषा, साहित्य तथा संस्कृति सम्बन्धी गम्भीर तथा गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन की गौरवपूर्ण परम्परा के इतिहास में इनका सक्रिय योग है। एक प्रकार से इसकी योजनाओं में प्रधानतया इन्हीं की कल्पना और दृष्टि रही है। इसी प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन, अध्यापन तथा शोध-कार्य को नियोजित, नियंत्रित तथा निर्देशित करने की दृष्टि से इन्होंने भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना हिन्दी के कुछ अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों की सहायता से की। इन दिशाओं में भारतीय हिन्दी परिषद् ने पिछले १८ वर्षों में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उससे सभी परिचित हैं।

इसके अतिरिक्त ओरिएंटल कान्फ्रेन्स के लखनऊ अधिवेशन में इनको हिन्दी-विभाग

का अध्यक्ष चुना गया था। अध्यक्ष-पद से जो भाषण इन्होंने दिया था वह हिन्दी शोध-कार्य के इतिहास की सारगर्भित विवेचना प्रस्तुत करता है। लिंग्युस्टिक सोसाइटी ऑफ़ इण्डिया के अध्यक्ष पद पर भी ये सन् १९५८-५९ में रह चुके हैं। इनकी योग्यता और अनुभव को दृष्टि में रख कर ही इनको 'हिन्दी विश्वकोश' के प्रधान सम्पादक का गौरवपूर्ण दायित्व ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया गया है।

धीरेन्द्र जी के पिता सौभाग्य से अभी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हैं और उनकी अवस्था ८० वर्ष के ऊपर है। इनकी माता बदायूं के एक सुप्रसिद्ध परिवार की पुत्री थीं। उनको अपने इकलौते पुत्र से अतुल स्नेह था। इनका देहान्त सन् १९४६ में हुआ। धीरेन्द्र जी का विवाह लखनऊ के तत्कालीन प्रसिद्ध वकील चौधरी रामभरोसे लाल की पुत्री श्रीमती मायादेवी से दिसम्बर सन् १९२१ में हुआ। इनके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। सभी को उच्च शिक्षा प्राप्त हुई है।

धीरेन्द्र जी स्वभाव से मृदु, सात्विक, मितभाषी और कार्यसंलग्न हैं। इनकी गम्भीरता और इनके मौन से अनेक बार भ्रम हो सकता है कि ये शुष्क स्वभाव के व्यक्ति हैं। परन्तु निकट सम्पर्क में आने पर इनकी मृदुता और हास्यप्रियता का अनुभव होता है। फिर भी इनको मुक्त स्वभाव का नहीं कहा जा सकता। अपने निकट-से-निकट सम्बन्ध में ये एक दूरी बनाये रखते हैं जो अत्यन्त शिष्ट, शालीन तथा सौम्य भाव में व्यक्त होती रहती है। इसी कारण ये किसी भी व्यक्ति अथवा स्थिति से एक सीमा तक ही सम्पृक्त रहते हैं। स्वभाव के इस पक्ष के ही कारण सम्भवत: इन्हें अपनी दृष्टि अधिक संतुलित, विचार अधिक संयत तथा निर्णय अधिक निष्पक्ष रखने में आसानी होती है। धीरेन्द्र जी ने महत्त्वाकांक्षा की अपेक्षा कार्य को सदा अधिक महत्त्व दिया है, इस कारण उनमें विचारों तथा सिद्धान्तों की निर्भीकता है। विद्रोह और संघर्ष उनके स्वभाव के बहुत अनुकूल नहीं हैं, पर उनमें अपने विचारों और विश्वासों पर निर्भीकतापूर्वक अडिग रहने का पूर्ण आत्मविश्वास है।

कृतियाँ

१. **हिन्दी भाषा का इतिहास**—अपने समय तक के आधुनिक भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित खोज कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर लिखा हुआ, हिन्दी-भाषा का वैज्ञानिक तथा महत्त्वपूर्ण इतिहास। प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९३३ ई०।

२. La Langue Braj—फ्रेंच भाषा में ब्रजभाषा पर शोध-प्रबंध, जिस पर लेखक को पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई, सन् १९३५ ई०।

३. **हिन्दी भाषा और लिपि**—'हिन्दी भाषा का इतिहास' की भूमिका का स्वतन्त्र पुस्तक रूप। प्रकाशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, १९३५ ई०।

४. **ब्रजभाषा व्याकरण**—प्रका० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३७ ई०।

५. **अष्टछाप**—प्रका० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३८ ई०।

६. **सूर सागर-सार**—सूर के ८१७ उत्कृष्ट पदों का चयन और सम्पादन। प्रका० साहित्य-भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०।

७. **मेरी कालिज डायरी**—सन् १९१७ से १९२३ ई० तक के विद्यार्थी-जीवन में लिखी गयी डायरी का पुस्तक रूप। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०।

८. **मध्यदेश**—भारतीय, विशेषकर मध्यदेश की, सांस्कृतिक चेतना के प्रति वर्ष के चिन्तन के परिणामस्वरूप इस ग्रंथ की रचना हुई है। वस्तुतः यह पुस्तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में दिये गये व्याख्यानों का संशोधित रूप है। प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५५ ई०।

९. **ब्रजभाषा**—(थीसिस) का हिन्दी रूपान्तर। प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

१०. **हिन्दी साहित्य कोश**—सम्पादन, प्रका० ज्ञानमंडल, बनारस, सन् १९५८ ई०।

११. **हिन्दी साहित्य**—(सम्पादन) प्रका० भारतीय हिन्दी-परिषद्, सन् १९५९ ई०।

१२. **कम्पनी के पत्र**—(सम्पादन) प्रका० इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, सन् १९५९ ई०।

१३. **ग्रामीण हिन्दी**—प्रका० साहित्य-भवन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद।

१४. **हिन्दी-राष्ट्र**—प्रका० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

१५. **विचारधारा**—निबन्ध-संग्रह। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद।

१६. **यूरोप के पत्र**—अपने विशेष अध्ययन के लिए यूरोप जाने पर वहाँ से लिखे गये पत्रों का संकलन। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद।

प्रमुख निबन्ध

निबन्ध	प्रकाशन
१. **मध्यदेश का विकास**—	— नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९२१ ई०।
२. **हिन्दुस्तान की वर्तमान बोलियों के विभाग और उनका प्राचीन जनपदों से सादृश्य**	— वही, सन् १९२२ ई०।
३. **संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान**	— वही, सन् १९२३ ई०।
४. **हिन्दी में नयी ध्वनियाँ तथा उनके लिए नये चिह्न**	— हिन्दुस्तानी, भाग १, सन् १९३१ ई०।
५. **क्या दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता गोकुलनाथ कृत है?**	— वही, भाग २, सन् १९३२ ई०।
६. **हिन्दी वर्णों का प्रयोग**—	— द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, सन् १९३३ ई०।
७. **भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या पर कुछ विचार**	— हिन्दी-अनुशीलन, अंक १, वर्ष १, सन् १९३३ ई०।
८. **वैज्ञानिक शब्द कोश**	— वही, अंक १, सन् १९३३ ई०।
९. **मध्यदेश की साहित्यिक भाषा**	— वही, अंक ४, सन् १९३३ ई०।
१०. **सूरदास और भागवत**	— हिन्दुस्तानी, भाग १, सन् १९३४ ई०।

११. **खोज सम्बन्धी कुछ अनुभव** — वही, वर्ष ३, अंक ४, सन् १९३५ ई०।
१२. **व्यक्ति और समाज** — वही, वर्ष ४, अंक १, सन् १९३६ ई०।
१३. **अवध के जिलों के नाम** — हिन्दुस्तानी, भाग २, सन् १९३६ ई०।
१४. **हिन्दी-भाषा संबंधी अशुद्धियाँ** — वही, भाग ४, सन् १९३६ ई०।
१५. **संयुक्त प्रांत में हिन्दू पुरुषों के नाम** — वही, भाग १, सन् १९३७ ई०।
१६. **यूरोप में विदेशी, विशेषकर भारतीय भाषाओं की शिक्षा** — वही, भाग १, सन् १९३९ ई०।
१७. **स्वामी दयानंद के कुछ नये पत्र** — वही, भाग १, सन् १९४० ई०।
१८. **सिलवें लेवी** — वही, भाग २, सन् १९४२ ई०।
१९. **स्व० डॉ० राजेश्वरबली की हिन्दी कविता**—वही, भाग १, सन् १९४५ ई०।

धीरेन्द्र जी के निर्देशन में सम्पन्न शोधकार्य

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **तुलसीदास**—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, सन् १९४० ई०।
२. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय**—डॉ० दीनदयालु गुप्त, सन् १९४५ ई०
३. **हिन्दी-अर्थ-विचार**—डॉ० हरदेव बाहरी, सन् १९४५ ई०।
४. **हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि**—(१७५७ से १८५७ ई० तक)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४६ ई०।

डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध

१. **आधुनिक हिन्दी-साहित्य** (१९५० से १९०० तक)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४० ई०।
२. **आधुनिक हिन्दी-साहित्य**—डॉ० श्रीकृष्णलाल, सन् १९४१ ई०।
३. **सूरदास**—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, सन् १९४५ ई०।
४. **आधुनिक हिन्दी-कविता में नारी भावना**—डॉ० शैलकुमारी, सन् १९४९ ई०।
५. **हिन्दी-साहित्य पर प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव**—डॉ० रामसिंह तोमर, सन् १९५१ ई०।
६. **भारतीय ग्रामोद्योग की शब्दावली का अध्ययन (आजमगढ़)**—डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, सन् १९५१ ई०।
७. **हिन्दी चारण-साहित्य का अध्ययन**—(१६०० से १८०० ई० तक)—डॉ० टीकमसिंह तोमर, सन् १९५२ ई०।
८. **उत्तर प्रदेश के हिन्दू पुरुष नामों का अध्ययन**—डॉ० विद्याभूषण 'विभु', सन् १९५२ ई०।
९. **सिद्ध-साहित्य**—डॉ० धर्मवीर भारती, सन् १९५३ ई०।
१०. **गुजराती तथा व्रजभाषा वैष्णव काव्य का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० जगदीश गुप्त, सन् १९५३ ई०।
११. **दक्खिनी हिन्दवी के सूफ़ी लेखक**—डॉ० विमल बाग्रे, सन् १९५४ ई०।

१२. **बंगाली तथा हिन्दी वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० रत्नकुमारी सन् १९५५ ई०।

१३. **डिंगल-साहित्य**—डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, सन् १९५७ ई०।

१४. **हिन्दी भक्तिकाव्य पर पुराणों का प्रभाव**—डॉ० शशि अग्रवाल, सन् १९५७ ई०।

१५. **आगरा जिले की बोली का अध्ययन**—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सन् १९५८ ई०।

१६. **सूर सागर की शब्दावली का अध्ययन**—डॉ० निर्मला सक्सेना, सन् १९५८ ई०।

१७. **आधुनिक साहित्य में राष्ट्रीयता का विकास**—डॉ० कीर्ति सक्सेना, सन् १९६० ई०।

१८. **रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव**—डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव, सन् १९५६ ई० (आ० वि०)।

अध्यक्षता-काल में अन्य शोध-कार्य

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **हिन्दी अलंकार शास्त्र**—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', सन् १९३७ ई०।

२. **भोजपुरी**—डॉ० उदयनारायण तिवारी, सन् १९४५ ई०।

३. **नायिका-भेद का अध्ययन**—डॉ० छैल बिहारी लाल गुप्त 'राकेश', सन् १९५२ ई०।

डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **हिन्दी छंदशास्त्र**—डॉ० जानकीनाथ सिंह, सन् १९४२ ई०।

२. **आधुनिक मनोविज्ञान और रस**—डॉ० छैल बिहारी लाल गुप्त 'राकेश', सन् १९४३ ई०।

३. **हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ** (प्रारम्भ से सन् १६७५ ई० तक)—डॉ० व्रजमोहन गुप्त, सन् १९४६ ई०।

४. **हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य**—डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, सन् १९४७ ई०।

५. **हिन्दी पत्रकारिता का विकास**—डॉ० रामरतन भटनागर, सन् १९४८ ई०।

६. **प्रकृति और काव्य** (हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति काल में)—डॉ० रघुवंश, सन् १९४८ ई०।

७. **रामकथा, उत्पत्ति और विकास**—डॉ० कामिल बुल्के, सन् १९४९ ई०।

८. **हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव**—डॉ० विश्वनाथ मिश्र, सन् १९५० ई०।

९. **हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास**—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, सन् १९५२ ई०।

१०. **भोजपुरी लोक गाथाएँ**—डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सन् १९५३ ई०।

११. **रीवाँ दरबार के हिन्दी कवि (महाराज रघुराज सिंह के विशेष अध्ययन के साथ)**—डॉ० विमला पाठक, सन् १९५६ ई०।

१२. **हिन्दी नीति साहित्य**—डॉ० भोलानाथ तिवारी, सन् १९५६ ई०।

१३. **कबीर की रचनाओं का पाठ-सम्पादन**—डॉ० पारसनाथ तिवारी, सन् १९५७ ई०।

१४. **मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी**—डॉ० उषा पाण्डेय, सन् १९५७ ई०।

१५. **अवधी, व्रज और भोजपुरी लोक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० गंगाचरण त्रिपाठी, सन् १९५८ ई०।

प्रथम खण्ड : भाषा

प्रबोध बेचरदास पंडित

गुजराती व्याकरण में जाति और परिमाण

भाषा की व्यवस्था को समझने के लिए भाषा-व्यवस्था को मानव व्यवहार की अन्य व्यवस्थाओं से अलग करके उसका परीक्षण करना चाहिए। ऐसे विभाजन से ही हम भाषा-व्यवस्था को विशद् रूप से देख सकते हैं। ध्वनि और समग्र विश्व की (दृष्ट-अदृष्ट, चर-अचर) सृष्टि, ये दो विशिष्ट भौतिक घटनाएँ हैं। भाषा ऐसी संज्ञाव्यवस्था है जो इन दोनों घटनाओं को जोड़ती है। ध्वनि या विश्व के पदार्थों का स्वरूप समझना-समझाना भौतिक विज्ञान का क्षेत्र है। भाषाविज्ञान का क्षेत्र तो ये दो घटनाएँ कैसे—कैसी संज्ञाओं के प्रयोग से—जुड़ी हैं, यह दिखाने का है। वैयाकरण का काम यह संज्ञाव्यवस्था समझना-समझाना है।

भाषा की संज्ञाव्यवस्था का प्रथम लक्षण है उसका व्यवस्थागत द्वैत। मानवसमाज में संज्ञाओं की अनेक व्यवस्थाएँ हैं जिनसे मानव-मानव का व्यवहार चलता है। प्राणिसमाज में भी कुछ संज्ञाओं का व्यवहार रहता है।

हाथ ऊँचा करके मुट्ठी दिखाना एक तरह की संज्ञा है; ताली बजाना भी एक तरह की संज्ञा है। मुट्ठी दिखाने से 'मेरी ताकत', 'मैं सज़ा कर सकता हूँ' इत्यादि संदेसा पहुँचाया जाता है। ताली बजाने से भी कोई संदेसा (जिसका भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकता है) पहुँचाया जा सकता है। प्राणिसृष्टि में भी विशेष प्रकार के पशुपक्षी भय का संदेसा पहुँचाने के लिए एक तरह की चिचियारी करते हैं, और आनंद-अन्नप्राप्ति का संदेसा पहुँचाने के लिए दूसरी तरह की आवाज़ करते हैं। ये सब संज्ञाएँ अर्थयुक्त हैं, सार्थ हैं, कुछ नियत संदेश की वाहक हैं। ये संज्ञाएँ ऐसी नहीं कि एक में दूसरे को मिलाने से नया अर्थ निकले। उदाहरणतया मुट्ठी दिखाना, दाहिना हाथ हिलाना, बायाँ पैर ऊँचा करना, ये तीनों संज्ञाएँ इसी क्रम में रखने से अमुक अर्थ निष्पन्न हो और उस क्रम को बदलने से कोई दूसरा अर्थ निष्पन्न हो, ऐसी कोई संज्ञाव्यवस्था मानवसृष्टि या प्राणिसृष्टि में नहीं है। पृथक् रूप से ये संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न संदेशों की वाहक बन सकती हैं। प्राणिसृष्टि में भी विभिन्न आवाजें विभिन्न संदेशों की वाहक होती हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न नादों के भिन्न-भिन्न मिश्रणों से नए-नए अर्थ पैदा करने की योजना इन संज्ञाओं में नहीं।

भाषा की संज्ञाव्यवस्था इतर संज्ञाव्यवस्थाओं से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न है। भाषा-व्यवस्था की प्राथमिक संज्ञाएँ अर्थरहित हैं। भाषा की प्राथमिक संज्ञाएँ ध्वनिरूप हैं। ये ध्वनि-रूप संज्ञाएँ (= ध्वनिघटक, अंग्रेज़ी-फोनीम) कुछ अर्थ की सूचना नहीं करतीं। 'मुट्ठी दिखाना' इस संज्ञा का कुछ अर्थ है, किन्तु किसी भाषा के कोई ध्वनिघटक, जैसे कि हिन्दी के।क्।, ।ग्।,

। अ।, । उ। इत्यादि सर्वथा अर्थरहित हैं। स्वतः उनका कुछ अर्थ नहीं। इन अर्थरहित ध्वनि-घटकों के कुछ परिमित आवर्तन ही अर्थयुक्त बनते हैं। ये अर्थरहित प्राथमिक संज्ञाएँ परिमित हैं। भाषा में ध्वनिघटक की संख्या अत्यंत मर्यादित होती है।

उच्चारण-वैविध्य होने पर भी भाषा में ध्वनिघटक तो मर्यादित ही होते हैं। अद्या-वधि किसी भाषा में ६०-६५ से ज्यादा ध्वनिघटक मिलते नहीं।

यह तो स्पष्ट है कि प्राथमिक घटक—ध्वनिघटक—अर्थ से स्वतंत्र होने से उनके आवर्तनों की संख्या अगण्य है। उदाहरणतया चालीस या साठ तक के अंकों के शक्य आवर्तनों का गाणितिक दृष्टि से हिसाब लगाने से मालूम होता है कि परिणाम करीब-करीब अनंतता के समीप जा रहा है। इससे कहा जा सकता है कि भाषा में अपरिमित विकास के बीज हैं। प्राथमिक भूमिका के घटकों का अर्थ से मुक्त होना मानव भाषा को इतर संज्ञाव्यवस्थाओं से अलग करता है। प्राणिसृष्टि में ध्वनि—जैसे पशु की चिचियारी—का संज्ञारूप व्यवहार है; किन्तु यह संज्ञा स्वतः अर्थसूचक है। अर्थ से मुक्त न होने से इस संज्ञा में विकास की सम्भावना नहीं, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की शक्यता नहीं।

मानव भाषा एक अनन्य संज्ञाव्यवस्था है। इस संज्ञाव्यवस्था की दो उपव्यवस्थाएँ हैं: (१) ध्वनिघटकों की व्यवस्था और (२) ध्वनिघटकों के सार्थ आवर्तनों की व्यवस्था (जिसको व्याकरण कहते हैं)। मानव भाषा की संज्ञाव्यवस्था में यह द्वैत इतना स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि एक उपव्यवस्था को समझाने के लिए कभी दूसरी उपव्यवस्था का आधार लेने की आवश्यकता नहीं। यह व्यवस्थागत द्वैत मानव भाषा का विशिष्ट लक्षण है।

हमने आगे देखा कि भाषा एक ऐसी संज्ञाव्यवस्था है जो दो घटनाओं को जोड़ती है, और इन घटनाओं से अलग करके ही भाषा को विशद् रूप से देखा जाता है। भाषाव्यवस्था का अन्य घटनाओं से सम्बन्ध निम्नलिखित आकृति से स्पष्ट होगा :
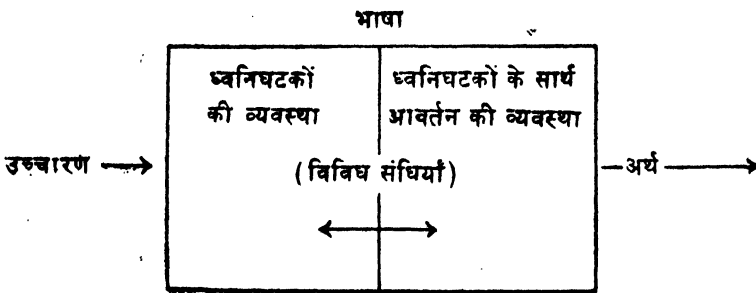
उच्चारण और अर्थ दोनों घटनाएं भाषाव्यवस्था को बाहर से स्पर्शती घटनाएं हैं। भाषाव्यवस्था को इनसे जितना अलग करके समझाया जा सके उतना हमारा व्याकरण स्पष्ट और विशद् बनता है।

वर्तमानकाल में तो उच्चारण और ध्वनिघटक का भेद इतना स्पष्ट हो चुका है कि किसी भाषावैज्ञानिक को इन दोनों को अलग करने में कोई बाधा नहीं आती।

ध्वनिघटक के अल्पतम सार्थ आवर्तन को अर्थघटक (अंग्रेजी=मोर्फीम) कहते हैं। इस अर्थघटक को अपने 'अर्थ' से अलग करने में कुछ बाधा आती है। सामान्यतः अर्थघटकों की व्यवस्था का वर्णन करने में अर्थघटक के स्थान को अन्य अर्थघटकों के स्थान की अपेक्षा से स्पष्ट कर सकते हैं, और इसी पद्धति से अर्थघटकों के व्यवस्थागत विभाग कर सकते हैं; जैसे कि अंग्रेजी में आर्टीकल (a an, the) और सहायक क्रियापद के (is, are) बीच में आनेवाले अर्थघटकों का एक व्यवस्थागत विभाग हो सकता है, और अर्थघटकों के उस केन्द्र को 'नाम' कह सकते हैं। अर्थघटकों के वर्गों का ऐसा परस्परापेक्षी वर्णन व्याकरणी व्यवस्था की नींव है; इस तरह के व्याकरणी विभागों (अंग्रेजी : सब्स्टीट्यूशन क्लास) से प्रस्तुत भाषा के व्यवस्थागत विभागों की जाँच होती है, और किसी भी भाषा की व्यवस्था समझने के लिए एक मानदंड प्राप्त होता है।

इस तरह से, 'अर्थ' को अलग रख कर, अर्थघटकों की व्यवस्था का वर्णन हो सकता है। विश्व के दृष्ट-अदृष्ट पदार्थ अनन्त हैं, किन्तु किसी भाषा के शब्द (अर्थघटक) अनन्त नहीं। ऐसा होने पर भी किसी भी भाषा को विश्व की किसी भी घटना को व्यक्त करने में कभी बाधा नहीं आती। इससे स्पष्ट होगा कि अर्थघटकों का अर्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं। उनका सीधा सम्बन्ध तो है उनकी व्यवस्था से; वह अवस्था आखिर अर्थ को स्पर्शती है। अर्थघटक के अर्थ का क्षेत्र इस व्यवस्था-मान्य संदर्भ पर आधारित है। अर्थघटक में किसी आंतरिक अर्थद्योतकता का सर्वथा अभाव है, उनकी अर्थद्योतकता निभती है संदर्भ पर; अर्थघटक तो है ध्वनिघटक का एक आवर्तन, और ध्वनिघटक अर्थरहित है ही; इससे अर्थघटक सीधे अर्थ को स्पर्श नहीं कर सकते। अर्थघटकों की व्यवस्था को इस दृष्टि से अर्थ से अलग कर सकते हैं।

क्वचित् ऐसी परिस्थिति आती है जिसमें अर्थ का एक नियत क्षेत्र हो, उसकी नियत व्यवस्था हो और यह व्यवस्था अर्थघटकों की व्यवस्था से ऐसी संलग्न हो कि दोनों व्यवस्थाओं को एक दूसरे से अलग करना असम्भव हो जाय। अर्थात् नियत अर्थक्षेत्र का विभागीकरण अर्थ-घटकों की व्यवस्था पर निर्भर होने से वैयाकरण को दोनों को स्पष्ट करने का दायित्व निबाहना होता है—अर्थघटकों की व्यवस्था और नियत अर्थक्षेत्र पर उसका प्रभाव। ऐसे प्रसंग कम होते हैं, किन्तु सर्वथा विरक्त नहीं। ऐसे प्रसंगों से यह भी सूचित होता है कि अर्थ को कहाँ तक स्पर्श करना है। इस प्रश्न का कोई आत्यन्तिक उत्तर वैयाकरण के पास नहीं है, वर्त्तमान भाषा के अनुसार वह अपनी मर्यादा बाँधता है।

गुजराती भाषा के व्याकरण में ऐसा एक प्रश्न उपस्थित होता है।

नर, नारी और नान्यतर का व्याकरणी वर्गीकरण भारतीय-आर्य कुल की चार भाषाओं में आज मौजूद है। वे हैं: मराठी, कोंकणी, भद्रवाही और गुजराती। इस कुल की अन्य भाषाओं में या तो दो वर्ग ही बचे हैं (जैसे हिंदी), या तो जाति विषयक कुछ व्याकरणी वर्गीकरण ही नहीं बचा (जैसे बंगाली)। यह तो स्पष्ट है कि इस तरह का वर्गीकरण सिर्फ़ व्याकरणी वर्गीकरण है, उसका भौतिक जाति के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं।

गुजराती नाम (जिसमें व्याकरणी दृष्टि से विशेषण और कृदन्त समाविष्ट होते हैं) की जाति, जातिसूचक अर्थघटकों से या तो उनके अन्य नाम---विशेषण वा कृदन्त---के साथ के व्यवहार से स्पष्ट होती है।

जाति के अनुसार नाम का विभाग निम्न प्रकार होता है[1]:

(१) इस विभाग में नाम की जाति किसी जातिसूचक अर्थघटक से स्पष्ट नहीं होती, किन्तु इन नामिक अंगों में जाति का आरोपण करने से ही उनकी अन्य नामों—कृदन्त, विशेषणों—के साथ दृश्यमान होती तुलना स्पष्ट होती है; उदाहरणतया —

नर जाति : हार्, सारो हार्, हार् आप्यो 'हार', 'अच्छा हार', 'हार दिया'

नारी जाति : मोटर्, सारी मोटर्, मोटर् आपी 'मोटर', 'अच्छी मोटर्', 'मोटर दी'

नान्यतर जाति : घर्, सारूं घर्, घर् आप्युं 'घर', 'अच्छा घर', 'घर दिया'

'हार्', 'घर्' और 'मोटर्' की जाति विशेषणों और कृदन्तों के साथ जुड़े हुए जातिसूचक घटकों के अन्वय से स्पष्ट होती है।

(२) इस विभाग में नाम के अर्थघटक के साथ तीन में से एक जातिसूचक अर्थघटक जुड़ा हुआ रहता है; उदाहरणतया—

नर०	साफो = साफ् +ओ	=सिर पर बाँधने का
नारी०	छींकणी = छींकण्+ई	=सूंघने की तमाकू
नान्यतर०	पैडुं = पैड +उं	=पहिया

इस विभाग के नाम एक ही जातिसूचक अर्थघटक के साथ जुड़ सकते हैं। यह नामों की जाति का अर्थ केवल व्याकरणी है—अर्थात् इनसे इतनी ही सूचना मिलती है कि इनके साथ जुड़े हुए विशेषण या कृदन्त भी –ओ, –ई, या –उं युक्त होंगे।

-ओ युक्त नामों में सब -ओ नरजाति के अर्थघटक नहीं। उदा० 'साफो' का -ओ नरजाति का अर्थघटक है, किन्तु 'जळों' का -ओ नरजाति का अर्थघटक नहीं। इसका समर्थन विभक्त्यंग रूपों से (अंग्रेजी : ओब्लीक फोर्म) मिलता है; नरजाति का -ओ का विभक्त्यंग रूप आ होगा, (जैसे : साफो, साफा) इतर सब -ओ का -ओ ही रहेगा : 'जलो' सर्वथा 'जलो' ही रहेगा। ऐसा ही परिवर्तन नान्यतर के -उं और इतर -उं में पाया जाता है (नान्यतर -उं का विभक्त्यंग रूप में -आ होगा इतर -उं का -उं ही रहेगा।)

(३) इस विभाग के नामिक अंग एक से अधिक जातिसूचक अर्थघटकों के पूर्व आ सकते हैं। इस विभाग के तीन उपविभाग हो सकते हैं।

(क) नामिक अंग जाति सूचक तीनों अर्थघटक के पूर्व आ सकता है; उदाहरणतया—

नर०	छोकरो = छोकर्+ओ	= लड़का
नारी०	छोकरी = छोकर्+ई	= लड़की

---

१. गुजराती में स्वरों के ह्रस्वत्व दीर्घत्व—इ-ई और उ-ऊ—का भेदक नहीं है, फोनीमिक नहीं है; किन्तु इस लेख में परंपरानुसार प्रयुक्त है।

नान्यतर० छोकरुं = छोकर्+उं = छोटा बच्चा
नर० बकरो = बकर्+ओ
नारी० बकरी = बकर्+ई
नान्यतर० बकरुं = बकर्+उं

इस विभागके नाम अधिकांश सजीव हैं (विशेषण और कृदन्तों को छोड़ कर)। जाति-सूचक अर्थघटकों का अर्थ स्पष्ट है :-ओ और-ई नर और मादा के अर्थसूचक हैं और जब लिंग अव्यक्त है (जब भाषक लिंगनिर्णय करता नहीं) और लघुता व्यक्त करनी हो तब -उं का प्रयोग होता है।

(ख) इस विभाग में नामिक अंग नर और मादा के सूचक दो जातिसूचक अर्थघटक -ओ और -ई के पूर्व आता है; उदाहरणतया—

नर० ओट्लो; नारी० ओट्ली,
नर० माखो; नारी० माखी,

वैसे ही—दडो : दडी (=गैंदा : गेंद), वाट्को : वाट्की (=कटोरा : कटोरी), मासो : माशी (=मौसी का पति : मौसी) इत्यादि ।

यहाँ जातिसूचक अर्थघटकों के अर्थ का विस्तार हुआ है। जब नाम निर्जीव होता है तब -ओ और -ई का भेद 'बड़ा-छोटा' ऐसे भेद से व्यक्त होता है। -ओ और -ई का अर्थ-विस्तार इस रूप से व्यक्त किया जा सकता है—

{ओ}=जब नाम सजीव हो तब नर जाति, जब नाम निर्जीव हो तब सापेक्षभाव से बड़ा पदार्थ।
{ई}=जब नाम सजीव हो तब नारी जाति, जब नाम निर्जीव हो तब सापेक्षभाव से छोटा पदार्थ।

(ग) इस विभाग में नामिक अंग नारी और नान्यतर के दो जातिसूचक अर्थघटक के पूर्व आ सकते हैं—अर्थात् -ई और -उं के पूर्व आ सकते हैं। इस विभाग के नाम निर्जीव हैं। इस संदर्भ में {ई} का अर्थ 'सूक्ष्म, छोटा, कोमल' होता है और {उं} का अर्थ 'स्थूल, बड़ा, अ-कोमल' होता है। इस विभाग के उदाहरण कम हैं—

नारी० माट्ली = माटल्+ई (=पानी भरनेकी छोटी मटकी)
नान्य० माट्लुं = माटल्+उं (=पानी भरने का बड़ा मटका)
नारी० वडी = वड्+ई (=अचार में खाए जाते छोटे बड़े)
नारी० वडुं = वड्+उं (=बड़ा)

वैसे ही– गाडी : गाडुं, नाडी : नाडुं ,पोट्ली : पोट्लुं इत्यादि।

नाम के इन विभागों को ध्यान में रखकर जब {ओ} {ई} और {उं} का अर्थनिर्णय करने की कोशिश करेंगे तब आने वाली कठिनाई स्पष्ट होगी।

{ओ}=नर, बड़ा।
{ई}=नारी, छोटा, कोमल।
{उं}=अव्यक्त जाति, छोटा।

ऐसा अर्थ करने से (ग) विभाग के नामों के उदाहरण में {उं} का जो अर्थ 'बड़ा, स्थूल,

अकोमल' है, उसको बाधा आती है। एक ही अर्थघटक पर ऐसे विरोधी अर्थों का आरोप करना युक्तियुक्त नहीं।

(क) विभाग में जो {उं} है उस {उं} को, और (ग) विभाग में जो {उं} है उस {उं} को एक दूसरे से भिन्न, स्वतंत्र अर्थघटक कहना भी युक्तियुक्त नहीं। ये तीनों अर्थघटक {ओ, ई, उं} एक ही रूपाख्यान में निबद्ध हैं, एक ही तरह के व्याकरणी घटकों के बाद आते हैं। इन तीन घटकों के रूपाख्यान को चार घटकों {ओ} {ई} {उं$_1$} {उं$_2$} का रूपाख्यान कहना तर्कपूर्ण नहीं होगा।

वस्तुतः (ख) विभागों में—-ओ,-ई विभाग में—{ओ} का जो कार्य है वही कार्य (ग) विभाग में—उं,-ई विभागों में—{उं} का है। जब नामिक अंग दो जातिसूचक अर्थघटकों के रूपाख्यान में होता है तब उस नाम की व्याकरणी जाति एक ही भेद रेखा से अलग पड़ती है—

नारी } <——————> { अ-नारी
लघु } { अ-लघु

एक ओर -ई है और दूसरी ओर उसके विरोधी की हैसियत से {ओ} और {उं} व्यवहृत होते हैं। व्याकरणी नारी के सामने व्याकरणी नर और नान्यतर का भेद लुप्त हो जाता है।

(क) विभाग के नामों में तीनों अर्थघटकों के रूपाख्यान से तीनों जाति अपना भेद स्पष्ट रखती हैं, तीनों की भेदरेखा स्पष्ट है।

दूसरे दो विभागों में—(ख) और (ग) विभागों में—दो अर्थघटकों के ही रूपाख्यान मिलते हैं। इन दोनों रूपाख्यानों की भेदरेखा एक ही है—नारी और उनका विरोधी भाव; यह विरोधी भाव का आरोपण करते समय नर-नान्यतर का भेद टिकता नहीं। अर्थघटकों का स्थूल आकार -ओ और -उं अलग होने पर भी उनका कार्य तथा अर्थ एक हो जाता है।

(क) विभाग की भेदरेखाएँ आकृति द्वारा इस प्रकार व्यक्त हो सकती हैं—
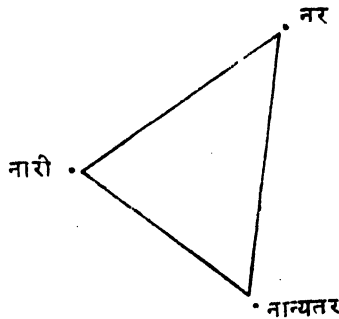
दूसरे दो विभागों की भेदरेखा इस प्रकार व्यक्त होती है—

नारी————————इतर

इन दोनों आकृतियों में प्रत्येक रेखा भेद की सूचक है। {ओ, ई, उं} यह तीन अर्थघटकों के अर्थ का एक अर्थक्षेत्र है। यह अर्थक्षेत्र जाति और परिमाण (अंग्रेजी 'साइज़') दोनों को आवरता है, अपने में समाविष्ट करता है। अर्थघटकों का रूपाख्यानगत अर्थ (तीन

जातिसूचक अर्थघटकों का रूपाख्यान हो तो अमुक अर्थ, दो का रूपाख्यान हो तो अमुक अर्थ) इस अर्थक्षेत्र में विशिष्ट रूप से प्रगट होता है : या तो तीन जाति का अर्थ निकले या दो परिमाण का अर्थ निकले। यह अर्थक्षेत्र एक ओर अव्यक्त जाति सहित तीन जाति तक विस्तरता है और दूसरी ओर दो परिमाण—लघु-अलघु या कोमल-अकोमल—में विभक्त होता है।

अब, गुजराती के -ओ, -ई, -उं को मात्र जातिसूचक प्रत्यय कहकर रुक जाना व्याकरणी दृष्टि से उचित न होगा। इन प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध और जाति-परिमाण का उनका अर्थक्षेत्र गुजराती व्याकरण की एक विशेषता है।

जिन घटनाओं को परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा से ही व्यक्त कर सकते हैं उन घटनाओं की अपनी अपनी आंतरिक व्यवस्था है, ऐसा माना जाता है। उन तीन घटकों का अर्थ उनके रूपाख्यानगत अर्थ और अर्थक्षेत्रगत अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से ही स्पष्ट होता है। यहाँ अर्थघटकों की व्यवस्था अर्थक्षेत्र के संदर्भ में ही स्पष्ट होती है। यह ऐसा व्याकरणी प्रसंग है जहाँ अर्थघटक की व्यवस्था का निरूपण करते समय 'अर्थ' का आलम्बन आवश्यक होता है।

●

चिन्तामणि उपाध्याय

मालवी का उद्गम और विकास

वर्तमान मालव प्रदेश के नाभिस्थल उज्जयिनी के निकट का विस्तीर्ण क्षेत्र प्राचीन युग में अवन्ती जनपद के नाम से प्रसिद्ध रहा है, अतः जनपदों के नाम पर प्रवृत्तियों के नामकरण की परम्परा के आधार पर मालव प्रदेश की साधारण जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा को प्रदश के नाम पर 'मालवी' नाम देना सार्थक है। मालव प्रदेश की भाषा के संबंध में प्राचीनतम उल्लेख केवल भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ही मिलता है। यदि हम 'मालवी' के आदिस्रोत की उसमें खोज करते हैं तो वह प्राचीनता का मोह ही कहा जाएगा। सूर्यनारायण व्यास मालवी को अवन्तिजा से निसृत मानते हैं; किंतु अधिकांश विद्वानों के समक्ष इस मत को स्वीकार करने में अनेक उलझनें भी उत्पन्न हो सकती हैं।

अवन्तिजा निश्चित ही उस युग की जनभाषा रही होगी, क्योंकि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के साथ ही देश-भाषा के विकल्पन को ग्रहण करने के लिए भरत मुनि ने विशेष आग्रह भी किया है; किन्तु अवन्तिजा भाषा के स्वरूप, गुण और लक्षण आदि के सम्बन्ध में 'नाट्य-शास्त्र' मौन है। इसी तरह मालवी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए डा० श्याम परमार ने भी मालवी की जननी अवन्तिजा को माना है।[१] किन्तु राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में प्रस्तुत किए गए 'नवीन प्रश्न' का वे उचित समाधान नहीं कर सके। अवन्ती, परियात्र, एवं दशपुर (आधुनिक मन्दसौर) के निवासियों की भाषा को राजशेखर ने भूतभाषा कहा है।[२] किन्तु भूत के साथ पिशाच का सम्बन्ध जोड़कर पैशाची भाषा को अनार्य भाषा करार देना भी उचित नहीं है।[३] भूतभाषा पैशाची का ही दूसरा नाम है। फिर भरतमुनि के युग से लेकर राजशेखर के समय तक लगभग ७०० वर्षों के दीर्घकालीन आवरण को चीरकर अवन्तिजा का वही रूप स्थिर रहा होगा, यह विचारणीय है।

पालि भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। पालि किस प्रदेश की भाषा रही होगी, इस प्रश्न पर भी मत-वैभिन्य है। डा० ओडनवर्ग ने उसे कलिंग की भाषा माना है[४] तो वेस्टरगार्ड तथा ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है।[५] इस मत की पुष्टि

---

१. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०। २. आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूत भाषा भजन्ते। (काव्यमीमांसा, अध्याय १०)। ३. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०-२१। ४. विनय पिटक: ओडनवर्ग द्वारा संपादित: भाग १. भूमिका, पृष्ठ १-५। ५. बुद्धिस्टिक स्टडीज: डा० लाहा द्वारा संपादित: पृष्ठ २२२-२३।

दो बातों से की गई है। एक तो अशोक के गिरनार वाले अभिलेख की भाषा पालि से बहुत कुछ समानता रखती है, दूसरे राजकुमार का जन्म उज्जैन में हुआ था और यहीं उनका बाल्यकाल भी व्यतीत हुआ। अतः महेन्द्र की मातृभाषा उज्जैन की बोली थी जिसमें उसने बौद्ध धर्म का प्रचार किया होगा। डा० उदयनारायण तिवारी भी उक्त तथ्य को युक्तियुक्त मानते हैं।[६] प्रो० रायस डेविड्स[७] यद्यपि पालि को कोशल प्रदेश की भाषा मानते हैं, परन्तु उन्होंने प्रथम सहस्राब्दि ईस्वी के मध्य तक की भाषाओं की जो सूची दी है उसमें क्रमांक ६ में यह प्रकट किया है कि वह कोशल की राजधानी सवत्थी (श्रावस्ती) की स्थानीय बोली पर आधारित परस्पर बातचीत की एक उपभाषा थी जिसका राज्य के समस्त अधिकारियों और व्यापारियों में प्रचलन था। इसका समस्त कोशल-राज्य में ही नहीं वरन् दिल्ली से पटना तक, उत्तर में सवत्थी से दक्षिण में अवन्ती तक प्रचार था। इसी प्रकार क्रमांक ६ पर आधारित उच्च भारतीय पालि का साहित्यिक रूप भी था, जो अवन्ती में बोले जाने वाले रूप में व्यवहृत होता था। बौद्धधर्म के प्रचार का एक प्रमुख माध्यम होने के कारण पालि अनेक बोलचाल की भाषाओं के संश्लेषण से अस्तित्व में आई थी। अतः यह मान लेना असंगत नहीं होगा कि उसमें अवन्ती प्रदेश (मालव) की तत्कालीन भाषा का अंश भी अवश्य रहा होगा। साहित्यिक शैलियों में विकसित पालि, प्राकृत आदि भाषाओं में उन जीवित बोलियों के अस्तित्व को खोज निकालना कठिन अवश्य है, किन्तु यथालब्ध प्रमाणों के आधार पर उनकी किंचित् स्थिति का आभास हमें अवश्य मिल सकता है। बौद्धकालीन एवं अशोक के समय की उज्जैनी भाषा अथवा बोली के सम्बन्ध में ऊपर विवेचन किया जा चुका है। वर्तमान मालवी की परम्परा को भरत मुनि से पूर्व तक ले जाया जा सकता है। हमें पालि में कुछ ऐसे शब्दों के रूप प्राप्त होते हैं जो आज भी मालवी, राजस्थानी आदि में प्रचलित हैं—

मोर—हिन्दी की अनेक बोलियों में प्रचलित 'मोर' (मयूर) शब्द का अशोक के शिलालेखों में पाया जाना जन-भाषा की प्राचीन सजीव परम्परा के उद्घाटन में विशेष महत्व रखता है।[८] अन्य उदाहरण—[९]

पालि	संस्कृत	मालवी	
अग्गि	अग्नि	आग्गि, आगि	पृ० ३७
पियु	प्रिय	पिय, पियु	,, ३७
रुक्खो	रुक्ष	रुखो	,, ३७
ओट्ठ	ओष्ठ	ओट्ठ, होंठ	,, ३८
रुक्ख	वृक्ष	रुँखड़ो, रुँख	,, ४०
खीर	क्षीर	खीर	,, ४१

६. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ६३। ७. रायस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ८० (सुशीलगुप्त प्रकाशन)। ८. आर० के० मुकर्जी, अशोक, पृष्ठ २४५ (राजकमल प्रकाशन)। ९. 'पालि साहित्य का इतिहास' से।

पालि	संस्कृत	मालवी	
लोण	लवण	लोण, लूण	,, ४९
फरसु	परशु	परसो	,, ५६
झाम	क्षाम	झाम	,, ६३
उण्हा	उष्णा	उन्हा 'ण्णे'	,, ६४

अशोक के गिरनार वाले शिलालेख की पालि की तरह मालवी में भी प्रमुख विशेषता यह है कि 'श' एवं 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग हुआ है।

अवन्तिजा: अवन्ती प्राकृत एवं पैशाची

वररुचि ने प्राकृत के केवल चार भेद ही माने—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। भरत को छोड़कर अवन्तिजा का उल्लेख किसी लेखक ने नहीं किया। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत के विभिन्न रूपों का जो प्रयोग मिलता है, वह भी कृत्रिम ही लगता है। 'मृच्छकटिक' नाटक में विदूषक प्राच्यभाषा का प्रयोग करता है तो वीरक आवन्ती का। किन्तु इस संदर्भ में अवन्ती प्राकृत का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। स्टेन कोनउ ने पालि और पैशाची के सादृश्य की ओर ध्यान आर्कषित करते हुए पैशाची प्राकृत को उज्जैन की बोली बतलाया है।[१०] इस मत से निस्सन्देह भाषा-शास्त्रियों के सम्मुख एक नई समस्या खड़ी होती है कि पैशाची का आदि-स्थान उज्जैन को कैसे माना जाय? यहीं राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' का यह कथन भी विचारणीय है कि अवन्ती (मध्य मालव), परियात्र (पश्चिमी विन्ध्यप्रदेश), और दशपुर (उत्तर मालव) के लोग भूतभाषा का प्रयोग करते थे—'आवन्त्याः पारियात्रा सह दशपुरजैर्भूतभाषा भजन्ते,[११] भूतभाषा का यह प्रसंग परमार जी के लिए एक नवीन प्रश्न है।[१२] किन्तु भूतभाषा को ही पैशाची भाषा कहा गया है। इसी भाषा में गुणाढच ने 'बृहत्कथा' लिखी थी। प्रश्न तो यह उठता है कि राजशेखर ने अवन्ती प्रवृत्ति के प्रचार और प्रसार का जहाँ उल्लेख किया[१३] वहाँ भाषा के सन्दर्भ में इस प्रदेश की भाषा को भूतभाषा ही क्यों कहा? यदि भूत भाषा को हम पैशाची के रूप में स्वीकार भी न करें तो 'भूत' का सीधा अर्थ 'बीता हुआ युग' मानकर यह नहीं मान सकते कि उक्त प्रदेश के लोग अतीत की परम्परागत भाषा का ही प्रयोग करते थे! राजशेखर द्वारा वर्णित भूतभाषा एवं प्रचलित मालवी में एक गुण समान रूप से विद्यमान है। मालवी की सरसता एवं मिठास तो सर्वविदित है ही। राजशेखर ने भूतभाषा की विशेषता प्रकट करते हुए उसे भी सरस कहा है[१४]।

---

१०. विन्टरनिट्ज, इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ६०४। ११. काव्य मीमांसा, अध्याय १०। १२. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०। १३. ततः सोवन्तीन् प्रत्युच्चचाल यत्रावन्ती वेदिश सुराष्ट्र मालवार्बुद भृगुकच्छादयो जनपदाः—काव्य मीमांसा, अध्याय ३। १४. सरस रचनम् भूतवचनम्—बालरामायण, अंक १, श्लोक ४।

अपभ्रंश एवं मालवी

अपभ्रंश से पहिले प्राकृत को देशी भाषा कहने की प्रथा प्रचलित थी[१५] और प्राकृत से पूर्व पालि के लिए भी इसी संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। अवसर आने पर प्राकृत को भी अपनी रूढ़ि दूर करने के लिए लोकभाषा की सहायता लेनी पड़ी। अपभ्रंश का आविर्भाव एकदम नये सिरे से नहीं हुआ, बल्कि पूर्ववर्ती प्राकृतों और देशी भाषाओं के योग से उसकी अवस्था विकसित हुई। विकास के इन्हीं क्षेत्रों में आधुनिक मालवी के बीज भी खोजना चाहिए। बौद्धकालीन उज्जैन की पालि, अवन्तिजा प्राकृत और सरस भूतभाषा की विकास-सरणी अपभ्रंश की उस अवस्था तक पहुँचती है जहाँ हमें मालवी के दर्शन होते ह।

अपभ्रंश रचनाओं में कई शब्द ऐसे मिलेंगे जिनसे प्रचलित मालवी शब्दों का साम्य दिखाई पड़ता है। सिद्ध एवं जैन लेखकों की रचनाओं में प्रयुक्त कुछ मालवी शब्दों को देखकर परमार जी को भी यही भ्रम हुआ।[१६] राहुल जी कृत 'हिन्दी काव्यधारा' में प्रस्तुत कुछ उद्धरणों में प्रयुक्त निम्नलिखित शब्दों को परमार जी मालवी के शब्द मान बैठे —

सक्कर खंडेहि पायस पाय सोही (४८)। सहज अंगिठि भरि भरि **रांधे** (१५८)। **जीत्या** संग्राम पुरिस भया सूरा (१६८) **सासूड़ी** पालनड़े **बाहूड़ी** हिंडोले (१६१)। **सोनैं रूपै** सीझे काज (१६३)। **बलद** बिभाअल गविआ बांझे (१६४)।
'सक्कर' (शकर), 'रांधे' (पकाती है), 'जीत्या' (जीतकर), 'सासूड़ी' (सास), 'बहूड़ी' (वधू), 'सोनैं' (स्वर्ण), 'रुपै' (रोप्य), 'बलद' (बैल) आदि शब्द गुजराती और राजस्थानी में भी उसी अर्थ में प्रचलित हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त मालवी के कई शब्द ऐसे हैं जो गुजराती और मालवी में समान रूप से प्रचलित हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य तो नहीं हो जाता कि शब्दसाम्य के कारण हम राजस्थानी और गुजराती को भी मालवी से निसृत मान लें। मालवी का सीधा सम्बन्ध किसी एक अपभ्रंश भाषा से अवश्य है। उसको राजस्थानी के अन्तर्गत एक उपभाषा या बोली नहीं मान सकते। इस तथ्य की गहराई में जाने के लिए अपभ्रंश एवं प्राकृत के वैय्याकरणों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

मार्कण्डेय एवं 'कुवलयमालाकहा' के रचयिता उद्योतन सूरि ने जिस अपभ्रंश भाषा एवं उसके उपभेदों का विवरण प्रस्तुत किया है, वह लोकभाषा का विस्तृत रूप है। मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन प्रमुख उपभेद—नागर, उपनागर एवं ब्राचड़[१७] के अतिरिक्त लगभग २७ विभिन्न बोलियों के नाम भी गिनाए हैं; उनमें अवन्त्य और मालव को दो भिन्न रूपों में स्वीकार किया है।[१८] 'कुवलयमाला'कार ने एक कथा को मालवी में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है।[१९] किन्तु इन प्रमाणों

---

१५. पालित्तणए रइया वित्थइओ तह य देसिवयणेहिं—'पाहुड दोहा' की भूमिका से उद्धृत। १६. मालवी और उसका साहित्य, पृ० २१। १७. प्राकृत सर्वस्व (विजगापट्टम आवृत्ति) पृ० ३। १८. वही, पृ० २। १९. तणु-साम मऽहदेहे कोवणए माणजीविणो रोद्दे। 'भाउअ भइणी तुम्हें' भणिरे अह मालवे दिट्ठे।—कुवलयमाला कथायाम्, गा० ओ० सी० संख्या ३७, पृ० ९३।

का भाषा के लिखित साहित्य के अभाव में कोई महत्व नहीं है। आधुनिक देशी बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' के रचनाकाल से अवश्य मिलने लगता है। उनकी 'देशीनाममाला' में भी अनेक ऐसे शब्दों का संग्रह है जो प्राकृत ही नहीं बल्कि साहित्य में अप्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बोलचाल की भाषा में होता रहा होगा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है। देवसेन, सोमप्रभ, मेरुतुंग एवं हेमचन्द्र आदि जैन लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त रामसिंह, अब्दुर्रहमान आदि लेखकों की रचनाओं में उपलब्ध शब्दों की विस्तृत सूची में आधुनिक मालवी, गुजराती और राजस्थानी में प्रचलित शब्दों को देखकर यह कहा जा सकता है कि मालवी के बीज भी उसी क्षेत्र में विद्यमान थे, जहाँ से गुजराती और राजस्थानी के अंकुर प्रस्फुटित हुए।[२०]

मालवी के अंकुर

निम्नलिखित उदाहरणों में अनेक शब्दों में मालवी शब्दों की समरूपता देखी जा सकती है—

१. कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में—

मइं जाणिअं मिअ-लोअणि णिसि अरु कोई हरेइ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ।

---

२०. हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' में आए हुए कुछ महत्वपूर्ण शब्दों की सूची दी जा रही है जो मालवी में भी मिलते हैं—

दुआर (द्वार); कुंभार (कुंभकार); गड्डो; बप्पुड़ा, मा० बापुड़ो; डाल (शाखा); डोंगर (पहाड़); ढोला (प्रियतम); रुसणा (रोषयुक्ता); डज्झइ-दाजणो (जलना); देउल (देवकुल), मा० देवल; खोड़ी, मा० खोड़; पराई; छइल्ल (छैल); रुक्ख, रूँख; हलद्दी, मा० हळदी, हेट्ठ-(नीचे), मा० हेठ।

हेमचन्द्र की 'देसीनाममाला' में आए हुए उन शब्दों की सूची जो किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ आज भी मालवी में मिलते हैं—

उक्खली (ओखली); उड्डिवो, मा० उड़दाँ; उबी (पक्क गोधूम); ओड्ढणं, मा० ओढ़णी; ओसरिया (ओसारी); कट्टारी; कुल्लड़; कोइला (कोयला); खवो, खवओ (कन्था); गग्गरी, मा० गागरी; गुत्ती (बन्धनम्), मा० गाँति; छिण्णालो, मा० छिनाल, छिनाळा; जोवारी (धान्य); झाड़ (लता गहनम्); बोक्कड़ो (=बकरा), मा० बोकड़ो; बोहारी (झाड़ू), मा० बुवारी; मोग्गरो (पुष्प विशेष), मा० मोगरो; राड़ी, मा० राड़।

अपभ्रंश काव्यों में प्रचलित कुछ तद्भव शब्द जो मालवी में प्रचलित हैं—

कुंड; खाट; घरबार; खुरप्प (मा० खुरपी); घल्लई (मा०-घालना); चक्खई (मा० चखना); चंगेड़ा (डलिया) मा० चंगेड़ी; चड़ई; चुनई; छिवई (स्पर्श करना); झीण (पतला); ढोर; पड़ीवा, (मा० पड़वा); भीड़; भोल (भोली); रसोई; रंडी (वेश्या)। (नामवर सिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग: पृ० १५८-१७२)

मइं जाणिअं—में जाणी; मिअ-लोअणि—मिरगानैणी; कोइ—कोइ; सामलो—साँवलो; वरिसेइ—बरस्यो।

२. देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' में—

गाइ पइण्णइ खंडभुसइँ कि ण पयच्छइ दुन्दु।

गाइ—गाय्; खंडभुसइँ—खलभूँसी; किं ण—कँइ नी (=क्या नहीं); दुन्दु—दूद् (=दूध)।

काइँ बहुत्तइँ जँम्पइँ जं अप्पणु पडिकूलु।

काइँ—काइँ, कँइ (=क्या); बहुत्तइँ—भोत इ; अप्पणु—अपणो

३. रामसिंह कृत 'पाहुड़दोहा' में—

अक्खर डेहिजि गव्विया कारणु ते ण मुणंति।

अक्खर—अक्खर; ण—नी।

एक्कुजि अक्खरु तं पढ़हु—एकज अक्खर उ पढ़ो

हऊँ सुगुणि पिउ णिग्गुणउ—हूँ (हउँ) सुगणी पियु निर्गण्या

४. जोइन्दु कृत 'परमात्मप्रकाश' में—

जो जिण सो हउँ सोंजि हउँ

जो—जो; सो—सो; हउँ—हउँ; सोजि—सोज्।

५. अब्दुर्रहमान कृत 'सन्देश-रासक' में—

गाह पढिज्जसु इक्क पिय कर लेविणु मन्नाइ।

इक्क—एक्क; पिय—पिय; लेविणु मन्नाइ—मनाइ लीजे।

पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि धुम्मन्ति।

धण—धण (=सं० धन्या); तथा सामि—सामि(=स्वामी)

६ सोमप्रभ सूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' में—

तो देसडा चइज्ज। [देसडा—देसड़ा]

जित्तिउ पुंज्जइ पंगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि

तुल० मालवी-'उत्ताइ पावं पसारिए जित्ति लाम्बी सोड़'

निम्मल-मुत्तिअ-हार मिसि, रइव चडक्कि पहिढ्ढ

मिसि—मिस (बहाने); चडक्की-चडक।

पिउ हउँ थक्किय सयलु दिणु।

पिउ—पिउ, पियु; हउँ—हउँ, हूँ; थक्किय—थाकी, थकी गी; सयलु—सगला।

७. मेरुतुंग कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में—

झोली तुट्टिव किं न मुउ। [झोली—झोली; किं न मुउ—क्यों नी मरयो।]

च्यारि बइल्ला धेनु दुइ मिट्ठा बुल्ली नारि। [च्यारि-चारि; बइल्ला-बलद्या; दुइ-दोइ; मिट्ठाबुल्ली नारि—मिठबोली नार।]

सउ चित्तइ सट्ठी मणह बत्तीसडा हियाँह। [सउ-सउ (= १००); **बत्तीसडा—बत्ती-सड़ा** (= ३२)]

उग्या ताविड जिहि न किउ। [उग्या—उगया, उगिया; ताविड—तावड़ा।]

के दह अहवा अट्ठ। [के—के (= अथवा); 'दह' मराठी का 'दहा' (= दस)]

मह कन्तह इक्क ज दसा, मा० म्हारा कन्त की एक्क ज दसा (हे)

उरि **लच्छिहि** मुहि **सरसतिहि**। [लच्छि—लच्छि; सरसति—सरसति।]

एहु जम्मु **नग्गहं गियउ** [नग्ग—नागा (= व्यर्थ); गियउ—गयो, गियो।]

८. हेमचन्द्र कृत 'प्राकृत-व्याकरण' में—

ढोल्ला मइँ तुहुँ **वारिया** मा कुरु दीहा माणु;

निद्दए गमिहि **रत्तडी दडवड** होइ विहाणु।

ढोल्ला—ढोला; मइँ—मइँ, मैं; वारिया—वारिया (गीतों में प्रयुक्त);
निद्दए—नींदडली; रत्तड़ी—रत्तड़ी, रातड्डी; दडवड—दड़ादड़।

सायरु **उप्परि** तणु **धरइ** तलि **घल्लइ** रयणाइं

उप्परि—उप्परि, उप्पर; धरइ—धरे; घल्लई—घाले हे; तलि—तले।

जो गुण **गोवइं अप्पणा** पयडा **करइ** परस्सु।

गोवइ—गोवें; अप्पणा—अप्पणा; करइ—करे।

बहिणि महारा कन्तु, जइ भग्गा घर एन्तु।

बेन म्हारो कन्त, जो भागी ने घरे आतो।

हियडा फुट्टि तड्ति करि कालक्खे **वे काइं**।

[हियडा—हियड़ा, हिवड़ा; काइं—काइं (= क्या)

कंतु महारउ हलि सहिए निच्छइं रुसइ जासु।

(कंतु—कंत; म्हारउ—म्हारा; हमारा; हेलि—हेली (सखी); रुसइ जासु—रुसइ जावे।) महु कंतहो **बे दोसडा**। [दोसडा—दोसड़ा; बे—गुजराती दो।]

भमरा एत्थु वि **लिम्बडइ** के वि दियहडा विलम्बु।

भमरा—भमरा; लिम्बडइ- लीम्बड़ी, लीमड़ी (= नीम वृक्ष)।

तो हउँ जाणउ एहो हरि। [तो हउँ जाणउ—तब मैं जानूं]

ओ गोरी मुह-निज्जिअउ **वद्दलि** लुक्कु मियंकु।

गोरी—गोरी; मुँह—मुँह; वद्दलि—बद्दली, बादली।

साव-सलोणी गोरडी नक्खी वि **विस** गंठि।

सलोणी—सलोणी; गोरडी—गोरड़ी; विस—विस।

इस प्रकार—

१. अपभ्रंश के प्रस्तुत उद्धरणों में जहाँ उकार बहुला प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, प्रचलित मालवी में ओकार बहुल शब्दों का ही आधिक्य है। २. सर्वाधिक रूप से प्रचलित 'ड' का प्रयोग मालवी में 'ड़' के रूप में होता है। ३. शब्द के अन्त में 'ड' अथवा 'ड़' जोड़ कर तद्भव

शब्दों को देशी प्रभाव के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति का भी उल्लेख है, जैसे—गोरी > गोरडी-ड़ी; रात > रत्तडी, रातड़ी। ४. 'श' 'ष' के स्थान पर प्रायः 'स' का ही प्रयोग हुआ है। ५. 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग भी उल्लेखनीय है। ६. वर्ण-विपर्यय का भी एकाध उदाहरण मिल जाता है—ल < न—जैसे, लीम्ब < निम्ब, लीमड़ी < नीमड़ी। द < थ, जैसे—दूद्धु < दूध। ७. निर्विभक्तिक पदों में परसर्गों का प्रयोग, यथा—तणे, केर, केरा। ८. सर्वनाम में 'महारा', 'म्हारा' एवं 'हउँ' का प्रचलन। ९. जो, सो, किं, काइं (= क्या), के (= अथवा), ज् (निश्चय बोधक) आदि का प्रयोग अपभ्रंश एवं मालवी में समान रूप से पाया जाता है। १०. नकारात्मकता का द्योतक शब्द अपभ्रंश 'ण' मालवी में 'नी', 'नइँ' के रूप में प्रचलित है। ११. संख्या सूचक कुछ शब्दों का स्वरूप और उच्चारण भी समान है—सउ (= १००), बत्तीस, बत्तीसड़ा (= ३२), दुइ-दोइ (= २)। १२. संयुक्त व्यंजनों में सरलता लाने की दृष्टि से किया गया क्षतिपूरक दीर्घीकरण भी वैसा ही है—नीसासा < निस्सास; ऊसास < उस्सास; नीसर्‌यो < निस्सरइ; वीसर्‌यो < विस्सरइ।

नवीं शताब्दि से लेकर १४वीं शताब्दि के अन्त तक विभिन्न अपभ्रंश कही जाने वाली उक्त रचनाओं में मालवी का प्रारम्भिक रूप मिल जाता है। इसके पश्चात् १९वीं शताब्दि के पूर्वार्ध तक मालवी में लिखा हुआ साहित्य अप्राप्य है, अतः उसके विकास के क्रम का विवेचन करना अभी असंभव है। किन्तु राजस्थानी प्रदेश में विकसित भाषा और प्राप्त ग्रंथों के आधार पर मालवी के तत्कालीन रूप का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला-मारू रा दूहा' आदि की भाषा से मिलते-जुलते परम्परागत कुछ मालवी लोक-गीत मिल जाते हैं, यथा :—

राजस्थानी—

सूकन लागी बेलड़ी गया ज सींचणहार (पृ० ३७४)
सूती सेज बिछाई (पृ० ४७)
कदी मिलूँ उण साहिबा कर काजल की रेख (पृ० ४४)
सूती सेजइ एकली (पृ० १४)

—ढोला मारूरा दूहा

मालवी—

चंदा ल्हारी चाँदनी, सूती पलंग बिछाय।
जद जागूँ जद एकली, मरू कटारी खाय॥
टींकी दे मेलां चड़ी, कर काजल की रेख।
सायब को सारो नइ, लिख्या विधाता लेख॥

—मालवी दोहे

विलियम ब्राइट

भारत की भाषाओं में महाप्राण व्यंजन

दीर्घ काल से भारत की भाषाओं ने ध्वनितत्वविदों (स्वनशास्त्रियों) को सघोष और अघोष दोनों महाप्राण व्यंजन-माला के सुन्दर उदाहरण प्रदान किये हैं। संस्कृत में अघोष—ख छ ठ थ फ और सघोष—घ झ ढ ध भ वर्णों की उपस्थित ने आदिम भारोपीय ध्वनिशास्त्र में इनको मान्यता दिलायी। व्युत्पत्ति क्रमानुसार ये संस्कृत से हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संक्रमित हुए; इसके अतिरिक्त, ये द्रविड़ भाषाओं—कन्नड़, तेलुगू, मलयालम—के बहुत से उधार शब्दों में, जो उन भाषाओं ने संस्कृत से लिये हैं, प्रकृतितः प्रविष्ट हुए। महाप्राणों की निर्देशक समस्त भारतीय लेखन प्रणालियाँ इकाई के प्रतीकों द्वारा इसे व्यंजित करती हैं जिसमें इन ध्वनियों के विश्लेषण की स्वनग्रामिक इकाइयों का भाव निहित है।[1] वैसादृश्य में रूढ़िगत रोमन प्रतिलेखन kh, ch, th, th; gh; jh, ḍh, th bh, करते हुए h (ह्) की संहति का प्रयोग करते हैं जो गुच्छों (cluster) के रूप में कम से कम महाप्राणों के विश्लेषण को ध्वनित करते हैं। यह यों है, जैसे हम कहें कि ख् -क्ह, घ् -ग्ह इत्यादि के रूप में लिखे जायँ।

हाल में अमेरिकी भाषाशास्त्री चार्ल्स हाकेट ने महाप्राण ध्वनियों के लिए 'ह्' संयुक्त अल्पप्राण ध्वनि—विश्लेषण प्रस्तावित किया है; वे लिखते हैं कि "संस्कृत तथा हिन्दुस्तानी जैसी कुछ अन्य आधुनिक भाषाओं को अघोष, सघोष, काट्य अल्पप्राण तथा महाप्राण चतुर्वर्गीय ध्वनियों वाली कहा जाता है। परन्तु उभय नाम्नी स्थितियों में महाप्राण (अघोष हो या सघोष) प्रकट ही ।ह्। स्वनग्राम है जो अन्यत्र पुनर्घटित होता है, यह केवल द्विमार्गीय ढंग का वैसादृश्य उपस्थित करता है।"[2] 'प्रकट रूप में' कहना मुझे स्थिति का कुछ अतिकथन प्रतीत होता है; हाकेट का मत स्वीकार करने से पूर्व पर्याप्त गहन स्वनिक (Phonological) अध्ययन करना चाहिए।

---

१. तेलुगू लेखन प्रणाली में समस्त महाप्राण प्रतीकों में सतह पर एक लम्बवत् घात रहता है। ('ठ' के समकक्ष का यह चिह्न मुद्रण में नहीं रहता पर हस्त-लेखन में रहता है)। कम से कम महाप्राणों को एक अलग स्वनिक निर्मायक के रूप में पहचानने की यह एक प्रवृत्ति प्रतीत होती है। कन्नड़ लेखन में भी अधिकांश महाप्राणों में ऐसे ही चिह्न का प्रयोग होता है, किन्तु सब में यह चिह्न नहीं रहता।

२. ए मैनुअल ऑफ़ फोनेलाजी (इन्टरनेशनल जनरल ऑफ़ अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स, मेम्वायर ११, १९५५); पृ० १०७।

सर्वप्रथम में इस स्थिति का परीक्षण कन्नड़ में करना चाहता हूँ, जिस भाषा का अध्ययन मैंने हाल में कुछ गहनता से किया है। कन्नड़ लेखन प्रणाली महाप्राण स्पर्शों का निर्देश करती है, और बहुसंख्यक लोग इनका उच्चारण संस्कृत और हिंदी से उधार लिए हुए 'धान्य' से ।धान्य। और 'खाली' से ।खालि। जैसे शब्दों में करते हैं। बहुत से कन्नड़भाषी, जिनमें निश्चय ही कुछ शिक्षित लोग सम्मिलित हैं, महाप्राणों का प्रयोग कभी-कभी या बिलकुल ही नहीं करते और ।दान। तथा ।काली। उच्चारण करते हैं। तथापि इस अध्ययन के लिए हम विभिन्न प्रकार की कन्नड़ पर विचार कर सकते हैं जिनमें नियमतः महाप्राण सम्मिलित हैं। सुस्थापित स्वनग्रामिक (Phonemic) नियमों का अनुसरण करते हुए हम कह सकते हैं कि यदि महाप्राण उन स्थितियों में आते हैं जहाँ अन्यथा केवल व्यंजन आते हैं, कोई व्यंजन-गुच्छ नहीं आता, तो यह महाप्राणों को मात्र स्वनग्रामिक इकाई समझने के पक्ष में एक तर्क होगा। दूसरी ओर, यदि हमें महाप्राण दो संयुक्त व्यंजन, यथा । स्त्।, । प्र्।, । त्य्।, की स्थितियों में मिलते हैं तो महाप्राणों को । ह्। युक्त ध्वनि-गुच्छ मानना प्रमाणिक होगा। वास्तव में, द्वितीय विश्लेषण केवल उसी स्थिति में अपनाया जा सकता है जब एक ओर महाप्राण स्पर्श और दूसरी ओर । ह्। से अनुगामित अल्पप्राण स्पर्श के बीच कोई विरोध एवं कोई संभावित भ्रान्ति न हो।

जैसा कि मैंने अन्यत्र दिखाया है[3], कन्नड़ में एक सघोष महाप्राण स्पर्श, यथा 'अवर धान्य' (= उनका अन्न) तथा अघोष आरम्भाक्षर के साथ 'ह्' से अनुगामित एक सघोष अल्पप्राण, यथा 'सावर्द हत्त' (= एक हजार दस) में निकट विरोध पाया जाता है। चूंकि इस स्थिति में । ह्। का वह प्रकार है जो सदैव मौन या यति के पश्चात् घटित होता है, यह भीतरी संधि से अग्रगामी ।ह्। के रूप में विश्लेषित हो सकता है जो केवल स्थान देकर लिखा जा सकता है। 'अवर धान्य' के । र् ध्। और 'सावर्द हत्त' के । र्द् ह्। के बीच का अन्तर इस प्रकार स्थान के द्वारा प्रतिबद्ध है और इस स्थिति में प्राप्य निकट-विरोध 'धा-न्य' संयुक्ताक्षर के महाप्राण को विश्लेषित करने से नहीं रोकता। इसलिए कन्नड़ व्यंजनों का एक विभाजक परीक्षण आवश्यक है। किसी उच्चारण की प्रारम्भिक स्थिति में हम निम्नलिखित बातें देखते हैं —

(१) व्यंजनाभाव, यथा । अदु। (= वह) में।

(२) 'ड्, ण्, ल्' के अतिरिक्त कोई अकेला व्यंजन, यथा । मने। (= घर) में।

(३) दो व्यंजन-गुच्छ जहाँ प्रथम कोई भी व्यंजन हो सकता है, किन्तु द्वितीय सदैव मुखर हो,—अर्थात् एक व्यंजन अनुनासिक अन्तस्थ या अर्द्धस्वर लघुतम विवर से उत्पन्न हो, उदाहरणतः । ग्राम।, । ज्ञान।, । न्याय।।

(४) दो व्यंजनों का गुच्छ-रूप जहाँ प्रथम ।स्। तथा द्वितीय कोई स्पर्श-व्यंजन हो, उदा० । स्कूलु।, । स्तम्भ।।

(५) दो संयुक्त व्यंजन-गुच्छ ।क्ष्।, जैसे 'क्षत्र' में।

---

३. ऐन आउट लाइन ऑफ़ कलोकियल कन्नड़ (डेकन कालेज मोनोग्राफ सीरीज, सं० २२, १९५८) पृष्ठ १-२।

(६) तीन व्यंजन-गुच्छ (संयुक्त रूप) जिनमें प्रथम । स् ।, द्वितीय स्पर्श और तृतीय अनासिक्य मुखर अर्थात् अन्तस्थ या अर्द्धस्वर हो, उदा० । स्त्री । ।

प्राथमिक स्थिति में महाप्राणों का संघटन अधोलिखित है—

(अ) वे अकेले आते हैं, यथा । धान्य । और । खालि । में ये ऊपर के तीसरे प्रकार की गुच्छ-ध्वनियों[1] से तुलित हो सकते हैं जिनका नमूना स्पर्श तथा मुखर का योग है (निर्बल घर्षणा के कारण । ह् । को मुखर वर्ग में रक्खा गया है)।

(ब) वे । स् । के पश्चात् आते हैं, यथा । स्थल । और । स्फटिक । । ऊपर के छठें नमूने से तुलना हो सकती है जिसमें । स् । स्पर्श और अनासिक्य मुखर का योग है।

(स) वे एक अनासिक्य मुखर के पूर्व आते हैं यथा । ध्यान ।, । भ्रम । में । ऊपर के क्रम के प्रतिकूल यह त्रै-व्यंजन के आदर्श के भीतर नहीं आ सकता अर्थात् 'द्ह्य्' या 'ब्ह्र्' जैसे प्राथमिक गुच्छ-रूप यहाँ नहीं हैं, जो प्रचलित 'ध्य्' और 'भ्र्' के समानान्तर हों, वरन् 'ध्य्' और 'भ्र्' की तुलना त्याग के 'त्य्' और 'ब्राम्ण' (ब्राह्मण) के 'ब्र्' से की जा सकती है; महाप्राण अल्पप्राण स्पर्शों की स्थितियों में उपस्थित होते हैं, जो केवल एक स्वनग्राम की इकाई हैं।

महाप्राणों को स्वतः एक इकाई समझने के लिए पूर्व अनुच्छेद एक सशक्त प्रमाण समझा जाना चाहिए। यदि इस दृष्टि को अपनायें, तो हम उन्हें 'खkh, छch, ठṭh, थth, फph और घgh, झjh, ढḍh, धdh, भbh' स्वनग्रामिक रूप में लिखकर उनका और अधिक स्पष्ट निर्देश कर सकते हैं। इस प्रकार हमारे उदाहरण । dhānya । (धान्य) और । khāli । (खालि) होंगे। यहाँ उच्चारण में व्यंजनों के विभाजन का परीक्षण भी आवश्यक है। पर उच्चारण के अंत्य व्यंजनों का विचार नहीं किया जायेगा, क्योंकि वे केवल नवीन उधार लिये, अधिकतर अंग्रेजी से उधार लिये गये, शब्दों में उपस्थित हैं। कन्नड़ में अक्षर-प्राथमिक संयोग (जिसे आरम्भाक्षर onset कहते हैं) द्वारा अनुगामित अक्षर अन्तिम संयोग (जिसे अन्तिमाक्षर coda कहते हैं) के रूप में माध्यमिक समूह का सर्वोत्तम विश्लेषण किया जा सकता है। उक्ति-माध्यमिक आरम्भाक्षर की वही रचना है जो उक्ति-प्रारम्भिक स्थिति के लिए पहले ही कही जा चुकी है। अस्तु निम्नलिखित रूपों में उपस्थित होने वाला अन्तिमाक्षर का विवरण शेष रहता है—

१—एक अकेला व्यंजन यथा । केम्-पु । (=लाल), । हब्-ब । (=त्यौहार) (सामासिक चिह्न अक्षर-विभाजन बतलाता है)। कन्नड़ के साहित्यिक उच्चारण में अन्तिमाक्षर एक व्यंजन से अधिक के नहीं होते। इसी प्रकार ग्राम्य-उच्चारण में उन बहुत से स्वरों का अभाव है जो साहित्यिक उच्चारण में विद्यमान हैं, और परिणामस्वरूप निम्नप्रकार के अन्तिमाक्षर पाये जाते हैं—

२—एक मुखर तथा किसी अन्य व्यंजन का योग, यथा । सम्प्-गे । (=चम्पक), । कुंण्ट-दे । (=मैंने आशा की) में।

३—एक ऊष्म तथा समअवयवी स्पर्श, अर्थात् एक ही उच्चारणस्थान से उत्पन्न स्पर्श, यथा, । पुस्त्-क । (=पुस्तक), । अगिष्ट्-के । (=कसेरा) में।

४—। व्। तथा मुखर धन (plus) एक अन्य व्यंजन। यह सर्वनाम रूपों के प्रत्यक्ष और परोक्ष कर्म के क्षिप्र उच्चारण में अन्य शब्दों द्वारा अनुगामित होकर ही उपस्थित होता है यथा साहित्यिक उच्चारण में । अवनिगे कोडु। (=यह उसे दो) । किन्तु ग्राम्य में । अव्न्ग्-कोडु। इसी प्रकार साहित्यिक में 'अवळन्नु केळु' (=उससे [स्त्री०] पूछो) किन्तु ग्राम्य में 'अव्ळ्न्-केळु'।

यदि हम माध्यमिक महाप्राणों के विभाजन को देखें तो वे निम्नलिखित स्थितियों में मिलेंगे —

अ—मध्याक्षर के आरम्भाक्षर के रूप में ये स्वरों के बीच आ सकते हैं, यथा । क-थे। (=कहानी), । सीता-फल। (=कुम्हड़ा) में।

आ—अकेले उस व्यंजन के पश्चात् आ सकते हैं जो अन्तिमाक्षर जैसा कार्य करता है, यथा । शुण्-ठि। (सोंठ), ।स्वच्-छ। (=साफ़) में।

इ—ये अकेले व्यंजन के पूर्व आ सकते हैं, यथा । मध्य। (=बीच), । माध्व। (माध्व) में। इनमें अक्षरीय विभाजन कम स्पष्ट है। यदि हम । ध्य्। को अन्तिमाक्षर । ध्। तथा आरम्भाक्षर । य्। में विभाजित करें तो अन्तिमाक्षर के रूप में महाप्राण की क्या स्थिति होगी ? महाप्राणों को एक स्वनग्राम की इकाई समझने के पक्ष में यह एक अन्य तर्क होगा, क्योंकि स्पर्शों के समूह धन (+) मुखर सामान्यतया अन्तिमाक्षर के रूप में नहीं आते। परन्तु हम ।ध्य। को अन्तिमाक्षर ।द्। तथा आरम्भाक्षर । ह्य्। के रूप में भी विभाजित कर सकते हैं। ऐसा आरम्भाक्षर की प्रचलित प्रणाली में ठीक बैठता है, और । ह्यागे। (=कैसा) [। हाएगे । या। हेगे। के रूप में अन्य बोलियों में] के रूप में यह कन्नड़ की कुछ बोलियों में प्राप्त हैं।[४] इस विश्लेषण के द्वारा आरम्भाक्षर एक गुच्छ समझा जाता है।

ई—ये अकेले व्यंजनों के बीच आ सकते हैं, यथा 'आंध्र' (=आन्ध्र) में। पुनः दो विश्लेषण संभव हैं: । न्ध्र्। में अन्तिमाक्षर । न्ध्। और आरम्भाक्षर । र्। आ सकता है जहाँ महाप्राण को दूसरे प्रकार के अन्तिमाक्षर में स्वनग्राम इकाई समझा जा सकता है, या अन्तिमाक्षर । न्। आरम्भाक्षर । ध्र्। जहाँ पुनः महाप्राण तीसरे प्रकार की प्रणाली में होगा, या अन्तिमाक्षर । न्द्। धन (+) महाप्राण के समूह के रूप में विश्लेषण के साथ आरम्भाक्षर । ह्र्। ('हृदय' के समानान्तर) होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि महाप्राणों का प्राथमिक उपस्थित की दृष्टि से अकेले स्वनग्राम के रूप में विश्लेषण स्पष्टतया वांछित है। जब कि उनके माध्यमिक वितरण को उनके गुच्छ के रूप में विश्लेषण अथवा स्वनग्राम इकाई के विश्लेषण के रूप में समझा जा सकता है। इसलिए समर्थनों की बहुलता महाप्राणों की स्वनग्राम इकाई के रूप में स्वीकारने की ओर इंगित

---

४. देखिए मेरी 'लिंग्विस्टिक डाइवर्सिटी इन इन्डिया' में 'लिंग्विस्टिक चेंज इन सम साउथ इंडियन कास्ट डाइलेक्ट्स' नामक लेख (इन्डियाना युनिवर्सिटी प्रकाशन, १९५९)

करती है, और कन्नड़ को हाकेट द्वारा प्रस्तावित विश्लेषण से मुक्त किया जा सकता है।[5] फिर भी इसका यह अर्थ नहीं होता कि हम स्वनग्रामिक प्रसार लेखन में । खkh, घgh । की अपेक्षा । खkh, घgh । के प्रयोग को प्रचलित नहीं रख सकते; हमें यह ध्यान रखना होगा कि । खkh, घgh । एक ध्वनि सूचक द्विवर्ण इकाई हैं, यद्यपि हम उन्हें प्रकार लेखन सुविधा की दृष्टि से (रोमन लिपि में) दो वर्णों द्वारा लिखते हैं।

हमारे सामने संस्कृत और हिन्दी की समस्या है। यद्यपि महाप्राणों के लगभग अधिकांश उदाहरण उन्हीं दो भाषाओं से उधार लिये गये शब्दों में वर्तमान हैं, पहले दिये गये उदाहरण पूर्णतया प्रश्न के समाधान के लिए पर्याप्त न होंगे। संस्कृत और हिन्दी के स्वनग्रामों का विस्तृत वितरणात्मक अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। अभी तक हमें यह भी निश्चित नहीं है कि इन भाषाओं में महाप्राण व्यंजनों तथा अल्पप्राण व्यंजनों धन (+)। ह् । के बीच कोई विरोध नहीं है। बेनफी के 'बोल्स्तान्दीग ग्रेमेटीक'[6] में अनुसूचित व्यंजन-गुच्छों से फिर भी अस्थायी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। वहाँ कुछ व्यंजन-गुच्छ दिये गये हैं जो कन्नड़ के लिए वर्णित भेदों में नहीं बैठ सकते, यथा । प्त् । (आगे) । त्र्य् । और । द्व्य् । समूह भी दिये गये हैं जो । छ्य् । और । ध्र् । के क्रमों के विश्लेषण करने के लिए तीन व्यंजन-गुच्छों की प्रणाली देंगे। हाकेट का अनुसरण करते हुए, इस साक्ष्य से संस्कृत महाप्राणों को वास्तव में । ह् । के साथ गुच्छ मानना होगा।[7] अस्तु बेनफ़ी ने एक प्राथमिक । ष्ठ्य् । को अनुसूची में रखा है जो चार व्यंजनों के किसी भी प्राथमिक गुच्छ के समानान्तर नहीं है।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, हमने इसके स्वनग्रामों का कोई वितरणात्मक विश्लेषण नहीं देखा है। हम जानते हैं कि इसमें वही संस्कृत शब्द समूह अधिक हैं जो कन्नड़ में हैं; इसलिए यह आशा की जा सकती है कि इसमें महाप्राण बहुत सी उन्हीं स्थितियों में होंगे। हम यह संदेह कर सकते हैं कि 'ख्याल' (उन बोलने वालों के लिए जो इस शब्द में संघर्षी का प्रयोग नहीं करते) और 'भ्रम' में प्राथमिक स्थिति में प्राथमिक गुच्छ किसी भी स्पष्ट तीन व्यंजन-गुच्छ के समानान्तर नहीं हो सकते और कन्नड़ की भाँति हिन्दी में भी महाप्राण स्पर्श एक स्वनग्राम इकाई है। हाकेट की बात तब 'प्रकट रूप' से बहुत दूर है, वास्तव में सर्वथा संदेहमय है। देवनागरी तथा अन्य भारतीय लिपियों में अन्तर्निहित अकेले महाप्राण स्वनग्राम तब तक पहचाने जाएँगे जब तक इसके विपक्ष में और अधिक साक्ष्य नहीं लाये जाते।

---

५. यह 'ऐन आउट लाइन ऑफ़ कलोकियल कन्नड' के पृष्ठ ११-१२ में दिये हुए विचार से भिन्न मत है।

६. थिओडोर बेनफ़ी, हैण्डबुख देर संस्कृतस्प्राखे (लिपजिग १८५२: एर्स्ते अबथेइ-लुंग), पृष्ठ २१।

७. तब एक अकेले स्वनग्राम । ह् । में व्यंजनीय महाप्राणता, सघोष । ह् । और अघोष विसर्ग सम्मिलित होंगे, देखिए मेरा 'नोट आन विसर्ग', बुलेटिन ऑफ़ डेकन कालेज, अंक, १८, पृष्ठ २७१-७३ (१९५८ ई०)।

माता प्रसाद गुप्त

रोडा कृत 'राउल वेल' (राजकुल विलास)

[ग्यारहवीं शती का एक शिलाङ्कित भाषा-काव्य]

दामोदर पंडित के 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण'[1] की भाषा-विषयक भूमिका समाप्त करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने १९४५ में लिखा था, "उक्तिव्यक्ति-प्रकरण के माध्यम से हमें जिस प्रकार नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओं से विकसित हुई हैं उसके अध्ययन के लिए कुछ मूल्यवान् सामग्री प्राप्त हुई है : इसमें हमें मुख्यतः कोसली (या पूर्वी हिंदी) और साधारणतः ऊपर और नीचे की गंगा की घाटी की आर्य बोलियों के इतिहास का अध्ययन करने के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साक्ष्य मिला है। . . .जिस भाषा का विवरण इसमें दिया गया है वह निस्संदेह एक वास्तविक बोलचाल की भाषा का उदाहरण है---वह पश्चिमी अपभ्रंश की भाँति की कोई कम या अधिक कृत्रिम साहित्यिक भाषा मात्र नहीं है, और इसलिए 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' का मूल्य नव्य भारतीय आर्यभाषा शास्त्र के अध्ययन के लिए और भी अधिक है।" इस लेख में जिस रचना का विवरण दिया जा रहा है, उसके संबंध में भी ठीक-ठीक वही कहा जा सकता है जो ऊपर 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' के संबंध में कहा गया है ; यह उसी प्रकार की दूसरी मूल्यवान् सामग्री है जो यहाँ प्रकाशित की जा रही है, और कुछ बातों में उससे भी अधिक मूल्यवान् कही जा सकती है। यह 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' से भी पूर्व की रचना है, जो किसी पंडित द्वारा केवल भाषा-परिचय के लिए नहीं प्रस्तुत की गई है, जिस प्रकार 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की गई है, बल्कि एक कवि की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमें पद्य ही नहीं गद्य का भी प्रयोग उस के द्वारा अधिकार पूर्वक किया गया है, और जिसके संबंध में एक वड़ी भारी बात यह है कि उसका पाठ शिलाङ्कित होने के कारण अपने मूल रूप में सुरक्षित है।

यह एक शिलालेख है जो प्रिंस आव् वेल्स म्यूजियम, बंबई में रक्खा हुआ है। इसका आकार ४२″ × ३३″ है। यह कहाँ पर प्राप्त हुआ था, ठीक ज्ञात नहीं है। वर्तमान रूप में यह भग्न अवस्था में है। लेख के बाएँ भाग में शिलाखंड कर्णवत् ऐसा टूट गया है कि उसके चार टुकड़े हो गए हैं, और तोड़ पर पत्थर की पर्तें इस प्रकार निकल गई हैं कि प्रत्येक पंक्ति के तीन-चार अक्षर नहीं रह गए हैं। इसके अतिरिक्त शिलाखंड के चारों कोनों पर पर्तें निकल गई हैं, जिससे लेख का एक महत्वपूर्ण अंश नहीं रह गया है। बीच-बीच में कुछ स्थानों पर पत्थर के घिसने

---

१. प्रकाशक---भारतीय विद्याभवन, चौपाटी, बम्बई।

तथा अन्य प्रकार की क्षतियों के कारण भी लेख का कुछ अंश अपाठ्य हो गया है—विशेष रूप से लेख की प्रथम पंक्ति तो सर्वथा अपाठ्य हो गई है और अंतिम पंक्ति का भी अधिकांश, जिसमें लेख की तिथि आदि के विवरण रहे होंगे, अपाठ्य हो गया है।

शिलालेख कदाचित् अपने समग्र रूप में प्राप्त है और यह किसी और बड़े लेख का अंश मात्र नहीं है, यह इससे ज्ञात होता है कि लेख में कुछ नायिकाओं का अलग-अलग नख-शिख-वर्णन किया गया है जो सिर से प्रारम्भ होकर पैरों तक चलता है और इसकी प्रथम पंक्ति के घिस कर निकल जाने पर खंडित रूप में जो प्रथम नख-शिख प्राप्त हुआ है, वह भी आँखों से पैरों तक आता है, केवल आँखों से पूर्व का उसका अंश निकल गया है। पद्यवाले शेष नख-शिखों में से आँखों का वर्णन केवल लेख के तीसरे और पाँचवें नख-शिखों में आता है। तीसरे नख-शिख में आँखों से पूर्व केवल $\frac{2}{3}$ पंक्ति है जिसमें उक्त नख-शिख की भूमिका मात्र आती है, पाँचवें में प्रारंभ में एक पंक्ति में भूमिका और $\frac{2}{3}$ पंक्ति में केश-वर्णन आते हैं, तब आँखों का वर्णन आता है। प्रथम नख-शिख भी असंभव नहीं कि तीसरे की ही भाँति आँखों से प्रारंभ हुआ हो, और उसकी प्रथम पंक्ति में, जो घिसकर निकल गई है, देवस्मरण के अतिरिक्त उक्त प्रथम नख-शिख की भूमिका मात्र रही हो।

लेख किस तिथि का है, अंतिम पंक्ति के अधिकांश में घिस कर निकल जाने के कारण यह अनिश्चित रह जाता है। काव्य का नायक कोई गौड़ क्षत्रिय है: लेख में उसे कुछ स्थलों पर 'गौड' संबोधित किया गया है (पंक्ति १९, २८) और एक स्थान पर कहा गया है कि उसकी प्रीतिपात्र राउल का हाथ सभी क्षत्रिय जन चाहते हैं—'थु खता जणु सयलइ चाहहिं' (पंक्ति १३)। नायिकाओं में से केवल राउल का नाम मिलता है (पंक्ति ११, १२, १३, १४), और रचना का नाम 'राउल वेल' (= राजकुल-विलास) है, इसलिए ये दोनों व्यक्ति राजकुल के प्रतीत होते हैं, किंतु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से इन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। लेख के अंत में दोनों छोरों पर कुछ मुद्रा जैसी आकृतियाँ लगती हैं जो कि अत्यंत भग्न हैं, किंतु यह भी असंभव नहीं कि वे कृत्रिम फूलों की कोई आकृतियाँ हों, जो कभी-कभी लेखों के अंत में उनकी समाप्ति सूचित करने के लिए मिला करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में लेख का समय-निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर संभव है। इसकी लिपि संपूर्ण रूप से भोज देव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है (दे० इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ८, पृ०२४१) —दोनों में किसी भी मात्रा में अंतर नहीं है और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुनवर्म देव के समय के 'पारिजात मंजरी' के धार के शिलालेख की लिपि बदली हुई है (दे० इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ९६)। इसलिए इस लेख का समय 'कूर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही, अर्थात् ११वीं शती ईस्वी होना चाहिए।

इसका लेखन-स्थान त्रिकलिंग होना चाहिए, जहाँ का इसका नायक था, यह न केवल इससे ज्ञात होता है कि उसे कवि ने 'टेल्ल' (त्रिकलिंग-निवासी) (पंक्ति १८) और 'टेल्लिपुत्र' (पंक्ति १५) कहा है, बल्कि इससे भी कि इस टेल्ल से उसके भाग्य की ईर्ष्या करते हुए गौड़ और गोदावरी तटवर्तियों का उसने उल्लेख किया है: 'गौडहो गोल्लाहो वोलउ जो जसु

भावइ' (पंक्ति ४१), और गौड़ तथा गोदावरी-प्रदेश त्रिकलिंग की सीमाओं पर के या कम से कम उससे बहुत सन्निकट के प्रदेश थे। यह त्रिकलिंग दक्षिण कोसल का एक भाग रहा है, जिसका सबसे मुख्य नगर मध्य प्रदेश का रतनपुरा रहा है।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती में त्रिकलिंग त्रिपुरी के कलचुरि वंश के राजाओं के शासन में था; और कलचुरि गौड़ नहीं थे, इसलिए यह लेख उनके किसी सामंत के संबंध का ही हो सकता है।

इस लेख का विषय उक्त सामंत की कुछ नायिकाओं का नख-शिख है। कुल छः नख-शिख इस लेख में आते हैं: पहला पंक्ति १ से ५ तक, दूसरा पंक्ति ५ से १० तक, तीसरा पंक्ति १० से १४ तक, चौथा पंक्ति १५ से १९ तक, पाँचवाँ पंक्ति १९ से २८ तक तथा छठा २८ से ४६ तक। प्रथम की नायिका प्रारंभ की पंक्तियों तथा कुछ अन्य अंशों के खंडित हो जाने से ज्ञात नहीं होती है; दूसरे की नायिका कोई हूणि है,[२] तीसरे की नायिका राउल नाम की क्षत्रिय कन्या ज्ञात होती है, क्योंकि कहा गया है, '—थु खता जणु सयलइ चाहहिं' अर्थात् उसका [हाथ] समस्त क्षत्रियजन चाहते हैं (पंक्ति १३), चौथा नख-शिख किसी टक्किणी के संबंध का है, पाँचवाँ किसी गौड़ी के संबंध का और छठा किसी मालवीया के संबंध का। ऐसा लगता है कि ये नायिकाएँ उक्त सामंत नायक की नव-विवाहिता पत्नियाँ या रखेलियाँ हैं, अथवा कुछ एक और कुछ दूसरी हैं, और काव्य-रचना इनकी प्रशस्ति में हुई है। प्रथम पाँच नख-शिख पद्य में हैं और छठा गद्य में है।

लेख की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है, जिस प्रकार 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की पुरानी कोसली है। उस पर समीपवर्ती तत्कालीन भाषाओं का कुछ प्रभाव अवश्य ज्ञात होता है। यह भाषा 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की भाषा से कुछ प्राचीनतर लगती है, जो कि लेख के लेखन-काल के अनुसार होना भी चाहिए, और इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि हिंदी, और हिंदी की भाँति ही कदाचित् अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ भी, ग्यारहवीं शती ईस्वी में इतनी प्रौढ़ हो चली थीं कि उनमें सरस काव्य-रचना हो सकती थी, वे केवल बोलचाल की भाषाएँ नहीं रह गई थीं। अनेक विद्वान् हिंदी भाषा का विकास कुछ पहले से मानते हुए भी साहित्य में उसका प्रयोग सं० १४०० के पूर्व नहीं मानते हैं। इस लेख के नख-शिख-काव्य ने उनकी इस धारणा को भली-भाँति निर्मूल प्रमाणित कर दिया है, जो कि 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' नहीं कर सका था।

इस रचना का कवि कौन था और रचना का नाम क्या था, यह भी ज्ञातव्य है। रचना के अंत में आता है—

रोडें राउलवेल वखा [णी]। [पुणु ?] तहं भासहं जइसी जाणी। (पंक्ति ४६)

---

२. इस समय हूण-कन्याओं से विवाह होते थे। प्रसिद्ध कलचुरि शासक कर्ण (लक्ष्मीकर्ण) का उत्तराधिकारी और पुत्र यशःकर्ण उसकी हूण रानी आवल्ल देवी से था (दे० इपिग्राफिया इंडिका, भाग २, पृष्ठ ४ तथा भाग १२, पृ० २१२)।

अतः प्रकट है कि इसका कवि रोडा या रोड था और इस रचना का नाम 'राउलवेल' (=राजकुल-विलास) है। इसमें किसी सामंत के रावल (राजभवन) की रमणियों का वर्णन हुआ है, इसलिए नाम नितांत सार्थक है। इसका कवि रोडा या रोड कौन था, इसके संबंध में हमें कहीं से कुछ ज्ञात नहीं होता है। शिलालेख में वह अपने को 'वंडिरा' (∠वंदी) कहता है (पंक्ति २२, २४, २६), इसलिए वह इस काव्य के नायक का वंदी था, यही ज्ञात होता है।

इस लेख में व और ब एक ही प्रकार से लिखे गए हैं। ण का प्रयोग बहुतायत से हुआ है—और कभी-कभी न के स्थान पर भी हुआ है, यथा : 'मणु मणु' (पंक्ति २) 'माण्डणु' (पं० २) 'पहिरणु' (पं० ४), 'विणु' (पं० ५), 'भण' (पं० ९), 'मयणु' (पं० १०) आदि में; अनुस्वार की ध्वनियों के लिए संयुक्त वर्णों के रूप में पंचम वर्णों में से ङ और ञ का प्रयोग नहीं हुआ है, ण, न, म का प्रयोग कभी-कभी हुआ है, यथा 'माण्डणु' (पं० ३), 'चिन्तवंतह' (पं० ७), 'गवारिम्व' (पं०९), 'तरुणिम्व' (पं० १०), 'अम्हाणउ' (पं० १०), 'म्वालउ' (पं० १३), 'काम्व' (पं० ४०) 'पाम्वइ' (पं० ४२) में; अन्यथा सानुनासिक और अनुस्वार दोनों के लिए विंदु का प्रयोग हुआ है; 'य' का प्रयोग कभी-कभी 'ज' के स्थान पर भी हुआ है, यथा : 'किय्यइ' (<किज्जइ) (पं० १५) तथा 'कंय्यडि' (<कंज्जडि) (पं० १६) में। इन सामान्य त्रुटियों के अतिरिक्त लेख बहुत ही व्यवस्थित ढंग से लिखा गया है।

प्रस्तुत लेख में इस संक्षिप्त भूमिका के अनंतर रचना का पाठ संपादित करके दिया गया है, और उसका अर्थ लगाने का एक प्रयास किया गया है। भाषा की दृष्टि से रचना का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। किंतु वह एक स्वतंत्र विषय है, जो यहाँ सम्भव नहीं था। भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों को इसका अध्ययन करना चाहिए, और वैज्ञानिक विधियों से इसकी भाषा का निरूपण करना चाहिए।

शिलालेख की छाप मेरे एक शोध-छात्र और इस समय महाराजा कालेज, जयपुर में प्राध्यापक श्री हरिशंकर शर्मा, एम० ए० ने मुझे दी थी। उन्हें वह प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बंबई के संचालक डॉ० मोतीचंद्र से प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत लेखक अतः श्री शर्मा का आभारी है। शिलालेख को प्रकाशित करने की अनुमति डॉ० मोतीचन्द्र ने दी है और रचना में आए हुए अधिकतर वस्त्राभूषणों के सम्बन्ध की आवश्यक जानकारी भी प्रस्तुत लेखक को डॉ० मोतीचन्द्र जी से प्राप्त हुई है, जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं, इसलिए प्रस्तुत लेखक उनका दुहरा आभारी है।

विवेच्य शिलालेख की छाप (ink-impression) प्राप्त होने के कुछ समय बाद, जब उसका संपादन मैंने अधिकांश में कर लिया था, मुझे ज्ञात हुआ कि भारतीय विद्या भवन, बंबई के डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी इस पर मुझसे पूर्व से कार्य कर रहे थे। अतः इस संबंध में मैंने उन्हें लिखा। उन्होंने लिखा कि उनका कार्य भी समाप्तप्राय था और मेरे कार्य से पहले से चल रहा था, इसलिए उनका कार्य प्रकाशित हो जाता तब मैं अपना प्रकाशित करता। उनका कार्य गत जून-जुलाई में भारतीय विद्याभवन की मुखपत्रिका 'भारतीय विद्या' में (भाग १७, अंक ३-४, पृ० १३०-१४६) प्रकाशित हो गया है, अतः मैं अब अपना कार्य प्रकाशित कर रहा हूँ।

भायाणी जी ने अपने लेख में एक भूमिका देने के अनंतर शिलालेख का पाठ और अर्थ दिया है, और मैंने भी इस लेख में यही किया है, किन्तु शिलालेख के संबंध के दोनों कार्यों में बहुत अंतर है। हम दोनों के पाठों में एक तो अंतर यह है कि कहीं-कहीं पर जहाँ पत्थर घिसा हुआ है, भायाणी जी ने उस को देखकर कुछ अक्षर या शब्द दिए हैं, मुझे केवल प्राप्त छाप पर निर्भर रहना पड़ा है: दूसरे भायाणी जी ने 'ओ' को भी प्रायः 'उ' पढ़ा है, अथवा कहीं-कहीं संदेहवाचक चिह्न लगाकर 'ओ' पढ़ा है, मैंने दोनों वर्णों को अलग-अलग पढ़ा है क्योंकि शिलालेख में ही ये दोनों वर्ण परस्पर स्पष्टतः भिन्न हैं। हम दोनों के अर्थों में अन्तर बहुत है। अंग्रेजी में अर्थ देने के कारण भायाणी जी को कहीं-कहीं पर भाव मात्र देते हुए संतोष करना पड़ा है, मैंने यथासंभव मूल के शब्दों में अर्थ देने का प्रयत्न किया है। किंतु यह अंतर तो साधारण है; जो सब से अधिक विचारणीय अंतर है, वह लेख के अधिकांश के अर्थ के संबंध में है: भायाणी जी ने एक अर्थ लगाया है, तो मैंने प्रायः बहुत भिन्न। प्राचीन भाषा के लेखों के संबंध में इस प्रकार की संभावना बहुधा होती है: किंतु हम दोनों के अर्थों में कुछ असाधारण अंतर है जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। इसी प्रकार, शिलालेख के संबंध में हम दोनों ने जो परिणाम निकाले और अपनी-अपनी भूमिकाओं में दिए हैं, वे भी परस्पर काफ़ी भिन्न हैं। इस लिए डॉ० भायाणी का लेख देखने के बाद मुझे यह आवश्यक ज्ञात हुआ कि अपना कार्य प्रकाशित करूँ और उसी का यह परिणाम है।

मेरे अर्थों में भायाणी जी के अर्थों से कहाँ-कहाँ पर अंतर है और क्यों है, यह बताना अनावश्यक होगा। केवल हम दोनों के परिणामों में जो अंतर है, उसी का संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

१. भायाणी जी का मत है (भूमिका पृ० १३१) कि इस शिलालेख में उसकी पूर्णावस्था में आठ नख-शिख रहे होंगे, जो आठ प्रदेशों की स्त्रियों के रहे होंगे जैसा कि लेख के अंत में आने वाले 'आठहं भासहं' शब्दों से ज्ञात होता है। किंतु 'भासहं' के पूर्व जहाँ तक मैं पढ़ सका हूँ 'णतहं' अक्षर आते हैं, केवल 'ण' के नीचे का अंश त्रुटित है। इसलिए मेरी राय में 'भासहं' के पूर्व 'आठहं' नहीं हो सकता है। मैंने सुझाव दिया है कि 'भासहं' के पूर्व 'तहं' है और 'तहं' के पूर्व 'पुणु' का होना संभव है। ऐसी दशा में लेख की पूर्णावस्था में उसमें आठ नख-शिख रहे होंगे, यह अनुमान मझे ठीक नहीं लगता है।

२. भायाणी जी का कथन है (भूमिका पृ० १३०, १३१, १३२) कि लेख की अंतिम पंक्तियों में आने वाले 'आठहं भासहं' से यह भी ज्ञात होता है कि ये आठ नख-शिख अपभ्रंशोत्तर आठ बोलियों के विशिष्ट तत्वों से समन्वित रहे होगें, और लेख में जो छः नख-शिख बचे हैं, वे जिन-जिन क्षेत्रों की नायिकाओं का वर्णन करते हैं, उन उन क्षेत्रों की बोलियों का कुछ प्रतिनिधित्व अलग-अलग उनके नख-शिख-वर्णन में उपस्थित करते हैं। 'आठहं भासहं' के प्रमाण के विषय में ऊपर लिख ही चुका हूँ। मेरी राय में समस्त नख-शिख एक ही बोली में लिखे गए हैं, जिसमें कुछ निकटवर्ती बोलियों के भी तत्व कदाचित् आ गए हैं। यह विषय बड़े ही महत्व का है, और भारतीय भाषाओं के विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए।

३. भायाणी जी ने इस प्रसंग में यह भी लिखा है (भूमिका पृ० १३८) कि छः क्षेत्रों में से प्रथम दो के नाम त्रुटित अंशों में निकल गए हैं, शेष चार हैं कानोज (?), टक्क, गौड़ तथा मालवा। भाषाओं के संबंध में उनका अनुमान है कि प्राप्त नख-शिख क्रमशः अवधी, मराठी, पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, बंगाली तथा मालवी के पूर्वरूपों में लिखे गए हैं। जहाँ तक क्षेत्रों की बात है, 'कानोज' कहीं नहीं आता है: शिलालेख की पंक्ति १० में 'कानोडउ' आता है, जिसको वे 'कानोजउ' के स्थान पर भूल से लिखा मानते हैं, किंतु शिलालेख के 'ज' और 'ड' में इतना अधिक अंतर है कि यह भूल असंभव है। 'कानोडउ' प्रसंग में संगत है, जैसा मेरे दिए हुए अर्थ में देखा जा सकता है। जिन बोलियों का उन्होंने उल्लेख किया है, यदि उनके प्रतिनिधि तत्वों का भायाणी जी ने उल्लेख भी किया होता तो अधिक अच्छा होता।

भायाणी जी लिपि-शैली के आधार पर लेख का समय वही मानते हैं जो मैंने माना है। लेख किस व्यक्ति से संबंधित है, इस पर उन्होंने विचार नहीं किया है।

इतना उन्होंने और सूचित किया है (भूमिका पृ० १३०) कि लेख रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा से प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम को मिला है और केवल इतनी सूचना के साथ मिला है कि यह मालवा के धार नामक स्थान से प्राप्त हुआ था; यह काले पत्थर पर है और यह उक्त म्यूजियम के पुरातत्व विभाग का नवाँ प्रदर्शितव्य (Exhibit) है। इसका आकार उन्होंने ९५" × ३३" बताया है, जो स्पष्ट ही अशुद्ध है: "४५" का "९५" भूल से छप गया है।

पाठ[३]

– – – – – – – – – – – – – –[।]– – – – – –[२]–मा[ण्ड णु ?]भा व इ ॥
आ खि हिं का ज लु त र ल उ दा ज इ। [आ]छ उ तु छ उ(?)फू ल– – – इ ॥
अ ह [र] तं बो लें म णु म णु रा त उ। सो ह दे इ क वि आ न – – – –[॥]
– – – – – – – – – – – – – – –[।] [३] ली– – –त म्व हीं मो हं थि ॥
जा ला कां ठी ग ल इ सु हा व इ। आ नु कि[सो ह ?] इ ता क रि[पां]व इ ॥
ए ह इ त रु णि हुं मा ण्ड णु भा ल उ। जं ज सु रू च इ सं – – – – – – –[॥]
– – – – – – – – – – – – – –[।]– – – [४] णु म णु– – डी ज इ॥
रा त ऊ कं चु आ अ ति सु ठु चां ग उ। गा ढ उ वा ध उ – – – –आं ग उ ॥
– दु हां प हि र णु भा ल उ भा व इ। ता सु सो ह कि क छ डा पां व [इ ॥]
– – – – – – – – – – – – – – –[।]– – – – – – –[५]हुं वे स म णु–॥
वि णु आ ह र णें जो पा ये (?) न्हु सो ह। आ नु व नां त हं मो ि– उ – ो ह ॥
अ इ [सी] वे टि या जा घ रु आ व इ। ता हि कि तू लि म्ब को ऊ पा व इ ॥
[॥ * ॥ * ॥ * ॥]

---

३. कोष्ठकों में दी हुई संख्याएँ शिलालेख की पंक्तियों की हैं।

रोडा कृत 'राउल वेल' का शिलालेख
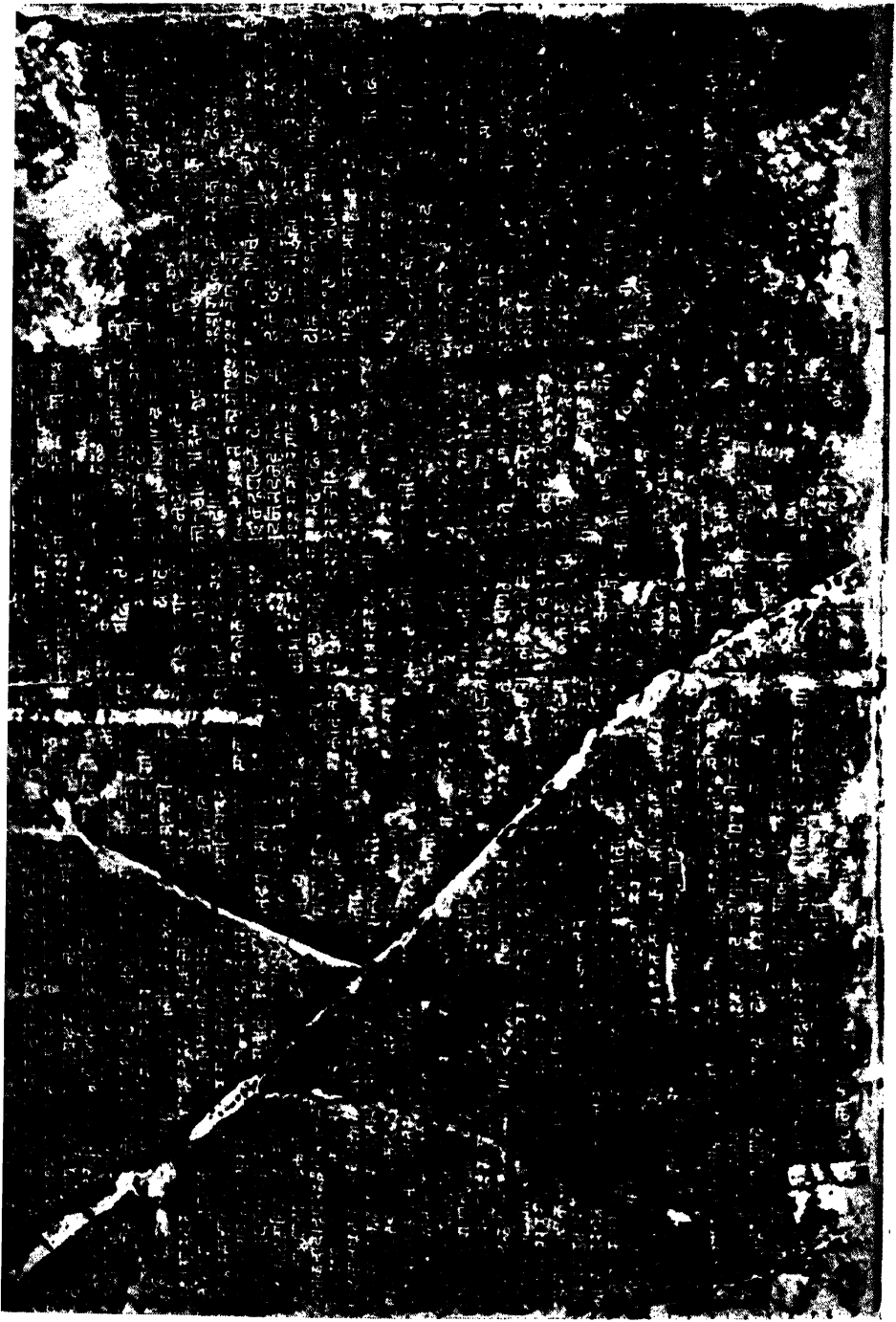
– – – – – – – – – – – – – – – [।]–[६] छ हिं गो हा को – – दे ख सि ॥
व लि अ हि वा ध लि अ हि जे चां गि म्त्र। ते वा न तु – – –वी (?) ला गि म्व ॥
– अ हि आं तु जें वि अ इ ल फू ल्लें। अ छ उ ता उं कि तें ह चें वो ल्लें ॥
– – – – – – – – – – – – – – – [।] – – – – – –[७]–का चू वो डा ला–॥
– – हं ध डि व न हं चि जे रे ख। ते चि न्त वं त हं आ नि क ओ ख ॥
– – क चि कां ठी कां ठि हि सो ह इ। लो क हं ची दि ठि मां ड चि खो ह इ ॥
आं गि हि ला – – – – – – – – – – [।] – – – – – – – – – – – – – – ॥
प डि ह [८] – – – – – ली मा – – [। आ] नि कु वा नू जो ए थु घे ठा ॥
आ वि लु का छ डा द ढ गा [ढा]। आ नि कु जो व णु ऊ–रु था ढा ॥
हा थि हिं री ठे ऊ ज ल ला न्ह। जी पु डि ता गे आ वि ल सा न्ह ॥
– – – – – – – – – – पा टी(?) गा ढी। ज णु का म्वे [९] – – – – – – – – ॥
पा इ हिं पा हं सि या चि रु चां गा। लो ण चि आ नि [क] मां डी आं गा ॥
गो ल्ले आ [नं?] दि(?) अ तु झ चि दे सु। आ नि क तें ह चा तो वे सु ॥
चा व लु भ ण हु णि तो – – – – –। ते आ पु ली ग म्वा रि म्व आ ख [१०] इ ॥
– – – – – – – त रु णि म्व मां डी। पा त ली को भा उ अ छां डी ॥
– – क चि अ इ सी रा उ ल सो [ही]। दे ख त तो ही म य णु व मो ही ॥
॥ * ॥ * ॥ * ॥
ए हु का नो ड उं का इ स उ झां ख इ। वे सु अ म्हा ण उं ना ज उ दे ख [११] इ ॥
आ उं ड उ जो रा उ [लु सो] ह इ। थ इ न उ सो ए थु को क्कु न मो ह इ ॥
ड ह र उ आं खि हिं का ज [लु दी न उ। जो जा ण इ सो थ इ न उ वा न उ ॥
क र डि म्व अ नु कां च डि अ उ का न हिं। का इं क रे व उ सो ह हिं आ [१२] न हिं ॥
ग ल इ पु लू की भ [ा व इ?] कां ठी। का म्व त णी सा ह र इ न – – ॥
लां व झ लां व उ कां चू रा त [उ]। को कु न दे ख तु क र इ उ मा त उ ॥
थ ण हिं सो ऊं च उ कि अ उ रा उ ल। त रु णा जो व न्त क र इ सो वा उ ल ॥
वा ह [१३] डि अ उ सो म्वा ल उ दी ह उ। – – उ आ थि न त हुं ज णु चा ह उ ॥
[हा] थ हिं मा ठि अ उ सु ठु सो ह हिं। – थु ख ता ज णु स य ल इ चा ह हिं ॥
प हि र णु फ र ह रें प र सो ह इ। रा उ ल दी स तु स उ ज णु मो ह इ ॥
झ णि ने उ रा [१४] णी का न सु हा व इ। अ रो (?) र क – – – म न भा व इ ॥
हां स ग इ जा चा ल ति अ इ सी। सा वा ख र ण हु रा उ ल क इ सी ॥
ज हिं घ रे अ इ सी ओ ल गं प इ स इ। तं घ रु रा उ लु ज इ स उं दी स इ ॥
॥ * ॥ * ॥ * ॥
[१५] के हा टे ल्लि पु तु सु हु झां ख हि। अ – – – रा दु वे हु तु हुं आ ख [हि] ॥
वे हु ए क्कु सो ए थु व म्नि ज्ज इ। – अ क्खं द हं ही आ भि ज्ज इ ॥
अ ड् डा के ह पा हु जो व ढा। सो प्प र ते हा गो रीं ल ढा ॥

चं द स वा णा टी (दी?) हा कि य्य इ। जें मु हु [१६] ए क्के ण वि मं डि ज्ज इ॥
अं घि हिं – – – – – – – रा दि त्ता। जो [नि] हा लि क रि म य णू म त्ता॥
कं य्य डि अ हि सो ह हिं दु इ ग न्न। म (मं) ड न सं ड न ड हि प रे अ न्न॥
कं ढी (ठी) कं ढि (ठि) ज ला ली सो ह इ। ए हा ते हा स उ ज ण मो ह [१७] इ॥
आ धू घा डें थ ण हि ज कं य्यू (च्चू)। सो—स न्ना हु अ णं ग हो नं –॥
[कं] य्यू (च्चू) वि य्य (च्च) हिं जे थ ण दी स हिं। ते नि हा लि स व व त्थु उ वी स हिं॥
गो र इ अं गि वे रं गा कं य्यू (च्चू)। सं झ हि जो न्ह हि नं सं ग उं हू॥
प हि र णु घा घ रे हिं जो के रा। क छ [१८] डा व छ डा ड हि प र इ त रा॥
– – – झि क – – –ला प – – णु। पा ख इं पा ख उ धा व इ त सु ज णु॥
ए हा वे हु सु हा वा टे ल्ल। आ न्न तु सं दा ड हि प र इ वो ल्ल॥
ए ही ट क्कि णि प इ स ति सो ह इ। सा नि हा लि ज णु म ल म [१९] ल चा हु इ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

की स रे वं डि रो टा क तु [हुं] – ल [सि।] रा हू आ गें वा न तु भू ल सि॥
तं इं की क त हू वे स रे दी ठें। जे ह र ते ह र वा न सि धे ठें॥
गौ ड सु आ णु स त इं क त दी ठें। ते दे खि वे स कि भा वं थि मी ठें॥
वे [२०] डे न्हु वा घे न्हु के सं ज लु ड हि म्व। खों प व ली ए क हु – – – – स म्त्र॥
खों प हि ऊ प रं अ म्वे अ ल क इ से। र वि ज णि रा हूं घे त ले ज इ से॥
दि ठ हु ल फू ल अ म्हा – – म्वा झ थि। ते दे खि त रु णे सा व इ मू झ थि॥
तू छे फू ल ता रे म ण [२१] हा रे। र य णि मु हां ज णु ग णि ए ता [रे]॥
– रे व व्वं र दे खु रे – –। ता रि नि ला डी स रि सो का हु॥
भ उ हीं तु रू रीं दे खु व व्वं र क इ सीं। ता हि का म्व क रीं ध णु अ ड णी ज इ सीं॥
अ रे अ रे व व्वं र दे ख सि न टी का। चां द हि ऊ प र ए ह [२२] भ इ टी का॥
वे टु ला टी का के ह र [भा] व इ। मु ह स सि ओ ल गं चा – –ना व इ॥
वि णु व न वा रां अ छ ण नो वा र सि। वु ढि रे वं डि रो आ प णी हा र सि॥
का न न्हु प ह्नि ले ता ड र पा त। ज णु सो ह इं ए वं सो हि रे पा त॥
गू आ रां गे द [२३] स ण रे रा ते। आं ट कु डी पु त त – – मा ते॥
कां ठ हिं मां ड णु – – ल र ता गु। सो ल हि म य ण हि ए वं भो अ ल ला गु॥
मा सें सो ना जा ल उ की ज इ। मो त्ता स र सो हु तें हू ह सी ज इ॥
गं ठि आ ता ग उ ग ले हि सो भ स [२४] णु। जो दे खि वं डि रो को न [मू?] झ इ ज णु॥
म्व तु त री अ न्हु क र – – हा रु। सो दे खि हा र न्हु भ उ अ व हा रु। [।]
थ ण ह र मा झें जो हा रु सु ते र उ। सो ह न्हु – – न्हु सो ए कु ज ठे र उ॥
पा र डी आं त रे थ ण ह रु क इ स उ। [२५] स र य ज ल य वि च चां दा ज इ स उ॥
सू ते र हा रु रो मा व लि क लि अ [उ]। ज णि गां ग हि ज लु ज उ ण हि मि लि अ उ। [।]
पै ह्नि अ ल वा ही जे चं द हा ईं। वी जे र चां द हि ते चं द हा ईं॥

आं ग हिं मां ड णु अं गे र उ जा लु। कां ठी [२६] वें टी वं डि रो आ लु॥
का छां [पै] ह्ल ण के रि ज सो ह। आ न स रा हंत सु णि [अ?] हि अ ति को ह।
वि उ ढ णु सें दू री से ल द ही की ज इ। रू उ दे खि ता र उ स व ज णु खी ज इ॥
ध व ल र का प ड ओ ढि अ ल क इ से [।] मु ह स सि [२७] जो न्ह प सा रे ल ज इ से॥
अ इ सो उ वे सु जो ग उ डि न्हु के र उ। छा डि---न त दि ठ स वु तो र उ। [।]
जे ह र रू च इ ते ह र वो लु। ता रे वे स हि आ थि कि मो लु॥
अ इ सी ग उ डि ज रा उ लें प इ स इ। सो ज णु ला [२८] छिं मां डे उ दी स इ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

गौ ड तु हुं ए कु को प नु अ उ र व र----
को त इं स हुं भ इं वो ल इ।
ज पु णु मा ल वी उ वे सु हि आ वं तु
का म्व दे उ जा उं (नुं) आ प णा ह ह थि आ र हु भू ल इ।
इ हां अ म्हा र [२९] इ दु भ गी खों प क रि उ भ इ।
त हि सा रि ख उ क हा इ उं आ थि ए उ कि स---इ (?)।
खों प हि ऊ प रि सो ल ड ह उ दी न उ वा नु तें कि स उ भा व इ।
जि स उ सिं दू रि अ उ र जा य सु का म्व दे व ह क र उ ना घ इ।
नि [३०] ला डु र तु रू र उ सु प वा णु न सा न्ह उं न ऊं च उ।
सो दे खि उ आ ठ म्वि हि क र उ चां [दु] इ स उ भा व इ।
के (?) र ए हु ओ डि अ उ जू न उ ठें च उ।
भ उं ह हुं रं दु इ तु रू री हिं सा न्ही हिं आ डा ह आं खि हिं क र इं गु ण इं
ज[३१]इ स उ का म्व क र उ[ध]णु हुं च डा वि य उ।
नि डा लि टी के तु रू रे की एं तें का म्व ह----
सं क री हि भा ले हि क र उ का जु पा वि य उ।
सा न्हा हं पु ड हं ना कु तु रू र उ सु रे खु।
सो इ र वा ना हं स व हं ऊ त रि अ उ [३२] अ इ स उ क रि उ-----ले खु।
आं खि र फा टा ती खा ऊ ज ला त र ला ते वा न ति जी भ---खू झ इ।
त इ स उ ह थि आ रु पा वि उ का म्व दे उ ज ग ही का इं क रि सी
अ इ स उ वृ ह स्प ति ही न उ मू (सू) झ इ।
[३३] आं खि हि र तु रू [र उ] का ज लु दी न उ क इ स उ।
ज णु चा खु हु क र इं भ य इ कि य उ---जि स उ।
पू नि व हि क र उ चां दु फा डि उ ह रि णु पा ख इ घा लि उ
दु ई क पो ल जि सा कि आ।
ते दे ख त हं [३४] स व हं त रु णा
पा वि वे क री ख णु स इं ध स ध स प ड हिं हि आ।

क न वा स हीं का न हीं वा -- इ क र उ खू ट उ वो लु।
कें कें के त उ न ख पि अ उ ए हिं ज गी (गि) आ थि न मो लु।
ते न्ह र प इ ल्हि या ध डि व [३५] न कि सा भा वं थि।
[ज] णु पू नि व हि पू नि व हि क रा चां द को ड इं त हि क र उ सु हा व उ
वो लु सु ण ण --- फ डि उ आ या ना वं थि।
ते हि क र इ त लि ल ईं उ प इ लें ओ ठ इं स क वि सो ह ला धी।
ज वीं वी फ ल हं प[३६]वा ला हं अ सो [अ] प ल्ल व हं तें तू सि उ वि ल धी।
स मु दा इ क ज मु ह क री सो भ स ज इ
को इ प [इ ह्न] णु ह र इ त उ प मा न क र हुं।
वू घि आ प णी अ छ इ स कू डी वा न णी
त।(ता) ह क री क रि उ स हीं अ व ह र हुं --
[३७] --ए का व ली -- इ ए (?) क (?) वा धी स इ र इ सी भा व इ
ज णु मु ह चं दु ओ ल ग ण हं न ख त वा ल स ता वी स
---री आ ई अ इ स उ ना व इ।
थ ण र प हु ला ऊं चा वा टु ला पी णा
सो ना ह क रा मं ग ल क ल स जि सा -- [३८] -हिं
आ नु कि का म्व दे व ह क रा ह घ र ह
वा रि ओ डु ता स सो ह पा व हिं।
ति व लि हि मां झि रो म रा इ ---- ध र इ।
ज सो ह हि क र इ पा ख इ दु हुं आ ध हं जू झ त हं नि वा ड उ क र इ।
त हं मां ड णु सा त (?)-[३९] ----णि (?) हुं
मो ती हुं क र ह ए कु जि हा रु।
स सो ह दे ख त हं अ इ स उ भा व इ
अ ण सा र उ अ ---उ हु अ उ ए हु सं सा रु।
त पु णु ज व हीं तें हा थ हीं पा य हीं प इ ल्हिआ सो ना के रा चू डा।
स दे खि (?) [४०] --तु म्हा [रा] जे वे स ते स व भा व हिं कू डा।
तें र त (त्त) इ सी वो ड वा ही प डि क री प इ ह्री ज कां चु ली
स इ र [आ ?] न सो ह क वि व ह इ।
अ रे का म्व दे व इं स ना हु कि य उ
त ए वं तु म्ह न ही छो डि क उ इ स उ ति हु [४१] [व न ?] ही क ह इ॥
प इ ह्न ण ह नि री प इ ल्हि आ ह का छ ड इं स हुं ज सो ह
स कि क उ णू वे सु पां व इ।
-- चं ग ि-- थि वि अ रे गौ ड हो गो ल्ला हो
बो ल उ जो ज सु भा व इ॥

तें पु णु ------ टी ए क आ व लि
[४२] --- व ता हि क रीं सो ह को पा म्व इ।
ज वा ध ता ह का म्व दू म ह आ ल वा लु ज इ सी भा व इ॥
पा य हिं र र तू प ल --जि आ।
जे लो क हिं ला छि हि क र उ नि वा सु भ णि उ
---------- वा टु ला हं ऊ ज ला
[४३] ---- क रीं ----ी।
ते इं र स व हीं वे स हं क री ज ला छि स अ व ह री॥
का प ड हि र क र उ ज गो री त हि ------ वे सु
ज सा म्व ली त हि र पा ट णी ि-- क र उ।
आ - मं ---------- हं।
को स सो -- [४४] उ --- छा य ते इं प र ला धी।
ज हिं आ वं ति र ति आ प ण इ हि अ इ अ ति सु ठु खू धी॥
तु म्ह इं ----- ल तु म्ह हिं स रि स उ वो ल हिं को जू [झ इ।]

आ [४५] नु (?) --- इ वा न ह जो व थुं का ज ह मा झु वू झ इ॥
ए ह इ सी सु वे स ज हिं आ वि उ प इ स इ
--- [रा ?] उ लु वू च इ।
अ उ रु भ ण उ को क ---- हु ------- रूच [४६] इ [॥]

रो डें रा उ ल वे ल व खा [णी।]
[पुणु ?] त हं भा स हं ज इ सी जा णी॥

अर्थ

-------------- [।] ------ [२]- [मण्डन ?] भाता है।
आँखों में काजल तरल दीखता है, अच्छा तुच्छ फूल--- है।
अधर के तांबूल द्वारा मन मानो रक्त हो गया है, कवि [कहता है]---- अन्य ही शोभा देता है [।]
-------------- । [३]------- को मोहते हैं।
[उसके] गले में जाल कंठी शोभा देती है, क्या और कोई [आभरण] उसकी [शोभा?] पाता है ?
तरुणी का मंडन इस प्रकार भला है कि जिसको जैसा रुचे-------- [।]
------------- [।]--- [४]---------।
रक्त [वर्ण का] कंचुक अत्यधिक चंगा (अच्छा) है, [और]---- अंग से वह गाढ़ा (कस कर) बँधा हुआ है।

---परिधान भला (बहुत) भाता है, उसकी शोभा क्या कछड़ा पा [सकता] है?
-------------[।]-------[५]-------।
बिना आभरणों के पैरों की जो शोभा है, वहाँ (उसमें)------अन्य ही वर्ण का है।
ऐसी बेटी जिस घर में आवे, उस [घर] की तुल्यता क्या कोई पा सकता है?

[॥ * ॥ * ॥ * ॥]

-------------[।]-[६]---ऐ गोहा (पुरुष या भट) तू---देखता है।
बलि हुए सर्पों को [बालों के रूप में] बाँध लेने से जो चंगिमा (मनोहरता) हो रही है, उसका वर्ण-----लग रहा है।
-जो आंत (बलवान) अहि विकचित और फूले हुए हैं, क्या यह [हो सकता] है कि वे तावत् उस प्रकार बोलें?
-------------[।]------[७]--------[।]
--घडिवन (झुमके?) की जो रेखाएँ हैं, वे चिन्तनशीलों को बाँके ढंग से अवक्षिप्त करती हैं।
-----कंठ में जो कंठी शोभा देती है, वह लोक की दृष्टि में मंडित होती और उन्हें क्षुब्ध करती है।
अंग में------------[।]--------------।
पटी (दुपट्टे) का [८]----------[।] बाँका वर्ण जो यहाँ पर(?) धर्षित हो जाता है।
[तेरा] आविल (मलिन) कछड़ा प्रगाढ़ रूप से दृढ़ है, [और तेरा] बाँका यौवन---खड़ा है।
हाथों में [जो] रिष्ट (रीठों) [के रूप में] उज्ज्वल, लान्ह (छोटे) और जीपुडि (?) तागे हैं, वे आविल (मलिन) हैं।
---------गाढ़ी पट्टी है, मानो कामदेव [९]--------।
पैरों में पाद हंसिका[४] है जिसने अति ही चंगा (भला) [और] बाँका लावण्य अंगों में माँड रक्खा है।
गोल्ल (कुंदरू के फल) आनंदित (?) [होकर] तुझसे कहते हैं कि तेरा वेष उनके [वेष] से बाँका है।
हे हूणि------वे क्या बल भाष सकते (दावा कर सकते) हैं? वे तो आपूर्ण ग्राम्यता [ही] बताते हैं।
[१०]-------तरुणता माँडी है, [तुझ] पातली (पतले शरीर की स्त्री) को [तेरे] भाई ने छोड़ दिया।
---- राउल (राजभवन) में तू ऐसी शोभित है कि तुझे देखकर मदन भी मोहित हो जावे।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

इस प्रकार कनावड़े होने (?) को किससे झंखें, यदि तू हमारे वेष को नहीं देखती?

---

४. पैरों का एक घुंघरूदार आभूषण।

[११] ऐ राउल, जो [तू ऐसी] आपूर्ण शोभित हो रही है, यहाँ वह व्यक्ति नहीं है जो [तू ही] बता मोहित न हो जाए।
[तेरी] आँखों में जो डहर (अल्प) काजल दिया हुआ है, जो [कुछ] ज्ञात है वह उसका वर्ण (सवर्ण) नहीं है।
[तेरे] कानों में करडिम (करपत्रिका)[५] और काँचडी (?)[६] हैं, [अतः] अन्यों (अन्य आभरणों) को शोभा के लिए क्या कर्त्तव्य है?
[१२] गले में खोखली कंठी [इस प्रकार] भाती (?) है [मानो] वह काम की शृंखला---।
लंबा, लाँवझ (?) और रक्त [वर्ण का तेरा] कंचुक है, तू ही न बता कि वह देखते ही उन्मत्त [नहीं] करता है?
ऐ राउल, सो (जो) [तू] अपने स्तन ऊँचे किए हुए है, वह तरुणों को देखते ही बावला कर देता है।
[तेरी] जो बाहें हैं वे मल्ल–अवष्टम्भन स्तंभ–के समान दीर्घ हैं,---मानो देखो तो उस प्रकार नहीं है। [तेरे] मृष्ट (मसृण) हाथों को जो बहुत शोभा देते हैं,-- समस्त खता (क्षत्रिय) जन चाहते हैं।
[तेरा] परिधान फहराने पर शोभा देता है, [और] हे राउल, वह [परिधान] दीखता हुआ सब जनों को मोहित करता है।
[तेरे] नूपुरों की ध्वनि [१४] कानों को सुहाती है, --------मन को भाता है। जिस हंस-गति से वह इस प्रकार चलती है, वह वाखर (पक्ष = आधी) भी राउल [की गति] सी नहीं है।
जहाँ घर में ऐसी अवलग्ना प्रवेश करती है, वह घर [सचमुच] राउल (राजभवन) जैसा दीखता है।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

[१५] किस प्रकार टेल्लिपुत्र (तिलंगी का पुत्र) तेरे लिए झंखता है? -------देख कि वह तुझे (तेरे संबंध में) कहता है,
'एक भी [ऐसी] कोई दीखती हो तो उसका यहाँ वर्णन कर।'–कहते हुए [उसका] हृदय भींजता (स्निग्ध होता) है।
जो किसी प्रकार के आड (कलंक या दोष) के पाश में बँधता है, वह ही उस प्रकार से गोरी को प्राप्त करता है।
चंद्रमा का सवर्ण [कोई पदार्थ] दिन (?) के लिए भी यदि [निर्मित] किया जावे, तो यह भी [तेरे] मुख को [१६] एक न माँड (पा) सकेगा।
-----------दिया हुआ है, जिसे निहारकर मदन भी मत्त [हो रहा] है।
[तेरे] दोनों गण्ड कय्यडियों[७] से अति शोभा देते हैं, [जिसके कारण] अन्य मंडन सद्यः ही (?) दग्ध हो चुके हैं।

---

५. करपत्र (आरे) के समान दाँतवार एक कर्णाभरण।
६. एक प्रकार का कर्णाभरण (?)।
७. एक प्रकार का कर्णाभरण (?)।

[तेरे] कंठ में जो जलारी (जल्लार देश की) कंठी शोभित है, वह ऐसे-वैसे सब जनों को मोहित करती है।

[१७] आधे उघाड़े स्तनों पर जो कंचुक है, वह--अनंग का सन्नाह -- है।

कंचुक के बीच में जो स्तन दिखाई पड़ते हैं, उन्हें निहार कर [लोग] सब वस्तुओं को उद्‌घिषित करते हैं।

[तेरे] गोरे अंग पर दोरंगा कंचुक [ऐसा लगता] है, मानो संध्या और ज्योत्स्ना का संगम हुआ हो।

[तेरा] जो घाँघरे का परिधान है, [१८] [उसको देख कर] इतर कछड़ा और बछड़ा [पछेला] दग्ध हो जाते हैं।

------------। पक्ष में पक्ष दौड़ रहा हो, मानों ऐसा [होता] है।

देख, [तेरे संग में] टेल्ल (तिलंगा) [इस प्रकार] शोभित है कि अन्य वोल्ल (?) सद्यः दग्ध हो जाते हैं।

[राज-भवन में] प्रवेश करती हुई इस प्रकार की टक्किणी शोभा दे रही है, उसको निहार कर लोग [आँखें] मलमल कर [१९] देख रहे हैं।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

ऐ वंडिरा (वंदी), तू कैसा है कि टक्क---, ऐ राहु (पलित केश वाले), [इसके] आगे [तू] वर्ण भूल रहा है। तूने क्या कहीं [उसके] वेष को देखा है कि जैसे-तैसे जो भी वर्ण थे वे घर्षित हो गए हैं? ऐ सुजान गौड़, तूने उसे कहाँ देखा? [उसे] देखने के अनंतर क्या तुझे वेष मीठे लगते हैं? [२०] बंधनों से बँधे हुए केश जो [मुख पर] लोल हो रहे हैं, खोंप------एक भी --।

खोंप के ऊपर [बँधा हुआ] अमेअल (शेखरक)[८] कैसा [लगता] है कि मानो रवि राहु के द्वारा गृहीत जैसा हो।

[उसकी] दृष्टि का फूल [जब] --------उसे देखकर तरुण [मृग-] शावक मूर्च्छित हो जाते हैं।

[उसको देखकर] फूल तुच्छ हो गए और तारे मन में [२१] हार गए, मानो [इसी कारण] तारे रजनी-मुख गिने जाने लगे हैं।

अरे वर्व्वर, तू--देख, उसके ललाट के सदृश क्या है?

अरे वर्व्वर, तू देख [उसकी] भौहें कैसी रूरी (सुन्दर) हैं, वे कामदेव के धनुष की अड्डणी जैसी हैं।

अरे अरे वर्व्वर, तू [उसके] तिलक को नहीं देखता है? वह इस प्रकार का [२२] तिलक चंद्रमा के ऊपर हो रहा है।

[उसका] वर्त्तुल तिलक किस प्रकार का भाता है कि [मानो] मुख-शशि की अवलम्नता में--- नमित होता हो।

बिना बनवारों (पनवारों)[९] के वह नव आसन को वार रहा है, [जिससे] ऐ वंडिरा (वंदी), तू अपनी बुद्धि को हार रहा है।

---

८. जूड़े के ऊपर बाँधी जाने वाली माला।

९. पान के आकार का एक शिरोभूषण जो मस्तक पर लटकता रहता है।

कानों में [उसने जो] ताडर (चमकदार?) पत्ता[10] पहना है, [वह ऐसा लगता है] मानो इस प्रकार शुद्धि (निर्मलता) का पत्ता शोभित हो।
गूआ से रँगे हुए [२३] [उसके] दाँत [ऐसे] राते (रक्तवर्ण के) हैं कि आर्त्त कपर्दिका-पुत्र --मत्त [हो रहे] हैं।
कंठ में मंडन (आभूषण)--लड़ों का [जो] तागा है, वह [ऐसा] लगता है [मानो] मदन के हृदय में बंभोअल (ब्रह्मोत्पल?) लगा हो।
मास भर (?) सोने को जलाइए, [किंतु] मुक्ता के सदृश होने पर भी [वह] हँसा जाता है।
सन का ग्रथित तागा [उसके] गले में शोभा देता है, [२४] जिसको देखकर, ऐ वंडिरा (वंदी), कौन जन मूर्छित नहीं होता है?
ऐसा न हो कि [उसके गले में] तारिकाओं (नवग्रहों) का जो--हार है, उस को देखकर [अन्य प्रकार के] हारों का अपहार (त्याग) हुआ हो।
भारी स्तनों के मध्य जो सूत का हार है, वह [मानो] स्थविर (वृद्ध) कुज (मंगल) ----शोभित हो।
पारडी (परार्द्ध)[11] के पीछे उसका भारी स्तन कैसा है कि [२५] जैसे शरद् के जलद के बीच चंद्रमा हो।
[उसका] सूत का हार रोमावली से [इस प्रकार] कलित हो गया (मिल गया) है कि मानो गंगा का जल यमुना [के जल] से मिल गया हो।
बाहों में जो चंद्रहाई (चंद्रिका) उसने पहनी है, वह चंद्रहाई (चंद्रिका) दूसरा चंद्रमा [हो रही] है।
[उसके] अंग का मंडन [उसके] अंग का उजाला है, उसकी कंठी का [२६] वृन्त वंडिरा (वंदी) के लिए [अपनी अवर्णनीयता के कारण] आल (कलंक) [का कारण] बन गया है। [उसके] काछे के परिधान की जो शोभा है, [उसके समक्ष] अन्य [किसी परिधान] की सराहना करते सुनिए तो अति क्रोध होता है।
दो ओढ़नियाँ सेंदरीं[12] और सेलदही[13] की कीजिए, तो [उसका] रूप देखकर सब जन क्षीण होते हैं।
[उसने] जो धवल कपड़ा ओढ़ रखा है, वह कैसा लगता है जैसे मुख-शशि ने [२७] ज्योत्स्ना प्रसारित की हो।
ऐसा वेष जो [उस] गौड़ी का है------छोड़कर सबसे दृष्टि तोड़ लीजिए।
[जिसे] जैसा रुचे [वह] वैसा बोले, [किंतु] उसके वेष का क्या [कोई] मूल्य है?
ऐसी गौड़ी जब राउल [राजभवन] में प्रवेश करती, [तब] वह [राउल] मानो [२८] लक्ष्मी के द्वारा मंडित दीखता है।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

ऐ गौड़, तू एक [ही भाग्यशाली है], किंतु दूसरा और कौन वर----

१०. पत्ते के आकार का एक कर्णाभरण।
११. एक प्रकार का बहुत महीन मलमल।
१२. एक धारीदार कपड़ा।
१३. दक्षिण भारत का एक महीन मलमल।

कौन तेरे सौंह (सम्मुख) होकर बोले ?
जो फिर मालवीया है, उसकी सुधि आती है
तो कामदेव मानो अपना हथियार भी भूल जाता है,
इस डर से कि यहाँ हमारी (हमारे शरीर की) ही दो भागी खोंप बन जाएगी।
उसके सरीखा क्या इस प्रकार है किसी----?
[उसकी] खोंप के ऊपर जो सौलड़ा दिया हुआ है, उसका वर्ण कैसा भाता है,
जैसे सिंदूरिका के राजादेश से कामदेव कर नमित कर रहा हो।
[३०] [उसका] ललाट रक्त [वर्ण का] और रूरा (सुंदर) है और उसके प्रमाण में वह कम ऊँचा नहीं है,
उसे देखने पर अष्टमी का चाँद ऐसा भाता है।
[उसने] --इस प्रकार का ओढ़ रक्खा है कि--उठे का हो।
[उसकी] दोनों स्फुर भौहें रूरी (सुन्दर) हैं, [और] उनकी आड़ में [उसकी] आँखों का गुण (वैशिष्ट्य) [ऐसा] है
जैसे [उन्होंने] काम [देव] का धनुष चढ़ाया हो।
ललाट में [उसने] जो रूरे (सुन्दर) तिलक दिए हैं, वे काम के ----
शंकरी (पार्वती) के भाल के कार्य के लिए पाया है।
उनके पुट (संयोग) से नाक की रेखा रूरी (सुन्दरी) लगती है।
उसके वर्ण से सब का वर्ण उतर गया है, [३२] ऐसा किया है-----लेख।
[उसकी] आँखों की फाँकें तीखी, उज्ज्वल और तरल हैं [और] उनके वर्ण [के विषय में] जिह्वा ---क्षब्ध होती है।
वैसा हथियार पाकर कामदेव जगत् को क्या करेगा,
ऐसा वृहस्पति को भी नहीं सूझता है।
[३३] रक्त [वर्णकी] आँखों में जो रूरा (सुन्दर) काजल दिया हुआ है, वह कैसा है,
मानों चक्षुओं के भय से ---जैसा किया हो।
पूर्णिमा के चन्द्रमा को फाड़कर और हरिण को पक्ष में (अलग) डालकर
[उसके] दोनों कपोल जैसे [विधाता ने] किए हों।
उन्हें देखते ही [३४] सब तरुणों के
पाने की खुनस के कारण हृदय धँस-धँस पड़ते हैं।
कानों के कनवासों (कनपासों) ----के लिए बोल खूट (क्षीण पड़) रहा है।
कितने ही नहीं इस [कार्य] में खप गए ? जगत् में इनका मूल्य नहीं है।
उन्हें पहिनने के अनंतर धडिवन (झुमके?) [३५] कैसे भाते हैं,
मानों पूर्णिमा ही पूर्णिमा के दो चाँद उस (उन) की क्रोड़ में सुहाते हों।
बोल सुनने के लिए---------अपने को नमित करते हैं।
[उसके] नीचे-ऊपर के जो ओष्ठ हैं उन्होंने कवि [कहता है, ऐसी] शोभा प्राप्त की है,

[जैसे] उन्होंने कुंदरुओं, प्रवालों [३६] और अशोक-पल्लवों को तुष्ट कर उसे प्राप्त किया हो।
[उसे पति से] समदाने (मिलाने) के लिए [उसके] मुख की शोभा सज रही है,
[यदि] कोई उसके परिधान का हरण करे तो उपमान करूँ।
अपनी जो बुद्धि है, वह कूड़ी (अपटु) बानिनी (व्यवसायिनी) है
उसके लिए सभी का अपहार--------
[३७] [उसने] जो एकावली [गले में] ------ बाँधी है, वह सकल ही इस प्रकार भाती है,
मानो मुखचंद्र की अवलग्नता (सेवा) में सत्ताईस नक्षत्र-बालाएँ
----आकर ऐसा इस प्रकार नमस्कार करती हों।
और [उसके] स्तन प्रभूत, ऊँचे, वर्त्तुल और पीन हैं,
[वे] सोने के मंगल-कलश जैसे ----हैं
[३८] अन्य कि [वे] कामदेव के घट हों
[जो] वारि (जल) की ओट में उस (उन)की शोभा पाते हों।
त्रिवली में [वह जो] रोमराजि----धारण करती है,
[वह ऐसी है मानो] शोभा के दो आधे-आधे पक्ष युद्ध करते हों [और वह] वहाँ [उस युद्ध का] निवारण करती हो।
वहाँ मंडन सात (?) - [३९]------
मोती का जो एक हार है,
उसकी शोभा देखते हुए ऐसा लगता है
कि यह संसार असार----हो गया है।
तो फिर जब उसने हाथों और पैरों में सोने के चूड़े पहने,
उसे (उसका यह पहिराव) देखकर (?) [४०]------जो वेष हैं, वे सब कूड़ा लगते हैं।
उसने रक्त जैसी चादर और उससे लगी हुई जो कंचुकी पहनी
उसकी और ही शोभा कवि वहन करता है।
अरे, कामदेव को [तुमने] सनाथ किया,
तो उसने भी उसी प्रकार तुम्हें नहीं छोड़ा, ऐसा तीनों [४१] भुवन ही कहता है।
-- परिधानों को पहनकर काछड़े से जो शोभा [होती] है,
वह [शोभा] क्या कोई [भी] वेष पाता है?
--अच्छा----अरे गौड़ देशवासियो, गोदावरी क्षेत्रवासियो,
बोलो जैसा जिसे भावे।
उसने फिर------एक अवली (एकावली)
[४२]----उसकी शोभा कौन पावे?
[उसकी] जवाध (जवार्ध)[१४] कामद्रुम के आलवाल जैसी भाती है।

---

१४. जौ के आकार की सोने की गुरियों की वह माला जो आधी अर्थात् गले में केवल सामने की ओर रहती है।

[उसके] पैरों ने रक्तोत्पल को--जीत लिया है,
जो लोक में लक्ष्मी का निवास कहा जाता है।
----------वर्तुल और उज्ज्वल
[४३] ----------।
उसने सब वेष करके जो लक्ष्मी [की सुन्दरता थी] उसका अपहरण कर लिया।
जो गोरी है, उसका ------वेष कपड़े का है।
जो साँवली है, उसकी पाटणी (पट्टन की साड़ी) का--है।
--------------।
कौन-- [४४]-------उस पर प्राप्त की
[कि] जिसके आते ही अपने हृदय में रति अत्यधिक क्षुब्ध की।
तुम्हें ही------तुम्हारे साथ बोल में कौन जूझे (युद्ध करे) ?

अन्य [४५] -- --वर्ण की जो वस्तुएँ कार्य में पूछी जाती हैं।
इस प्रकार ऐसे सुवेष में [वह] जब आकर प्रविष्ट हो
--राउल (राजकुल) कहा जावे।
और कोई कहे----------रुचे।
[४६] -----
रोडा के द्वारा [यह] राउलवेल (राजकुल-विलास) कही गई,
और फिर वहाँ [भी] भाषा में [कही गई], जैसी उसकी जानी थी।
- - - - - - - - - - - - -

●

कैलाशचन्द्र भाटिया

काँजीहौज

'काँजीहौज' शब्द उत्तर भारत के नगरों तथा गाँवों में प्रयुक्त होता है। यह उस स्थान-विशेष का सूचक है जो चारों ओर से बन्द होता है और जिसमें खेती आदि को हानि पहुँचाने वाले लावारिस पशु बन्द किये जाते हैं।[1] चौपायों के मालिक दण्डस्वरूप कुछ धन देकर उनको छुड़ा ले जाते हैं। इस शब्द से मिलते हुए अन्य शब्द भी हिन्दी भाषा के विशाल प्रदेश में व्यवहृत होते हैं, जिनमें 'कानीहाउस', 'कानीहौद',[2] 'काँजीहाउस' आदि उल्लेखनीय हैं। इतना निर्विवाद है कि इसका प्रथम रूप—काँजीहौज—ही बहुप्रचलित है, शेष रूप किसी निश्चित भू-भाग में ही प्रचलित हैं। 'काँजीहौज' सर्वत्र प्रयुक्त होता है तो 'कानीहाउस' पश्चिम में अधिक और 'कानीहौद' पूर्वी ज़िलों में प्रचलित है। यह शब्द हिन्दी-क्षेत्र में ही प्रयुक्त नहीं होता वरन् सम्पूर्ण भारत में इसके समानार्थी अन्य शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो रूपात्मक दृष्टि से भी इस शब्द से मिलते हुए हैं; यथा मराठी-कोंडावाडा[3]; कन्नड़-कोंडवाडा[4]; उड़िया-काँजिया हत्ता[5]; बँगला-खुँआड़[6]।

इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विद्वान् भाषाविदों के विभिन्न विचारों को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं: (अ) इस शब्द के दोनों भागों का संबंध अंग्रेज़ी से है। (ब) इस शब्द का द्वितीय भाग ही अंग्रेज़ी भाषा का है। (स) इस शब्द का प्रथम भाग तमिल भाषा का है।

(अ) वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित व्युत्पत्तियाँ आती हैं—

कानीहाउस = कैनिन + हाउस —ना० प्र० सभा काशी।[7]

---

१. हिन्दी शब्द सागर, ना० प्र० सभा, काशी, पहलाखंड, पृष्ठ ५२०।

२. प्रेमचन्द जी ने 'प्रेमाश्रम' में इस रूप का ही प्रयोग किया है, दे० पृ० २९९ तथा ३०३, सं० १९४८ ई०।

३. कृष्ण लाल वर्मा, हिन्दी मराठी कोश, प्र० सं०, पृष्ठ १०४।

४. डॉ० हिरेमठ, धारवाड़ विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त।

५. 'अहाता' का ही विकृत रूप 'हत्ता' है और 'हौद' पर 'हौज' के साथ 'हत्ता' का भी प्रभाव है—उड़िया रूप के लिए मैं प्रो० गोलोक बिहारी धल का कृतज्ञ हूँ।

६. बँगला रूप डॉ० सुकुमार सेन, अध्यक्ष, भाषा-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त।

७. बृहत् शब्द सागर, सातवाँ खण्ड, १९३०, पृष्ठ ३८८३।

काँजीहाउस = काइन[८] + हाउस —वही।[९]
काँजीहौद = काँजी + हौज —डॉ० बेली,[१०] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[११]।
काँजीहौद = काइन + हाउस —रामचन्द्र वर्मा।[१२]

(ब) तथा (स) वर्ग के अन्तर्गत—

काँजीहौद = काँजी + हाउस —वृहद् हिन्दी कोश, काशी।[१३]

एक ओर जहाँ कुछ भारतीय विद्वानों ने इस शब्द को अंग्रेज़ी का परिधान पहिना कर भारतीय भाषाओं में गृहीत माना है वहाँ दूसरी ओर सुब्बाराव जैसे विद्वान्, जिन्होंने अंग्रेज़ी में भारतीय शब्दावली पर कार्य किया है, इस शब्द को भारतीय सिद्ध करते हैं। हाब्सन जाब्सन[१४] में यह शब्द सम्मिलित किया गया जो निम्नलिखित अर्थों का परिचायक है—

१. रेजीमेंट की छोटी कोठरी।

२. उत्तर भारत में पशुशाला।[१५]

उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द का द्वितीय भाग अंग्रेज़ी शब्द 'हाउस' का ही विकृत रूप है, जो उचित है। अब प्रथम भाग की ही समस्या रह जाती

---

८. Kine-Cows-Middle English Ky-en a doubled plural of Anglo-Saxon cu'—a cow, the plural of which is cy- cf. scots kye—Chambers Twentieth Century Dictionary, 1935, पृष्ठ ५०१।

९. शब्द सागर, प्रथम भाग, काशी, पृष्ठ ५२०।

१०. 'केंचिग हाउस' से मानते हैं—दे० टी० ग्रैहेम बेली, इंग्लिश वर्ड्स इन पंजाबी, बी० ओ० ए० एस०, भाग ४, पृष्ठ ७८३-९०।

११. 'काइन हाउस' अथवा 'केंचिग हाउस' से मानते हैं—
डॉ० धीरेन्द्रवर्मा, इंग्लिश लोन वर्ड्ज़ इन हिन्दी, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज भाग ८-१, सन् १९३२, पृष्ठ ४०।

१२. रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोश, पृष्ठ २३८।

१३. काँजी (तमिल) लावारिस पशु, हाउस (अं० घर), ज्ञान मण्डल लि० बनारस, पृष्ठ २६३।

१४. अ—1. The cells (temporary lock up) of regiment in India, so called traditionally regiment of the innates.

2. Cattle-pound in Northern India—Hobson Jobson

ब—ऑक्सफ़र्ड इंग्लिश डिक्शनरी, भाग २, पृष्ठ ८३१।

१५. पशुशाला के अर्थ में एक साहित्यिक प्रयोग द्रष्टव्य है—

"इन लोगों के लिए कांजीहौज भी तो नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि द्विवेदी जी हरहट या हरहारी लेखक लेखिकाओं के लिए भी कांजीहाउस खुलवाएँ।"
बनारसीदास चतुर्वेदी—संस्मरण, सन् १९५२, पृष्ठ ११७।

है। प्रथम भाग को अंग्रेज़ी के 'काइन' अथवा 'कैनिन' या 'कैंचिंग' का बिगड़ा हुआ रूप माना गया है, जो प्रामाणिक नहीं; क्योंकि 'काइन' शब्द अंग्रेज़ी में ही प्रचलित नहीं, आज उसके स्थान पर 'काउज़' प्रचलित है तो उसके पुराने रूप का ग्रहण सर्वथा अमान्य है और 'कैनिन' तथा 'कैंचिंग' से भी किसी ध्वनि-परिवर्तन के नियम के अनुसार 'काँजी' नहीं बन सकता। ज्ञानमण्डल वाले कोश में 'काँजी' शब्द को तमिल शब्द लिखा है। मैंने इस शब्द का यथार्थ स्रोत ढूंढ़ने की विशेष चेष्टा की। तमिल में वस्तुत: 'काँजी' शब्द कम-से-कम इस अर्थ में कोई नहीं। तमिल में दो और शब्द हैं—१. काँची, जिसका अर्थ है—अव्यवस्थित, चलायमान[१६] और, २. काणि, जिसका अर्थ है—आधिपत्य या आधिपत्य का अधिकार।[१७] लेकिन इन दोनों शब्दों में से किसी से भी विवेच्य 'काँजी' शब्द का कोई सीधा संबंध नहीं स्थापित किया जा सकता।

दक्षिण की एक और भाषा कन्नड़ में 'कोंचे'[१८] शब्द है, जिसका अर्थ है—एक चारों ओर से उठी हुई दीवाल से घिरा हुआ टीले पर स्थित स्थान। 'अमरकोश' की कन्नड़ टीका में इसको 'शाला' के अर्थ में लिया गया है। मैसूर विश्वविद्यालय के कन्नड़ विभाग के अध्यक्ष डा० श्री-कंठिया ने भी इसी शब्द से इसका संबंध स्थापित करने की मुझे सलाह दी। लेकिन अगर इस शब्द से इसका संबंध स्थापित किया जाय तो फिर 'काँजी' तथा 'हौज' दोनों ही शब्दों का एक ही अर्थ है और डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार यह फिर अनुवादमूलक शब्द बन जावेगा।

कन्नड़ में एक शब्द 'कोंडा'[१९] और है जिसका अर्थ है—जंगली भेड़ या बड़े काले मुंह का काला बन्दर जिससे भी यहाँ कोई 'काँजी' शब्द से सीधा संबंध नहीं है। इससे भी उपयुक्त शब्द मुझको हाल ही की मेरी दक्षिण की यात्रा में 'तुलु' भाषा में प्राप्त हुआ। यह शब्द 'काँजी' है, जिसका अर्थ है 'बछड़ा', और जो सामान्यत: किसी भी चौपाये के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इस शब्द को ही मैं विवेच्य शब्द 'काँजीहौज' का प्रथम भाग मानता हूँ। इस शब्द की पुष्टि मैंने मद्रास विश्वविद्यालय में कन्नड़ के प्रोफ़ेसर श्री एम० भट्ट से की, जिन्होंने तुलु भाषा में विशेष कार्य किया है। तमिल में इसका समानार्थक शब्द 'कन्नु'[२०] है, जिसका रूपात्मक दृष्टि से कोई संबंध नहीं है।

अस्तु यह निष्कर्ष निकला कि 'काँजीहौज' शब्द एक सामासिक पद है, जिसका प्रथम भाग 'काँजी' दक्षिण की द्रविड़ भाषा 'तुलु' का शब्द है और द्वितीय भाग 'हौज' अंग्रेज़ी शब्द 'हाउस' का विकृत रूप है। इस प्रकार यह दो विभिन्न भाषाओं के शब्दों के योग से बना हुआ संकर शब्द है जो हिन्दी प्रदेश में ही नहीं, भारत के अधिकांश भू-भाग में प्रचलित है।

---

१६. तमिल पर अगरादि, भाग १, पृष्ठ ५८१।

१७. विल्सन, ग्लोसरी अव् जुडीशियल एण्ड रेवेन्यू टर्म्स, पृष्ठ २५८।

१८. किटल्स कन्नड इंगलिश डिक्शनरी, पृष्ठ ४८२। १९. वही, पृष्ठ ४८५।

२०. तमिल लेक्सीकन, मद्रास विश्वविद्यालय, १९२६, पृष्ठ ८२९।

रामशंकर भट्टाचार्य

पाणिनि के निपातन-सूत्रों की सार्थकता

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जो निपातन-सूत्र कहलाते हैं। इन निपातन-सूत्रों के विषय में यह शंका होती है कि किस लिए प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश छोड़ कर पाणिनि के द्वारा शब्दों का निपातन किया गया है? सभी सूत्रों में निपातन-पद्धति का ही ग्रहण क्यों नहीं किया गया है? निपातन-प्रणाली में कौन-सी सरलता है? अर्थ-निर्णय विषय में निपातन के द्वारा कौन-सा वैशिष्ट्य दिखाया गया है? इस निबन्ध में इन सब प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दिया जा रहा है।

१.§ निपातन-रीति की असार्थकता के विषय में आइ० एस० पवेत महोदय ने कहा है—"८।३।९० सूत्र से शुरू कर ८।३।९५ सूत्र पर्यन्त जितने सूत्र हैं वे निपातन-सूत्र कहलाते हैं। यहाँ निपातन-रीति से सूत्र-रचना की कौन-सी आवश्यकता थी? 'निष्णात' शब्द को बनाने के लिए पाणिनि ने 'नि-नदीभ्यां स्नातेः कौशले' [८।३।८९] कहा है (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक कहा है) पर वे भी 'प्रतिष्णात' शब्द को बनाने के लिए प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश न कर 'सूत्रं प्रतिष्णातम्' [८।३।९०] ऐसा कहकर 'प्रतिष्णात' शब्द को निपातित करते हैं। किञ्च निपातन-सूत्रों में एकरूपता भी नहीं है। ८।३।९० सत्र में 'प्रतिष्णात' शब्द-वाच्य सूत्र-शब्द प्रथमा-विभक्ति से लक्षित है, पर ८।३।९३ सूत्र में (जो एक निपातन-सूत्र है) 'विष्टर' के वाच्य 'वृक्ष' और 'आसन' सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार के विभिन्न व्यवहारों की संगति क्या है?" (दि स्ट्रक्चर ऑफ़ दि अष्टाध्यायी, पृ० ६३)। इस लेख में इस आक्षेप के उत्तर के लिए हम कुछ प्रमाणों का संकलन कर रहे हैं।

२.§ पाणिनीय सम्प्रदाय में 'निपातन' शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं। यह शब्द सूत्रवाची भी है (भाष्यकार के अनुसार), जैसा कहा गया है—"किं निपातनम्? द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्याण्यन्यतरस्याम्" [६।४।२]। पाणिनि का २।२।३ सूत्र ही यहाँ का निपातन है। सूत्रस्थ शब्दवाची के रूप में निपातन का प्रयोग पतञ्जलि को मान्य है, यथा—

"तद् वै अनेकेन निपातनेन व्यवच्छिन्नं न शक्यमनुवर्त्तयितुम्" [३।३।८३]। यहाँ नागेश ने निपातन शब्द का अर्थ दिखाया है—"घनान्तर्घन प्रघणप्रघाणोद्घनापघन रूपेणेत्यर्थः" (उद्द्योत)। इससे सूत्र का निपातन-पदवाच्य होना सिद्ध होता है। कभी-कभी यह शब्द वार्तिकवाची होता है, जैसे भाष्यकार ने कहा है—"निपातनादेतत् सिद्धम्, किं निपातनम्? क्त्वायां वा प्रतिषेधः" [६।४।१४०]। यहाँ "क्त्वायां वा प्रतिषेधः" शब्द वार्तिक है (६।२।२ भाष्य देखिए)। केवल 'सौत्र' शब्द ही निपातन-वाच्य नहीं है, बल्कि गणपाठीय शब्द भी (भाष्य

के अनुसार) निपातन है। जैसे पतञ्जलि ने 'गविष्ठि' शब्द के आधार पर कहा है—"निपातनात् सिद्धम् किं निपातनम्? गविष्ठिर शब्दो विदादिषु पठ्यते" [६।३।९]। इस प्रकार धात्वर्थ-निर्देशक शब्द भी निपातन-पद-वाच्य होता है, जैसे 'काशिका' में कहा गया है—"कथमुद्यमोपरमौ? अड उद्यमे, यम उपरम इति निपातनादनुगन्तव्यौ" [७।३।३४]।

इससे सामान्य रूप में यह सिद्ध होता है कि आचार्यों के विशिष्ट शब्द-प्रयोग निपातन-पद-वाच्य हैं। यह नागेश ने स्पष्ट रूप से कहा है, यथा—"एवं च निपातनात् इत्यस्य सौत्रत्वादित्यर्थ इति भावः" [उद्द्योत, ६।३।३४]। पाणिनि-सूत्रों में जिन पदों का व्यवहार किया गया है, वे यदि पाणिनि-लक्षण से सिद्ध न हों तो उनको निपातन सिद्ध कहा जाता है। यथा ५।३।५५ सूत्र में पाणिनि ने 'अतिशायन' पद का व्यवहार किया है, पर यह पाणिनि के ही लक्षण से सिद्ध न होने के कारण पतञ्जलि ने कहा—"देश्याः सूत्र-निबन्धाः क्रियन्ते।" इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है—"निपातनाद् दीर्घत्वम्" [प्रदीप]। इसके अनुसार पहले कहा गया विषय सिद्ध होता है।

३.§ चूँकि आचार्य-व्यवहार-सिद्ध होने से किसी शब्द को निपातन कहा जाता है, अतः निपातन की व्युत्पत्ति 'आचार्येण नितरां पात्यते आचार्यः स्वेच्छया पातयति' ऐसी की जाती है। अतएव निपातन-सिद्ध शब्द के विषय में 'इदं निपात्यते', 'अहं निपातयामि' [३।१।१२२ श्लोक वा०] इत्यादि प्रयोग भाष्यादि में मिलते हैं।

'काशिका' में निपातन का स्वरूप स्पष्ट दिखाया गया है। यथा—"यदिह लक्षणेन अनुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्"—अर्थात् सूत्रों के कार्य से जो सिद्ध नहीं होता, वह यदि आचार्य के व्यवहार से सिद्ध होता है, तो वह निपातन-पद-वाच्य है। कहा भी गया है—'अन्यथा प्राप्तस्यान्यथोच्चारणं निपातनम्'। अतएव यह शब्द निष्पत्ति-प्रक्रिया के अनुसार दो प्रकार के हैं—अप्राप्तिप्रापण तथा प्राप्तिवारण। कभी-कभी निपातन से विशिष्ट अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। इसलिए तीन प्रकार के निपातन कार्य होते हैं। कहा भी गया है—

अप्राप्तेः प्रापणं चाऽपि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात्॥

कभी-कभी विकल्पार्थ में भी निपातन ही होता है, जैसे काशिका में कहा गया है—"विकल्पार्थे निपातनम्" [७।२।२७]।

४.§ अब हम निपातन-लक्षण की व्याख्या करेंगे। पहले ही जानना चाहिए कि निपातन शब्द न तो प्रकृति है और न प्रत्यय, जैसा कैयट ने कहा है—"अथप्रकृतित्वमेषां कस्मान्न विज्ञायते? पञ्चम्याः प्रत्ययस्य चानुपादानात्, अनिष्पन्नस्य च प्रकृतित्वाभावात्। प्रत्ययत्वं तर्हि कस्मादेषां न भवति? लोके केवलानां प्रयोगादर्शनात्" [प्रदीप ५।१।५९]। इससे स्पष्ट होता है कि निपातित शब्द प्रकृतिप्रत्ययात्मक अवश्यमेव हैं। इस प्रकार के शब्दों में कितना प्रकृति का अंश है या कितना प्रत्यय का अंश है, इसमें संदेह उपस्थित हो सकता है। अतएव निपातित 'विंशति' आदि शब्दों को लेकर भाष्यकार ने कहा है—"इमे विंशत्यादयः सप्रकृतिकाः सप्रत्ययकाश्च निपात्यन्ते, तत्र न ज्ञायते का प्रकृतिः कः प्रत्ययः, कः प्रत्ययार्थ इति" [५।१।५९]।

यह कहा जाता है कि विधि-सूत्र के साथ निपातन-सूत्रों का भेद यह है कि विधि-सूत्र में प्रकृत्यादि का पृथक् उल्लेख रहता है पर निपातन-सूत्रों में समुदाय का उच्चारण किया जाता है, इसलिए कैयट ने स्पष्ट ही कहा है—"विधि-निपातनयोश्चायं भेदः यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधिः, यत्र तु समुदायः श्रूयतेऽवयवाश्चानुमीयन्ते तन्निपातनम् [प्रदीप ५।१।५९]।

५.६ अब हम निपातन-सूत्रों के भेदों को दिखाएँगे। निपातन-सूत्र अनेक प्रकार के होते हैं, यथा—

किसी-किसी-सूत्र में निपातित शब्दों के साथ उनके अर्थ भी कहे जाते हैं। जैसे 'क्षुब्ध-स्वान्तध्वान्त' इत्यादि [७।२।१८] सूत्र में। जैसे कुछ सूत्रों में अर्थ न कहकर भी निपातन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ क्यों नहीं किया गया, इस प्रश्न के उत्तर में कैयट ने कहा है—"यदि धात्वर्थोपाधित्वेन मन्थादय आश्रीयेरन्—मन्थादि साधने—धात्वर्थे क्षुब्धादयो निपात्यन्त इति-तदा क्षुभितं मन्थेनेत्यत्रापि भावे ऋस्येट् प्रतिषेधः स्यादिति समुदायानाम् अभिधेय-भावेन मन्थादय इहोपात्ता इति प्रदर्श्यते" [प्रदीप ७।२।१९]। अर्थनिर्देश-निपातन विषय-प्रदर्शन के लिए है, यह काशिकाकार का भी मत है [प्राग्ग्रहणं निपातन-विषय प्रदर्शनार्थम्—६।१।२७]।

कभी सूत्रों में केवल पदों का ही निपातन किया गया है; यथा—'दाधर्ति-दर्धर्ति' इत्यादि [७।४।६५] सूत्र में। चूँकि यहाँ पहले कहे गये विषय के अनुसार कुछ भी प्रयोजन नहीं है अतः केवल पद मात्र ही निपातित किया गया है, यहाँ अर्थ-निर्देश की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

कदाचित् सानुबन्ध निपातन भी किया गया है। 'ऐका गारिकट् चौरे' [५।१।११३] इसका एक उदाहरण है।

धात्वर्थ-मूलक निपातन सूत्र भी है। 'क्रय्यस्तदर्थे' [६।२।९२] सूत्र में तदर्थ से क्रीणात्यर्थ अभिप्रेत है, यह भाष्य में स्पष्ट कहा गया है।

कभी-कभी सूत्रस्थ एक ही निपातित पद भिन्न स्वर से पठित होता है। इस पर विशेष विचार हम लेखान्तर में करेंगे। इसका एक उदाहरण 'दाण्डिनायन' इत्यादि [६।४।१७४] सूत्र के 'ऐक्ष्वाक' पद में देखा जाता है। यहाँ यद्यपि एक 'ऐक्ष्वाक' पद है, परन्तु स्वरभेद से इसे दो पद स्वीकार किया जाता है। जैसे वार्तिककार ने कहा है—"ऐक्ष्वाकस्य स्वर भेदान्निपातनं पृथकत्वेन।" कैयट ने इसकी व्याख्या की है "तत्र भिन्नस्वरयोरेकस्मिन् निपात्यमानेऽपरस्या-संग्रहादुभयमपि निपात्यम्" [प्रदीप]। अतएव स्वरभेद के आधार पर दो उदाहरण भाष्यकार ने दिए हैं—ऐक्ष्वाक ऐक्ष्वाक इति। किन्तु किसलिए एक ही बार इस पद का पाठ किया गया है, कैयट ने इसका उत्तर दिया है—"स्वरभेदप्रत्यस्तमयेन निपातनं सर्वस्वरलौकिकप्रयोग संग्रहार्थमिति" [प्रदीप]।

इस नियम का दूसरा उदाहरण 'अपस्पृधेथाम्' इत्यादि (६।१।३६) सूत्र में देखा जाता है। यहाँ 'अपस्पृधेथाम्' इस एक पद का पाठ भिन्न स्वर से होता है। यह निपातन की शक्ति से होता है, ऐसा व्याख्याकारों ने कहा है।

कितने ही ऐसे निपातित शब्द हैं जो केवल वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। "बहुप्रजाश्छन्दसि" [५।४।१२३] इसका एक उदाहरण है। निपातनसिद्ध पद लौकिक या वैदिक हैं,

इसमें कभी-कभी सन्देह भी होता है। जैसे 'सनिसंसनि वांसम्' पद लौकिक या वैदिक है, इस संशय के उत्तर में काशिकाकार कहते हैं—"छन्दसीदं निपातनं विज्ञायते" [७।२।६९]। ध्यान देना चाहिए कि इस निर्देश में पाणिनि मौन हैं।

'कपिष्ठलो गोत्रे' [८।३।९१] सूत्र में भी अन्य प्रकार का निपातन देखा जाता है। साधारण दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि "कपिष्ठल इति गोत्रे निपात्यते" यही इसका अर्थ है। परन्तु यह ठीक नहीं है। भाष्य में कहा गया है—"गोत्रे यः कपिष्ठल शब्दः तस्य षत्वं निपात्यते, यत्र वा तत्र वेति।" अतएव षत्व के विषय के रूप में गोत्र निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु दर्शन के विषय में, अर्थात् गोत्र में जो 'कपिष्ठल' शब्द देखा जाता है वह साधु है। यह भी जानना चाहिए कि निपातन-सूत्र में जो बातें हैं वह कभी-कभी अविवक्षित होती हैं। ६।१।१२ सूत्र में दाश्वनित्यादि एक वचनान्त शब्द निपातित हैं। परन्तु यहाँ एक वचन अविवक्षित है, यह ज्ञानेन्द्र ने कहा है [तत्वबोधिनी]।

६.§ हमने पहले ही कहा है कि निपातन आचार्य-व्यवहार को कहते हैं। व्याख्या से जाना जाता है कि कभी-कभी निपातन-तन्त्र होता है और कभी-कभी नहीं भी होता है। यह ६।४।२४ सूत्रभाष्य-सन्दर्भ में स्पष्ट है।

कभी-कभी निपातन सामान्यापेक्ष भी होता है, न कि विभक्त्यादि विशेषापेक्ष, अतएव निपातन-बाधित पद भी प्रयुक्त होता है। "क्त्वायां वा प्रतिषेधः" की भाष्यव्याख्या में कैयट ने कहा है—"सामान्यापेक्षं च निपातनं, न सप्तम्यपेक्षमिति कृत्वा क्त्वाया इत्यपि भवति" [प्रदीप ६।४।१४०]।

जो पद निपातन-सिद्ध होता है, उसका वचन आदि कभी-कभी तन्त्र और कभी-कभी अतन्त्र होता है। अतएव "षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते" [५।१।९०] सूत्रव्याख्या में कैयट ने कह है—"बहुवचनम् अतन्त्रम्, एकवचनान्तस्यापि षष्टिशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्" [प्रदीप]। 'उद्द्योत' में नागेश ने कहा है कि सब आचार्य इसमें सहमत नहीं हैं।

७.§ अब विचार्य यह है कि जहाँ निपातन होता है, वहाँ कौन निपातित होता है, जिससे निपातन-बल-रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाय। यह ज्ञातव्य है कि वहीं निपातन होता है जहाँ आगमादि कार्य सूत्र में साक्षात् रूप से निर्दिष्ट नहीं होते। अतएव 'विशेषाधिकार' रूप सूत्राप्राप्त कार्य निपातन बल से होता है। जैसे कहा गया है—"प्रकृतकार्यात् कार्यान्तरसिद्धयर्थं हि निपातनम्" [प्रदीप ७।२।२०]।

प्रायः निम्नोक्त विषयों का निपातन प्रसिद्ध है—

प्रत्यय-निपातन—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' [६।१।१५४] सूत्र प्रत्यय-निपातन का उदाहरण है। यहाँ 'मस्करि शब्द के विषय में कैयट ने कहा है—"माङ्पूर्वात् करोतेरिनिरिति।" यहाँ निपातनबल से ताच्छील्यार्थ में 'णिनि' प्रत्यय के स्थान पर 'इनि' होता है, यह कैयट का तात्पर्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कहाँ प्रत्यय का निपातन होता है, कहाँ आदेश का निपातन होता है—इसमें संशय भी उपस्थित होता है। इसके निर्णय के विषय में 'तत्त्वबोधिनी' ६।३।६९ द्रष्टव्य है।

आदेश-निपातन—यह 'पाय्यसांनाय्य' इत्यादि (३।१।१२९) सूत्र के उदाहरण में देखा जाता है। यहाँ निपातनबल से ही आयादेश स्पष्ट प्रतीत होता है।

आगम-निपातन—'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।८।२६) सूत्र इसका उदाहरण है। यहाँ जो सुगमागम है, वह निपातबल से ही है।

द्विर्वचन-निपातन—'ऋत्विग् दधृक्' इत्यादि (३।२।५९) सूत्र में 'दधृक्' शब्द इसका उदाहरण है। निपातन न होने से यहाँ द्विर्वचन नहीं होगा।

प्रकृति विपरिणाम-निपातन—'अपचितश्च' (७।२।३०) सूत्र इसका उदाहरण है। भाष्य में कहा गया है—"किं निपात्यते ? चायेश्चि भावश्च"।

इस प्रकार कहीं ह्रस्व-दीर्घ में और कहीं किसी के लोप में भी निपातन होता है। कभी-कभी प्रसक्त कार्याभावरूप कार्य भी निपातन से होता है, यथा ३।२।५९ सूत्र में जो 'क्रुञ्चाम' पद है, उसके विषय में नागेश ने कहा है—"क्रुञ्चामिति निपातनान्नलोपाभाव:" [उद्द्योत]। भाष्य में भी इनके अनुरूप बातें हैं, यथा 'इच्छा' (३।३।१०१) इस सूत्र-भाष्य में कहा गया है—"किं निपात्यते ? इषेः रो यगभावः।" इस प्रकार प्रतिषेध अर्थ में भी निपातन व्यवहृत होता है। 'णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) सूत्र के वार्तिक में कहा गया है—"निपातनं विलोपेड्गुण प्रतिषेधार्थम्।"

८§ पहले कहे गये उदाहरणों से यह प्रमाणित हो गया है कि निपातन से विभिन्न कार्य होते हैं। यह नहीं है कि एक ही कार्य के लिए निपातन-रीति का आश्रय किया जाता है, या एक ही कार्य निपातन से सिद्ध होता है। जैसा कहा गया है—"अनेक प्रयोजनसम्पत्तिःनिपातनात् भवति" [प्रदीप—६।२।२]। यहाँ 'स्नात्वा-कालक' उदाहरण देकर भाष्यकार ने स्वयं कहा है—"अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थं च निपातनं कर्त्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति।" यहाँ तीन कार्य एक ही निपातन से दिखाए गए हैं।

कहीं-कहीं एक ही निपातन से शब्द-नियमन के साथ अर्थ-नियमन भी होता है। ३।१।१०१ सूत्र का 'अवद्य' पद इसका प्रसिद्ध उदाहरण है, जैसे दीक्षित जी ने कहा है—"वदेर्नञ्युपपदे वदः सुपीतियत्क्यपोः प्राप्तयोर्यदेव, सोऽपि गर्ह्यायामेवेत्युभयार्थं निपातनम्" [सि० कौ०]। कहीं-कहीं निपातित शब्द के एकाधिक निर्वचन होते हैं जो ३।१।११४ सूत्र-निपातित 'राजसूय' शब्द में दीख पड़ता है। इस शब्द के निपातित होने के कारण अर्थ में संशय नहीं होता। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यहाँ कहा है—"निपातनं च रूढ्यर्थमिति। तेनाद्यपक्षेऽश्वमेधादौ, द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमादौ च नातिप्रसङ्गः" [तत्वबोधिनी]।

९§ निपातन-रीति स्वीकार करने से शब्द-निष्पत्ति में किस प्रकार लाघव होता है, अब हम उसे दिखाएँगे। जहाँ निपातन से शब्द को सिद्ध किया गया है वहाँ यदि प्रकृति-प्रत्ययादि निर्देशक विधि सूत्र होता तो सूत्रीय शब्द में गौरवाधिक्य होता, यह मान कर पाणिनि ने निपातन-सूत्र बनाया है। वस्तुतः निपातनस्थल में प्रकृत्यादि नहीं रहते, ऐसी बात नहीं। अतएव निपातन-स्थल में प्रायः "किं निपात्यते" ऐसा भाष्यकार ने पूछा है (५।२।७३)। अन्यत्र कहा गया है कि—"का प्रकृतिः कः प्रत्ययः कः प्रत्ययार्थः" (५।१।५९)। प्रत्ययानुसार निपातित शब्द का

अर्थ यदि नहीं घटता तो निपातनबल से उस अर्थ का अभ्युपगम किया जाता है, जैसे—निपातित 'अधिक' पद को लेकर कैयट ने कहा है—"लौकिके प्रयोगेऽधिकशब्देन विषयभेदेन कर्तृकर्मणो-रनभिधानदर्शनादनङ्गीकृतसाधनभेदमध्यारूढस्येदं निपातनम्, स चोभयार्थ इति न कश्चिद् दोषावसरः" [प्रदीप ५।२।२३]।

यदि निपातन न कर प्रकृत्यादि के उल्लेख से शब्द की निष्पत्ति होती तो, 'सद्यः परुत्प-रार्यादि' शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्र-प्रणयन में कितना अधिक गौरव होता, यह तो स्पष्ट ही है। इन स्थलों में केवल निपातन-रीति से सूत्रीय शब्द-व्यवहार में लाघव होता है, न कि अर्थ वैशिष्य-व्याख्यान में। किसी-किसी निपातन सूत्र से यह प्रतीत होता है कि निपातन न करने पर भी वह शब्द सिद्ध होता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर देखा जाता है कि यहाँ निपातन-रीति से ही अधिक लाभ है। जैसे 'काशिका' में कहा गया है—"किमर्थं तर्हि निपातनम्, यावता-पूर्वेणैव स सिद्धः, सम्बुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते" (८।२।६७)। शब्द-निष्पत्ति-लाघव विषय में ८।२।१२ सूत्र की 'काशिका' भी द्रष्टव्य है।

किसी-किसी निपातन-सूत्र में कोई पद उपलक्षण के रूप में रहता है, यह व्याख्याकार मानते हैं। 'प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे' (७।३।६२) सूत्र की व्याख्या में 'काशिका' में देखा जाता है —"प्रयाजानुयाजग्रहणं प्रदर्शनार्थम्—अन्यत्राप्येवंप्रकारे कुत्वं न भवति।"

१०.§ निपातन से शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया में ही लाघव नहीं होता; बल्कि शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति भी निपातन-सामर्थ्य से होती है। यदि ऐसे स्थलों में निपातन न किया जाय, तो शास्त्रीय कार्य-प्रवृत्ति में भी वचनान्तर की आवश्यकता होगी, जिससे निरर्थक अधिक श्रम होगा। इस दृष्टि से निपातन का सार्थक्य सिद्ध होता है। यहाँ 'स्नात्वाकालक' उदाहरण का आश्रय लेकर कैयट ने जो कहा है उसे उद्धृत किया जा रहा है—"येषु चात्र स्नात्वा कालकादिषूत्तरपदानुपात्तक्रियापेक्षः क्त्वाप्रत्ययः तेषां सापेक्षत्वेऽपि निपातनात् समासः" [प्रदीप ७।१।३७]। नागेश ने स्पष्ट कहा है—'समुदायनिपातनसामर्थ्यादप्राकरणिकमपि किञ्चिन्निपातनान्निषिध्यते" [उद्द्योत ७।१।३७]। उसी प्रकार काशिकाकार ने भी "समुदाय निपातानाच्चार्थविशेषेऽवरुध्यन्ते" (५।४।१२९) कहा है।

वाक्यार्थ में भी निपातन देखा जाता है, यथा—"छन्दोऽधीते" इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रीय' शब्द का निपातन किया गया है [भाष्य ५।२।८४]। यहाँ वाक्यार्थ में किसलिए पद-रचना की गई है, कैयट ने उसका स्पष्ट वर्णन किया है।

११.§ अब हम आचार्यों के द्वारा निपातन हेतुक जो अर्थवैशिष्ठ दिखाया गया है, उसका विवरण प्रस्तुत करेंगे —

यद्यपि निपातन-सूत्र में भी विधि-सूत्र से शब्द-निष्पत्ति सिद्ध हो सकती है, तथापि अर्थादेश में लाघवार्थ निपातन-रीति का पाणिनि ने अवलंबन किया है। एक उदाहरण लीजिए —"आकालिक डाद्यन्तवचने" (५।१।११४) सूत्र निपातन का उदाहरण है। यहाँ शब्द-निष्पत्ति-कार्य विधि-सूत्र से करने में भी दोष नहीं है, जैसे वार्तिककार ने कहा है—"आकालान्निपातना-नार्थक्यम् ठञ्प्रकरणात्"। तथापि विधि-सूत्र करने पर अर्थ-वैशिष्ट्य ज्ञापित नहीं होगा, इसे

कैयट ने स्पष्ट रूप से कहा है—"जन्मविनाशयोश्चाव्यवहित कालत्वादेककालत्वम्। विधौ-त्वयमर्थः क्लेशेन प्रतीयत इति निपातनाश्रयणम्" [प्रदीप ५।१।११४]।

निपातन-बल से निपातित-शब्दार्थ के विषय में किस प्रकार का नियमन होता है, 'श्रृतं पाके' (६।१।२७) सूत्र में इसका प्रकृष्ट उदाहरण विद्यमान है। यहाँ पाक वाच्य होने पर 'श्रृत' निपातित होता है, यह सूत्र का अर्थ है। परन्तु चूंकि यहाँ शब्द निपातित है, अतः विक्लृत्ति-लक्षण रूपी 'पाक' में ही निपातन से सिद्ध 'श्रृत' शब्द का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए "द्विविधो हि पाकः—विक्लित्ति लक्षण, विक्लेदनालक्षणश्च। पाचयितृ व्यापारे तु णिचि कृते पाचनालक्षणोऽर्थः प्राधान्येनाभिधीयते, न तु पाकलक्षण इति निपातनाभावः" [प्रदीप]।

'भित्तं शकलम्' (८।२।५९) सूत्र भी इस प्रसंग में आलोचनीय है। यहाँ निपातन-बल से 'यह रूढ़ि शब्द है'—यह पाणिनि सूचित करते हैं। वासुदेव दीक्षित ने कहा है—"शकलत्व जातिविशिष्टेऽवयवार्थमनपेक्ष्य रूढ़ोऽयम्, ततश्च भित्तशकलयोः पर्यायत्वान्न सह प्रयोगः" [बाल मनोरमा]। निपातन रीति के न ग्रहण करने पर क्या यह अर्थ ज्ञापित हो सकता है?

जैसे निपातनसिद्ध शब्द रूढ़ हैं, उसी प्रकार संज्ञावाची भी। कैयट ने कहा है—"निपातनादेव संज्ञालाभात्" [प्रदीप ८।२।१२]। विधि-सूत्र से संज्ञार्थ प्रकट नहीं होता। अतः निपातन-सूत्र की रचना सार्थक है। यह मत भर्तृहरि ने भी ग्रहण किया है, यथा—"धातुसाधन कालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च। अनुबन्ध विकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्" वाक्यप्रदीप]। अतएव "निपातनाद् रूढिराश्रीयते" [प्रदीप ३।१।१२७], यह कैयट ने कहा है।

अर्थ-सामान्य में अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति कभी-कभी निपातन से होती है, इस नियम के अनेक उदाहरण हैं। एक उदाहरण लीजिए—"आश्चर्यमनीत्ये" (६।१।१४६) सूत्र का 'आश्चर्य' पद निपातित है। क्या यहाँ अनित्य कहने से घयादि में भी आश्चर्य शब्द का प्रयोग होगा? व्याख्याकार ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं—"निपातनाच्चानित्यविशेषो विस्मयहेतुर्गृह्यते" [प्रदीप]। अतएव अनित्य सामान्य में इसका प्रयोग युक्त नहीं है। दूसरा उदाहरण—"निपातनसामर्थ्याद् विशिष्टे दाशते संघे वर्त्तमाना भाववचना भवन्ति' [प्रदीप, ५।१।५९]। ज्ञानेन्द्र ने भी कहा है—"यद्यपि पणितव्योऽर्थद्वयसाधारणस्तथापि निपातनस्येह रुढ्यर्थत्वाद् व्यवहर्तव्य एवायं निपात्यते" [तत्त्वबोधिनी ३।१।१०१]। इन उदाहरणों से निपातन-महिमा स्पष्ट समझी जा सकती है।

निपातन के विशिष्टार्थ-ज्ञापन विषय में अन्य उदाहरण—'चरणे ब्रह्मचारिणी' (६।३।८६) सूत्र भी है। यहाँ कैयट ने कहा है—"अवयवनिपातनद्वारेण विशिष्टेऽर्थे समुदायस्यैव साधुत्वमन्वाख्येयमिति मत्वा समुदायमेव निपात्यत्वेनोपन्यस्यति"। यह मत नागेश ने भी स्वीकार किया है, वे कहते हैं—"चरणे समानत्वेन गम्य इत्यर्थ इति भावः। अयमेव चार्थो निपातनोक्तिद्वारा भगवतोक्त इति" [उद्द्योत]।

१२.§ अब यहाँ निपातन-बल से अन्य प्रकार के ज्ञाप्यमान अर्थ के विषय में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं—

इस विषय में 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६।४।१७२) सूत्र प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ भाष्य-

कार ने निपातन का ज्ञाप्यमान अर्थ व्यक्त किया है, यथा—"एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्तीति" (६।४।१७२)।

पहले कहा गया था कि निपातन से शब्द-निष्पत्ति विषयक लाघव होता है एवं विशिष्टार्थ-ज्ञापन सरल होता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कभी-कभी अनिष्ट रूप-निवृत्ति के लिए भी निपातन होता है। 'अनुपसंगीत फुल्ल' इत्यादि (८।२।५५) पर कैयट ने कहा है—"यद्यपि फुल्लादयः पचाद्यचीगुपधलक्षणे के च सिद्धयन्ति तथापि 'निष्ठा च द्वयजनात्' (६।४।५२) इत्यादि कार्यसिद्धये क्षीबिताद्यनिष्टरूपनिवृत्तये च निपातनम्" [प्रदीप]। इस नियम का दूसरा उदाहरण भी है। पाणिनि के द्वारा ६।१।१२ सूत्र में 'साह्वान्' पद निपातित है। परन्तु यहाँ णिच् पक्ष में वृद्धि असिद्ध होने के कारण दीर्घत्व-निपातन व्यर्थ है, ऐसी शंका नहीं होनी चाहिए। कारण यहाँ निपातित 'साहवान' पद 'सह्वान' के असाधुत्व का ज्ञापक है, ऐसा व्याख्याकार कहते हैं। निपातन-सूत्रों में शब्द-गौरव से भी किसी न किसी सूत्र में सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन होता है। हम 'प्रतिष्कशश्च कशेः' (६।१।११२) सूत्र को इसके उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। यदि यहाँ 'प्रतिष्कशः' इस प्रकार सूत्र होता तो शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया में कोई भी दोष नहीं होता। यहाँ सायण ने कहा है—"प्रतिष्कशः इत्येतावत्येव सूत्रयितव्ये कशेरिति वचनं प्रतेः कशिसंबन्धित्वे निपातनम् यथा स्यादिति तेन कशां प्रति गतः प्रतिकशोऽश्व इत्यत्र न भवति" [माधवीय धातुवृत्ति, पृ० २३४]।

१३.§ निपातन के विषय में एक परिभाषा है—"अबाधकान्यपि निपातनानि" [सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति ७९]। यद्यपि पाणिनि के द्वारा ४।३।१०५ सूत्र में 'पुराण' शब्द प्रयुक्त है, तथापि इस निपातन के बाधक होने के कारण 'सायं चिरम्' इत्यादि (४।३।२३) सूत्र से सिद्ध 'पुरातन' शब्द भी साधु होता है। दूसरे लोग इस वचन को परिभाषा के रूप में नहीं मानते। भाष्यकार ने कहीं भी ऐसे वचन का पाठ नहीं किया है। वे १।१।२७ सूत्र-भाष्य के "बाधकान्येव निपातनानि" का अनुगमन करते हैं। यह भाग वृत्ति में भी है (सीरदेव कृत 'परिभाषा वृत्ति' देखिए)। निपातित शब्द से जिस शब्द का बाध प्राप्त होता है यदि वह शब्द दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है तो उसको 'पृषोदरादि' सूत्र से सिद्ध मानना चाहिए; ऐसा अन्य मत वाले कहते हैं (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा ११९ द्रष्टव्य)।

कभी-कभी निपातन-बल से किसी-किसी परिभाषा की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति का निर्णय भी होता है, जैसे 'तत्त्वबोधिनी" में कहा गया है—"निपातनसामर्थ्याल्लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा नाश्रीयत इत्याहुः" (६।१२७)। कभी-कभी व्याख्याकार निपातन-बल को सामान्य रूप से मानते हैं, जैसे कहा गया है—"केचित् सामान्ये न निपातनमिच्छन्ति, तेन खप्रत्ययाभावेऽपि प्रयोग-उपपन्नो भवति पारोवर्यविदिति" [प्रदीप ५।२।१०]।

१४.§ अब निपातन और स्वर का सम्बन्ध विचारणीय है। जैसे निपातन से अन्यान्य शास्त्रीय कार्य बाधित होते हैं वैसे निपातन-स्वर अन्यान्य स्वरों का बाधक होता है। यह समस्त व्याख्याकारों का मत है। इस विषय में भाष्यकार का मत पहले देखना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—"यथैव निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधक एवं समासस्वरस्यापि" (६।१।१२३)।

सभी व्याख्याकारों ने—"निपातनस्य स्ववीवादत्वम्" पुनः पुनः कहा है। अतएव समस्त निपातन-स्थलों में निपातन-बल से स्वर-व्यवस्था होती है, अर्थात् निपातन से स्वर-निर्देश भी सरल एवं सुदृढ़ होता है। अतएव 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) में वार्तिककार का जो आक्षेप है (द्योत्य इति चेत् स्वर-समासानुपपत्तिः) उसके समाधान के लिए भाष्यकार ने कहा है—"नैष-दोषः मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, विस्पष्टादिवत् स्वरश्च।" इस व्याख्या में कैयट ने कहा है "———एवमवश्यलाव्यमित्यादावपि मयूरव्यंशकादिषु निपातनादुत्तरपदप्रकृतिस्वरो भविष्यतीत्यर्थः'। इसकी व्याख्या में नागेश ने निपातन का सर्वाधिक बल दिखाया है—"एवं च मयूरव्यंशकादिषु निपातनादेव सिद्धे विस्पष्टादीनीति सूत्रमपि न कार्यमिति भावः" [उद्द्योत]। सभी व्याख्याकारों का मत है कि निपातित शब्द की स्वरसिद्धि निपातन-बल से ही होती है।

१५.§ उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ निपातन किया गया है, वहाँ कुछ न कुछ कारण अवश्य है। कहीं प्रक्रिया-लाघव के लिए, कहीं अर्थ-वैशिष्टय दिखाने के लिए, कहीं अनुक्तज्ञापन के लिए, कहीं स्वरादि सिद्धि के लिए पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश-परित्याग पूर्वक निपातन-सूत्रों की रचना की है। यद्यपि हम अभी समस्त निपातन-सूत्रों में निपातन-सार्थक्य दिखाने में असमर्थ हैं, तथापि इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि किसी इष्ट सिद्धि के लिए पाणिनि ने निपातन-सूत्रों की रचना की है। निपातन सूत्रों में किसी प्रकार की अनर्थकता नहीं है।

सिद्धेश्वर वर्मा

क्या हिन्दी कवर्ग 'कण्ठ्य' ध्वनियाँ हैं?

हिन्दी कवर्ग (अर्थात् क ख ग घ ङ) का उच्चारण कहाँ और कैसे होता है—इस विषय पर हिन्दी पाठ्य पुस्तकों में, जो व्याकरण पर लिखी गई हैं, सामग्री या तो बहुत कम है, या बहुत भ्रान्तिजनक है। उदाहरणार्थ हम कुछ ऐसी पुस्तकों को लेते हैं जिनका प्रसार हिन्दी स्कूलों में विशेषतः प्रचलित है—

१. केल्लाग, ए ग्रैमर ऑफ़ दी हिन्दी लैंग्वेज, लंदन, १९३८, पृष्ठ १७: "क, ग—'क' अंगरेजी शब्द 'की' (=चाबी) और 'ग' अंगरेजी शब्द 'गिव' (=दे) के 'क', 'ग' के समान बोले जाते हैं।"

केल्लाग ने केवल इतनी व्याख्या करके विषय को समाप्त कर दिया है।

२. कामताप्रसाद गुरु, संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण, काशी, सं० २००८, पृष्ठ ८ में क, ख आदि को 'कवर्ग' कहकर उनका केवल 'करण' की दृष्टि से विचार किया गया है और बस यही बतलाया गया है कि यह व्यञ्जन 'स्पर्श' हैं जिनके उच्चारण में "जीभ का कोई न कोई भाग मुख के किसी दूसरे भाग को स्पर्श करता है।" ऐसी व्यापक उक्ति से कवर्ग का विशेष स्थान क्या है, इसका कुछ पता नहीं चल सकता।

३. धीरेन्द्रवर्मा-सक्सेना, हिन्दी व्याकरण और रचना, प्रयाग, १९४९, पृष्ठ १०: इस पुस्तक में भी उपर्युक्त पुस्तक के समान "क, ख अघोष...ग, घ, ङ सघोष" बतला कर उन्हें स्पर्श श्रेणी में सम्मिलित करके केवल स्पर्श की व्याख्या "...सांस क्षण भर के लिए रुक जाती है" करके समाप्त कर दिया गया है, और कवर्ग किस स्थान से बोला जाता है, इस पर कुछ भी नहीं कहा गया।

अब हम उन पुस्तकों को लेते हैं जिनमें कवर्ग के उत्पत्तिस्थान का निर्देश स्पष्ट है—

१. सूर्यकान्त, सूर्य हिन्दी व्याकरण, दिल्ली, १९५१ पृष्ठ १२: "क ख ग घ ङ—कण्ठ्य; स्थान: कण्ठ।"

२. दुनीचन्द, हिन्दी व्याकरण, होशियारपुर, संवत् २००७, पृष्ठ २१ में "क ख ग घ ङ" का स्थान "कंठ" कहा गया है।

इन दो पुस्तकों से उद्धरण केवल उपलक्षक के रूप में दिये गये हैं। अन्यथा वर्षों के अनुभव से इस लेखक को निश्चय है कि स्कूलों और अन्य हिन्दी संस्थाओं में प्रायः विद्यार्थियों को वास्तव में यही बतलाया जाता है कि हिन्दी कवर्ग कंठ से बोले जाते हैं। यह एक घोर भ्रान्ति है जिसका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। इस भ्रान्ति का स्वरूप यह है कि 'कण्ठ्य' कहने से

कवर्ग की विशेषता कोरी की कोरी रह जाती है। वह कैसे ? इसलिए कि सारी ध्वनियाँ तो कंठ की सहायता से बोली जाती हैं। उदाहरणार्थ, दो शब्द लीजिए—'काला' और 'बाला'। क्या जब हिन्दी भाषी व्यक्ति 'काला' बोलता है, तो केवल 'का' के उच्चारण में ही उसका गला काम करता है ? क्या जब वह 'बाला' का 'बा' बोलता है, तो उसका गला सो जाता है ? वास्तव में 'बा' के उच्चारण में कंठ का टेंटुआ नीचे उतरता है। बोलते समय कोई भी व्यक्ति गले को हाथ लगा कर यह अनुभव कर सकता है। इस 'कण्ठय' को कवर्ग की विशेषता कह कर अध्ययन और अध्यापन में रटने की पराकाष्ठा है, जो कि देश के बौद्धिक अधःपतन का ज्वलन्त उदाहरण है।

"तो बताइए कवर्ग के उच्चारण का विशेष स्थान क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर भारत के प्राचीन आचार्यों ने आगे ही दे रखा है। उच्चारण-शास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' में कवर्ग को 'जिह्वामूलीय' कहा गया है; इस 'जिह्वामूलीय' का अभिप्राय यह है कि जिह्वा का सब से पिछला भाग (जहाँ से जिह्वा शुरू होती है) ऊपर उठता है, और वह 'नरम तालू' को जा छूता है। दुर्भाग्यवश इस प्रातिशाख्य ने 'नरमतालू' को भी 'जिह्वामूल' ही कह दिया, जिससे प्रतिपादन में त्रुटि रह गई। वास्तविक उक्ति का अक्षरार्थ है "कवर्ग के उच्चारण में जिह्वा-मूल से जिह्वामूल को छूते हैं ("जिह्वामूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयन्ति"—देखिए तत्तिरीयप्राति शाख्य, अध्याय २, सूत्र ३७)। परन्तु भारतीय संस्कृति के सौभाग्य से तमिल के एक महावैय्याकरण पवणन्दि ने (जो सात सौ वर्ष हुए, तेरहवीं शताब्दी में विराजमान थे) अपने ग्रन्थ 'नन्नूल' में स्पष्ट बताया है कि कवर्ग का उच्चारण तब होता है जब जिह्वा का पश्चभाग तालू के पश्चभाग से स्पर्श करे। ' मुदना मुदलण्णम्" यह तमिल भाष्यकार की व्याख्या है (मुदल = पीछे, ना = जीभ; अण्णम् = तालु—देखिए पवणन्दिकृत 'नन्नूल', मदुरा १९४०, सूत्र ७९, पृष्ठ ५९)।

"तो फिर 'कण्ठ्य' की यह घोर भ्रांति कहाँ से आई ?" इस प्रश्न के उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पहिले तो यह ग़लती पीछे आने वाली 'शिक्षाओं' में प्रगट हुई (देखिए आपिशली शिक्षा २-७) और तदनन्तर सब से बड़ा अपराध 'सिद्धान्त कौमुदी' का था, जिसमें पाणिनि-सूत्र १-१-९ (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "अकार, हकार, विसर्ग और कवर्ग—यह कंठ से बोले जाते हैं" (अकुह विसर्जनीयानां कंठः)। सदियों से संस्कृत के अध्यापक और विद्यार्थी इस मूर्खता-मंत्र को रटते आये हैं, जिसकी छाया हमारे हिन्दी शिक्षण पर भी आ पड़ी है।

परन्तु सन्तोष का विषय है कि जागरण-उन्मुख भारत की काया पलटनी शुरू हो गई है। भारत-सरकार की अपनी एक कृति 'ए बेसिक ग्रैमर ऑफ़ मौडर्न हिन्दी' नई दिल्ली, १९५८, पृष्ठ ५ में यह स्पष्ट बताया गया है कि "कवर्ग के उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग नरम तालू को छूता है।"

भाषावैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर पहले ही गया है—सम्पादक

एम० ए० मेहेन्दले

यास्क द्वारा दी गई 'दंड'[1] शब्द की व्युत्पत्ति

तद्धित और समासों की रूपरचना की व्याख्या के लिए उचित प्रक्रिया समझाते हुए यास्क ने निरुक्त २ ' २ में 'दंड्य' रूप की चर्चा की है। वहाँ उल्लेख यों है: **दंड्यः पुरुषः (दंडपुरुषः)। दंडम् अर्हतीति वा। दंडेन संपाद्यते इति वा। दंडो ददतेर्[2] धारयतिकर्मणः। अक्रूरो ददते मणिम् इत्यभिभाषन्ते।**[3] सरूप (पृ० २२) इस उद्धरण का रूपांतर इस प्रकार करते हैं— "**दंडनीय**, अर्थात् एक व्यक्ति (दंड का व्यक्ति) जो दंड के योग्य है, या कोई चीज़ जो दंड के साथ रहे। **दंड** की व्युत्पत्ति **दद्** (धातु) से है, जिसका अर्थ है पकड़ना। लोग कहते हैं, अक्रूर रत्न को लिए हैं।" (तुलनीय सरूप का Exegetical and Critical Notes, पृ० २२४)

यहाँ विचारणीय है यास्क की √दद् क्रिया (∠ √दा) से 'दंड' की व्युत्पत्ति। इस क्रिया का यास्क द्वारा 'धारयति' अर्थ दिया जाना, उसका तात्पर्य कुछ भी हो, स्पष्ट ही कुछ अस्वाभाविक था, तभी उन्होंने अक्रूर के लोकप्रिय आख्यान से इसके प्रयोग का एक उदाहरण दिया। स्कंदस्वामिन्[4] (तथा महेश्वर) के भाष्य में 'धारयति' की एक व्याख्या की गई है: 'वापस करना, रोक रखना', क्योंकि यही वस्तुतः दंड का कार्य है, और अक्रूर वाले उदाहरण में 'धारयति' का अर्थ है 'सिर पर रोकना'; द्रष्टव्य: "दण्डो ददतेः, **दा इत्यस्य धारयत्यर्थे** वर्तमानस्य। धारयति ह्यसौ निरुणद्धि पश्वादिकमपि, किमङ्ग मनुष्यम्।......अस्ति पुनरयं ददतिः किं क्वचिद् **धारणार्थे**। अस्तीत्याह। अक्रूरो नाम वृष्ण्यन्धकाधिपतिः स **ददते धारयते** मणिं मस्तकेन स्यमन्तकं नाम। एवं भाष्यते लोके।"[5] ऐसा जान पड़ता है कि दुर्गा ने यह समझा है कि उपर्युक्त

---

१. इस पत्रक के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि 'दंड' शब्दः मूलतः भारोपीय है अथवा नहीं। इसके लिए देखें Mayrhofer's Kurz. ety. wört. des Altind., and Emeneau, Indian Linguistics, Turner Jubilee Volume, pp. 71-73.

२. सरूप के संस्करण के अनुसार 'ददातेर'।

३. इसके उपरांत यास्क औपमन्यव का मत उद्धृत करते हैं, जिसके अनुसार 'दंड' की व्युत्पत्ति √दम् (=पालतू बनाना, नियंत्रण में लाना) से है।

४. सरूप द्वारा संपादित, भाग २, पृ० २७-२८।

५. इसके उपरांत हमें दो उदाहरण मिलते हैं, 'चतुरश्—चिद् ददमानाद्' (ऋग्वेद १.४१.९) और 'विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त' (ऋग्वेद ७,३३,११), जिनसे वेद में √दद् (पकड़ना) का प्रयुक्त होना सिद्ध होता है। दुर्गा केवल दूसरे का उल्लेख करते हैं। प्रस्तुत पत्रक में इनका विवेचन अनावश्यक है, क्योंकि यास्क ने उन्हें उद्धृत नहीं किया है।

अर्थ 'धारयति' दो भावों में लिया जा सकता है, और इसलिए 'दंड' की व्युत्पत्ति के लिए उन्होंने इसकी 'पकड़ने' (हाथ में) वाली व्याख्या स्वीकार की है कर्म वाच्य में। उनका कहना है कि राज्य में अत्याचार बढ़ने पर राजा दंड धारण करते हैं; द्रष्टव्य: "दण्डो ददतेः, धारयत्यर्थे वर्तमानस्य। धार्यंते ह्येषोऽपराधेषु राजभिः। आह। दृष्टः पुनः क्वचित् प्रयोगो ददतेर्धारयत्यर्थ इति। उच्यते। दृष्टो वेदे लोके च।......तथा लोके 'अक्रूरो ददते मणिम्'। अक्रूरो नाम राजा वृष्ण्यन्धकाधिपतिः। स ददते मणिं स्यमन्तकनामानं शिरसा। लोकेऽप्येवं धारणार्थे ददतिर्भाष्यते।"

रॉथ के अनुसार 'धारयति' का अर्थ है 'पकड़ना' अर्थात् धारण करना, या लेना; तुलनीय: Erläuterungen, पृ० १८।[६]

सरूप (ऊपर द्रष्टव्य) तथा स्कोल्ड (द निरुक्त, पृ० २५८) रॉथ का मत स्वीकार करते हैं। स्पष्ट ही 'ददते = धारयति' (पकड़ना, अर्थात् धारण करना), यह व्याख्या, 'अक्रूरो ददते मणिम्' से निःसृत है, जिसका अर्थ किया गया है, अक्रूर मणि धारण करता है (रखता है)। परंतु यहाँ प्रश्न उठता है कि ददते क्रिया, जिसका अर्थ माना जाता है 'रखना, धारण करना' किस प्रकार अपने से व्युत्पन्न शब्द 'दंड' से संबद्ध है, जिसका अर्थ है 'अपराध का दंड'? संभवतः ये विद्वान् आंतरिक रूप से उस स्थिति को स्वीकार करते हैं, जिसमें स्कंदस्वामिन् तथा दुर्गा के अनुकरण में राजवाडे स्पष्ट रूप से 'दंड' का अर्थ छड़ी, ऐसा मानते हैं (जो 'दंडय'–जिसे दंड मिलना चाहिए—के उद्धरण में बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता) और इस प्रकार संकेत करते हैं कि छड़ी हाथ में 'लेने' के लिए है, और मणि शरीर पर धारण की जाती है। यह अर्थ 'हाथ से पकड़ना', जो दंड (छड़ी) की दृष्टि से उपयुक्त है, पर अपराध के दंड की दृष्टि से नहीं, मणि के प्रसंग में नितांत अनुपयुक्त है। और 'लेना, रखना' या 'धारण करना' जो मणि की दृष्टि से सार्थक हैं, 'दंड' की व्युत्पत्ति के लिए छड़ी के अर्थ में भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि 'धारण करना' असंभव है और 'रखना' अर्थ अत्यन्त व्यापक है। पर ये कठिनाइयाँ समाप्त हो सकती हैं यदि ददते = धारयति सही ढंग से 'दंड' की व्युत्पत्ति तथा मणि के उदाहरण के लिए समझा जाए। स्पष्ट ही इन दो प्रसंगों में ददते का अर्थ अलग-अलग नहीं हो सकता।

सब से पहले मणि के उद्धरण की बात ली जाय। 'हरिवंश' तथा अन्य पुराणों में उपलब्ध स्यमंतक की कथा से 'अक्रूरो ददते मणिम्' का अर्थ निश्चित किया जा सकता है।[७] कथा की संक्षिप्त

---

६. रॉथ अक्रूर के उदाहरण को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस प्रसंग में द्र० गुणे, IA४५, १७७

७. तुलनीय: डब्ल्यू, किर्फेल, दास पुराणा पंचलक्षण, पृ० ४३७-४४६। 'ब्रह्मांड', 'ब्रह्म', 'वायु' तथा 'हरिवंश' पुराणों के अनुकूल यह कथा इसमें दी गई है। 'विष्णु पुराण' के कथांतरों का उल्लेख किर्फेल ने नहीं किया है। वह कथा 'भागवत' १०-५६-५७ में भी मिलती है। कृष्ण द्वारा सत्राजित को मणि वापस दिए जाने तक के संक्षिप्त कथा-रूप ('मत्स्य पुराण' तथा 'पद्मपुराण') के लिए द्रष्टव्य: किर्फेल, पृ० ४४६-४४८। 'अग्निपुराण' २७४-४०-४४ में यह कथा

रूपरेखा इस प्रकार है—वृष्ण वंशी सत्राजित ने स्यमंतक मणि सूर्य से प्राप्त की जो उसका मित्र था। मणि की कुछ अतिप्राकृत विशेषताएँ थीं। वह प्रति दिन आठ भार स्वर्ण देती थी, और जिस प्रदेश में वह मणि रहती थी वहाँ सूखा या महामारी जैसी प्राकृतिक विपत्तियाँ नहीं आती थीं। सत्राजित ने एक बार यह मणि अपने भाई प्रसेन को दी, जो बाद में शिकार खेलते हुए सिंह द्वारा मारा गया। उस सिंह को ऋक्ष-सम्राट् जांबवंत ने मार डाला और उसने वह मणि अपने बच्चे को खेलने के लिए दे दी। फिर यह प्रवाद प्रचलित हुआ कि मणि के लिए कृष्ण ने प्रसेन को मार डाला। इस पर कृष्ण उस मणि की खोज में निकले, ऋक्ष-सम्राट् को पराजित किया, मणि को वापस द्वारका लाकर उसे सत्राजित को दिया। सत्राजित ने अपनी पुत्री सत्यभामा कृष्ण को दे दी। अक्रूर उससे विवाह करने के लिए इच्छुक था, अतः वह सत्राजित से क्रुद्ध हो गया। उसने शतधन्वन् को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह सत्राजित को मार कर मणि ले ले। इस योजना के अनुसार शतधन्वन ने सत्राजित को मार डाला। जब कृष्ण को सत्राजित की मृत्यु का समाचार मिला तो, उन्होंने अपने भाई बलराम से अनुरोध किया कि वे शतधन्वन् के विरुद्ध युद्ध में उनकी सहायता करें, और दोनों मिलकर मणि ले लें। इस पर जो युद्ध हुआ उसमें अक्रूर ने भाग लेने से इनकार कर दिया, पर गुप्त रूप से मणि को रख लेने के लिए तैयार हो गया। कृष्ण ने शतधन्वन् को मार डाला पर उन्हें मणि नहीं मिली। बलराम को कृष्ण की ईमानदारी पर संदेह हुआ और वे क्रोध में चले गये। बाद में यादवों ने उन्हें किसी प्रकार मनाया और उन्हें द्वारका ले गये। किसी बहाने से अक्रूर भी द्वारका छोड़ कर चले गये थे और मणि के माध्यम से मिले स्वर्ण के सहारे अनेक व्ययसाध्य यज्ञ कर रहे थे। द्वारका से जब वह मणि चली गई तो वहाँ बहुत ही विपत्तियाँ आईं। वयोवृद्ध यादवों ने इसका कारण द्वारका से अक्रूर का चला जाना बताया, पर मणि के जाने की बात वे नहीं समझ सके। वस्तुतः लोगों को यह ज्ञात ही नहीं था कि मणि किसके पास है। अतः अक्रूर से अनुरोध किया गया कि वे द्वारका वापस लौट आएँ। उनके वापस आते ही सारी विपत्तियाँ दूर हो गईं। तब फिर किसी एक विशिष्ट सभा में कृष्ण ने अक्रूर से मणि दिखाने को कहा। इस अवसर पर अक्रूर मना नहीं कर सके और उन्होंने मणि कृष्ण को दे दी। पर कृष्ण ने किन्हीं कारणों से मणि अक्रूर को वापस दे दी, जिसे उसने कंठ में धारण कर लिया।

कथा के दो रूप उपलब्ध होते हैं—छंदोबद्ध[८] रूप में 'ब्रह्मांड', 'वायु', 'ब्रह्म' और 'हरिवंश' में तथा गद्य रूप में 'विष्णु पुराण' में। चारों पुराणों के छंदोबद्ध रूप में जो अंतर मिलते हैं उनका हमारी दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। पर छंदोबद्ध तथा गद्य-रूपों के कुछ अंतर हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं, और आगामी विवेचन से यह स्पष्ट हो सकेगा कि 'अक्रूरो ददते

अत्यंत सामान्य रूप में मिलती है, और 'लिंगपुराण' ६९-१२-१५ में इसका उल्लेख भर हुआ है।

८. 'भागवत' का रूप यद्यपि छंदोबद्ध है, पर मुख्य बातों में उसकी 'विष्णुपुराण' से समानता है।

मणिम्,' जहाँ दधत = धारयति है, उस रूप पर आधारित है जो 'विष्णुपुराण' की पृष्ठभूमि में है।

कथा के उपर्युक्त संक्षिप्त रूप से यह प्रकट होता है कि 'अक्रूरो दधते मणिम्,' का 'अक्रूर मणि लिए है, अर्थात् धारण किए है', ऐसा अर्थ करना कितना भ्रामक है ! क्योंकि अक्रूर का मणि धारण करना कोई महत्व की बात नहीं है, इसीलिए अंत में उसका सामान्य उल्लेख भर कर दिया गया है। कथा में शायद ही उसने कभी वह मणि पहिना हो। लोगों को भी यह ज्ञात नहीं था कि मणि अक्रूर के पास है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि अक्रूर उस मणि का यथार्थ स्वामी नहीं था, क्योंकि उसे तो शतधन्वन् ने मणि केवल रखने के लिए दी थी। यह भी सही है कि मणि उसने अपने पास गुप्त रूप से[९] रक्खा था; बाद में कुछ कारणों से कृष्ण ने वह मणि उसे फिर से अपने पास रखने के लिए दे दी।

यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख उचित ही होगा कि इस कथा में मणि का धारण किया जाना इस बात का द्योतक नहीं है कि वह सिर पर धारण किया जाता था (स्कंद तथा दुर्गा), वरन् वह तो गले में पहिना जाता था : अमलमणिरत्नसनाथकण्ठतया (विष्णु ४. १३. ११),स्यमन्तकेन कण्ठासक्तेन (विष्णु ४. १३. १८) ; आत्मकण्ठासक्तेन (विष्णु ४. १३. ७०) ; मणिग्रीव (भागवत

---

९. यह बताया गया है कि जब अक्रूर ने शतधन्वन् से मणि ली तो उन्होंने यह वादा करा लिया था कि हम तथ्य को प्रकट न करेंगे। छंदोबद्ध तथा गद्य रूपों में इस प्रसंग से संबद्ध कथा का अंश अलग-अलग मिलता है। छंदोबद्ध रूप के अनुसार मणि अक्रूर को उसी रात दे दी गई थी जब कि सत्राजित मारा गया था; गद्य रूप में यह मणि-प्रदान तब होता है जब शतधन्वन् पर कृष्ण ने आक्रमण किया। 'भागवत'-१०.५७.१८ इस प्रसंग में 'विष्णुपुराण' से साम्य रखता है—

सत्राजितं ततो हत्वा शतधन्वा महाबलः।
रात्रौ तं मणिमादाय ततोऽक्रूराय दत्तवान॥
अक्रूरस्तु तदा रत्नमादाय स नरर्षभः।
समयं कारयां चक्रे नावेद्योऽहं त्वयेत्युत॥
किर्फेल ४४२, ३७,३८

यद्यन्तायामप्यवस्थायां न कस्मैचिद्
भवान् कथयिष्यति तदहमेनं ग्रहीष्यामि।
तथेत्युक्ते अक्रूरस्तन्मणिरत्नं जग्राह।
विष्णु ४. १३. ४२

इसके अतिरिक्त 'विष्णुपुराण' (४.१३.६०-६३) में यह बताया गया है कि मणि को अक्रूर सार्वजनिक रूप से नहीं पहिनते थे (कथा के अंतिम अंश को छोड़कर)। वे उसे एक डिब्बे में रख कर अपने वस्त्रों के भीतर छिपा लेते थे : केवलमम्बरतिरोधानमन्विष्यन्तो रत्नमेते द्रक्ष्यन्ति, ततः सोऽम्बरवस्त्रनिगोपितातिलघुकनकसमुद्गकं प्रकटीकृतवान्; 'भागवत' में भी : १०.५७.४०।

१०. ५६. १६. ३७)। ये वर्णन भी तुलनीय हैं जहाँ गरदन का प्रायः उल्लेख हुआ है। फिर हम यह भी देखते हैं कि मणि पहिनने के अर्थ में जिन क्रियाओं का प्रयोग हुआ है वे √ **बद्** या √ **धारय** नहीं हैं, वरन् √ **आबन्ध** हैं : स तम् आबध्य नगरीम् प्रविवेश महीपतिः (किर्फेल ४३८.९४), आबध्य गान्दिनीपुत्रो विरराज . . . (किर्फेल ४४५ . ७४), बबद्धनू तेस्तदा (ब्रह्मांड २.७१.२६; वायु० ९६.२५) ; **आमुच्** : स तम् आमुच्य . . . 'ब्रह्मांड' में उपलब्ध **आबध्य** (किर्फेल ४३८.९) का रूपांतर; **प्रतिमुच्** : मणिम् कण्ठे प्रतिमुच्य, (भागवत १० . ५६ . १३) **मुच्** का अन्य उपसर्गों के साथ विरोधी अर्थ में भी प्रयोग मिलता है; **अवमुच्** : स्वकण्ठाद् अवमुच्य, (किर्फेल ४३७ . ६) ; **उन्मुच्**: निजकण्ठाद् उन्मुच्य, (विष्णु ४.१३.१०) ; **भार्**: बिभ्रन मणिम् कण्ठे (भागवत १०.५६.४.), स्यमन्तकाख्यम् महामणिम् बिभ्रद् अत्रोपायाति (विष्णु ४ . १३ . १२)।

दूसरी ओर √ **धृ** क्रिया के कई महत्वपूर्ण प्रयोग 'विष्णुपुराण' में मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि यह 'रखने' अर्थात् 'पहिनने', के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती थी। सिर पर धारण करने के अर्थ में तो और भी नहीं; वरन् इसका प्रयोग किसी दूसरे की अमानत रखने के अर्थ में होता था। कथा के अंत में जब सभा के बीच अक्रूर ने मणि दिखाई तो कृष्ण ने उनसे कहा कि इस मणि के वास्तविक स्वामी[10] या तो वे स्वयं हैं; या बलराम या सत्यभामा। पर क्योंकि इनमें से कोई भी उसे कठिनाई से ही स्वीकार कर पाएगा, अतः अक्रूर इस मणि को उनकी धरोहर के रूप में रक्खें। इसके अतिरिक्त मणि में कुछ दैवी शक्ति थी जिससे राष्ट्र के ऊपर कोई आपत्ति नहीं आती थी[11]। इस प्रकार अक्रूर के पास यह मणि राष्ट्र की धरोहर के रूप में भी थी। अक्रूर को मणि का स्वामित्व नहीं दिया गया था, वरन् वे इसके एक प्रत्याशी के रूप में नियुक्त किये गये थे। तुलनीय: सकलयादवसमक्षञ्चाक्रूरमाह, एतद्धि मणिरत्नमात्मशोधनायैषां यदूनां दर्शितम्। एतच्च मम बलभद्रस्य च सामान्यं पितृधनं चैतत् सत्यभामाया नान्यस्य। तदयं यदुलोकोऽयं बलभद्रोऽहं सत्या च त्वां दानपते प्रार्थयामः एतद् भवानेव धारयितुं समर्थः। त्वत्स्थञ्चास्य राष्ट्रस्योपकारकं, तद् भवानशेषराष्ट्रोपकारनिमित्तमेतत् पूर्ववत् धारयतु। (विष्णु ४ . १३ . ६७ . ७०)

यह सही है कि 'विष्णु पुराण' में √ **धारय** क्रिया स्वामित्व[12] के अर्थ में भी प्रयुक्त हुई है।

---

१०. अक्रूर ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया कि यह मणि उनकी नहीं थी वरन् शतधन्वन् द्वारा उन्हें दी गई थी। उन्होंने उसे, जब तक संभव था, रक्खा। अब यह उसे मिलनी चाहिए जो उसका वास्तविक स्वामी है (स एष मणिर्यः शतधन्वनास्माकं समर्पितः यस्यायं स एनं गृह्णातु। (विष्णु ४ . १३ . ६५)।

११. स मणिः स्यन्दते रुक्मं . . .। कालवर्षी च पर्जन्यो न च व्याधिभयं ह्यभूत्॥ किर्फेल ४३८.१२; विष्णु ४.१३.१४-१५; भागवत १०.५६.११

१२. एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यगुणवता ध्रियमाणमशेषराष्ट्रस्योपकारकम-शुचिना ध्रियमाणमाधारमेव हन्ति। ४.१३.६८; १३.१८ भी; अथवा कृष्ण के शब्द: अतो ऽहमस्य . . . असमर्थो धारणे। १४.१३.६९। अक्रूर ने निम्नलिखित शब्दों में: अलि-

पर यहाँ आशय यह नहीं है कि √धृ का प्रयोग संस्कृत में 'पकड़ने', 'रखने' वा 'धारण करने' के अर्थ में नहीं होता। अभिप्राय यह है कि ये अर्थ **दंड** शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं, और 'विष्णुपुराण' में उपलब्ध कथा-रूप के आधार पर अक्रूर द्वारा मणि को रक्खे जाने की दृष्टि से **धारयति** का सर्वाधिक संगत अर्थ होगा 'किसी दूसरे की अमानत रखना, धरोहर रखना, वापस करने के लिए वचनबद्ध होना।' अब किसी हद तक यह कहा जा सकता है कि 'विष्णुपुराण' के पीछे जो कथा-रूप था और जिससे यास्क परिचित थे, उसमें जो यह प्रयोग मिलता है **'अक्रूरो ददते मणिम्'**, उसका 'विष्णुपुराण' के आधुनिक रूप के आधार पर भाव होगा **'अक्रूरो धारयति मणिम्'** जिसका अर्थ है, 'अक्रूर मणि को धरोहर के रूप में रखते हैं, उसके स्वामी के लिए अथवा समूचे राष्ट्र के लिए; वे उसे एक विश्वासी व्यक्ति के रूप में रखते हैं; वे उन्हें वापस देने के लिए वचन-बद्ध हैं।' विशेष रूप से अक्रूर के प्रसंग में कोई दूसरा अर्थ ('रखना' या 'धारण करना') उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। **'धारयति'** का अर्थ 'वापस करने के लिए वचनबद्ध होना' पाणिनि के काल में भी मिलता है (१.४.३५), और यास्क ने निश्चय ही इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया होगा, जब उन्होंने **दंड** (अपराधी को देने के लिए बद्ध होना) की उत्पत्ति √**दद्** से सिद्ध की। इस प्रकार से इस व्युत्पत्ति में मूल क्रिया √**दद्** तथा उससे व्युत्पन्न शब्द **दंड** का वास्तविक संबंध देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह **धारयति** (देने के लिए बद्ध होना) का यास्ककालीन प्रयोग भी सिद्ध करता है।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि यास्क द्वारा उस कथा का संदर्भ, जिसमें **'ददते'** का अर्थ है **'धारयति'**, मूल कथानक के उस रूप की ओर संकेत करता है जो 'विष्णुपुराण' में उपलब्ध कथा का स्रोत है। विंटरनित्ज़ (हिस्ट० ऑफ़ इंडि० लिट्० १.५४५) 'विष्णुपुराण' की प्राचीनता को मानते हैं। किर्फ़ेल (पृ० ४६) का मत भिन्न है और वे यह मानते हैं कि 'विष्णुपुराण' अपेक्षाकृत नव्य पुराणों के अंतर्गत आता है। यह बात सामान्यतः ठीक हो सकती है; मणि की कहानी में भी गद्य-रूप कुछ बाद के प्रक्षेपों को प्रदर्शित करता है, पर प्रस्तुत कथा में कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'विष्णुपुराण' में कहानी के प्राचीनतर अंश हैं।

(१) छंदोबद्ध रूप में (किर्फ़ेल ४४५.६९) कहा गया है कि कृष्ण ने अपनी अति-प्राकृत शक्तियों द्वारा यह जान लिया कि मणि अक्रूर के पास है (अथ विज्ञाय योगेन कृष्णो बभ्रु-गतं मणिम्)। पर 'विष्णुपुराण' में एक सामान्य मनुष्य के रूप में कृष्ण दो तर्कों के आधार पर यह

कृच्छ्रेणैतावन्तं कालमधारयमस्य च धारणक्लेशेन....न वेद्मि स्वसुखकलामपि। ४.१३.६१; ६२। 'धारय' का अर्थ केवल 'रखना' न हो वरन् धरोहर रखना हो। इस प्रकार संकेत यह हो कि मणि उन्हें तब तक धरोहर स्वरूप रखने के लिए दी गयी हो जब तक कि शतधन्वन् कृष्ण के आक्रमण से मुक्ति पा सके और फिर वह उन्हीं को वापस दी जाए (तुलनीय इस प्रसंग में भागवत १०.५७.१८ का प्रयोग √न्यस: शतधन्वा महामणिम् तस्मिन् न्यस्य.... और भी १०.५७.२३-३६; 'विष्णुपुराण' ४.१३.४२ में इस प्रकार मिलता है: तदयम् अस्मन्मणिः संगृह्य रक्ष्यताम्।)

सिद्ध करते हैं—अक्रूर के वापस आने पर विपत्तियों की समाप्ति तथा अक्रूर के व्ययसाध्य यज्ञ। यह कथा का निश्चय ही प्राचीनतर रूप जान पड़ता है, यथा—"कृष्णश्च चिन्तयामास,———— सुमहांश्चायमनावृष्टिदुर्भिक्षमरकाद्युपशमनकारी प्रभावः। तन्नूनमस्य सकाशे स महामणिः स्यमन्तकाख्यस्तिष्ठति। तस्य ह्येवंविधाः प्रभावाः श्रूयन्ते। अयमपि यज्ञादनन्तरमन्यत् ऋत्वन्तरम्, तस्मात्यज्ञान्तरं यजतीति। अल्पोपादानञ्चास्य। असंशयमत्रासौ वरमणिस्तिष्ठति. . ." (विष्णु ४.१३.५८–५९)।[१३]

(२) छंदोबद्ध रूप में इस बात का कोई स्पष्ट कारण नहीं मिलता कि कृष्ण ने अंत में मणि अक्रूर को क्यों वापस कर दी। उनके अनुसार क्योंकि अक्रूर ने मणि बिना किसी कठिनाई के दे दी, इसलिए कृष्ण उनसे प्रसन्न हो गए और उन्होंने फिर वह मणि उन्हीं को वापस कर दी। (प्रददौ तं मणिं बभ्रुरक्लेशेन महामतिः। ततस्तमार्जवप्राप्तम् . . . . । ददौ हृष्टमनाः कृष्णस्तं मणिं बभ्रवे पुनः ।। (किर्फ़ेल ४४५.७२.७३)। पर गद्य-रूप में इस घटना का निश्चित कारण मिलता है जिससे कृष्ण की चतुराई का पता चलता है। मणि को बलराम,सत्यभामा तथा कृष्ण सभी चाहते थे। इनमें संघर्ष बचाने के लिए कृष्ण ने अक्रूर से अनुरोध किया कि वे ही मणि को उन लोगों की धरोहर के रूप में रक्खे रहें, क्योंकि किसी न किसी कारण से उनमें से कोई भी उसे अपने पास नहीं रख सकता था।[१४] (तमालोक्य ममायमच्युतेनैव सामान्यः समन्वीप्सित इति बलभद्रः सस्पृहोऽभवत् ममैवेदं पितृधनमित्यतीव च सत्यभामापि स्पृहयाञ्चकार। बलसत्याननावलोकनात्कृष्णोऽप्यात्मानं चक्रान्तरावस्थितमिव मेने। विष्णु ४.१३.६५,६६; ६७-७० भी तुलनीय)।

(३) छंदोबद्ध रूप में इस बात का भी कोई कारण नहीं दिया गया कि कृष्ण ने अक्रूर से मणि देने के लिए क्यों कहा। पूरी सभा में धमकी देकर (किर्फ़ेल ४४५.६९.७१) उसे माँगा गया। गद्य-रूप के अनुसार अक्रूर से मणि दिखाने को इसलिए कहा गया जिससे बलराम आदि अन्य यादवों की शंका दूर हो जाए। क्योंकि तब तक किसी को मणि का कोई पता नहीं था, इसलिए यादवों को एक क्षीण संदेह यह था कि वह शायद कृष्ण के पास है (किन्त्वेष बलभद्रोऽस्मानाशंकितवान्; विष्णु ४.१३.६०; एतद्धि मणिरत्नमात्मशोधनायैषां यदूनां दर्शितम्; ६७)[१५]।

(४) 'विष्णुपुराण' में कृष्ण बलराम से कहते हैं कि सत्राजित् और प्रसेन की मृत्यु के कारण यह मणि उन दोनों की है (तदुभयविनाशात्तन्मणिरत्नमावाभ्यां सामान्यं भविष्यति; ४.१३.४०)। ऐसा जान पड़ता है कि किसी लुप्त रूप के अनुसार कृष्ण यह सोचते थे कि मणि केवल उन्हीं की है। छंदोबद्ध रूप में ये दोनों ही दृष्टिकोण मिलते हैं, जिससे स्थिति कुछ निश्चित नहीं हो पाती, और जिससे उन रूपों की अपेक्षाकृत अर्वाचीनता सिद्ध होती है (स्यमन्तकस्तु मद्गामी तस्य प्रभुरहं विभो।. . . .स्यमन्तको महाबाहो अस्माकं स भविष्यति। किर्फ़ेल ४४२.४४b.४५)।

---

१३. भाग० १०.५७.३४ का यहाँ साम्य स्पष्ट है, यद्यपि कथा का विशेष विस्तार नहीं मिलता। १४. भाग० १०.५७.३८ में बिना किसी विस्तार के इसका उल्लेख मात्र मिलता है। १५. भाग० १०.५७.३८-३९

योगध्यान आहूजा

'शिवा बावनी' में फ़ारसी शब्दावली का प्रयोग

शब्दों की तोड़-मरोड़ भूषण की भाषा की विशेषता है। उनकी 'शिवा बावनी' की अनियन्त्रित शब्दावली का अध्ययन रोचकता से ख़ाली नहीं। 'शिवा बावनी' में फ़ारसी अथवा फ़ारसी से आये हुए अरबी आदि भाषाओं के शब्द भी अबाध रूप में प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही 'शिवा बावनी' का वर्ण्य विषय ऐसा है जिसमें फ़ारसी शब्दों की बहुलता स्वाभाविक ही थी।

भूषण के युग तक भारत की भाषाओं में, सामान्यतया, फ़ारसी शब्दावली का पर्याप्त मिश्रण हो चुका था। फ़ारसी से कई शब्द धीरे-धीरे यहाँ की भाषा का अंग बन रहे थे। खड़ी बोली अपने विकास के मार्ग पर अग्रसर होती हुई निश्चित रूपरेखा प्राप्त कर रही थी। इस दृष्टि से उस युग की रचनाओं में फ़ारसी शब्दों के प्रयोग का अध्ययन महत्व का विषय है।

'शिवा बावनी'[१] में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो फ़ारसी[२] के तत्सम रूप में व्यवहृत हुए हैं। कई ऐसे शब्द हैं जिनमें स्वर-भक्ति के परिणामस्वरूप परिवर्तन हुए हैं। ख़, ज़ आदि फ़ारसी की विशेष ध्वनियाँ हिन्दी वर्णमाला के लिए नयी थीं। इस कारण ऐसी ध्वनियों वाले शब्दों के लिए :-न्तर में परिवर्तन आवश्यक थे। व्यक्तियों के कुछ नाम इस प्रकार आये हैं—

अफजल (२८) < अफ़ज़ल; अफजल खान (३१) < अफ़ज़ल ख़ान; अली इखलास खाँ (२३) < इख़लास ख़ाँ; औरंग (१८, २९) < औरंग; खान रुसतम (३१) < ख़ान रुस्तम; जहाँगीर (१५) < जहाँगीर; दारा (१२, १३, ३४) < दारा।

स्थानों तथा देशों के नाम यों हैं—

काबुल (३८, ४२) < काबुल; किबले (१२) < क़िब्ला; खुरासान (४२) < ख़ुरासान; बलख (२७-३२) < बल्ख़; बुखारे (२७,३२) < बुख़ारा; मक्के (१२) मक्का; रूम (२७-३२) < रूम; साम (३२) < शाम; हबस (४१) < हब्श।

अन्य सामान्य शब्दों में से कुछ ये हैं—

अमीर (१६); अरब (३८); आवाज (३१) < आवाज़; ऐन (४४); कत्ल (२०) < क़त्ल; कमान (२२); कसम (१२) < क़सम; काबुली (४९); कैद (१२) <

---

१. महाकवि भूषण कृत 'शिवाबावनी': प्रकाशक हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद, अगस्त १९५० के अनुसार; कोष्टक में पद्य संख्या दी गई है।

२. सामान्यतया 'A Comparative Persian English Dictionary' by Dr. F. Steingass **के अनुसार**

क़ैद; खलक (१)<ख़ल्क़; खुदा (१२)<ख़ुदा; गाजी (४३, ५२)<ग़ाज़ी; गुमान (३९) गुलाब (१०,१७); गोल (३३)<ग़ोल; जरूर (३९)<ज़रूर; जहाज (२७-३१)<जहाज़; जहाँन (३८,४७)<जहाँन; जालिम (३७,३८) <ज़ालिम; जाहिर (२६-३८)<ज़ाहिर; जोर (४५) जोर; जोरावर (३८)<ज़ोर-आवर; जंग (१, ३८); तमाम (४६); तबल (२८)<तब्ल; तीर (२२); तसबीह (१३)<तस्बीह; दमामे (४५)<दमामा; दरगाह (३२)<दर-गाह; दरवाजे (४४)<दर्वाज़ा; दावा (२१, ३३, छः बार); [illegible]गीर (५); नरम (९,१०)<नर्म; पील (१३, २१); फौज (४०)< फ़ौज़; वन्दगी (१३); बाज; (३३, ३६, ३७, ४९)<बाज़; बेदिल (२८); मनसब (२७)<मंसब, मंसिब; मीर (२३, ३४, ४९); मुकाम (१८)<मक़ाम, मुक़ाम; मुगु[illegible] (३५)<मुग़ल; मेहर (१२)<मिहर; मेहर; रब (१८,२०,३८); राह (२९, २९); रैयत (३५,४६)<रईयत; रोज (४४)<रोज़; लाल (१५), वजीर (३९)<वज़ीर; विलायत(३८); सलाम (१५); सलाह (२९); सवारी (४); साल (३४), सिपाह (१५), सूबा (२६, ४९); हजरत (२७)<हज़रत; हजार (१४)<हज़ार; हजारी (३५)< हज़ारी; हद्द (४५, ४६)<हद, हद्द; हरम (४९, १०, २८)<हरम; हवा (९)<हवा, हवा (ए) (९)<हवा; हालत (३८); हासिल (३४)।

फ़ारसी के कतिपय शब्द 'श' से 'स' के परिवर्तन के साथ ब्रजभाषा के अनुरूप प्रयोग में आये हैं—

क़ुतुबसाह(४१)<क़ुत्बशाह; किसमिस (११)<किश्मिश; निसान(४,१८)<निशान; नासपाती (१०)<नाश्पाती; बादसाह (१२)<बादशाह; मुसकिल (२२)<मुश्किल; समसेर (३८,४९,५०)<शम्शेर; साहजादे (४९)<शाहज़ादा; सहर (२०,४४,४५)< शहर; सिकार (४९)<शिकार; सेर (३७)<शेर; हबसी (३१)<हबशी; हुस्यार (१४) <हुश्यार।

कतिपय अन्य शब्द जो मल रूप से कुछ भिन्न हैं, निम्न प्रकार हैं—अतर (१०)<इत्र; कतलाम(३४)<क़त्ले-आम; किम्मति(२२)<हिक्मत;[3] खबरि(३१)<ख़बर; गुसा(१५) <ग़ुस्सा; चुगल (१३)<चुग़ल; जमात (३) <जमाअत; जमिला (२७)<जुम्ला; तुरुक (१९,२०,३१,३९,४९)<तुर्क; पातसाह (२३,३९,४२,५१)<पाद-शाह; पातसाही (१२,१५,३२,३३,४५)<पादशाही; फिकिर (३२)<अ० फ़िक्र,'(फारसी में फ़क्र भी);[4] बजारी (३५)<बाज़ारी; बिलाइत (६)<विलायत; बिहद(१)<बे-हद; बिहद्द (२३) <बे-हद्द; बिहाल (९)<बे-हाल; मयदान (३१)<मैदान; मालुम (३९)<मालूम; मुगल (२३, ४२, ४९, ५१)<मुग़ल; मुहल्ला (२०)<महल्ला; सरजा(३९,४३,५२)<सर-जाह; सिरताज (३२,३३)<सर-ताज; सुनति (१८,१९,२०)<सुन्नत; सेख (२३,३५,४२)<शेख़;

---

३. प्रामाणिक हिंदी कोश, सं० रामचन्द्र वर्मा—किम्मत—स्त्री० (अ० हिकमत)।
४. स्टाइनगास

सैयद (२३,३५) <सैयिद; स्याह (१५) <सियाह; हिम्मति (२२) <हिम्मत; हुकुम (२२) <हुक्म; होदा (२) <होदज (होदा, ऊँट का कोहान); 'उमरा' से 'उमरावन' (१४,२७) तथा 'दरया' के लिए 'दरियाव' और 'नक़ारा' के लिए 'नगारे' (२,४०, ४३) शब्द आये हैं। 'बाज़' के लिए 'बाज' की आवृत्ति इस रूप में हुई है : बाजे बाजे रोज दरवाजे उघरत हैं (४४)। औरंगज़ेब का नाम 'अवरंगजेब' (२०) के अतिरिक्त 'नौरंग' (१४,१५,२५) तथा 'नवरंगजेब' (१२,१६,१७,२७) दिया गया है। शायिस्ताख़ान के लिए 'साइतखान' (२६) तथा आदिलशाह के लिए 'एदिल' (२८,२९) बहादुरख़ान (?) के लिए 'बादरखान' (२६) मुरादबख़्श के लिए 'मुरादबक्स' (१२) तथा हुमायूँ के लिए 'हिमायूँ' (१९) रूप आये हैं। चग़ताई (चक्ताई) के लिए 'चकता' (३१) अथवा 'चकत्ता' (६,४१,४६) नमाज़ के लिए 'निवाज' (२०) तथा 'मस्जद' या 'मस्जिद' के लिए 'मसीत' (१८,१९) शब्द आये हैं। 'ज़ब्त्' के लिए 'जपत' (२८), 'पीर पैग़म्बर' के लिए 'पीरा पयगंबरा' (१८) रूप आये हैं।

फ़ारसी के कुछ अन्य शब्द जिन्हें ब्रज आदि के व्याकरणानुसार प्रयुक्त किया गया है, निम्नांकित हैं। इनमें कुछ शब्दों से प्राप्त विचित्र-सी क्रियाओं के रूप भी मिलते हैं—

अरजा (३५) 'अर्ज़' से क्रिया; कंगूरन (२२) 'कुंगुरा' से ब० व०; तुरकान (२८) 'तुर्क' से ब० व० (= तुर्कों का); दरबारे से (२१) = दर्बार से; दहसति (४१) 'दहशत' से क्रिया;[5] नगन (७) 'नग' (फ़ारसी–नगीन या नगीना) से ब० व०; नगारन (१, ४१) 'नक़ारा' से बहुवचन; बादसाहन (९, १०) 'बादशाह' से ब० व०; मीरन (४३) 'मीर' से ब० व०; मुगलानियाँ (५) 'मुग़ल' से स्त्री० ब० व०; यारो (३१) सम्बोधन 'यार' से ब० व०; रिसालैं (२८) 'इर्साल से'[6]; सरमाती (११) शर्म से लज्जित करना, सकर्मक क्रिया; साहन (३२,४०) 'शाह' से ब० व०; सिपाहिन (५१) 'सिपाही' से ब० व०; गुर्जबरदार (१४) तथा गुसलखाने ('गुस्ल' अथवा 'गुसुलख़ाना' से ब० व०) फ़ारसी शब्दों के कुछ समस्त रूप हैं।

'शिवाबावनी' में फ़ारसी शब्दों के कुछ अनोखे व्यवहार भी हुए हैं, जैसे 'ग़ुस्सा' से 'गुसैल' (१५) (फ़ा० 'गुस्सा' + 'एल' हिन्दी) तथा 'सुसीने' (२४) ('सु' सं० उपसर्ग + 'सीने' फ़ारसी 'सीना' से)। 'गैर-मिसिल' (१५) भी एक अप्रचलित प्रयोग है। कुछ शब्द, जिनमें फ़ारसी और हिन्दी के संयुक्त रूप आये हैं, निम्न प्रकार से हैं—

छहजारिन (१५)—छः (हिन्दी) + हज़ारी (फा०); तेग-बल (५१)—तेग़ (अरबी) + बल (सं०); दमामेवारे (४५)—दमामा (फा०) + वारे (= वाले हि०); दल-मुगल (४७)—दल (सं०) + मुग़ल (फ़ा०); बंदीखाने —बंदी (सं०) + ख़ाना (फ़ा०); रूपगुमान

---

५. 'दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है' में 'दहसति' 'दहशत' का ही रूपांतर अथवा क्रिया हो सकती है।

६. रिसाल—पु० (अ० इरसाल) राज्य-कर, प्रामाणिक हिंदी कोश।

(२५)—रूप (सं०) + गुमान (फ़ा०); हयादारी चीर (५)—हया (अ०) + दारी (फ़ा०) + चीर (सं०)।

फ़ारसी और हिन्दी शब्दावली के मिश्रण से कुछ मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है—
खाक किया (३१); गरीबी गहे (६); गुमान झारि डारे हैं (२३); (रूप) गुमान हर्‌यो (२५); जेर कीन्हो (२१, ४२, ४५); जोर करि (२७); जंगजुरौ (२९) दावा बाँधि (२२) सजाय करि (३५) (= सज़ा देकर); हद्द जीति (५०); हद्द बाँधि गये (१५); हद्द बाँध्यौ (२१); हद्द राखि (राखी) (२३, ५१); हिम्मत हिसि गई (४५)।

भूषण ने बाबर और अकबर के लिए प्रायः चारणभाषा के अनुकरण में 'बब्बर' और 'अकब्बर' शब्दों का व्यवहार किया है।

चंगुल (२५), पँज (शब्द 'पंजन' में, २५); बार (कैयो बार, २३); बारवार (२८, ४१); तथा रंग (१, २५, २५) ऐसे शब्द हैं जिनका सम्बन्ध फ़ारसी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं से जोड़ा जा सकता है।

●

शालिग्राम उपाध्याय

पैशाची भाषा

पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में पैशाची को एक प्राचीन प्राकृत भाषा या बोली के रूप में स्वीकार किया है। इसकी प्राचीनता तो इतनी है कि विद्वानों ने इसे पाली, अर्द्ध-मागधी और शिलालेखों की प्राकृत की कोटि में रखा है। 'पाइअ सद्दमहण्णवो' की भूमिका (पृ० १४) के अनुसार पाली की उत्पत्ति की संभावना भी इससे की जाती है। इसके भिन्न-भिन्न नामों के साथ संस्कृत साहित्यिकों एवं प्राकृत वैयाकरणों ने इसका महत्व अंगीकार किया है।

इसे 'भूतभाषा' अर्थात् भूतों की बोली कहा गया है, (काव्यादर्श १।३८; सरस्वती-कंठाभरण ९५।११ और १३; कथासरित्सागर ७।२९ और ८।३० तथा देखिए—हाल द्वारा संपादित 'वासवदत्ता' पृष्ठ २२ की टिप्पणी) इसका तीसरा नाम 'भूतभाषित' भी मिलता है ('संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्'—वाग्भटालंकार २।१)। वहीं एक चौथा नाम भी प्राप्त होता है, 'भौतिक'। भूतों द्वारा भाषित होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा ('यद् भूतैरुच्यते किञ्चित् तद् भौतिकमिति स्मृतम्, वाग्भटा० २।३) राजशेखर ने अपने 'बालरामयण' ८।५ में इसे 'भूतवचन' कहा है तथा इसे बहुत ही सरस भाषा स्वीकार किया है। 'भूतवचन' का उल्लेख 'सरस्वतीकंठाभरण' (५७।११) में भी मिलता है। जब से इस भाषा का संबंध 'भूत' शब्द से हुआ, तभी से इसके संबंध में अनेक भ्रामक विचार चल पड़े जिनके कारण इसकी उत्पत्ति की समस्या कठिन हो गई। यह कहाँ की भाषा थी, यह कहना अब सहज नहीं रहा।

पिशेल ने अपने व्याकरण में क्रुक महाशय के इस मत का कि भारतीय जनता का विश्वास है "कि भूत नाक से बोलते हैं, अतः भूतभाषा में सानुनासिक ध्वनियों की प्रचुरता पाई जाती है तथा उसे 'भूतभाषा' या 'पैशाची भाषा' कहते हैं" खंडन करते हुए इसके इस नाम के संबंध में अनेक विद्वानों द्वारा कथित अनेक कारणों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, किंतु उस विवाद में पड़ना यहाँ अभीष्ट नहीं है। पर इतना निश्चय है कि किसी समय यह भाषा भारत के एक विस्तृत भूखंड में बोली जाती थी। पिशेल का यह अनुमान है कि पिशाच जनता द्वारा पिशाच-देश में यह भाषा बोली जाती होगी। पैशाच जाति का उल्लेख 'महाभारत' (७।१२१।१४) में मिलता है। वैयाकरणों ने इसे पिशाचों की भाषा माना है, ('पिशाचानां भाषा पैशाची'—'प्राकृत प्रकाश' पर भामह की टीका)। केशव मिश्र ने अपने 'अलंकारशेखर' में 'आदि' शब्द और जोड़ दिया है (पैशाची तु पिशाचाद्याः)। 'षड्भाषाचन्द्रिका'—कार लक्ष्मीधर का कथन है कि राक्षस, पिशाच और नीच जाति के लोग इसे बोलते थे (रक्षः पिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत्, पृ० ३ श्लोक ३५)। षड्भाषाओं में तो इस भाषा का नाम आता ही है; संस्कृत, प्राकृत

और अपभ्रंश के साथ भी इसकी गणना की जाती है।[1] सारस्वतेय का वर्णन करते हुए राजशेखर ने संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन और पैशाची को चरण माना है।[2] 'संदेश-रासक'-कार ने भी अपभ्रंश, संस्कृत और प्राकृत के साथ ही पैशाची को भी विचित्र छन्द और अलंकारों तथा शास्त्र-रीतियों से समन्वित माना है।[3]

'नाट्यशास्त्र' (१७।४८) में वर्णित सप्तभाषाओं[4] में 'बाह्लीका का सम्बन्ध पैशाची भाषा से ही है। 'पृथ्वीराजरासो' के रचयिता ने भी षड्भाषाओं का नाम लेकर 'रासो' में अप्रकट रूप से पैशाची भाषा की भी स्थिति मानी है। लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका' में प्रथमतः भाषा के दो भेद (१) संस्कृता और (२) प्राकृती मानकर पुनः प्राकृती भाषा के छः प्रकारों में पैशाची और चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है।

'भाषा द्विधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः।

× × ×

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता॥२५॥
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥२६॥—षड्भाषाचन्द्रिका।

पैशाची का क्षेत्र

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिंदी' में कश्मीर के उत्तरी प्रांत को 'पिशाच' (पिश् = कच्चा मांस, अश् = खाना) या 'पिशाश' देश माना है और वहीं की भाषा को 'पैशाची' बताया है। किन्तु वास्तव में 'पैशाची' या 'भूत भाषा' का स्थान राजपूताना और मध्य भारत है।

कोनो के मतानुसार पैशाची भाषा का मूल स्थान विन्ध्याचल से दक्षिण है और ग्रियसर्न के अनसार इसका प्रारंभिक क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर प्रांत है, वहीं उत्पन्न होकर, संभव है, बाद में यह कोंकण प्रदेश तक चली गई हो, जिससे बाद में पाली की भी उत्पत्ति हुई हो (दे० पाइ० स० म० भूमिका, पृ० १४)। डा० हार्नले के अनुसार पैशाची भाषा आर्यभाषा का वह रूप है जब द्रविड़ लोग आर्यभाषा बोलने लगे थे। परन्तु सेनार ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इसका खंडन किया है, जिसका उल्लेख पिशेल ने अपने व्याकरण में किया है। पिशाच-भाषा के क्षेत्र के संबंध में मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में शेषकृष्ण की 'प्राकृतचन्द्रिका' में उट्टंकित एक श्लोक

---

१. संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्—वाग्भटालंकार २।१।

२. अहो श्लाघनीयोऽसि शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ...—काव्यमीमांसा।

३. अवहट्टय सक्कय पाइअम्मि पेसाइयम्मि भासाए।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जे हिं॥—सं० रा० १।६।

४. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥—ना० शा० १७।४८।

का हवाला दिया है, जिसमें उन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के आधार पर भिन्न-भिन्न पैशाची भाषाएँ चल पड़ी थीं। 'प्राकृतचन्द्रिका' में ग्यारह प्रकार की पैशाची भाषाओं का उल्लेख है।[5] मार्कण्डेय ने क्षेत्र के आधार पर स्थापित उन नामों का खंडन करके तीन प्रकार की पैशाची मानी है। यहाँ मार्कण्डेय द्वारा पैशाची का अध्ययन उल्लेखनीय है जिससे पैशाची का क्षेत्र विदित होगा। मार्कण्डेय ने (१) कांची (२) पाण्ड्य (३) पांचाल (४) गौड (५) मागध (६) व्राचड (७) दाक्षिणात्य (८) शौरसेन (९) कैकय (१०) शाबर और (११) द्रविड़, इन एकादश पिशाच-भाषाओं का खंडन करते हुए "कैकयं शौरसेनं च पाञ्चालमिति त्रिधा" की स्थापना की है। अधिकतर प्राकृत वैयाकरणों ने दो या तीन प्रकार की ही पिशाच-भाषाओं का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने 'कैकय पैशाची' की प्रकृति संस्कृत और शौरसेनी प्राकृत को स्वीकार किया है। 'शौरसेनी पैशाची' की प्रकृति शौरसेनी प्राकृत है, किंतु 'पाञ्चाल पैशाची' की प्रकृति किसे माना है, यह स्पष्ट नहीं है।

राजशेखर ने भी विभिन्न भाषाओं के क्षेत्र के संबंध में लिखा है। राजशेखर के ही एक श्लोक[6] के आधार पर गुलेरी जी ने अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) तथा दशपुर (मंदसोर) तक का क्षेत्र पैशाची का क्षेत्र माना है। एक दूसरा श्लोक लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' में मिलता है, जो शेषकृष्ण द्वारा उट्टकित उपर्युक्त श्लोक से बहुत कुछ मिलता है। लक्ष्मीधर ने वृद्धों द्वारा उक्त पैशाच-देश की सीमा यों दी है —

पाण्ड्य-केकय-वाह्लीक-सह्य-नेपाल-कुंतलाः।
सुदेश-भोट-गान्धार-हैव-कम्भोजनास्तथा।
एते पिशाचदेशास्युस्तद्देश्यस्तद्गुणीभवेत्॥

राजशेखर की अपेक्षा लक्ष्मीधर के अनुसार (जैसा कि वृद्धों ने कहा है) पैशाच-क्षेत्र की सीमा और अधिक विस्तृत हो जाती है—पाण्ड्य (आधुनिक मदुरा और कन्याकुमारी के आसपास), केकय (व्यास और सतलज के बीच का देश, कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रदेश), वाह्लीक (व्यास और सतलज के बीच में केकय से उत्तर का प्रदेश, अफ़गानिस्तान में आधुनिक बल्ख नगर वाला देश), सह्य (दक्षिण भारत का पश्चिमी उपकूल), नेपाल, कुंतल (नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान का पार्श्ववर्त्ती प्रदेश; चालुक्यों के राज्यकाल में इसके उत्तर में नर्मदा, दक्षिण में तुंगभद्रा,

---

५. काञ्चीदेशीय पाण्ड्ये च पाञ्चालं गौडमागधम्।
व्राचडं दाक्षिणात्यं च शौरसेनं च कैकयम्।
शाबरं द्राविडं चैव एकादश पिशाचजाः॥—प्रा० चं०, शेषकृष्ण; प्रा० सर्व०।

६. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च॥
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥— काव्यमीमांसा।

पश्चिम में अरब समुद्र, पूर्व में गोदावरी थी; मार्कण्डेय के अनुसार मध्यदेश और दाक्षिणात्य कुन्तल है), सुदेश (इस प्रदेश का स्पष्ट पता नहीं; 'सुदेश' के स्थान पर 'सुधेष्ण' पाठ भी मिलता है), भोट (तिब्बत के आस-पास; 'भोट' के स्थान पर 'भोज' और 'बोट' शब्द भी मिलते हैं), गांधार (वर्तमान काबुल और पेशावर का प्रदेश), हैव (संभवतः हैम = हिमालय की तराई), कन्नोजन (दक्षिण महाराष्ट्र के पार्वत्य प्रदेश का नाम); 'हैवकन्नोजन' के स्थान पर 'हैव कन्नोजका' और 'हेम कन्नोजिना' दो पाठ मिलते हैं जो अस्पष्ट हैं।

पैशाची से संबंधित इस विस्तृत भूखंड पर दृष्टिपात करने पर कोनो, ग्रियर्सन और हार्नले के विचार अतथ्यपूर्ण नहीं लगते। उनके द्वारा मान्य क्षेत्र से पैशाची का अवश्य ही संबंध हो जाता है। मार्कण्डेय द्वारा स्थापित केकय, शौरसेन और पांचाल भी इसी सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं। उपर्युक्त स्थलों पर विचार करने से यह संभावना की जा सकती है कि पैशाची पश्चिमोत्तर भारत की तथा हिमालय की तराई की भाषा थी। इसकी पुष्टि गुणाढ्य का कश्मीर से संबंध तथा पिशेल का एक उल्लेख भी करता है।

मार्कण्डेय भले ही एकादश पिशाच भाषाओं का खंडन किया हो, पर 'प्राकृतचन्द्रिका' में या 'षड्भाषाचन्द्रिका' में उन श्लोकों के आधार पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस समय की यह धारणा थी कि इन विभिन्न एकादश क्षेत्रों में पैशाची भाषा बोली जाती थी।

जिस भाषा का संबंध इतने विस्तृत भूखंड से रहा, क्या कारण है कि उसके उदाहरण अत्यल्प और वे भी प्रायः व्याकरणों में ही मिलते हैं ? यदि यह एक पृथक् भाषा थी तो शौरसेनी और मागधी से दबी मानने से ही इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। प्राकृत भाषाओं में पैशाची संस्कृत से अधिक मिलती है और अपनी ध्वनि-संपत्ति के अनुसार यह पल्लव-वंश के दानपत्रों की भाषा और पाली से भी बहुत मिलती-जुलती है। इसका उल्लेख पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण तथा ए० एन० उपाध्ये ने 'एनल्स ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द २१, अक्टूबर १९३९–जनवरी १९४०' में किया है।

केकय, शौरसेन और पांचाल पैशाची के साथ-साथ चूलिका पैशाची का भी उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने किया है।

अब पैशाची की ध्वनि-संबंधी उन विशेषताओं पर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है जिनका उल्लेख हमारे प्राकृत वैयाकरणों ने किया है।

वररुचि के अनुसार 'मुज्' धातु को छोड़कर आदि रहित वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम और द्वितीय वर्ण हो जाते हैं। हेमचन्द्र ने इसका उल्लेख चूलिका पैशाची की विशेषता में किया है। हेमचन्द्र ने ४।३२५ और ४।३२७ में 'नगरं' का 'नकरं' 'मेघः' का 'मेखो' उदाहरण देकर वररुचि के १०।३ के ही भाव को व्यक्त किया है। पूर्वी प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम देव ने हेमचन्द्र के सूत्रों की अपेक्षा अधिक सूत्र अपने व्याकरण में दिये हैं। वररुचि से लेकर पुरुषोत्तम देव तक के वैयाकरणों के विचार पैशाची ध्वनियों के संबंध में प्रायः मिलते हैं। चंड ने पशाची पर एक ही सूत्र दिया है—जिसके आधार पर रेफ और णकार को लकार और नकार

होना व्यक्त किया है, जैसे—अले अले दुट्ट लक्खसा पनमत पनयिट्टितासा (सं० अरे अरे दुष्ट राक्षसाः, प्रणमत प्रणयिस्थितास्याः)। रेफ और णकार का लकार और नकार होना सभी वैयाकरणों का अभिमत है।

वररुचि ने 'इव' के 'पिव' होने का उल्लेख किया है, यथा—सं० कमलमिव मुखं ＞ पै० कमलंपिव मुखं। 'संक्षिप्तसार' के अनुसार सं० 'एव' और 'इव' के स्थान पर पै० 'येव' और 'यिव' हो जाते हे; पुरुषोत्तम देव ने भी इसे कैकय पैशाची में स्वीकार किया है। सं० 'हरिरेव' पै० में 'हलियेव', सं० 'हरिरिव' पै० में 'हलियिव' हो जाते हैं। सं० 'ष्ट', 'स्न' और 'र्य' में स्वर-भक्ति के द्वारा 'सट','सन' और 'रिअ' होने का उल्लेख वररुचि ने किया है। सं० 'कष्टं' पै० 'कसटं', सं० 'स्नानं' पै० 'सनानं' तथा सं० 'भार्या' पै० 'भारिआ' हो जाते हैं। पर हेमचन्द्र ४।३१४ के अनुसार 'र्य' 'स्न' और 'ष्ट' के स्थान पर 'रिअ' 'सिव' और 'सट' होते हैं। हेमचन्द्र के अनुसार सं० 'स्नातं' पै० में 'सिनातं' हो जाता है। यह होना क्वाचित्क ही है अतः 'सूर्य' का 'सुज्ज' और 'तिष्ठ' का 'तिट्ठ' भी मिलता है। 'र्य' के 'रिअ' होने का उल्लेख पुरुषोत्तम ने भी किया है। हेमचन्द्र ४।३०३,३०५ तथा पुरुषोत्तम १९।११ के अनुसार 'ज्ञ', 'ण्य' और 'न्य' के स्थान पर 'ञ्ञ' हो जाता है, यथा सं० के 'प्रज्ञा', 'कन्यका' और 'पुण्यकर्मा' पै० में 'पञ्ञा', 'कञ्ञका' और 'पुञ्ञकम्मो' हो जाते हैं। पर वररुचि १०। ९, १० के अनुसार उनके स्थान पर 'ञ्ञ' न होकर 'ञ्ज' हो जाता है, जैसे—सं० 'विज्ञातः', 'कन्या' ＜ पै० 'विञ्जातो' और 'कञ्जा'। 'ण्य' का उल्लेख वररुचि ने नहीं किया है। 'संक्षिप्तसार' के कर्त्ता ने तो सं० 'ण' और 'न' ध्वनि के स्थान पर पै० में 'ल' और 'ञ' होना स्वीकार किया है; जैसे—भणति ＜ भलति, ध्वनति ＜ ध्वलति, कनकं ＜ कञकं, वर्ण ＜ वञ्ञ। परन्तु 'राजन्' शब्द से संबंधित 'ज्ञ' ध्वनि के स्थान पर 'ञ्ञ' या 'ञ्ज' होना वैकल्पिक ही माना गया है। अतः सं० राज्ञो धनम् ＞ पै० राचिञो धनं। वररुचि १०।१२ तथा पुरुषोत्तम १९:२२ के अनुसार 'राज्ञः' के स्थान पर पै० 'राचिनो' होगा। सं० के 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर पै० में 'तून' हो जाना प्रायः सभी वैयाकरणों ने माना है। सं० 'गत्वा', 'पठित्वा' पै० में 'गन्तून' और 'पठितून' हो जाते हैं। (दे० वररुचि १०।१३ हेमचन्द ४।३१२ पुरुषो० १९।२१)। परन्तु जहाँ संस्कृत का 'क्त्वा' प्रत्यय 'ष्ट्वा' के रूप में बदल जाता है वहाँ हेमचन्द्र (४।३१३) के अनुसार 'द्धून' और 'त्थून' हो जाते हैं। जैसे 'नष्ट्वा' 'नद्धून' और 'नत्थून' हो जाता है। 'हृदय' के स्थान पर 'हितअक' और 'हितपक' दोनों मिलते हैं। 'प्राकृतप्रकाश' १०।१४ और 'संक्षिप्तसार' के अनुसार 'हितअकं' तथा हेमचन्द्र ४।३१० और पुरुषोत्तम १९।१८ के अनुसार 'हितपकं' मिलता है। हेमचन्द्र (४।३०८) ने पैशाची में 'ल' के स्थान पर वैदिक 'ळ' होने का उल्लेख किया है। संस्कृत के 'शील', 'कुल', 'जल' और 'सलिल' पै० में 'सीळ', 'कुळ', 'जळ' और 'सळिळ' हो जाते हैं। इसी ध्वनि के कारण हार्नले ने कहा था कि जब अनार्यभाषाभाषी आर्यभाषा बोलना सीख रहे होंगे तभी की यह भाषा पैशाची है। पुरुषोत्तम देव (२०।२६) के अनुसार 'ल' के स्थान पर रेफ हो जाता है। मार्कण्डेय ने भी पाञ्चाली पैशाची और शौरसेनी पैशाची में इसी प्रकार का भेद किया है। हेमचन्द्र (४।३०९) के अनुसार तालव्य और मूर्द्धन्य 'श', 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' हो जाता है। इसके अनुसार शक्तः ＞ सक्को; विषमः ＞ विसमो होता

है। पर, पुरुषोत्तम (२०।२७) के अनुसार मूर्धन्य और दंत्य 'ष', 'स' के स्थान पर शौरसेनी पैशाची में तालव्य 'श' हो जाता है। किंतु संस्कृत के मूर्धन्य 'ट' ध्वनि के स्थान पर पै० में 'त' होना, जैसे-'कुटुम्बकं' का 'कुतुम्बकं', यह बताता है कि पैशाची में मूर्धन्य और तालव्य 'ष', 'श' के स्थान पर दंत्य 'स' ही होगा। हेम० (४।३१५) के अनुसार संस्कृत के 'क्य' प्रत्यय के स्थान पर प० में 'इय्य' हो जाता है। संस्कृत के 'गीयते', 'दीयते', 'पठ्यते' के स्थान पर पै० में 'गिय्यते', 'दिय्यते' तथा 'पठिय्यते' हो जाता है। 'यादृश्', 'तादृश्' जैसे 'दृश्' अन्तवाले शब्दों के 'दृ' वर्ण में से लुंठित ध्वनि निकल जाती है और उसके स्थान पर 'इ' ध्वनि रह जाती है तथा 'द' के स्थान पर 'त' हो जाता है। हेम० ४।३१७ के अनुसार संस्कृत के 'यादृश्', 'तादृश्' और 'कीदृश्' पैशाची में 'यातिसो', 'तातिसो' और 'केतिसो' हो जाते हैं। वररुचि (१०।११) के अनुसार शौरसेनी 'ज्ज' ध्वनि के स्थान पर पैशाची में 'च्च' हो जाता है; अतः सं० कार्यं 7 शौर० 'कज्जं' 7 पै० 'कच्चं'।

पुरुषोत्तम के 'प्राकृतानुशासन' (१९।२०) के अनसार सं० 'क्वचित्' पै० में 'कुपचिः' हो जाता है। हेम० (४।३२१) के अनुसार पंचमी के एकवचन में अर्थात् अपादान के एकवचन में 'तसिल्' प्रत्ययांत अकारांत शब्दों से परे 'आतो' और 'आतु' होता है, जैसे—सं० दूरतः > पै० तूरातो, तूरातु; त्वत्तः > तुमातो, तुमातु; मत्त : > ममातो, ममातु हो जाते हैं। संस्कृत 'तेन' और 'अनेन' दोनों के स्थान पर पै० में 'नेन' ही रह जाता है। इसी प्रकार सं० 'अनया' के स्थान पर 'नाए' होता है। पुं० में 'तत्थ च नेन कतसिनानेन' और स्त्री० में 'पूजितो च नाए पातग्ग कुसुमप्पातनेन' प्रयोग मिलते हैं। पुरुषोत्तम देव के अनुसार कैकय पैशाची में सं० 'पृथिवी' का 'पुथुमी' या 'प्रथुमी', 'गृहकं' का 'किहकं' होता है और शौरसेनी पैशाची में 'च' स्पष्ट तालव्य नहीं रह जाता। 'क्ष' के स्थान पर 'श्क', 'च्छ' के स्थान पर 'श्च', 'थ' के स्थान पर 'स्त' और 'स्त' के स्थान पर 'थ' हो जाता है। 'कृत', 'मृत' और 'गत' का क्रमशः 'कड' 'मड' और 'गड' हो जाता है। 'अधुना' 'अहुणा' बना रहता है।

धातुरूपों पर ध्यान देने पर पता चलता है कि वर्तमान काल के प्रथम पुरुष (third person) में 'तिङ' विभक्ति के 'त' का लोप या 'द' न होकर, चाहे आत्मनेपद हो या परस्मैपद, 'ति' ही रह जाता है। उदाहरणार्थ—सं० उद्धाति > शौ० प्रा० वसुआइ > पै० वसुआति; शौर० प्रा० भोदि > पै० भोति। परन्तु अकारांत धातु से परे आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों के रूप देखे जाते हैं, जैसे—गच्छते, गच्छति; लपते, लपति। भविष्यत् काल में संस्कृत के 'ष्य' प्रत्यय का शौ० प्राकृत में 'स्मि' हो जाता है पर पै० में 'स्सि' न होकर केवल 'एय्य' ही रह जाता है। पुरुषोत्तम देव के अनुसार 'भू' धातु के स्थान पर कैकय पैशाची में 'हु' और 'हुव' आदेश होते हैं, किंतु 'संक्षिप्तसार' के अनुसार 'फो' और 'फुर' होते हैं, यथा—सं० भवति 7 पै० फोति, फुरति। हेम० (४।३२०) के अनुसार सं० 'भविष्यति' के स्थान पर 'हुवेय्य' होता है, जैसे—'तं तद्धून चिन्तितं रञ्ञा का एसा हुवेय्य' (सं० तां दृष्ट्वा चिन्तितं राज्ञा का एषा भविष्यति)। परन्तु 'हुवेय्य' का संबंध 'भवेत्' से अधिक लगता है। हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल चरित' के अन्त में अपनी इसी पैशाची को समझाने के लिए छः श्लोकों का भी निर्माण किया है। लेख के कलेवर की वृद्धि के कारण उन्हें

उद्धृत करना उचित नहीं। पुरुषोत्तम के अनुसार कैकय पैशाची में 'पक्ष्म' और 'सूक्ष्म' के स्थान पर 'पखं' और 'सुखं' हो जाते हैं। 'संक्षिप्तसार' के अनुसार सं० 'यूयम्' का पै० में 'तुम्फ' तथा 'वयं' का 'अम्फ' हो जाता है। 'संक्षिप्तसार' पैशाची के लिए भी लोक को ही प्रमाण मानता है, इसी कारण 'दुर्गा' का 'कुक्का', 'भूत' का 'फूत' हो जाता है। हेम० (४।३२४) के अनुसार उसके 'प्राकृत व्याकरण' में बताए १।१७७ से १।२६५ तक के नियम पैशाची में नहीं लगते। अर्थात् पैशाची में क, ग, च, ज, त, द, प, य, व का लोप नहीं होता तथा और भी प्राकृत में सामान्यतया होने वाले बहुत से विकार न होकर संस्कृत के समान ही रह जाते हैं। इसीलिए कई वैयाकरणों ने शौरसेनी और संस्कृत दोनों को पैशाची की प्रकृति कहा है।

यदि संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत तथा पैशाची की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो उनका संबंध स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। इस ध्वनि-अध्ययन के आधार पर परवर्ती आर्यभाषाओं पर पैशाची का प्रभाव भी ढूँढ़ा जा सकता है। प्राकृत के शब्दों के साथ पैशाची के प्राप्त शब्द समूह का यदि अध्ययन किया जाय तो आधुनिक-आर्यभाषाओं के प्रति मध्यकालीन भाषाओं की एक बहुत बड़ी देन स्पष्ट विदित हो जायगी।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में निम्नलिखित प्रश्न स्वभावतः उठ खड़े होते हैं —

१. इसका नाम 'भूतभाषा' क्यों पड़ा—देश या जाति से संबंधित होने के कारण या उस भाषा की किसी विशेषता के कारण? २. यह कब की और कहाँ की भाषा थी? ३. कितने प्रकार की पैशाची भाषाएँ थीं? ४. क्या इसमें साहित्य रचा भी गया था? यदि रचा गया तो उसका लोप क्यों हो गया? ५. पैशाची भाषा की प्रकृति क्या मानी जाय? ६. पैशाची के शब्दों के रूपों के संबंध में विभिन्न वैयाकरणों में मतभेद का कारण क्या है? आदि। इन प्रश्नों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

विनयमोहन शर्मा

ओरॉंव-शब्दावली

ओरॉंव द्रविड़ भाषा की मध्यवर्ती शाखा की एक बोली है। इसे कुरुख भी कहते हैं। यह मध्यप्रदेश के दक्षिण-पूर्वी ज़िलों, बिहार और उड़ीसा के सीमावर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या ११ लाख के लगभग है। ओरॉंव नामक आदिवासी जाति की यह मुख्य बोली है। इस पर तमिष् (तमिल) का अधिक प्रभाव कहा जाता है। इसके कई रूप हैं। जो रूप रायगढ़ के अंचल में प्रचलित है उस पर तमिष् का अधिक प्रभाव परिलक्षित नहीं होता।

यद्यपि ओरॉंव की गणना अनुसूचित जातियों में की गई है, तो भी यह जाति हिन्दू-धर्मावलम्बी अधिक है। इसने हिन्दुओं के प्रायः सभी संस्कार अपना लिये हैं। परन्तु आदिवासी होने के कारण जादू-टोना और विभिन्न अन्धविश्वासों में इसकी आस्था बनी हुई है। इनके जाति-गोत्र भी विचित्र होते हैं; यथा—एक्का (कछुआ), मिनकी (मछली), वाघ, खोएय (कुत्ता) आदि। आर्यसंस्कारों को अधिकाधिक अपनाते जाने के कारण इनकी भाषा भी आर्य-भाषाओं से उत्तरोत्तर प्रभावित होती जा रही है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का आदिवासियों में प्रचार वढ़ेगा, उनकी बोलियों का मूल रूप लुप्त होता जायगा। अतः उनकी बोलियों का शीघ्र ही पुनर्वीक्षण होना आवश्यक है। भाषा-विज्ञानियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए रायगढ़-जसपुर में प्रचलित ओरॉंव की यह शब्दावली प्रस्तुत है—

हिन्दी शब्द	ओरॉंव शब्द	टिप्पणी
शरीरावयव संबंधी शब्द—		
आँख	खन्न	आँख लगना मिनखेच्च
नाक	मुई	
मुँह	बे	
जीभ	ततखा	
नाखून	ओरोख़	
कान	ख़ेवदा	
घुटना	मूका	
दाँत	पल्ल	तमिष्—पल
भौंह	टेपरा	
पलक	टेपरा	

हाथ	खेक्खा	
दायाँ हाथ	तीना खेक्खा	
बायाँ हाथ	डिब्बा खेक्ख	
पीठ	मेर	
छाती	योख	
हथेली	हथोला	
पंजा	लुरकी	
कलाई	कटकटा	
कोहनी	कोहड़ा	
सिर	कुक्क	
पसीना	गरमरा	संस्कृत—घर्म, मराठी—घाम
रक्त	खेंस	
ज्वर	नड़ी	

समय-सूचक शब्द —

दिन	उल्ला	
रात	माखा	
अँधेरी रात	अंधरी माखा	मराठी—अंधार
उजेली रात	जोनारी माखा	हिन्दी—जुन्हाई
गहरी रात	मंजा माखा	
प्रातः	पहरी	
दोपहर	बिड़ालि	
सूर्यास्त	वेड़ी पुतिया	ओराँव-सूर्य = बेड़ी, पुतिया = अस्त
आज	इन्ना	
आगामी कल	नेल	तमिष्, मलयालम में भी इसी शब्द का प्रयोग कुछ भिन्न उच्चारण के साथ होता है।
बीता कल	चेरो	

पारिवारिक शब्द—

पिता	बा	
आजा	दादी	
माँ	आयो	मराठी—आई
बहिन	माई, दीदी	
छोटी बहन	सन्नी माई	

बड़ी बहन	कोंहा माई	ओराँव—कोंहा = बड़ा
भाई	दादा	
बड़ा भाई	कोंहा दादा	
छोटा भाई	सन्नी दादा	ओराँव—सन्नी = छोटा
बेटी	बेटी	
मामा	मामा	
मामी	मामी	
पुरुष	आलस, मंजस	
स्त्री	मुक्का	
बूढ़ी स्त्री	पच्चो	
बूढ़ा पुरुष	पचगी	
भाभी	भौजी	हिन्दी में प्रचलित
अविवाहित तरुण	कुक्कुस, मल्ला बिझियस	
विवाहित तरुण	विझियस	
बालक	खद्द	पशु के बच्चे को भी खद्द कहते हैं।
पति	डोका	
पत्नी	डोकी	
दामाद	जमई	
बुआ	फुफू	
नाना	नाना	
काका	काका	
काकी	खल्ली	क्या इसका 'खाला' से कोई सम्बन्ध है? व्यापक aunt के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।

पशु-पक्षी संबंधी शब्द—

बैल	अड्डो	
गाय	माई अड्डो, गाय	
कुत्ता	अल्ला	कुत्ते = बग्गे अल्ला
बिल्ला	बेरखा	बिल्ली = माई बेरखा
बछड़ा	खद्द	
बकरा } बकरी }	ऐड़ा	

हाथी	हाथी	
बाघ	लकड़ा	
सुअर	सुअर	
तोता	सुग्गा	
कौवा	खाखा	तमिष्--काक्कै
चूहा	उसगा	
पूँछ	खोला	
घोड़ा	घोड़ो	
गधा	गधा	
बंदर	बेंदरा	
मुर्गा	कुकरो	संस्कृत—कुक्कुट
मुर्गी	खेर	
मुर्गी का अंडा	बी	
मगर	मगर	
मछली	हंजो	

कीड़े मकोड़े संबंधी शब्द—

कीड़ा	पचगो	तमिष—पूच्चि
खटमल	ढ़ेकणा	मराठी—ढेकुण
मच्छर	भुसड़ी	
मक्खी	तिंगली	
साँप	नेर	
बिच्छू	बिच्छी	
चींटी	पोख़ (चीटा = डौ पोख़)	

खाद्य पेय संबंधी शब्द—

रोटी	अस्मा
दाल	अमुखी
शाक भाजी	उख़ा मुखी
भटा	भटांगो
भात	मंडी
धान	खेस
पुराना धान	कच्चा खेस
नया धान	पूना खेस
गेहूँ	गेहूँ

चना	चना	
मूंग	मूंग	
उड़द	मासी	
तुअर	अड़सग	
महुए की शराब	अरखी	
धान की शराब	झारा	
तमाखू	तमखू	
नमक	बेख	
इमली	तिताली	
बेर	बिरी	
पानी	अंब	संस्कृत—अम्बु
पपीता	पपीता	
जामुन	जम्बू	
नीबू	लिमाउ	
चार (गीली चिरौंजी)	किट्टी	
चिरौंजी (बीजे)	चिरौंजी	
अमरूद	बिही	
आम	तटखा	
महुआ	मदगी	
पान	बीरा, पान	
अग्नि	चिच्चि	

कृषि-संबंधी शब्द —

भूमि	खेखे, धरती	
खेत	खल	खेत की पाल=पिंडी
नागर (हल)	उगता	
मिट्टी	खज्ज	
खाद	खातू	खड़ी हिन्दी—खाद, छत्तीसगढ़ी-लरिया, उड़िया—खातू
झोपड़ी	कुड़िया	हिन्दी—कुटी
घर	ऐड़पा	
तालाब	तरई	
कुंवा	चुंवा	
नदी	खाड़	

नाला	नरवा	पूर्वी हिन्दी—नरवा
गाँव	पद्दा	
वर्षा-जल	चेंप	
पत्ता	अतखा	
झाड़	मन्न	
कली	डोंहड़ी	
फूल	पूप	संस्कृत—पुष्प
दीपक	बिल्ली	

रंग-संबंधी शब्द —

सफ़ेद	पंडरु	सं० पांडुर, मराठी—पांढरा
काला	मुखारो	
पीला	पीला	
नीला	बदाली	
हरा	हरा	
लाल	खेंसो	

विविध शब्द —

ओझा	देवड़ा
भूत	नाथ
कपड़ा	किचरी
धोती	धोती किचरी
लुगड़ा	बरहाती किचरी
टोपी	टोपी
कुरता	कुरता
कोट	कोट
ऊँचा	मेच्छा
नीचे	किया
ऊपर	गईयाँ
खट्टा	खट्टा
मीठा	मीठा
पुस्तक	मेंजा
मैं	ऐन
वह	होटीम
तुम	निनगा

आयु	ओरघ	
नमस्कार	जोहार	
बैठना	उक्का	तमिष्—उक्का
उठना	चुआ	
आया	बरचस, (आयेगा = बरोस)	
जाना	कऔत (जायेगा = कऔस)	
मारना	लौचकम	
मार डालना	मिटकम चिचकम	
मर जाना	बिचस किरस	
रोना	चेखाल	
हँसना	अलखाल	
मिट्टी से सर धोना	खज्ज	
पानी में डूबना	मुल्ख	
सड़ना	खोस	
पकाना	पंजका	
सूर्य	बेड़ी	
तारा	बीन को	
चाँद	चंदो	

इस बोली में बहुवचन बनाने के लिए शब्द के पूर्व 'बग्गा' जोड़ना पड़ता है जिसका अर्थ एक से अधिक होता है। उदाहरणार्थ—'बेरखा' (= बिल्ली) के पहले 'बग्गा' जोड़ देने से 'बग्गा-बेरखा' शब्द 'बिल्लियाँ' का अर्थ देता है। जिन शब्दों का स्त्रीलिंग रूप नहीं होता, उनके पूर्व 'माई' शब्द जोड़ देने से उनके स्त्रीलिंग रूप बन जाते हैं, उदाहरणार्थ—'अल्ला' (कुत्ता) के पूर्व 'माई' जोड़ देने से 'माई अल्ला' अर्थात् 'कुतिया' का बोध हो जाता है।

इस बोली में हिन्दी में प्रचलित संख्यावाचक तथा नापतोल के शब्द प्रचलित हैं। एक के लिए 'बनटा' का प्रयोग यदा-कदा कर दिया जाता है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में 'आण्डु' का प्रयोग होता है। आर्यों से अत्यधिक सम्पर्क के कारण अनेक पारिवारिक शब्द भी आर्य-भाषाओं से ले लिये गये हैं।

रायगढ़-अंचल के ओराँव त्रिभाषी हैं। वे ओराँव के साथ छत्तीसगढ़ी और खड़ी बोली क्रमशः बोलते और समझते हैं। उन्हें 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' सिद्धान्त की हवा नहीं लगी। उनका ज्यों-ज्यों नगर से सम्बन्ध बढ़ता जाता है, वे अपनी भाषा की अपेक्षा शहरी 'हिन्दी' की ओर अधिक झुकते हैं। इस बोली का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।

●

गॉर्डन एच्० फ़ेयरबैंक

हिंदी में कारक

कामताप्रसाद गुरु, केलॉग और शॉल्बर्ग कृत केलॉग के संक्षिप्त रूप हिंदी के प्राचीनतर व्याकरणों में कहा गया है कि संस्कृत के अनुरूप हिंदी में कारक के आठ रूप हैं। होनिग्स्वाल्ड की 'स्पोकेन हिंदुस्तानी' और शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसंधान संबंधी मंत्रिमण्डल द्वारा प्रकाशित 'अ बेसिक ग्रामर ऑफ़ मार्डन हिंदी' जैसे कतिपय नव्यतर हिंदी व्याकरणों में कहा गया है कि हिंदी में कारक के कर्त्ता और विकारी दो रूप होते हैं। विषय-निरूपण में परिवर्तन इस परिणति को प्रदर्शित करता है जो परंपरित व्याख्या की जगह आधुनिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में प्रयुक्त विश्लेषणात्मक सिद्धांतों पर आधारित है। व्याख्या संबधी इस परिवर्तन में सन्निविष्ट कारण प्रतीपमानतः नहीं बताये गये हैं और इस लेख का आशय उन कारणों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना है।

१. प्रचीनतर व्याख्या स्पष्टतः हिंदी को संस्कृत के अनुरूप बताने का प्रयास है, बिना यह ध्यान दिये कि यह विवरण हिंदी के उपयुक्त है अथवा नहीं। एक रूप जो कि हिंदी की वाक्य-रचना में संस्कृत के विशिष्ट कारक के रूप में प्रयुक्त होता है, हिन्दी का वही विशिष्ट कारक कहा जाता है। यह सिद्धान्त हिंदी में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। पहले एक ही रूप दो भिन्न कारकों के संदर्भ में आता है, जैसे 'लड़के को' सम्प्रदान और कर्म दोनों कहा जाता है। दूसरे दो भिन्न रूपों को एक ही कारक कहा जाता है, यथा 'लड़का' और 'लड़के' दोनों कर्त्ता कहे जाते हैं। तीसरे 'घर को' और 'घर तक' दो रूपों में ये दोनों रचना में एकरूप हैं, प्रथम को कारक रूप कहा जाता है तथा द्वितीय को उपसर्गात्मक प्रत्ययानुगामी संज्ञा कहा जाता है।

२. नवीनतर व्याख्या के अनुसार हिंदी को कर्त्ता और विकारी दो रूपों वाला समझा जात है, जैसे निम्नांकित है—

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता-	घर	घर	लड़का	लड़के	किताब	किताबें
विकारी-	घर	घरों	लड़के	लड़कों	किताब	किताबों

इनमें हिंदी की किसी एक संज्ञा में चारों संभव रूपों में पारस्परिक स्पष्ट अंतर नहीं दिखाई देता, केवल एक या दूसरी संज्ञा को छोड़कर छः सम्भव वैसादृश्यों के स्वरूप में सदैव अंतर होता है: कर्त्ता एकवचन—विकारी एकवचन; कर्त्ता एकवचन—कर्त्ता बहुवचन; कर्त्ता एकवचन—विकारी बहुवचन; विकारी एकवचन—कर्त्ता बहुवचन; विकारी एकवचन—

विकारी बहुवचन; कर्त्ता बहुवचन—विकारी बहुवचन। का, से, ने, तक इत्यादि समस्त रूप परसर्ग अर्थात् किन्हीं अन्य रूपों से, जिनके साथ वे प्रयुक्त हों, पृथक् मूल रूप समझे जाते हैं। क्यों यह व्याख्या हिंदी के ढाँचे को प्राचीनतर परंपरित व्याख्या की अपेक्षा श्रेष्ठतर रूप में प्रदर्शित करती है, इसके चार कारण हैं—

२. (१) का, से, ने, तक आदि को हिंदी में पृथक् मूल रूप मानने का प्रथम कारण हिंदी के बल देने के ढंग पर निर्भर है। शर्मा कहते हैं कि "यदि किसी शब्द में एक से अधिक दीर्घ स्वर हैं, तो अंतिम से पूर्व (उपांत्य) यदि दीर्घ है, तो उस पर बलाघात होता है।" यदि 'का' इत्यादि को संज्ञा के साथ संयुक्त किये गये कारक की विभक्ति के रूप में एक अकेला शब्द समझा जाय तो बलाघात का यह नियम लागू नहीं होगा, क्योंकि संज्ञा पर बल देने की स्थिति पर 'का' इत्यादि के योग से कोई प्रभाव नहीं होगा। 'लड़का' और 'बंदर' संज्ञाओं में, दोनों के दो दीर्घ अक्षरों से निर्मित होने के कारण, सर्वाधिक बल प्रथम अक्षर पर पड़ता है लेकिन जब 'का' इत्यादि जोड़कर 'लड़के का' और 'बंदर का' रूप बनाये जाते हैं तो बल स्थिर रहता है, यद्यपि शर्मा के नियमानुसार हम प्रत्याशा करते कि बल-'के' और-'दर' पर होगा यदि इनके रूप अकेले होते। अतः हम मान लेते हैं कि ये दोनों अपने बीच के उन्मुक्त संधिस्थल सहित दो मूल रूप हैं और इस दशा में शर्मा का बलाघात का नियम तब भी प्रयुक्त होता है।

२. (२) परसर्गों को पृथक् मूलरूप समझाने का दूसरा कारण यह भी है कि परसर्ग के पूर्व की संज्ञा पहले ही से कारक-चिह्नित होती है और यदि पूर्ण संहति को एक अकेला रूप समझा जाय तो विभक्ति दोहरी हो जाती है, विकारी संबंध कारक, विकारी सम्प्रदान कारक आदि। कारक के लिए दोहरी विभक्ति स्वीकार करना अलंघ्य कठिनाई नहीं है और कुछ भारतीय भाषाओं को समझने का यह बहुत सुगम ढंग है। किंतु इस तथ्य पर दूसरे तथ्यों के साथ विचारने पर यह मानने के लिए कारण मिलता है कि हर प्रकार के परसर्ग अपने मूल रूप में पृथक् हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि परसर्गों के पूर्ववर्ती संज्ञा के मूल रूप का रूप-ग्राम समझने का कोई प्रयास करना संतोषजनक नहीं है; क्योंकि 'खल का' और 'घरों का' या 'लड़के का' और 'लड़कों का' के बीच का वैसादृश्य केवल 'शून्य' और 'ओं' के बीच के अन्तर तथा 'ए' और 'ओं' के बीच के अंतर द्वारा प्रतयमानतः निर्दिष्ट होता है, एवं इस वैसादृश्य की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या 'ए' तथा 'ओं' रूपों (morphemes) को क्रमात् विकारी एकवचन तथा विकारी बहु-वचन का सांकेतिक चिह्न समझना है। 'लड़के' और 'लड़कों' को उसी आकृति (morpheme) के रूप-ग्रामों (allomorphs) के समान समझने की वैकल्पिक व्याख्या एक प्रतीयमान रूप-ग्राम संबंधी अंतर समझने में फलित होगा और फिर एकवचन और बहुवचन का अंतर लक्षित करने के लिए कुछ भी शेष न रहेगा।

२. (३) परसर्गों को पृथक मूल रूप समझने का तीसरा कारण उन रूपों पर आधारित है जिनमें कि ये परसर्ग जुड़ सकें। यदि हम परसर्ग-युक्त एक रूप को अकेला कारक रूप समझें तो हम इस प्रकार के समस्त रूपों को कारक-चिह्नित संज्ञाओं के रूप में विभाजित करते हैं।

इसका अर्थ यह होगा कि 'यहाँ का' संबंधकारक-संज्ञा है और 'यहाँ' संज्ञा के रूप में वर्गीकृत होगा। इससे भी निकृष्टतर, 'अब तक की भाषा' में से 'अब तक की' मुहावरा कारक-चिह्नित संज्ञा होगा और 'अब तक' को संज्ञा के रूप में वर्गीकृत करना होगा। 'यहाँ' अथवा 'अबतक' को संज्ञा के रूप में समझना असंभव नहीं है, किन्तु यह स्पष्ट है कि संरचनात्मक रूप में ये रूप 'लड़का' जैसी संज्ञा से भिन्न हैं और हमारे अन्य साक्ष्यों के साथ विचारने पर, समस्त परसर्गों को पृथक् मूल रूपों के समान समझने के लिए भी एक कारण की भाँति प्रयुक्त हो सकते हैं।

२. (४) 'का' आदि को पृथक् मूल रूप समझने का एक इतर कारण उनका पार्थक्य है अर्थात् वे उस संज्ञा से पृथक् किये जा सकते हैं जो उन पर आश्रित हैं। निम्नलिखित वाक्य का निर्दिष्ट अंश इसका एक अच्छा उदाहरण है[६]—

'भारत में **संथालों इत्यादि की** कोल भाषाएँ इसी कुल में गिनी जाती है।' यहाँ 'की' को 'संथालों', जिससे यह पृथक् है, संलग्न होना चाहिए। इसी के सदृश निम्नलिखित उदाहरण हैं—

'आरमीनियन भाषा **यूरोप** और **एशिया** की भाषाओं के बीच में है।' इस बार 'की' एशिया के साथ आया है और यूरोप, जिसके साथ भी यह संबद्ध है, से अलग है। यदि इन उदाहरणों की व्याख्या संबंधकारक के समान की जाय, तो हमें कहना पड़ेगा कि 'इत्यादि' एक संज्ञा है और तो भी विकारी रूप 'संथालों' स्पष्टतया 'की' पर अवलंबित है, और दूसरे वाक्य में यूरोप कारक-चिह्नित नहीं है, तो भी यह स्पष्टतः परवर्ती 'की' पर निर्भर है। प्रस्तुत साक्ष्य पर ध्यान रखते हुए सरलतम हल 'का', 'से', 'तक', 'ने', 'में' प्रभृति समग्र रूपों को परसर्ग कथित पृथक् मूल स्वीकार करना है, कुछ को कारकांत विशेषता देना एवं अन्यों को न प्रदान करना, नहीं है। इस प्रकार कारक शब्द दो कारकों—कर्त्ता एवं विकारी—तक सीमित किया जा सकता है। परसर्ग मुख्यतया एक आकृति वाला रूप है, किंतु 'का' दो आकृतियों———वाला रूप है जो मूल क-और चिह्न-आ, ई, ए से विनिर्मित है—वही चिह्न जो कि विशेषण में संयुक्त होते हैं। यह निम्नलिखित तुलना द्वारा भली प्रकार प्रकट है—

बड़ा घर	लड़के का घर
बड़ी किताब	लड़कों की किताब
बड़े घर से	लड़के के घर से
बड़े घर	लड़के के घर
बड़े घर से	लड़के के घर से

यहाँ 'कि', 'का', 'की', 'के' रूप तद्रूप रचनाओं में घटित होते हैं जिनमें कि 'बड़ा', 'बड़ी', 'बड़े' घटित होते हैं। 'का' न केवल लाक्षणिक ढग की रचनाओं में, जिनमें कि विशेषण संघटित होते हैं, विघटित होता है, वरन् वह विधेयात्मक ढंग से भी प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ—

वह बड़ा है। वह सोने का है।

इस बनावट का एक अच्छा उदाहरण अधोलिखित है—
"तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की है।"

इस प्रकार मल 'क' में, उसकी पूरी रचना में विशेषण-अर्थ घटित करने के लिए, विशेषण प्रतिचिह्नित रूप जोड़कर 'का', 'की', 'के', बनाये जाते हैं।

इस लेख के शेष वाक्यों के उदाहरण उचित रूप से डा० धीरेन्द्र वर्मा के 'हिंदी भाषा का इतिहास' से चुने गये हैं।

उदय नारायण तिवारी

भोजपुरी के ध्वनि-ग्राम

'भोजपुरी भाषा और साहित्य' में मैंने भोजपुरी ध्वनियों (Phones) का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस लेख में उसके ध्वनि-ग्रामों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन के लिए लेखक स्वयं सूचक (Informant) है। इन ध्वनि-ग्रामों का क्षेत्र मोटे तौर पर पश्चिमी बिहार तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश है।

१. भोजपुरी के ध्वनिग्राम निम्नलिखित हैं —

क. व्यञ्जनीय (३१)

		ओष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	काकल्य
अवरोधी	स्पर्श	प्	त्	ट्	च्	क्	
		फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्	
		ब्	द्	ड्	ज्	ग्	
		भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्	
	संघर्षी		स्				ह्
अनवरोधी	नासिक्य	म्	न्	×	ञ्	ङ्	
	कम्पन-जात		र्				
	ताडन-जात			ड़्			
	पार्श्विक		ल्				
	अर्धस्वर	व्			य्		

ख. स्वरीय (१०)

	अग्र अवृत्ताकार	मध्य अवृत्ताकार	पश्च वृत्ताकार
संवृत	इ		उ
अर्ध संवृत	एं	ऽ	ओं
विवृत	एं	अ	औं

(ग) अतिखण्डीय ध्वनिग्राम (Supra-segmental Phonemes) (i) दीर्घता (Length) (ii) अनुनासिकता (Nasalisation) यथा—। बास।, । बाँस।

१. उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार भोजपुरी—व्यञ्जन इस प्रकार हैं—स्पर्श (२०), संघर्षी (२), नासिक्य (४), कम्पन-जात (१), ताडन-जात (१), पार्श्विक (१),

अर्धस्वर (२)। उच्चारण-स्थान के अनुसार ये व्यञ्जन इसप्रकार हैं—द्वयोष्ठय (६) वर्त्स्य (८) मूर्धन्य (५), तालव्य (६), कण्ठ्य (५), काकल्य (१)। उच्चारण के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि भोजपुरी में वर्त्स्यस्पर्शों का उच्चारण ज़रा आगे से होता है। इनका उच्चारण-स्थान वस्तुतः वर्त्स्य तथा दन्त्य के बीच में है। इसीप्रकार भोजपुरी के मूर्धन्यों में मूर्धन्य भाव कम मात्रा में मिलता है।

स्पर्श

।प्।	:	[प्]	द्वयोष्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।पाग्।	
।फ्।	:	[फ्]	,,	,,	महाप्राण	।फाग्।	
।ब्।	:	[ब्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।बाग्।	
।भ्।	:	[भ्]	,,	,,	महाप्राण	।भाग्।	
।त्।	:	[त्]	वर्त्स्य	अघोष	अल्पप्राण	।तान्।	
।थ्।	:	[थ्]	,,	,,	महाप्राण	।थान्।	
।द्।	:	[द्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।दान्।	
।ध्।	:	[ध्]	,,	,,	महाप्राण	।धान्।	
।ट्।	:	[ट्]	मूर्धन्य	अघोष	अल्पप्राण	।टाट्।	
।ठ्।	:	[ठ्]	,,	,,	महाप्राण	।ठाट्।	
।ड्।	:	[ड्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।डाट्।	(सीमेंट से ईंटें जोड़ना)
।ढ्।	:	[ढ्]	,,	,,	महाप्राण	।ढाठी।	(दो डंडों के बीच गर्दन दबाकर प्राण ले लेना।)
।च्।	:	[च्]	तालव्य	अघोष	अल्पप्राण	।चाक्।	
।छ्।	:	[छ्]	,,	,,	महाप्राण	।छाक्।	(देवी के लिए एक प्रकार का शर्बत)
।ज्।	:	[ज्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।जट्।	(जटा)
।झ्।	:	[झ्]	,,	,,	महाप्राण	।झट्।	(जल्दी)
।क्।	:	[क्]	कण्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।कोरा।	
।ख्।	:	[ख्]	,,	,,	महाप्राण	।खोरा।	(पात्र विशेष)
।ग्।	:	[ग्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।गोरा।	
।घ्।	:	[घ्]	,,	,,	महाप्राण	।घोड़ा।	

संघर्षी

।स्।	:	[स्]	वर्त्स्य	अघोष	महाप्राण	।साथ्।
।ह्।	:	[ह]	काकल्य	सघोष	,,	।हाथ्।

नासिक्य

।म्।	:	[म्]	द्वयोष्ठ्य	सघोष	अल्पप्राण	।मान्।

।न्।	:	[न्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।नाम्।	
।ञ्।	:	[ञ्]	तालव्य	,,	,,	।सञा।	(पति)
।ङ्।	:	[ङ्]	कण्ठ्य	,,	,,	।भाङ्।	

कम्पन-जात

।र्।	:	[र्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।फेर्।	

ताडन-जात

।ड़्।	:	[ड़्]	मूर्धन्य	सघोष	अल्पप्राण	।फेड़्।	(पेड़)

पार्श्विक

।ल्।	:	[ल्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।माल्।	(पशु)

अर्धस्वर

।व्।	:	द्वयोष्ठ्य	सघोष	।परवाह्।	
।य्।	:	तालव्य	,,	।करिया।	(काला)

स्वर

१.२. जिह्वा की ऊँचाई, उसके स्थान एवं होठों की स्थिति (वृत्ताकार, स्वल्प वृत्ताकार तथा पूर्ण उन्मुक्तता) के कारण, स्वरों के उच्चारण में वैषम्य आ जाता है। इस सम्बन्ध में भोजपुरी में उपलब्ध तथ्य नीचे दिये जाते हैं—

अग्र-अवृत्ताकार

।इ।	संवृत	(उच्च)	।बिना।	
।ई।		,,	।बीना।	
।ए॑।	अर्धसंवृत	(मध्य)	।बे॑नाम्।	
।ए।		,,	।बेना।	(पंखा)
।ऐ॑।	विवृत	(निम्न)	।बै॑नामा।	
।ऐ।		,,	।बैना।	

मध्य-अवृत्ताकार

।ऽ।	अर्धसंवृत	(मध्य)	।फ्ऽन्।	(जैसे 'फ्ऽन्' से जल जाना)
।ऽ:।	,,	,,	।फ्ऽ:न्।	(फन्दा)
।अ।	विवृत	(निम्न)	।हलचल्।	
।अ:।	,,	,,	।ह्अ:ल्।	(नमी)

पश्च-वृत्ताकार

।उ।	संवृत	(उच्च)	।खुन्।	('खुन् खुन्' में)
।ऊ।	,,	,,	।खून्।	

। ओं ।	अर्ध	(मध्य)	। दोंस् ।	(दोस्त)
। ओ ।	,,	,,	। दोस् ।	(दोष)
। ऑं ।	विवृत	(निम्न)	। कौंन् ।	(चावल का कण)
। ऑं ।	,,	,,	। कौंन् ।	(कन्द)

सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति

२. भोजपुरी में अक्षर का आरम्भ स्वर या व्यञ्जन से होता है। आरम्भ में व्यञ्जन संयोग सम्भव नहीं है। भोजपुरी में सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति निम्नलिखित है—

(स) व स व (व) — अनन्त; (स) व स व स (स) — अतना
(स) स व व स (स) — आत्मा; (स) व स व व स (स) — अवस्था

सम्भावित असम स्वर-संयोग

२.१ भोजपुरी में 'सम्भावित असम स्वर संयोग' के निम्नलिखित रूप उपलब्ध हैं—

अइ	— पइसा	(पैसा);	अउ	— कउआ	(कौआ)
इअ	— दिअरी	(छोटा दीपक);	उअ	— पुअरा	(पुआल)
ओंअ	— धोंअल्	(धोया हुआ);	एआ	— सेंआन्	(सयाना)

सम्भावित व्यञ्जन-संयोग

२.२ भोजपुरी के व्यञ्जन-संयोग की तालिका इस निबन्ध के अन्त में संलग्न है। शब्दों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

प्प्—खप्पर्, थप्पड़्; प्फ्—हप्फर्; प्त्—कप्तान्, जप्त्; प्न्—सप्ना; प्ट्—खप्टा; प्च्—खप्चा; प्क्—चप्कन्; प्ल्—घप्ला; प्स्—झप्सी; ब्ब्—रब्बी, कब्बों; ब्भ्—चब्भा; म्ब्—लम्बर; म्म्—अम्मा; म्त्—अम्ता; म्द्—उम्दा; म्ट्—गुम्टी; म्छ्—गम्छा; म्ह्—पम्हा; म्ल्—गम्ला; त्त्—पत्ता; त्थ्—पत्थल; त्क्—कोत्का; द्द्—चद्दरि; द्ध्—बद्धी; न्प्—पन्पल्; न्न्—पन्नी, न्ट्—घन्टा; न्ड्—पन्डा; न्छ्—पन्छी; न्ह्—आन्हर; ट्ट्—पट्टा, ट्ठ्—पट्ठा; ट्क्—फट्का; ड्ड्—गड्डी; च्च्—बच्चा; च्छ्—बच्छा; ज्ज्—लज्जा; ज्झ्—खुज्झा; क्प्—कप्टी; क्त्—चक्ता; क्न्—चक्ना ('चक्नाचूर' में); क्ट्—कक्टा; क्ठ्—पक्ठा; क्च्—फोक्चा; क्क्—मुक्का; क्ख्—अक्खड़; क्स्—बक्सा, भक्सा; ग्त्—मंग्ता; ग्ट्—लंग्टा; ग्ठ्—भग्ठा; ग्ग्—डुग्गी; ग्ल्—बग्ली; र्प्—खर्पा; र्फ्—बर्फी; र्म्—गर्मी; र्द्—गर्दा; र्छ्—बर्छी; र्ज्—दर्जी; र्ग्—गर्ग; र्ह—मार्ह; ड़्ह्—साँड़्ह्; ल्ब्—गल्बा; ल्त्—गल्ता; ल्द्—जल्दी; ल्न्—जल्नी; ल्ट्—पल्टा; ल्क्—गल्का; ल्ह्—माल्ह; स्प्—इस्पात; स्म्—चस्मा; स्त्—जस्ता; स्क्—इस्कूल; स्ख्—मस्खरा; स्स्—मिस्सी।

अन्त्य व्यञ्जन

२, ३. 'ढ्' एवं 'ञ्' के अतिरिक्त भोजपुरी के अन्य सभी व्यञ्जन संवृत अक्षर (closed syllable) के अन्त में सम्भव हैं। इसके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

(१) नाप्, (२) बाफ्, (३) राब्, (४) नाभ्, (५) नाम्, (६) नात्, (७) नाथ् (८) नाद्, (९) बाध्, (१०) बान्, (११) टाट्, (१२) काठ्, (१३) खंड्, (१४) खाँच्, (१५) गाँछ्, (१६) गाज्, (१७) बाझ्, (१८) चाक्, (१९) राख्, (२०) राग्, (२१) बाघ्, (२२) भाङ्, (२३) चाह्, (२४) नार्, (२५) फेड़्, (२६) जाल् (२७) पाव्, (२८) राय्, (२९) पास्।

परिशिष्ट

द्वितीय वर्ण

	प्	फ्	ब्	भ्	म्	त्	थ्	द्	ध्	न्	ट्	ठ्	ड्	ढ्	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	ह्	र्	ड़्	ल्	व्	य्	स्
प्						×				×	×				×					×								×			×
फ्																															
ब्			×	×																											
भ्																															
म्			×		×	×		×			×					×									×			×			
त्						×	×													×											
थ्																															
द्								×	×																						
ध्																															
न्	×									×	×		×			×									×						
ट्											×	×								×											
ठ्																															
ड्													×																		
ढ्																															
च्															×	×															
छ्																															
ज्																	×	×													
झ्																															
ञ्																															
क्	×					×				×	×	×			×					×	×										×
ख्																															
ग्						×					×	×										×							×		
घ्																															
ङ्																															
ह्																															
र्	×	×			×			×								×	×					×			×						
ड़्																									×						
ल्			×			×		×		×	×									×					×						
व्																															
य्																															
स्	×				×	×														×	×										×

पी० सी० गणेशसुन्दरम्

यांत्रिक अनुवाद की कुछ भाषाशास्त्रीय समस्याएँ

[प्रस्तुत निबन्ध में भाषाओं के एक नव विकासमान क्षेत्र का द्रुतसर्वेक्षण तत्सम्बन्धी भाषाशास्त्रीय समस्याओं के विशिष्ट सन्दर्भ में किया जा रहा है।

पिछले विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद शीघ्रता से विकसित होने वाले विज्ञान के नये क्षेत्रों के समान ही, एक ही साथ विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं—जैसे एक ओर भाषा-शास्त्र और दूसरी ओर ऋणाण्विक संगठक (electronic computer) प्रणाली को सुलझाने के लिए अपनी बहुमुखी प्रकृति के कारण अन्वेषण का यह क्षेत्र भी बिलकुल नया है।

आर्थिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र में इस प्रकार के विषय आते हैं—जैसे, मानव के मस्तिष्क-श्रम के लिए व्यय किया हुआ समय और एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने में मनुष्य की मस्तिष्क-प्रणाली के लिए प्रयुक्त यांत्रिक उपमानों द्वारा प्राप्त समय।

यांत्रिक अनुवाद के विस्तार और सीमाओं का भी निर्देश किया गया है।]

मानव प्रयत्न के अधिकतर क्षेत्रों में आनेवाली एक निश्चित प्रकार की क्रान्तिकारी गति को पूर्व युगों की तरह वर्तमान युग की विशेषता के रूप में देखा जा सकता है।

पूर्वकालीन औद्योगिक क्रान्ति ने ऐसी युक्तियों, यंत्रों और इंजिनों को उपस्थित किया जिनसे मानव के शारीरिक श्रम और समय की बचत हुई है। सभी औद्योगिक और मानवीय श्रम के अन्य क्षेत्रों में यंत्रीकरण की क्रान्तिकारी गति का प्रारम्भ हुआ। एक यंत्रीकृत उद्योग में मनुष्य को सदैव यंत्रों की क्रिया को जाँचने और अपनी आवश्यकतानुसार उपज को स्थिर करने की आवश्यकता के समय उस पर नियंत्रण करना पड़ता है। किसी भी कालावधि तक उपज में एकरूपता लाने के लिए उसके प्रति सतर्कता अपेक्षित है। अस्तु, यद्यपि विस्तृत रूप में मनुष्य शारीरिक श्रम से मुक्त हो चुका है, फिर भी, यंत्र को एक सुनिश्चित ढंग से चलाने के लिए उसे पर्याप्त मात्रा में पुनरावर्ती नित्य संकार्यों का निर्वाह करना पड़ता है।

वर्तमान समय के वाणिज्य और उद्योग की अति द्रुत संकुलता के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा पुनरावर्ती नित्य संकार्यों में लगने वाले समय और शक्ति की बचत के लिए प्रयत्न हुए हैं। इस दिशा में इतना विकास हुआ है कि मानव के बिना ही यंत्र स्वतः अपने को नियंत्रित कर सकता है, अपनी उपज का परीक्षण कर सकता है और उपज को पूर्वनिश्चित मात्रा के अनुसार बना

सकता है। इस प्रकार पिछले दशक के मात्र यंत्रीकरण से हम लोग स्वतः संचलन की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं।

इस प्रकार वर्तमान काल के बहुत से व्यापारों में मनुष्य के पुनरावर्ती और नित्य शारीरिक संकार्यों का स्थान यंत्रों ने ले लिया है। मनुष्य के पुनरावर्ती और नित्य मानसिक संकार्यों के विषय में क्या हो? यहाँ तक कि मनुष्य के मानसिक संकार्यों, विशेषतया आंकिक संगणना के क्षेत्र में, यंत्रीकरण और स्वतः संचलन विभिन्न मात्राओं और पूर्णताओं में स्पष्टतया प्रत्यक्ष है।

यंत्रीकरण और स्वतः संचलन के प्रारम्भिक स्तरों से होकर आने वाली मनुष्य की मानसिक क्रिया का अन्तिम क्षेत्र एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना है।

साधारण आंकिक संगणकों से भिन्न, यांत्रिक अनुवाद-यंत्रों में, भाषाशास्त्रीय आधार-सामग्री को एकत्र करने की अपार क्षमता होनी चाहिए, एवं निक्षिप्त भाषाशास्त्रीय सामग्री पर विश्लेषण के विभिन्न प्रकार के संकार्यों को स्वतः संचालित रूप में करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उन्हें प्रत्येक स्तर पर ऐसे संकार्यों के विश्लेषण से प्राप्त परिणामों के आधार पर मूल भाषा के समरूप भाषाशास्त्रीय तत्वों और उपायों का उपयोग लक्ष्य (या अनूद्य) भाषा के लिए करना चाहिए।

ये आवश्यकताएँ ऋणाणविक यांत्रिक पक्ष में सन्तोषप्रद रूप में पूर्ण होने से अभी भी बहुत दूर हैं। समस्त यांत्रिक समस्याओं का हल अधिक मात्रा में अनूद्य तथा अनूदित दोनों भाषाओं की भाषाशास्त्रीय संरचना के ज्ञान पर निर्भर है। किसी सुबोध अनुवाद के लिए एक भाषा के तत्वों और संकार्यों को दूसरी भाषा के तत्वों और संकार्यों के साथ संलग्न करने के ढंग को पहले से ही जानना चाहिए।

अब तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं —

(१) क्या ऐसे यन्त्र की सम्भावना है जिसमें हमारी आवश्यकताओं का निक्षेपण ही नहीं, संकार्यिक क्षमता भी हो?

(२) जब हम यंत्र से प्राप्य अनुवाद की प्रभावशीलता और अधिकतम गति पर विचार करते हैं तो (यंत्र के प्रारंभिक निर्माण और संकार्यिक कार्य के करने में समय और धन की दृष्टि से) क्या ऐसा यन्त्र आर्थिक दृष्टि से ठीक होगा?

(३) कहाँ तक भाषा का यांत्रिक विश्लेषण किया जा सकता है, किस प्रकार की भाषाओं में, किस प्रकार की सामग्री यांत्रिक ढंग से अनूदित की जा सकती है?

इन प्रश्नों के उत्तर सरलतापूर्वक नहीं दिये जा सकते।

प्रस्तुत विचार-विमर्श में हम प्रथम दो प्रश्नों को अपने विचारक्षेत्र के बाहर रक्खेंगे; इसलिए नहीं कि ये महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वरन् इसीलिए कि यहाँ हम लोगों का सम्बन्ध केवल भाषाशास्त्रीय प्रश्नों से है।

यह प्रत्यक्ष है कि काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सामग्री का यांत्रिक ढंग से अनुवाद नहीं हो सकता, क्योंकि इनके एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद के

लिए कुछ तार्किक उपायों की ही आवश्यकता नहीं होती वरन् एक विस्तृत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अपेक्षित होती है। वास्तव में जब तक अनुवादक के पास अपेक्षित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सर्जनात्मक प्रतिभा न हो तब तक किसी मानवीय अनुवादक के द्वारा भी ठीक-ठीक अनुवाद नहीं हो सकता।

इसलिए हमें प्रायः उन तार्किक उपायों से सम्बद्ध वास्तविक सामग्री तक ही अपना ध्यान केंद्रित करना है जो एक निरीक्षण से दूसरे निरीक्षण की ओर युक्तिबद्ध ढंग से अग्रसर करते हैं, जैसा कि प्रायः गणित और प्राकृतिक विज्ञानों में होता है। कोई ऐसी भाषाएँ, जैसे एक भारतीय भाषा और एक अमेरिकी आदिवासी भाषा, जो रूपरचना में भिन्न हैं, और जिनमें साधारण भौतिक अनुभवों तक के प्रकाशन में विभिन्नता है, एक दूसरे से अनुवाद के लिए यांत्रिक स्तर पर नहीं ली जा सकतीं।

इस प्रकार केवल वे ही भाषाएँ शेष बचती हैं जिनकी संरचना थोड़ी बहुत समान है और जिनमें साधारण भौतिक परिस्थितियों से सम्बन्धित अनुभवों के प्रकाशन का ढंग थोड़ा बहुत मिलता-जुलता है। इस प्रकार की किन्हीं दो भाषाओं (उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी, या हिन्दी और मराठी, या तमिल और कन्नड़) के बीच यह प्रश्न रह जाता है कि हम देखें कि यांत्रिक अनुवाद की प्रक्रिया कैसे चरितार्थ हो सकती है।

यदि हम अपने अनुवाद के विषय को समान भाषाओं और विज्ञान के विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित करते हैं, तो भी हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ रह जाती हैं।

प्रथम हम यह अनुभव करते हैं कि कोई दो भाषाएँ पूर्णतया समान नहीं हैं। शब्द के लिए शब्द और मुहाविरे के लिए मुहाविरे को स्थानापन्न कर देने की किसी प्रणाली से हमें अनुवाद नहीं मिल जाता। एक भाषा का एक शब्द दूसरी भाषा के पूरे मुहाविरे के सदृश हो सकता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक भाषा (यथा संस्कृत, हिन्दी, मराठी, या तमिल भाषा) में तो विभक्तियुक्त या संयोगात्मक वाक्य हैं, और दूसरी भाषा (जैसे अंग्रेज़ी या चीनी) में शब्दक्रम के अनुसार वाक्ययोजना हो जाती है।

एक और कठिनाई यह है कि एक भाषा में व्याकरण के ऊपर दिये हुए किन्हीं पक्षों में नियमित रूप से अन्य भाषा में कोई स्थानापन्न प्रणाली नहीं है। उन अवस्थाओं में जहाँ स्थानापन्न शब्द हैं भी वहाँ पूर्ण रूप से कोई ऐसा सादृश्य नहीं है।

इन प्रश्नों के समझने के लिए यह निर्देश कर देना पर्याप्त है कि किसी अनुवाद के लिए मनुष्य सर्वोपयुक्त है, न कि यंत्र।

यांत्रिक अनुवाद में हमारी रुचि उस सीमा तक इस अन्वेषण के प्रयासों में है, जहाँ तक कि हम एक भाषा की भाषाशास्त्रीय संरचना के विश्लेषण की प्रक्रिया को स्वतः संचालित बना सकें। एक बार पुनः इस समस्या को देखने के दो मार्ग हैं: उपयोगितावादी मार्ग और शैक्षणिक मार्ग। उपयोगितावादी मार्ग को इसकी चिन्ता नहीं है कि प्रयुक्त विशिष्ट प्रणाली तार्किक दृष्टि से उचित परिणामों की ओर अग्रसर करेगी या नहीं; केवल सुबोध अनुवाद प्रत्याशित है। अर्थात् अनावश्यक व्याकरणात्मक तत्वों का त्याग या ग्रहण अशुद्ध अथवा भोंड़े मुहाविरों

का प्रयोग इत्यादि गम्भीर व्याकरणात्मक अशुद्धियाँ इस दृष्टिकोण से कोई महत्व नहीं रखतीं। अनूदित रूप मात्र वांछित अर्थ देने के योग्य होना चाहिए। अन्य कोई भी प्रश्न इसकी चिन्ता का विषय नहीं है।

यदि हम शैक्षणिक दृष्टिकोण से भाषा के स्वतः संचालित विश्लेषण के प्रश्न की ओर देखें तो हमारी आवश्यकताएँ अधिक कठोर हैं। हमें प्रत्येक मिलने वाले परिणाम का कारण देना पड़ेगा। हमारा एक भी अपवाद मार्मिक स्थल हो सकता है। क्या इसके बाहर कोई मार्ग है? प्रगतिशील भाषाशास्त्रियों के मत में कोई मार्ग नहीं है। वे कहते हैं कि भाषा एक बँधी हुई रीति नहीं है, अर्थात् यह ऐसी रीति नहीं है जिससे प्रत्येक नव घटना का पूर्व ज्ञान हो जाय। दूसरी ओर भाषा एक विकसित गत्यात्मक रीति के रूप में जानी जाती है, जिसमें किसी को पहले कभी न मिले हुए तत्वों और रूपों का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। यांत्रिक अनुवाद, इस प्रकार अधिक से अधिक, उन्हीं तत्वों और रूपों को व्यवहार में ला सकता है जो पहले ही से ज्ञात अथवा घटित हैं। भविष्य में क्या तत्व और रूप आ जायँगे इसकी वे सम्भवतः कल्पना भी नहीं कर सकते। अतएव यांत्रिक अनुवाद के प्रयास के विस्तार पर यह भी एक प्रतिबन्ध है।

इसलिए, हमें इन समस्त सीमाओं को मस्तिष्क में रखते हुए, यह देखना है कि किसी स्वतः संचालित यन्त्र की निश्चित सीमाओं के भीतर कहाँ तक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की वर्तमान प्रणालियों को रक्खा जा सकता है और कहाँ तक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के प्रतिष्ठित चले आते हुए उपायों से दूर जाना पड़ेगा; एवं किस प्रकार कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ हल अथवा कम की जा सकती हैं।

जहाँ तक एक भाषा (या एक बोली अथवा व्यक्ति-बोली) के विश्लेषण का प्रश्न है, ध्वनि-विचार, पदग्राम-विचार, पद-विचार, वाक्य-विचार तथा अर्थ-विचार आदि की परम्परागत श्रेणियाँ सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग क्षेत्र (या भाषाविज्ञान के स्तर, जैसा कि वे सामान्यतया कहे जाते हैं) समझी जा सकती हैं और औपचारिक ढंग से, व्याख्यात्मक भाषाशास्त्र की भाँति, इनका अलग-अलग विवरण भी दिया जा सकता है। किन्तु ऐसी बातों में भी कोई इन क्षेत्रों को सर्वथा व्यवच्छिन्न रूप से अलग-अलग समझने की ग़लती नहीं करता। वास्तव में इस तथ्य के द्वारा इन समस्त विभिन्न स्तरों में ऐसे औपचारिक विश्लेषण उल्लेखनीय हो जाते हैं कि विभिन्न विश्लेषणकर्ताओं के एक ही बोली अथवा व्यक्ति-बोली के व्याख्यात्मक विवरण पूर्णतया समान नहीं होते। ऐसे व्याख्यात्मक विवरणों की सूक्ष्म परीक्षा इस तथ्य का उद्‌घाटन करती है कि अन्त में प्रत्येक विश्लेषणकर्ता व्याख्यात्मक तत्वों का चुनाव अपनी व्यक्तिगत अनुशासित प्रणाली से करता है अथवा अपनी सुविधानुसार करता है। यद्यपि यह सब अधिकतर अचेतनावस्था में ही होता है, उसकी व्याख्या का अवशिष्ट भाग उस सीमा तक औपचारिक है जहाँ तक उसका मौलिक चुनाव उसे आज्ञा दे।

जहाँ तक व्याख्या के औपचारिक पहलू का प्रश्न है, विश्लेषणकर्ता अपने इस विश्वास को उचित कह सकता है कि वह अर्थादि के बाहरी विचार द्वारा संचालित नहीं होता, प्रत्युत

रचना (पद-विचार और वाक्य) के क्षेत्र में (या स्तर पर) वह अपने कुछ मौलिक चुनावों के करने में अर्थ के सन्निहित विचारों द्वारा निर्देशित होता है।

स्वन-ग्राम, व्याकरणात्मक पदयोजन तथा अन्य शब्दों का वर्गीकरण करने वाला यंत्र स्वतः अर्थ के सन्निहित विचार में तल्लीन नहीं हो सकता। ऐसे विचार, एक यंत्र के लिए, स्फुट संकार्य बनाने पड़ेंगे; अर्थात् यदि हमारे विश्लेषण की विशेष पद्धति शुद्धतया औपचारिक नहीं है तो हमें स्पष्ट कर देना होगा कि हमारे विश्लेषण में, एक विशिष्ट परिणाम तक पहुँचने के लिए कौन-कौन से अर्थ-विचार अन्तर्भूत हैं।

यदि ऐसा कर दिया जाय तो ऐसे ढंग से एक यंत्र की रचना सम्भव होगी कि जो एक दिये हुए वाक्य का इसके निजी शब्द-समूह, पदग्राम-संयोजन तथा पदवैचारिक और वाक्यवैचारिक नियमों और इसके निज निर्मित व्याकरणात्मक तत्वों (जिन्हें भाषा के अवयव, चिह्नक, रचनात्मक गुण आदि कहते हैं) आदि के रूपों का स्वतः संचालित रूप में विश्लेषण कर सके।

यह तो बात हुई किसी विशिष्ट बोली में वाक्य की उपयुक्त रीति से यंत्र-निक्षिप्त सामग्री के विश्लेषण की। यद्यपि इसमें सभी सामान्य स्तर भी अन्तर्भूत हैं, फिर भी तब तक हमें इनको अलग रखना होगा जब तक हम अपने को किसी एक भाषा या बोली के विश्लेषण तक ही सीमित रखते हैं।

जिस क्षण हम एक भाषा में वाक्य के तत्वों और रचनात्मक रूपों का अन्य भाषा के समकक्षी वाक्य के साथ सादृश्य स्थापित करना चाहते हैं, उस समय इन स्तरों का सारा विभेदीकरण बेकार हो जाता है। किसी न किसी प्रकार से आवश्यक सादृश्य स्थापित करने के लिए स्तर से स्तर का संकार्य अस्तित्व में आ ही जाता है।

यांत्रिक अनुवाद के क्षेत्र के इस संक्षिप्त और द्रुत सर्वेक्षण में लेखक उन ढंगों के विस्तार में नहीं जाना चाहता जो उसने एक भाषा से दूसरी भाषा में औपचारिक अनुवाद के लिए स्वयंसंचालित विधियों को बनाने में अपनाये हैं। विशेष रूप से यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि किन्हीं भी भाषाओं के बीच अनुवाद के लिए कोई सामान्य और व्यापक विधि विकसित नहीं की जा सकती। औपचारिक अनुवाद-विधियों का विकास एक साथ किन्हीं दो निर्दिष्ट भाषाओं के लिए ही किया जा सकता है। आगे, यदि भाषा अ से भाषा आ में औपचारिक अनुवाद के लिए किसी विधि का विकास किया जाता है, तो उल्टे यह विधि भाषा आ से भाषा अ में अनुवाद के लिए प्रयुक्त नहीं की जा सकती। इसके लिए एक अलग विधि अपेक्षित होगी।

अन्त में, मैं यांत्रिक अनुवाद की ऐसी योजनाओं के आर्थिक मूल्य को भी संक्षेप में स्पर्श करना चाहता हूँ। यह अनुमान लगाया गया है (ऐसे बृहद् यंत्र के निर्माण और संकार्य में अन्तर्भूत मूल्य और यंत्र के निर्माण और संकार्य में अन्तर्भूत समय और श्रम तथा विशिष्ट भाषाओं के लिए निर्दिष्ट विधियों को बनाने एवं अनुवाद के क्षेत्रों की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए) कि यदि एक यंत्र उन्हीं संकार्यों को मनुष्य से दस हज़ार गुना अधिक परिमाण में नहीं करता तो इस प्रकार की प्रणाली से बहुत कुछ मात्रा में समय, श्रम और धन का अपव्यय ही होगा।

फिर भी, अतिद्रुत ऋणाण्विक (electronic) संगणकों की स्थापित सम्भावनाओं को देखते हैं तो ऐसी योजनाओं के लिए एक तर्कसंगत भविष्य की भी आशाएँ की जा सकती हैं। जब एक बार यंत्र में निक्षिप्त सामग्री और समाव में दीर्घ माप वृद्धि के साथ सम्बन्धित भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के औपचारीकरण से सम्बन्धित समस्याएँ हल हो जायँगी तो ये प्रयत्न सफल अवश्य होंगे। अस्तु, यंत्र द्वारा विश्लेषण किये जाने वाले वाक्य के उपभुक्त प्राथमिक तत्वों का अध्ययन अवश्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। प्रस्तुत लेखक ऐसे विश्लेषण के ढंग के विकास का एक प्रयास अंग्रेज़ी, तमिल, मराठी और हिन्दी जैसी भाषाओं के लिए कर रहा है।

ऐसी आशा है कि इस प्रकार का एक प्रयास (यहाँ तक कि अन्त में यदि यांत्रिक अनुवाद के लिए अनुपयुक्त भी सिद्ध हो, तो भी) भाषाशास्त्रीय रचना के विश्लेषण से सम्बद्ध कुछ समस्याओं को और अच्छी प्रकार समझाने की ओर अग्रसर करेगा।

●

ना० नागप्पा

हिन्दी तथा कन्नड़ भाषाओं का अर्थ-तत्व

भारतवर्ष में सदियों से बोली जाने वाली आर्य और द्राविड़ भाषाओं का परस्पर साम्य तथा प्रभाव लक्षित हो रहा है। यह साम्य और प्रभाव भाषाओं के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने में आता है। ऋग्वेद की भाषा में द्राविड़ी शब्दों का प्रयुक्त होना, मूर्द्धन्य-घटित ध्वनियों का वर्तमान होना और लौकिक संस्कृत तथा प्राकृतों में इन ध्वनियों का बढ़ना द्राविड़ भाषाओं के सम्पर्क के कारण बताया जाता है। वैसे ही भारतीय दर्शन, धर्म, गणित जैसे शास्त्रों से संबद्ध तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में अस्तित्व आर्य भाषाओं के संबंध का द्योतक है। आधुनिक काल में भी प्रतिदिन ऐसे परस्पर प्रभाव से हमारी भाषाओं को लाभ पहुँच रहा है।

दक्षिण और उत्तर भारत की भाषाओं में प्रयुक्त वर्णमालाओं के साम्य और रूपतत्व की अयोगात्मक संगति आश्चर्यजनक है। हिंदी की क्रियाएँ कृदन्तों की सहायता से बना ली जाती हैं। द्राविड़ भाषाओं की क्रियाएँ भी वैसे ही बनती हैं; जैसे—

वह आता है (हिंदी)—अवनु बरुत्तानॆ (कन्नड)—अवन् वरान् (तमिऴ्)। वह आती है (हिंदी)—अवळु बरुत्ताळॆ (कन्नड)—अवळ् वराळ् (तमिऴ्)। वे आते हैं (हिंदी)—अवरु बरुत्तारॆ (कन्नड)—अवर् वरार् (तमिऴ्)। वह आया (हिंदी)—अवनु बंदनु (कन्नड) अवन् वंदान् (तमिऴ्)। वह आयी (हिंदी)—अवळु बंदळु (कन्नड)—अवळ् वंदाळ् (तमिऴ्)। वे आये, वे आयीं (हिन्दी)—अवरु बंदरु (कन्नड)—अवर् वंदार् (तमिऴ्)।

द्विरुक्त या नादसाम्य पर घटित क्रियाओं में भी साम्य परिलक्षित होता है; जैसे—गुनगुनाना (हिंदी)—गोणगुट्टुवुदु (कन्नड)। फुसफुसाना (हिंदी)—पिसगुट्टुवुदु (कन्नड़)।

हिंदी तथा द्राविड़ भाषाओं की संयुक्त क्रियाओं का भाव-साम्य काफ़ी आश्चर्यजनक है (दे० हिंदी-अनुशीलन, जिल्द १० भाग १, हिंदी तथा कन्नड़ की क्रियाएँ)। संस्कृत में अवधारणार्थ में उपसर्गों से काम लिया जाता था (उपसर्गेण ध्वात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते)। पर, हिंदी में दो-तीन क्रियाओं के एक साथ प्रयोग करने से (अर्थात् संयुक्त क्रियाओं से) यही काम लिया जाता है। इसका विश्लेषण भी काफ़ी दिलचस्प है। संयुक्त क्रियाओं के सम्बन्ध में पटना में संपन्न प्राच्य विद्या परिषद् (१९२७ ई०) के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से प्रो० श्यामसुन्दर दास ने इस समस्या की तरफ़ विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। १९५८ के लन्दन के ओरिएंटल स्कूल के बुलेटिन में प्रो० बर्टन पेज साहब ने इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। परन्तु कन्नड जैसी द्राविड़ भाषाओं की संयुक्त क्रियाओं के

साथ हिंदी की संयुक्त क्रियाओं की तुलना करने से इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ने की संभावना है।

संयुक्त क्रियाओं को प्रो० श्यामसुन्दर दास ने तीन भागों में विभक्त किया था। इन क्रियाओं का अर्थ-तत्त्व प्रायः हिंदी तथा कन्नड में (या किसी भी द्राविड़ी भाषा में) एक-सा पाया जाता है।

(१) वे संयुक्त क्रियाएँ जिनमें से पूर्व प्रयुक्त अंश मुख्य भाव को प्रदर्शित करता है और अनु-प्रयुक्त अंश उसी भाव को घटाता या बढ़ाता है; जैसे--

हिंदी	कन्नड
मान लेना	ऒप्पि कॊळ्ळुवुदु (पूर्णतया स्वीकार करना है)।
खा डालना	तिंदु बिड्वुदु (खाने की क्रिया का पूर्ण होना या त्वरा से संपन्न होना)।
चले आना	बंदु बिड्वुदु (शीघ्रता से आना)।

(२) वे संयुक्त क्रियाएँ जिनमें दोनों (पूर्व-प्रयुक्त तथा अनु-प्रयुक्त) क्रियाएँ अपने अपने अर्थों की रक्षा करती हैं। इनकी विशेषता यह है कि क्रिया अपनी भाव-प्रधान अवस्था के विकारी या अविकारी रूप में रहती है और अनु-प्रयुक्त के ही रूप चलते हैं। ऐसी क्रियाएँ सहायक क्रियाओं का कार्य करती हैं; उदाहरणतया--

हिंदी	कन्नड
वह पढ़ चुका	अवनु ओदि मुगिसिदनु[1] (उसने पढ़कर खतम किया।)
वह खा नहीं सकता	अवनु तिन्नलारनु[2]; अवनु तिन्नलु+आर (नु) (=वह खाने के लिए समर्थ नहीं है।)
वह किया चाहता है	अवनु माड बेकॆंदिद्दानॆ (अवनु माडबेकु ऎंदु इद्दानॆ=वह करना चाहिए करके है।)
वह पढ़ने लगा है	अवनु ओदलु हत्तिद्दानॆ (=वह पढ़ने लगकर है।)

(३) वे क्रियाएँ जिनका पहला अंश संज्ञा या विशेषण होता है; जैसे--

स्वीकार करना	स्वीकरिसुवुदु
निद्रा करना	निद्रिसुवुदु (कन्नड में ऐसी क्रियाओं को 'इसु' प्रत्ययान्त क्रियाएँ कहते हैं)

---

१. इस क्रिया में संयुक्त क्रिया की पूर्ववर्ती क्रिया पूर्वकालिक क्रिया के रूप में है; जैसे, अवधी--उठि बैठेहु, चलि आवइ, जाइ लागै, इत्यादि।

२. यह संयुक्त क्रिया स्पष्ट है। कन्नड में यहाँ उद्धृत अन्य क्रियाएँ शुद्ध संयुक्त क्रियाएँ शायद ही हों।

(४) इनके अलावा भी कई प्रकार की संयुक्त क्रियाएँ ऐसी हैं जिनकी रचना कन्नड की तदर्थक क्रिया-रचना से मेल खाती है; जैसे—
'चाहिए' (बेकु) से अन्त होनेवाली क्रियाएँ—उतरना चाहिए (हिंदी)—इळियबेकु (कन्नड)। जाना चाहिए (हिन्दी)—होगबेकु (कन्नड)। निकलना चाहिए (हिंदी)—होरडबेकु (कन्नड)।

(५) (क० बेड) या 'मत', 'नहीं', 'न' से अन्त होने वाली क्रियाएँ भी कन्नड में संयुक्त क्रियाएँ मानी जाती हैं। पर हिंदी में ऐसी क्रियाएँ संयुक्त क्रियाएँ नहीं हैं; जैसे[3] —

कन्नड	हिंदी
इळिय बेड	उतरो मत, उतरो नहीं, न उतरो (उतरना नहीं)।
होग बेड	जाओ मत, जाओ नहीं, न जाओ (जाना नहीं)।

(निषेधार्थक वाक्यों में निषेधवाचक शब्द का क्रिया के बाद प्रयुक्त होना मात्र हिंदी एवं द्राविड भाषाओं की रचना में एक-सा है।)

तात्पर्य यह है कि क्रिया द्वारा भावोत्कर्ष की व्यञ्जना करनी हो तो हिंदी एवं द्राविड भाषाओं में संयुक्त क्रिया से काम लिया जाता है।

अर्थ-तत्व की दृष्टि से हिंदी और कन्नड में प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों में काफ़ी साम्य है; हाँ कहीं-कहीं अन्तर भी पड़ता है। मध्यकालीन कन्नड भाषा के काव्यों में भाषा को संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों से आपूर किया जाता था (शायद अलंकृत करने के ख़याल से)। संस्कृत शब्दों का सर्वथा त्याग करके लिखने का भी प्रयत्न कन्नड में कहीं-कहीं हुआ है—जैसे ठेठ हिंदी में इंशा अल्ला ने कहानी कहने का प्रयत्न किया था। 'कब्बिगर काव' कदाचित् कन्नड में इस प्रयत्न का उदाहरण हो सकता है। परन्तु साधारणतया बोलचाल की कन्नड भाषा में (ग्रामीण भाषा में भी) निम्नलिखित संस्कृत शब्द प्रयुक्त होते हैं—

अपार, स्वल्प, दिन, रात्रि, आधार, पाप, पुण्य, आत्मा, बल, आकाश, कपि, सूर्य, चंद्र, कमल, तळ (तल), सम (समान), उत्सव (उस्तव), रूप (रूपु), समुद्र, ग्राम, काल (समय के अर्थ में), समय ('वेला' के अर्थ में), वेला (वेळे : वक़्त), जैसे सैकड़ों शब्द।

काव्यगत भाषा में भी प्राकृत भाषा के शब्द और तद्भव शब्द काफ़ी संख्या में प्रयुक्त होते आये हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(अ) 'लक्ष्मीश' कवि कृत 'जैमिनि भारत' नामक सोलहवीं सदी के काव्य से निम्नलिखित कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

दॆसॆ (=दिशा, पृष्ठ संख्या २०७); बिन्नप (=विज्ञप्ति, पृ० ३६९); सिरि (=श्री, पृ० ३७०); मोग (=मुख, पृ० ३७०); पोडवि (=पृथ्वी पृ० ३७१); उंगुट (=उंगुष्ठ,

---

३. यहाँ हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का पूर्णतः विचार नहीं किया गया है। ऐसा करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। हिंदी एवं कन्नड का अर्थ-तत्व जहाँ मिलता है उसका विचारमात्र यहाँ किया गया है।

पृ० ३७४); अच्चरि (आश्चर्य, पृ० ३७५); बोम्म (=ब्रह्म, पृ० ३७६); सासिर (=सहस्र, पृ० ३७७);

(आ) कुमार व्यास कृत 'कर्णाट भारत कथा मंजरि' (ई० पन्द्रहवीं सदी) काव्य से कुछ शब्द उदाहरणार्थ नीचे उद्धृत हैं—

सेज्जे	(=शय्या)	पृष्ठ संख्या २९९
राय	(=राजा)	,, २९९
रक्कस	(=राक्षस)	,, ३०१
पयण	(=प्रयाण)	,, ३०२
रावुत	(=राजपुत्र)	,, ३०३
जव्वन	(=यौवन)	,, ३०४

अर्द्धतत्सम शब्दों की गीतात्मकता काव्य-गत भाषा के सौन्दर्य को बहुत कुछ बढ़ाती है, जैसे—

हरुष	(=हर्ष)	पृष्ठ संख्या २९९—१८वाँ पद
मुकुति	(=मुक्ति)	,, २९९—२२वाँ पद
युकुति	(=युक्ति)	,, २९९—२२वाँ पद
कीरति	(=कीर्ति)	,, ३००—३०वाँ पद
पृथिवि	(=पृथ्वी)	,, ३०१—तीसरा पद
दरुशन	(=दर्शन)	,, ३०२—१३वाँ पद
राजकारिय	(=राजकार्य)	,, ३०३—२१वाँ पद
रकुत	(=रक्त)	,, ३०४—४१वाँ पद

(ये शब्द भी कुमार व्यास कवि के 'भारत' से उद्धृत किये गये हैं)

इन काव्यों में तथा अन्य काव्यों में हज़ारों संस्कृत (तत्सम) शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। वे सब शब्द कन्नड के अपने हो गये हैं।

कन्नड में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों के अर्थांतर के बारे में यहाँ थोड़ा विचार किया जाता है। 'नौजवान' शब्द को लीजिए। 'जवान' का अर्थ हुआ 'युवान्'। कन्नड में 'जवान' का अर्थ प्रचलित भाषा में 'सेवक, चपरासी, अर्दली' होता है। अर्थ-संकोच हो गया। इसी तरह 'प्रायः' का अर्थ संस्कृत और हिंदी में 'कदाचित्' होता है। पर कन्नड में 'उम्र' के अर्थ में जाने कैसे 'प्राय' शब्द चल पड़ा है। 'निज' का 'अपना' तो अर्थ स्पष्ट है, पर कन्नड में यह 'सत्य' के अर्थ में (specialised sense) में चलता है। कार्य, कर्म, क्रिया, भोज, फल, जन्म जैसे शब्दों का अर्थोन्नयन (elevation of meaning) या अर्थोत्कर्ष हुआ है। इन शब्दों के कन्नड अर्थ कॅलस, ऊट (=भोज), हुट्टु (=जन्म) आदि हलके या साधारण अर्थ में प्रचलित हैं। तद्भव शब्दों से निकटता, आत्मीयता या स्नेह व्यक्त होता है। तत्सम शब्दों से महत्ता, उच्चता, बड़प्पन, आदर और प्रतिष्ठा सूचित होती है। जैसे 'सिरि' (=श्री) 'संपत्तु' [अल्पनिगे सिरि बंदरे अर्धरात्रियल्लि कोडे हिडिसिकोंडहागे = (किसी) अल्प (नाचीज) को अकस्मात् संपत्ति प्राप्त

होने पर आधी रात में भी छत्र पकड़ा कर चलने लगे—जैसा (कहावत)]। बुद्दि (= बुद्धि) कन्नड में एक विचित्र अर्थ में चलता है। यह बड़े व्यक्तियों के अपढ़ व्यक्तियों के द्वारा संबोधन के अर्थ में कदाचित् इसलिए चल पड़ा हो कि अपढ़ लोग पढ़े लिखे लोगों को शायद 'बुद्धि' मान् मानते हैं। पर 'बुद्धि' अक्ल के अर्थ में प्रचलित है। 'बुद्दि' का एक और प्रयोग है, जैसे—'कालिगे बुद्दि (बुद्धि) हेळुवुदु' (मुहाविरा) [पाँव को बुद्धि (की बात) कहना, अर्थात् पलायन करना या भाग जाना।] कुछ और उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

संस्कृत शब्द	संस्कृत में अर्थ	हिंदी में अर्थ	कन्नड में अर्थ
अभिमान	गर्व	फ़क्र	प्रीति
अवसर		मौक़ा	शीघ्र
असह्य	जो सहने योग्य नहीं	जो न सहा जा सके	जुगुप्सा
व्यवसाय	परिश्रम	उद्यम	कृषि
समाराधन	मनःप्रसाद	मन बहलाव का कोई साधन	भोजन (समाराधने)

अर्थों के अंतर के कारण कहीं-कहीं कुछ समझ में नहीं आते; जैसे—

संस्कृत शब्द	संस्कृत में अर्थ	हिंदी में अर्थ	कन्नड में अर्थ
प्राय(:)	कदाचित्	शायद	उम्र
खण्डित	भग्न	टूटा हुआ	सत्य
भद्र (म्)	रक्षा, योगक्षेम	सभ्य (जैसे—भद्र पुरुष)	जो शिथिल नहीं है, मज़बूत
आग्रह	अनुरोध	अनुरोध	क्रोध [अनुरोध का फल कदाचित् क्रोध हो]

अर्थ-संकोच के कुछ उदाहरण लीजिए—

उद्योग	कर्म-समवाय (जैसे—उद्योग पर्व)	कारखाने की सहायता से संपन्न उद्यम (industry)	काम (साधारण), धंधा (occupation)
दासोह (म्)	कैंकर्य्य का सूचक (जैसे—पालागीं)	सेवा	मधुकरी (घर-घर जाकर मधुकरी लाना कैंकर्य का एक रूप माना जाता है।)
वर्तमान	आज का (समय)	आज का	ख़बर, समाचार (वर्तमानपत्रिके = समाचारपत्र)
सराग	रागसहित	रागसहित	सरल
दाक्षिण्य	उदारता	औदार्य-भाव	मुरौवत

बलवन्त (म्)	शक्तिमान्	वलवान्	ज़बर्दस्ती
उपन्यास	व्याख्यान	कादम्बरी (novel)	भाषण
अन्न (म्)	जो खाया जाय	खाद्य	पकाया हुआ चावल

अर्थ-विस्तार के कुछ उदाहरण लीजिए —

तैल (म्)	तिल का तेल	कोई तेल	(दवा में प्रयुक्त) तेल
कुशल	कुश उखाड़ने में चतुर, क्षेम	चतुर, क्षेम	चतुर (क्षेम के अर्थ में भी प्रयुक्त)
शाला	पाठशाला	कोई भी स्कूल, खास कर जहाँ हिंदी या संस्कृत पढ़ायी जावे।	ऐसी शिक्षा-संस्था जहाँ पुराने ढंग की विद्या पढ़ायी जावे, जैसे :—योग-शाले [योगाभ्यास सिखाने का स्थान या संस्था] (ii) पाठ-शाले, संस्कृत सिखाने की संस्था।

अर्थोत्कर्ष के कुछ उदाहरण लीजिए—

कायिक	शारीरिक	शरीर-संबंधी	शरीर-संबंधी श्रम जो परमात्मा को अर्पित माना जाता है (केवल वीर शैवों में प्रचलित)।
पाठ	पढ़ना	पढ़ना	ज़बानी याद करना। कण्ठपाठ स्पर्धा (recitation competition)

आजकल हिंदी में जैसे तेक्नीकी शब्द संस्कृत से बना लिये जा रहे हैं वैसे ही कन्नड में भी बनाये जा रहे हैं और स्कूल-कालिजों में व्यवहृत भी हो रहे हैं। कुछ शब्द तो बहुत ही उत्तम हैं; जैसे —

नदीमुखज भूमि (delta—कन्नड के भूगोल-ग्रंथों में प्रचलित) प्रस्थभूमि (पठार, plateau); मरुभूमि (रेगिस्तान); आम्लजनक (oxygen); जलजनक (hydrogen) त्रिकोनमिति (trigonometry); ज्यामिति (geometry); बीजगणित (algebra); उक्त-लेखन (इमला dictation); कण्ठ-पाठ (ज़बानी याद करना recitation); वेला-पत्रिका (time-table); अंग-साधने (कसरत); भूगर्भशास्त्र या खनिज-शास्त्र (geology); भौतिक शास्त्र, भौतिकी (physics); रसायन शास्त्र (chemistry); कादम्बरी (novel); व्याख्यान (टीका)।

पीछे चलकर निश्चित होगा कि तेक्नीकी शिक्षा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली में सारे भारत में एकरूपता हो सकती है या नहीं। यदि एकरूपता हो जाय तो हिंदी को उच्चतम कक्षाओं में (अर्थात् विश्वविद्यालय के स्तर पर) शिक्षा के माध्यम के तौर पर बरतने में सुगमता होगी।

●

रामस्वरूप चतुर्वेदी

बाह तहसील की मिश्रित बोली

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वी आगरा, विशेषत. बाह तहसील की बोली, स्टैंडर्ड अथवा केन्द्रीय ब्रजभाषा नहीं मानी जा सकती। वस्तुत: बाह तहसील की बोली ब्रज, कन्नौजी तथा बुंदेली का एक सम्मिलित रूप है। इस बोली-सम्मिश्रण के पीछे कुछ विशिष्ट भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक कारण हैं। बाह की बोली का ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक ढाँचा ब्रज पर आधारित है तथा कन्नौजी के मिश्रण से बना है, और उसके शब्द-समूह में काफ़ी संख्या में बुंदेली शब्द मिलते हैं।

ध्वनितत्त्व की दृष्टि से बाह की बोली में कन्नौजी की एक प्रमुख विशेषता—समीकरण—की प्रवृत्ति मिलती है। **उद्द** (उरद), **दद्द** (दर्द), **बद्धा** (बरधा), **सद्दी** (सर्दी), **हद्द** (हल्दी) जैसे उदाहरण बाह के नमूने में प्राय: मिलते हैं। इस प्रवृत्ति की ओर डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी संकेत किया है, "ब्रजभाषा के पूरब के ज़िलों में र् के बाद व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। यह विशेषता पड़ोस की बुंदेली की उपभाषा भदौरी में मिलती है।" (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २४०)।

समीकरण के समान ही बाह की बोली में बहु-प्रचलित संधि भी मुख्यत कन्नौजी जैसी ही है। **घस्सें** (घर सें) **भोंट्ठीक** (भोंत् ठीक), **सिग्गरई** (सिग् घर् की), **होतो** (होत् हो)। बाह की बोली के इस प्रकार के प्रयोगों को कन्नौजी में भी देखा जा सकता है।

बाह की बोली में व्यंजनांत शब्दों में ह्रस्वतर इकार अथवा उकार जोड़ने की प्रवृत्ति (जैसे-जाति, पोंरि, घरु) मिलती है। यह ध्वन्यात्मक विशेषता आगरा ज़िले की पश्चिमी बोली में सामान्यत: नहीं मिलती। पूर्वी प्रदेश में यह प्रवृत्ति कन्नौजी से तुलनीय है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में "गंगा के उत्तर तथा कानपुर की कन्नौजी में व्यंजनांत पदों से एक लघु इ संयुक्त कर दी जाती है—हिंदी के ह्रस्व व्यंजनांत तद्भव शब्द, विकल्प से कन्नौजी में उकारांत हो जाते हैं।" (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २४९-२५०)। पुल्लिग शब्दों में उ तथा स्त्रीलिंग शब्दों में इ जोड़ा जाता है।

व्याकरणात्मक रूपों के क्षेत्र में बाह की बोली में भविष्य निश्चयार्थ क्रिया के ब्रज तथा कन्नौजी दोनों ही रूप मिलते हैं। ब्रज का ग् भविष्य (चलोंगो, चलोंगी) तथा कन्नौजी का ह् भविष्य (चलिहों, चलिहें) दोनों ही बाह की बोली में प्रयुक्त होते हैं। भविष्यत् काल का यह ह् क्रिया-रूप वस्तुत: पूर्वी ब्रजभाषा में ही मिलता है—"दूसरे संयोगात्मक रूप ह् भविष्य के

नाम से प्रसिद्ध भविष्य निश्चयार्थ के हैं। इनका प्रयोग पूर्व के कुछ ज़िलों तक ही सीमित है।" (ब्रजभाषा, धीरेन्द्र वर्मा, २२६)

बाह तहसील की बोली में बहु-प्रयुक्त सहायक क्रिया के रूप हतु, हतो, हती, हते, हतीं मुख्यतः कन्नौजी में मिलते हैं। ब्रज तथा कन्नौजी की अभिन्नता स्थापित करते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इस स्थिति की ओर संकेत किया है (ब्रजभाषा, ४७५)। डॉ० उदयनारायण तिवारी भी सहायक क्रिया के इन रूपों को मुख्यतः कन्नौजी का मानते हैं (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २४६)। हतो का प्रयोग समीपवर्त्ती बुंदेली बोली में भी मिलता है।

बाह की बोली में सहायक क्रिया का एक रूप 'रहें' मिलता है, जो मुख्यतः मूल क्रिया के रूप में प्रयुक्त होता है (एकु माँड़ा रहें, द्वे भइया रहें)। यह 'रहें' रूप मुख्यतः अवधी का है और कन्नौजी के माध्यम से बाह की बोली में आया प्रतीत होता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा भी इन रूपों को पूर्वी हिंदी प्रदेश से आया मानते हैं (ब्रजभाषा, २३०)।

बाह की बोली में वर्तमानकालिक सहायक क्रिया का रूप प्रायः ग प्रत्यय के साथ संयुक्त मिलता है—हैंगों, यद्यपि इस ग प्रत्यय से यहाँ भविष्य का भाव व्यक्त नहीं होता। यह हैंगों रूप भी वस्तुतः पूर्वी सीमांतीय ज़िलों से आया लगता है (ब्रजभाषा, २३३)।

बाह की बोली उपर्युक्त कई व्याकरणात्मक रूपों की दृष्टि से कन्नौजी से समता रखने पर भी मुख्यतः ब्रजभाषा के व्याकरण पर आधारित है। इस बोली में-ओं क्रिया रूपों (जैसे—चलों) का होना इसका सब से बड़ा प्रमाण है। कन्नौजी विशुद्ध -ओ (चलो) बोली है, और इस रूप का कोई मिश्रण हमें बाह की बोली में नहीं मिलता।

बाह की मिश्रित बोली में बुंदेली का मिश्रण मुख्यतः शब्द-समूह के क्षेत्र में है। बाह तहसील तथा सीमावर्ती बुंदेली क्षेत्र (सम्मिलित रूप में भदावर प्रदेश) के प्राचीन सांस्कृतिक संपर्क तथा निकटता का सबसे बड़ा उदाहरण बुंदेली का यह शब्द-समूह ही है, जो बाह तहसील में सामान्यतः प्रयुक्त होता है। बहुत से शब्द इस प्रदेश में प्रचलित बुंदेली लोककथाओं तथा लोकगीतों के माध्यम से आये होंगे। बाह तहसील में प्रचलित बुंदेली शब्दों की एक संक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है—

कबूलसूरत (वि०)—अत्यन्त सुन्दरी; खँगोंरिया (सं०)—दरिद्र ग्रामीण स्त्रियों के गले का एक विशेष आभूषण ; खाँद् (सं०)—दो टीलों के बीच की नीची भूमि; गंगाल् (सं०)—पानी भरने का पीतल अथवा मिट्टी का घड़ा; जड्ड (सं०)—टक्कर; ज्वाब् (सं०)—उत्तर; जोरिकें (क्रि०)—इकट्ठा करके; झकूटा (सं०)—छोटी झाड़ी; डाँक् (स्त्री०)—तेज़ चलने वाली ऊँटनी; तम्हेंरों (सं०)—ताँबे का घड़ा; तरियाँ (सं०)—तरह; दोंचो (सं०)—ज़मीन अथवा सड़क या किसी बरतन में पड़े गड्ढे; नंहनों (वि०)—छोटा; निसाफ (सं०)—न्याय; बाबा (सं०)—पितामह; बिलिया (सं०)—कटोरी; बींधे (क्रि०)—उलझ गये; बेला (सं०)—कटोरा; भटार् (सं०)—गुफा; भोंजी (सं०)—भाभी; लेज् (सं०)—कुँए से पानी खींचने की रस्सी; हुस्काओं (क्रि०)—उकसाया।

कुछ बुंदेली मुहावरे भी बाह की बोली में मिलते ह—हूंड़ पे धरे (निश्चित, अनिवार्य), बक न फटी (मुँह से बोल न निकला)।

बुंदेली प्रदेश तथा बाह तहसील वस्तुतः एक ही सांस्कृतिक इकाई के अंग हैं। इस प्रदेश का नाम भदावर अब भी प्रचलित है, जिसका अत्यंत प्राचीन राजकुल आज भी बाह के नौगवाँ गाँव में वर्तमान है। यह भदावर प्रदेश भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा मध्यकालीन इतिहास की दृष्टि से एक पूरी इकाई है। बाह के गाँवों में ग्राम देवताओं तथा भूमियों से संबद्ध कई बुंदेली लोककथाएँ प्रचलित हैं। रजपूती होरी तथा लेद, बुंदेलखंड के दो प्रिय लोकगीत बाह में भी जन-प्रचलित हैं। भदावर प्रदेश की बोली को 'भदावरी' कहा गया है, यद्यपि इस 'भदावरी' या 'भदौरी' बोली को भ्रमवश बुंदेली की एक उपबोली मान लिया गया है। वस्तुतः भदावर के केन्द्रस्थान बाह तहसील की बोली मुख्यतः ब्रज है, तथा उसमें कन्नौजी की कई प्रमुख विशेषताएँ मिलती हैं। बुंदेली का मिश्रण इस बोली में शब्द-समूह तथा मुहावरों के क्षेत्र में है। इस प्रकार बाह तहसील की बोली एक मिश्रित अथवा सीमावर्त्ती बोली है, जिसमें ब्रज, कन्नौजी तथा बुंदेली की विशेषताओं का सम्मिलन हुआ है। इन तीनों बोलियों के एक सम्मिलित साहित्य की चर्चा विद्वानों ने की है (राहुल सांकृत्यायन: 'मध्यदेशीय भाषा' की प्रस्तावना)। लोक-साहित्य के क्षेत्र में भी इस सम्मिलन की स्थिति को देखा जा सकता है।

●

रामपूजन तिवारी

'ब्रजबुलि' की भाषागत तथा व्याकरणगत विशेषताएँ

'ब्रजबुलि साहित्य' पूर्वी प्रदेशों के वैष्णव भक्त कवियों की शताब्दियों की साधना का फल है। वास्तव में 'ब्रजबुलि' उस काव्य-भाषा का नाम है जिसके माध्यम से मिथिला, नेपाल, बंगाल, आसाम और उड़ीसा आदि पूर्वी प्रदेशों के भक्त कवि प्रधान रूप से कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के वर्णन के बहाने अपनी भक्ति निवेदित करते रहे हैं। ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तक कम या वेश विभिन्न कवि इस काव्य-भाषा को अपनाते रहे हैं। अगर विद्यापति का जन्म १३४० ई०[१] के लगभग मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही ब्रजबुलि-काव्य का प्रणयन प्रारंभ हो गया था। जो भी हो, ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों और सोलहवीं शताब्दी में मिथिला से बाहर बंगाल में वैष्णव गीति-कविताओं (पदों) की जैसे बाढ़-सी आ गयी।

'ब्रजबुलि' शब्द बहुत हाल का है। उस विशेष साहित्य के लिए 'ब्रजबुलि-साहित्य' शब्द का प्रयोग बहुत इधर आकर होने लगा है। 'ब्रजबुलि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में मिलता है। बंगाली कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त की रचना में पहले-पहल इस शब्द का प्रयोग हुआ है। संभव है, इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिल जाय, लेकिन कम से कम अभी तक तो इसका पता नहीं चला है।

'ब्रजबुलि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर भी पंडितों में कम मतभेद नहीं है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि 'ब्रजबुलि' ब्रजभाषा नहीं है। बहुतों को भ्रम है कि यह ब्रजभाषा का बंगाली संस्करण है। हम आगे चलकर देखेंगे कि व्याकरण-संबंधी इसकी अपनी विशेषताएँ हैं और उससे ब्रजभाषा के व्याकरण का कोई संबंध नहीं। फिर भी विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है कि भाषा-तत्त्व की दृष्टि से 'ब्रजबुलि' और ब्रजभाषा का संबंध है।[२] 'ब्रजबुलि' में प्रयुक्त शब्दों को देखने से यह सहज ही पता चल जाता है कि इसमें बँगला के शब्दों का कम और ब्रजभाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग है। वैसे इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी मात्रा के संबंध में बहुतों का मतभेद है।

---

१. डा० जयकान्त मिश्र : हिस्ट्री ऑफ़् मैथिली लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ १३४। डा० सुकुमार सेन ने चौदहवीं शती के अन्तिम चरण में जन्म माना है; बङ्गला साहित्येर इतिहास, पृष्ठ ९। २. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी: ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ़् बेंगाली लैंग्वेज, पृ० १०३।

'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति के संबंध में कई मत हैं। डा० ग्रियर्सन का कहना है[3] कि ब्रजबुलि एक वर्णसंकर भाषा है जो बंगाली पदकर्त्ताओं द्वारा विद्यापति के पदों के अनुकरण से उत्पन्न हुई तथा यह न बँगला है और न मैथिली ही। डा० सुकुमार सेन ने इस मत को स्वीकार किया था, लेकिन बीस वर्ष बाद उन्होंने अपने मत में परिवर्तन किया है, जिसकी चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं। डा० दीनेशचन्द्र सेन का मत है कि "बृज्जि नाम के मिथिला के क्षत्रिय वंश की भाषा—ब्रजबुलि—वंग-साहित्य के बहुत से पृष्ठों को आच्छादित किये हुए है।"[5] इस मत को स्वीकार करने में कई आपत्तियाँ हैं। विद्यापति के समय अथवा उनके पहले इस नाम की कोई भाषा मिथिला में थी, इसका पता नहीं चलता। बृज्जि जाति का उल्लेख बुद्धदेवकालीन पालि-साहित्य में मिलता है। ये व्रात्य क्षत्रिय थे। बृज्जि जाति को अगर यह मान लें कि वह मिथिला की निवासी थी, तो भी यह मानना कठिन है कि दो हज़ार वर्षों बाद विद्यापति के काल तक उस जाति की भाषा चलती आ रही थी। इसे क्लिष्ट कल्पना के सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता।

डा० सुकुमार सेन ने अपने मत-परिवर्तन को स्वीकार करते हुए यह बतलाया है कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है।[6] इसके संबंध में भी हमें आगे कहने का मौक़ा मिलेगा। 'ब्रजबुलि' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में डा० सुकुमार सेन का कहना है कि यह शब्द 'ब्रजावली बोली' से बना है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि इस विशिष्ट भाषा के लिए माधवदेव ने ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के मध्य में 'ब्रजावली' शब्द का प्रयोग किया है।[7] माधवदेव आसाम प्रदेश के वैष्णव भक्त एवं प्रचारक शंकरदेव के शिष्य थे। डा० सेन ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि आसामी के अन्य शब्दों के समान 'ब्रजावली' का रूपान्तर बँगला में 'ब्रजाली' होना चाहिए था—जैसे आसामी के 'रूपावली' शब्द का बँगला में 'रूपाली' हो जाता है। उनका अनुमान है कि 'ब्रजाली बुलि' से 'ब्रजबुलि' बना है।[8] इस काव्य-भाषा की व्यापकता के संबंध में उनका कहना है कि अवहट्ठ से उत्पन्न होने के कारण इसे कनिष्ठतम सर्वभारतीय आर्यभाषा कह सकते हैं जिसका प्रसार मिथिला, नेपाल, बंगाल, आसाम और उड़ीसा में हुआ। भिन्न-भिन्न अंचलों में इसके रूप में थोड़ा परिवर्तन हो जाने के कारण स्थानीय विशेषताएँ हैं।

डा० सुकुमार सेन का मत 'ब्रजबुलि' की व्युत्पत्ति के संबंध में तर्कसंगत न होकर अनुमान पर ही अधिक आधारित है। वास्तव में अधिक तर्कसंगत यह मालूम होता है कि इस भाषा में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, अतएव कृष्ण की लीला-भूमि 'ब्रज' के साथ इसका संबंध जोड़ इसे 'ब्रजबोली' समझा गया होगा, और वही बंगाल में 'ब्रजबुलि' बन गया होगा। भाषा का यह नामकरण किसी पंडित और भाषाशास्त्र के विद्वान् का दिया हुआ नहीं होगा। 'ब्रजभाषा' से 'ब्रजबुलि' तक पहुँचना भाषाशास्त्र के नियमों से भले ही दूर पड़ता हो, लेकिन साधारण जनता

---

३. ग्रियर्सनः मैथिली चेस्टोमैथी, पृष्ठ ३४। ४. डा० सुकुमार सेनः हिस्ट्री ऑफ़ ब्रजबुलि लिटरेचर, पृष्ठ १-२। ५. दीनेशचंद्र सेनः बंग-भाषा ओ साहित्य (तृतीय संस्करण), पृष्ठ २२६। ६. विश्वभारती पत्रिका (बँगला), कार्तिक-पौष १३६२, पृष्ठ ११५। ७. वही, पृष्ठ १११। ८. वही, पृष्ठ १११-११२।

के लिए उसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तों का वृन्दावन के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है और ब्रजभाषा में लिखे उनके पद भी मिलते हैं। अतएव 'ब्रजबुलि' शब्द गढ़ते समय ब्रजभाषा का ध्यान में आ जाना कुछ कठिन नहीं।

डा० सुकुमार सेन के मत का हमने ऊपर ज़िक्र किया है कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है। अपभ्रंश कालक्रम से साहित्य की भाषा बन चुका था। इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश कह सकते हैं। यह परिनिष्ठित अपभ्रंश उत्तर भारत में आसाम से राजस्थान तक एक सामान्य काव्य-भाषा का रूप ले चुका था। ईसवी सन् की नवीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी तक इस काव्य-भाषा का इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर आधिपत्य बना रहा। इस काव्य-भाषा में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था, लेकिन इतना निश्चित है कि अल्पाधिक ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी तक इसका उपयोग इस भूभाग में होता रहा। लेकिन साथ ही साथ विभिन्न प्रदेशों की बोलियों का भी विकास हो रहा था। ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते इन बोलियों में कुछ का विकास इतना अधिक हुआ कि उनमें भी साहित्य-रचना होने लगी। परवर्ती अपभ्रंश और विभिन्न बोलियों के बीच का जो आपभ्रंश का रूप था, उसका भी काव्य-भाषा के रूप में उपयोग होता रहा और इस परवर्ती अपभ्रंश को ही 'अवहट्ठ' कहा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अवहट्ठ परिनिष्ठित अपभ्रंश और आधुनिक विभिन्न प्रदेशों की विकसित बोलियों के बीच की कड़ी जैसा है।

अवहट्ठ का भी व्यापक भाव से काव्य-भाषा के रूप में उपयोग होता रहा। परिनिष्ठित अपभ्रंश की तरह यह भी उत्तर भारत में एक सामान्य काव्य-भाषा बना रहा। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'ब्रजबुलि' के काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किये जाने के संबंध में आलोचना करते हुए अवहट्ठ का भी ज़िक्र किया है। उनका कहना है कि 'ब्रजबुलि' जैसी बनावटी भाषा जब कई प्रदेशों में काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण की जा सकती है तो इससे यह प्रमाणित करना कठिन नहीं है कि शौरसेनी अपभ्रंश अर्थात् अवहट्ठ मध्यदेश के अलावा बंगाल आदि प्रदेशों में भी अपना आधिपत्य जमाये हुए था।[९] लेकिन यहाँ एक बात ध्यान में रखना ज़रूरी है कि प्रान्त विशेष की छाप उस पर अवश्य लगी हुई थी। अतएव सामान्य काव्य-भाषा होने पर भी विभिन्न अंचलों के शब्द, प्रकाशन-भंगी आदि को अपने भीतर वह समाहित किये हुए था। यही कारण है कि शिवनन्दन ठाकुर, डा० उमेश मिश्र आदि ने अवहट्ठ को शौरसेनी अपभ्रंश नहीं माना है।[१०] बहुत लोगों ने अवहट्ठ के दो भेद—पूर्वी अवहट्ठ और पश्चिमी अवहट्ठ किये हैं।

'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग पहले-पहल अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने 'संदेश रासक'[११] में किया है। यह रचना संभवतः ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी की है। 'अवहट्ठ' शब्द का

---

९. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी: ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ् बंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १०४। १०. शिवप्रसाद सिंह: कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृष्ठ ८। ११. संदेशरासक; ६।

प्रयोग जोतिरीश्वर ठाकुर (ईसवी सन् की चौदवीं शताब्दी) के 'वर्णरत्नाकर' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' में मिलता है।

अवहट्ठ संबंधी उपर्युक्त विवेचना को ध्यान में रखकर अगर हम डा० सुकुमार सेन के मत की परीक्षा करें तो यह मानने में आपत्ति का कोई कारण नहीं हो सकता कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है; लेकिन उसे कनिष्ठतम सर्वभारतीय आर्यभाषा मानना कठिन है। 'ब्रजबुलि' की जो रचनाएँ आज उपलब्ध हैं उनसे इस बात को प्रमाणित करना संभव नहीं दीखता। अगर 'ब्रजबुलि' सर्वभारतीय काव्य-भाषा होती तो विभिन्न प्रान्तों की उपलब्ध सम-सामयिक रचनाओं में इसका रूप देखने को मिलता। पूर्वी प्रान्तों में भी यह बात देखने को नहीं मिलती। ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी से ही मिथिला में 'ब्रजबुलि' का परिचय मिलने लगता है। नेपाल मोरंग से उपलब्ध नाटकों के गीतों में 'ब्रजबुलि' के दर्शन ईसवी सन् की चौदवीं शताब्दी से होने लगते हैं। बंगाल, आसाम और उड़ीसा में ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी में 'ब्रजबुलि' की रचनाएँ मिलती हैं। इससे पहले की रचना अभी तक उन प्रदेशों में नहीं मिली है।

अतएव बंगाल के ब्रजबुलि-साहित्य को हम ध्यान में रखें तो यह कहने में संकोच नहीं होगा कि 'ब्रजबुलि' मैथिली से प्रभावित एवं खिचड़ी भाषा है। विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक ललित पदों ने बंगाल के शिक्षित समुदाय को अत्यधिक प्रभावित किया। विद्यापति का बंगाल में बहुत समादर हुआ। उनके अनुकरण पर उन्हीं की भाषा में बंगाली कवियों ने काव्य-रचना करनी शुरू की। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि उनकी रचनाओं में बँगला के शब्द और बँगला भाषा की विशेषताओं का समावेश हो। बंगाली कवियों ने विद्यापति की पदावली का अनुकरण करने जाकर एक नयी भाषा की ही सृष्टि कर डाली। इसे ही ग्रियर्सन ने साहित्य के इतिहास की एक अद्भुत बात कही है।[१२] यह नई काव्य-भाषा ही 'ब्रजबुलि' है।

'ब्रजबुलि' की भाषागत विशेषताओं पर सबसे पहले श्री सतीशचन्द्र राय एम० ए० ने प्रकाश डालने का प्रयास किया था। 'पदकल्पतरु' के पंचम खण्ड में वैष्णव पदकर्त्ताओं द्वारा रचित प्रायः तीन हज़ार से अधिक पदों की सूची, शब्द-सूची तथा भूमिका आदि उन्होंने प्रस्तुत की है। इसी में उन्होंने ब्रजबुलि-व्याकरण तथा उसकी भाषागत विशेषताओं पर भी थोड़े में प्रकाश डाला है। बाद में श्री सुकुमार सेन ने इसके संबंध में अपनी पुस्तक 'भाषार इतिवृत्त' में कुछ विस्तार से विचार किया है।

'ब्रजबुलि' के पदों को देखने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि 'ब्रजबुलि' में तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर अधिक झुकाव है। बहुत से ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जो 'ब्रजबुलि' की उच्चारण-संबंधी विशेषताओं के कारण कुछ परिवर्तित हो गये हैं। उच्चारण के कारण ही बहुत से ब्रजभाषा के शब्द भी कुछ परिवर्तित रूप में 'ब्रजबुलि' में मिलते हैं। अरबी, फ़ारसी शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त हुए हैं।

'ब्रजबुलि' की उच्चारण-संबंधी सबसे पहली विशेषता यह है कि दीर्घ स्वरों का सब समय

१२. मैथिली क्रेस्टोमैथी, पृष्ठ ३४।

दीर्घ ही जैसा उच्चारण नहीं होता। छन्दानुरोध से दीर्घ स्वर ह्रस्व की तरह भी उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार संयुक्ताक्षर के पूर्व का ह्रस्व स्वर सब समय दीर्घ जैसा ही उच्चरित नहीं होता। जैसे 'यमुनाक तिर उपवन उदबेगल' में 'ना' को दीर्घ जैसा पढ़ने पर छन्दोभंग होगा। इसी प्रकार 'भनइ विद्यापति' में 'वि' को ह्रस्व जैसा ही पढ़ना होगा। शब्द के प्रारंभ में यदि 'य' हो तो उसका उच्चारण 'ज' होगा। स्वर-ध्वनि के परिवर्तन के कुछ निम्नलिखित उदाहरणों से 'ब्रजबुलि' की उच्चारण संबंधी विशेषता को समझा जा सकता है—

अ आ : अजानु<आजानु, अतुर < आतुर, अभरण<आभरण, बालुक<बालुका, पताक<पताका।

आ<अ : अनुपाम<अनुपम, आति<अति, मिलान<मिलन, आकुर<अक्रूर, आखर< अक्षर।

इ<ई : हिन<हीन, रित<रीति, निति<नीति, दासि<दासी, कमनिय<कमनीय।

ई<इ : अमीलन<अमिलन।

इ<य : सति<सत्य, लावणि<लावण्य, लखि<लक्ष्य, भागि<भाग्य, निति < नित्य।

ऊ<उ : मूख<मुख।

अ<ओ : मनरथ<मनोरथ, मनभव<मनोभव, कपल<कपोल, गोरचन<गोरोचन।

अ (विप्रकर्ष) : लुबध<लुब्ध, मुगध<मुग्ध, भरम<भ्रम, शबद < शब्द, सपन<स्वप्न, अविघन<अविघ्न।

इ (विप्रकर्ष) : सिनेह<स्नेह, सिनान<स्नान, लखिमि-लछिमि < लक्ष्मी।

उ (विप्रकर्ष) : पुहुप<पुष्प, खुबुध<खुब्ध, धुरुव<ध्रुव।

रि<ऋ और कभी ऋ का लोप : तिरपित<तृप्त, तिरि<स्त्री, तिरिषा<तृषा, त्रीणे<तृण, दढ<दृढ़।

इसी प्रकार व्यंजन-ध्वनि के परिवर्तन में कुछ निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ 'ब्रजबुलि' में देखने को मिलती हैं—

(अ) 'म' को छोड़ कर स्पर्श वर्णों के पहले अगर 'श', 'ष', 'स' हों तो उनका प्रायः ही लोप हो जाता है; जैसे, निचल<निश्चल; दीठ, दिठि<दृष्टि; जेठ<ज्येष्ठ, ओठ<ओष्ठ, गोठ<गोष्ठ; दूतर<दुस्तर; थीर, थिर<स्थिर, अथिर<अस्थिर, थल, अथल<स्थल, कन्ध<स्कन्ध, खलित<स्खलित, तिमित<स्तिमित, न्यासी<संन्यासी।

(आ) छ<स : छिरि<श्री, उछाह<उत्साह, चिकिछा<चिकित्सा, छरम<श्रम।

(इ) ख<ष, क्ष : अनिमिख<अनिमिष, दोख<दोष; हरख, हरिख<हर्ष, अनुखन <अनुक्षण,; अलखी, अलखि<अलक्ष्मी, आखर<अक्षर, कटाख<कटाक्ष, औखद<औषधि।

(ई) कभी-कभी ध<द : अवसाध<अवसाद, औखद<औषधि।

(उ) स्वरों के बीच की महाप्राण ध्वनि ह कार में परिवर्तित हो जाती है : जैसे पहुँ, पहु<प्रभु, मुह<मुख, मेह<मेघ, बहू<वधू, बिहि<विधि, नाह<नाथ; पुहप, पुहुप< पुष्प, शोहा<शोभा।

(ऊ) कभी-कभी 'स' का 'ह' हो जाता है; जैसे--माह < मास।

(ए) युग्म व्यंजनों में एक के लोप हो जाने पर पूर्ववर्ती स्वर साधारणतः दीर्घ नहीं होता; जैसे—उलास < उल्लास, उध < उर्ध्व, उच < उच्च।

(ऐ) कभी-कभी स्वरों के बीच के व्यंजन का लोप हो जाता है और य-श्रुति का आगम होता है; जैसे—कनय < कनक, नायर < नागर, नायरी < नागरी; मयमत्त, मयमद < मदमत्त।

(ओ) कभी-कभी 'ड़' का 'र' में भी परिवर्तन देखने को मिलता है; जैसे—जोरा < जोड़ा, खरग < खड्ग।

(औ) कभी-कभी छन्द के अनुरोध से वर्णों का लोप हो जाता है; जैसे—दन्द < द्वन्द्व; पयाग < प्रयाग, धनि < ध्वनि, सतर < सत्वर, सतन्तर < स्वतंत्र, मरन्द < मकरंद; अवगान, अवगाह < अवगाहन।

(अं) छन्दानुरोध से नासिका स्थान वाले व्यंजन चन्द्रविन्दु में परिवर्तित हो जाते हैं; जैसे—पाँति < पंक्ति, आँकुर < अंकुर, पाँच < पंच, आँचर < अञ्चल, आँतर < अन्तर, भराँति < भ्रांति, आँत < आत्मा।

'ब्रजबुलि' के शब्द-रूप की एक विशेषता हिन्दी, बँगला, मैथिली जैसी है और वह विशेषता यह है कि 'ब्रजबुलि' में द्विवचन की कोई विभक्ति नहीं है। वैसे 'ब्रजबुलि' में बहुवचन के लिए भी कोई विभक्ति-चिह्न नहीं है। बहुवचन का संकेत करने के लिए 'आदि', 'सब', 'गण' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

'ब्रजबुलि' में कर्त्ता के एकवचन में साधारणतः किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है। वैसे कभी-कभी 'ए' तथा 'उ' का प्रयोग करते हैं। कर्म कारक की कोई विभक्ति नहीं होती, इसलिए कर्त्ता और कर्म का निर्धारण वाक्य के अर्थ द्वारा होता है।

तृतीया में 'ए', 'हि', 'हिं' का प्रयोग देखने को मिलता है; जैसे—'झर झर लोरहि लोलित काजर' (लोरहि = अश्रु से); 'करहि निवारत गोरी' (करहि = हाथ से)।

गौण कर्म-चतुर्थी में 'क', 'के', 'कि' विभक्ति का प्रयोग मिलता है. जेसे—'राइक परिहरि' (राइक = राधिका को)।

पंचमी में 'हि' 'हिं' 'सें' 'सों' 'सञे' 'ते' 'तें' विभक्ति का प्रयोग मिलता है, जैसे—कुञ्जहि बाहिर भेल; वनतें गिरिधर घर आवे; सेज सञे उठल।

षष्ठी में 'क', 'का', 'कि', 'की', 'कु', 'के', 'को', 'कर', 'करु', 'केरि', 'हक', 'कहु' विभक्तियों का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे—पेखलुं जनु थिर बिजुरिक माला; जेठकि मास; हरिको नाम; रूप के कूप; पिता-केरि ठाइ; मुनिहक मानस; हरिकहु चरणा।

सप्तमी का अधिकरण कारक में 'ए', 'हि', 'हिँ', 'हुँ', 'मि', 'मे', 'म', 'मह' विभक्तियों का प्रयोग देखने को मिलता है; जैसे—इह सब भुवने; मरमहि; निँदहुँ (नींद में); ता मह (उसमें)।

'ब्रजबुलि' में सर्वनाम की अन्य भाषाओं की तरह अपनी विशेषता है। वैसे उस पर ब्रजभाषा, बँगला, तथा मैथिली का प्रभाव पड़ा है। 'ब्रजबुलि' में सर्वनाम के बहुवचन का स्वतन्त्र रूप नहीं है।

(क) अस्मद् शब्द : १. कर्त्ता—हाम, हम, हामु, हामि, हामे, मञिँ, मुञि, मो। २. कर्म—मुझे, हमे, हामे, हामा, हामु, हामाकु, हामाके, मोइ, मोय, मोहे। ३. करण—मोय, मोहे, हमे। ४. सम्प्रदान—मुझे, हमे, हामे। ५. अपादान—हसा सञे। ६. सबंध—मोर, मोरि, मोइ, मोय, मो, मेरा, मेरि, मेरे, मोहर, मोहरि, हामार, हमार, हामारि, हमारि, हामरा, हामक, हामुक, हामकेरि। ७. अधिकरण—हसे, हासे, मोहे।

(ख) युष्मद् शब्द : १. कर्त्ता—तुहुँ, तुहु, तु, तो, तोइ। २. कर्म—तोहे, तुहे, तोइ, तोय ३. करण—तो सोँ, तोहे, तुया ४. सम्प्रदान—तोहे। ५. अपादान—तो सञे, तुहुँ सञे। ६. संबंध—तुया, तुय, तुयाक, तुहुँक, तुहुँकर, तोहे, तोहार, तुहार, तोहारि, तोहाकेरि, तोरा, तेरा, तेरि, तेरे ७. अधिकरण—तोहे, तुहे, तोहारि।

(ग) तद् शब्दः १. सो, सोय, सोइ, से, सेह, सेहि, तुह २. सो, सोइ, तहि, ताहि, ताहे, ताह ३. करण—ताय, तासञे ४. सम्प्रदान—ताहे। ५. अपादान—ता सञे। ६. संबंध—तछु, ता, ताक, ताकर, ताकेरि, तह्निक, तिह्निक ७. अधिकरण—ताहे, ताहि, ताह, तहि, तासु, तछु, तामह।

(घ) यद् शब्द : ('य' का उच्चारण 'ज' होगा) १. कर्त्ता—यो, योइ, योहि, ये, येह २. कर्म—याहे ३, करण—या सञे। ४. सम्प्रदान—याहे ५. अपादान—या सञे ६. संबंध—यछु, यछुका, याक, याँक, याकर, याकेरि, याके, याँके, याहे, या ७. अधिकरण—याहे, यासु।

(ङ) एतद् शब्द : १. कर्त्ता—ए, एह, इ, इह २. कर्म—एतहुँ ३, संबंध—अछु, अछुक, इह्निक, इनुके, इनुकि, इहक, इहकर।

(च) किम् शब्द : १. कर्त्ता—को, कोँइ, केह, केहु, कौन, कौने, कि, किये, कीये २. कर्म—काहु, काहुके, काह, काय, काहि, काहे, कि ३. करण—क, काहाँ ४. संबंध—काह, काय, काहु, काहुक, कहुक, काहे ५. अधिकरण—काहाँ, काहे कहि।

(छ) अदस् शब्द : १. कर्त्ता—उह, उह्नि, ओ, ओइ, ओहि २. कर्म—उहे ३. संबन्ध—ओर, उह्नक, उह्निक, उह्नके, उनुकि ४. अधिकरण—उनहि, उनते।

निम्नलिखित कुछ क्रियाविशेषण शब्द 'ब्रजबुलि' में प्रयुक्त होते हैं। 'यहाँ' के लिए 'इथि' 'इथे', 'इह'; 'वहाँ' के लिए 'तहि', 'ततहि', 'ताँहा', 'तथि', 'ततिहुँ', 'ताँहि'; 'जहाँ' के लिए 'याहाँ', 'याहिँ', 'यहिँ', 'यथि' ('य' का उच्चारण 'ज' होगा); तब के लिए 'तब', 'तैखने', 'तहिँ'; 'कहाँ' के लिए 'कथि', 'कथिहुँ', 'काहाँ', 'काहुँ'; 'अथवा' के लिए 'किए'; 'क्यों' के लिए 'काहे', 'किये', 'कमने', 'कथि', 'कति'।

'ब्रजबुलि' की क्रियाओं के तीनों कालों की निम्नलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं :

(क) वर्तमान काल : १. उत्तम पुरुष में धातु में अ, इ, उ, ओँ, ओ, उँ, एहुँ संयुक्त करते हैं; जैसे—'कह', ,कहि', 'कहु', 'कहो', 'कहोँ', 'कहुँ', 'कहिएहुँ', 'प्रार्थहुँ'। वैसे 'हुँ' स्वतंत्र रूप से भी प्रयुक्त हुआ है; जैसे—ताकेरि हुँ हामु दासकु दासा। यहाँ यह कह रखना भी आवश्यक है कि एकवचन और बहुवचन के रूप में कोई भेद नहीं है।

(२) मध्यमपुरुष में धातु में अ, इ, उ, असि, आ और कहीं-कहीं 'ह' का भी योग किया हुआ मिलता है; जैसे—'रह', 'अनुमानि', 'रहु', 'पुछसि', 'काम्पा' तथा 'बाढह'।

(३) अन्यपुरुष में धातु में अ, आ, इ, उ, उँ, ए, अइ, अये, ये, ति, हु का योग करते हैं; जैसे—भण', 'भाणा', 'काँपि', 'जागु', 'रहुँ', 'चले, 'पुछइ', 'उगये', 'गणिये', 'नटति'; कहीं-कहीं 'न्ति'; जैसे—'गरजन्ति', 'लेपहु'।

वैसे 'त' लगाकर भी वर्तमान काल का रूप 'ब्रजबुलि' में मिलता है जैसे 'धरत', 'देत' 'आदि'।

(ख) भूतकाल में साधारणतः 'ल' या 'अल' का योग करते हैं: १. उत्तमपुरुष में 'लुँ', 'ल', 'लम' का प्रयोग मिलता है, जैसे—'पेखलुँ', 'कयल', 'कहलम'। २. मध्यमपुरुष में 'लि' योग करते हैं; जैसे—'आछलि'। ३. अन्यपुरुष पुल्लिग में 'ल' और स्त्रीलिंग में 'लि' का योग करते हैं; जैसे—'देल', 'शुतलि'। वैसे तीनों पुरुषों में धातु के अन्त में आ, हि, ता, हुँ का योग करने से भी भूतकाल की क्रिया बनती है; जैसे—'भुलला', 'गेला', 'भेलहि', 'चललिहुँ'। इसी प्रकार तीनों पुरुषों में धातु के अन्त में 'इ' लगाने से भूतकाल की क्रिया बनती है, जैसे—'बिहसि', 'नेहारि'।

(ग) भविष्यत् काल में साधारणतः धातु के अन्त में ब, बि, बे का योग करते हैं। १. उत्तमपुरुष : बोलब, देबि; २. मध्यमपुरुष : पैठबि; ३. अन्यपुरुष : मिलायब, करबे।

(घ) अनुज्ञा में अ, इ, उ, उँ का प्रयोग मिलता है; जैसे—मध्यमपुरुष : 'कर' 'हेरह'; अन्यपुरुष : 'चलउ', 'रहुँ'। भविष्यत् काल में मध्यमपुरुष में 'इह' का प्रयोग करते हैं; जैसे—'करिह'।

'ब्रजबुलि' में नामधातु का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है; जैसे—नृत्यत < नृत्य, अनुमानइ < अनुमान, परलापसि < प्रलाप, विषादइ < विषाद, आदि।

असमापिका क्रिया में साधारणतः 'इ' का प्रयोग करते हैं; जैसे—देखि, पहिरि।

संस्कृत के समान ही 'ब्रजबुलि' में समास की रीति है; जैसे—हृदय-पाषाण आदि।

अव्ययों में 'जनि' का प्रयोग 'ब्रजबुलि' में निषेध के लिए करते हैं।

व्याकरण और भाषा की दृष्टि से 'ब्रजबुलि' का अध्ययन वास्तव में अभी तक समुचित ढंग से नहीं हुआ है। डा० सुकुमार सेन ने थोड़े विस्तार से 'ब्रजबुलि' के व्याकरण पर अपनी पुस्तक 'भाषार इतिवृत्त' में प्रकाश डाला है।

हम प्रारंभ में ही देख चुके हैं कि वैष्णव पदकर्त्ताओं द्वारा रचित जो पद उपलब्ध हैं उन्हें देखने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि उनमें संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक थी। अरबी-फ़ारसी शब्द भी उन पदों में पाये जाते हैं, लेकिन बहुत ही कम। 'पदकल्पतरु' के पदों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'पदकल्पतरु' अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण संग्रह है। बंगाल के वैष्णव कवियों के पदों का इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण संग्रह संभवतः दूसरा नहीं है। इसमें तीन हज़ार से भी अधिक पद संगृहीत हैं। इसमें 'ब्रजबुलि' तथा बंगला के पदों के साथ-साथ कुछ ब्रजभाषा के कवियों के पद भी पाये जाते हैं, जैसे सूरदास, श्रीभट्ट, व्यास आदि के। कुछ

बंगाली पदकर्त्ताओं ने ब्रजभाषा में पदों की रचना की थी, वैसे पद भी 'पदकल्पतरु' तथा अन्य वैष्णव पद-संग्रहों में पाये जाते हैं। 'पदकल्पतरु' में ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से प्रारंभ कर ईसवी सन् की अट्ठारहवीं शताब्दी तक के लगभग एक सौ तीस पदकर्त्ताओं के पद संगृहीत हैं। इस पद-संग्रह का नाम पहले संभवतः 'गीत-कल्पतरु' था। 'पदकल्पतरु' का संग्रह गोकुलानंद सेन ने किया था जो वैष्णवदास के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका काल सन् १७१८ ई० के लगभग है। इस संग्रह के भिन्न-भिन्न कई संस्करण प्रकाशित हुए, लेकिन सतीशचन्द्रराय का संस्करण, जो पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ है, सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है 'पदकल्पतरु' में आये हुए अरबी-फ़ारसी के शब्द निम्नलिखित हैं—

कलिजा (कलेजा), फारक (फ़ारिग़), कामान (कमान), कारिगर (कारीगर), किताप (किताब), कोमर (कमर), खुसि (खुशी), गुलाब, जबद (ज़ब्त), जीद् (ज़िद), जुलुप (ज़ुल्फ़), जोर (ज़ोर), तकल्लबि (तकल्लुफ़), दरिया, दाग, दालाल, दिल, दोत (दावात), दोकान, बेगर (बग़ैर), आतर (इत्र), कलम, कागज, कुलुप (कुलफ़, क़ुफ़्ल), खत, नफर, नालिश, बाजार, बालिश, महल, माफ, मुहर, सरम, साहेब। अगर इस बात को ध्यान में रखें कि 'पदकल्पतरु' के तीन हज़ार से भी अधिक पदों में कम ही 'ब्रजबुलि' के पद हैं तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि अरबी, फ़ारसी के शब्दों का कितना कम प्रयोग हुआ है।

●

एस० एम० कत्रे

'ले जाना'[1] और 'लाना'[2] के लिए कुछ भारतीय आर्य भाषा शब्द

§ १. तुलनात्मक व्याकरण के अन्तर्गत रूपविकास तथा ध्वनिविकास संबंधी उन परिवर्तनों का तो विस्तृत निरूपण किया गया है जो एक विशिष्ट परिवार की प्रत्येक भाषा के द्वारा ऐतिहासिक विकास-क्रम में अपनाये गये हैं, किन्तु ऐसे विस्तृत अध्ययन का नितान्त अभाव है, जिसमें प्रत्येक भाषा की निजी विकास-सारणी में प्रदर्शित शब्दचयन तथा शब्द-सापेक्षता को ध्यान में रखते हुए परम्परागत शब्दकोश का सम्यक् निरूपण हो। हाल ही में पूना विश्वविद्यालय के 'गुणे स्मारक व्याख्यान माला' के उद्घाटन में सर राल्फ़ टर्नर ने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि अमेरिकन तथा ब्रिटिश इंगलिश की अन्य भिन्नताओं के साथ ही साथ एक ही भाव या वस्तु को व्यक्त करने के लिए शब्दावली भी भिन्न है; यथा 'गेस', 'एलीवेटर' और 'ट्रालीकार' के लिए क्रमशः 'पेट्रोल', 'लिफ़्ट' और 'ट्रैम'। इन भिन्नताओं का क्या कारण है? क्या भौमिक भाषाविज्ञान (areal linguistics) इस प्रकार की भिन्नताओं के मूलोद्गम पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करने में समर्थ है?

§ २. अनेक न० भा० आ० (NIA) भाषाओं में मराठी 'ले जाना' के लिए अपनी मूल धातु म० 'नेणें', प्रा० 'णेइ', पा० 'नेति', सं० 'नयति' से ग्रहण करती है। रोमनी (Syr.), सोवारी, तोरवाली, काश्मीरी, पश्चिमी पहाड़ी, असमी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी और सिन्धी इस विशेषता को अपनाती हैं। दूसरी ओर मराठी में 'आणणें', प्रा० 'आणेइ', पा० 'आनेति', सं० 'आनयति' भी है। यह विशेषता भी पूर्वी भाषाओं यथा बंगाली-उड़िया द्वारा अपनायी जाती है। दूसरी ओर पश्चिमी पहाड़ी और दरदी (देखिए, पाल टडेस्को, जे० ए० ओ० एस० ४३, ३७५) अंशतः इस परम्परा को अपनाती हैं और यद्यपि पंजाबी, लहंदा, सिन्धी-गुजराती द्वारा भी यह रूप अपनाया गया है, किन्तु इन भाषाओं में तथाकथित 'ले' रूप ने यथार्थ प्रचलित प्रयोग में इसका स्थान ले लिया है।

§ ३. कोंकनी बोलियाँ, जो सामान्यतया मराठी की ध्वनि-विकास संबंधी विशेषताओं को अपनाती हैं, उपर्युक्त दोनों भावों की अभिव्यक्ति के लिए सं० 'हृ' धातु से अपने शब्द ग्रहण करती हैं। सं० 'आहृत', पा० 'आहट', प्रा० 'आहड' से कोंकनी 'हाडता' (brings), रूप प्राप्त होता

---

१. ले जाना = Take away. २. लाना = Bring.

है। इसी प्रकार सं० 'अपहरति' से कोंकनी 'ह्वरता' (take away) रूप विकसित होता है। जब कि 'नयति', 'आनयति', 'हरते', 'अपहरति' रूप ऋग्वेद काल से प्रमाणित हो जाते हैं, 'लभते' का प्रमाण प्राचीन संस्कृत काल में मिलता है। इस पर भी प्रा० भा० आ० (OIA) के मध्यवर्ती वर्ग के वंशजों ने उन शब्द-रूपों को प्रयोग से निष्कासित कर दिया है जो धातु 'नी' और 'हृ' से विकसित हुए थे। प्रश्न यह है कि कोंकनी बोलियाँ पश्चिम में मराठी तथा पूर्व में असमी-बंगाली-उड़िया द्वारा अपनायी गयी सामान्य विकास परम्परा से विचलित क्यों हुई? इस प्रकार के शब्द-रेखाचक्र (isoglass systems) का अनुसंधान करके ऐसे कारणों का पता लगाना महत्वपूर्ण होगा, जो भिन्न स्थिति में भिन्न प्रकार के शब्दचयन को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार के अनुसंधान-कार्य के लिए यह आवश्यक होगा कि पर्यायवाची शब्दों की एक ऐसी नियमावली निर्मित कर ली जाय, जिसके द्वारा सगोत्री समान सार्थक शब्दों के प्रत्येक प्रयोग को कालक्रमानुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सके। भारत के सार्वभौमिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि हमें ऐसी सामान्य शब्दावली के निर्माण में सफलता प्राप्त करनी है जो भिन्न-भिन्न भाषाओं की वर्तमान प्रणाली पर ऊपर से कृत्रिम दबाव डाले बिना एक भाषा-परिवार से संबंधित भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के बीच अन्तर्व्यवहार को संभव बना सके, तो इस प्रकार के अनुसंधान-कार्य की महती आवश्यकता है।

●

टी० वाई० एलिज़ावेन्कोवा

हिन्दी भाषा की प्रेरणार्थक क्रियाओं में असुषमत्व*

परम्परागत व्याकरण के अनुसार हिन्दी में किसी क्रिया के दो प्रेरणार्थक रूप संभव हैं। पहले प्रकार का प्रेरणार्थक रूप, जो क्रिया के मूल-रूप में पर-प्रत्यय 'आ' (कभी-कभी 'ला') जोड़ने से बनता है अथवा मूल स्वर में परिवर्तन करने से बनता है (स्वरों के एक निश्चित प्रकार के समूह होने की दशा में), मूल क्रिया द्वारा जो अभिव्यक्त होता है उसे बलपूर्वक करने अथवा उसमें सहायता करने का अर्थ रखता है। दूसरे प्रकार का प्रेरणार्थक रूप, जो क्रिया के मूल-रूप में पर-प्रत्यय 'वा' (कभी-कभी 'लवा') जोड़ने से बनता है—अनेक क्रियाओं के होने की दशा में मूल स्वर में एक परिवर्तन संभव है—मूल क्रिया द्वारा अन्तवर्ती की सहायता से (न कि स्वयं अपने आप सीधे) जो अभिव्यक्त होता है उसे बलपूर्वक करने अथवा उसमें सहायता करने का अर्थ रखता है।

सकर्मकता के क्रमानुसार हिन्दी में प्रभेदात्मक क्रियाएँ पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होतीं और सकर्मकता-अकर्मकता के अनुसार उनमें बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरणात्मक संदर्भों का अन्य प्रक्रियाओं से मिलना संभव है। सबसे पहले, उपपद के अर्थ बताने वाले प्रत्यक्ष पारस्परिक संबंध का प्रयोग करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया का महत्व यह है कि यह उन विशिष्ट गुणों को समझाने की सामर्थ्य रखती है, जो कि परिवर्तनशील वाक्य-रचना में मन्द पड़ जाते हैं। स्पष्ट रूपगत विश्लेषण की दृष्टि से इस प्रकार की वाक्य-रचना के ऐसे ही उदाहरण होंगे—

(१) मैंने उसकी मदद की। (२) मैंने उसकी किताब ली।

यदि इस कथन को एक भिन्न रचना-शैली द्वारा रूपान्तरित किया जाय तो उनमें अन्तर दिखाई देता है—

(१) उसे मेरी मदद मिली। (२) मुझे उसकी किताब मिली।

कभी-कभी किसी भाषा की रचना-प्रणाली के विशिष्टीकरण को समझाने के लिए इसके अन्य भाषागत रूपान्तर का प्रयोग होता है; उदाहरणार्थ अनेक जगह हिन्दी में परसर्ग का अर्थ अंग्रेजी के भिन्न उपसर्गों द्वारा अनुवादित होगा—

दोस्त से मिलना—to meet a friend.

क़लम से लिखना—to write with a pen.

---

* 'asymmetry' के अर्थ में प्रयुक्त।

कमरे से जाना—to go out of the room.

दिल्ली से बम्बई तक—from Delhi to Bombay.

व्याकरणगत श्रेणी का निष्कर्ष न केवल उसकी आन्तरिक विशिष्टताओं—वरन् उस भाषा की अन्य श्रेणियों में उसके स्थान—से भी निश्चित किया जाता है। रूप की दृष्टि से हिन्दी में एक ही मूल से उत्पन्न अनेक क्रियार्थक शब्द-रूपों के प्रचलित प्रभेदात्मक प्रतिरूपों को पृथक करना संभव है —

धातु-रूप		धातु-रूप +आ	:	धातु-रूप + वा
बनना	:	बनाना	:	बनवाना
लिखना	:	लिखाना	:	लिखवाना

अधिकांशतः ऐसी क्रियाओं के शब्द के पहले स्वर दीर्घ नहीं होते (फैलना, फैलाना, फैलवाना; लौटना, लौटाना आदि) और धातु-रूप का अन्त सदैव व्यंजन से होता है। इस प्रकार के प्रतिरूप में भिन्नता तब होती है जब मूल धातु-रूप त्रयाक्षार होता है और दूसरे रूप में दूसरे अक्षर का 'अ' पूर्णतः अन्तर्हित होता है; उदाहरणार्थ—

लटकना	:	लटकाना	:	लटकवाना
पिघलना	:	पिघलाना	:	पिघलवाना, आदि।

धातु-रूपों के प्रभेद का यह सर्वाधिक उत्पादक और प्रचलित रूप है। मूल स्वर का यह परिवर्तन गौण होता है; उदाहरणार्थ—

खुलना	:	खोलना	:	खुलवाना
खिंचना	:	खेंचना	:	खिंचवाना, आदि।

अथवा मात्रिक होता है; उदाहरणार्थ—

लुटना	:	लूटना	:	लुटवाना
पिसना	:	पीसना	.	पिसवाना
मरना	:	मारना	:	मरवाना, आदि।

इस प्रकार के त्रयाक्षरी धातु-रूपों में दूसरे अक्षर का स्वर दीर्घ हो जाता है; उदाहरणार्थ—

निकलना	:	निकालना	:	निकलवाना
उखड़ना	:	उखाड़ना	:	उखड़वाना

कुछ क्रियाओं में स्वरों के परिवर्तन के साथ व्यंजनों में भी परिवर्तन होता है ('ट' और 'ड़'); उदाहरणार्थ—

छूटना	:	छोड़ना	:	छुड़वाना
बिकना	:	बेचना	:	बिकवाना

धातु-रूपों की रचना का यह रूप सदा नियंत्रित रूप से नहीं होता। अनेक जगह क्रियार्थक धातु-रूपों की रचना में दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें पर-प्रत्यय 'आ' के साथ कोई परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार प्रभेद की इस शृंखला में चार प्रतिरूप होते हैं; उदाहरणार्थ—

लदना	:	लादना	:	लदाना	:	लदवाना
दिखना या दीखना	:	देखना	:	दिखाना	:	दिखवाना
जुटना	:	जोड़ना	:	जुटाना	:	जुटवाना
टूटना	:	तोड़ना	:	तुड़ाना	:	तुड़वाना, आदि।

मूल धातु-रूप का यह प्रतिरूप बनावट की दृष्टि से सीमित होता है। धातु-रूप सदैव दो अक्षर वाला होता है, प्रथम अक्षर का स्वर दीर्घ होता है; उदाहरणार्थ—

सीखना	:	सिखाना, सिखलाना	:	सिखवाना
ओढ़ना	:	उढ़ाना	:	उढ़वाना
लेटना	:	लिटाना	:	लिटवाना, आदि।

विभिन्न अनियमित रूप—जैसे 'भीगना' से 'भिगोना' के साथ 'भिगाना' और 'डूबना' से 'डुबोना' के साथ 'डुबाना' आदि—प्रेरणार्थक क्रिया के प्राचीन पर-प्रत्यय के अनियमित प्रतिबिम्ब लगते हैं। अन्तिम दीर्घ स्वर के साथ वाले मूल धातु-रूप : लघु स्वर+पर-प्रत्यय 'ला' के साथ वाले धातु-रूप : लघु स्वर+पर-प्रत्यय 'लवा' के साथ वाले धातु-रूप। उदाहरणार्थ—

पीना	:	पिलाना	:	पिलवाना
सोना	:	सुलाना	:	सुलवाना
खाना	:	खिलाना	:	खिलवाना, आदि।

इस प्रकार हिन्दी में क्रियार्थक धातु-रूपों के ये प्रमुख प्रभेदात्मक रूप हैं। इनकी परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम स्वर वाले (अपेक्षाकृत संख्या में कम)—साथ ही अन्तिम व्यंजन वाले धातु-रूपों के अनुसार एक दूसरे से बहुत अन्तर रखते हैं। अन्तिम व्यंजन वाले धातु-रूपों में मूल धातु-रूपों के रूप के आधार पर यह निश्चित करना असंभव है कि वे विभेद की किस श्रेणी से संबंध रखते हैं; उदाहरणार्थ—

पलना :	पालना :	पलवाना
किन्तु, मलना :	मलाना :	मलवाना
पकड़ना :	पकड़ाना :	पकड़वाना
किन्तु, बिगड़ना :	बिगाड़ना :	बिगड़वाना

कोई धातु-रूप किस प्रकार के प्रभेद से संबंध रखता है, यह जानने के लिए उस रचना में आये पहले दो शब्दों को जानना आवश्यक है। इसके साथ-साथ इस प्रकार की भी क्रियाएँ

हैं जिनके विरोधात्मक प्रतिरूपों का दूसरा तथा तीसरा अक्षर लुप्त रहता है; उदाहरणार्थ दीर्घ स्वर वाले कुछ धातु-रूपों के पहले और तीसरे रूप ही होते हैं—

गाना : गवाना; खेना : खिवाना; लेना, लिवाना।

अनेक क्रियाओं में तीसरा रूप प्रयुक्त नहीं होता; उदाहरणार्थ—

बचना : बचाना : हारना : हराना : आदि।[1]

ऐसी भी क्रियाएँ हैं जो ऊपर उल्लिखित प्रभेदात्मक रूपों के अन्तर्गत नहीं आतीं अथवा कह सकते हैं कि इस प्रकार के प्रभेद का दूसरा और तीसरा रूप व्यर्थ-सा लगता है; उदाहरणार्थ-

होना, रहना, आना, जाना, पड़ना, पाना, लेना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल धातु-रूप शब्द के रूपगत भेद के साथ अर्थगत भेद होते हैं। एक भिन्न प्रकार के प्रतिरूप के अर्थगत विभेद क्रियार्थक धातु की रूपगत प्रभेदात्मक योजना के ही अनुरूप होंगे। ये इस बात पर निर्भर करते हैं कि विपक्ष का शब्द सकर्मक क्रिया है या नहीं।

जैसा कि हम जानते हैं, इस विभेद का, जिसका पहला पद अकर्मक क्रिया है, दूसरा पद सामान्य सकर्मक अर्थ रखता है न कि प्रेरणार्थक; उदाहरणार्थ—

१. बोरे गिर रहे हैं।
२. कुली बोरे गिरा रहा है।
३. महल बनता है।
४. कारीगर महल बनाते हैं।

इस प्रकार के विभेद के पहले वाक्य में एक कर्तृवाच्य अकर्मक (गिरना, चलना, उठना आदि) और मध्य-कर्मवाच्य (बनना, कटना, धुलना आदि) के अर्थ का होना संभव है। इस प्रकार का विभेद हिन्दी में नियमित रूप से अभिव्यक्त नहीं होता। तीसरा वाक्य, जो परम्परागत व्याकरण के अनुसार दूसरे वाक्य के प्रेरणार्थक रूप में माना गया है, वास्तव में (जैसा कि बेली महोदय के ग्रंथ में दिखाया गया है) सकर्मक क्रिया से नहीं, वरन् कर्मवाच्य सकर्मक से प्रेरणार्थक है; उदाहरणार्थ—

मालिक कुली से बोरे गिरवा रहा है।

राजा कारीगरों से महल बनवाता है।

कर्त्ताकारक में दूसरे नं० का वाक्य कर्म होगा, अतः—

मालिक के हुक्म से बोरे कुली से गिरवाये जा रहे हैं।

राजा के हुक्म से महल कारीगरों से बनवाया जाता है।

किन्तु, 'कुली गिरवाया जा रहा है' अथवा 'कारीगर बनावाये जाते हैं' कहना पूर्णतया असंभव है।

इस प्रकार इस परिवर्तनशील विश्लेषण की सहायता से बेली महोदय यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं से कोई प्रेरणार्थक नहीं है। यदि इस प्रकार की तुलना का पहला

---

१. पर 'बचवाना' और 'हरवाना' रूप भी हैं—सं०।

वाक्य सकर्मक क्रिया है तो दूसरा वाक्य यह महत्व रखता है कि वह पहले वाक्य द्वारा अभिव्यक्त अर्थ में सहायता करेगा और तीसरे वाक्य का अर्थ होगा पहले वाक्य की अभिव्यक्ति को किसी अन्य शब्द द्वारा सहायता देना; उदाहरणार्थ—

१. लड़का दूध पीता है।

२. माँ लड़के को दूध पिलाती है।

३. माँ आया से लड़के को दूध पिलवाती है। (कर्मवाच्य)

इस तथ्य से स्थिति और भी जटिल हो जाती है जब इस प्रकार के विभिन्न प्रभेदात्मक वाक्यों में बहुत से व्याकरणानुकूल नहीं होते हैं और उनमें भाषा के शब्द संबंधी अनेक अन्तर भी होते हैं; उदाहरणार्थ—

सुनना	:	सुनाना	:	सुनवाना
लिखना	:	लिखाना	:	लिखवाना
मिलना	:	मिलाना	:	मिलवाना
दिखना या दीखना	:	दिखाना	:	दिखवाना
बोलना	:	बुलाना	:	बुलवाना, आदि।

कभी-कभी इस प्रकार की तुलना में अर्थगत भेद मूल स्वर के परिवर्तन के साथ समानान्तर क्रियाओं के युग्म के होने से और पर-प्रत्यय 'आ' में बिना किसी परिवर्तन के हो सकता है; उदाहरणार्थ—

गड़ना	:	गाड़ना	:	गड़ाना

ऐसे तुलनात्मक रूपों के दो मूल पदों में बहुत से प्रायः अपनी विभिन्न विशिष्ट शक्तियों से उदासीन हो जाते हैं। सामान्यतः यह उन परिस्थितियों में होता है जहाँ व्याकरणगत भेद भाषा-शब्द-संबंधी भेद द्वारा अनुसरित होता है—जब क्रिया के समस्त रूप एक ही भाव को व्यक्त करते हैं; उदाहरणार्थ—

करना	:	कराना	:	करवाना	
छपना	:	छापना	:	छपाना,	छपवाना
छूटना	:	छोड़ना	:	छुड़ाना,	छुड़वाना

दूसरे प्रकार के प्रेरणार्थक का प्रयोग तब होता है जब एक मध्यवर्ती के भाव पर बल दिया जाता है; यथा—

मैंने उनको लिखाया (अथवा 'लिखवाया')।

मैंने यह उससे लिखवाया (न कि 'लिखाया')।

'को' तथा 'से' परसर्गों के प्रयोगगत भेद से उनके कार्य और मध्यवर्ती के महत्व में प्रत्यक्ष अन्तर प्रतिध्वनित होता है।

१	२	३	४
अकर्मक अथवा अर्द्ध कर्मवाच्य	सकर्मक क्रिया	मध्यवर्ती की सहायता रहित प्रेरणार्थक या कर्मवाच्य	मध्यवर्ती की सहायता-सहित प्रेरणार्थक या कर्मवाच्य
दिखना	देखना	दिखाना	दिखवाना
	भाषा-शब्द संबंधी भेद		
कटना	काटना	कटाना	कटवाना
—	लिखना	लिखाना	लिखवाना
—	करना	कराना	करवाना
बनना	बनाना	—	बनवाना
उठना	उठाना	—	उठवाना

अतः हिन्दी में अकर्मक क्रियाओं के साथ-साथ समान सकर्मक क्रियाएँ भी प्रयुक्त होती हैं; जैसे—

'बनना' और 'बनाया जाना'; 'कटना' और 'काटा जाना'।

इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में यह अन्तर है कि कर्मवाच्य का अर्थ होता है क्रिया का किसी माध्यम के द्वारा होना; किन्तु अकर्मक क्रिया सामान्यतः केवल कार्य पर ध्यान केन्द्रित करती है; उदाहरणार्थ—

लकड़ी जलायी गयी; लकड़ी जल गयी।

हिन्दी में कुछ बोलचाल की वाक्य-रचनाएँ इस सामान्य नियम की सीमा का अतिक्रमण करती दिखाई पड़ती हैं। उनमें सकर्मक क्रियाओं के प्रेरणार्थक नहीं होते। ऐसी वाक्य-रचनाएँ, जिनको वेली महोदय ने अपने ग्रंथ में दिखाया है, साहित्यिक भाषा की सीमा को लाँघती हैं और उनके स्तर को भी गिराती हैं। इस प्रकार के उपर्युक्त उदाहरणों में से कुछ में (पद संख्या २) कर्त्ता कर्मवाच्य के वाक्य में भी आता है; उदाहरणार्थ—

वह सिखायी गयी है।

लड़के खिलाये गये हैं।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार का प्रयोग यदि संभव है तो केवल अधूरे वाक्यों में, जब कि वाक्य में कर्म का अभाव हो। अतः निम्न प्रकार का प्रयोग संभव नहीं है —

वह हिन्दी भाषा सिखायी गयी है।

लड़के रोटी खिलाये गये।

अंत में, यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में प्रेरणार्थक क्रियाओं की प्रणाली के निर्धारण के लिए कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य—और अधिकतर सकर्मकता-अकर्मकता—की श्रेणियों के संग्रह की अभी आवश्यकता है। [मूल रूसी लेख का संक्षिप्त रूप]

●

वेस्कोवनी

हिन्दी में संयुक्त संज्ञार्थक धातुओं का प्रयोग

"हिन्दी के व्याकरण को कुछ सरलतर और तर्कशास्त्र-सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य काल का राजा 'गण महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। इनक़लाब जब सचमुच जिन्दा होगा और मज़दूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम स्वयं ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बाज़ारू और देहाती तथा खड़ी बोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नयी जनभाषा बन जायेगी।" —सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1]

हिन्दी में संयुक्त संज्ञार्थक धातुएँ कार्य के विभिन्न रूपों (different shades of action) या स्थितियों को व्यक्त करने के लिए सूक्ष्म शब्द व्याकरणिक विधियों (Lexico-grammatical method) में प्रमुख हैं। भारतीय और यूरोपीय भाषा के वैयाकरण और इतिहासकार जो हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की जीवित और विकासमान संयुक्त धातुओं के संबंध में कार्य कर रहे हैं, वे एक स्वर से इसके रूप की विचित्रता स्वीकार करते हैं। हिन्दी में बहुत से धातु-योग हैं जो आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो प्रचलित हैं, किन्तु अधिकृत (registered) नहीं हैं, और जो अधिकृत हैं, उनमें से भी सब की विशेषताएँ पूर्ण रूप से विवेचित नहीं हैं।

एक बहुत बड़ी संख्या में धातुओं का बनना और उनका विस्तृत क्षेत्र में प्रचार सहायक, रचनात्मक और संज्ञार्थक धातुओं को विकसित करने में सक्षम है, और यही हिन्दी में विकसित होती हुई धातुओं की जीवन्तता और अविच्छिन्नता का प्रमाण है। जैसा कि प्रकट है, व्याकरणिक साहित्यिक हिन्दी में बहुत सी साधारण रचनात्मक धातुएँ निरन्तर मुख्य धातु के अर्थ के विभिन्न रूपों की छायाएँ ग्रहण कर प्रयुक्त होती हैं और उसी आधार पर वे एक एकाई में भी बँधती हैं।

संयुक्त संज्ञार्थक धातुएँ व्याकरणिक रूपों में परिवर्तित और सर्जित होकर अपना कुछ शाब्दिक अर्थ खो देती हैं, जिनका कोई उल्लेख व्याकरण अथवा शब्दकोशों में नहीं है। साथ ही मौखिक भाषण और साहित्यिक भाषा में कुछ ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं जो मुख्य धातु में कुछ विकसित विशेषता या अन्य छाया-रूपों (shade in aspect) को जोड़ते हैं। प्रस्तुत निबंध **खड़ा होना** नामक संयुक्त संज्ञार्थक धातु से संबद्ध है। **खड़ा होना** के विपरीत अर्थों वाले बने युग्मों (pairs) से **पड़ना** का भेद दिखाया जा सकता है (तुलना की जा सकती है)। उसी प्रकार दूसरी अकर्मक धातुएँ रचनात्मक रूप में नियमत: अकर्मक धातुओं के मूल रूप में

---

१. ऋतम्भरा; द्वि० संस्क०; इलाहाबाद १९५८, पृष्ठ २०।

संयुक्त होकर प्रयोग में आती हैं। बहुधा सभी धातुएँ जो गति-द्योतक हैं, जैसे **आना**, **चलना**, **भागना**, **निकलना**, **उठना**, अकर्मक धातुओं के मूल में संयुक्त हैं।

प्रधान धातु में **खड़ा होना** के बने धातु-योग से जो अर्थ संबंधी सूक्ष्म अन्तर आता है, वह अपने प्रारंभिक रूप की छायाओं (shades of the starting aspect) की सीमा के भीतर ही रहता है। इस प्रकार बना पूर्ण-धातु-योग मुख्य धातु से अधिक एकाएकपन (suddenness) और तीव्रता व्यक्त करता है। नीचे जो सामग्री दी गयी है, उससे सिद्ध होता है कि हिन्दी में संयुक्त संज्ञार्थक धातु की सहायक धातुओं से विभिन्न छाया-अर्थों वाले धातु रूप बनाये जाते हैं। ये रूप **उठना** की सहायता से बने रूपों की अपेक्षा कार्य के प्रारंभ में अधिक शक्ति और तीव्रता प्रकट करते हैं; उदाहरणतया—

"वह सुबह से पहले ही इस पटरी पर **आन खड़ा होता**। हम पराधीनता के जुए को फेंक कर आज़ादी के आँगन में **आ खड़े हुए**। अगर कल वह अफ़सर की वर्दी पहन कर यहाँ **आन खड़ा हो** तो मुझे कोई आश्चर्य न होगा।"

ऊपर जो धातुओं के उदाहरण दिये गये हैं वे **खड़ा होना** धातु के शाब्दिक अर्थ का लोप और मुख्य धातु '**आना**' के रूप में कार्य के प्रारंभ में तीव्रता और एकाएकपन प्रमाणित करते हैं। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि **आना** धातु का मूल **खड़ा होना** के साथ संयुक्त होकर रूपान्तरकारक के रूप में बहुधा वृद्धिकारक (अर्थ) मुहावरेदार रूपों में **आना** का रूप धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ, आन रहना (आ रहना), आन (आ) पड़ना, आन (आ) पहुँचना, आन (आ) लेना, आन बनना, आन मिलना। प्रकट है, अब **आन** पूर्णता के रूप में आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा में प्रयुक्त नहीं होता। प्रसंगतः **खड़ा होना** धातु के आगे जब **आना** धातु का प्रयोग होता है, तो नियमतः उसका रूप **आकर** हो जाता है; उदाहरणार्थ—

"ज्ञानशंकर **आकर खड़े हो गये** और बोले। इतने में राय साहब उसके द्वार पर **आकर खड़े हो गये** और बोले। यह कहते हुए वह घबरायी हुई दीवान साहब के सामने **आकर खड़ी हो गई**।"

इन उदाहरणों में **खड़ा होना** अपने शाब्दिक अर्थ को खोता नहीं और न वह सहायक रूपान्तरकार के रूप में ही बदलता है।

खड़ा होना धातु शाब्दिक अर्थ खोकर व्याकरण संबंधी परिवर्तनों में **भागना** मूल धातु के साथ संबद्ध होकर, निर्णयात्मक रूप में दिखाई देती है; उदाहरणार्थ—

"हड़तालियों ने उसे गिरते देखा तो **भाग खड़े हुए**। जिस दिन मालकिन यहाँ से चलेंगी हम सब भी **भाग खड़े होंगे**। गिरधर महाराज **भाग न खड़े होते** तो इनके जान की ख़ैरियत नहीं थी। कहिए शर्मा जी, किधर चले, **क्या भाग खड़े हुए**?"

स्पष्ट है, **भाग खड़ा होना** में विपरीत अर्थों वाले धातुओं का योग है। यह विकसित धातु-योग है; जैसे—वह **आ गया**, **आ जाना** आदि।

खड़ा होना अपने विकसित धातु के रूप में **उठना** धातु की अर्थ-छाया के अधिक निकट है; वस्तुतः यह निकटता इन धातुओं के **भागना** धातु के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान के

कारण हैं। उदाहरण के लिए कार्य के प्रारंभ में उसी एकाएकपन (किन्तु कम तत्परता के साथ) का आभास नीचे के वाक्यों में है—

"मैं यों अचानक वहाँ से **भाग उठा था**। माहुल और भैरवी वहाँ पहुँचा देखकर फिर न **भाग उठें**।..."

चलना धातु के साथ भी **खड़ा होना** धातु का प्रयोग इसी प्रकार की विशेषता से संयुक्त है; जैसे—

"गोदावरी घर से **चल खड़ी हुई**। और खजरी उठाकर **चल खड़ा हुआ**।"

उठना के साथ **खड़ा होना** का संयोग भी कुछ इसी प्रकार का है। उदा०—"जैसे ही घंटा पूरा हुआ वह **उठ खड़े हुए** और बिना रूपए लिये बाहर निकल आये। वह आवेश में **उठ खड़ी हुई** और पुलकित होकर बाहर झाँकने लगी। उस जन-आंदोलन ने, जो पार्टी के नेतृत्व में **उठ खड़ा हुआ था,** हमारे देश के रूप को बदल दिया।" (प्रेमचंद से)

गतिचेष्टामूलक दूसरी धातु **निकलना** भी **खड़ा होना** के साथ संयुक्त होती है; जैसे—

"जब वे देखेंगी कि बड़े-बड़े घर की स्त्रियाँ भी रूठ कर घर से **निकल खड़ी होती** हैं तो ....दूसरे दिन मित्र मुँह अँधेरे घर से **निकल खड़े होते**।" (प्रेमचंद से)

खड़ा होना की सहायता से बनी हुई विकसित धातुएँ (जो गतिमूलक धातुओं से नहीं बनी हैं) अपेक्षाकृत कम पायी जाती हैं। स्पष्टतः यह रूप धातु में स्वभावगत स्थिति जगाने वाली अर्थ-छाया (shade of aspect) की विशेषता संयुक्त करता है; उदाहरणतया—

"कोई दूसरा लड़का होता तो इतनी मार खाकर **बिगड़ खड़ा होता**। मगर बिचारा पचासों जूता खाकर भी कुछ नहीं बोला।"

संयुक्त संज्ञार्थक धातु **खड़ा होना** तथा उसके सूक्ष्म विकसित रूप **खड़ा हो गया**, **'खड़ा हो जाऊँ'** की विशेषता उसके अपने विकसित सहायक रूपों में कुछ विशेष प्रकार की नहीं है। स्वतंत्र धातु के रूप में प्रयुक्त होने पर **खड़ा होना** साधारणतः **खड़ा हो जाना**, **खड़ा हो गया** में विकसित हो जाता है।

खड़ा होना की सहायता से विकसित धातुएँ ठीक सामान्य विकसित धातुओं की भाँति उचित भाववाचक हैं; उदाहरण के लिए (कृदन्त विशेषण के कार्य में)—

"गली में **उठ खड़े हुए** इस कोहराम की भी उपेक्षा दाजू नहीं कर सके।"

ऊपर दी गयी सामग्री यह स्पष्टतः सिद्ध करती है कि संज्ञार्थक धातु **खड़ा होना** विभिन्न धातुओं के मूल से संबद्ध हो रही है और प्रचलित विश्लेषणात्मक विकसित धातु से प्रभावित होकर हिन्दी में अपना स्थूल अर्थ खोते हुए, प्रारंभिक रूप के कार्य के साथ गति तथा स्थिति मूलक सहायक रूपान्तरित करने वाली धातुओं में बदल जाती है। हिन्दी में इन विकसित धातुओं के चलन का विकास प्रायः अब समाप्त है। अब ये बोलियों और मौखिक कथनों में सुरक्षित है, जिनका अपना जीवन्त व्याकरणिक और शाब्दिक तत्व साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त होता हैं। बड़ी संख्या में धातुओं का भरते जाना यह सिद्ध करता है कि हिन्दी में धातुएँ अभिव्यक्ति के समृद्ध और अधिक विकसित साधनों की खोज कर रही हैं।

●

हेनरी एम० हॅनिग्सवाल्ड

उर्दू में स्वर-दीर्घता

वर्णविन्यास का प्रश्न प्रायः अपने महत्व से अधिक जटिलता उत्पन्न कर देता है। इस संबंध में दो अति भिन्न स्थितियाँ संभाव्य हैं—एक तो यह कि यदि कोई सार्थक अन्तर लुप्त न हो जाय तो बड़ी उदारता से किसी भी प्रकार के स्वरांकन (Notation) को स्वीकार किया जा सकता है अथवा किसी ऐसी विलक्षण आलेखन-प्रणाली पर आग्रह किया जा सकता है, जो भाषा के ध्वनिसमूह को यथार्थ रूप से व्यक्त कर सके। किन्तु इन दोनों में कोई भी स्थिति लाभदायक नहीं है। दूसरी तो इसलिए संभव नहीं है, कि हमें ज्ञात है या ज्ञात होना चाहिए, कि भाषा के ध्वनिग्राम मूलक (Phonemic) विश्लेषण में कोई विलक्षणता नहीं होती है। प्रथम स्थिति इस कारण से मान्य नहीं, कि कुछ स्वरांकन-विधियाँ अन्यों की अपेक्षा भाषा की समरूपता और नियमबद्धता व्यक्त करने में अधिक समर्थ होती हैं। अतएव यहाँ पर भिन्न-भिन्न वर्णात्मक लेखन-प्रणालियों के गुणावगुण पर विचार-विमर्श करना व्यर्थ नहीं होगा। भले ही यह निर्णय जीवन या मृत्यु के समान नहीं बल्कि अधिमान्यता का है (और विभिन्न प्रयोजनों के लिए यह अधिमान्यता भिन्न हो सकती है)।

इस विचार को मन में रखते हुए मैं यहाँ बोलचाल की उर्दू में स्वर-दीर्घता के सिद्धान्त का विवेचन संक्षेपतः इस प्रकार प्रस्तुत करूँगा, जिसके फलस्वरूप एक या दूसरे सिद्धान्त को चुना जा सकता है। समस्या सर्वविदित है। उर्दू में स्वर i ī [इ, ई] e ē [एऐ] a ā [अ आ] o ō [ओ औ] u ū [उ ऊ] रूप में या इसके समान रूप में अथवा डा० फ़र्थ या लंडन स्कूल प्रणाली के अनुसार i [इ], y [य्], e [ए], ə [अ्], a [अ], o [ओ], w [व्], u [उ] रूप में लिखे जा सकते हैं।[1]

उपर्युक्त दोनों प्रणालियों में से कोई भी संदेहात्मक नहीं है (या यदि है भी तो संदेहात्मकता का प्रस्तुत समस्या से कोई संबंध नहीं है)। प्रथम प्रणाली में पाँच स्वर-मात्राएँ मानी जाती हैं; जिनमें से कम से कम तीन स्वर-दीर्घता नामक छठी मात्रा (Entity) के साथ (या संभवतः उसके पहले) आती है। लंदन-प्रणाली आठ भिन्न स्वरों को ग्रहण करती है। ह्रस्व e [ए] और ह्रस्व o [ओ] अन्य ह्रस्व स्वरों से भिन्न हैं अथवा नहीं और साथ ही साथ अक्षर-सहित अर्ध स्वर की स्थिति अन्य स्वरों के सम्पर्क में आकर क्या होती है—

---

१. हार्ले की 'कलोक्यल हिन्दुस्तानी' के अनुसार।

इस तथ्यत्मक प्रश्न की ओर ध्यान दिये बिना निम्नलिखित बातों पर विचार करना युक्तियुक्त है—

(१) ध्वनि विचार की दृष्टि से दीर्घ स्वरों में सापेक्षिक दीर्घता न तो इतनी प्रधान होती है और न इतनी अविच्छिन्न कि स्वर-दीर्घता का कोई विशिष्ट लक्षण लक्षित हो सके।

(२) दीर्घ स्वरों में उस प्रकार का एकान्तरण नहीं होता जैसा कि 'सड़क : सड़कें' के शून्य स्वर में होता है ; इस प्रकार का परिवर्तन सभी ह्रस्व स्वरों में भी नहीं होता है (a̤, i को छोड़कर)

(३) सभी दीर्घ स्वर शब्द या वाक्य के अंत में आते हैं, जब कि ह्रस्व स्वर अंत में नहीं आते (केवल 'न' को छोड़ कर)।

(४) दीर्घता की भिन्न-भिन्न मात्रा शब्दकोष के रूप में नहीं बल्कि वाक्य-लय के अंग के रूप में विद्यमान रहती है। इसके अंग-प्रत्यंग का विस्तृत विश्लेषण अभी तक नहीं हो सका है; फिर भी वाह्य रूप से यह संकेत मिल जाता है। मात्रा का अवरोह और आरोह (उसकी ह्रस्वता और दीर्घता) अंशत: उन अक्षरों (syllables) की प्रकृति से निर्धारित होता है, जिनसे वाक्य का निर्माण होता है।

ऐसा प्रतीत होता है, कि अन्य परिस्थितियों के यथावत् रहते हुए (अर्थात् एक ही और समान लक्षण के अन्तर्गत) अक्षर के उदात्तत्व (heaviness) की अधिकता के साथ-साथ ही दीर्घता की मात्रा अधिक होती जाती है। अक्षर का उदात्तत्व या भारीपन उन परिस्थितियों में वर्तमान रहता है :

(क) जहाँ ह्रस्व या दीर्घ स्वर दो व्यंजनों से[३] या व्यंजन ; स्वर विराम (pau:e) या अन्य किसी प्रकार की संयुक्त ध्वनि (juncture) से अनुगत होता है।

(ख) जहाँ अक्षर (syllable) के अन्य तत्वों से बिना कोई संबंध रखते हुए भी दीर्घ स्वर बना रहता है।

यह स्पष्ट है कि दीर्घ मात्रा-चिह्न (या अन्य समान विधि) के समर्थक उपर्युक्त तीसरे और चौथे सिद्धान्त और दूसरे सिद्धान्त के पूर्वार्ध का सहारा लेते हैं और आठ स्वर वाली लंदन प्रणाली के प्रस्तावक प्रथम सिद्धान्त का और दूसरे सिद्धान्त के उत्तरार्ध का अनुरोध करते हैं।

---

३. यहाँ प्रस्तुत विचार में 'ह्' और अनुनासिक को व्यंजन नहीं स्वीकार किया गया है।

रामकृष्ण गणेश हर्षे

दो मराठी शब्द : 'मा' और 'सिनान'

मैंने अपने शोध-निबन्ध 'कुछ सुमेरी मराठी समानताएँ'[1] में मराठी के १२० शब्दों के संबंध में यह निर्दिष्ट किया है कि इनकी व्युत्पत्ति सुमेरी, अक्कादी तथा अस्सीरी शब्दों से अधिक संतोषजनक रूप में समझी जा सकती है। श्री पोल रीव्हे[2] के अनुसरण पर पहले यह विश्वास किया जाता था कि सुमेरी मालेनेशियन वर्ग से संबद्ध थे और अपने पश्चिमोन्मुखी अभियान में स्वभावतः भारतीय प्रायद्वीप को पार करते समय अपने अवशेष यहाँ छोड़ गये थे। परन्तु अब उनकी भाषा तथा संस्कृति के समुचित ज्ञान से यह बहुत स्पष्ट हो चुका है कि पूर्व से पश्चिम की अपेक्षा ये पश्चिम से पूर्व की ओर, लगभग वैदिक आर्यों के समकालीन, पलायन करते हुए क्रमशः कई तरंगों में भारत में आये और सुविधानुसार कई स्थानों पर बस गये। मेसोपोटामिया तथा पास-पड़ोस के प्रदेश के निवासी अक्कादी, असीरी, सीथियन, मेद, नाग, पल्लव तथा दूसरी अप्रमुख जातियों के द्वारा विभिन्न कालों में इनका पीछा किया गया। ये जल, थल दोनों मार्गों से आये—बलोचिस्तान तथा मलबार तट से। एक ओर मराठी और दूसरी ओर ब्राहुई तथा सिन्धी शब्दों की समानता से इनके आने का मार्ग निर्धारित हो जाता है। सुमेरी तथा द्राविड शब्दों की समरूपता इस बात का संकेत करती है कि दक्षिण में इनका प्रवेश कहाँ तक हो चुका था और रिज़्ले की 'बंगाल की जातियाँ और क़बीले' नामक पुस्तक के संदर्भ से यह प्रकट हो जायगा कि इनके कुछ कबीले भारत के धुर पूर्वीय भागों में प्रवेश पा चुके थे।

उसी शोध-निबन्ध में यह भी बताया गया है कि समता के लिए प्रस्तुत अधिकांश शब्दों को मूल-शब्द (key word) कहा जा सकता है; उदाहरणार्थ—'बलोता' (ग्रामसमाज की विभिन्न प्रकार से सेवा करने वाले १२ हक़दारों में विभाजित की जाने वाली गाँव की उपज), 'आगर' (खेत, जिसका विकसित अर्थ खेतों से घिरा हुआ घर और बाद में मलबार तट पर पाये जाने वाले ऐसे घरों के गाँव), 'उकड़' (उबाला खाना), 'वाड़ा' (रक्षित घर), 'लुगड़ें' (स्त्री-पुरुष के द्वारा पहना जाने वाला वस्त्र), 'इस्तु' (आग), 'सुगी' (खलिहान), 'मुस्कट' (थुथन, मुँह), 'पाट' (छोटी नहर), 'बोरू' (नरकुल), 'डोरा' (धागा), 'कुणवी' (किसान), 'एकूण' (अन्तिम निश्चित योग), 'कासरा' (रस्सी), 'कोथिंबीर' (coriander) आदि शब्द

---

१. बुलेटिन, दकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट १४; पृष्ठ १६-३२; १९५४।

२. एम० पोल रीव्हे, Le groupe océanien, B. S. L., पेरिस, सं० ८३, १९२५-२६, पृष्ठ १४२-६४ और Sumérien et Océanien भी।

साधारण जीवन में व्यवहार में आने वाले हैं जिनका महत्व महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक संस्था से ही सिद्ध है।

इस निबन्ध के प्रकाशित होने के बाद बहुत सी ऐसी सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे यह विश्वास दृढ़तर होता है कि महाराष्ट्र की प्राचीन जनसंख्या में सुमेरी-अक्कादी तत्व सक्रिय रूप से विद्यमान थे। सुमेरी आर्य थे, यह सब जानते हैं, पर अक्कादी तथा खाल्दीयन भी आर्य थे (कम से कम कुछ अंशों में, जो उरर्तु प्रदेश से आये थे)। वास्तव में खाल्दी का ठीक नाम 'कल्दु' अक्षरविपर्यय से 'कद्रु' ही है (कश्यप की स्त्री), और कल्दु कद्रु के वंशज हैं। हमको अब तक कई वैदिक ऋषि कल्दुओं के अंतर्गत मिले हैं, जैसे अर्बुद काद्रवेय (ऐत० ब्रा० ६·१, शाखा० ब्रा० २९·१) और काद्रु पिंगाक्षी (कश्यप कुल के गोत्रकार)। अतः कल्दु नाग ही हैं और सक्पाल या संकपाल (शंखपाल), काकड़े (कर्कोटक) आदि कई प्राचीन नाग वंश कोंकण में हैं जो वास्तव में प्रसिद्ध नाग कुल के नाम ही हैं।

इस भूमिका के बाद प्राचीन मराठी शब्दों, **मा** और **सिन** या **सिनान**, पर विचार करना चाहूँगा, जो अपने रूप तथा अर्थव्याप्ति की दृष्टि से सुमेरी स्रोत के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से विकसित नहीं माने जा सकते। मेरे पास की प्राचीनतम 'ज्ञानेश्वरी'[3] (शक सं० १२७२) की प्रति में **मा** या **माँ** ५६ स्थानों[4] पर आता है और **सिन, सिना, सिनान** या **सिनार** के विविध रूप २० स्थानों पर आये हैं। महाराष्ट्री शब्दकोश में **मा** या **माँ** शब्दों को संस्कृत से विकसित माना गया है पर व्युत्पत्ति नहीं दी गयी है। उदाहरणों से पता चलता है कि इसको संस्कृत के निषेधात्मक बल को प्रकट करने वाले अव्यय **मा** तक सीमित रखा गया है; उदाहरणतया—"मा निषाद प्रतिष्ठांस्त्वमगमः शाश्वतीः समाः," "मा ब्रूहि दीनं वचः" या "मा स्म प्रतीपं गमः" आदि। सत्य यह है कि प्राचीन मराठी के **मा** या **माँ** शब्द सीधे सुमेरी-अक्कादी शब्द **मा** से लिये गये हैं,

---

३. इस ज्ञानेश्वरी की प्रति पर आधारित केवल प्रथम अध्याय का रायल अक्टेव साइज के लगभग ४२८ पृष्ठों में विवेचनात्मक तथा भाषावैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित हुआ है।

४. वही : १. ७२ सी, ११७ सी; २. ३३४ सी; ६. ३३२ सी; ७. १०९ बी, १९१ बी; ८. ६३ बी, ७८ सी; ९. १२४ डी, ४८७ सी; १०. २०३ डी; ११. १५६ डी, ३७६ बी, ३९१ ए, ३९५ डी, ३९७ सी, ४०१ सी, ५०१ सी, ३३७ सी, ६०९ सी; १२. १४८ ए; १३. ९८६ ए; १४. ६ बी, १२ सी, २७ बी, १८७ बी, २१५ सी, ३८६ डी; १५. २१६ सी, २२३ बी, २३१ सी; १६. ११६ सी, ३०७ सी; १८. २४ डी, १८९ सी, २२२ सी, २६५ सी, २९२ सी, ४१९ सी, ४४८ बी, डी, ५६७ सी, ६४२ ए, ९३५ डी, १३४० सी, १४१२ ए, १५८९ सी, १६४७ बी, १७३२ सी, १७३४ सी, १७४७ ए : ये सब 'माँ' के उदाहरण हैं; 'मा' के लिए देखें—२. २१९ बी; ३. २०७ सी; ८. ९ सी; १५. ३२७ सी। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'मा' या 'माँ' के पर्याय 'मग' का प्रयोग भी एक मात्र स्थल पर पाया जाता है (वही १. ११७)।

जिसका अर्थ है—तक, वास्तव में, ऐसा होने पर, बाद में। इसमें निषेध का अर्थ नहीं है जैसा कि संस्कृत शब्द 'मा' में है। उदाहरणों की व्याख्या 'न को', 'नाहीं', 'नकार', 'ना', 'होयना' आदि निषेधात्मक अर्थ में स्पष्टतः ग़लत है। दिये उद्धरणों में यदि सुमेरी अर्थ **तब, वास्तव में** लगाया जाय तो उनकी व्याख्या अधिक संगत होगी। वास्तव में 'ज्ञानेश्वरी' की विप्र प्रति के ५६ **मा, माँ** उदाहरणों को भली प्रकार जाँच करके यह पाया गया है कि सभी स्थलों पर सुमेरी-अक्कादी अर्थ की व्याप्ति ठीक बैठती है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं—

१. आह्मा तव गमे ऐसें। माँ तुजें जोइस कैसें।
ते नेणो संजया असे। तैसें सांघ पा ॥१८:१६४७॥
२. अरुणु आंगा जवलिके। ह्मणौनि सूर्यातें देखे।
माँ भूतलींचि न देखे। मुंगी कायी ॥१८:१७३४॥
३. देवा गोठीचि हे ऐकताँ। बोधु उपजत असें चित्ता।
माँ अनुभवें तल्लीनता। नव्हल केवि ॥६:३३२॥
४. अगा ऐसेया जरि जालयाँ। तरि न मारिजे देह मेलिया।
माँ संग्रामु केलियाँ। भय काय तुज ॥१३:७४॥
५. सर्वस्त्रें सिणोनी येथें। आर्जवाविं संपत्तिजातें।
मा तेणें धमें सांडूनि देहातें। पोसावें काँ ॥३:२०७॥

इस प्रकार इस प्रति के किसी भी प्रसंग में **मा** या **माँ** का प्रयोग निषेध के अर्थ में कभी नहीं हुआ है, सदा इसका अर्थ है—तब, अतः, अतएव, फिर, यद्यपि, तब भी, निश्चय ही, आदि। इसका प्रयोग प्रश्नवाचक तथा पूर्वक रूप में भी किया गया है और इस दृष्टि से सुमेरी-अक्कादी **मा** के पूर्णतः समान है जो इसका वास्तविक स्रोत है।

उल्लेखित 'ज्ञानेश्वरी' की प्राचीन प्रति में **सिना** तथा उसके विभिन्न रूप—**सिनी, सिने-सिनें, सिनाना, सिन्हीं, सिनाना (-नीं), सिनाने, सिन्हाने, सिनानेंपण, सिनार, सिनारा,** के २० बार[५] के प्रयोग का सीधा संबंध सुमेरी-अक्कादी शब्द **सिना** (= दूसरा, दूसरावाला, भिन्न,) और **सिनान** (=दो) से है। संस्कृत में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे इसकी व्युत्पत्ति की जा सके और जिसका ठीक वही अर्थ हो जो इन सब प्रयोगों में उपयुक्त हो। प्राचीन मराठी में पाये जाने वाले उदाहरणों में प्रयोग की दृष्टि से **भिन्न** से इसकी व्युत्पत्ति केवल संभावना मात्र है और दूर की कौड़ी लगती है यह बात निम्नलिखित उदाहरणों से सिद्ध है—

---

५. **सिनसाल**: १३. ५६०, १५. १४०; **सिना**: १७. १६७, १८. ३१२; **सिनी**: १३. २९४, १८. २७१; **सिनें**: १५. ४५८; **सिने**: १८. २७४; **सिनहीं**: १७. ७०; **सिने**:१८. ५३; **सिनानाँ**: ६. ४२, १०. ३१५; **सिनानी**: १८. ५४; **सिनानें**; १०. ८७; **सिनाने**: ६. ३९, १३. १०५८; **सिन्हाने**: ११. २४२; **सिनानेपण**: १५. ५५३; **सिनार** १८. १६०६; **सिनारा**: १८. २९०।

१. तैसी पंचहेतु मिळणि। पाँचें चि इहिं करणिं।
कीजे कर्मलतांची लावणी। परि आत्मा तो सिना॥१८.३१२॥
२. अवयव आणि शरीर। हें वेगलालें काये कीर।
की रसु आणि नीर। सिनी आथि॥१३.२९४॥
३. ययाँची नावें आनानें। अनारिसी वर्तणें।
वेष ही सिनाने अघवयाचे॥१३ १०५८॥
४. हें असो जलतरंगा। नाहीं सिनानेपण जेवि गा।
तेवि सत्ताप्रकाश जगा। आपणचि जो॥१५.५५३॥
५. अगा पूर्वापर सागर। यया नावाँसिचि सिनार।
एर अघवें तें नीर। एक जैसें॥१८.१६०६॥

सिना या शिना और सिनसाल या शिनसाल शब्दों की संस्कृत शब्द शीर्ण से व्युत्पत्ति स्पष्टतः काल्पनिक है। जब हमारे पास अनेक शब्द मराठी के प्राचीन उत्तराधिकार के रूप में सुमेरी-अक्कादी स्रोत से आये हैं, तब कोई कारण नहीं है कि हम अधिक तर्कसंगत व्युत्पत्ति की दृष्टि से उन्हीं शब्दों से इनका भी संबंध न जोड़ें। यहाँ विदेशी शब्दों को उधार लेने का प्रश्न नहीं है, परन्तु उत्तराधिकार में पाने की बात है। सुमेरी-अक्कादी प्रभाव केवल कुछ शब्दों तक ही सीमित नहीं है, वरन् कई रीति-रिवाजों में भी देखा जा सकता है। महाराष्ट्र में, एक प्रकार से सम्पूर्ण भारत में, सुमेरी-अक्कादी स्थान-नाम स्वतंत्र अध्ययन का विषय हैं।

●

अलैकसेई बरखूदारोव

समसामयिक साहित्यिक हिन्दी में शब्द-रचना[1]

राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप हिन्दी में एक नवीन प्रकार की शब्दावली प्रकट होने लगी है जो रूप में राष्ट्रीय (मुख्यतया संस्कृत) होते हुए भी वस्तुतत्त्व में अंतरराष्ट्रीय है।

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त संस्कृत शब्दावली मूलतः दो प्रकार की हो सकती है : एक तो संस्कृत की प्रकृत शब्दावली और दूसरी नवीन शब्द-रचना, जिसे संस्कृत के उपादानों से निर्मित नव-संस्कृतवाद कह सकते हैं, जैसे **कार्य** और **कर्ता** के योग से बना नया शब्द **कार्यकर्ता**।

नवीन शब्दों का आविर्भाव प्रत्यक्षतः समाज के विकास से संबंधित होता है। नवीन वस्तुओं और नवीन विचारों को उधार लेते समय या तो किसी अन्य भाषा से शब्द उधार लेना आवश्यक होता है अथवा नवीन शब्दों की रचना करना। किसी दूसरी भाषा से शब्द उधार ले लेना सदैव संभव नहीं होता, अतः शब्द-रचना ही शब्दावली के विकास का मुख्य साधन है। भाषा के आंतरिक साधनों के द्वारा किसी भी आवश्यक शब्द की रचना संभव है।

सभी सामासिक अथवा व्युत्पन्न शब्द कम से कम अपनी रचना के क्षणों में, आन्तरिक रूप की दृष्टि से नवीन अर्थ-बोध के साथ सह-संबद्ध होते हैं। किसी निश्चित हेतु के बिना नवीन शब्दों की रचना संभव नहीं है, क्योंकि संपूर्ण शब्द-रचना का मूल उद्देश्य पुराने वस्तु-तत्त्व को व्यक्त करने वाले किसी विचार के प्रयोग द्वारा कोश-व्याकरणगत रूप में किसी नवीन विचार की विशद् व्याख्या करना ही होता है।

हिन्दी शब्द-रचना की प्रक्रिया में अनेक प्रत्ययों की उत्पादन-क्षमता के साथ नवीन प्रत्ययों और स्वतंत्र सार्थक शब्दों से निर्मित 'शब्द-प्रत्ययों' का आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है। नवीन प्रत्ययों का निर्माण संस्कृत के सामासिक पदों के उत्तर-पद के क्रमिक ह्रास के द्वारा निरंतर होता जा रहा है; उदाहरणार्थ, भाववाचक संज्ञाओं के लिए **वाद**, **तंत्र** आदि तथा विशेषणों के लिए **आत्मक**, **जनक**, **पूर्ण**, **मूलक**, **शील** आदि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। यह प्रक्रिया मूल रूप में परसर्ग जोड़कर नवीन व्याकरणगत रचना करने की उस प्रवृत्ति को प्रकट करती है जो संस्कृत में भी रही है; उदाहरणार्थ—**सहित**, **अन्वित**, **वंचित**, **रहित**, **हीन**, **शाली**, **मय** आदि संज्ञा शब्द-प्रत्यय।

---

१. सोवियत संघ की 'ओरिएंटल इंस्टीट्यूट ऑव् एकेडेमी ऑव् साइंसेज' में ७ दिसम्बर १९५३ को प्रस्तुत प्रबंध का सार।

मृत अथवा व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी के रूढ़ शब्द नियमतः बहुत पहले होने वाले ध्वनि और अर्थ के परिवर्तनों के ही परिणाम हैं। इन रूढ़ शब्दों के सब से अधिक उदाहरण धातुओं के साथ संस्कृत-प्रत्ययों के एकाकार हो जाने के हैं; यथा, √बिक<वि-क्री; समझ< सम्-बुद्ध-य (सं० ध्य>प्रा० झ्य); उत्तर<उत्-तृ; उबटन <उद्-वर्त्त-न, आदि। साथ ही ऐसे उदाहरण भी बहुत हैं जिनमें पुराने संस्कृत सामासिक पदों की पद-विज्ञान-संबंधी सीमाएँ ध्वनि-परिवर्तन के कारण मिट गयी हैं, अर्थात् तत्सम रूप तद्भव में बदल गये हैं; उदाहरणार्थ—**पहिलौटा**<अप० **पढविल-लौट्ठउ**<प्रा० **पढम-पुत्तको (पुत्तओ)**<सं० **प्रथम-पुत्रकः**। रूढ़ शब्दों से जिनकी रूप-रचना व्युत्पत्ति-विश्लेषण के द्वारा खोजी जा सकती है ऐसे परवर्ती शब्द भिन्न हैं जिनमें प्रत्ययों का ह्रास हो गया है और जिनमें उनके प्रारंभिक रूप और इस प्रकार सामासिक या व्युत्पन्न पदों के पद-विज्ञान संबंधी अंग सुरक्षित हैं; उदाहरणार्थ, हिन्दी के **-ड़ा, -हा** वाले कठिनीकृत (hardened) रूप—**दुखड़ा, मुखड़ा, पनिहा** आदि—तथा हिन्दी की पूर्वी बोलियों में प्रचलित **वैया, ऐया, वा, इया, ओवा, औवा, औना** आदि स्वार्थिक प्रत्यय।

उत्पादक और शब्द-रचनात्मक प्रकारों (टाइप) में सबसे पहले विभाषीय अर्थात् संस्कृत और विदेशी भाषाओं के सामासिक और व्युत्पन्न शब्द आते हैं। अपने प्रारंभिक प्रयोग में तो इनका आकार अस्पष्ट जान पड़ता है और इस प्रकार ये हिन्दी के रूढ़ शब्दों के वर्ग में आ जाते हैं, परन्तु जब आगे चलकर इन विभाषीय शब्दों की तुलना अन्य उधार लिये गये एकप्रकारीय (monotypical) शब्दों के साथ की जाती है तब उनका आकार स्पष्ट प्रकट हो जाता है और वे तद्धितांत या सामासिक शब्दों के वर्ग में आ जाते हैं। तथाकथित मिश्रित शब्दों का आविर्भाव हिन्दी द्वारा विभाषीय भाषाओं—संस्कृत और विदेशी, अर्थात् फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी की शब्दावली के अपनाये जाने का अंतिम परिणाम है। ये मिश्रित शब्द या तो विभाषीय शब्दों में हिन्दी के प्रत्यय अथवा हिंदी शब्दों में विभाषीय प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं। मिश्र और सामासिक शब्दावली समसामयिक साहित्यिक हिन्दी की महत्वपूर्ण विशेषता है।

§१. साहित्यिक हिन्दी में शब्द-रचना की निम्नलिखित मूल विशेषताएँ हैं—

(क) सर्वप्रमुख विशेषता व्युत्पन्न और सामासिक पदों में समानार्थक शब्दों की बहुसंख्या और अनेकरूपता है। ये समानार्थक शब्द प्रायः एक दूसरे के पूरक हैं, साथ ही उनमें ऐसे एकार्थक शब्द भी सम्मिलित हैं जो अर्थ में एक दूसरे के पूर्णतया अनुरूप हैं। एकार्थक समानार्थी शब्दों में परस्पर संगति प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, 'डेमोक्रेसी' का भाव निम्नलिखित व्यापक रूप में प्रचलित शब्दरचनाओं के द्वारा व्यक्त किया जाता है—**प्रजातंत्र, लोकतंत्र, प्रजासत्ता, लोकसत्ता, जनसत्ता**, सं०-फ़ा० **लोकशाही**, सं०-फ़ा० **प्रजाशाही**। 'डेमोक्रेटिक' का अर्थ व्यक्त करने के लिए **जनवादी, लोकवादी, प्रजातंत्रवादी, जनतंत्रवादी**, प्रजातांत्रिक, **प्रजातंत्रीय, प्रजातंत्री, गणतांत्रिक, जनतांत्रिक, जनतंत्रीय, जनतंत्री, जनतंत्रात्मक, लोकतंत्रात्मक, लोकतंत्रीय, प्रजासत्तात्मक**, सं०-फ़ा०-हिं० **लोकशाही वाला** शब्द-रचनाओं का प्रयोग होता है।

एक वर्ग की शब्द-रचनाओं द्वारा दूसरे वर्ग के बहिष्करण की प्रक्रिया की गति बहुत मंद रही है। पारिभाषिक वस्तुतत्व में सामान्यतः अनुरूप होते हुए भी इन व्युत्पन्न और सामासिक शब्दों की अंग-रचना से संबद्ध और उसी के द्वारा परिसीमित उनके परस्पर पूरक अर्थों में अंतर किया जा सकता है। एक ही भाव को व्यक्त करने वाले शब्द-रचना-प्रकारों में अनेकरूपता होने के कारण साहित्यिक हिन्दी की शैलीगत सामर्थ्य में अतीव समृद्धि हुई है; उदाहरणार्थ अ०-फ़ा० **गुसलखाना**, सं० **स्नानगृह**, सं०-हिं० **स्नानघर, स्नानालय, स्नानागार**, हिं० **नहाने का कमरा**।[2]

शब्द-रचनात्मक समानार्थियों अथवा घनिष्ठ रूप से संबद्ध अर्थ वाले तथा एकार्थक शब्दों के आविर्भाव का कारण भाषा में बहुत अधिक संख्या में समानार्थक प्रत्ययों, अर्थात् एकार्थक अथवा घनिष्ठ रूप से संबद्ध अर्थ व्यक्त करने वाले प्रत्ययों और शब्द-प्रत्ययों की विद्यमानता ही है।

(ख) मिश्र और यौगिक शब्द-रचनाओं के नूतन, अर्थात् 'सोपाधिक' शब्द (conditionals) प्रयोग में पूर्णतया स्थिर नहीं हो पाये हैं। प्रायः अत्यन्त दृढ़ता से जमे हुए योरुपीय अथवा अंग्रेजी शब्दों के लिए हिन्दी में संस्कृत के एक या अनेक नूतन शब्द प्रयोग में आने लगे हैं। उदाहरणार्थ, अं० **अस्पताल**—सं० **अतुरालय, आरोग्यशाला, चिकित्सालय**; अं० **जज**—सं० **विचारपति, न्यायाधीश**; अं० **गवर्नर**—सं० **राज्यपाल, प्रांतपति** आदि।

अपेक्षाकृत पुराने फ़ारसी-अरबी शब्दों के स्थान पर नूतन संस्कृत शब्दों के प्रयोग के अनेक उदाहरण हैं।[3] फ़ा० **कार्रवाई, कारखाना, नौकरशाही**; फ़ा०-अ० **अजायबखाना** (हिं०—**घर**); फ़ा० **उम्मीदवार** आदि शब्द क्रमशः सं० **कार्यवाही, कर्मशाला, कर्मचारीतंत्र; कौतुकागार, प्रत्याशी** आदि अनुकरणमूलक (अनुवाद के रूप में उधार लिए हुए) शब्दों के द्वारा अपदस्थ कर दिये गये हैं। अं० **अखबार** के स्थान पर हिन्दी में सं० **समाचार-पत्र** का व्यवहार होने लगा है। फ़ा०-अ० शब्दों के स्थान पर हिन्दी की शब्द-रचना के भी उदाहरण मिलते हैं; जैसे, फ़ा० **सालगिरह** सं० हिं० **वर्षगाँठ**, हिं० **बरसगाँठ या बरसी** के द्वारा अपदस्थ हो गया है।

इसका कारण यह है कि ठेठ हिंदी के तद्भव शब्द फ़ारसी-अरबी शब्दों की अपेक्षा कम तथा संस्कृत शब्दों की अपेक्षा और भी कम प्रयुक्त होते हैं।

(ग) व्युत्पत्ति की दृष्टि से बहु-भाषा-संयोग, अर्थात् मिश्र अथवा तथाकथित 'संकरज' (hybrid) शब्द-रचना—प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की—प्रसंगात्मक ही है। उदाहरणार्थ, हिं०-फ़ा० **समझदार**; हिं०-फ़ा० **फूलदान** (फ़ा० **गुलदान**); अ०-हिं० **लापता**; हिं०-फ़ा० **चौकीदार, पहरेदार**; अ०-फ़ा० **नंबरदार**, (गाँव का मुखिया), आदि प्राचीन 'संकरज'

---

२. दे० प्रेमचंद: 'सेवासदन' जिसमें 'स्नानघर' के साथ ही इन सभी शब्द-रचनाओं का प्रयोग हुआ है।

३. इस प्रकार की स्पष्ट प्रवृत्ति भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी को राज्यभाषा घोषित करने के बाद दिखाई देती है।

शब्द-रचना के प्रकार हैं। सं०-फ़ा० **लोकशाही**; हिं०-फ़ा० **समझौतापसंद**; हिं०-सं० **समझौता-प्रेमी**, **समझौतावादी**; अं०-स० **मशीनीकरण**; अ०-सं० **फ़ौजीकरण**; सं०- हिं० **उपचुनाव**; अ०-अं० **ग़ैरपार्टी** आदि नूतन 'संकरज' शब्दरचना के प्रकार हैं।

अनेक नूतन शब्द-रचनाएँ जिनमें 'संकरज' शब्द भी सम्मिलित हैं, नवीन प्रत्ययों (शब्द-प्रत्ययों) के द्वारा बनाये जाते हैं।

· विदेशी शब्दों में प्रत्यय या उपसर्ग जोड़कर नूतन शब्दों की रचना उन प्रत्यय-उपसर्गों की उत्पादन-क्षमता ही सिद्ध करती है।

(घ) नवीन—मुख्यतया संस्कृत—शब्दावली के निर्माण की प्रक्रिया में अनुवाद के आधार पर शब्द उधार लेने का ढंग व्यापक रूप में अपनाया जा रहा है। हिन्दी में अंग्रेज़ी (व्युत्पत्ति की दृष्टि से ग्रीक और लैटिन) से उधार लिये हुए अनुवादमूलक पारिभाषिक शब्दों की बहुलता है; उदाहरणार्थ, **विकेन्द्रीकरण** (लै० decentralization), **प्रतिक्रिया** (reaction) **समाजशास्त्र** (Sociology), **साम्राज्यवाद** (imperialism), **जनित्र** (generator, वाच्यार्थ–जनक), **चलित्र** (motor, वाच्यार्थ–चालक), **देशित्र** (indicator, वाच्यार्थ—साग्र) **संग्रहित्र** (accumulator, वाच्यार्थ–संग्रहकर्ता), **अराजकता** (ग्री० anarchy), **अराजकतावाद** (anarchism) **अवमूल्यन** (devaluation)।

साहित्यिक हिन्दी में सामाजिक-राजनीतिक तथा उससे भी अधिक वैज्ञानिक-शैल्पिक पारिभाषिक शब्दावली की रचना संस्कृत शब्दों और प्रत्यय-उपसर्गों के प्रयोग द्वारा अंतरराष्ट्रीय—प्रधान रूप से ग्रीक-लैटिन—शब्दावली को अनुवाद के आधार पर उधार लेकर की जाती है। यह उसकी स्वाभाविक विशेषता है तथा एक सर्वथा नियमित और अनिवार्य परिणाम है; उदाहरणार्थ, **पूंजीवाद** (capitalism), **उपनिवेशवाद** (colonialism), **अंतरराष्ट्रीयता** (internationalism), **व्यापारसंघ** (trade union के लिए प्राय: प्रचलित और नियमित शब्द **मज़दूरसंघ**, वाच्यार्थ–workers' union के स्थान पर), **गृहमंत्री** (आन्तरिक मामलों का मंत्री, अंग्रेज़ी के Home Minister का वाच्यार्थ), **गृहनीति** (internal policy अं० home policy; तुलना कीजिए, अंदरूनी नीति या पालिसी से), **अवेक्षक** (inspector, overseer; तुलना कीजिए प्रचलित 'ओवरसियर' से) आदि।

(ङ) हिन्दी के बहुसंख्यक नवीन शब्द केवल व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'विदेशी' हैं, रचना-प्रकार और वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से नहीं। उदाहरणार्थ, ईरानी मूल का शब्द **नौकरशाही** केवल इस कारण विदेशी कहा जा सकता है कि यह **नौकर** और **शाही** शब्दों से बना है। फ़ारसी भाषा से अलग-अलग उधार लिये गये सामाजिक-राजनीतिक शब्दों के रूप में इस शब्द का वस्तु-तत्त्व विशेषतया नवीन भारतीय रचना है। यही बात संस्कृत से अनूदित **अधिकारीतंत्र** के विषय में कही जा सकती है। एक ही अर्थ में प्रयुक्त संस्कृत और अरबी-फ़ारसी मूल के शब्दों में कभी-कभी शैलीगत अन्तर का आभास भले ही दिखाई दे, वस्तु-तत्त्व की उनमें एकता ही मिलती है, अर्थात् दोनों शब्द एक ही भाव व्यक्त करते हैं। तुलनार्थ, फ़ा० **अमन-पसंद**—सं० **शांति-प्रेमी**, फ़ा० **जंग-परस्त**—सं० **युद्ध-प्रिय**, फ़ा० **आज़ादी-पसंद**—सं० **स्वतंत्रता-प्रेमी**, फ़ा० **कारख़ाना**

—सं० कर्मशाला, फ़ा० कारंवाई—सं० कार्यवाही, फ़ा० सालगिरह—सं०-हिं० वर्षगाँठ हिं० बरसगाँठ।

(च) हिन्दी की नवीन शब्द-रचना में संस्कृत के बहुत से शब्द (लगभग ५०) प्रत्यय की भाँति प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि उनमें से अनेक नियमित रूप से (उदा०, **प्राप्त, गत, जाति, विद्या** आदि) तथा अन्य अनेक अपवादस्वरूप (उदा०, **वाद, तंत्र, शील, शाला** आदि) स्वतंत्र अथवा प्राचीन सामासिक पदों में भी प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, **वर्ग** शब्द प्रायः भाववाचक-समूह-वाचक संज्ञाओं के प्रत्यय का कार्य करता है। नवीन शब्दार्थगत रचना-प्रकार **प्रतिनिधिवर्ग** और **विद्यार्थीवर्ग** की प्राचीन शब्दार्थगत रचना-प्रकार **मजदूरवर्ग** से तथा नवीन रचना-प्रकार **आशावाद, आशावादी** से प्राचीन भारतीय शब्द-रचना का प्रतिनिधित्व करने वाले प्राचीन रचना-प्रकार **आशीर्वाद, धन्यवाद, मिथ्यावादी, सत्यवादी** की तुलना की जा सकती है।

जहाँ एक ओर शब्द का परंपरागत अर्थ करने की संभावना है, जैसे **पूंजीवादी सिद्धान्त** के अर्थ में **पूँजीवाद** शब्द, जो पूँजी के शासन का अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द **पूंजीशाही** से स्पष्टतः भिन्न है, वहाँ दूसरी ओर शब्दार्थ में आधुनिकता लाने की भी संभावना है, जैसे **वाद** प्रत्यय से बने हुए अनेकानेक नवीन शब्दों के सादृश्य से सत्य के अर्थ में **सत्यवाद** शब्द की रचना।

§ २. हिन्दी के नवीन प्रकार के शब्द-समास संस्कृत और फ़ारसी दोनों भाषाओं के लिए विदेशी हैं। यह नवीन प्रकार की शब्द-रचना स्वयं अपनी विशिष्ट पद-अर्थ-वैज्ञानिक शब्द-संयोग के बीच जैसी वस्तु कही जा सकती है। सुनीतिकुमार चटर्जी इसे 'असंलग्न समास' 'स्वतंत्र, निर्बंध शब्द-समास' या 'शिथिल समास' कहते हैं।[४]

'इस स्वतंत्र शब्द-समास' अथवा 'शब्द-बंधन' का अध्ययन कोश-विज्ञान या शब्द-रचना की सीमा का अतिक्रमण करके शब्दार्थ-विज्ञान के अंतर्गत पहुंचता है। **शब्द-बंधन** के कुछ उदाहरण हैं : **सिंचाई-विकास-कर, प्रथम विश्व-शांति-कांग्रेस, अधिक अन्न उपजाओ-आंदोलन, विदेशी वस्त्र बहिष्कार।**

§ ३. नव्य भारतीय भाषाओं के व्याकरणगत आकार की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता यह जान पड़ती है कि उनमें प्राचीन क्रियागत उपसर्गों का ह्रास हो गया है तथा धातुओं के साथ उपसर्ग पूर्णतया एकाकार हो गए हैं ;[५] उदाहरणार्थ, सं० **उद् + स्था = उत्था** 7 हिं० **उठ**; सं० **उप + विश् = उपविश** 7 प्रा० **उवइस** 7 हिं० **बैठ**, इत्यादि।

नवीन शब्द-रूपों की रचना में सामासिक पदों के उत्तर पद का कार्य असाधारण महत्व का होता है। संस्कृत के **वाद, तंत्र, करण, शास्त्र, विज्ञान, विद्या, वेत्ता, ज्ञ, विद्, विरोधी, वासी, कार, कर्ता, कारी, कर, दाता, दायी, संबंधी, विषयक, जनक, आसक्त, कृत, गत, पूर्वक, अर्थ, वश, गण, जन, वर्ग, आलय, गृह, आगार, शाला, पूर्ण, शील, संपन्न, युक्त, रहित, हीन, शून्य, प्रिय, प्रेमी, वादी, आकार, रूपी** तथा कतिपय अन्य शब्द हिंदी की नवीन शब्द-रचना में रचनात्मक प्रत्यय

---

४. दे० सुनीति कुमार चटर्जीः भाषा प्रकाश (बंगला व्याकरण), पृष्ठ १९४।

५. उपसर्गों के मिटने की प्रक्रिया प्राकृतों के विकास से ही प्रारंभ हो जाती है।

या रचनात्मक शब्द-प्रत्यय का कार्य करते हैं। अतः समसामयिक हिन्दी की संस्कृत प्रत्ययात्मक शब्द-रचना का अध्ययन संस्कृत की मूल समास-रचना से भिन्न नहीं है। इन नवीन शब्दों में शब्द का दूसरा अंग पहले की अपेक्षा अधिक अमूर्त्त होता है। सादृश्य के आधार पर दूसरे अंग के कोशगत मूल्य का क्रमशः ह्रास होता जाता है और इस प्रकार परसर्ग की भाँति प्रयुक्त होने तथा अन्य प्रत्ययात्मक शब्दों के सादृश्य के कारण स्वतंत्र शब्द प्रत्यय का रूप धारण करते जाते हैं। उदाहरणार्थ, **स्वतंत्रता** और **अधिकार** से बने **स्वतंत्रतापूर्ण**, **अधिकारपूर्ण** और **अधिकार-प्राप्त** शब्दों से **पूर्ण स्वतंत्रता**, **पूर्ण अधिकार** तथा **प्राप्त-अधिकार** की; **प्रतिनिधि** और **लेखक** शब्दों से बने **प्रतिनिधिगण**, **लेखकगण** से **गण-प्रतिनिधि**, **गणराज्य** की; **प्रजाजन** से **जन-आन्दोलन** की; **मनुष्य-जाति** से **जाति-भेद** की; **मनुष्य-वर्ग** से **वर्ग-भेद** की तुलना की जा सकती है।

§४. यद्यपि हिन्दी में उपसर्गों की संस्कृत पद्धति अपनायी जाती है, परन्तु ये उपसर्ग संस्कृत की क्रियाओं से कोई संबंध नहीं रखते। उनका प्रयोग शब्द-विशेष की सीमाओं के भीतर ही होता है। उदाहरण के लिए, रूप में प्राचीन होते हुए भी **विस्थापित** शब्द पद-विज्ञान की दृष्टि से **स्थापित** से संबद्ध है, **स्था**—धातु से नहीं, अर्थात् **वि** + **स्था** + प्रेरणार्थक मूल पद **आप** ⁄ **विस्थाप** + **क्त** प्रत्यय वि थ.पित। नूतन शब्द-रचना **विनिश्चय** और **विसंगत** की संगति क्रमशः **चिग** और **म्** धातुओं से नहीं, बल्कि **निश्चय** संज्ञा से है। व्युत्पन्न शब्दों के वस्तु-तत्व से ही यह प्रकट हो जाता है कि **चि** और **गम्** धातुओं से इस प्रकार के अन्य शब्द बनाना संभव नहीं है। परन्तु **वि-** की उत्पादन-क्षमता रचित शब्दों से स्वतः सिद्ध है। अतः, उदाहरणार्थ decentralisation के लिए **वि** (de) + **केन्द्र** (centre) + **ईय** (al) **करण** (isation) **विकेन्द्रीयकरण**।

हिन्दी में फ़ारसी और अरबी के उपसर्ग क्रमशः **बिना** और **ग़ैर** भी प्रयुक्त होते हैं, जो क्रमशः उपसर्ग (Preposition) **से** और विशेषण से विकसित हुए हैं।

किसी प्रत्यय विशेष का प्रयोग अंततोगत्वा उसकी व्युत्पत्ति पर नहीं, उसके व्यापार-गत मूल्य और उसकी उत्पादन-क्षमता पर निर्भर होता है। संस्कृत शब्द और नवीन भारतीय प्रत्यय **–वाद** अपनी उत्पादन-क्षमता के ही कारण संस्कृत के अतिरिक्त अन्य विदेशी भाषाओं के साथ भी जोड़ा जा सकता है। फ़ारसी प्रत्यय **–दार** का हिन्दी के मूल पदों के साथ व्यापक प्रयोग होता है। हिन्दी के सबसे अधिक उत्पादक प्रत्यय **–वाला** और **–पन** का भी विदेशी मूल पदों के साथ व्यापक प्रयोग होता है। इस प्रकार यद्यपि प्रत्यय का सर्वाधिक प्रयोग एकभाषीय होता है, फिर भी फ़ारसी-अरबी, अंग्रेज़ी और यहाँ तक कि संस्कृत शब्दों के साथ हिन्दी प्रत्ययों को तथा हिन्दी शब्दों के साथ ईरानी प्रत्ययों को जोड़ने के उदाहरण इतने अविरल तथा विविध हैं कि तथाकथित 'संकरज' शब्द-रचना को सामान्य नियम का अपवाद कहने के लिए कोई आधार नहीं है।

§५. हिन्दी में शब्द-रचनाओं के स्पष्टतः चार प्रकार दिखाई देते हैं। दो मूल, अर्थात् पद-विज्ञानमूलक और वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार और दो मिश्र, अर्थात् ध्वनि-वाक्य-विज्ञानमूलक

और पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार। इन प्रकारों के बीच घनिष्ठ संबंध है, इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के अंतर्गत स्वयं बड़ी विविधता दिखाई देती है। यह विविधता शब्द-रचना की विधियों में भी है और उन शब्द-रचना के वर्गों में भी जो इन विधियों से निर्मित होते हैं।

(क) पद-विज्ञानमूलक प्रकार के अंतर्गत शब्द-रचना की सरल विधियाँ स्पष्टतः निम्न हैं—१- प्रत्यय : **चोर—चोरी, रस—रसीला**। २--उपसर्ग : **मोल—अनमोल, काम—बेकाम**। ३--आभ्यंतर स्वर-संकोच (शून्य प्रत्यय) : **मिलना—मेल**। इनके अतिरिक्त संयुक्त विधियाँ भी हैं—१--प्रत्यय और उपसर्ग : **अंतरप्रांतीय, प्रतिक्रियावादी**। २--प्रत्यय तथा पुनरावृत्ति : **कड़कड़ाना, फड़फड़ाना, सुनसुनाना, गुनगुनाना, कड़कड़ाहट** (√+√+ आहट)। ३--आभ्यंतर स्वर-संकोच तथा प्रत्यय : **खोदना—खुदाई, खेल—खिलाड़ी, लकड़ी—लकड़हारा**। ४--शब्द-समास तथा आभ्यंतर स्वर-संकोच : **हाथ + कड़ी हथकड़ी, हट्ट** (दूकान) + **ताला = हड़ताल**। ५--शब्द-समास, आभ्यंतर स्वर-संकोच तथा प्रत्यय : मृत (रूढ़) रचनाएँ, जैसे—**पानी + डूब** (ना) + **ई = पनडुब्बी, दो + पाट + आ दुपट्टा**।

वाक्यविज्ञानमूलक प्रकार के अंतर्गत शब्द-रचना की निम्न विधियाँ[६] देखी जाती हैं—१—अभिव्यक्ति के लिए पुनरुक्तिमूलक आवृत्ति : **छोटा-छोटा, अधिकाधिक, बीच-बीच में, पीछे-पीछे, पढ़-पढ़कर**। २—समानार्थात्मक आवृत्ति : **काम-काज, मेल-मिलाप, मेल-जोल** (मिलना-जुलना), **देख-रेख, देख-भाल, सोच-विचार** इत्यादि। ३—विलोम आवृत्ति अथवा दो विरोधी शब्दों का संयोग : **आज-कल, दिन-रात, लेन-देन**, सं० **आय-व्यय, ऊँच-नीच**, सं० **माता-पिता**, (माँ-बाप) इत्यादि।

(ख) ध्वनि-वाक्य-विज्ञानमूलक और पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार के अंतर्गत रूप और सूक्ष्म अर्थ-भेद, दोनों दृष्टियों से भिन्न, अनेक शब्द-रचनाएँ तथाकथित 'अनुप्रासमूलक शब्द-आवृत्ति' जैसी मिलती है : √+आ+√+ई—**गरमागरमी, खींचाखींची** (खींचातानी); √+ओ+√—ई—**बाँधा-बूँधी** (बाँधना), **बूँदाबूँदी** (बूंद); √+√—**खींचखाँच**, (खींचातानी), **ठोकठाक**; √+ओं+√—**ठोकोंठोक, बीचोंबीच**, इत्यादि। इस रचना में कुछ मिश्र 'समानार्थ-अनुप्रासमूलक' रचनाएँ भी हैं, जैसे-**देखाभाली** (देखभाल), **खींचातानी** (खींचखाँच), **लिखा-पढ़ी**।

(ग) पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार में शब्द-समास के अनेक रूप और प्रकार की

---

६. इस रचना-प्रकार के द्वारा वस्तुतः स्वतंत्र शब्द-संयोग और शब्द-रचना (सही अर्थ से रूप-रचना) के बीच की स्थिति प्रकट होती है। हिन्दुस्तान की भाषा के इस जीवित लक्षण का तुलनात्मक-ऐतिहासिक और अर्थ-विज्ञानमूलक विश्लेषण उसके दोनों साहित्यिक रूपों में प्रचलित है। दे० अकेदमीसियन ए० पी० बरान्निकोव : 'हिन्दुस्तान में शब्द-आवृत्ति (पूर्वी टिप्पणियाँ, खंड १ लेनिनग्राद १९२७) और 'नव्य भारतीय भाषाओं में पर्यायात्मक आवृत्ति (प्राच्यविद्या महाविद्यालय की टिप्पणियाँ, खंड ३, लेनिनग्राद १९२९)।

शब्द-रचनाएँ पाई जाती हैं। **स्वराज्य, धनोपार्जन, ग्राम-पंचायत, मतदान, भूमिदान, लकड़फोड़, मुँहतोड़, पतझड़, भिखमंगा, घुड़चढ़ा, घुड़दौड़, हथकड़ी, हाथी-दाँत** इत्यादि।

§ ६. हिन्दी में प्रयुक्त सामासिक तथा यौगिक शब्दों के पद-विज्ञान की दृष्टि से दो भेद किये जा सकते हैं। प्राचीन रूपांतरमूलक और नवीन, जिन्हें संश्लेषणात्मक प्रकार की शब्द-रचना कह सकते हैं। संश्लेषण से यहाँ तात्पर्य है एक या अनेक प्रत्ययों और शब्द-प्रत्ययों का अत्यंत निश्चित नियम के अनुसार संयोजन—संयुक्त होने के पहले मूलपद के साथ संयोजन नहीं, बल्कि सीधे स्वयं शब्द के साथ संयोजन। उदाहरण के लिए, रूपांतरमूलक प्रकार : **सौंदर्य** और संश्लेषणात्मक प्रकार : **सुंदरता**। प्राचीन प्रकार में शब्द के भीतर गुण-वृद्धि होकर संधि हो जाती है, जैसे **सुंदर** शब्द के प्रथम अक्षर (sylla' le) के स्वर में वृद्धि होने से **सौंदर** बना और फिर इसमें **य** प्रत्यय जोड़कर **सौंदर्य** बनाया गया। **वायु > वायव + ईय = वायवीय,** अर्थात् संधि उ + **ईय = अवीय**।

संश्लेषणात्मक प्रकार की शब्द-रचना में रचना का संपूर्ण व्यापार एकांततः प्रत्यय या 'शब्द-प्रत्यय' और उपसर्ग पर निर्भर होता है। इस प्रकार शब्द का मूलपद ज्यों का त्यों मूल शब्द ही होता है; जैसे **सुन्दरता** शब्द में मूलपद **सुंदर** ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इसी के सादृश्य में **वायु** से **वायुसंबंधी** शब्द बनता है। यहाँ **संबंधी** शब्द विशेषण-प्रत्यय का व्यापार सूचित करता है। तुलना कीजिए : अशुद्ध नवीन शब्द-रचना **महानता** और शुद्ध संस्कृत **महत्व**; एक ही अर्थ के द्योतक **विदेशीय** और **वैदेशिक**; अशुद्ध **उपनिवेशिक** और शुद्ध **औपनिवेशिक**; नवीन शुद्ध **इतिहासकार** और प्राचीन शुद्ध **ऐतिहासिक** तथा **अभियो**ग**कर्ता** और **अभियोक्ता**।

हिन्दी शब्द-रचना में स्पष्टतः संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है; उदाहरणार्थ, **विद्वान लोग** का प्रयोग **विद्वद्गण, विद्वज्जन** की अपेक्षा अधिक होता है तथा अधिक व्यापक रूप में समझा जाता है। नियमित रूप **विद्वज्जन** का प्रचलन तो और भी सीमित है, **नैत्य** की अपेक्षा **नित्यता** अधिक सही तौर पर प्रयुक्त होता तथा समझा जाता है। शब्द-उत्पादन की प्रक्रिया में कुछ प्रत्ययों (**-इक्, -तंत्र, -वाद, -इ, -ईय, -पन** आदि) के क्रमिक संयोजन के द्वारा नूतन शब्द-रचना भी देखने योग्य है : **साम्राज्य-वाद-इ-ता,** (वाच्यार्थ imperialistness), **अवसर-वाद-इ-ता** (वाच्यार्थ opportunistness), **प्रजा-तंत्र-वाद** (democratism), **अंतर-राष्ट्र-ईय-ता** (वाच्यार्थ internationalness), **पंडित-आऊ-पन, अ-हस्तक्षेप-कार-इ-ता,** आदि।

एक ओर बोलियों की शब्द-रचना में नियमतः ठेठ हिन्दी की धातुओं और मूलपदों में स्वर-परिवर्तन के तत्त्व दिखाई देते हैं, जैसे **लेना—लिवैया; छोटा—छुटपन** (मिलाइए, छोटापन, छोटाई); **लड़का—लड़कपन; बच्चा—बचपन; मोटा—मुटाई** (मिलाइए, मोटाई, मोटापन); **घोड़ा—घोड़ेवाला, घुड़साल,** इत्यादि। दूसरी ओर संश्लेषणात्मक तत्त्व, अर्थात् मूल शब्द के साथ प्रत्यय के सीधे संयुक्त होने के उदाहरण मिलते हैं : प्राचीन प्रकार की नियमित शब्द-रचना—**सिद्धान्त—सैद्धान्तिक; उद्योग—औद्योगिक, औद्योगीकरण; नव—नवीकरण** के साथ नवीन प्रकार की अशुद्ध (अनियमित) शब्द-रचना **सिद्धान्तिक, उद्योगिक, उद्योगीकरण केन्द्रीकरण,**

नवीकरण, इच्छित (इष्ट के स्थान पर), **क्रोधित, क्रोधमय, कोपित** (**क्रुद्ध, क्रुद्धालु, कुपित** के स्थान पर) आदि की तुलना कीजिए। इसी प्रकार नियमित **विद्युतीय** (**वैद्युतिक**), **पृथकता** (**पार्थक्य**), **साहित्यकार** (**साहित्यिक**), तथा नूतन शब्द परिभाषाएँ **नवीनतावादी, केन्द्रीयता** (centralism परन्तु वाच्यार्थ में centralness)।

'स्वार्थिक' (pleonastic) अथवा सघनताकारी प्रत्यय का प्रयोग हिन्दी में दो प्रकार का मिलता है : एक तो **-ई** (**-आई**) प्रत्यय से बने हुए पुरानी शब्द-रचना के रूपों में; जैसे, **सुन्दरताई, सुन्दरता, सौंदर्य** आदि अथवा संयोगात् रचनाओं के रूपों में; जैसे, **भंडारघर, भांडागारालय** (?), **भांडागार, भंडार; दवाई, दवा** आदि, और दूसरे, बोलियों के बोलचाल वाले रूप में; जैसे **घसवा** (?)—**घास, घोड़वा** (?)—**घोड़ा; बेटवा** (?)—**बेटा; बतिया** (?) —**बात; भैया—भाई; बुढ़िया—बूढ़ी** इत्यादि।

§ ७. साहित्यिक हिन्दी में प्रत्यय के प्रयोग की उनके उद्‌गम के आधार पर तीन पद्धतियाँ हैं : तद्‌भव, संस्कृत और विदेशी, अर्थात् फ़ारसी-अरबी। इनमें सबसे अधिक उत्पादन-क्षमता तद्‌भव पद्धति में जान पड़ती है; उदाहरणार्थ, **-वाला** प्रत्यय 'जानेवाला' (ready to go) जैसे केवल व्याकरणगत 'प्रयोजनसूचक कृदंती' रूप में ही प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि कोश-व्याकरणगत रचनात्मक रूप में भी इसके विविध प्रयोग मिलते हैं; जैसे कर्तासूचक संज्ञा, पेशे या उत्पत्ति, निवास आदि के आधार पर अधिकार का आभास देते हुए विशेषण के अर्थ में; उदाहरणार्थ, **जानेवाला** (preparing to go, goer, he who goes) **सुननेवाला** (hearer, he who hears), **दुकानवाला** (hopkeeper), **पुलिसवाला** (Police), **शहरवाला** (dweller in city), **पहलेवाला** (the former) इत्यादि, तथा विशिष्ट बोलचाल के रूप में; जैसे, **मेरे वाला, नजदीक वाला, छोटा वाला** इत्यादि।

यद्यपि हिन्दी शब्द-रचना का आधार अधिकतर तद्‌भव प्रत्यय की पद्धति ही है, परन्तु संस्कृत और फ़ारसी पद्धतियों में कुछ स्वाधीनता दिखाई देती है। संस्कृत पद्धति में फ़ारसी पद्धति से भी अधिक स्वाधीनता पायी जाती है। संस्कृत प्रत्यय नियमतः संस्कृत शब्द-रचना के ही भीतर रहते हैं। इसका कारण एक तो यह है कि स्वयं संस्कृत मृत भाषा है और दूसरा यह कि साहित्यिक हिन्दी रचना में संस्कृत का सीधा प्रभाव पड़ा है। संस्कृत प्रत्यय तथा किसी सीमा तक फ़ारसी प्रत्यय की पद्धतियों की स्वाधीनता उन विशिष्ट शैलियों में अधिक दिखाई देती है, जो संस्कृत या फ़ारसी शब्दावली से परिपूर्ण होती हैं। अतः हिन्दी शब्द-रचना के अध्ययन का एक पक्ष प्रत्ययों के शैलीगत सूक्ष्म अर्थ-संकेत—सूक्ष्मभाव (shade)—तथा उस सूक्ष्म अर्थ-संकेत के संवेगात्मक और अभिव्यंजनात्मक आधार का स्पष्टीकरण भी है। उदाहरणार्थ हिन्दी प्रत्यय **-पन** अर्थ की दृष्टि से अथवा शब्द-रचना के उस वर्ग (भाववाचक संज्ञा) की दृष्टि से जो उसके द्वारा व्यक्त होता है संस्कृत के **-ता** के अनुरूप तो है, परन्तु अपने सूक्ष्म अर्थ-संकेत की दृष्टि से अथवा उस शब्द के अभिव्यंजनात्मक सूक्ष्म अर्थ-संकेत की दृष्टि से जो इस प्रयत्य के द्वारा बनाया जाता है वह संस्कृत के **-ता, -त्व** से भिन्न है; उदाहरणार्थ—**नेतापन** (leadership) **नेताशाही** (dictatorship of leader) परन्तु **नेतृत्व** (leadership)।

'Bureaucracy' शब्द का भाव व्यक्त करने के लिए फ़ारसी के **नौकरशाही** का प्रयोग संस्कृत के **कर्मचारीतंत्र** या **अधिकारीतंत्र** से अधिक उपयुक्त है; अंतरराष्ट्रीय शब्द 'imperalism' के लिए **साम्राज्यवाद** (भाव या सिद्धान्त के अर्थ में) की अपेक्षा **साम्राज्यशाही** अधिक उपयुक्त है। शब्द के शैलीगत रंग और उसके वस्तुत्व में कितना विरोध है, यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि **युद्धप्रेमी, युद्धप्रिय, युद्धवादी** (militarist) तथा **युद्धप्रियता, युद्धवाद** (militarism) आदि संस्कृत की नूतन शब्द-रचनाएँ पारिभाषिक प्रयोग को छोड़कर सामान्य प्रयोग की दृष्टि से फ़ारसी की नवीन रचनाओं—**जंगपरस्त, जंगबाज़, जंगख़ोर** आदि—की अपेक्षा कम सुविधाजनक हैं। आधुनिक समाचार-पत्र स्वभावतया इन फ़ारसी शब्दों को ही उनके संस्कृत पर्यायों की अपेक्षा अधिक पसंद करते हैं।[७] परन्तु democracy का भाव हिन्दी में संस्कृत शब्दों, **लोकतंत्र, जनतंत्र, प्रजातंत्र** के द्वारा 'संकरज' सं०-फ़ा० **लोकशाही** या **प्रजाशाही** की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह व्यक्त होता है। इसी तरह सं०-फ़ा० **राजशाही** (Czarism) और सं० **राजतंत्र** (monarchy) की तुलना की जा सकती है। हिन्दी में संस्कृत के **शांतिप्रेमी, शांतिपक्षी, शांतिवादी** को फ़ारसी के **अमनपसंद** तथा **अमनपरस्त** की अपेक्षा अधिक स्वीकार किया जाता है। अन्तिम शब्द प्रायः pacifist के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

§ ८. हिन्दी के रचनात्मक प्रत्ययों के विश्लेषण से यह संभव हो जाता है कि शब्दार्थ-वैज्ञानिक पक्ष में शब्द-रचना की प्रक्रिया का निम्नलिखित दो दिशाओं में परीक्षण किया जाय—(क) शब्द के वस्तु-तत्त्व में परिवर्तन तथा नवीन अर्थ का आविर्भाव तथा (ख) पुराने अर्थ में नवीन सूक्ष्म अर्थ-संकेत—मुख्यतया संवेगात्मक अभिव्यंजनासूचक सूक्ष्म अर्थ-संकेत—का आविर्भाव। इस प्रकार ज्ञात सीमाओं के भीतर शब्द-रचनात्मक और रूप-रचनात्मक प्रत्ययों में भेद करना संभव हो जाता है। जहाँ तक प्रत्यय जोड़कर शब्द के रूपात्मक परिवर्तन और साथ ही शब्दार्थगत परिवर्तन का संबंध है **लोमड़ा** (?)—**लोमड़ी, खाट**—**खटवा, खटिया; घोड़ा**—**घोड़वा, घोड़ौवा** आदि के कोशगत रूपरचना-प्रकार को शब्द-रचनाओं का ही अंग माना जा सकता है, यद्यपि इनकी स्थिति सिद्धान्ततः **दुकान**—**दुकानदार; मोटा**—**मोटाई; बोझ**—**बोझैल; दाढ़ी**—**दढ़ियल, दाढ़ीवाला** आदि संकुचित अर्थ में ठेठ शब्द-रचना-प्रकार की अपेक्षा **घोड़ा**—**घोड़े का, घोड़ों का, घोड़े को, घोड़ों से** आदि व्याकरणगत रूप-रचना-प्रकार के कुछ अधिक निकट है।

'शब्द-रचनात्मक' तथा 'रूप-रचनात्मक' वर्गों में हिन्दी प्रत्ययों के विभाजन से उन पूरक सूक्ष्म अर्थ-संकेतों का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कुछ प्रत्ययों के द्वारा शब्द-रचना की प्रक्रिया में संक्रमित हो जाते हैं, चाहे ये सूक्ष्म अर्थ-संकेत प्रत्यय की कोशगत प्रकृति से परिसीमित

---

७. आधुनिक समाचार-पत्रों के ही आधार पर वी० एम० बेसक्रोव्नी (मास्को १९५३) के 'हिन्दी-रूसी कोश' में 'militarist' के लिए उक्त फ़ारसी शब्दों के साथ-साथ 'संकरज' शब्द सं०-फ़ा० युद्धबाज़, युद्धख़ोर; फ़ा०-सं० जंगवादी भी दिये गये हैं।

हों अथवा सीमित व्यापारगत प्रकृति के हों। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, हिन्दी प्रत्यय **-ऊ** (**आऊ**) कृदन्त और कर्तासूचक संज्ञा, अर्थात् व्यक्तियों के नाम के साथ-साथ 'सुविधा', 'सामर्थ्य', 'पर्याप्तता', 'कार्यविशेष' के अनुभव के लिए प्रस्तुत होने का भी सूक्ष्म अर्थ-संकेत करता है; जैसे—**जमाऊ** (जमा कर सकने में समर्थ), **जोताऊ** (जोते जाने के लिए सुविधाजनक), **डुबाऊ** (डूबने के लिए पर्याप्त, डुबकी लगाने के लिए 'सुविधाजनक', 'गहरा')। संस्कृत का विशेषण-प्रत्यय **-मय** (**-मयी**) हिन्दी की नवीन शब्द-रचना में 'पूर्णता', 'गुण की प्रचुरता' का अर्थ-संकेत देता है; जैसे, **आनन्दमय, अरबी-फ़ारसीमय**। संस्कृत प्रत्यय **-आलु** और शब्द-प्रत्यय **शील** झुकाव (leaning), विशेषता (character), स्वाभाविक रुझान (propensity), अथवा गुण का अर्थ-संकेत करते हैं; जैसे—**कृपालु** (kind hearted), **उन्नतिशील, प्रगतिशील** (स्वभाव, विशेषता या प्रकृति के अनुसार progressive)। इसकी तुलना **प्रगतिवादी** (दृष्टिकोण, रुझान या विचारों की दिशा के अनुसार progressive, progressist) से कीजिए।[८]

हिन्दी में रूप-रचना के आधार निम्नलिखित रचना-प्रकारों में पाये जाते हैं : (क) स्नेहसूचक ऊनवाचक संज्ञाएँ; जैसे, **बेटी—बिटिया**, तथा (ख) जीवधारियों की पुल्लिंग संज्ञाओं से बने स्त्रीलिंग रूप; जैसे, **शेर—शेरनी**।

§ ९. प्रत्ययात्मक समानार्थी न केवल प्रत्ययों की विभिन्न पद्धतियों के बीच पाये जाते हैं, बल्कि एक ही पद्धति के अंतर्गत भी मिलते हैं। परन्तु विभिन्न भाषाओं से लिये गये प्रत्ययों से बने शब्दों में अर्थ की एकता या समता तो पूर्णरूप में हो सकती है, परन्तु उनमें शैलीगत सूक्ष्म अन्तर बना रहता है। उदाहरणार्थ, सं० **उत्तरदायी, उत्तरदायित्व** फ़ा० **जवाबदेह, जवाबदेही** के पूर्ण अनुरूप हैं। सं० शब्द-प्रत्यय **आलय, आगार, गृह** हिं० **घर** और फ़ा० **ख़ाना** का समानार्थी हैं। फ़ा० प्रत्यय **-दार** अर्थ और व्यापार में हिं० प्रत्यय **-वाला** के सर्वथा अनुरूप है; **जैसे,** हिं०-फ़ा० **पूंजीदार**, फ़ा०, **सरमायादार**, हिं० **पूंजीवाला**, सं० **पूंजीपति**। फ़ा० **-मंद** सं० **-मान्** (**-मत्**), **-वान्** (**-वत्**) का पर्याय है, जैसे, फ़ा० **दौलतमंद**, सं० **धनवान्, धनी**, अ०-फ़ा० **अक़्लमंद**, सं० **बुद्धिमान्**। सं० **-ता** और **-त्व** फ़ा० **-ई** और हिं० **-आई, -पन** के समानार्थी हैं, इत्यादि।

संयोगात् अथवा व्यापारगत समानार्थकता के साथ-साथ ऐसी समानार्थकता भी मिलती है जिसका कारण प्रत्ययों के उद्गम की एकता है। संस्कृत प्रत्यय **-इन** (करण कारक एकवचन **-ई**), **-ईय, -मान्** का वही अर्थ है, जो हिन्दी और फ़ारसी में विशेषण प्रत्यय **-ई, -मंद** का है। संस्कृत **-इक** बोली के हिन्दी प्रत्यय **-इया** का समानार्थी है। संस्कृत **-त्व** हिन्दी के **-पन** (वैदिक **-त्वन**) का समानार्थी है। भाववाचक संज्ञा के फ़ारसी प्रत्यय **-ई** और हिन्दी प्रत्यय **-ई, (-आई)** अथवा संस्कृत के अनुत्पादक **-ई (-की)** का अर्थ एक ही है। प्रत्ययों के अर्थों की इस प्रकार की अनुरूपता उनकी व्युत्पत्ति की एकता पर ही आधारित है। विभिन्न उद्गमों के प्रत्ययों की इस

---

८. ये सूक्ष्म अर्थ-संकेत संस्कृत से हिन्दी में उन शब्दों के साथ आये हैं जिनमें और अधिक स्पष्ट तथा कोशगत अभिव्यंजना हुई है।

समानार्थकता और एकार्थता के आधार पर शैलीगत सूक्ष्म विविधताओं की अतीव संभावनाएँ प्रकट होती हैं। इस संबंध में निम्नलिखित प्रत्ययों अथवा और शब्द-प्रत्ययों की तुलना की जा सकती है—

सं० -तंत्र—फ़ा० -शाही; सं० -वाद—अ० -इयत; सं० -प्रेमी, -प्रिय—फ़ा० -पसंद, परस्त; सं० -ता, -त्व—हिं० -पन; सं० -वादी, -कारी, आदि—फ़ा० -बाज़, -ख़ोर, आदि; सं० -कार—फ़ा० -कार, -गर; सं० -पूर्ण, -शील, -मय, -आलु—हिं० -आऊ, -आलू, -ईला, -ऐला (सं० इल), इत्यादि।

सामान्यतया हिन्दी शब्द-रचना की यही विशेषताएँ हैं।

एम० बी० एमेन्यू

ब्राहुई संकेतवाची सर्वनाम

ब्राहुई के तीन संकेतवाची सर्वनाम व्युत्पत्ति सम्बन्धी समस्या प्रस्तुत करते हैं।

सबसे अधिक सामान्य द्राविडी संकेतवाची निकटवर्ती आधार **इ**, **ई** तथा दूरवर्ती आधार **अ**, **आ** हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इनकी व्युत्पत्ति की विशद व्याख्या आवश्यक नहीं है; देखिए—टी० बरो तथा एम० बी० एमेन्यू, ए ड्रैवेडियन एटीमोलाजिकल डिक्शनरी, सूची ३५१ और १। यह कहना यथेष्ट है कि ब्राहुई को अपवाद रूप में छोड़ सभी द्राविड भाषाएँ बिना किसी ध्वन्यात्मक कठिनाई के आधार स्वरों के सम्बन्ध में स्पष्टतः स्वजातीय हैं।

इसके अतिरिक्त प्राचीन तमिल और कन्नड के साक्ष्य पर कुछ भाषाओं में **उ** अथवा **ऊ** आधार है जिसकी व्याख्या मध्यवर्ती संकेतवाची के रूप में की जा सकती है।[1] दूसरी भाषाओं में इसी अर्थ में इस आधार के रूप हैं—कुवी (फ़िज़गरेल्द) तथा कुरुख भाषाओं में आधार **हु**; इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं में ये आधार निकटवर्ती संकेतवाची अर्थ में हैं : कोता में **उ॰न्**, **उ॰ळ्**, **उ॰र्**, (स्त्री तथा पुरुषवाची वह तथा **वे**) जो आधार **ई** के रूपों से भिन्न रूप प्रतीत होते हैं;[2] तुल में **उन्दु**, **उन्दकुळु** (यह वस्तु, ये वस्तुएँ—**उन्दु** तथा **इन्द**, वैकल्पिक रूप हैं) ब्रिगेल और मॉनेर के द्वारा निकटवर्ती संकेतवाची के लिए दिये गये हैं; पर्जी में **इ** आधार से बने हुए रूपों के स्थान पर **ऊद्** (यह : पुरुष के लिए), **ऊर्** (ये : पुरुषों के लिए) हैं, यद्यपि **इ** आधार के रूप अन्य प्रकार से प्रयुक्त होते हैं [**इद्**, **इव्**—(यह : स्त्री या वस्तुए; ये : स्त्रियाँ तथा वस्तुएँ)]। निकटवर्ती संकेतवाची का यह संयोग गौण है। दूसरी ओर कुई में **ओ** आधार चार संकेतवाचियों में सुदूरवर्ती है; कुवी (शुल्ज़े) में कुई के **ओ** आधार के सदृश **हु** आधार है। माल्तो **उथि** (वहाँ देखो) तथा मलयालम **उम्पर्** (उठा हुआ स्थान, चबूतरा, स्वर्ग, देवता तथा मस्तूल आदि) बिखरे रूप हैं।

दूसरे आधार **ऍ** तथा ए हैं जो कुई में तीन दूरवर्ती संकेतवाची (उदा० **ऍ**, अ, **ओ**) में निकटतम के लिए हैं। कुवी (शुल्ज़े) **ऍ** कुई **ऍ** के समान है, और **हे** तीन दूरवर्ती संकेतवाचियों (उदा०—**ऍ**, **हे** तथा **हु**) में मध्य का है।

---

१. प्राचीन कन्नड शिलालेखों की सामग्री के लिए, जी० एस० गई, बुलेटिन ऑव दि डकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट १०-६८ (१९५०); एल० वी० रामास्वामी अय्यर, दि एवोल्यूशन ऑव् मलयालम मॉरफ़ॉलोजी ३२ (१९३६)। मलयालम के रूप प्राप्त नहीं हुए।

२. एमेन्यू, कोता टेक्स्ट्स, भा० १, २४, अनु० ३९। साधारण सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणिका के लिए देखिए 'ए ड्रैवेडियन एटिमॉलोजिकल डिक्शनरी'।

द्राविड़ संकेतवाची आधारपंजिका

इ			अ	मलयालम, तोडा, कोड़गु, कोलमी-नइकी, गड़वा, गोंडी, कोंड़ा, माल्तो
इ	उ		अ	तमिल, कन्नड, कुवी (फ़िजगेरल्द), कुरुख
इ उ			अ	कोता, तुलु, परजी
इ	एं	अ	ओ	कुई
इ	एं	हें	हु	कुवी (शुल्ज़े)
दा	ओ[3]		ए	ब्राहुई

ब्राहुई में प्रथम समस्या दूरवर्ती संकेतवाचियों की है। ए प्रत्यक्षतः कुई-कुवी एं से सम्बद्ध प्रतीत होगा। फिर भी लगता है कि सामान्यतः ब्राहुई श्रेणी की तुलना केवल अधिक साधारण द्राविड श्रेणी इ, उ, अ से की गयी है। ऐसा होने पर अर्थ के आधार पर ए अ के समकक्ष हो जाता है तथा इसमें या तो ध्वनि की अवहेलना की जाती है अथवा निर्विवाद रूप से यह मान लिया जाता है कि प्रोटो ड्रैवेडियन *आ से ब्राहुई एं आया है (दे०–ब्रे, वोकेबलरी, एस० वी०)। वस्तुतः अनेक व्युत्पतियाँ प्रो० द्र० *आ > ब्रा० आ (इन्ट्रीज़ ३३३, ११९२, ११९५, ११९७, १२१९, ३३७०, ४३५५, ४३८५) के सम्बन्ध को स्पष्ट करती हैं। केवल एक रूप ब्राहुई के निजवाचक सर्वनाम (*तान् > ब्रा० तेन, इन्ट्री २६१२) में प्रो० द्र० *आ > ब्रा० ए के सम्बन्ध का अच्छा प्रमाण है। प्रश्नवाचक सर्वनाम देर् की तुलना साधारणतः *या– से की जाती है जो प्रश्नवाची आधार है, किन्तु अनेक भाषाओं में इस सर्वनाम के लिए ए है और यह प्रतीत होता है कि य् कदाचित् आ > ए के परिवर्तन को स्पष्ट करता है।[4] साक्ष्य का संतुलन इस प्रकार है, अतः स्पष्ट ध्वनि विशेषता के आधार पर अग्रसर होना अधिक संगत होगा : *ए > ब्रा० ए (इन्ट्रीज़ ७६७, २८५६, ३६२७, ४५५२)। निश्चय ही यह कुई-कुवी एं की प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति की ओर ले जाती है। कुई की श्रेणी (इ, एं, अ, ओ) स्वतः एं तथा अ को सम्मिलित करनेवाली प्रोटो द्राविडी श्रेणी के लिए संभावित प्रमाण है। यदि ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से ब्राहुई ए का सम्बन्ध *आ से न होकर *ए से है, तब यह कुई एं से लगभग आवश्यक रूप से *एं तथा *अ को सम्मिलित रखनेवाली प्रो० द्राविडी संकेतवाची श्रेणी को स्थिर करने के लिए संयुक्त होती है। निश्चय ही मूल अनुमान यही है कि ब्राहुई तथा कुई में साधारणतः निकट का सम्बन्ध नहीं है, और जो इस प्रकार की समानताएँ हैं वे प्रो० द्राविडी तत्त्व के सुरक्षित रहने के प्रमाण हैं।

---

३. ब्रे ने अपने व्याकरण में 'ओ' लिखा है पर प्रायः सभी प्रयोगों में दीर्घ स्वर ध्वनितत्व स्वीकार किया है। इसके पश्चात् की 'वोकेबलेरी' में उसने 'ओ' लिखा है।

४. इस सर्वनाम की विशद व्याख्या के लिए दे०–बी० बरो, बी एस ओ ए एस, ११, ५९६-६०० (१९४५)।

निश्चय ही कुई ओ और ब्राहुई ओ को प्रत्यक्षतः साथ रखना चाहिए। अब तक इसका स्वरात्मक ध्वनि-ज्ञान समझा नहीं गया है, लेकिन जब तक कि दोनों भाषाओं के स्वरों के अनुसन्धान से कोई विरोधी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है, हमको यह स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं कि ये आधार ध्वन्यात्मक रूप में दूसरी भाषाओं के उ आधार के साथ हैं। कुई से निकटता से सम्बन्धित कुवी ने उ आधार रखा है, यद्यपि फ़िज़गेरल्द तथा शुल्ज़े के कुवी सम्बन्धी विवरण विश्वसनीय नहीं हैं, किन्तु वे उ के विषय में सहमत हैं। अतः कुई ओ इस समय उ का गौण रूप माना जा सकता है। कुई-कुवी के तीन विवरण—कुई इ, ऍ, अ, ओ; कुवी (शुल्ज़े) इ, ऍ, हे, हु; कुवी (फ़िज़गेरल्द) इ, उ, अ—क्रम और रूप की दृष्टि से इतने भिन्न हैं कि कुई तथा कुवी के लिए केवल इ निकटवर्ती संकेतवाची तथा ऍ, अ, ओ दूरवर्ती संकेतवाची की श्रेणी को ही निश्चयात्मक रूप से निर्धारित किया जा सकता है। यदि फ़िज़गेरल्द के विवरण को ऊपर-ऊपर से देखा जाय तो किसी भी श्रेणी-क्रम का निर्धारित होना संभव नहीं है। यह पूर्व कुई-कुवी के *उ तथा *अ की ओर इंगित करते हैं जो अपने उसी क्रम में तमिल, कन्नड तथा कुरुख में उपलब्ध हैं। कुई, शुल्ज़े की कुवी और ब्राहुई के आधार पर हमने प्रो० द्राविडी श्रेणी में ऍ को सम्मिलित करने का निश्चय किया है। कुई तथा कुवी में इ तथा उ/ओ के मध्य में ऍ होना चाहिए। विनफ़ील्ड का कथन है (व्याकरण, पृ० ४३) कि अ व्यवहारिक रूप में ऍ का पर्याय है और इसका प्रयोग इतना प्रचलित नहीं है जितना अन्य संकेतवाचियों का। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कुई और शुल्ज़े की कुवी में समान रूप से ऍ, उ/ओ, अ के क्रम का ऍ, अ, उ/ओ के क्रम में परिवर्तन हुआ है और शुल्ज़े की कुवी में कुई में उपलब्ध पद्धति के द्वारा अ लुप्त हो गया है। यदि कुई-कुवी में ऍ की प्रस्तावित अ तथा उ/ओ के पूर्व की स्थिति को ठीक मान लिया जाय, तो इसको प्रो० द्रा० स्वीकार करना बहुत कठिन है, क्योंकि ब्राहुई में ओ ए का उल्टा क्रम मिलता है। इस इतने साक्ष्य के आधार पर हम वास्तव में प्रो० द्राविडी श्रेणी में *ऍ के स्थान को नहीं जान सकते। मैं समझता हूँ कि मैंने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है[5] कि कुई के अपने रूप-गठन में प्रो० द्राविडी का एक प्राचीन तत्व है। यदि यह ठीक है, तो कुई ने संभवतः *अ तथा *उ/ओ के पूर्व *ऍ की स्थिति को बनाये रखने में दूसरे प्राचीन तत्त्व की रक्षा की है (यद्यपि इसने स्पष्टतः बाद के दो रूपों के क्रम को बदल दिया है)। किंतु यह तर्क कम संगत है, और मेरे लिए इसका उल्लेख मात्र पर्याप्त है।

ब्राहुई की पहली समस्या के विवेचन से इस प्रकार परिणाम निकलते हैं: (१) ए का कुई-कुवी ऍ से समीकरण होना, (२) ओ का उ से समीकरण अनेक भाषाओं में व्याप्त है और कुई ओ से समीकरण (३) दोनों आधारों के प्रा० द्रा० होने की स्थापना (४) और यह अनिश्चय कि कुई-कुवी क्रम ए, उ/ओ अथवा ब्राहुई क्रम ओ, ए प्रो० द्रा० का प्रतिनिधित्व करता है।

ब्राहुई में निकटवर्ती संकेतवाची आधार दा- है। दूसरी समस्या है कि क्या प्रो० द्रा०

---

५. द्राविडी क्रियाएँ 'आना' और 'देना'; लेंगुएज; २१, १८४-२१३।

श्रेणी-क्रमों *इ (*ए, *उ), *अ में व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसकी संगति बैठायी जा सकती है, और यदि बैठायी जा सकती है तो किस प्रकार? एडविन टटिल (बी एस ओ एस ४.७७७, १९२८) का विचार था कि दा– अफ़गान दा से लिया गया है, उदा०–पश्तो संकेतवाची आधार दा– से; किंतु ब्रे ने इसको स्वीकार नहीं किया है (वाकेबुलेरी, एस० बी०)। ऐतिहासिक संभावनाएँ भी ब्राहुई भाषियों के पश्तो भाषियों के सम्बन्ध का विरोध करती हैं। उनका सम्बन्ध जितना सिंधी और बलूची से रहा है उतना पश्तो भाषियों से नहीं।

साधारणत: अर्थ के आधार पर दा– को *इ के साथ रखा गया है। ब्रे के अनुसार (वाकेबुलेरी, एस० बी०) "आ < अ < इ, जैसे अर्– और द्रा० इर् (होना), हन्– तथा द्रा० इन् (मीठा) आदि; द्–अग्रश्रुति के फलस्वरूप है, द् > ज् < य्, जैसे देर्; यह परिवर्तन पूर्ण रूप दाद् के अन्त्य व्यंजन से संभवत: प्रभावित है, पश्तो दा से अपेक्षाकृत कम।" स्वरों की ध्वन्यात्मकता को सिद्ध करने में जो दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं, उसके अनुसार ब्रा० अर् 'होना' (अनिग) का सम्बन्ध *इर्–'रहना, अस्तित्व होना, बैठना' (इन्ट्री ४०७) की अपेक्षा *आ–'हो जाना' (इन्ट्री २८२) से है। दूसरी हन्–'मीठा' : तमिल इऩ्, जिसके अन्तर्गत ब्रा० अ < *इ निहित है, एकमात्र संभव व्युत्पत्ति है। निश्चय ही सम्पूर्ण तमिल रूप, उदा० इऩपम्, इऩ्पु –'मीठापन', इनि –'मीठा या सुखद होना' आदि, कन्नड इन्–, इम्पु, इम्बु, इम्मु–'मधुरता, अच्छापन, तथा तेलगु इन्चु–'भला होना', न.–'गन्ना' इन्वु–'सुस्वादु अथवा पसन्द का होना', इम्पु–'मधुरता, अच्छापन, प्रो० द्राविड़ी *इन्–से सम्बद्ध हैं। फिर भी तेलगु एॅम्म–'सौन्दर्य', कुरुख एॅम्बा–'स्वाद, स्वाद में मधुर', माल्तो एम्बे–'मीठापन', एम्ब्-एम्ब्र–'मधुरिमा होना' एम्ब्र–'स्वाद पाना' को यदि किसी प्रकार भी *इन्– शब्दों से सम्बन्धित करना है तो प्रो० द्रा० *एॅन्– को स्वीकार करना होगा। इस व्युत्पत्ति के वर्ग में प्रा० द्रा० इ ~ एॅ का परिवर्तन पाया जाता है, जिसकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती, परन्तु जिसके समानान्तर उदाहरण हैं। अनेक ब्राहुई व्युत्पत्तियों से *एॅ > ब्राहु० अ स्पष्ट है (इन्ट्रीज ७१०, १६४५, ३६०८, ४२३४ और सम्भवत: ७२३, २००२, ३१०९)। ब्रा० हन्–'मीठा' साधारण ध्वनिशास्त्र के अनुसार *इन्– की अपेक्षा *एॅन् से सम्बद्ध है, और इस विशेषता के कारण उत्तर की भाषाओं– ब्राहुई, कुरुख और माल्तो– को एक वर्ग के अन्तर्गत रखना संभावित हो जाता है। इस परीक्षण के फलस्वरूप *इ > ब्रा० अ के लिए यथेष्ट स्पष्ट व्युत्पत्तियाँ नहीं हैं और न *ई > ब्रा० आ के लिए ही। अत: ध्वनिशास्त्र के अनुसार संकेतवाचक दा– आधार *इ– के साथ नहीं आता तथा आद्य द्– के प्रश्न से भी बहुत दूर है।

यह विचार करते हुए कि एक ओर ब्राहुई संकेतवाची श्रेणी (दा–, ओ, ए–) में साधारण द्राविडी श्रेणी के अ– से कुछ भी समरूपता अब तक नहीं है और दूसरी ओर यह भी बहुत संभव है कि ओ– और ए– के अर्थ में परिवर्तन हुआ हो; यह संभव है दा–, अर्थ के बावजूद, ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से स्पष्ट *अ– के साथ रखा जा सके। ऊपर ऐसी व्युत्पत्तियों का संदर्भ दिया जा चुका है जिनमें ब्रा० आ < *आ है; और अनेक व्युत्पत्तियाँ ब्रा० अ < *अ को प्रमाणित करती हैं।

स्वरों की संतोषप्रद परीक्षा के उपरान्त आद्य **द्**– का विवेचन शेष रह जाता है। अनेक शब्दों के विषय में यह सुझाव दिया गया है कि ब्राहुई में आद्य **द्**–का विकास **य्** > **ज्** > **द्** की श्रेणी के अग्रश्रुत **य्** से हुई है। ब्रे के **दा**– के इस स्पष्टीकरण का उल्लेख हो चुका है और इस संकेतवाची **द्**– की तुलना प्रश्नवाची **देर्** (तमिल **यार्**, **आर्** आदि) के **द्**– से की जाती है।[६] बरो ने इस समस्या का विवेचन संख्या चार की पादटिप्पणी में उल्लिखित लेख में किया है। उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि प्रस्तुत ब्राहुई शब्दों में अग्रश्रुति का सिद्धान्त, निस्सन्देह रूप से ध्यान में रखने योग्य इस विचार से कम सम्भव हो जाता है कि उद्धृत पाँच अपवाद रूप आद्य **द्** वाले शब्दों में मूल रूप (प्रा० द्राविड़ी कल्पित रूपों से) से आद्य **न्** और एक उदाहरण में **ञ्** भी है।

ब्राहुई **दितर्**–'रक्त', तमिल **नॅय्त्तोर्**, कोता **नॅत्र्**, तोदा **नॅत्स्**, **जर्** (**कर्**–'रस'), कन्नड **नॅत्तर्**, कोड़गु **नॅत्त**, तुलु **नॅत्तरु**, तेलुगु **नॅत्तुरु**, कोलमी **नॅतुर्** (? **नॅत्तुर्**), नइकी **नॅतुर्**, परजी **नॅतिर्**, गड़वा (एस) **नॅतूर्**, गोंडी (खाँई) **नत्तॅर्**, (मड़िया) **नॅतुर्**, (अदिलाबाद) **नॅत्तुर्**, कुई **नॅर्दॅरि**, कुवी (फ़िजगरल्द) **नॅतोरि** (इन्ट्री ३१०६)।

ब्राहुई **दीर्** (पानी) : प्रा० द्रा० ***नीर्** (इन्ट्री० ३०५७; ***ईर्** भी)।

ब्राहुई **दे** (सूर्य) : तमिल **ञाँयिरु**, **नायिरु**, मलयालम **ञाँयिरु**, **ञाँयरु**, **ञाँरु**, तोदा **नो·र**, कन्नड **नेसर्**, तुलु **नॅसुरु** ? माल्तो **नीरु** (इन्ट्री ३३७१)।

ब्रा० **दूई** (जिह्वा) : तमिल-मलयालम **ना**, **नावु**, **नाक्कु**, कोता **न·ल्ग्**, **न·व्**, तोडा **नो·फ़्**, कन्नड **नालगॅ**, **नालिगॅ**, कोडगु **न·वु**, तुलु **नालॉयि**, तेलुगु **नालिक**, **नाल्** (**उ**) क, कोलमी-नइकी **न·ल्क**, पर्जी **नॅवॅड**, गडवा (Oll) **नाङ** (S) **नांगु** (इन्ट्री ३००९; अधिक समस्याप्रद)।

ब्रा० **देर** (कौन ?) : कुरुख **ने** (कौन ?), माल्तो **नेरॅ** (ह), **नेरि** (थ)। **ने** (थ), **नेरॅर्** (कौन आदमी, कौन औरत, कौन व्यक्ति ?) (इन्ट्री ४२२८; यह prothetic **न्** के द्वारा **यार्** **येर्**, **आर्** **एर्** से विकसित होने वाले ध्वनि-तत्व बरो के मतानुसार मूलतः परस्पर सम्बद्ध है)।

इनके साथ जिनको मैं निश्चित समझता हूँ उन दूसरों को भी सम्मिलित करूँगा।

ब्रा० **दरो** (कल, भूत०), तमिल **नॅरुनल्**, **नॅरुनइ**, **नॅन्नल्**, (वही), **नॅरु**, (वही) (शीघ्र ही, हाल में), मलयालम **इन्नले** (कल, भूत०), कोता **नॅ·र्** (नाम **ने·त्** का विकारी रूप) (वही), **मिनॅ·र्** (भूत० के कल के पहले का दिन), कन्नड **निन्नॅ** (भूत० कल, हाल ही बीता हुआ समय), कोडगु **निन्न·न्दि** (भूत० का कल)[७], तेलगु **निन्न** (वही), गोंडी **निन्ने** (इन्ट्री ३१०९, देखिए उपर्युक्त ***एॅ** > ब्रा० अ की चर्चा)।

---

६. इसे एल० वी० रामास्वामी अय्यर ने 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' ५-१४८-५१ (१९२९) में प्रतिपादित किया है, ब्रे ने इन्हीं से लिया है।

७. इस शब्द के दूसरे भाग के लिए (?–अ·न्दि, या -न·न्दि), तमिल 'ञानरु (समय, दिन), मलयालम 'ञान्नु (दिन), मिनि ञान्नु मुनि-ञान्नु (परसों, भूत०); कोडगु मोनिअ'न्दि

इन छः व्युत्पत्तियों में केवल चार (प्रथम दो और अन्तिम दो) की व्युत्पत्ति संतोष-प्रद है। द्– और *न्–का सन्निपाती होना ध्यान देने योग्य और महत्वपूर्ण है। क्या संकेत-वाची दा— का यह सहायक हो सकता है? (व्याख्या करने में)। अभी तक किसी विद्वान् ने इस विवेचन के सम्बन्ध में कोई ऐसा साक्ष्य नहीं प्रस्तुत किया है जिससे न्–रूप का अभी का अध्ययन अनावश्यक हो। माल्तो में ड्रोजे[८] के अनुसार संकेतवाची इ (यह) और अ (वह) के अतिरिक्त दूरवर्ती संकेतवाची के लिए फैला हुआ रूप न् है जो साधारणतः उस समय प्रयुक्त होता है जबकि संकेत करने वाला व्यक्ति उपस्थित हो और जिसका अनुवाद उसने 'जो एक (यहाँ)' किया है। यहाँ हम लोगों के पास न् से बने रूप भी हैं जो ब्रा० दा–को *अ/आ से सम्बद्ध करते हैं और हम लोगों के पास अर्थ भी हैं जो 'वह' तथा 'यह' के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं, अर्थात्—'जो स्थान में दूरवर्ती पर सम्मुख उपस्थित है'।

उत्तर की भाषाओं, कुरुख या माल्तो, में माल्तो दक्षिणी तथा केन्द्रीय भाषाओं की अपेक्षा ब्राहुई से निकट से सम्बद्ध है। दोनों ही उत्तर की भाषाएँ प्रश्नवाची सर्वनाम में न्–के लिए प्रमाण उपस्थित करती हैं। माल्तो में अ–संकेतवाची में न् के लिए प्रमाण उपलब्ध हैं। ड्रोज़े द्वारा माल्तो के सम्बन्ध में प्रस्तुत साक्ष्यों से बहुत अधिक आधुनिक प्रमाणों की आवश्य-कता हमको महसूस होती है, पर प्रस्तुत तथ्यों के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। अतः मैं सोचता हूँ कि ब्रा० दा–की समस्या एक सीमा तक सुलझ चुकी है। यह व्युत्पत्तियों के उस वर्ग से (जो अब संख्या में सात हैं) सम्बद्ध है जिसमें ब्रा० द्– या तो ब्रा० अथवा प्रा० द्राविड़ी न्– से संगति स्थापित करता है। पर यह संगति पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो सकी है, क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें प्रा० द्राविडी *न्–का प्रतिनिधित्व ब्राहुई में न्–द्वारा हुआ है (इन्ट्रीज़ २९८०, ३०१९, ३०५५, ३०६४, ३०८९)। सम्प्रति हम उसके आगे नहीं जा सकते हैं।[९] साधारण द्राविडी के निकटवर्ती संकेतवाची आधार *इ ई की स्थिति ब्राहुई में अनिश्चित रह जाती है। क्या यह ब्राहुई से विलुप्त हो गया है अथवा इसको पहचाना जा सकेगा? मैं समझता हूँ, दूसरी बात अधिक सत्य है। अन्यत्र मैंने ब्राहुई ध्वनि (enclitic) उपसर्ग सर्वनामों पर विचार किया है। ब्रे ने उनका और उनके प्रयोग का वर्णन किया है। उनका कथन है कि कर्म, सम्बन्ध तथा सम्प्रदान के अतिरिक्त अन्य विकारी कारकों में उनका प्रयोग आधार ई के साथ होता है जो कारक के रूप में शेष है; उदा०/–प्रासिड़्

इद., तेलगु 'नेंडु (आज); गोंडी (ट्रेंच) नेन्ड्, (विलियमसन) नेर् इद्., कोंडा नेनरू (वही)[२]; कुई नेन्जु (वही), कुवी नींन्जु (वही)।

८. इन्ट्रोडक्शन टु दि माल्तो लैंगुएज, ३१ (१८८४)।

९. यदि यह स्पष्टीकरण संतोष प्रदान करने में असफल रहता है, तो मैं इतना ही सुझाव दूंगा कि 'दा' में द्- 'देर' के सादृश्य पर आया है (इस शब्द में 'द्' का मूल चाहे जो हो)। ऐसे संदर्भ प्रायः आने चाहिए जिनमें 'कौन?' और 'यह' एक दूसरे को प्रभावित कर सकें (उदा०-'यह कौन है?' 'यह है.....')।

हिना ईतो–ता 'लड़की उनके साथ गयी' (ई– तो-ता [आधार]–उनके साथ), ईकि-नुमा अंत् हेसुर् 'वे तुम्हारे लिये क्या लाये (बहु०)?' (ई–कि–नुमा [आधार]–तुम्हारे लिए, बहु०), ईइस्-क 'मेरे अधिकार में' ([आधार] अधिकार में–मेरे), ईअद्-न 'तुम्हारे द्वारा' ([आधार]–से–तेरे)। ब्रे ने (वाकेबुलेरी एस० वी०) पहले ही प्रस्ताव किया है कि ई मूलतः संकेतवाची था, उदा०—ई-तो-क 'मेरे साथ' मूलतः 'इस एक के साथ, अर्थात् मेरे', ई-तो-ता 'उनके साथ' मूलतः 'इनके साथ अर्थात् उनके' था। ब्रे का दूसरा भाग जब मुझे प्राप्त नहीं हुआ था, अपने विचार में मैं अकेला था, पर उनके विवरण से मुझे दुहरा विश्वास हो गया है कि यह स्पष्टीकरण उचित है। केवल एक ही तर्क इसके विरुद्ध है कि निरपेक्ष रूपों absolute forms (जिस प्रकार ई-आन्-, ई- अद्, ई-तो-, आदि) में सीधा ही रूपान्तर प्रत्यय (inflectional suffixes जोड़े जाने वाली साधारण संज्ञाओं के रूप-विकार के सदृश ई के विकारी रूप उन संकेतवाचियों के सदृश नहीं हैं जिनमें विशेष विकारी मूल हैं (उदा०–दा/दाद्, दार्-आन्, दार्-अद्, दार्–तो, आदि)। मैं इस अन्तर्विरोध की व्याख्या नहीं कर सकता, पर मेरा विचार है कि यह ई की व्युत्पत्ति के लिए घातक नहीं है।[१०]

---

१०. मुझे खेद है कि प्रस्तुत संकेतवाची सर्वनामों की व्युत्पत्तियों का प्रसंग 'ड्रेवेडियन एटीमोलोजिकल डिक्शनरी' में सम्मिलित नहीं किया जा सका। इसका मूल कारण यह है कि उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व प्रस्तुत लेख तैयार न हो सका था। संभव है कि पूरक के रूप में इसे सम्मिलित किया जा सके।

ई० एम० विकोवा

आधुनिक बँगला में विधेयात्मक शब्द-संयोग

विधेयात्मक शब्द-संयोग का भाव है उद्देश्य और विधेय का संयोग, ऐसे संयोग जो संघटनात्मक आधार से प्रतीत होते हैं, या वाक्य के प्रमुख शब्द (अथवा वाक्यांश के, प्रमुख या गौण)।

प्रस्तुत निबंध में उन उपकरणों की चर्चा अभिप्रेत है जिनसे आधुनिक बंगाली उद्देश्य तथा विधेय की अभिव्यक्ति करती है।

उद्देश्य तथा विधेय की अभिव्यक्ति करने वाले उपकरणों का विश्लेषण करते समय हमने देखा था कि वाक्य का व्याकरणात्मक अंश शब्दों (किसी भी व्याकरणात्मक विभाग से संबद्ध) अथवा शब्द-संयोगों का अन्य के प्रसंग में कोई भी व्यापार प्रदर्शित करता है। वाक्यांश की इस परिभाषा में हमने इस बात पर विशेष बल दिया था कि इसके व्याकरणात्मक वर्ग का क्या अर्थ है ?

यह सर्वविदित है कि व्याकरण के एक खंड के रूप में वाक्य-विन्यास के विकास में तर्कशास्त्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि प्रायः व्याकरणात्मक भाव को तार्किक भाव ही मान लिया जाता रहा है, या दोनों में बहुत कम अंतर माना जाता है। वाक्य को तर्क के अध्ययन का प्रमुख विषय समझा जाता है। वाक्य के निष्कर्ष और उसके विशिष्ट अंगों की तुलना तार्किक निष्कर्ष से की जाती है, उसके उद्देश्य तथा विधेय से।

परंतु क्योंकि निष्कर्ष में सभी प्रकार के विचारों का समावेश नहीं हो जाता (एक भाव को व्यक्त करने वाला वाक्य सदैव निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता; उदाहरणार्थ, एक प्रश्न अथवा आज्ञा तर्कशास्त्र की दृष्टि से निष्कर्ष नहीं मानी जा सकती), अतः उसके उद्देश्य तथा विधेय वाक्यगत उद्देश्य तथा विधेय के समान ही नहीं होते, वरन् प्रत्येक वाक्य के लिए अनिवार्य भी नहीं होते। इस प्रसंग में हम यह निर्णय नहीं ले सकते कि प्रत्येक वाक्य के लिए उद्देश्य तथा विधेय का होना आवश्यक है, और न हम यही कह सकते हैं कि प्रत्येक वाक्य दो खंडों में विभक्त होता है—उद्देश्य तथा विधेय[1]। वाक्य-संगठन के इस रूप के साथ ही उद्देश्य तथा विधेय की

---

१. द्र० भाषा-प्रकाश (बंगला व्याकरण), कलिकाता विश्वविद्यालयेर अध्यापक श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय प्रणीत, तृतीय संस्करण, कलिकाता विश्वविद्यालय कर्तृक प्रकाशित, १९४५, पृ० ३६२; सरल भाषा प्रकाश बांग्ला व्याकरण श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय प्रणीत, कलिकाता, १९५७, पृ० २९३; बांग्ला भाषार व्याकरण, पंडित हरनाथ घोष और डॉ० श्री सुकुमार सेन कर्तृक प्रणीत, एकादश संस्करण, कलिकाता पृ० २७९; आधुनिक बांग्ला व्याकरण, श्री जगदीशचंद्र घोष प्रणीत, कलिकाता १९५६, पृ० २५८।

औपचारिक, तार्किक परिभाषा निकटतः संबद्ध है : उद्देश्य वह है जिसके बारे में वाक्य में कुछ कहा गया है, और विधेय वह है जो उद्देश्य के बारे में कहा गया है।

वाक्य में उद्देश्य तथा विधेय अथवा अन्य शब्दों को छोड़ा भी जा सकता है। परंतु इससे क्या यह समझा जाय कि वाक्य की जब वास्तविक विश्लेषणात्मक मीमांसा हो, तब इन लुप्त अंगों को भी हम जोड़ दें ? मेरी दृष्टि में नहीं; क्योंकि इस तरह से वाक्य के प्रस्तुत स्वरूप को आघात पहुँचेगा, और इससे पूर्ण तथा अपूर्ण वाक्यों का अंतर मिट जायगा, साथ ही मानवीय विचारों को अभिव्यक्त करने वाले वाक्यों की विविधरूपता भी नष्ट हो जायगी। भाषा में ऐसे भी वाक्य हो सकते हैं जिनमें उद्देश्य अथवा विधेय के बारे में कुछ न कहा गया हो, ऐसा वाक्य जिसके कोई अंग नहीं हैं। इस प्रकार के बहुत से वाक्य बँगला में मिलते हैं। ऐसे वाक्यों में केवल स्वीकृति अथवा निषेध का भाव रहता है—हाँ, ना; जैसे, कथोपकथन के वाक्य : **बाबू** ! (शरत् साहित्य संग्रह, अष्टम सम्भार, ३४४), **नमस्कार दिदि** (वही, ३५४); और ऐसे भी वाक्य—**सावधान** ! (वही, ३४१); **अर्थात्** ? (वही, ३५०); **किसे** ? (बंकिम रचनावली, प्रथम खंड, ५६८), **छिः** (वही, ५७४); **उत्तम** (वही, ५८४) इत्यादि। ऐसे वाक्यों को संभावित शब्द जोड़कर पूर्ण बनाने पर भी उनमें उद्देश्य तथा विधेय नहीं खोजा जा सकता।

इसके अतिरिक्त वाक्यांश की परिभाषा के दूसरे अंश पर हम विचार करना चाहते हैं, जिसमें किसी के बारे में कुछ कहा जाता है। वाक्य का यह खंड एक शब्द ही नहीं, कई शब्द-संयोगों के द्वारा बनता है, और ये शब्द-संयोग कभी-कभी वाक्य का न्यूनतम रूप भी बनाते हैं; उदाहरणार्थ, **सिंह बने थाके** इस वाक्य में विधेय **बने थाके** नहीं होगा, जैसा कि हरनाथ घोष और सुकुमार सेन का मत है[२], वरन् **थाके** होगा।

इस स्थिति से प्रारंभ करके हम उद्देश्य और विधेय की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं:—उद्देश्य वह शब्द अथवा शब्द-संयोग है जिसका रूप संबद्ध भाषा के नियमानुसार कार्य करने अथवा अनुभव करने की स्थिति को प्रकट करने में सबसे अधिक है। वाक्य का विधेय वह शब्द अथवा शब्द-संयोग है, जो किसी शब्द अथवा शब्द-संयोग के साथ मिलकर उद्देश्य की व्याकरणात्मक स्थिति को व्यक्त करता है और उसके विधेयात्मक रूप (कार्य अथवा स्थिति) को निर्धारित करता है। उद्देश्य और विधेय अन्योन्याश्रित हैं। अतः जहाँ उद्देश्य नहीं है वहाँ विधेय नहीं है; और इसकी उलटी स्थिति भी उतनी ही सही है। अपवाद वे अपूर्ण वाक्य हैं, जिनमें उद्देश्य तथा विधेय छोड़ दिये जाते हैं।

प्रस्तुत पत्रक में हम उन स्थितियों का विवेचन करेंगे, जहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों के रहने पर भी कुछ ऐसे रूप बनते हैं जिन्हें विधेयात्मक कहा जा सकता है।

उद्देश्य और विधेय के संयोग को विधेयात्मक कहने में हम उस स्थिति को खोजते हैं जिसमें वाक्य में हमें विधेयात्मक संयोग मिले। 'कुत्ता ज़ोर से भूँकता है', इस वाक्य का विश्लेषण करने के उपरान्त ओ० जैस्पर्सन लिखते हैं कि 'कुत्ता भूँकता है' इस अंश में ही वास्तविक

---

२. **बाँग्ला भाषार व्याकरण, पृ० २८०।**

तथ्य-निरूपण और वाक्य का सार है।[3] जो भी हो, इस से सहमत होना कठिन है। उद्धृत शब्द-संयोग 'कुत्ता भूँकता है' अंततः इस वाक्य का टुकड़ा ही है—'कुत्ता ज़ोर से भूँकता है', क्योंकि उस टुकड़े में वाक्य के अंत हो जाने का भाव नहीं मिलता। 'कुत्ता भूँकता है', यह कहने के बाद भी श्रोता कुछ और सुनने की अपेक्षा रखता है।

बँगला भाषा की एक विशेषता यह है कि वह कर्तृवाची रूपों के लिए आकारांत क्रिया-रूपों का प्रयोग करती है। इस प्रकार का प्रयोग उस वाक्य में अधिक मिलता है जिसमें कर्म के गुणात्मक स्वरूप की व्याख्या की गयी हो। इन वाक्यों में विधेय के लिए विशेषणों का व्यवहार होता है अथवा ऐसी संज्ञाओं का जो गुण अथवा स्थिति प्रदर्शित करती हैं, शब्द जो संभावना व्यक्त करते हैं अथवा प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाली क्रियाएँ। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

"यदिच प्रतापसिंह कंचनमालार अवस्था अत्यंत संकटापन्न, तथापि लोकटाके घरे डाकिया आनिया ताहार काछ हइते किछु ना केनाटा भालो हय ना" (रवीन्द्रनाथ, 'काबुलीवाला'); "सरला भाबिता लागिलेन, वैकालेर घटना ताँहाके बला कर्त्तव्य की ना" (तारकनाथ गंगोपाध्याय, 'स्वर्णलता'); "जमीजमा बेचिया कलिकाताय याओया याक" (रवीन्द्रनाथ, 'उलुखदेर विपद'); "आज बाड़ीते काज आछे, आज आर काहारो सहित देखा हइते पारिबे ना" (रवीन्द्रनाथ, 'काबुली-वाला'); "पड़ा शेष हये गेला, बाबा?" (शरच्चन्द्र, 'शेष प्रश्न')।

इस प्रकार के वाक्य-विधानों की ओर हम इसलिए ध्यान दे रहे हैं, क्योंकि इन्हें प्रायः कर्ताविहीन, एक-अंशात्मक कहा जाता है। कुछ भाषाओं में इस प्रकार के वाक्य सचमुच एक-अंशी वाक्य जैसे ही होते हैं। परंतु बँगला में इस प्रकार के वाक्य रूसी में उसी प्रकार के वाक्यों से भिन्न हैं। रूसी में ये वाक्य दो अंशों से बने होते हैं।

इस प्रकार के वाक्य-विधानों को संगठन की दृष्टि से कर्मवाचक कहा जायगा। परंतु उनका कर्मवाच्य व्याकरणात्मक नहीं है।

उद्देश्य की भाँति विधेय भी किसी व्याकरणात्मक रूप, संज्ञा—विशेषण, संख्यावाची विशेषण, सर्वनाम, क्रिया अथवा क्रियाविशेषण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। वाक्य के विधेयात्मक अंश में क्रिया का योग अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह जटिल कार्यों, प्रक्रियाओं तथा स्थितियों को व्यक्त करने में समर्थ है। परंतु, यह कहना ग़लत होगा कि विधेय का संगठन केवल क्रिया से होता है। कुछ वाक्य बिना क्रिया के भी संपूर्ण भाव व्यक्त करते हैं, जैसे "—अन्नदाबाबू ब्राह्मण?" ('नौका डूबि')। यहाँ पर यह क्यों कहा जाय कि क्रिया छिपी हुई है? अथवा इस 'लुप्त' क्रिया को विधेय क्यों माना जाय? क्या इस वाक्य 'एइ कलमटि रामेर'[4] में 'लुप्त' और 'अज्ञात' क्रिया के द्वारा उद्देश्य के बारे में कोई भाव व्यक्त किया गया है? हमारी दृष्टि में तो ऐसा कुछ नहीं है। उद्देश्य 'कलमटि' का व्याकरणात्मक रूप 'रामेर' के माध्यम से ज्ञात होता है।

---

३. ओ० जेस्पर्सन : द फ़िलोसफ़ी ऑफ़् ग्रामर, लंदन, न्यूयार्क, १९३५, पृष्ठ ११४।
४. बाँग्ला भाषार व्याकरण, पृष्ठ २८०-८१।

'रामेर' शब्द के द्वारा ही 'राम के स्वामित्व' की व्यंजना की गयी है, 'लुप्त' और 'अज्ञात' क्रिया द्वारा नहीं।

इस प्रकार के विधानों में क्रिया अनावश्यक जान पड़ती है, क्योंकि उद्देश्य की स्थिति संज्ञा द्वारा पूर्णतः प्रकट हो जाती है। बँगला में यह इसलिए और भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि संज्ञा के विधेयात्मक संयोग विरोधी स्थितियों द्वारा एकदम सरल हो गये हैं। कुछ भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में, जिनमें जोड़ने वाली क्रिया आवश्यक है, बँगला और पूर्वी समुदाय की भारतीय आर्य भाषाओं की यह स्थिति एकदम अलग है।

क्रियात्मक तथा संज्ञात्मक विधेयों में प्रयुक्त होने वाले शब्द-संयोग इस प्रकार हैं—

(क) क्रियात्मक विधेय के रूप अपेक्षाकृत काफ़ी अधिक हैं। उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—पहले वर्ग में वे रूप आते हैं, जिनमें कोश तथा व्याकरण के तत्त्वों की अन्विति है और जो मूलतः संयुक्त क्रियाओं के कारण है। दूसरे वर्ग के अंतर्गत वे रूप हैं जिनमें अर्थ का अधिक भार क्रियार्थक संज्ञा तथा कृदंत पर पड़ता है और क्रिया अपना कोश वाला भाव सुरक्षित रखती है।

(ख) संज्ञात्मक विधेयों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे रूप हैं जिनमें मूल शब्द निश्चयात्मक शब्दों के बिना कर्तृत्व का भाव नहीं प्रकट करता (उदा० ए सहज गान नय ए गान नय)। दूसरे वर्ग में क्रियार्थक संज्ञा वाले रूप आते हैं, ऐसे रूप जिनमें संज्ञा तथा क्रिया संयोजक का संयोग हुआ है; उदाहरणतया—'आछा', 'थाका', 'हाउया'।

(ग) मुहावरों के माध्यम से बनने वाले विधेयों को एक स्वतंत्र वर्ग में रक्खा जा सकता है, उदाहरणार्थ 'रंग धरा' इस वाक्य में 'वर्षार परे शरतेर नूतनधौत रौद्र येन सोहागाय-गलानो निर्मल सोनार मत रंग धरियाचे' (रवीन्द्रनाथ, 'काबुलीवाला'), अथवा 'चौख बुलिये नेडया' इस वाक्य में 'तुइ ना हय एकटुखानि घुरे आय गे माँ, आमि तत्क्षण एइ मासिक पत्रटाय चौख बुलिये नी' (शरच्चन्द्र, 'शेष प्रश्न')।

विधेय के रूप में व्यवहृत होने में व्याकरणात्मक शब्द भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं।

[अनूदित : संक्षिप्त]

●

बाबूराम सक्सेना

हिन्दी में लिंग-भेद के द्वारा सूक्ष्म अर्थ-भेद का द्योतन

हिन्दी के अचेतन पदार्थों के द्योतक शब्दों के विषय में सामान्य रूप से यह धारणा है कि बड़े, कठोर आदि पदार्थों के द्योतक शब्द पुंलिग के हैं और छोटे, नम्र आदि के द्योतक शब्द स्त्रीलिंग में हैं; यथा, **पत्ता–पत्ती, बिरवा–बिरई, लोटा–लुटिया, रस्सा–रस्सी** आदि। परन्तु हिन्दी शब्दावली पर ध्यान देने से प्रतीत हुआ कि कुछ शब्द अपनी भाषा (और बोलियों) में ऐसे हैं, जिनमें लिंग-भेद से प्रायः मौलिक अर्थ-भेद प्रकट होता है। उन्हीं पर इस लेख में विचार करना अभीष्ट है।

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनमें लिंग-भेद से अर्थ-भेद तो प्रकट है, पर वह व्युत्पत्ति-भेद पर आश्रित है; यथा, **हाल** पुं० में दशा, समाचार आदि का द्योतक है और स्त्री० में सवारी के पहियों पर चढ़ाया जाने वाला लोहे या रबड़ का पट्टा है। **गंजा** पुं० में उस पुरुष का द्योतक है जिसके सिर पर बाल न हों और **गंजी** स्त्री० में उसी प्रकार के सिर वाली नारी के लिए मौजूद है, तथापि **गंजी** स्त्री० में बनियायन के लिए प्रयोग में है और स्पष्ट है कि इसकी व्युत्पत्ति भिन्न है। इसी प्रकार पुं० **कुलफ़ा** एक तरह का साग है और **कुलफी** स्त्री० एक डिब्बी में बन्द कर जमायी हुई दूध-मिठाई है।

असाढ़–असाढ़ी, कातिक–कतकी, अगहन–अगहनी आदि युग्मों में पुं० शब्द मास का द्योतक है और स्त्री० उस मास की पूर्णिमा का। यह भेद संस्कृत से चला आ रहा है। इसी प्रकार संस्कृत में पुंलिग शब्द वृक्ष का द्योतक है और नपुंसक उसके फल का; यथा, **आम्रः—आम्रम्।**

कुछ युग्मों में मूल शब्द किसी पदार्थ का द्योतक है और दूसरा मत्वर्थीय अथवा तदीय का। इस श्रेणी में ऐसे शब्द हैं–जैसे, **गवाह–गवाही, साख–साखी, नथुना–नथुनी, कुंडल–कुंडली, अंगूर–अंगूरी, अँगूठा–अंगूठी, चक्का–चक्की, होला–होली, सलाम–सलामी, सट्टा–सट्टी, मिस्सा–मिस्सी, जाला–जाली**; यद्यपि यहाँ भी अर्थ-भेद का कुछ आभास उपस्थित है। **जाला** मकड़ी का पुं० और **जाली**–लोहे की या आलू आदि खाद्य पदार्थ की। निश्चय ही यहाँ अर्थ-विकास की प्रक्रिया चल रही है।

आगे जिन शब्दों की व्याख्या की जा रही है इनमें शब्द का मूल अर्थ अक्षुण्ण है, तथापि गौण अर्थ-भेद, अर्थ-संकोच, अर्थादेश आदि की प्रणाली से उपस्थित हो गया है।

अंगा (पुं०) **अँगिया** (स्त्री०) दोनों पहनने के वस्त्र हैं पुं० बड़ा और स्त्री० छोटा भी है, पर **अंगा** पुरुष का वस्त्र है और **अँगिया** स्त्री का। इसी तरह के **कुर्ता–कुर्ती, पाजामा–पाजमिया** भी हैं। **ओढ़ना–उढ़नी** भी ऐसे ही हैं।

अंडा पुं० में उसको कहते हैं जिससे चिड़िया, साँप आदि जीव निकलते हैं और **अंडी** स्त्री० एक प्रकार के रेशमी वस्त्र का नाम है।

अंटा पुं० में बड़ी कौड़ी, बड़ी गोली या रेशम या सूत की लच्छी का द्योतक है, पर **अंटी** स्त्री० कमर पर के, धोती के लपेट अथवा खेल में एक उँगली के ऊपर दूसरी को चढ़ाकर अहसयोग का द्योतक है।

अद्धा पुं० में अधिकतर सवारी की छोटी बैलगाड़ी के लिए प्रयोग में आता है, और **अद्धी** स्त्री० एक प्रकार के सूती महीन कपड़े के लिए।

आँख स्त्री० नेत्र का वाचक है, पर **आँखा, अँखुआ** आँख के आकार के अंकुर का द्योतक है। **आँख** शब्द भी प्रायः इसी अर्थ में आलू और ईख के उस भाग को कहते हैं जहाँ से अंकुर के फूटने की संभावना है।

अवधी में **आम, आँब** पुं० पके फल का वाचक है और **अमिया, अँबिया** स्त्री० कच्चे का, और यही प्रयोग खड़ी बोली का है। धीरेन्द्र जी की बोली में **आम** क़लमी का (जो प्रायः बड़ा बड़ा होता है) और **अमिया** तुख़्मी का (जो अपेक्षाकृत छोटा होता है) वाचक है।

कंठा-कंठी दोनों गले में पहने जाते हैं, पर **कंठा** एक आभूषण है जो सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का बनता है, परन्तु **कंठी** भगत जन पहनते हैं।

कचरा कूड़ा कर्कट का द्योतक है पर **कचरी** आलू आदि के बने हुए खाद्य पदार्थ की द्योतक है।

कजला एक विशिष्ट रंग के बैल या खरबूज़े का वाचक है, पर **कजली** एक प्रकार का गीत है।

किनारा नदी, तालाब आदि का होता है, और **किनारी (किनार)** धोती, साड़ी की।

कुंडा एक विशेष बर्तन का नाम है और **कुंडी** दर्वाज़े को बन्द करने की जंज़ीर को कहते हैं।

कुंदा लकड़ी के बड़े टुकड़े को कहते हैं, पर **कुंदी** भाववाचक है जिसका अर्थ है 'पीटना', 'पिटाई'।

खूँटा बड़ा होता है और **खूँटी** छोटी, पर पुं० शब्द अधिकतर पशुओं के बाँधने की या ख़ीमे की मेख के लिए प्रयोग में है और स्त्री० कपड़े टाँगने की लकड़ी या लोहे की होती है।

खोपड़ा नारियल की गिरी को कहते हैं और **खोपड़ी** मानव या पशु के सिर या दिमाग़ को।

गगरा और **गगरी** में परिमाण का भेद नहीं है, जैसा **कलसा** और **कलसिया** में है। परन्तु **गगरा** धातु का बना होता है और **गगरी** मिट्टी की होती है।

घड़ा पानी रखने का बर्तन है, पर **घड़ी** समय बताने वाली एक मशीन है, जिसमें आदि काल में पानी के पात्र का भले ही उपयोग रहा हो, पर अब नहीं है। अवधी **घरिया** कँसेरे द्वारा प्रयुक्त मिट्टी के बने कुछ साँचे का द्योतक है, पानी रखने के पात्र का नहीं, परिमाण अवश्य घड़े से छोटा होता है।

चूना-चूनी दोनों का सम्बन्ध चूर्ण से है पर **चूना** पान में रखकर खाया जाता है और **चूनी** अन्न के विशेष कर दालों के टूटे-फूटे कणों को कहते हैं जो अधिकतर पशुओं को खिलाई जाती है।

ताला क़ुफ़ुल को कहते हैं और **ताली** चाभी को।

पन्ना पुस्तक के पृष्ठ को कहते हैं और **पन्नी** सोने-चाँदी की होती है जो कपड़ों में टाँकी जाती है।

बीड़ा पान का होता है और खाया जाता है, परन्तु **बीड़ी** तम्बाकू की होती है और पी जाती है।

बुंदा कान में पहनने का गहना है और **बूंदी (बुंदिया)** मिठाई या रायते में प्रयोग में आती है, यद्यपि दोनों शब्दों का सं० 'बिन्दु' से सम्बन्ध स्पष्ट है।

भट्ठा ईंटों को पकाने का होता है और **भट्ठी** प्रायः वह स्थान है जहाँ शराब बनती या बिकती है।

रोट-रोटी दोनों खाये जाते हैं, पर **रोट** हाथी, हनूमान जी अथवा देव-दैत्यों का खाद्य है और **रोटी** मानव का।

इसी प्रकार के अन्य पुं० स्त्री० युग्मों में भी सूक्ष्म अर्थ-भेद उपस्थित हो गया है। इनकी सूची नीचे दी जाती है।

शब्द-सूची

१. गिट्टा	(पुं०)—गिट्टी	(स्त्री०)।		१७. टोप-टोपा	(पुं०)—टोपी	(स्त्री०)।	
२. गुंडा	(पुं०)—गुंडी	(स्त्री०)।		१८. टोला	(पुं०)—टोली	(स्त्री०)।	
३. गुच्छा	(पुं०)—गुच्छी	(स्त्री०)।		१९. डाँड़ा	(पुं०)—डाँड़ी	(स्त्री०)।	
४. गुलेला	(पुं०)—गुलेल	(स्त्री०)।		२०. डोरा	(पुं०)—डोरी	(स्त्री०)।	
५. गोटा, गोट	(पुं०)—गोटी	(स्त्री०)।		२१. तना	(पुं०)—तनी	(स्त्री०)।	
६. गोल,गोला	(पुं०)—गोली	(स्त्री०)।		२२. धेला	(पुं०)—धेली	(स्त्री०)।	
७. घाट	(पुं०)—घाटी	(स्त्री०)।		२३. नल	(पुं०)—नली	(स्त्री०)।	
८. चिट्ठा	(पुं०)—चिट्ठी	(स्त्री०)।		२४. पटरा	(पुं०)—पटरी	(स्त्री०)।	
९. चोआ	(पुं०)—चोई	(स्त्री०)।		२५. पापड़	(पुं०)—पापड़ी	(स्त्री०)।	
१०. चौका	(पुं०)—चौकी	(स्त्री०)।		२६. पिंडा	(पुं०)—पिंडी	(स्त्री०)।	
११. चोला	(पुं०)—चोली	(स्त्री०)।		२७. पीढ़ा	(पुं०)—पीढ़ी	(स्त्री०)।	
१२. छींटा	(पुं०)—छींट	(स्त्री०)।		२८. पुरा	(पुं०)—पुरी	(स्त्री०)।	
१३. छुरा	(पुं०)—छुरी	(स्त्री०)।		२९. फल	(पुं०)—फली	(स्त्री०)।	
१४. झाड़	(पुं०)—झाड़ी	(स्त्री०)।		३०. बंस	(पुं०)—बंसी	(स्त्री०)।	
१५. टाँका	(पुं०)—टाँकी	(स्त्री०)।		३१. बतासा	(पुं०)—बतास	(स्त्री०)।	
१६. टुकड़ा	(पुं०)—टुकड़ी	(स्त्री०)।		३२. बदला	(पुं०)—बदली	(स्त्री०)।	

३३. बेना (पुं०)—बेनी (स्त्री०)।
३४. भौंरा (पुं०)—भौंरी (स्त्री०)।
३५. माट (पुं०)—माटी (स्त्री०)।
३६. मिर्चा, मिर्च (पुं०)—मिर्ची (स्त्री०)।
३७. मिस्सा (पुं०)—मिस्सी (स्त्री०)।
३८. मुहरा (पुं०)—मुहरी (स्त्री०)।
३९. रकाब (पुं०)—रकाबी (स्त्री०)।
४०. रेत, रेता (पुं०)—रेती (स्त्री०)।
४१. रोज़ा (पुं०)—रोज़ी (स्त्री०)।
४२. लच्छा (पुं०)—लच्छी (स्त्री०)।
४३. लट्ठ, लट्ठा (पुं०)—लाठी (स्त्री०)।
४४. लत्ता (पुं०)—लत्ती (स्त्री०)।
४५. लोना (पुं०)—लोनी (स्त्री०)।
४६. शतरंज (पुं०)—शतरंजी (स्त्री०)।
४७. शीशा (पुं०)—शीशी (स्त्री०)।
४८. सट्टा (पुं०)—सट्टी (स्त्री०)।
४९. सलाम (पुं०)—सलामी (स्त्री०)।
५०. साफा (पुं०)—साफ़ी (स्त्री०)।
५१. सिक्कड़ (पुं०)—सिकड़ी (स्त्री०)।
५२. सिल्ला (पुं०)—सिल्ली (स्त्री०)।
५३. सेला (पुं०)—सेली (स्त्री०)।
५४. हल (पुं०)—हाल (स्त्री०)।
५५. हाँड़ा (पुं०)—हाँड़ी (स्त्री०)।

●

वी० पी० लेप्रोवस्की

हिंदी में संभावनार्थ* के रूपों का प्रयोग

क्रिया की रीति में क्रियार्थभेद (mood) कार्य के रूप विषयक अभिव्यक्तीकरण का एक व्याकरणिक विभाग है। क्रियार्थभेद के रूप में विधान (execution) की वास्तविकता कार्य (action) के विभिन्न सम्बन्धों के सामान्यीकृत विचार या प्रतिबिम्ब होते हैं। शास्त्रानुसार हिन्दी में चार प्रकार के क्रियार्थभेद स्पष्ट हैं: निश्चयार्थ (Indicative), आज्ञार्थ (Imperative mood), संकेतार्थ (Conditional) और संभावनार्थ (Subjunctive)।

निश्चयार्थ के रूपों के प्रयोग में वाक्य द्वारा एक कार्य का बोध होता है, जिससे पूर्णता (implementation) कार्य के तथ्य द्वारा उपस्थापित होती है। इस प्रकार क्रिया निश्चयार्थ के रूप में वास्तविक कार्य को प्रकट करती है, इस प्रकार का कार्य जो उस के भूत-वर्तमान या भविष्य में हुई पूर्णता का अर्थ सूचित करता है; उदाहरणतया—

'सहसा रक्षा के मुँह से हल्की सी चीख निकल गई।' (सुदर्शन, काया-पलट)।

'अब सब कपड़ा विदेश से आता है' (प्रेमचंद, समरयात्रा)।

'मैं तो सीधी लाहौर जाऊँगी।' (सुदर्शन, काया-पलट)।

आज्ञार्थ, संकेतार्थ और संभावनार्थ के रूप कम वास्तविक कार्यों के लिए प्रयुक्त होते हैं अथवा वह कार्य जिसका विधान (execution) कार्य के तथ्यों से नहीं उपस्थापित होता। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी वास्तविकता प्रकट करता है।

क्रिया आज्ञार्थ के रूप में इस प्रकार का कार्य प्रकट करती है जिसके विधान (execution) का विचार बोलने वाले व्यक्तित्व से प्रेरक (Incentive) पर आश्रित पाये जाने वाले व्यक्ति द्वारा किया जाता है।

इस क्रियार्थभेद के रूप प्रेरित महत्व की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं; जैसे—

'मोहन अधीर होकर बोला—अम्मा मुझे रूखी रोटियाँ ही दे दो।'

(प्रेमचन्द, मृतक भोज)।

संकेतार्थ के रूप में क्रिया इस प्रकार के प्रतिज्ञाकृत कार्य को प्रकट करती है, जो वास्तविक घटना के विपरीत होते हुए पूरा नहीं हुआ है; जैसे—

'डॉ० चड्ढा को मित्रों ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गर्दन पर मार देते।'

(प्रेमचन्द, मंत्र)।

---

*Subjunctive mood.

संभावनार्थ (Subjunctive mood) के रूप में क्रिया ऐसे अवास्तविक कार्य को प्रकट करती है, जिसका प्रत्यक्षीकरण विपरीतता में होता है; जैसे—

'शायद मालिक-मकान ही आ गया हो।' (सुदर्शन, आपबीती)।

'मोहन को उसके पागलपन की ख़बर हो ऐसी बात न थी।' (अश्क, कुन्ती)।

अवास्तविक कार्य को प्रकट करने के लिए तीनों क्रियार्थभेदों में से संभावनार्थ बहुत प्रयुक्त होता है। बहुत से विभिन्न रूपों द्वारा इसकी व्याख्या की जाती है जिसकी अभिव्यक्ति हिन्दी में दिये गये क्रियार्थभेदों की सहायता से की जा सकती है।

हिन्दी के संभावनार्थ की पद्धति में कार्य की पूर्णता का समय तथा उसकी प्रकृति और रूप निर्धारित करते हुए इसके तीन प्रकार पाये जाते हैं—१. सामान्य प्रकार (simple form, वर्तमान, भविष्य का रूप), २. अपूर्ण रूप, और ३. पूर्ण रूप।

क्रिया के मूल में व्यक्तिगत अन्तों को जोड़कर सम्भावनार्थ का सामान्य प्रकार बनाया जाता है, नीचे कुछ 'अन्त' हैं—

'ऊँ' उत्तम पुरुष एकवचन 'ए' अन्य पुरुष और मध्यम पुरुष एकवचन, 'एँ' उत्तम और अन्य पुरुष बहुवचन, 'ओ' मध्यम पुरुष एकवचन।

संभावनार्थ के सामान्य रूप में 'होना' क्रिया कुछ सीमा तक साधारण नियम से हटती हुई लगती है।

संभावनार्थ के अपूर्ण और पूर्ण रूप वर्तमान कृदंत (Present Participle) और भूत कृदंत (Past Participle) के संयोग से सहायक क्रिया 'होना' के संभावनार्थ के साधारण रूप के भीतर विश्लेषित होकर बनते हैं।

विद्वानों के अनुसार संभावनार्थ के सामान्य प्रकार (simple form) के विकसित रूप वर्तमान निश्चयार्थ में खोजे जा सकते हैं।

वर्तमान निश्चयार्थ का रूप विषयक (model) पुनर्ज्ञान स्पष्टतः इससे संबद्ध पाया जाता था कि—

(अ) वर्तमान तथा अन्य कालों के महत्व की अभिव्यक्ति कृदंत (Participle) के रूप करते थे। यह विकास नयी भारतीय भाषाओं की विशेषता है।

(ब) मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और नयी भारतीय भाषाओं के संक्रमण काल में इच्छार्थक (Optative) रूप समाप्त हो गये थे, जो नये भारतीय भाषाओं में खोज लिये गये और वे उन रूपविषयक छायार्थों को अभिव्यक्ति देते हैं जो हिन्दी में संभावनार्थ के द्वारा व्यक्त की जाती हैं।

संभावनार्थ के रूपों में सामान्य रूप बहुत प्रयुक्त होता है और अपूर्ण रूप सब से कम।

संभावनार्थ के पूर्ण और अपूर्ण रूपों में सामान्य रूप से शब्दार्थ सम्बन्धी विशेष अन्तर यह है कि वे कार्य की निश्चित प्रकृति की ओर संकेत करते हैं।

संभावनार्थ का स्वतंत्र और आश्रित दोनों प्रकार के वाक्यों में प्रयोग होता है। इस निबंध

में आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के स्वतंत्र वाक्यों में संभावनार्थ के रूपों के प्रयोग पर विचार किया गया है।

वर्तमान साहित्यिक हिन्दी में संभावनार्थ के स्वतंत्र वाक्यों में प्रयोग के कालों के समस्त क्षेत्र को बाँटने में भाषा-सामग्री का विश्लेषण सहायक है।

§१. सूचना की अप्रामाणिकता की अभिव्यक्ति

संभावनार्थ के रूप उन वाक्यों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं जो ऐसे किसी कार्य की पूर्णता की ओर संकेत करते हैं, जो वास्तविकता के विपरीत न हो। इसमें वाक्यों में अंगभूत के रूप में साधारणतया 'शायद', 'कदाचित्', 'स्यात्' आदि जोड़े जाते हैं। उदाहरणतया—

'शायद आपको उसपर विश्वास **न आए**।' (सुदर्शन, राजा)।

'कदाचित् इसी से वे नाराज़ हो **गये हों**।' (कौशिक, कर्त्तव्य का बल)।

'वह मेरे चाव को पहिचान गयी है। कुछ गाँव वाले भी स्यात् **जानते हों**।'

(वृन्दावन लाल वर्मा, मृगनयनी)।

संभावनार्थ का अपूर्ण रूप सामान्यतया वर्तमान काल के अर्थ को प्रकट करता है। दिये हुए रूप के संदर्भ के आश्रित होकर कभी-कभी निश्चयार्थ के अपूर्ण रूप के समय संबंध से पृथक् न होते हुए भी वह भूतकाल का अर्थ दे सकता है; जैसे—

'शायद वे समझते थे कि यह लोग हमें पकड़ने आये हैं, या **समझते हों** कि कोई न कोई इनकी तलाश करने तो आयेगा ही। उससे अच्छी-अच्छी चीज़ें ऐंठेंगे।'

(प्रेमचंद, कुत्ते की कहानी)।

किन्तु संभावनार्थ के पूर्ण रूप में समय-संबंध (time relation) में यह पृथक् नहीं किया जा सकता।

(अ) निश्चयार्थ के अपूर्ण रूप से—

'किसी बैद हकीम को बुलाने भेजना चाहते होंगे। शायद बुखार तेज़ हो **गया हो**।"

(प्रेमचंद, बैर का अन्त)।

(ब) निश्चयार्थ के पूर्ण रूप से—

'फिर तो मन-ही-मन में हम लोगों को आशीर्वाद देने लगीं। शायद उन्हें पिछले बच्चों की याद भी आने **लगी हो**।' (प्रेमचंद, कुत्ते की कहानी)।

(स) निश्चयार्थ के (Pluperfect) रूप से—

'मेरे कमरे में क्या करने आया था? कहीं मुझे धोखा तो नहीं **हुआ**।' शायद दीदी जी के कमरे से **आया हो**।

(प्रेमचंद, निर्मला)।

इस प्रकार संभावनार्थ के रूपों से वे छायार्थ उनमें से प्रत्येक की अभिव्यक्ति के लिए निश्चयात्मक क्रियार्थभेद (Positive Mood) की पद्धति में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार काल के छायार्थ (shades) केवल संदर्भ से बतलाये जा सकते हैं।

ऊपर के उदाहरणों में क्रिया-विधेय (Verb-predicate) ऐसे कार्य को प्रकट करता है, जिसका बोध वक्ता के अनुसार सही तथ्य के रूप में नहीं होता। विश्वास के स्तर भिन्न हो सकते हैं।

किन्तु वाक्य कभी-कभी क्रिया-पद से बने कार्य को नकारात्मकता से सीमित कर सकता है। तब फिर क्रिया अल्प विश्वसित कार्य को प्रकट करती है। ऐसा छायार्थ 'ही' के प्रयोग से प्राप्त होता है; उदाहरणतया—

'ऐसा अवसर फिर शायद ही मिले।' (प्रेमचन्द, कुत्ते की कहानी)।

'महासिंह को तो कदाचित् ही कभी पहले ऐसे प्यारे शब्दों को सुनने का अवसर मिला हो।'
(प्रेमचंद, दुर्गादास)।

§२. स्वीकृत बात की अभिव्यक्ति

नीचे दिये गये उदाहरणों में वाक्य का क्रिया-विधेय संभावनार्थ के कुछ रूपों में प्रवेश करते हुए वक्ता द्वारा स्वीकृत कार्य की सूचक वास्तविकता के रूप में प्रकट करता है; जैसे—

'आप भले ही ऐसा करते हों परन्तु मैंने आज तक कोई काम इच्छा के विरुद्ध नहीं किया।'
(कौशिक, अपराधी)।

स्वीकृति (assumption) का विकल्प हो सकता है, ऐसी स्थिति में वाक्य में 'या' शब्द अभिव्यक्ति-खण्डों में विभाजक संबंध को व्यक्त करने के लिए जुड़ जाता है; जैसे—

'जैसलमेर रहे या नष्ट हो जाय, मगर महाराज क़ैद न रहेंगे।' (सुदर्शन, प्रबला)।

इन उदाहरणों में वाक्य का मतलब व्यक्त स्वीकृति के विपरीत है। यह वाक्य पहले वाक्य की स्वीकृति के रूप विषयक छायार्थ—जिसका क्रिया-विधेय संभावनार्थ के रूप में है—का सहायक है। इसका अर्थ दोनों वाक्यों में दृढ़ सम्बन्ध का होता है।

शब्दार्थ-संबंध में यह मेल स्वीकृति-सूचक आश्रित वाक्य-खंड और प्रधान वाक्य-खंड की कड़ी की याद दिलाता है।

§३. तुलना की अभिव्यक्ति

संभावनार्थ के रूप ऐसे वाक्यों में प्रयोग किये जाते हैं जिनका लक्ष्य एक घटना को दूसरी घटना से तुलना करते हुए अधिक विधिवत् और निर्विघ्न बताना होता है। ऐसे वाक्यों की विशेषता यह है कि वे अपने अंगभूत (component) में 'मानो' और 'जैसे' शब्दों को समाहित करते हैं, उदाहरणतया —

'मानो सहानुभूति, दुःख, ममता और प्रेम के सम्मिश्रित भावों की मूर्ति हो। इसे देखकर मरने वाले रोगियों के लिए मरना सरल हो जाता था।' (कृष्णचन्द, दर्द गुर्दा)।

'मुंह जैसे किसी चोट से पीछे को बैठ गया हो।' (यशपाल, आदमी का बच्चा)।

तुलना व्यक्त करने वाले वाक्यों में बहुधा अवधिसूचक क्रिया (Durative verb) का प्रयोग होता है, जो कार्य की अविच्छिन्नता का अर्थ रखते हुए अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्टता देता है; जैसे—

'हाय यह पीड़ा ! मानो तीव्र लहरें तट से **टकरा रही हों।**' (कृष्णचन्द, दर्द गुर्दा)।

§४. आवश्यकता और कृतज्ञता की अभिव्यक्ति

आवश्यकता, कर्त्तव्य के विचार को व्यक्त करने के लिए संभावनार्थ में केवल सामान्य रूप (simple form) का प्रयोग होता है। इस स्थिति में जिन वाक्यों के क्रिया-विधेय कर्मवाच्य में होते हैं, बहुत ही लाभदायक होते हैं; जैसे—

'स्वयं जगत् सिंह से **पूछ लिया जाय।**' (सुदर्शन, भग्न-हृदय)।

किन्तु आवश्यकता, कर्त्तव्य का अभिप्राय उन वाक्यों से भी व्यक्त किया जा सकता है, जिनका क्रिया-विधेय (Verb-predicate) कर्तृवाच्य के रूप में हो; उदाहरणार्थ—

'स्नेह ने कहा, मैं तुम्हें बताऊँ, एक शानदार नृत्य पार्टी हो **जाये** ग्रांड में।'

(कृष्णचन्द्र, अन्नदाता)।

'संदेह की छाया भी वहाँ **न हो।**' (लक्ष्मीनारायण मिश्र, एक दिन)

आवश्यकता या कर्त्तव्य का अभिप्राय आज्ञा के छायार्थ के साथ भी हो सकता है, जबकि क्रियार्थक संज्ञा (Infinitive) संभावनार्थ के परोक्ष रूप (indirect form) में अन्य पुरुष एकवचन के रूप में मिलकर व्यक्त होती है; उदा०—

'देखना तुम्हारे घर में कोई साँप **न मरने पाये।**' (प्रेमचन्द, नागपूजा)।

इस उदाहरण में आवश्यकता या कर्त्तव्य का अभिप्राय संदर्भ के आश्रित होकर 'इच्छा' और 'आज्ञा' का छायार्थ दे सकता है।

ऊपर के तमाम उदाहरणों की यह विशेषता है कि शब्द प्रकरण के कार्य में प्रवेश कर उस व्यक्ति को—जिसका कार्य आवश्यकता और कर्त्तव्य के विचार-बोध के साथ कड़ी जोड़ता है—स्पष्ट नहीं करते।

कभी-कभी वाक्य ऐसे शब्द से सम्बद्ध होते हैं, जो कार्य की आवश्यकता या कर्त्तव्य को निभाने वाले व्यक्ति को स्पष्ट करते हैं। ऐसे वाक्य प्रायः समाचार-पत्रों के शीर्षक-पंक्ति हुआ करते हैं; जैसे—

'सरकारी कर्मचारी चुनाव में कोई भाग **न लें।**' ('भारत', ३ फरवरी, १९५७)।

§५. आलंकारिक प्रश्नों से युक्त आवश्यकता, कर्त्तव्य और सम्भावना के अभिप्राय की अभिव्यक्ति

आलंकारिक वाक्यों में स्वीकृति या अस्वीकृति प्रश्न के रूप में भावावेग के साथ अभिव्यक्त होती है। संभावनार्थ के सामान्य रूप (simple form) में क्रिया-विधेय के प्रयोग में आवश्यकता, कृतज्ञता और संभावना के अभिप्राय प्रसारित होते हैं। ऐसी स्थिति में क्रिया में नकारात्मकता का आभास तो नहीं होता, किन्तु विचारतः वाक्य नकारात्मक लगता है; उदा०—

'निमिष भर के लिए बसन्ती असमंजस की दशा में खड़ी रही। क्या वह उस वेश्या के पैरों में **जा गिरे?**' (अश्क, सतीत्व का आदर्श)।

'अब मुझे यह अवसर मिला है, इसे क्यों **छोड़ूँ?**' (प्रेमचन्द, ईश्वरीय न्याय)।

'वह कैसे भूल **जावे** कि कौंसिल में उनकी उपस्थिति केवल सरकार की कृपा और विश्वास पर निर्भर है।' (प्रेमचंद, आदर्श विरोध)।

आलंकारिक प्रश्नों को व्यक्त करने वाले वाक्य प्रश्न रूप में सर्वनाम और क्रिया-विशेषण में भी हो सकते हैं। इस प्रकार दिये उदाहरणों में प्रश्न रूप में क्रिया-विशेषण 'क्यों' का प्रयोग वाचिककार्य (verbal action) की आवश्यकता के औचित्य के प्रति नकारात्मक है और 'कैसे' का प्रयोग कार्य-विधान की सम्भावना के प्रति नकारात्मक है। वाक्य में प्रश्नवाचक शब्द की अनुपस्थिति में कर्त्तव्य का रूप-विषयक छायार्थ स्पष्टतः प्रकट होता है।

हिन्दी में क्रिया के साथ 'न' की उपस्थिति में 'क्यों' क्रियाविशेषण का प्रयोग बहुत होता है। इनमें भी आलंकारिक प्रश्न रहता है। किन्तु उनका रूप-विषयक छायार्थ उनसे भिन्न प्रकार का है।

'क्यों न' से संयुक्त वाक्य वाचिक कार्य (verbal action) के संभावना-बोध का छायार्थ व्यक्त करते हैं; जैसे—

'उसके मन में एक नयी आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर **लौट चलूं**।'
(प्रेमचन्द, गृह-दाह)।

'आदमी सीमाओं को छूता हुआ क्यों चले? मध्य का मार्ग क्यों न **अपनाए**?'

(अश्क, तौलिये)।

§६. कार्य के औचित्य, आवश्यकता इत्यादि के संबंध में पूछ-तांछ की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के वाक्यों में कार्य में आवश्यक औचित्य इत्यादि के संबंध में पूछ-ताँछ की जाती है। इनमें क्रिया-विधेय संभावनार्थ के सामान्य रूप में प्रकट होता है; उदाहरणतया—

'जीजी, एक बात **पूछूं**?' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)
'इन्द्रमणि ने पूछा—क्या मर्जी है, **जाऊँ**, उसे **लाऊँ**?' (प्रेमचंद, महातीर्थ)।
'तुमको वह डिब्बा **दिखाऊँ**?' (कृष्ण चन्द्र, मेरे मित्र का बेटा)।

ऊपर के उदाहरण में यह स्पष्ट है कि बोलने वाला प्रत्युत्तर देने वाले से आज्ञा माँगता है अथवा साधारणतया प्रत्युत्तर देने वाले का कार्य के प्रति औचित्य का अभिप्राय जानना चाहता है। इस प्रकार के शब्दार्थक छायार्थ संदर्भ के आधार पर ही व्यक्त होते हैं।

वाक्य की बनावट में प्रश्नवाचक शब्द हो सकता है; जैसे—
'कहाँ **लगाऊँ** चाय बीबी जी?' (अश्क, तौलिये)।

§७. आकुलता (puzzling) मिश्रित प्रश्न की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के आकुल कर देने वाले प्रश्नवाचक वाक्यों में कार्य के विषय

में ध्यान, अनिश्चय, शंका की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे वाक्य में साधारणतया संभावनार्थ के सामान्य रूप का प्रयोग होता है ; उदाहरणतया —

'दूसरे दिन जमना का मन डोल रहा था—वह **जाय** या न **जाय** ?'
(कृष्णचन्द्र, पिंडारे)।

'इस बस्ते को कहाँ **छिपाऊं** ?' (कृष्णचन्द्र, आता है याद मुझको)।

'वह एक क्षण सोचती है—इसमें **बैठूं** ?' (प्रेमचन्द, निर्मला)।

आकुल करने वाले प्रश्न सूचक वाक्यों में समय-समय पर प्रश्न के अभिप्राय को हटाने वाले की-सी विशेषता पायी जाती है।

§८. वास्तविक कार्य की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के वाक्यों में क्रिया संभावनार्थ के सामान्य रूप में होकर वास्तविक कार्य को प्रकट करती है; उदाहरणतया —

'पर इस मन मारने का यह फल। गाढ़े परिश्रम के रुपये लुट **जायँ**।'
(प्रेमचन्द, मूठ)।

'उनका मुझ पर कितना स्नेह था ! मेरे बग़ैर भोजन करने न जाते थे, वही मेरे शत्रु हो **जायं**, यह बात अकारण नहीं हो सकती।' (प्रेमचंद, निर्मला)।

इस प्रकार के समान वाक्यों में सशस्त्र भावनात्मक संबंध वाचिक कार्य (verbal act) बोध के इस तथ्य से बाधित होता है कि वह कार्य परिस्थिति-जन्य होकर भी बोलने वाले के मस्तिष्क में आकुलता उत्पन्न कर देता है। अविश्वासात्मक छायार्थ भी स्पष्टतः संभावनार्थ द्वारा अभिव्यक्त होता है।

§९. इच्छा, संकल्प संबंधी छायार्थ की अभिव्यक्ति

संभावनार्थ का सामान्य रूप आशय और तैयारी का छायार्थ भी व्यक्त करता है। इसमें बोलने वाला अपने ही लिए उस मतलब की बात कहता है। इसलिए आशय और तैयारी की अभिव्यक्ति का मूल्य उत्तम पुरुष के लिए है; जैसे–

'ग्यारह बज गये। मैं **चलूं**।' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)।

'मैं तो ज़रा नन्हें को **देख जाऊँ**।' (अश्क, नन्हा)।

'चलो कोई और जूता ही **खरीद लूं**, कोई सस्ता जूता।' (कृष्णचन्द्र, जूते पहनूंगा)।

'चलो अब घर चलें, आओ तुम्हें **उठा लूं**।' (कृष्णचन्द्र शहतूत का वृक्ष)।

उदाहरण से यह बात साफ़ है कि उत्तमपुरुष के सर्वनाम विषय के कार्य में प्रवेश कर छोड़े जा सकते हैं, क्योंकि पुरुष (person) का व्याकरणिक संकेत क्रिया द्वारा ही हो जाता है।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि वाक्य जो आशय या तैयारी व्यक्त करते हैं, उनके प्रारंभ में 'ज़रा' या आज्ञार्थ का क्रिया रूप 'चलना', 'आना', 'लाना' आदि का प्रयोग होता है।

§१०. **अभिलाषा** (desire) **और वांछा** (wish) **की अभिव्यक्ति**

अभिलाषा और वांछा की अभिव्यक्ति संभावनार्थ के सामान्य रूप से होती है। अभिलाषा का छायार्थ साधारणतया स्पष्ट होता है, जबकि वाक्य में 'काश' शब्द का प्रयोग न हो; उदाहरणतया —

'मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरा बच्चा **बच जाय**।' (सुदर्शन, अँधेरी दुनिया)।

'फिर मुस्करा कर कहने लगा—कुछ इनाम भी **मिल जाय** कल ईद है बाबू जी।' (कृष्णचन्द्र, खूनी नाच)।

'काश' शब्द का प्रयोग अभिव्यक्ति की भावनात्मक विशेषता स्पष्ट करता है।

'काश, मैं भी एक्टर **बन जाऊँ**'—वह सोचता।' (ख्व०अ०अब्बास, अँधेरा और उजाला)।

ऊपर के उदाहरणों में वाचिक कार्य (verbal action) की जो अभिलाषा व्यक्त की गई है, उसमें भविष्य की कल्पना चित्रित है। संकेतित समय के महत्व से स्पष्ट है कि विपरीत तथ्यों से कार्य नहीं उपस्थापित किया गया है। इस संबंध में दिये गये वाक्य जिनका क्रिया-विधेय संकेतार्थ के रूप का लगता है, अभिलाषा व्यक्त करने वाले वाक्यों से पृथक् किये जाते हैं।

व्याकरणिक रूपात्मक संबंधों में अभिलाषा व्यक्त करने वाले वाक्य विशेष कारक नियमों के विभाग में नहीं आते। वे वक्ता की अभिलाषा व्यक्त करते हैं; उदाहरणतया —

'राम तुम्हारा भला **करें**।' (कृष्णचन्द्र, जेहलम में नाव पर)।

'तुम्हारी शादी अच्छी जगह हो, तुम्हें अच्छा वर **मिले**।' (अश्क, ताँगे वाला)

'नौज' का व्यवहार 'अभिलाषा' के नकारात्मक स्वरूप को व्यक्त करता है; जैसे—

'नौज कोई तुम जैसा आदमी हो!' (प्रेमचंद, शतरंज के खिलाड़ी)।

§११. **भयपूर्ण इच्छार्थक अभिप्राय की अभिव्यक्ति**

यहाँ जिन वाक्यों की परीक्षा की गई है उनमें आरंभ में साधारणतया '**कहीं**' क्रियाविशेषण लगता है और फिर क्रिया 'न' से भी संयुक्त होती है; उदाहरणतया—

'ज़रा बच कर जाना। रास्ते में एक आदमी बेहोश पड़ा है। कहीं नीचे आकर **कुचला न जाय**।' (सुदर्शन, घोर पाप)।

'कहीं बाबू जी बिगड़ें न!' (प्रेमचन्द, निर्मला)।

'वह आज किधर चली गई है? कहीं बीमार **न हो गई हो**।' (कृष्णचन्द्र, बाँधवाली)।

इस प्रकार के समान वाक्यों में क्रिया-विधेय ऐसे कार्य को प्रकट करता है, जिसका बोध वास्तविक विश्वास योग्य तथ्य नहीं प्रतीत होता। इसलिए ये वाक्य उन वाक्यों के समान हैं जिसे प्रथम पैराग्राफ़ (§१.) में देखा गया था। किन्तु वे अपनी विशेषताएँ भी रखते हैं। उनके द्वारा ऐसे कार्य की अभिव्यक्ति होती है, जो वक्ता में भय पैदा करते हैं।

§१२. **उत्प्रेरणा-प्रबोधन** (incentvie) **की अभिव्यक्ति**

उत्प्रेरणा के अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए मंभावनार्थ का सामान्य रूप प्रयोग में लाया जाता है।

वाचिक कार्य (verbal action) के पूरक होकर वे अपने में वक्ता के लिए क्या उपस्थित करते हैं—इस बात पर आश्रित अभिव्यक्ति के तीन प्रकार के रूप-विषयक कारक पाये जाते हैं—

(अ) नम्र निवेदन, (ब) कार्य के सम्मिलित-बोध (combind realization) की अपील, (स) अप्रत्यक्ष प्रेरणा (incentive)।

इस प्रकार के विभाग केवल शब्दार्थक नियम पर ही नहीं आधारित हैं, बल्कि जहाँ तक वे व्याकरणिक अभिप्राय में विभिन्न पुरुषों से सम्बद्ध हैं, रूपात्मक नियम पर भी आधारित हैं।

(अ) नम्रनिवेदन

नम्र निवेदन की अभिव्यक्ति में 'आप' सर्वनाम का प्रयोग होता है जो विधेय की क्रिया के अन्य पुरुष (third person) बहुवचन की सहायता से चुनाव को घटित करता है—

'महाराज! आप मेरे राजा हैं। आप मेरे सम्मुख सिर न **झुकायें**।'

(सुदर्शन, प्रबला)।

'खुदा के लिए आप मेरा पीछा करना **छोड़ दें**।' (कृष्णचन्द्र, वेक्सीनेटर)।

(ब) सम्मिलित कार्य की अपील की अभिव्यक्ति

सम्मिलित कार्य की अपील की अभिव्यक्ति के लिए वाक्य में व्याकरणिक अभिप्राय की दृष्टि से उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग होता है। इस प्रकार के वाक्य तब प्रयोग किये जाते हैं, जब वक्ता किसी को किसी काम को पूर्ण करने के लिए अपने को भी उन्हीं कर्त्ताओं में गिनकर प्रेरित करता है, उदाहरणतया—

'आओ, हम तीनों फिर नन्दसर **चलें**।' (कृष्णचन्द्र, गरजन की एक शाम)।
'खैर, आइए अब हम चाय **पिएँ**।' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)।
'चलो, ज़रा पार्क घूम **आयें**।' (वल्लभ अग्रवाल, मूड)।

(स) अप्रत्यक्ष प्रेरणा (inducement) **की अभिव्यक्ति**

कार्य की क्रिया के उद्देश्य के विषय में जब प्रेरणा अप्रत्यक्ष होती है, तब वे बातें विचाराधीन हो जाती हैं। ऐसे वाक्य में वक्ता का प्रत्युत्तर देने वाला उसके संकल्प के विषय में कार्य के सूचक की भाँति समझा जाता है। ऐसे वाक्यों में क्रिया-विधेय अन्य पुरुष के रूप में होता है; जैसे—

'सुल्तान ने अदालत से कहा—गवाह शपथ **ले**, वह जो कुछ कहेगा, सच कहेगा।'

(यशपाल, दादा कामरेड)।

'अलगू ने दीन भाव से कहा, समझू साहु ही चुन ले।' (प्रेमचन्द, पंचपरमेश्वर)।

जब अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'कोई' का प्रयोग कर्त्ता की भाँति होता है तब साधारणतया वाक्य प्रेरणा का कर्त्तव्य-आवश्यकता का सम्मिलित छायार्थ (shade) व्यक्त करता है यथा—

'सावधान! मेरे निकट कोई न आये, मैं सेनापति हूँ।' (सुदर्शन, प्रबला)।

निष्कर्ष

एक स्वतंत्र वाक्य में संभावनार्थ निम्नलिखित की अभिव्यक्ति करता है—

(१) सूचना की अविश्वसनीयता, (२) स्वीकृति, (३) तुलना, (४) आवश्यकता का अभिप्राय, (५) आवश्यकता-कृतज्ञता-संभावना के अभिप्राय की अभिव्यक्ति, उन वाक्यों में जिनमें आलंकारिक प्रश्न हों, (६) कार्य-विधान के सापेक्ष औचित्य-आवश्यकता की पूछ-ताँछ, (७) व्याकुल करने वाले प्रश्न, (८) वास्तविक कार्य, (९) संकल्पात्मक अभिप्राय, (१०) अभिलाषा, वांछा, (११) भयमिश्रित इच्छार्थक अभिप्राय, (१२) प्रेरणार्थक अभिप्राय।

स्वतंत्र वाक्यों में संभावनार्थ के प्रयोग के ये कुछ ख़ास नमूने हैं। शब्दार्थक अभिप्राय से रूपविषयक मूल्य जो संभावनार्थ की सहायता से प्राप्त होते हैं, वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) जिसमें कार्य-विधान की वास्तविकता के मूल्य का अभिप्राय प्रकट न हो (अनुच्छेद १–८) और (२) इष्ट-संकल्प सूचक अभिप्राय (९–१२ अनुच्छेद)। वाक्य में प्रथम विभाग की अभिव्यक्ति में सूचना का चेतन तार्किक बौद्धिक विकास (evolution) पाया जाता है। द्वितीय विभाग इस तथ्य से आबद्ध है कि उसमें कार्य करने के लिए वक्ता की प्रवृत्ति, प्रयत्न इत्यादि प्रकट होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विभाग भाषा में व्यक्त किये गये बौद्धिक और संकल्पात्मक प्रक्रिया से सम्बद्ध हो जाता है। अभिलाषा-संकल्प सूचक अभिप्राय में बौद्धिक स्तर पर विचार-छाया का अन्तर है, किन्तु दिये गये समूहों में अर्थ का कोई स्पष्ट स्थूल अन्तर नहीं दिखाया जा सकता।

इस प्रकार परीक्षा योग्य अनुच्छेद४–७, ९, १०, १२ परस्पर एक दूसरे से शब्दार्थक धरातल पर मिले हुए लगते हैं। अभिव्यक्ति में उनका कथन प्रस्तुतीकरण (presentation) के लक्ष्य या महत्व द्वारा समर्थित होता है। इसमें वक्ता इस या उस कार्य के बोध को यह समझता है कि वह वास्तविक घटनाओं के क्रम की प्रेक्षाओं (perspective) के विकास द्वारा घटित होता है। उपर्युक्त महत्व-उद्देश्य का छायार्थ उपर्युक्त अभिव्यक्ति के रूपविषयक अभिप्राय के समय संभावनार्थ के सभी प्रकारों में से सामान्य प्रकार में व्यक्त होता है जिसके लिए भविष्य का अभिप्राय व्यक्त करना स्वाभाविक होता है।

सूचना की अविश्वसनीयता को अभिव्यक्त करने में और स्वीकृति, तुलना और भय की व्यंजना में (अनु० १–३, ११) अभिव्यक्ति एक वाक्य का भाव व्यक्त करती है, क्योंकि ऐसी स्थितियों में वास्तविकता संभावना-आवश्यकता वाचिक कार्य सम्पूर्ण साक्ष्यों (evidences) सहित निर्दिष्ट नहीं होता। यहाँ संभावनार्थ के विभिन्न प्रकारों का प्रयोग होता है।

रूपविषयक विभिन्न अभिप्रायों के प्रकाशन में संदर्भ का बहुत महत्व होता है। अंशत: प्रश्न यह है कि वह व्यक्ति, जिससे कथन किया जाता है, वह वाचिक कार्य (verbal action) का तत्पर (active) पूर्ण कर्त्ता हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है—यह तथ्य कम महत्व का नहीं है। उपर्युक्त रूपविषयक अभिप्राय की संदर्भगत आश्रयता (context-conditionalness) तभी थी जब वह नियमित व्याकरणिक रूपों से जुड़ी थी।

रूपविषयक कथन में सुर (Intonation) का भी विशेष महत्व है। कभी-कभी (आलंकारिक प्रश्नों में) सुर वाक्य का जीवन सहायक होता है।

फिर भी संदर्भ और सुर रूपविषयक अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त हैं। इसलिए इस प्रकार अर्थ धारण करने वाला वाक्य, अपनी बनावट तथा व्याकरणिक चिह्नों के विचार से कई रूपों में विशेषित होता है। ये रूप कुछ इस प्रकार हैं—

(१) साहित्यिक हिन्दी में रूपविषयक (modal) छायार्थ का पारस्परिक संबंध वाक्य में विभिन्न शब्दों द्वारा जाना जाता है (ज़रा, चलो, काश, मानो, शायद आदि)। इस प्रकार के प्रत्येक शब्द का प्रयोग निश्चित रूपविषयक अभिप्राय की व्यंजना के लिए बाध्य है; जैसे 'मानो' तुलना के लिए और 'चलो' मन्तव्य के लिए प्रयुक्त होता है।

(२) रूपविषयक छायाओं का पारस्परिक संबंध व्याकरणिक पुरुष (grammatical person) के विचार से सम्बद्ध है—जैसे, तैयारी और उद्देश्य की अभिव्यक्ति उत्तम पुरुष एकवचन के अभिप्राय के लिए और अप्रत्यक्ष प्रेरणा का छायार्थ अन्य पुरुष एकवचन के लिए प्रयुक्त होगा।

(३) रूपविषयक छायार्थ का पारस्परिक संबंध क्रिया के वाच्य-रूप (voice-form) से जाना जाता है—जैसे, कर्मवाच्य का रूप आवश्यकता या कृतज्ञता के छायार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। और वह रूप निश्चित विश्लेषणात्मक क्रिया के ढाँचे—जैसे 'पाना' क्रिया के संभावनार्थ का योग क्रियार्थक संज्ञा के साथ कृतज्ञता को व्यक्त करता है।

(४) रूपविषयक छायार्थों का पारस्परिक संबंध क्रिया-विधेय की उपस्थिति में नकारात्मकता (negation) की उपस्थिति से भी जाना जाता है—जैसे, भयमिश्रित इच्छार्थक अभिप्राय 'कहीं न' से और संभावना का अभिप्राय 'क्यों न' से व्यक्त होता है।

(५) रूपविषयक छायार्थ का पारस्परिक संबंध वाक्य में प्रश्नवाचक शब्द के शब्दार्थ-विचार द्वारा भी जाना जाता है—जैसे, वाक्य में 'क्यों' के प्रयोग से जिसमें आलंकारिक प्रश्न होता है, उस कार्य की आवश्यकता, तथा 'कैसे' के प्रयोग से संभावना नकार दी जाती है।

●

डबल्यू० ए० चर्निशोव

समानाधिकरण

समानाधिकरण एक विशेष प्रकार का विशेषण ही जान पड़ता है। इसके द्वारा संज्ञाओं तथा संज्ञा और सर्वनामों के पारस्परिक समानाधिकारी संबंध व्यक्त किये जाते हैं। हिंदी में मुख्य शब्द के संबंध में समानाधिकरण की अधिकता पदविज्ञान मूलक तथा वाक्य-विज्ञानमूलक—दोनों प्रकार की होती है। पद-विज्ञान की दृष्टि से यह अधीनता मुख्य शब्द के साथ सामानाधिकरण की व्याकरणगत अनुरूपता में प्रकट होती है, तथा वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से शब्द-समूह-विशेष के विभिन्न अंशों के बीच संपर्क के रूप में हिंदी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण, जैसा कि हम आगे देखेंगे, पद-विज्ञानमूलक अधीनता के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं; अतः समानाधिकरण की मूल विशेषता वाक्य-विज्ञानमूलक ही है।

हिंदी में समानाधिकरण कोई एक शब्द भी हो सकता है तथा शब्द-समूह भी।

समानाधिकरण की विशेषणमूलक परिभाषा के विपरीत उसका प्रयोग विशेष्य के बिना भी होता है। ऐसी स्थिति में विशेष्य शब्द पहले के संदर्भ में आ चुका होता है और इस प्रकार समानाधिकरण रूपक अलंकार का रूप ले लेता है।

विशेष्य शब्द के साथ संयुक्त होने पर समानाधिकरण उस शब्द का स्पष्टीकरण करता है तथा अनेकानेक संबंधों में उसकी विशेषता बतलाता है। उदाहरणार्थ समानाधिकरण के द्वारा निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट हो सकती हैं—

१. सामाजिक स्थिति—एक दिन **अकबर बादशाह** ने अपने **वजीर राजा बीरबल** से पूछा..... (कहावतों की कहानियाँ, ३८)।

२. विकास—सबसे पहले कतरास के **युवक कार्यकर्ता** पशुपति नाथ ने उठकर अपना आरोप-पत्र पढ़कर सुनाया। (रेणु, परती परिकथा, ४७६)।

३. कौटुम्बिक या पारिवारिक संबंध—तीन साल हुए मैंने अपनी सारी जायदाद अपने **भानजे जुम्मन** के नाम लिख दी थी। (प्रेमचंद, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १३६)।

४. संवेगात्मक भाव व्यक्त करने वाला नाम या शब्द—लुत्तो हुकुम देता है—पकड़ लाओ **साले जित्तन** को। (रेणु, परती० १९९)।

५. संज्ञा-नामों में रूप की विशेषता—फुलिया को **गरमी बीमारी** हो गयी। (रेणु—मैला आँचल, २८७)।

६. जाति और उपजाति का नाम—चमार टोली का **ननकेसर चमार** ताल ठोंक कर नाचता हुआ आगे बढ़ आता है। (रेणु, परती० ५०५)।

७. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के शब्दार्थ—**देवताओं और मंदिरों के नगर बनारस** में रह कर भी आभा रानी को सब से पहले अपने भगवान की याद आती है।
(रेणु, मैला आँचल, १०२)।

८. निर्जीव पदार्थों (समाचारपत्रों, पत्रिकाओं, वैज्ञानिक और साहित्यिक प्रकाशनों आदि) के स्थिति-सूचक नाम—भूमिहार टोले का प्रयागचंद.....**दैनिक आर्यभूमि** में प्रकाशित संवाद को.....ज़ोर-ज़ोर से सुना रहा है। (रेणु, परती०, ३६१)।

इस शब्द-समूह में आश्रित अथवा अधीन अंग वह होता है जो समूह के दूसरे अंग की कोई विशेषता अथवा गुण बताता हो, अर्थ स्पष्ट करता हो अथवा उसकी वस्तुस्थिति को प्रकट करता हो। अतः यह ध्यान देने की बात है कि समानार्थक पुनरावृत्तियों को, जो कि हिंदी में व्यापक रूप से प्रचलित हैं और जिनका रूप समानाधिकरण समूहों के ही समान होता है, समानाधिकरण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनमें विशेषण का लक्षण नहीं होता। समानार्थक पुनरावृत्ति दो शब्दों—पूर्ण तथा सापेक्ष समानार्थकों—का समूह होता है। इनके बीच का संबंध विशेष शब्द तथा उसके समानाधिकरण के समानाधिकरणात्मक संबंध से सर्वथा भिन्न होता है; यथा—**पालन-पोषण, जाँच-पड़ताल, काट-छाँट** आदि।

अन्य विशेषणों की भाँति समानाधिकरण आत्मगत (subjective) संबंध के द्वारा प्रायः संज्ञा के साथ संबद्ध होता है। परंतु ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जिनमें समानाधिकरण का संबंध सर्वनाम के साथ मिलता है; यथा—

(१) अगर ईश्वर ने उन्हें वाणी दी होती तो वे झुरी से पूछते—'तुम हम **ग़रीबों** को क्यों निकाल रहे हो?' (प्रेमचंद सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १९१)।

(२) वही मेरी आँखों का उजाला, मुझ **अंधे** का सहारा, मेरे जीवन का आधार और मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। (प्रेमचन्द, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १२६)।

समानाधिकरण एक शब्द मात्र के द्वारा भी व्यक्त हो सकता है तथा शब्दों के समूह के द्वारा भी। पहला प्रत्यक्ष (सीधा) समानाधिकरण कहा जायगा तथा दूसरा प्रसरित अथवा विस्तरित समानाधिकरण; यथा—

(१) **ज़िले की राजनीति के जनक रामकिसुन बाबू** के बँगले पर वह जिस समय हाज़िर हुआ उस समय पुलिस की लारी खड़ी थी। (रेणु, मैला आँचल, १७१)।

(२) एक बार बोलो कलेजा खोल कर—**ग़रीबों के नेता लुत्तोबाबू** की—ई–ई...! जै, जै, जै! (रेणु, परती०, ६३)।

समानाधिकरण विशेष्य के पहले भी आ सकता है तथा उसके बाद भी। उसकी स्थिति कुछ भी हो—विशेष्य शब्द के पूर्व या पश्चात्—रहता वह सदैव मुख्य शब्द के निकट ही है, उसके साथ प्रत्यक्षतः सटा हुआ। प्रसरित समानाधिकरण का प्रयोग जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में देखा जा सकता है, नियमित रूप से सदैव पूर्व की स्थिति में होता है। ऐसे अप्रत्यक्ष ढंग के समानाधिकरण भी, जो सामाजिक स्थिति, व्यवसाय या पेशे की प्रकृति का बोध कराते हैं, विशेष्य के पूर्व ही प्रयुक्त होते हैं; यथा—

(१) **करघा मास्टर टुनटुन जी** को मंगला देवी का सोशलिस्ट आफ़िस में रहना बड़ा बुरा लगता है। (रेणु, मैला आंचल, २१४)।

(२) **तहसीलदार हरगौरीसिंह** ने नये रैयतों के साथ ज़मीनबंदोबस्ती का ऐलान कर दिया है। (रेणु, मैला आँचल, २१९)।

प्रत्यक्ष अथवा अप्रसरित समानाधिकरण, जो व्यवसाय, जातिगत उत्तराधिकार, जाति, वंश-परंपरा अर्थात् मनुष्य की जन्मजात विशेषताओं अथवा सामाजिक संबंधों के आधार पर प्राप्त स्थितिसूचक संवेगात्मक नामों या संबोधनों का बोध कराते हैं, नियमित रूप से विशेष्य के पश्चात् ही प्रयुक्त होते हैं; यथा—

(१) हसलगंज के **हरखू तेली** ने अलबत पैसा जमाया। (रेणु, मैला आँचल, २१५)।

(२) **बिरसा माझी** अब लेटा नहीं रह सकता। (रेणु, मैला आँचल २४७)।

इसके अतिरिक्त सर्वनामों के साथ संबद्ध समानाधिकरण भी सदैव विशेष्य के साथ प्रयुक्त होते हैं। पुनः ऐसे समानाधिकरण भी, जिनमें विशेषता के विस्तार की मात्रा का अंतर होता है, संयुक्त रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। संयुक्त समानाधिकरण वे हैं जिनका विशेष्य के साथ एक ही सा संबंध होता है; यथा —

(१) नीम की ठंढी छाया में गुरुदीन चौधरी अपना मोटा लट्ठ सँभाले हुए बैठे हैं और उसकी **बुढ़िया माँ शकूरन** उससे बातें कर रही है। (ज़हूरबख्श, शबनम, ७०)।

(२) प्राणमोहन बाबू ने कुछ दिन हुए अपने घर में अमलेश का आना-जाना बन्द कर दिया था।. . . इसलिए (उनकी **पुत्री** और अपनी चचेरी **बहन**) **वीणा** के पीछे हाथ धोकर पड़ गया है। (रेणु, मैला आँचल, १९८)।

एक ही विशेष्य शब्द के जब दो समानाधिकरण हों तो मिश्रित समानाधिकरण होगा। इसमें एक समानाधिकरण पहले आता है और दूसरा बाद में; यथा—

(१) **बूढ़ा रघू रामायनी** थर थर काँप रहा है। (रेणु, परती० ३६५)।

(२) गाँव के प्रसिद्ध और पुराने लाल **बुझक्कड़ झिम्मल मामा** ने ग्राम-पुस्तकालय के पठनागार में घोषणा की। (रेणु, परती० १५)।

(३) जाति के **सरदार झल्लू मोची** और **घोवन मोची** को वह रोज़ दारू पिलाता है। (रेणु, परती० ३५२)।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि समानाधिकरण नियमित रूप में ऐसे शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है जो कोश-विज्ञान तथा शब्दार्थ-विज्ञान की दृष्टि से विशेष्य शब्द से भिन्न होता है। ऐसे शब्द-समूह अवश्य हो सकते हैं, जिनमें समानाधिकरण के द्वारा विशेष्य शब्द की कोश-विज्ञान की दृष्टि से आवृत्ति हो जाती है। परन्तु ऐसी आवृत्ति में समानाधिकरण का लक्षण उसी दशा में होता है जब उसके द्वारा मुख्य शब्द का अर्थ निश्चित करने में सहायता मिलती हो। यदि ऐसा नहीं होता तो आवृत्ति केवल शैली का एक गुण कहा जाना और उसका उद्देश्य मुख्य शब्द पर बल देकर वाक्य की व्यंजकता में वृद्धि करना मात्र होगा। शब्द को दुहराना समाना-

धिकरण के रूप में तभी उपयोगी हो सकता है जब उसके द्वारा किन्हीं पूर्व अज्ञात विशेषताओं का उद्घाटन होता हो; उदाहरणार्थ—

(१) शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी में ग्रस्त हो गया और वह सारी विपत्ति **झींगुर** की करनी थी—**अभागे हत्यारे झींगुर** की। (प्रेमचंद, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, ४१)।

(२) बोलिए एक बार प्रेम से—सोशलिस्ट पार्टी की जय ! यह **पार्टी** असली है, **किसानों की पार्टी, गरीबों की पार्टी**। (रेणु, मैला आँचल, १३३)।

विशेष्य शब्द के साथ घनिष्ठ रूप में संबद्ध होने के कारण समानाधिकरण का वाक्य में वही व्यापार होता है जो स्वयं विशेष्य शब्द का होता है। वाक्य में विशेष्य शब्द की स्थिति प्रमुख और गौण, दोनों श्रेणियों की हो सकती है। सामान्यतः उसका व्यापार, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में देखा जा सकता है, उद्देश्य अथवा पूरक का होता है। समानाधिकरण संज्ञा के साथ क्रियाविशेषण के व्यापार में बहुत कम संयुक्त होता है। विशेष्य शब्द के उद्देश्य के व्यापार को पुष्ट करते हुए वह उसे क्रियाविशेषण के नहीं; बल्कि पूरक के व्यापार के लिए सक्षम बनाता है। इन दो मूलभूत व्यापारों के अतिरिक्त विशेष्य शब्द का अपने अधीन समानाधिकरण के साथ-साथ ऐसा व्यापार—संबोधन का व्यापार भी हो सकता है जिसका वाक्य के साथ कोई व्याकरणगत संबंध न हो।

ऊपर दिये गये विविध उदाहरणों से यह भी निष्कर्ष निकल सकता है कि यद्यपि विशेष्य और समानाधिकरण दोनों का व्यापार एक ही अवश्य होता है, समाधिकरण के रूप में प्रायः विशेष्य शब्द के रूप का सादृश्य नहीं होता। इससे प्रकट होता है कि दोनों में पूर्ण अनुरूपता नहीं होती।

वाक्य में समानाधिकरण-संबंध से जुड़े हुए शब्दों की यह अपूर्ण अनुरूपता कुछ ऐसे तत्वों पर निर्भर होती है जिनकी उपस्थिति भी अनिवार्य नहीं है। इन तत्वों में एक है समानाधिकरण के व्यापार वाले शब्द की परिवर्तनशीलता और दूसरा उसके पर्याय विशेषणों की विद्यमानता।

समानाधिकरण और विशेष्य शब्द की प्रथम और मूलभूत अनुरूपता लिंग की अनुरूपता है। यदि विशेष्य शब्द का लिंग ज्ञात हो तो प्रायः बिना किसी भ्रम के, बिना किसी पूरक संकेत के उसके समानाधिकरण के लिंग का निश्चय किया जा सकता है। यद्यपि इसे संपूर्ण नियम कहना संभव नहीं है, फिर भी समानाधिकरण की अधीनता का यह परिचयात्मक लक्षण प्रायः अत्यंत अनुल्लंघनीय है।

एकवचन में समानाधिकरण के प्रत्यक्ष या सीधे प्रयोग की स्थिति में दोनों अंगों में उसी प्रकार कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे इसी प्रकार के प्रयोग वाले विशेष्य शब्द के अन्य विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं।

परन्तु अप्रत्यक्ष प्रयोग की स्थिति में अर्थात् उस स्थिति में जब समानाधिकरण-संबंध वाला एक अंग पश्चात्-प्रयोग वाला होता है, तब इस पश्चात्-प्रयोग का प्रभाव दोनों अंगों पर पड़ता है और उसी के द्वारा उन दोनों के और साथ ही उनके पर्याय विशेषणों के रूप का निश्चय होता है। यह नियम केवल पुंलिंग संज्ञाओं पर ही लागू होता है; एकवचन वाली स्त्रीलिंग संज्ञाएँ तथा उनके विशेषणों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

परन्तु पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों संज्ञाओं के बहुवचन में समानाधिकरण वाले शब्द-समूह के दोनों अंगों पर पश्चात्-प्रयोग की स्थिति का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। स्त्रीलिंग शब्द-समूह का पहला अंश उस दशा में भी एकवचन के अपरिवर्तित रूप में रहता है, जब कि दूसरा अंश बहुवचन रूप हो जाता है; उदाहरणार्थ—

(१) आपको सुनना मना है क्यों डूबी थीं **कुमारी बेटियाँ**। (रेणु, परती० १२६)।

बहुवचन के अप्रत्यक्ष प्रयोगों में बहुवचन सूचक -ओं प्रत्ययांत शब्द-समूह के उसी अंश में जोड़ा जाता है जो पश्चात्-प्रयोग वाले दूसरे अंश के ठीक पहले आता है। पहला अंश या तो अपरिवर्तित रहता है या, यदि वह पुंलिंग अकारांत शब्द हुआ तो, एकवचन का अप्रत्यक्ष रूप ले लेता है। इस प्रकार यहाँ रूपों की पूर्ण अनुरूपता दिखाई देती है। यदि पश्चात्-प्रयोग के कारण दूसरे अंश में पद-विज्ञानगत परिवर्तन हो जाय तो पहले अंश में केवल अंशतः परिवर्तन होता है, जिससे विशेष्य शब्द के अप्रत्यक्ष प्रयोग के रूप की सूचना तो मिलती है, परन्तु बहुवचन के रूप की सूचना नहीं मिलती, यद्यपि परस्पर संबद्ध होने के कारण दोनों अंश बहुवचन का ही अर्थ देते हैं; यथा—

(१) जीन एक पीर का नाम है।. . .वह कभी-कभी मनमोहन वाला रूप धर कर **कुमारी** और **बेवा लड़कियों** को भरमाता है। (रेणु, मैला आँचल, ३१५)।

(२) हवेली परगना के इतिहास में पाँच-सात इस्टेट की **विधवा** हिंदू **रानियों** के राज-काज की बातें मिलती हैं। (रेणु, परती०, ४१६)।

समानाधिकरण-शब्द-समूहों के अंशों में इस प्रकार की अननुरूपता उन शब्द-समूहों में भी देखी जाती है जो संबोधन के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा जिनका वाक्य से व्याकरणगत संबंध नहीं होता।

हिंदी में कर्ताकारक से भिन्न संबोधन कारक का पृथक् रूप होता है। एकवचन का संबोधनकारक कर्ता के बराबर होता है। केवल आकारांत पुंलिंग संज्ञाओं का रूप सामान्यतया एकारांत हो जाता है। सभी संज्ञाओं का बहुवचन रूप ओंकारांत होता है और उसमें लिंग-भेद नहीं होता।

समानाधिकरण संबंध से जुड़े संबोधन-सूचक शब्दों में पहला अंश या तो अपरिवर्तित रहता है या यदि वह अपरिवर्तनीय हुआ तो एकारांत हो जाता है, यद्यपि उसके समस्त विशेषण विधेयात्मक रूप में प्रयुक्त होते हैं, उदाहरणार्थ—

(१) उठो किसानों के **बेटे सपूतो**। (रेणु, मैला आँचल, १३०)।

(२) **किसान भाइयो**, माँगने से कुछ नहीं मिलेगा। (नागार्जुन, बलचनमा, १७६)।

(३) महाराना संग्रामसिंह. . . .फिर अपने वीरों से बोले : '**मेरे प्यारे साथी सिपाहियों**, लड़ो और खूब लड़ो!' (जहूरबख्श, शबनम, १५४)।

यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, समानाधिकरण और उसका विशेष्य शब्द दोनों सामान्यतः एक ही लिंग के होते हैं, परन्तु यह निरपवाद नियम नहीं है। कभी-कभी दोनों के लिंग में अंतर भी हो सकता है; यथा—

(१) उन्होंने **उस हत्याकांड की शिकार** एक **युवती** की बेवसी का करुण चित्र एक नयी कविता में उपस्थित किया था। (अश्क, छींटे, ५२)।

(२) गाँवों में **सामन्तवादी व्यवस्था का मूलाधार जमींनदारी** अब टूट चुकी है। (हीरा प्रसाद त्रिपाठी आंचलिक उपन्यास, कल्पना, मई, १९५८, पृ० ५८)।

विशेषण और विशेष्य में लिंग-संबंधी इस अननुरूपता के होते हुए भी दोनों में एक शब्दार्थ-गत अंतर होता है जो साधारणतया लिंग के रूप से संबंध नहीं रखता।

हिंदी में समानाधिकरण विशेष्य शब्द के साथ कुछ अन्य अधीन अथवा स्वतंत्र शब्दों के द्वारा भी संयुक्त हो सकता है। संयुक्त करने का यह कार्य संयोजकों—**यानी** या **अर्थात्**—संयोजनात्मक शब्दों—**जैसा, सरीखा, सा**—तथा पूर्ण अर्थद्योतक शब्दों—**नामी**, **नामक** अथवा **नाम का, शीर्षक, उर्फ़, सिफ़त**—के द्वारा होता है; यथा—

(क) संयोजक : (१) एक कोठरी में बैठकर **जित्तन बाबू यानी श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र** जी एक टक खिड़की से देख रहे हैं। (रेणु, परती०, १५)।

(२) ढहती हुई हवेली की एक एक ईंट पर नागरी अक्षर 'प० पु० ह०' का मार्का है, 'प० पु० ह०' **अर्थात् परानपुर हवेली**। (रेणु, परती०, २१)।

(ख) संयोजनात्मक शब्द : (१) गाँव के लोगों के सिरहाने सपने में मँडराते हैं—दुलारी-दाय की धारा में बाढ़ आयी है. . . . . **चाँदी के रुपयों जैसे पोठी मछलियाँ** परती पर झिलमिल पानी में छटपटा रही हैं। (रेणु, परती०, २६९)।

(२) कम्फू की **देवी दुर्गा जैसी लड़की** आ रही है। (रेणु, परती०, ३७९)।

(३) स्वयं अभय का परिवार बहुत बड़ा नहीं था, उसमें अभय के सिवा दो जन और थे— एक उसकी **हीरे सी पत्नी** और दूसरा उसका **फूल सा बच्चा**।

(जहूरबख्श, शबनम, १०६)

(ज) पूर्णार्थ अर्थ द्योतक शब्द—(१) एक दिन प्रेस नोट में यह खबर प्रकाशित हुई कि पुर्णिया जिले के **मीरगंज नामक गाँव** में मलेरिया स्टेशन खोला गया है।

(रेणु, मैला आँचल, ६१)।

(२) श्री सियाराम शरण गुप्त का जन्म झाँसी जिले के अंतर्गत **चिरगाँव नाम के क़स्बे** में हुआ है। (गुलाबराय)

(३) गुलेरी जी ने **उसने कहा था शीर्षक कहानी** में बीच की घटनाओं का वर्णन मरणासन्न लहना सिंह की स्मृति के रूप में किया है। (गुलाबराय)।

(४) उन्होंने **दीनदयाल तिवारी उर्फ़ दीनू** . . . .की उचित खातिर की और जवाब दिया। (रेणु, परती०, १६७)

(५) इस **फ़रिश्ता सिफ़त औरत** पर आपके जैसे पाँच रुपये वाले लाख नोट क़ुर्बान किये जा सकते हैं। (जहूरबख्श, शबनम, ३२)

अन्य शब्दों के द्वारा संयुक्त होने वाले समानाधिकरण विशेष्य के पूर्व या पश्चात् दोनों प्रकार से प्रयुक्त हो सकते हैं, परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रयोगों की स्थिति दृढ़ और अनिवार्य

रूप से निश्चित होती है। इस प्रकार, संयोजनात्मक शब्दों—**जैसा, सरीखा** अथवा **सा** की तथा पूर्णता द्योतक शब्दों—**नामक, नामी, नाम का, शीर्षक** या **सिफ़त** की सहायता से जुड़ने वाले समानाधिकरण सदैव पूर्व-प्रयोग की स्थिति में रहते हैं। **यानी** और **अर्थात्** संयोजकों तथा पूर्णार्थ द्योतक शब्द **उर्फ़** के द्वारा संयुक्त होनेवाले समानाधिकरण सदैव पश्चात्-प्रयोग की स्थिति में रहते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी देखा जा सकता है कि संयोजनात्मक शब्द—**जैसा, सरीखा, सा**—को छोड़कर पश्चात्-प्रयोग के रूप में समानाधिकरण को जोड़नेवाले अन्य शब्दों का समानाधिकरण के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

●

द्वितीय खण्ड : संस्कृति

कृष्णदत्त वाजपेयी

मध्यप्रदेश का कलात्मक वैभव

वर्तमान मध्यप्रदेश में प्राचीन महाकोशल के मुख्य भाग के अतिरिक्त विंध्यप्रदेश तथा सम्पूर्ण मालवा सम्मिलित हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में इन तीनों भूभागों का महत्व रहा है। महाकोशल या दक्षिण कोशल का वह भाग जिसमें होकर नर्मदा नदी बहती है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नर्मदा के तट पर अनेक प्राचीन बस्तियों के अवशेष मिले हैं। यह नदी दक्षिण कोशल से मालव-प्रदेश में बहती हुई पश्चिम को जाती है। इसके तटवर्ती जबलपुर नरसिंहपुर तथा होशंगाबाद ज़िलों में और मालव प्रदेश के निमाड़ और धार ज़िलों के अनेक स्थानों में विविध प्रागैतिहासिक हथियार आदि तथा चित्रित गुफाएँ मिली हैं। इनके द्वारा इस प्रदेश में बसने वाले आदि-मानव की सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है। मालव के कई प्राचीन स्थानों—महेश्वर, नवदातोली, नागदा और उज्जैन में हाल में जो उत्खनन तथा सर्वेक्षण कार्य हुए हैं, उनके द्वारा प्रागैतिहासिक काल के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। ऐतिहासिक काल में उज्जयिनी तथा विदिशा—मालव के ये दो प्रमुख राजनैतिक एवं सांस्कृतिक केंद्र हुए। मालव-प्रदेश का पूर्वी भाग 'आकर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसकी राजधानी विदिशा थी। पश्चिमी भाग 'अवन्ती' कहलाया, जिसका केंद्र उज्जयिनी नगरी हुई। ई० पूर्व छठी शती से मालव का प्राय: क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। लगभग ई० पूर्व दूसरी शती से यहाँ तथा इसके उत्तर कई स्थानों पर ललित कला का विकास हुआ। इनमें साँची, विदिशा, एरण, पवाया (पद्मावती) और मंदसौर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक विंध्यप्रदेश का अधिकांश प्राचीन काल में 'चेदि जनपद' के नाम से प्रख्यात था। बाद में इसे 'जेजाकभुक्ति' कहने लगे तथा परवर्ती नाम 'बुंदेलखंड' और 'बघेलखंड' प्रसिद्ध हुए। कला की दृष्टि से यह भूभाग बहुत समृद्ध है। सतना ज़िले में स्थित भरहुत नामक स्थान पर ईसवी पूर्व दूसरी शती में एक विशाल बौद्ध-स्तूप का निर्माण हुआ। इस स्तूप के बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष इस समय कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय, प्रयाग के संग्रहालय तथा रामवन (ज़िला सतना) में सुरक्षित हैं। गुप्त-वाकाटक-काल में विंध्यप्रदेश के अनेक भागों में कला की उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण हुआ। भूमरा और नचना-कुठारा के शैव मंदिर और मूर्तियाँ तथा खोह, उँचेहरा, नागौद आदि स्थानों से प्राप्त कलाकृतियाँ यह सूचित करती हैं कि चौथी-पाँचवीं शती में विंध्यप्रदेश में भारतीय कला की बड़ी श्रीवृद्धि हुई। मध्यकाल में इस प्रदेश में चंदेलों का शासन हुआ, जो अपनी कलाप्रियता के लिए प्रख्यात हैं। उनके द्वारा बनवाये गये खजुराहो के मंदिर इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

महाकोशल-प्रदेश में गुप्त-शासन-काल के बाद उल्लेखनीय राजवंश कलचुरियों का हुआ। उनकी कई शाखाएँ थीं। इनमें त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि-राजवंश विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनके राज्यकाल में महाकोशल तथा विन्ध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में कलाकृतियों का निर्माण हुआ। इन स्थानों में त्रिपुरी और रतनपुर के अतिरिक्त नोहटा, अमरकंटक, चंदरेह, सुहागपुर, मढ़पिपरिया आदि स्थान उल्लेखनीय हैं।

मध्यप्रदेश के कलात्मक अवशेषों में सबसे प्राचीन उन गुफाओं के चित्र कहे जा सकते हैं जो यहाँ के कतिपय स्थानों में मिले हैं। इनमें होशंगाबाद, पचमढ़ी, रायगढ़, सिंघणपुर आदि के चित्रित गह्वर आते हैं। हाल में सागर जिले में नरयावली तथा आबचंद नामक दो स्थानों में चित्रित गुफाओं का पता चला है। इन गुफाओं में निवास करने वाला आदिम मानव अनेक रंगों द्वारा विविध प्रकार के चित्र बनाता था। इन चित्रों के मुख्य विषय मृगया, पशुओं पर सवारी, गाना-बजाना, और नृत्य हैं। कला की दृष्टि से ये चित्र वनचर मानव के प्रारंभिक प्रयास होने के कारण बड़े रोचक हैं। आदिम लोग पाषाणों के अनेक प्रकार के हथियार भी बनाते थे। बाद में धातु का भी प्रयोग विविध अस्त्रों के लिए होने लगा। मध्यप्रदेश के अनेक स्थानों से इस प्रकार के हथियार मिले हैं।

ऐतिहासिक युग में आने पर हम पाते हैं कि मौर्य-काल में उत्तर भारत के अनेक स्थानों में स्तूपों का निर्माण हुआ। सम्राट् अशोक ने साँची में भी एक बड़े स्तूप का निर्माण कराया, जहाँ उसका एक स्तंभ-शिलालेख भी मिला है। अशोक का दूसरा लेख जबलपुर से लगभग ३० मील दूर रूपनाथ नामक स्थान में एक चट्टान पर उत्कीर्ण है। मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग में अंबिकापुर जिले में रामगढ़ नामक पहाड़ी की गुफाओं में मौर्यकालीन कई लेख उपलब्ध हैं। इन लेखों से प्रतीत होता है कि यहाँ पर संभवतः एक प्राचीन नाट्यशाला थी, जिसके समीप ही नर्तकियों के निवास की भी व्यवस्था थी।

साँची में अशोक के द्वारा जिस स्तूप का निर्माण कराया गया उसके चारों ओर शुंग-काल में एक अलंकृत वेदिका का निर्माण हुआ। इस वेदिका के तोरण-द्वार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पर भगवान् बुद्ध के जीवन-संबंधी दृश्य, उनके पूर्व जन्म की कथाएँ तथा लोक-जीवन-संबंधी विविध दृश्य अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से दिखाये गये हैं। भरहुत-स्तूप का निर्माण साँची-वेदिका के कुछ ही पहले सम्पन्न हुआ। वहाँ की कला में भी अनेक जातक-कथाओं के अतिरिक्त यक्ष-यक्षियों, नाग-नागियों आदि की बहुसंख्यक मूर्तियाँ मिली हैं। साँची और भरहुत—दोनों जगह नारी के श्री रूप की अभिव्यक्ति के साथ प्राकृतिक दृश्य तथा विविध अलंकरण सुरुचिपूर्ण ढंग से उत्कीर्ण मिलते हैं। अनेक प्रकार के धार्मिक और सामाजिक उत्सवों, आमोद-प्रमोदों तथा शृंगार की विविध रीतियों को जिस यथार्थ ढंग से पाषाण पर चित्रित किया गया है, उससे तत्कालीन कलाकारों की प्रतिभा का पता चलता है। साँची और भरहुत दोनों स्थानों पर भगवान् बुद्ध का मूर्त्तरूप में आलेखन नहीं मिलता, केवल उनसे संबंधित प्रतीक मात्र मिलते हैं—यथा, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, मुकुट आदि। शुंगकालीन समाज के अध्ययन के लिए साँची और भरहुत की कला में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। शुंगकाल के अंतिम समय की एक अभि-

पृथिवी का उद्धार करते हुए विशाल वराह-प्रतिमा का सामने का भाग

[एरण; गुप्त काल]

द्वारस्तंभ का निचला भाग, जिस पर परिचारिकाओं सहित मकरारूढ़ा गंगा दिखायी गयी हैं।

खजुराहो से; पूर्व मध्यकाल (प्रयाग संग्रहालय)।

सांची तोरण-द्वार के एक भाग का दृश्य––समय : लगभग ई० पू० १०० । नीचे सुसज्जित हाथी तथा अशोक वृक्ष के नीचे सन्नतांगी स्त्री-प्रतिमा है। मध्य में सवारी करते हुए लोग हैं तथा एक ओर ऋष्यश्रृंग की कथा का आलेखन है। ऊपर धर्मचक्र की पूजा तथा आम्रफल तोड़ती हुई युवती का आलेखन है।
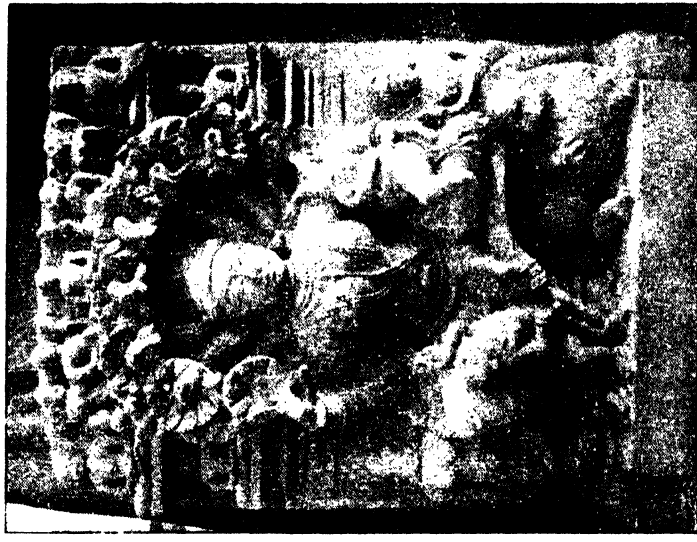
गोद में बालक लिए जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका; पूर्व मध्यकाल, विदिशा से।

लिखित यक्ष-प्रतिमा पवाया से मिली है। इसके लेख से पता चलता है कि यह मणिभद्र यक्ष की मूर्ति है। इसी समय की एक अन्य विशाल यक्ष-प्रतिमा हाल में विदिशा में मिली है।

ईसवी पूर्व दूसरी शती में हेलियोदोर (हेलियोडोरस) नामक एक यूनानी राजदूत ने वर्तमान विदिशा नगर के पास बेसनगर नामक स्थान में भगवान् विष्णु के सम्मान में गरुड़ध्वज सहित एक स्तम्भ का निर्माण कराया, जैसा कि स्तंभ पर लिखे हुए ब्राह्मी लेख से पता चला है। यह खंभा सम्राट् अशोक के स्तंभों के ढंग का है और इस बात का सूचक है कि शुंग काल में वैष्णव धर्म का प्रभाव विदेशियों पर भी पड़ने लगा था।

कुषाण-सातवाहन-काल (ई० प्रथम-द्वितीय शती) में वर्तमान जबलपुर ज़िला के त्रिपुरी स्थान में कई बौद्ध-विहारों का निर्माण हुआ। उनके कुछ अवशेष त्रिपुरी की खुदाई से प्राप्त हुए हैं। कुषाणों तथा सातवाहन राजाओं के अनेक सिक्के भी त्रिपुरी तथा दक्षिण-पूर्वी मध्य-प्रदेश के कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इस काल में निर्मित बौद्ध तथा हिंदू देवों की अनेक प्रतिमाएँ साँची तथा ग्वालियर-संग्रहालय में हैं।

गुप्त-वाकाटक-काल में इस प्रदेश में कला की विशेष उन्नति हुई। सागर ज़िला के एरण नामक स्थान से गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त का एक लेख मिला है, जिससे पता चलता है कि इस नगर को इस शासक ने 'स्वभोग नगर' (अपने आमोद-प्रमोद का नगर) बनाया था। गुप्त-काल के अनेक महत्वपूर्ण कलावशेष एरण से मिले हैं। इनमें भगवान् विष्णु तथा वराह की विशाल प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। गुप्त-काल में महाविष्णु का जो मंदिर एरण में बनाया गया, उसमें मध्य में विष्णु की मूर्ति तथा अगल-बगल वराह और नृसिंह की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की गईं। भगवान् विष्णु की प्रतिमा चतुर्भुजी है। वे लम्बी वनमाला धारण किये हैं। इस मंदिर के गर्भगृह के द्वार पर एक ओर गंगा तथा दूसरी ओर यमुना की मूर्तियाँ उत्खचित हैं। गुप्त-काल में मंदिरों के द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा रूढ़-सी हो गई थी। कालिदास ने इसका उल्लेख महादेव जी के विवाहोत्सव पर इस प्रकार किया है—

"मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।" (कुमारसंभव ७, ४२)। अर्थात् मूर्तरूप में गंगा और यमुना हाथ में चँवर लिए हुए उस समय महादेव की सेवा में विद्य-मान थीं।

एरण की वराह-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस पर वल्कलधारी तथा कमंडलु लिए हुए ऋषियों का अंकन बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। विद्याधरों तथा ब्रह्मा आदि देवों की प्रतिमाएँ भी उस पर उत्कीर्ण हैं। वराह के गले में जो भारी माला है उस पर अन्य अलंकरणों के साथ कई राशियों का चित्रण है। वराह भगवान् ने पृथिवी को अपने दाहिने दाँत पर उठा लिया है। पृथिवी का इस प्रकार उद्धार करते हुए वराह की अनेक प्रतिमाएँ गुप्तकाल में और उसके बाद निर्मित हुईं। विदिशा तथा एरण में ऐसी कई प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

वराह-मूर्ति पर हूणशासक तोरमाण के प्रथम राज्य-वर्ष का ब्राह्मी लेख खुदा है। इसमें एरण के प्रादेशिक शासक मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु के द्वारा एक मंदिर बनवाने का

उल्लेख है। गुप्तकालीन एक दूसरा लेख विष्णु-मंदिर के सामने स्थित गरुड़ध्वज-स्तम्भ पर भी उत्कीर्ण है। इस विशाल स्तम्भ के ऊपर सर्प पकड़े हुए गरुड़ की मूर्ति आमने-सामने बनी है। गरुड़ की यह मूर्ति मानवाकार है। खम्भा नीचे चौपहला तथा ऊपर अठपहला है। इस पर उत्कीर्ण लेख में गुप्त संवत् १६५ (४८४ई०) दिया हुआ है और गुप्त सम्राट् बुधगुप्त का नाम अंकित है। नौ पंक्तियों के इस लेख में यह लिखा है कि बुधगुप्त के राज्यकाल में यमुना और नर्मदा नदियों के बीच वाले प्रदेश के शासक सुरश्मिचंद्र थे। उनके अधीन एरण के विषयपति मातृ-विष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने, लेखक के अनुसार, जनार्दन विष्णु का यह ध्वजस्तम्भ स्थापित किया।

गरुड़ध्वज-स्तम्भ के समीप ही गुप्तकालीन स्तम्भों की एक पंक्ति है। इन पर मंगलघट, मिथुन, पत्रावली आदि का सुंदर चित्रण है। इन खंभों के नीचे जो आधार हैं उन पर अनेक पौराणिक दृश्य दिखाये गये हैं। इनमें कृष्णलीला-संबंधी दृश्य—यमलार्जुनोद्धार, कालिय-दमन, यशोदा-कृष्ण आदि—विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी शिलापट्ट गुप्तकालीन हैं। संभव है कि इस प्रकार के अन्य शिलापट्ट यहाँ ज़मीन के अंदर दबे हों।

गरुड़ध्वज-स्तम्भ के दूसरी ओर प्राचीन भग्न प्रतिमाओं का एक ढेर है। इसमें कई मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। अशोक वृक्ष की डाल पकड़े, विविध आभूषणों से अलंकृत शालभंजिका की एक मूर्ति दर्शनीय है। इसके पृष्ठभाग पर भी ऐसी ही छवि अंकित है। निर्माण-शैली के आधार पर इसका समय ई० पू० प्रथम शती ठहरता है। इस प्रकार की सन्नतांगी स्त्रियों की प्रतिमाएँ साँची और मथुरा की कला में भी प्राप्त हैं। अन्य मूर्तियों में शेषशायी विष्णु, त्रिविक्रम तथा अनेक उत्कीर्ण इमारती पत्थर हैं। एरण गाँव के समीप बीना नदी के तट पर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह की एक सर्वांगपूर्ण मूर्ति पड़ी है, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि वह महेश्वरदत्त तथा वराहदत्त के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी।

एरण से कुछ दूर विदिशा और उसके पास उदयगिरि की गुफाएँ गुप्तकालीन कला-कृतियों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। विदिशा में यक्ष-यक्षियों तथा नाग-नागियों की कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। उदयगिरि की गुफाओं में सबसे महत्वपूर्ण मूर्ति वराह की है। इस विशाल प्रतिमा में वराह भगवान् का सुगठित, ओजपूर्ण शरीर तथा उनके द्वारा पृथिवी का उद्धार अत्यन्त सजीव ढंग से दिखाया गया है। उदयगिरि की गुफाओं में गुप्तकालीन अन्य कई मूर्तियाँ तथा अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इनमें से अधिकांश चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के हैं।

जबलपुर ज़िले में तिगवाँ नामक स्थान पर गुप्तकालीन एक मंदिर मिला है, जिसमें अन्य कलाकृतियों के साथ आकर्षक मुद्रा में खड़ी हुई यमुना की एक सुन्दर मूर्ति है। इसी ज़िले में सपाट छत वाले अन्य अनेक गुप्तकालीन मंदिर हैं। रायपुर ज़िले में राजीम नामक स्थान से भी गुप्त युग की अनेक सर्वांगपूर्ण कलाकृतियाँ मिली हैं।

विंध्यप्रदेश में जो स्थान गुप्तकालीन कला के लिए विशेष महत्व के हैं उनके नाम

नचना, भूमरा, नागौद, उँचेहरा तथा मढ़खेरा हैं। नचना में पार्वती का मंदिर तथा उसकी प्रतिमाएँ उच्च कोटि की हैं। यहाँ की चतुर्मुखी शिवमूर्ति कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। भूमरा का शिव-मंदिर भी उल्लेखनीय है। इसमें शिव-पार्वती, सूर्य, गंगा, यमुना आदि की मूर्तियों के अतिरिक्त विविध मुद्राओं में शंकर के गण तथा अनेक अलंकरण बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से दिखाये गये हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला की बारीकियों को समझने के लिए भूमरा की कलाकृतियाँ देखी जा सकती हैं। नागौद से पुष्पित वृक्ष की डाल पकड़े, आकर्षक भाव-भंगिमा में खड़ी हुई शाल-भंजिका-मूर्ति मिली है। इसका अंग-सौष्ठव दर्शनीय है। उँचेहरा गुप्तकाल में उच्चकल्प के राजाओं का केंद्र था। यहाँ गुप्तकालीन एकमुखी तथा चतुर्मुखी अनेक शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। टीकमगढ़ के समीप मढ़खेरा नामक स्थान में सूर्य का मंदिर है, जिसकी अधिकांश गुप्तकालीन मूर्तियाँ अब भी सुरक्षित हैं।

ग्वालियर के समीप पवाया (पद्मावती) से भी इस काल की अनेक कलाकृतियाँ मिली हैं। एक शिलापट्ट पर गीत, वाद्य और नृत्य का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। यहाँ से प्राप्त अभयमुद्रा में सूर्य-मूर्ति तथा ताड़पत्रों से सुशोभित एक स्तंभ-शीर्ष भी उल्लेखनीय हैं। पद्मावती से मिट्टी की बनी हुई अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। पाँचवीं-छठी शती में वर्तमान मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती मंदसौर नामक स्थान भी ललित कला और व्यवसाय का एक अच्छा केंद्र बना। इसका तत्कालीन नाम दशपुर था। यहाँ से प्राप्त अनेक कलापूर्ण मूर्तियों और अभिलेखों से दशपुर नगर की समृद्धि तथा वहाँ के कलाप्रेमी जनों की रुचि का पता चलता है। संवत् ५२९ वि० (४७२ ई०) का एक लेख दशपुर से मिला है। इसमें उस नगर तथा वहाँ के निवासियों के काव्यमय वर्णन के बाद दशपुर के रेशम-व्यवसायियों द्वारा तैयार किये गये वस्त्रों का वर्णन इस प्रकार मिलता है —

"तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदश्र्यां यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥"

अर्थात् यौवन और सौंदर्य-सम्पन्न महिलाएँ, चाहे वे स्वर्णहार तथा ताम्बूल-पुष्पादि से अलंकृत क्यों न हों, तब तक अपने शृंगार को अपूर्ण मान कर प्रिय के पास जाने में लजाती हैं जब तक उनके पास दशपुर का बना हुआ रंगीन रेशमी वस्त्रयुगल न हो।

प्राचीन काल में विज्ञापन का यह कैसा सुंदर उदाहरण है! दूसरे श्लोक में कपड़ों की बारीकी और उनकी लोकप्रियता का कथन इस प्रकार है—

"स्पर्शवता वर्णान्तर विभागचित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैः सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण॥"

अर्थात् ये वस्त्र छूने में मुलायम हैं, विविध रंग-वैचित्र्य से युक्त हैं और आँखों को आनन्द प्रदान करने वाले हैं। यह सारी पृथिवी इन रेशमी वस्त्रों द्वारा अलंकृत कर दी गई है।

दक्षिण मालव में बाघ (प्राचीन व्याघ्र) स्थान की गुफाओं की चित्रकला भी गुप्तकालीन है। बाघ में प्राप्त राजा सुबंधु के गुप्तकालीन ताम्रपत्र से यह बात प्रमाणित होती है। इस लेख से

पता चलता है कि माहिष्मती के राजा सुबंधु के द्वारा भगवान् बुद्ध की पूजा तथा भिक्षुओं के निर्वाह के लिए एक गाँव का दान किया गया। बाघ के भित्ति-चित्रों में से अनेक नष्ट हो चुके हैं, परन्तु जो बचे हैं उनसे इस कला की उत्कृष्टता का पता चलता है। एक स्थान पर संगीत का रोचक दृश्य चित्रित है, जिसे प्राचीन 'हल्लीसक-नृत्य' का उदाहरण कहा जा सकता है। पत्रावली आदि विविध अलंकरण भी यहाँ की कला में सजीवता के साथ आलेखित हैं। बोधिसत्वों की अनेक कलाकृतियों का तथा नारी के विविध भावों का चित्रण भी बड़ी सुरुचि के साथ किया गया है।

मध्यकाल में मध्यप्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास हुआ। इनमें खजुराहो, ग्वालियर, सुहानियाँ, ग्यारसपुर, उदयपुर, करीतलाई, रतनपुर, सिरपुर, सोहागपुर, गुरगी आदि स्थानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। खजुराहो में चंदेलों के शासन-काल में संसारप्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण हुआ। अधिकांश मंदिर शैव हैं; कुछ वैष्णव तथा जैन हैं। इन मंदिरों का निर्माण अत्यंत कुशल कलाकारों द्वारा संपन्न हुआ। इनकी निर्माण-शैली उत्तर-भारत की शिखर-शैली के रूप में प्रसिद्ध है। ये ऊँची कुर्सियों पर बने हैं। उनमें अर्द्ध-मंडप, मंडप, महामंडप, अंतराल तथा गर्भ-गृह—ये पाँच भाग दिखाये गये हैं। इसे 'पंचायतन-शैली' कहते हैं। मंदिर का प्रायः सम्पूर्ण भाग अनेक आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई स्त्री-पुरुषों की प्रतिमाओं तथा विविध कलापूर्ण अलंकरणों से मंडित है। विविध देवी-देवताओं तथा उनके पार्श्वचरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त लोक-जीवन के कितने ही मनोरंजक दृश्यों को इन मंदिरों पर शाश्वत रूप प्रदान किया गया है। सौंदर्य और शृंगार का यहाँ इतनी विविधता के साथ अंकन मिलता है कि दर्शक आश्चर्यचकित रह जाता है।

ग्वालियर तथा उसके समीप सुहानियाँ, पधावली, मितावली आदि स्थानों से अनेक मध्यकालीन प्रतिमाएँ मिली हैं। पूर्व-मध्यकालीन हिंदू-कला के विकास का अध्ययन करने के लिए ये विशेष उपयोगी हैं। ग्वालियर में सास-बहू तथा तेली का मंदिर, ग्यारसपुर का मंदिर तथा विदिशा ज़िले में उदयपुर का प्रसिद्ध उदयेश्वर मंदिर भी कला की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। ये मंदिर शिखर-शैली के हैं। इनमें खजुराहो वाली अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं। पश्चिमी मालवा में धार, मांडू, विजयगढ़, बरवानी आदि अनेक स्थानों में भी ई० ७वीं से १३वीं शती तक मूर्तियों तथा प्रतिमाओं का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। महाकोशल में करीतलाई, रतनपुर, सिरपुर, सुहागपुर, अमरकंटक आदि स्थान मध्य-काल में कला के प्रमुख केन्द्र हुए। वहाँ वैष्णव तथा शैव-धर्म संबंधी देवी-देवताओं के मंदिरों तथा प्रतिमाओं का बहुत बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। केवल सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) से अनेक बौद्ध प्रतिमाएँ भी मिली हैं। इनमें पाषाण-मूर्तियों के अतिरिक्त बुद्ध-बोधिसत्व आदि की कलापूर्ण कांस्य प्रतिमाएँ भी हैं। प्राचीन मूर्ति-विज्ञान के विकास को समझने के लिए इनका विशेष महत्व है। चंदेलों की तरह कलचुरि-शासक भी कला के प्रेमी थे। उनके समय में विंध्यप्रदेश के गुरगी, चंदरेह आदि स्थानों में कितनी ही कलापूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। ग्वालियर के सास-बहू तथा तेली के मंदिर, सुहानियाँ, सुरवाया और कदवहा के मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से भी महत्व के हैं।

तेरहवीं शती के बाद भी मध्यप्रदेश के अनेक भागों में कला का विकास जारी रहा। जैन-मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण अब विशेष रूप से हुआ। सोनागिरि, ग्वालियर, आहार आदि कई स्थानों में परवर्ती जैन प्रतिमाएँ मिली हैं। छोटे दुर्ग भी अनेक महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित होने लगे। इन्हें गढ़ या गढ़ी कहते थे। बैरागढ़, राहतगढ़, दुर्ग, सिरपुर, धामौनी आदि स्थानों में ये दुर्ग देखे जा सकते हैं। मुसलमानी शासनकाल में निर्मित जो इमारतें स्थापत्य की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं वे मांडू, धार तथा चँदेरी के अनेक महल, मस्जिदें और महराबें हैं।

●

एच० डी० संकालिया

आर्य समस्या: भारतीय-ईरानी संबंधों पर नया प्रकाश

आर्य बाहर से आये, तो कब और कहाँ से आये—यह प्रश्न काफ़ी दिनों से विचाराधीन है। रूढ़िवादी दृष्टिकोण है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में आर्यों के विदेशी होने और भारत आने का कोई निर्देश नहीं है। परन्तु ई० १५८८ में ही फ़्लोरेंस के व्यापारी फिलिप्पो मास्सेट्टी ने संस्कृत, ईरानी, ग्रीक, लैटिन तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में अत्यधिक भाषावैज्ञानिक समानता की पहचान की थी। पूरे दो सौ वर्षों बाद, ई० १७८६ में सर विलियम जोन्स ने इन भाषाओं की एकस्रोतीय उत्पत्ति विषयक अपना मत प्रतिपादित किया। भाषावैज्ञानिक साम्य का पोषण करते हुए मैक्सम्यूलर ने इस समस्या का स्पष्टीकरण किया और उनका कथन है कि यह मात्र भाषावैज्ञानिक प्रश्न है, इससे जाति विवक्षित नहीं है। इस मत का पेन्का ने घोर विरोध किया है और मूल आर्य अथवा भारतीय-जर्मन जाति के अस्तित्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। परन्तु इस विवाद का संबंध आर्यभाषाभाषी नृवंश के उद्गम-स्थान से है। यह जहाँ कहीं भी हो, बहुमत दक्षिण रूस में मानता है। माना जाता है कि मूल भारोपीय उद्गम-स्थल छोड़ने के बाद, घूमते हुए भारतीय-ईरानी सम्मिलित क़बीले पामीर प्रदेश, वक्षु और सर की इरान्वेज तलहटी में बस गये। निश्चय ही यह मत जरथुस्थु-पूर्व के यश्त और प्राचीन वैदिक साहित्य में परिलक्षित सांस्कृतिक सादृश्य पर आधारित है। यह कहा जाता है कि ईरान की प्राचीन आर्य संस्कृति और प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति में बहुत कम अंतर किया जा सकता है, क्योंकि दोनों की मूल भारतीय-ईरानी संस्कृति है।

परन्तु यह सांस्कृतिक सादृश्य भारत से प्राप्त भारतीय-ईरानी वस्तुओं से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, न हम भारत में भारतीय आर्य-आगमन का ही काल निर्धारित कर सकते हैं। ऋग्वेद और ईरानी गाथाओं के भाषाशास्त्रीय अध्ययन से १०००-१५००ई० पू० का अनुमान किया जाता है। इसके आधार पर आस्ट्रियावासी नृतत्वज्ञ हाइने गेल्डर्न ने हमारा ध्यान गंगाघाटी तथा लूरिस्तान और दक्षिण रूस से प्राप्त कुछ काँसे की वस्तुओं के सादृश्य की ओर आकर्षित किया था। हाल ही में सर मार्टिमर ह्वीलर ने मोहनजोदड़ो और हरप्पा के क़िलेबंद नगरों को आर्य-पूर्व दुर्ग (पुर) माना है, जिन्हें आक्रामक आर्यों ने अपने युद्धदेवता इन्द्र के सेनापतित्व में नष्ट किया था; यद्यपि यह आर्य आक्रमण के सिद्धान्त-प्रतिष्ठापन का प्रमुख चरण था। विद्वानों को आर्यों द्वारा छोड़ी गयी या ईरान से लायी गयी सुनिश्चित वस्तुएँ नहीं मिल सकी हैं। वस्तुतः, यदि कुछ रहा भी हो तो उनका मृत्तिका भाण्ड-खण्डों या अन्य

वस्तुओं के रूप में भेद कर पाना दुःसाध्य है, अतः हम उनकी सांस्कृतिक सज्जा और उनके जीवन के उपादानों के बारे में बहुत थोड़ा जान सके हैं।

इस सौ वर्ष पुरानी समस्या पर, पूना के डेक्कन कालेज के पोस्ट ग्रेजुएट और रिसर्च संस्थान तथा एम० एस० विश्वविद्यालय बड़ौदा द्वारा मध्य प्रदेश सरकार के सहयोग से नियोजित, महेश्वर और नवदाटोली की खुदाइयों से प्रथम बार निश्चित प्रकाश पड़ा है।

महेश्वर नर्मदा के उत्तर तट पर स्थित है। ठीक दूसरी ओर नवदाटोली है। पहला होल्करों के अधीन बुनकर उद्योग तथा सुन्दर मंदिरों और घाटों से समृद्ध नगर था। दूसरा मल्लाहों का छोटा सा गाँव है। ये दोनों मालवा से दक्षिण के प्राचीन मार्ग पर अवस्थित हैं, और यहाँ प्राचीन काल से आज तक घटवारी होती आयी है। स्वयं नर्मदा यहाँ नौगम्य है, और सड़कों के प्रचलन से पहिले, पूर्व से पश्चिम भारत में अन्न, लकड़ी तथा अन्य भारी सामान ले जाने के लिए मुख्य व्यापारिक साधन थी।

'महाभारत' और पुराणों से ज्ञात होता है कि नर्मदा घाटी को यदु के यादवों की शाखा हैहयों ने बसाया था। मूलतः यदु ऋग्वेद में उल्लिखित आर्य जन थे—इन्होंने नाग कुल की कन्या से विवाह किया था। अन्ततः इन्होंने नागों को नर्मदा-घाटी से खदेड़ दिया और माहिष्मती (अधुना महेश्वर) तथा अन्य स्थानों में बस गये।

इस प्रकार धुंधले अतीत में नर्मदा-घाटी में आनुपूर्वी सांस्कृतिक तथा जातीय वर्गों के बसने की अविच्छिन्न परंपरा थी।

यद्यपि कंकालों और लिखित साक्ष्यों के अभाव में आज दिन भी हम इनका नृवंश नहीं जान सके हैं, किंतु इस वर्ष और पिछले वर्ष हुई नवदाटोली की बड़ी खुदाई तथा १९५२-५३ ई० में महेश्वर तथा नवदाटोली की गहरी खुदाई हमें परंपरा को उचित परिपार्श्व में देखने में सहायता करती हैं, और हमें प्रथम वासियों की सांस्कृतिक प्रगति तथा उनके साज-सामान के स्रोत अथवा स्रोतों का पता देती हैं। यह दूसरी बात अप्रत्याशित महत्व की है, क्योंकि उत्खनित वस्तुओं का काल-निर्धारण कार्बन-१४ विधि से हुआ है।

सार रूप में साक्ष्य यह है: पाषाण-काल के काफ़ी बाद, जिसका नर्मदा तट पर महेश्वर में अच्छा प्रमाण मिलता है, लोग घाटी और नर्मदा के दोनों किनारों पर ऊँची काली कछार भूमि में बस गये। नवदाटोली का अधिवास पूर्व-पश्चिम में ९०० फ़ीट और उत्तर-दक्षिण में ६०० फ़ीट फैला हुआ है (यद्यपि मूल अधिवास अधिक विस्तृत रहा होगा, क्योंकि यह स्थान ४ विभिन्न ऊँचाइयों में काटा गया है, और दिया हुआ क्षेत्रफल भलीभाँति उत्खनित ऊँचाई का है)।

लोग पास-पास खड़े किये गये काष्ठ-स्तम्भों पर बाँस की चटाई और मिट्टी डाल कर बने आयत, समायत अथवा गोल घरों में रहते थे। मिट्टी की दीवारों और तलों को चिकना करने और कीड़ों से बचाने के लिए चूने का हल्का पलस्तर किया जाता था। कमरे या आँगन के एक कोने में चूने से पुता बड़ा तिमुँहा चूल्हा होता था, ठीक जैसा कि बम्बई के कुछ घरों में आज भी पाया जाता है। सम्भवतः एक विशेष कमरा कोठार के उपयोग में आने के लिए अलग कर दिया

जाता था, क्योंकि हमें दो जगहों पर ८-१० फ़ीट के लगभग पूरे कमरे मिलते हैं, जहाँ छोटे और बड़े भाण्ड चौकोर और गोल अलंकृत आधारों पर मिले हैं। इनके अलावा वहाँ खान-पान के सुन्दर कलात्मक साज-सामान होने का प्रमाण मिलता है। खाने, पीने तथा पानी रखने के लिए ये सुन्दर चित्रित प्यालों, कुज्जों तथा तश्तरियों (जिनमें बहुत सी गोड़ेदार भी हैं) और अन्य बर्तनों का प्रयोग करते थे। अधिकांश लाल ज़मीन पर काले रंग से चित्रित हैं। कुछेक में ज़मीन सफ़ेद या हल्की पीली है और थोड़े से काली सतह पर सफ़ेद चित्रित हैं।

यद्यपि इन चित्ररूपों का ज्यामितीय, मानव और पशु अथवा स्वाभाविक वर्गों में विभाजन किया जा सकता है, विभिन्न क्रम-चय और संहतियाँ अपरिमित हैं और सुकुमार कुज्जों की (वस्तुतः ये सुरा चषक ही हैं—ठीक आज जैसे) ललित रूप-रेखा पर या गोड़ेदार तश्तरियों की चौड़ी ओठों पर ये सुन्दर लगती हैं, और हमें ऐसी भंगुर वस्तुओं पर इतना परिश्रम करने वाले कलाकारों के धैर्य और चातुर्य पर आश्चर्य होता है।

मृत्तिकापात्र निर्माण की इस उन्नतिशील कला के अधिकारी होते हुए भी ये सहस्रों की संख्या में प्राप्त हुए पत्थर के औज़ारों और शस्त्रों का प्रयोग करते थे। ताँबा और काँसा विरल थे, यद्यपि ताँबे की कुछ चपटी कुदालें, पिनें और छेनियाँ प्राप्त हुई हैं। उन्हें कृषि का ज्ञान था और वे गेहूँ, चावल, चना, मटर और मसूर खाते थे—लगभग यही सब आज भी मालवी लोग खाते हैं।

आठ या दस क्रमिक तलों और तीन मुख्य अग्निकाण्डों के साक्ष्य पर हमें नवदाटोली अधिवास के जीवन-काल के संबंध में १००० ई० पू० के आस-पास लगभग ५०० वर्षों का अनुमान होता है। पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के भौतिक शास्त्र-विभाग ने सौजन्यपूर्वक कार्बन-१४ विधि से प्राप्त कोयला हुए अन्न और काष्ठ-स्तम्भों के नमूनों को परखा है और इस प्रकार प्राचीनतम अधिवास का काल १६०० ई० पू० या कुछ और पहले निश्चित माना जा सकता है। अन्तिम अधिवास लगभग ११०० ई० पू० का है जब कि वह गंगाघाटी की मृत्भाण्ड परंपरा वाले लौह प्रयोगी लोगों द्वारा छोड़ दिया गया था अथवा नष्ट कर दिया गया था।

नवदाटोली के चित्रित भाण्ड मात्र अपने रूपों और कलारूपों के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, वरन् गोड़ेदार कुज्जे या कटोरे, टोंटीदार चायदानी जैसे बर्तन और प्याले, हिस्सार, टेपेगियान और पूर्वी ईरान के सिआल्क जैसे स्थानों से प्राप्त तत्सदृश बर्तनों की याद दिलाते हैं, और अर्नेस्ट हर्त्सफ़ेल्ड के मतानुसार ठीक इन्हीं प्रदेशों में होते हुए यायावर भारतीय-ईरानी (आर्य) क़बीले भारत में आये थे। इन जगहों के ये बर्तन २००० ई० पू० से ७०० ई० पू० के माने जाते हैं। नवदाटोली के बर्तन सीधे आयात नहीं हैं—बड़ी संख्या में पाया जाना और जोड़े या हत्थे के अभाव जैसा रूपान्तर इन्हें ईरानी रूपाकारों का भारतीय संस्करण सिद्ध करता है। ईरान और मध्य भारत के रूपाकारों के ऐसे निकट सादृश्य से ईरान से मध्य भारत की तरफ़ अफ़गानिस्तान और पंजाब अथवा बलूचिस्तान, सिंध, सौराष्ट्र होकर विचारों तथा लोगों के निस्सरण का अनुमान किया जाता है।

पर यह संबंध अथवा निरसन दिक् अथवा काल में सीमित नहीं था। यह अविच्छिन्न था और भारत में सौराष्ट्र, राजपूताना, मालवा, खानदेश, महाराष्ट्र और मैसूर तक विस्तृत रहा है। यह इन सब प्रदेशों से प्राप्त एक-से मृत्तिका-भाण्डों के रूप-गठन से स्पष्ट है। इनके अन्तर स्थानीय हैं, और क़बीलों के वैभिन्य का निर्देश करते हैं।

जब हम मध्य भारत और ईरान के स्तरीकृत स्थलों के मृत्तिका-भाण्डों के विशिष्ट रूपों और कला-रूपों का भाषावैज्ञानिकों द्वारा अनुमानित काल १६००-११०० ई० पू० के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं, तो यह कहना कि इनमें से कुछ क़बीले आर्य थे, अत्युक्ति न होगी। पर अभी हमें मालवा, राजपूताना, सौराष्ट्र तथा भारतीय-ईरानी सीमाप्रदेशों की जाँच-पड़ताल कर ईरान और भारत के बीच इस लम्बे निस्सरण का अन्वेषण करना शेष है।

●

लोचनप्रसाद पांडेय

संस्कृत साहित्य में 'महाकोशल' शब्द का प्रयोग

संस्कृत साहित्य में 'कोशल' नाम सुविदित है। कोशलेश्वर, कोशलेश, कोशलाधिपति इत्यादि शब्दों का प्रयोग संस्कृत भाषा के काव्यों में प्रचुरता से पाया जाता है। कविकुल गुरु कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' में कई स्थलों पर हमें 'कोशल' नाम से युक्त शब्द तथा पद मिलते हैं; यथा—

१—उत्तरकोशलेश्वरः (दिलीप)—सर्ग २, श्लोक ५।

२—कोशलाधिपः (अज)—सर्ग ८, श्लोक ७०।

३—मगध-कोसल-केकय शासिनाम्—सर्ग ९, श्लोक १७।

४—पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्—सर्ग ९।

शिलालेखों तथा ताम्रशासनों में भी 'कोशल' या 'कोसल' शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र पाया जाता है। वर्तमान छत्तीसगढ़ विभाग के रायपुर ज़िले में महानदी के तट पर राजिम या राजीवलोचन नामक एक प्रसिद्ध क्षेत्र है। वहाँ श्री राजीवलोचन भगवान् के तथा श्री कुलेश्वर महादेव के प्राचीन मंदिर हैं जिनमें बीजक या प्रशस्ति (शिलालेख) भी हैं।

आज से ७०-८० वर्ष पूर्व राजिम क्षेत्र में पाण्डुवंशीय नन्नदेव के तनय महाशिव तीवरदेव का एक त्रिफली ताम्रशासन प्राप्त हुआ था जो आज भी श्री राजीवलोचन के मन्दिर में सुरक्षित है। उसमें संस्कृत भाषा में लिखित एक ग्रामदान का उल्लेख है। उस लेख के प्रारम्भ में 'ओं स्वस्ति श्रीपुरात' उत्कीर्ण किया हुआ मिलता है।

उक्त ताम्रशासन में श्रीमान् तीवरदेव 'महाशिवः', 'परम वैष्णवः' और 'प्राप्त सकल कोसलाधिपत्यः', इन विशेषणों से अलंकृत हैं। ताम्रलेख की मुद्रा पर निम्नलिखित श्लोक उत्कीर्ण है—

श्रीमत्तीवरदेवस्य कोसलाधिपतेरिदम्।
शासनं धर्मवृद्धयर्थं स्थिरमाचन्द्रतारकम्॥

अर्थात् श्रीमान् कोसलाधिपति तीवरदेव का यह शासन धर्मवृद्धि के लिए, जब तक चन्द्रमा और तारक वृन्द रहें, स्थिर रहे।

महाशिव तीवरदेव का शासनकाल ५०० और ६०० ख्रिष्टाब्द के मध्य में बैठता है। उसकी राजधानी महानदी के किनारे श्रीपुर थी जो कि वर्तमान छत्तीसगढ़ विभाग के रायपुर ज़िले में है। दक्षिणापथान्तर्गत कोसलराज्य तथा उसके शासक का उल्लेख प्रयाग के क़िले के स्तम्भ-लेख में भी है। स्तम्भ पर महाराज समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण है। उसमें कोसल का

उल्लेख इस प्रकार है—'कौसल्यक महेन्द्र:'। समुद्रगुप्त का शासनकाल ३३० से ३७५ ख्रिष्टाब्द के बीच में है। इन कोसल के अधिपति 'महेन्द्र' महाराज की स्वर्णमुद्रा बलोदा बाज़ार (तहसील रायपुर) में मिली है जिस पर 'महेन्द्रादित्य' box loaded script में उत्कीर्ण है। ख्रिष्टाब्द के ६००-७०० में दक्षिणापथवर्ती कोसल राज्य अवश्य ही सुसम्पन्न और सुशासित था। चालुक्यवंशीय महाराज पुलकेशी की प्रशस्ति में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

गहिणां स्वगुणैस्त्रिवर्गतुंगा, विहितान्यक्षितिपालमानभंगाः।
अभवन्नुपजातिभीतिर्लिगाः, यदनीकेन **सकोसला**: कलिंगाः।

निज़ाम हैदराबाद-राज्यवर्ती एलापुर और अजन्ता के मन्दिर-समूह की कीर्ति भारतव्यापिनी है। एलापुर (एलोरा) में दशावतार नामक एक मन्दिर है। मन्दिर के एक भाग में एक खण्डित शिलालेख है। उसमें नीचे लिखा श्लोक है—

दण्डेनैव जिगाय वल्लभवलं यः सिन्धुदेशाधिपम्।
कांचीशं सकलिंग**कोसलपति**, श्रीशैलदेशेश्वरम्।।
शेषान् मालव लाटगुर्जरपतीन्, अन्यांच नीत्वावशं।
यः श्रीवल्लभतामवाप . . . .   ।।

हर्ष-सम्वत् १५३ अर्थात् ७५६ ख्रिष्टाब्द का एक शिलालेख नेपाल के पशुपतिनाथ जी के मन्दिर में गुप्तलिपि में लिखा विद्यमान है। उसमें भी कोशलराज्य का उल्लेख इस प्रकार है—

माद्यद्दन्तिसमूहदन्तमुसलैः क्षुण्णारिभूभृच्छिरो।
गौड़ोड्रादिकलिंग**कोशलपति**श्रीहर्षदेवात्मजा ।।
देवीराज्यमती कुलोचितगुणैर्युक्ता प्रभूता कुलैः।
येनोढ़ा भगदत्त-राजकुलजा लक्ष्मीरिव क्ष्माभुजा।।

यह कोशल राज्य कलिंग राज्य का निकटवर्ती था। चीनदेशीय बौद्ध विद्वान् हुएनसांग ने भारत-भ्रमण के उद्देश्य से यात्रा करते हुए कोशल राज्य की भी यात्रा की थी। उसके भ्रमण-वृत्तान्त में कोशल राज्य का विस्तार अंकित है। उसने कोशलनरेश का भी परिचय दिया है। कोशल-नरेश जाति का क्षत्रिय था और उसके कथनानुसार वह बौद्धधर्मावलम्बी था। किन्तु उसने कोशलाधिपति का नाम और उसकी राजधानी का नाम नहीं लिखा। उस विवरण में राजधानी के निकट की नदी, तालाबों और पर्वतों का भी उल्लेख नहीं मिलता। ६२९ से लेकर ६४५ ईसाब्द पर्यन्त हुएनसांग भारत में रहा। कोशल राज्य में उस समय कोई महापण्डित और कुशल नैयायिक था। हुएनसांग ने उसके समीप दो महीने ठहर कर न्यायशास्त्र पढ़ा था।

महानदी का दूसरा नाम चित्रोत्पला है। इसी के तीर पर कोशलाधिपति महाशिव तीवरदेव की राजधानी 'श्रीपुर' नामक नगर में थी। यह इस समय रायपुर ज़िले में एक छोटे से ग्राम के रूप में है। इस समय इसका नाम 'सिरपुर' है। यह श्रीपुर का प्राचीन अस्थिकंकाल, ध्वंसावशेष मात्र है। यदि हुएनसांग की यात्रा के समय कोसल की राजधानी श्रीपुर में थी तो

अवश्यमेव वह यहीं आकर ठहरा था। कोशलराज्य से हुएनसांग आंध्रराज्य को गया। पुरातत्वज्ञ जनरल कनिंगम और विसेन्ट स्मिथ ने अपने भारत-इतिहास के विवरणपत्रों एवं मानचित्रों में कलिंग और कोशल को मिलाकर 'महाकोशल' नाम से परिचय दिया है। क्या कोई विद्वान् बताने की कृपा करेंगे कि 'महाकोशल' नाम का प्रयोग और उसका आधार किस ग्रन्थ, ताम्रलेख वा शिलालेख में पाया जाता है; यह मेरी विनीत भाव से जिज्ञासा है।

मेरी जिज्ञासा पर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन महोदय ने यह लिखा था—"बौद्ध धर्मग्रन्थों में अभी तक महाकोसल का नामोल्लेख मिला नहीं है।"
समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तम्भ-लेख में कौसल्यक महेन्द्र के बाद महाकान्तारक व्याघ्रराज मिलता है। ज्ञात होता है, कोसल (दक्षिण या महा-) व्याघ्रराज के शासनाधीन 'महाकान्तार' राज्य का निकटवर्ती था।

●

सी० ए० लेविस

'सभापर्व' के दिग्विजय आख्यान का भौगोलिक प्रकरण: पूना के आलोचनात्मक संस्करण द्वारा स्वीकृत कुछ पाठों का समालोचन

'महाभारत' के नये आलोचनात्मक संस्करण के प्रकाशन से, जो पूना के भाण्डारकर शोधसंस्थान में अब भी चालू है, भारतवर्ष विषयक अध्ययन में हुए महान् योग का अतिमूल्यांकन असंभव है। फिर भी भौगोलिक नामों की वर्तनी-निर्धारण जैसे छोटे किन्तु महत्वपूर्ण ब्यौरे के विषय में कुछ अधिक प्रयास संभव था। बहुधा पादटिप्पणियों में अनुसूचित पाठ-भेद ग्रन्थ में स्वीकृत पाठों से श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। इस निबन्ध के लेखक ने यद्यपि पिछले तीन वर्षों में पी-एच० डी० थीसिस के लिए इस विषय का विस्तृत अध्ययन किया है, किन्तु प्रस्तुत निबन्ध का विस्तार सीमित होने के कारण वह 'सभापर्व' के दिग्विजय की भौगोलिक नामावली की इसी दृष्टिकोण से चर्चा तक ही सीमित रहेगा और जहाँ कहीं भी साक्ष्य पर्याप्त होंगे, नये पाठ सुझावेगा। नीचे के विवेचन में हर हालत में पहला नाम पूना के संशोधित संस्करण में पाया जाने वाला होगा और केवल उसका वही पाठान्तर इस विवेचन में सम्मिलित किया जायगा जिसके ठीक होने की कुछ संभावना होगी या जो किन्हीं अन्य कारणों से रोचक होगा। जैसा कि सर्वविदित है, विभिन्न दिग्विजय अर्जुन, भीमसेन, सहदेव और नकुल के हैं, जिन्हें इन्द्रप्रस्थ से युधिष्ठिर ने क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के देश जीतने के लिए भेजा था। अतः अब हम उन उद्धरणों का निर्देश तथा विवेचन करेंगे, जिनके संबंध में संशोधित संस्करण का पाठ संदिग्ध अथवा अन्य साक्ष्यों से असमर्थित लगता है, और तदनन्तर हम अपने पाठ-संशोधन-संबंधी सुझावों को निष्कर्षों के रूप में अनुसूचित करेंगे।

§ १. आनर्त (महाभारत २।२३।१४) [के २, २, ३; बी२, ६; डी१, २, ६ अनन्तः]

कालकूट और कुलिन्द जैसे औदीच्य जनों के साथ आलोचनात्मक संस्करण का पाठ बहुत सम्भव प्रतीत नहीं होता है। संस्कृत ग्रन्थों में कुलिन्द सर्वदा गढ़वाल में रखे गये हैं, जब कि महाकाव्य के अन्य उद्धरण, स्वतंत्र ग्रंथ तथा अभिलेख[1] आनर्त को काठियावाड़ में स्थित मानते हैं। हिमालयीय-स्थिति-समर्थक साक्ष्य के अभाव में आख्यान के इस भाग में इस दूसरे की

---

१. महाभारत ६। १०। ५०; काव्यमीमांसा, (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज) ९३, मत्स्य पुराण ११४. ५१। वायु पु० ४५। १३१; इंडियन एन्टीक्वेरी खण्ड ७, पृ० २५९।

उपस्थिति पाठ-विकृति, अथवा जैसा कि अधिक संभव है, लिपिकों द्वारा किये गये पाठ-संशोधनों के प्रयत्नों का फल मानना ही तर्कसंगत लगता है। तदनुसार 'आनर्त' का सुधार 'तंगण' होना चाहिए, जिनका उल्लेख टॉलेमी[२] ने सरबोस (संस्कृत-सरयू) नदी के उपरले भाग में किया है और इस प्रकार ये उसी लेखक के अनुसार[३] सहारनपुर के उत्तर में बसे कुलिन्दों के पड़ोसी होंगे।

§ २. **सुह्म** (महाभारत २।२४।२०) [डी, ६ स्वक्ष; डीएन १ सुक्ष 'छोटा'; बी३ सुम्म; टी१; जी३; एम१ वंग; जी २,४,५ वंक]

§ ३. **चोल** (वही) [के १ शैल; के३ वैन; बी१, ४ इलोल]

इस संदर्भ में सुह्म' और, चोल'[४] बिलकुल अप्रासंगिक हैं, और इन्हें निश्चय ही लिपिक के पाठ-संशोधन का परिणाम होना चाहिए, क्योंकि 'महाभारत' तथा अन्य ग्रन्थों के सारे साक्ष्य पहले को पूर्व में पश्चिम बंग के मिदनापुर ज़िले तथा दूसरे को दक्षिण के तंजौर तथा त्रिचनापल्ली ज़िलों में स्थित मानते हैं। परन्तु अनुसूचित पाठों में से कोई भी पाठोद्धार के लिए उचित साक्ष्य नहीं देते। डी ६ प्रति के 'स्वक्ष' पाठ से अनुमान होता है कि मूल पाठ 'यक्ष' रहा होगा, जिसका उल्लेख 'महाभारत' के उपायन पर्व में किया गया है।

§४. **गोपालकच्छ** (महाभारत २। २७। ३) [वी१; बी४; के४; गोपालकक्ष]

ग्रन्थ में इनकी भौगोलिक स्थिति देखते हुए, जहाँ इनका संबंध मल्ल और कोसल के साथ है, अवान्तर पाठ 'गोपालकक्ष' (गोपालों की वन्य विश्रांति-स्थली) आलोचनात्मक संस्करण के स्वीकृत पाठ 'गोपालकच्छ' (गोपालों द्वारा अधिकृत कूल) की अपेक्षा अधिक सार्थक है। निश्चय ही विवरण किसी भीतरी भूभाग का निर्देश करता है। यही नाम भीष्मपर्व की बड़ी भौगोलिक सूची में आता है जहाँ इसका संबंध कुरु-जांगल से है, जिसकी पहचान सरहिंद के जंगली प्रदेश से की जा सकती है।

§५. **सोत्तमानपि चोत्तरान्** (महाभारत २। २७। ३) [वी१; डी; बी; टी स्वोत्तरानपि, 'सोत्तमानपि' के स्थान पर, बी१ कोषल; बी२, ४, ५; डीएन२; टी१ कोसल; बी६; डीएन१; डी१-५ कोशल, चोत्तरान्' के लिए]

आलोचनात्मक संस्करण का पाठ स्पष्ट ही असन्तोषप्रद है। 'सोत्तरानपि कोसलान्' बहुत से हस्तलेखों द्वारा प्रमाणित अधिक वरीय पाठ होगा। यह सर्वविदित है कि अवध के कोसलों

---

२. ७।२।१३। ३. ७।१।४२। ४. श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का अनुसरण करते हुए श्री जायसवाल (जर्नल ऑफ़ बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड १८, पृ० ९७) इस उद्धरण को उत्तरी चोलों को गिलगित के आसपास मानने के लिए यथेष्ट प्रमाण मानते हैं, परन्तु ऐसा सिद्धान्त इतने संदिग्ध साक्ष्य पर कमज़ोर प्रतीत होता है। ५. महाभारत: ६, १०, ५५।

की दो शाखाएँ थीं, उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल; पहले की राजधानी श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-महेत) तथा दूसरे की कुशावती (आधुनिक सुल्तानपुर—गोमती के तट पर) थी। इसके पूर्व 'महाभारत' २। २४। १ में उल्लिखित कोसल स्पष्ट ही दक्षिण कोसल है।

§६. **उन्नाट** (महाभारत २। २७। ५) [बी १ मर्ग; डी४, ५ भल्लाट; डी३ मल्लाट; टी१ कर्णाट]

आलोचनात्मक संस्करण का पाठ यहाँ पूर्णतया असंतोषप्रद है। 'उन्नाट' के लिए वस्तुतः 'भल्लाट' एक निश्चित सुधार है। 'कल्कि पुराण'[६] और कूर्म विभाग प्रकरणों के पाठ में इसका उल्लेख 'भल्ल' नाम से हुआ है, जहाँ इसे उत्तरी-पूर्वी खण्ड में रखा गया है। टॉलेमी[७] इसे 'बर्है' कहता है, तदनुसार इसकी पहचान पश्चिमी आसाम के आधनिक भरों[८] से की जा सकती है। श्री डे[९] 'भल्लाट' की व्युत्पत्ति की व्याख्या 'भरराष्ट्र' के भ्रष्ट रूप से करते हैं, परन्तु अधिक संभाव्य यह प्रतीत होता है कि यह 'भल्ल' तथा तिब्बती-बर्मी प्रत्यय 'ट' के योग से बना है। डी३ का रूप 'मल्लाट' 'म' और 'भ' के आकृति-साम्य के कारण हुआ लगता है जब कि टी१ का रूप 'कर्णाट' लिपिकों के संपादन का रोचक उदाहरण है, क्योंकि तेलुगु भाषी लिपिक के लिए कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेश परिचित होगा, 'भल्लाट' अपरिचित।

§७. **मलय** (महाभारत २। २७। ८) [बी१, बी२-४; डीएन, डी१, २, ६ मलद; टी१ मल्लज; जी१, ३-६ मालव]

आलोचनात्मक संस्करण स्पष्ट ही अशुद्ध है, क्योंकि मलय के केवल धुर दक्षिण में ही होने की संभावना है। यहाँ अवान्तर पाठ 'मलद' एक निश्चित सुधार है, क्योंकि पुराणों के भुवन-कोष[१०] प्रकरण में इस नाम के जनपद का उल्लेख पूर्व में बसे हुए जनपदों में हुआ है और इसकी पहचान आधुनिक मालदह से की जा सकती है। मालव यद्यपि एक ख्यातिप्राप्त जन का नाम है, किंतु इस संदर्भ में वे असंगत होंगे, क्योंकि इनकी पूर्वीय स्थिति के लिए कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं है। मूलतः राजपूताना के ये निवासी ईसा की छठी शताब्दी में उज्जैन[११] प्रदेश में आ गये थे, जहाँ आज दिन भी इनका नाम मालवा में सुरक्षित है।

§८. **सोपदेश** (महाभारत २। २७। ९) [बी१ सोमदेश; एस१, के१, एन १ सोमधेय; के ३ सोमकीय; के४ सोमवेय]

आलोचनात्मक संस्करण का स्वीकृत रूप कहीं दूसरी जगह भौगोलिक संज्ञा के रूप में

---

६. कल्कि पुराण ३।७।३६; ३।१४।३, बृहत्संहिता १४।३०। ७. ७।२।२०। ८. श्री राय चौधरी (स्टडीज इन इंडियन एन्टीक्वीटीज, पृ० ११९) मल्लाट की पहचान टॉलेमी (७।१।६६) के फिल्लेइटाई से करते हैं जो ग़लत है। इसकी व्युत्पत्ति यूनानी फिल्लोन 'पत्र' हुई है, अतः यह पत्तों को वस्त्र के स्थान पर पहनने वाले आदिवासियों का निर्देश करता है—जैसे संस्कृत-साहित्य के पर्णशबर और उड़ीसा के आधुनिक जुआंग। ९. ज्योग्राफ़िकल डिक्शनरी, पृ० ३१। १०. ब्रह्माण्ड, पृ० २७, ५२; मत्स्य पृ० ११४, ४४। ११. कादम्बरी (सं० रिडिंग) पृ० २११, २१४; जर्नल ऑफ़ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी खण्ड ९, पृ० ४०४।

नहीं प्रयुक्त हुआ है। संभवतः 'सोमदेश' शुद्ध पाठ है। इसकी पहचान सोमपर्वत के प्रदेश से की जा सकती है, जो 'अमरकोश' के अनुसार अमरकण्टक पर्वत ही था।

§९. **कार्चं बंगाधिपं** (महाभारत २। २७। २२) [एन१, वी१; बी; डीएन; डी१-५ कर्वं बी१, ४ कर्क-; डीएन२ कर्प-; डी१, २ कप्-; डी ३ कर्च-; -आटाधिपतिं]

आलोचनात्मक संस्करण का पाठ दो कारणों से अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए—प्रथमत: चूंकि पिछले श्लोक में बंगों का उल्लेख हो चुका है, उनका दुबारा निर्देश निरर्थक है, दूसरे अवान्तर पाठ 'कर्वट' का औचित्य दो स्वतंत्र स्रोतों—(बृहत्संहिता[12] और काश्यप-संहिता)[13] से सुनिश्चित सिद्ध हो चुका है। पहला ग्रंथ इसे दक्षिण-पूर्व में ही नहीं, वरन् प्रस्तुत प्रकरण की ही तरह ठीक सुह्म के बाद रखता है और दूसरा इसे मातंग और ताम्रलिप्तक के साथ संयुक्त करता है। 'मार्कण्डेय पुराण'[14] के कूर्म विभाग प्रकरण में उल्लिखित कर्वताशन पर्वत से इसको सम्बद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसकी और 'बृहत्संहिता' की ब्यौरेवार तुलना से यह पार्जिटर का भ्रम सिद्ध होता है, जिसका कि अन्य लोगों ने अनुसरण किया है।

तुलनीय—मार्कण्डेय पुराण: ५८ की १२। जंब्वाख्य-मानवाचलः-शूर्पकर्ण-व्याघ्रमुख कर्वताशन्। तथा बृहत्संहिता १४।५: पद्ममल्यवद् गिरियः व्याघ्रमुख-सुह्म-कर्वट। दूसरे ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि पर्वत-सूची मलयवत् (मार्कण्डेय पुराण, मानवाचल) पर समाप्त होती है; और व्याघ्रमुख से जन-सूची प्रारम्भ होती है। यह भ्रांति 'मार्कण्डेय पुराण' के पाठ के भ्रष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई है। कर्वताशन का अस्तित्व पूरी तरह भ्रष्ट पाठ के कारण सम्भव हुआ है।

§१०. **चोपकृत** (महाभारत २।२८।४३) [वी१, बी३-५, डीएन; डी ३-५ ताली; (वी१, बी४, डीएन१ ताला)-कट।]

'चोपकृत' के लिए 'तालीकट' निश्चित सुधार है। पुराणों के भुवन कोश[15] प्रकरण में इस नाम के एक स्थान का पश्चिम में उल्लेख हुआ है, और प्रस्तुत संदर्भ की तरह ही इसका सूर्पारक (आधुनिक सुप्पर) से गहरा संबंध है। 'बृहत्संहिता'[16] के कूर्म विभाग प्रकरण में भी इसका उल्लेख है, जहाँ इसे दक्षिणी भाग में रक्खा गया है। डे[17] इसकी पहचान कावेरी तट के तलकड से करते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति स्पष्ट ही अमान्य है क्योंकि पुराण और 'महाभारत' इसे सुप्पर के निकट रखने में सहमत हैं।

§११. **अन्तार्खी चैव रोमां च** (महाभारत २।२८।४९) [वी१; एन१; बी१-३,६; डी२-५; के २-४

---

१२. बृहत्संहिता, १४।७। १३. काश्यप संहिता २५।९। १४. मार्कण्डेय पुराण (अनुवाद), पृ० ३५६, श्री सेन (इण्डिएन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, खण्ड ८, १९३२, पृ० ५२१) तथा श्री शाफेर (एथ्नोग्राफ़ी ऑफ़ इनशियेन्ट इंडिया, पृष्ठ ९) ने इसे स्वीकार किया है। १५. ब्रह्माण्ड पुराण २७।५८ तालकट। वायु पुराण ४५।१२८ कालीटर (वर्ण विपर्यय के कारण); वामन पुराण १३।५१ आलिकट (आद्य व्यंजन की च्युति के कारण) १६. बृहत्संहिता १४।११। १७. ज्योग्राफ़िकल डिक्शनरी; पृ० २०२।

अटवी; के१; बी४,५ आटवी; एस १ अवरी; एन१; वी१; के३ रोमांश्च; बी१, २, ४, ६; डी१ रामां च; बी३, ५; डी ३–५ दासं च]।

इस पाठ संबंधी समस्या का संतोषप्रद समाधान सभापर्व के काल-निर्धारण के लिए अत्यधिक महत्व का है। एजर्टन[१८] ने पाठ में 'रोमा' (-रोम) के आधार पर इसकी तिथि के प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व होने के लिए तथा संभवत: एक या दो शताब्दी पश्चात् होने के लिए तर्क दिये हैं। अभी हाल ही में श्री मोतीचन्द्र[१९] ने सुझाव दिया है कि सभापर्व पुष्यमित्र शुंग के काल (१८४-१४८ ई० पू०) का माना जा सकता है और इस स्थापना के लिए एक तर्क इस उद्धरण में 'अन्ताखी' की उपस्थिति भी है, जिसे वे सेल्युकिड राजा अन्तियोकस् तृतीय (२२१-१८७ ई० पू०) अथवा अन्तियोकस् चतुर्थ (१७१-१६३ ई० पू०) के प्रति दौत्य का संकेत मानते हैं। जैसा कि हम देखेंगे, ये दोनों तर्क 'अन्ताखी' और 'रोमा' को मूल पाठ का अंग मान कर ही हैं, जिसके लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। पहला भी एजर्टन[२०] का निजी मत है, जिन्हें स्वयं इसकी प्रामाणिकता के बारे में संदेह है; विशेष करके जब यह नाम संस्कृत-साहित्य में और कहीं नहीं मिलता, यह पुनर्घटित रूप ही लगता है। अत: ऐसे साक्ष्य पर सभापर्व की तिथि निर्धारित करना जोखिम का काम है। अन्य पाठ 'अटवी' कहीं अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। यह बहुत से हस्तलेखों में उद्धृत हुआ है, जब कि पिछले नाम 'औष्ट्र कर्णिक' से स्पष्ट है कि दिग्विजय प्रकरण उड़ीसा के अन्तराल में एक ऐसे अप्रसिद्ध भाग का संकेत करता है जहाँ आटव्यों के रहने की आशा स्वाभाविक है। पुराणों के भुवन कोश प्रकरणों में[२१] यह शबरों तथा पुलिन्दों से सम्बद्ध किया गया है और दक्षिण में निर्दिष्ट है।

यह देखना शेष रहता है कि 'रोमा' मूल पाठ है, और यदि ऐसा है तो क्या यह रोम का संकेत करता है, या संयोग से किसी समाननामा भारतीय जन का। इस प्रश्न का विशिष्ट भौगोलिक महत्व है, क्योंकि यदि 'महाभारत' के समय रोम ज्ञात था, तो यह सिद्ध होता है कि अब तक जितना समझा जाता रहा है, उससे कहीं अधिक आर्यों को संसार का विस्तृत परिचय था। यदि हम इस स्थल पर पाठ-विकृति की सम्भावना को छोड़ भी दें, तो ऐसा कुछ असम्भाव्य प्रतीत होता है। कुछ प्राकृत[२२] भौगोलिक सूचियों का साक्ष्य ऐसे मत के विरुद्ध है, क्योंकि वे 'रोमकों' का उल्लेख भारतवर्ष में बसी विदेशी जातियों की तरह करते हैं, यद्यपि उनमें उनके बसने की दिशा का कोई संकेत नहीं है। इसी नाम के एक जन का वराहमिहिर[२३] भी उल्लेख करता है, परन्तु चूंकि सूची भौगोलिक न होकर ज्योतिष सम्बन्धी है, उनकी पहचान का कोई साधन नहीं है।

---

१८. सभापर्व (पूना संशोधित संस्करण), परिचय पृ० २७। १९. जर्नल ऑफ़ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, दिसम्बर १९४३। २०. जर्नल ऑफ़ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, खण्ड ५८, पृ० २६२। २१. ब्रह्माण्ड पुराण १५।५७: मत्स्य पुराण ११४।४८: वायु पुराण ४५।१२६। २२. किर्फ़ेल: डी काज्मोग्राफ़ी डेर इन्डेर, पृ० २२७। २३. बृहत् संहिता १६, ६।

श्री एजर्टन की 'रोमा' की रोम से की गई पहचान का संदेह करने का दूसरा कारण दिग्विजय प्रकरण में ही है। यह कहा गया है कि सहदेव ने कलिंग और औष्ट्र-कर्णिकों को विजित करने के बाद, आन्तियोक, रोम और यवनपुर को दूतों द्वारा वशीभूत किया और अन्त में समुद्र तट पर पहुँच कर लंकेश्वर विभीषण के पास दूत-प्रतिनिधि भेजे। यह कथन दो महत्व के प्रश्नों को उत्पन्न करता है, प्रथमतः चूंकि प्रत्येक दिग्विजय का अन्तिम नाम विजय की चरम सीमा का संकेत करता है, आशा की जा सकती थी कि अन्तियोक के नाम का उल्लेख अधिक दूर होने की वजह से लंका के दूत-प्रतिनिधियों के बाद होता। दूसरा, जिन परिस्थितियों में अन्ताखी इत्यादि को दूत भेजे गये हैं, विलक्षण हैं, कारण कि उनके भेजने के समय सहदेव तट से दूर भीतर ही रहा होगा, तट पर पहुँचने के बाद ही वह लंका के लिए दूत-मण्डल भेजता है। पर यदि हम 'अटवीं' पढ़ें तो कठिनाई तत्काल ही दूर हो जाती है; क्योंकि भीतर के ही निवासियों को दूत-मण्डल भेजने के लिए समुद्र तट पहुँचने तक रुकना निरर्थक होगा। 'रोमांच' के स्थान पर 'रोमश' (लोमयुक्त) पढ़ा जा सकता है, जिसका कुछ विन्ध्यवासी जातियों के लिए प्रयोग स्वाभाविक ही है।

§१२. **भरुकच्छ** (महाभारत २।२८।५०) [एस१; के३ रुरु–; के१ रुद्र–; के२ मरु–; एन१; वी१ तरु–; बी१ भद्र–; बी३-६ उरु–; डीएन१-२; डी६ ततः]

संशोधित संस्करण में 'भरुकच्छ' (आधुनिक भड़ौंच) स्वीकृत किया गया है, जो असम्भाव्य लगता है, क्योंकि 'महाभारत' २।२८।४८ में अनुसूचित सारी जगहें भारत के पूर्वार्ध में हैं। सहदेव का यात्रा-मार्ग बताता है कि वह सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य प्रदेश (आधुनिक तिन्नेवल्ली तथा मदुरा जिले), द्रविड़ (पेन्नार और बेल्लार के बीच का भूभाग), ओड्र-केरल, आंध्र (गोदावरी और कृष्णा के बीच का तेलुगु भाषी प्रदेश), तलवन और कलिंग (महानदी और गोदावरी के मध्य का भूभाग) होता हुआ बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे ऊपर की तरफ बढ़ रहा है। अतः एकाएक पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ का उल्लेख पूर्णरूपेण असम्भाव्य है। इसकी कहीं अधिक संभावना है कि विभीषण के प्रति भेजा गया दूत-मण्डल पूर्वी समुद्र तट पर किसी पत्तन से चला था—यवनपुर से (उड़ीसा के तट पर महानदी के मुहाने में कोई यवन व्यापारिक चौकी) अथवा ताम्रलिप्त से जहाँ से फाहसीन लंका के लिए चला था। अतः यहाँ भरुकच्छ असंगत है, और संभवतः डीएन १, २; डी ६ का पाठ 'ततः कच्छागतो' (तत्र समुद्र तट पर आकर) स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

§१३. **अपरपर्यट** (महाभारत २।२९।१०) [एन१; डी ५, ६; बी४, डीएन; के १ अमरपर्वत; वी१, डी१-४, ६ एम०; बी२, ३, ५, ६ अमरकण्टक; के२; बी१ अमरपर्यट; एस१, के ३,४ अमरपर्पट]

इस जगह पर पाठ-भेदों की उलझन 'रामायण' के एक उद्धरण में भी परिलक्षित है, जहाँ संदर्भ तथा नाम का रूप इस बात का निर्देश करता है कि विचाराधीन स्थान और प्रस्तुत उद्धरण का स्थान एक ही होना चाहिए। तुलनीय—महाभारत २।२९।१०: कृत्स्नं पंचनदं चैव तथैवा-परपर्यटं। रामायण २।२७।२–३: शतद्रुं अतरच्छ्रीमान्नदीं इक्ष्वाकुनन्दनः।

एलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् ॥

पंचनद और शतद्रु के उल्लेख से स्पष्ट है कि इन समान रूपों से यह दोनों महाकाव्य एक ही स्थान का निर्देश करते हैं। रामायण के अन्य पाठों की जाँच से भी मूल रूप के बारे में इसी प्रकार का अनिश्चय दिखाई देता है, उदाहरणतया—

दाक्षिणात्य संस्करण २।७१।३: अपरपर्यट; उत्तरी-पश्चिमी संस्क० २।७७।३: अमरकण्टक, बंगीय संस्क० २।७७।३: अमरकण्टक।

महाकाव्य के इन रूपों में अमरकण्टक (मेकल पर्वतमाला का वह भाग जहाँ नर्मदा का स्रोत है) प्रस्तुत संदर्भ में भौगोलिक अप्रासंगिकता के कारण स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया जा सकता है। फिर भी यह लिपिकों के (भौगोलिक तारतम्य का ध्यान रखे बिना ही) किंचित् अज्ञात स्थान-नामों को अधिक प्रसिद्ध स्थान-नामों के द्वारा सुधारने के प्रयास का रोचक उदाहरण है।

पुनः यही नाम 'महामायूरी'[२४] की सूची में भी भिन्न रूपों में प्राप्त होता है, जो नीचे अनुसूचित हैं—

संस्कृत स्रोत : हस्तलेख डी. मरुपर्वत; एच. मरपर्वत ओ. मरपर्यट;

चीनी लिप्यन्तर: संघवर्मन (५१६ ई०): पर्पट; इत्सिंग (७०५ ई०): मरपर्पट; अमोघवज्र मरपर्पट;

तिब्बती लिप्यन्तर: अमरपर्पट

इन रूपों में अधिकांश निर्देश करते हैं कि संज्ञा का पूर्वार्ध 'अमर' होगा, न कि 'अपर'। द्रष्टव्य है कि 'महामायूरी' के सारे पाठों में 'प' न हो कर 'म' है। चीनी लिप्यन्तरों में आद्य-स्वर 'अ' का लोप इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 'अनन्दोऽमरपर्पटे' उद्धरण में आद्य 'अ' नहीं लिखा जायगा, अतः लिपिक इसकी उपेक्षा कर सकते हैं। शब्द का उत्तरार्ध निश्चित करना अधिक कठिन है, जिसके लिए तीन अभ्यर्थी हैं—पर्वत, पर्यट और पर्पट। श्री लेवी अन्तिम को श्रेष्ठ मानते हैं। यह हेमचन्द्र[२५] द्वारा उद्धृत पर्याय सौराष्ट्री और कच्छी को देखते हुए एक वनस्पति अथवा खनिज का नाम है जो सौराष्ट्र या कच्छ में पाया जाता है। अतः वे विचाराधीन प्रकरण में नाम का उद्धार 'अमरपर्यट' करेंगे।

ऐसे मत के विषय में दो आक्षेप हो सकते हैं: पहला, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पर्याय 'अमरपर्यट' कच्छ या सौराष्ट्र में है जो कि पंचनद और शतद्रु से काफ़ी दूर होगा, दूसरा यह कि लेवी द्वारा उपयोग किए गए हस्तलेखों में 'पर्यट' पाठ नहीं है। रामायण के किसी भी पाठ में ऐसा रूप नहीं मिलता, और पूना के संशोधित संस्करण के संपादकों द्वारा प्रयुक्त हस्तलेखों में से केवल तीन में ही है। दूसरी तरफ़, तीनों ग्रन्थों के हस्तलेखों में पर्वत मिलता है, और इसलिए यह सरल पाठ माना जा सकता है। अतः हम पाठ का उद्धार 'अमरपर्वत' कर सकते हैं।

§१४. **उत्तरज्योतिक** (महाभारत २।२९।१०) [वी१, एन१, डी५,६, डीएन; बी४; के १ उत्तरज्योतिष]

---

२४. जूर्नाल अजिआतीक–१९०५, पृ० ६६। २५. अभिधान चिन्तामणि १०५५–६।

'उत्तरज्योतिष' अधिक अच्छा रूप है। सम्भवतः यह कूर्म विभाग प्रकरण[२६] का उत्तम-ज्योतिष' अथवा 'उपज्योतिष' ही है। जहाँ यह मध्य प्रदेश में माना गया है। ऐसी पहचान के लिए दिशा का अन्तर कुछ बाधाजनक नहीं है, क्योंकि यही ग्रन्थ सरस्वती तट वासियों को मध्यप्रदेश में रखते हैं; इस नदी, जिसके किनारे शूद्र और आभीर रखे जाते हैं, और उत्तर ज्योतिषियों के बीच दिग्विजय आख्यान के अनुसार कोई बड़ा अन्तर नहीं रहा होगा।

§१५. **वृन्दाटक** (महाभारत २।२९।१०) [बी४, ५; डी३, ४; डीएन दिव्यकट; बी १ बिन्दुकट; डी ६, एस १ विन्दाटक; एन१, डी२, के २-४ वृन्दारक]

पूना के आलोचनात्मक संस्करण में स्वीकृत पाठ से 'महामायूरी'[२७] के वृन्दकट की तुलना की जा सकती है, जो वैमानिक, दरद और कश्मीर से सम्बद्ध है, और इस प्रकार स्पष्टतः उत्तरपश्चिम में रखा जाना चाहिए। 'टक' को आसानी से 'कट' की विकृति माना जा सकता है जो लिपिकों की असावधानी से सहज संभव है।

उपसंहार में हम पाठ में किये गये अपने सुधारों को इस प्रकार अनुसूचित कर सकते हैं—

महाभारत २।२३।१४ :	आनर्त	के लिए	तंगण
२।२७।३ :	गोपालकच्छ	,,	गोपालकक्ष
,,	सोत्तमानपि चोत्तरान्	,,	सोत्तरानपि कोशलान्
२।२७।५ :	उन्नाट	,,	भल्लाट
२।२७।८ :	मलय	,,	मलद
२।२७।९ :	सोपदेश	,,	सोमदेश
२।२७।१२ :	काचं बंगाधिपं	,,	कर्वटाधिपतिं
२।२८।४३ :	चोपकृत	,,	तालीकट
२।२८।४९ :	अन्ताखीं चैव रोमांच	,,	आटवीं चैव रोमशान्
२।२८।५० :	भरुकच्छ	,,	ततःकच्छ-
२।२९।१० :	अपरपर्यंट	,,	अमरपर्वत
२।२९।१० :	उत्तरज्योतिक	,,	उत्तरज्योतिष
२।२९।१० :	वृन्दाटक	,,	वृन्दाकट

२६. बृहत्संहिता, १४।३।९ पराशर। २७. पंक्ति ७५।

●

बलदेव प्रसाद मिश्र

छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन

वस्तुतः छत्तीसगढ़ का लोक-जीवन एक अद्‌भुत मिश्रित लोक-जीवन है जिसमें उत्तर-प्रदेश का पर्याप्त योगदान है। यहाँ के अधिकांश निवासी उत्तर प्रदेश से आये हैं। स्थानीय कहे जाने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो प्रायः सब के सब उसी दिशा से आये हैं। शूद्रवर्ग में भी अनेक लोग अपनी परम्परा वहीं से मानते हैं। जन-जातियों में भी कइयों ने अपना संबंध उत्तर से जोड़ रखा है। कोरबा और पाण्डू कौरव और पाण्डव की याद दिलाते हैं। कँवर लोग तो अपना संबंध कौरवों-पाण्डवों से जोड़ते ही हैं। आभीरों की एक शाखा कनौजिया राउत कहाती है। चमारों में भी कन्नौजिया चमार होते हैं। यहाँ की प्रधान नदी महानदी भी चित्रोत्पला गंगा कही जाती थी जिसका अर्थ है कि यहाँ के लोग गोदावरी की अपेक्षा गंगा से अपना अधिक सान्निध्य रखना चाहते थे। यहाँ के नाई, धोबी, तमोली, तन्तुवाय, बढ़ई, लोहार आदि सब के सब प्रायः उत्तरप्रदेशीय प्रथाओं का ही परिपालन करते हैं, और यहाँ की जो जन बोली—छत्तीसगढ़ी—विकसित हुई है उसकी परम्परा का आदि स्रोत अवधी (बैसवाड़ी) ही में मिलता है—अवधी से बघेली और बघेली से छत्तीसगढ़ी।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें दक्षिण प्रदेश का योगदान नगण्य हो। गोंड़ लोग तो दक्षिण प्रदेश से ही आकर यहाँ बसे और इस तरह बसे कि उनके कारण ही यह प्रदेश 'गोंडवाना' कहलाया। कई गोंड़ लोग बड़े गर्व से अपने को रावणवंशी कहते हैं और छत्तीसगढ़ में तो नहीं परन्तु छत्तीसगढ़ के समीप ही सिवनी छिन्दवाड़ा के क्षेत्रों में आज दिन भी मेघनाद की पूजा सामूहिक ढंग पर करते हैं। उनकी अपनी परम्परा और अपनी संस्कृति है जिसे मूलरूप में आर्य-संस्कृति कहा ही नहीं जा सकता। उनके अपने लोकगीत हैं, अपने लोकनृत्य हैं, अपने आचार-विचार हैं, अपनी प्रथाएँ और अपने संस्कार हैं। गोंड़ों के समान अन्य अनेक जनजातियों ने भी इस छत्तीसगढ़ में चिरकाल से अपना निवास बनाया है। दक्षिणी भाषा में 'कोण्ड' शब्द का अर्थ होता है 'पहाड़'। उत्तरी भाषा में 'नग' का अर्थ भी है 'पहाड़'। उत्तर के नाग लोग भी गोड़ों की भाँति पहाड़ी रहे होंगे। उन्होंने भी यहाँ कई राज्य स्थापित किये। कलिंग से कलंगा लोग आये और यहाँ बस गये। उराँव लोग जिन्हें वनराउ अथवा वानर जाति का वंशज कहा जाता है, यहाँ पर्याप्त संख्या में हैं। इस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओं के गिरिजनों तथा आदिमजातीय कहलाने वाले अन्य जनों ने पदार्पण करके स्थानीय लोक-जीवन को किसी न किसी प्रकार प्रभावित किया अवश्य। परन्तु ऐसे सब प्रभावों में दक्षिण के गोड़ों ही का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र की भौगोलिक सीमाएँ घटती बढ़ती रही हैं। 'अष्टादश अटवी राज्य' का उल्लेख तो बहुत प्राचीन है और उसी की परम्परा में 'अट्ठारह गढ़' की स्थिति इस ओर उड़ीसा आदि में भी रही है। हैहयवंशियों का राज्य जब इस क्षेत्र में द्विधा विभक्त हुआ तब उन दोनों राज्यों के अट्ठारह-अट्ठारह गढ़ मिलाकर इस पूरे क्षेत्र का नाम 'छत्तीसगढ़' पड़ गया होगा। गढ़ों की संख्या घटती-बढ़ती भी गई, परन्तु छत्तीसगढ़ के नाम में कोई घट-बढ़ न हुई। हैहयवंशी लोग उत्तर से धर्म-संस्कृति लेकर आये थे। लगभग एक हज़ार वर्षों तक उनका आधिपत्य इस ओर रहा। उनके पूर्व के भी कुछ राजकुलों का पता लगता है। वे भी आर्य-संस्कृति-सम्पन्न थे। श्रीपुर उस समय यहाँ का केन्द्रस्थल था जहाँ न केवल शिवोपासना अपने उत्तम रूप में थी किन्तु बौद्धों और, आरंग के से समीपवर्ती स्थल में, जैनों की भी अच्छी मान्यता थी। परन्तु गोंड़ों के आधिपत्य के पश्चात् उन्हीं के अनुकरण पर यहाँ का लोक-जीवन भी निरक्षर हो चला, और धीरे-धीरे यहाँ का उज्ज्वल अतीत भग्नावशेषों में, कतिपय लोक प्रथाओं में, उक्तियों और गीतों में, तथा इसी प्रकार की वस्तुओं में सिमट कर रह गया। नयी परिस्थिति में उसने अब फिर चेतना प्राप्त की है और आज का छत्तीसगढ़ केवल अनुसंधित्सुओं का अजायबघर होकर ही नहीं पड़ा हुआ है, किन्तु समग्र राष्ट्र के अनेकानेक क्षेत्र सम्पन्न बनाने की क्षमता लेकर आगे बढ़ रहा है।

बौद्धों के ह्रास के बाद मध्यकालीन छत्तीसगढ़ भले ही पिछड़ा रहा हो परन्तु मुस्लिम शासकों के वातावरण से वह अछूता रह कर ऐसी संस्कृति धारण किये हुए है जिसमें हम विशुद्ध भारतीय तत्वों का अच्छा परिचय पा सकते हैं—चाहें वे तत्व उत्तर के हों, चाहे दक्षिण के। और, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, उन तत्वों में उत्तर की विशुद्ध आर्य परम्परा का ही अंश विशेष रूप से मिलेगा। छत्तीसगढ़ का लोक-जीवन ऐसे ही भारतीय तत्वों पर आधारित है। यहाँ स्त्रियों में परदा की प्रथा नहीं है, पुरुषों में सगोत्र विवाह की प्रथा नहीं है। दोनों ही गीत और नृत्य का स्वच्छन्द आनन्द लेते हैं तथा कृषि एवं राम तथा कृष्ण से, और शिव तथा शक्ति से संबंधित पर्वों में सामूहिक रूप से हज़ारों वर्ष पुरानी परम्परा का किसी न किसी रूप में पालन करते रहते हैं।

यों तो बस्तर के माड़िया, रायगढ़ के कोलता, जसपुर के उराँव, सरगुजा के कोरबा और कवर्धा के बैगा में छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं के बराबर ही मिलेगा फिर भी उस लोक-जीवन ने सरहद्दी मानवों अथवा अन्य जनजातियों को प्रभावित न किया हो, यह बात नहीं है। वह प्रभावित हुआ भी और उसने प्रभावित किया भी। विशेष प्रभाव तो उस पर आर्य-जीवन का ही पड़ा है, अतएव उसने जन-जातियों को आत्मसात करने में विशेष सफलता दिखाई है। आज ऐसी कई जन-जातियाँ इस छत्तीसगढ़ में हैं जिनकी न कोई अलग बोली रह गई है न अलग आचार-विचार की परम्परा। गोड़ों तक की राजगोंड़ शाखा इतनी आर्य हो गई है कि विशुद्ध क्षत्रियों के यहाँ उसके विवाह-संबंध भी हो चले हैं। उन जनेऊधारी सज्जनों के आचार-विचार अनेक क्षत्रियों से भी अधिक द्विजत्व-सम्पन्न हैं।

लोक-जीवन है सर्वसामान्य लोगों का जीवन, न कि किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष या स्थान-विशेष का जीवन। किसी जाति-विशेष या स्थान-विशेष के विशेषण से जब वह शब्द

सीमित कर दिया जाता है तब स्वभावतः अपेक्षा यह रहती है कि हम लोक-जीवन के उस पक्ष की ही विशेष चर्चा करें जो उसकी जाति-विशेष अथवा स्थान-विशेष में पाया जाता हो। छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन की चर्चा का भी अभिप्राय कदाचित् यही है कि ऐसी बातों का विशेष उल्लेख किया जाय जो समग्र भारत में नहीं किन्तु इस स्थान-विशेष में ही प्रचलित हैं और वे बातें किसी जाति-विशेष से—उदाहरणार्थ गोंड़ों, कँवरों, पनिकों, तेलियों, ठाकुरों आदि से—ही संबंधित नहीं किन्तु इस स्थान के सर्वसाधारण से संबंधित हैं। ऐसी बातों में यहाँ की भाषा का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि लोकजीवन की अभिव्यक्ति का सबसे प्रबल माध्यम भाषा ही है। भाषा ही से संबंधित वस्तुएँ हैं लोकगीत, लोक-कथाएँ, लोकोक्तियाँ और फिर लोकनृत्य आदि जो लोक-जीवन को बड़ी क्षमता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। तदनन्तर यहाँ की रहन-सहन, यहां के रीति-रिवाज, यहाँ का पहिनावा–ओढ़ावा, यहाँ के आचार-विचार आदि की बातें आती हैं।

पहले हम भाषा की ओर दृष्टिपात करलें। छत्तीसगढ़ी भाषा ने देवनागरी लिपि ही को अपनाया है और अभी-अभी तक उसका दर्जा एक बोली ही का रहा है। अब उसमें कुछ काव्य-रचनाएँ और ग्रंथ-रचनाएँ होने लगी हैं और उसका एक क्षेत्रीय रूप स्थिर हो रहा है। अतएव अब यदि हम चाहें तो उसे एक भाषा कह सकते हैं। किन्तु भारत की मान्य भाषाओं में न तो उसकी स्वतंत्र इकाई है और न होनी भी चाहिए; क्योंकि वह उसी प्रकार हिन्दी की अंगभूता है जैसे अवधी, बघेली आदि। जो सज्जन उसके साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं उन्हें यह तत्व ध्यान में रखना चाहिए, नहीं तो उन्हीं के बताये मार्ग पर चल कर किसी दिन हलबी, लरिया तथा खल्वारी के समान शाखाएँ अपनी मातृस्थानीय छत्तीसगढ़ी ही से स्पर्धा करने लग जायँगी और अपनी स्वतंत्रता की माँग में अपनी सामूहिक संचित निधि भी खो बैठेंगी।

छत्तीसगढ़ी के प्रायः सब शब्द उत्तर प्रान्त से लिये गये हैं, परन्तु भौगोलिक भेद के कारण उनके उच्चारण में भेद होता गया और इसी भेद ने आज अनेक शब्दों में पर्याप्त अन्तर उपस्थित कर दिया है। 'रूमाल' 'उरमाल' बन गया और 'हृष्ट' हो गया है 'रोंठ'। इसी तरह 'सत्य' 'सिरतोन' हो गया और 'स्वयं' 'संवागे' हो गया है। केवल मुख-सुखता ही ने इस बोली में हृदय को हिरदे, 'मूंछ' को 'मूंछी' और 'मुंह' को 'मूँह' बनाकर नहीं रख छोड़ा किन्तु जीवन की सादगी ने बंग और उत्कल प्रभाव को पसन्द करते हुए, उत्तर प्रदेशीय लिंगभेद तक को दूर कर दिया—फिर संस्कृत और मराठी के लिंगभेद की तो बात ही क्या है। यहाँ राजा का बेटा और राजा की बेटी के लिए एक ही सा प्रयोग है—'राजा के बेटा' अथवा 'राजा के बेटी।' इसी प्रकार 'तू खाता है' और 'तू खाती है' के लिए एक ही प्रयोग है—'तैं खात हस।' इसीलिए तो कभी-कभी अपढ़ों की हिन्दी में सुनने को मिल जाता है कि 'वह औरत आता है।' लोक-जीवन की इस सादगी ने भाषा के अन्य क्षेत्रों में भी अपना प्रभाव दिखाया है। उदाहरणार्थ 'तर' 'तम' सरीखे तुलना-वाचक प्रत्ययों का भी यहाँ अभाव है। हृष्टतम को, व्यक्त किया जायगा इन शब्दों में 'निचट रोंठ' अथवा 'सब्बोले बिढ़ियन निचट रोंठ।' बहुवचन की सूचना के लिए प्रायः 'मन' का प्रयोग कर दिया जायगा; जैसे 'वे लोग' के लिये 'ओ मन।' यह भी संक्षिप्त होकर कभी-कभी बन जाता है 'उन'। मन की भाँति 'हर' भी एक ऐसा शब्द है जो कभी आदर के अर्थ में, कभी कर्ताकारक के चिह्न के अर्थ में और कभी बिना किसी

ख़ास मतलब के ही प्रयुक्त हो जाता है। "मैं हर कहे रहेवँ", "मैं हर कहतेवँ", "राजा हर 'कहि है" आदि इसके उदाहरण हैं। निश्चयात्मक "ही" के लिए छत्तीसगढ़ी में 'च' का प्रयोग होता है; जैसे 'मैं नहिं च जावँ।' यही 'नहिंच' संक्षिप्त होकर कभी-कभी 'नीच' बन जाता है।

वर्णों की मितव्ययिता की दृष्टि से कभी-कभी क्रियापदों से संज्ञाशब्द बना लिये जाते हैं और कभी संज्ञा शब्दों से क्रियापद भी बना लिये जाते हैं। अवधी आदि की भाँति छत्तीसगढ़ी में भी यह प्रवृत्ति भरपूर देखने को मिलेगी। टोन्हा करने वाले को 'टोनहा', अदालतों के चक्कर लगाने वाले को 'कछेरिया', गिजर (हँसने) की प्रवृत्ति रखने वाले को 'गिजरा' इसी प्रवृत्ति के कारण कहा जाता है और इसी प्रवृत्ति के कारण 'उसने बात की' हो जाता है—'ओ हर गोठिया-इस' और 'वह काला पड़ गया' हो जाता है—'ओ हर करियाइस।' राष्ट्रभाषा को यह मितव्ययिता अपनानी चाहिए।

छत्तीसगढ़ी के व्याकरण में उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष का प्रयोग है, भूत, भविष्य और वर्तमान काल का भी प्रयोग है, कारक चिह्न आदि भी हैं, परन्तु वचन दो ही हैं, और जैसा कि पहिले कहा गया है, लिंगभेद का कहीं पता नहीं है। एक विशेषता अवश्य है कि क्रियापदों के व्यवहार में शिष्ट लोगों का प्रयोग अलग रहा करता है और निम्न स्तर के अशिष्ट लोगों का प्रयोग अलग रहा करता है। वर्तमानकालिक रूप में शिष्ट लोग कहेंगे 'मैं चलत हौं' 'हम चलत हन', 'तैं चलत हस' 'तुम चलत हौ', 'ओ चलत है', उन चलत हैं; और अशिष्ट लोग कहेंगे—'मैं चलत हवौं' 'हम चलत हवन', 'तैं चलत हवस', 'तुम चलत हवौ', 'ओ चलत हवै' 'उन चलत हवें'। भविष्यकालिक रूप में शिष्ट लोग कहेंगे—'मैं चलिहौं' 'हम चलब,' 'तैं चलबे' 'तुम चलिहौ', 'ओ चलिहै' 'उन चलिहैं', अशिष्ट लोग कहेंगे—'मैं चलहूं' 'हम चलबोन' 'तैं चलबँ' 'तुम चलहू,' 'ओ चलही' 'उन चलहीं'। भूतकालिक रूप में अलबत्ता शिष्ट लोग कहेंगे 'मैं चलेवें' 'हम चलेन', 'तैं चले' 'तुम चलेव', ओ चलिस' 'उन चलिन' और अशिष्ट लोग भी इसी प्रकार का प्रयोग करेंगे। संभव है अशिष्ट लोगों का यह प्रयोग कुछ जाति-विशेष ही तक सीमित हो। व्याकरण के कुछ-कुछ प्रयोग तो स्थानभेद से भिन्न-भिन्न भी हो गये हैं। कर्मकारक 'का' को 'कहीं' 'ला' कहा जाता है कहीं 'खां' कहा जाता है और कहीं 'का' ही रह जाता है।

छत्तीसगढ़ी में देशकाल की सूचना देने वाले शब्द तत्संबंधी क्रियाओं के संयोग से बना लिये गये हैं। दूरी के द्योतन के लिए 'कुकरी उड़ान भर' (जितनी दूर तक एक मुर्गी एक उड़ान में जा सकती है) अथवा 'धाप भर' (जितनी दूर एक मनुष्य एक ही सांस में धावन कर सकता है) आदि के प्रयोग होते हैं और समय के द्योतन के लिए 'कुकरा बासत बेरा' (ब्राह्म मुहूर्त जब कि मुर्गा बोलता है), 'पहट ढीले के बेरा' (प्रातः काल जब कि जानवर ढीले जाते हैं), 'सुवारी नहाये के बेरा' (मध्याह्न पूर्व की बेला जब कि सूपकार लोग स्नान करके भोजन बनाने की तैयारी में लगना चाहते हैं), 'भइंसा अँधियार के बेरा' (संध्योत्तर बेला जब कि रात के अँधेरे में भैंसों की श्यामता अलक्षित हो जा सकती है) के से प्रयोग होते हैं।

कुछ मनोरंजक प्रयोग इस प्रकार हैं—मैं सूत मुलाएवँ (मैं इतना सो गया कि समय का ज्ञान ही न रहा), 'ओकर सुताई बूता ला देख' (देखो तो उसने किस तरह सोने ही को मानो अपना

धन्धा बना लिया है), 'हपटे बन के पथरा, फोरै घर के सील' (ठोकर खा रहा है वन के पत्थर से और रुष्ट होकर बदला ले रहा है घर की सिल से), 'पर्रा भर लाई, गने न सिराई' (यह पहेली है जिसका उत्तर होगा तारागण) 'माटी के बोकरा चोकरा खाय, थोरे मारे बहुत नरियाय' (यह भी पहेली है जिसका उत्तर होगा 'मृदंग')। ऐसे-ऐसे मुहावरों, ऐसी कहावतों और पहेलियों से भी छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन की सादगी का अच्छा पता चलता है।

परम्परा से जो लोकगीत चले आ रहे हैं वे उस स्थान के लोक-जीवन के अच्छे दिग्दर्शक रहा करते हैं। छत्तीसगढ़ में अनेक प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन है। एक 'कर्मा' नामक गीत की पंक्तियाँ हैं—"जीयत जनम लेबे, हंसि लेबो खेल लेबो, मरे ले दूलम संसार।" अर्थ है कि 'जन्म जीने के लिए धारण किया गया है। हम लोग हंसेंगे और खेलेंगे। मरने पर तो यह संसार दुर्लभ हो जायगा।' ऐसी ही मस्ती छत्तीसगढ़ के लोक-जीवन में है। उसे आज की मस्ती के आगे कल की कोई चिन्ता नहीं रहती। वह अभावग्रस्त होते हुए भी अभावों का अनुभव नहीं करना चाहता। एक दूसरा कर्मा-गीत है—"कोलकी ले झांक देखे, डाग भर बेला; लकर लकर आवत होही मोर अलबेला।" व्यग्र नारी-हृदय कह रहा है कि उसका अलबेला अब झटपट घर आता ही होगा क्योंकि गली से झाँक कर उसने देखा है कि अब सूर्य पश्चिम के क्षितिज से एक बाँस ऊपर ही रह गया है। दिन भर काम और रात को आराम का संकेत देने वाली यह है यहाँ के लोकजीवन की भावना। एक सुआ-गीत है—

उपर राज ले आये मोरे जोगिया बैरगिया, रे सुअना,
वो तो छेंकि बैठिस धरम दुआर, रे सुअना वो तो छेंकि बैठिस०।
मुठा भर चांउर देइदे जोगिया बैरगिया ला रे सुअना,
वो तो छांड़ि दीही धरम दुआर रे सुअना, वों तो छांड़ि दीही०।
मुठा भर चांउर तोर घर भरि जाय बहिनी।
मैं तो नी छाड़ौ धरम दुआर—रे सुअना मैं तो नी छांड़ौं०।

योगी ने जब मुट्ठी भर चावल लेना अस्वीकार किया तब उसे थाली भर चावल लेने का आग्रह किया गया। उस पर भी जब वह न माना तो बड़ी ननद दे डालने का प्रलोभन दिया गया। तब भी वह न माना तो—

छोटकी ननदल देइदे जोगिया बैरगिया लारे सुअना,
ओ तो छांड़ि देही धरम दुआर।
अतकाल सुनके बहिनी जोगिया बैरगिया हा रे सुअना,
वो तो लेइ लानिस डोलवा फंदाय रे सुअना वो तो लेइ लानिस०॥

यह गीत न केवल ननद और भावज के निश्छल हास-परिहास का संकेत देता है, किन्तु बज्रयानी बौद्धों के उस प्रभाव का भी संकेत देता है जो यहाँ के लोक-जीवन में प्रविष्ट हो चुका होगा। यहाँ की कई जातियों में देवर का अपनी भौजाई के साथ विवाह जायज मान लिया गया है। परन्तु वह जायज होता है ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के उपरान्त। इस प्रथा से प्रभावित एक देवर

और उसकी सधवा भौजाई के बीच हुए वार्तालाप को निम्न लिखित सुआगीत में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें दोनों के मनोभावों की अभिव्यक्ति का कौशल द्रष्टव्य है :—

तरी नारि न न नान तरि नरि नाना, रे सुअना।
अँगुरी ला मोरि मोरि देवरा जगायेन
दुर रे कुत्ता, तै दुर रे बिलैया, रे सुअना, फेर कौने पापी हेरत कपाट।
नो हौं कुकुर मैं नो हौं बिलैया रे सुअना, फेर छोटे देवर नन्दलाल।
आये बर ऐहा बाबू मोरे घर ला रे सुअना, फेर सूत जैहा भैया के पलंग।
भैया के पलंग भौजी मुसड़ी चावत है रे सुअना, फेर तोरे पलंग सुख नींद।
मोरे पलंग बाबू छुरी कटारी रे सुअना, सुन ले देवर नन्दलाल।
हमरे पलंग बाबू कारी नागिन रे सुअना फेर डंकी डंकी के जिउरा लेय।
तुम्हरे पलंग भौजी कारी नागिन रे सुअना, फेर भैया ल कैसे बचाय।
तुंहरे भैया बाबू बड़ नगमतिया, फेर अपना जिउरा लेथे बचाय।
तारी नारि न न नाना तरि नरि नाना, रे सुअना—

देवर चुपचाप भावज के कमरे में घुसकर उसकी अँगुलियाँ मरोड़-मरोड़ कर उठा रहा है। भावज कुत्ता बिल्ली या पापी समझकर उसे दुत्कारती है। वह बताता है कि वह तो उसका देवर नन्दलाल है। भावज संकेत करती है कि वह अपने भाई के पलंग पर सो जाय, किन्तु वह तो भौजाई के पलंग पर ही सुख की नींद चाहता है, इसलिए बहाना बनाता है कि भाई की पलंग पर मच्छर काटते हैं। भावज कहती है कि उसके पलंग पर तो छुरी कटारी और काली नागिन है जो डंक मार-मार कर प्राण ले लेगी। देवर पूछता है कि तब उसके बड़े भाई उस डंक से कैसे बच जाते हैं। भावज उत्तर दे देती है कि वे तो बड़े सँपेरे (गारुड़ी) हैं जो अपना जीवन बचा लेते हैं। बेचारा देवर निरुत्तर हो जाता है और सुआ-नाच 'नारी नारी नाना' की ध्वनि के साथ आगे चल पड़ता है।

लोकगीतों की कुछ और भावनाएँ भी द्रष्टव्य हैं। विवाहगीत की दो पंक्तियाँ हैं—

कारे गोरे बिटिया झिन कहिहा, कारे हैं श्री भगवान हो।
माई के कोख कोहांर के आवा, कोउ करिया कोउ गोर हो।

कितनी सफाई से साँवले पति के लिए गोरी कन्या का मन सन्तुष्ट कराया जा रहा है।

एक वियोगिनी छत्तीसगढ़ के सुप्रसिद्ध ददरिया गीत में कह रही है—

फुटहा मंदिर कलस तो नइ हे।
दोइ दिन के अवइया दरस तो नइ हे॥

अर्थात् कुटिया नष्टभ्रष्ट हो गई और छप्पर भी उड़ गया परन्तु दो दिन का वादा करके जाने वाला प्रिय अब तक दर्शन नहीं दे रहा है। यहाँ देवरूप प्रिय के संसर्ग से कुटिया को भी मंदिर कह देना कितना पावन हो गया है।

एक संयोगिनी की ददरिया इस प्रकार है—

तावा के रोटी सेंकत रहितें
तोला आघू में बैठा के देखत रहितें ।।

छत्तीसगढ़ चावल खाने वाला देश है। उसे पर्वकाल ही समझिए जब रोटी बनती है। प्रिय सामने बैठा हो इससे बढ़कर और कौन पर्वकाल हो सकता है। उसके दर्शन के सन्मुख फिर उस रोटी का भी क्या मूल्य ? वह तो तवा में सिंकती ही रह जायगी और "उन्हें भूलि गई गैयां इन्हें गागरि उठाइबो" का सा दृश्य सामने आ जायगा। यही तो उस भाव-प्रवण नारी की एकान्त कामना है। ददरिया गीतों में जिस तत्परता के साथ प्रिय और प्रेमिका अपने हृदय के निश्छल भाव उड़ेल-उड़ेल कर सवाल-जवाब के रूप में पंक्तियों पर.पंक्तियाँ कहते चले जाते हैं वह किसी भी सुहावनी संध्या के समय किसी भी देहाती अंचल में देखा जा सकता है। बड़ी. मादकता रहती है उन स्वरों में। छत्तीसगढ़ी लोकगीत कितना भावुक और प्रतिभामय है यह ऐसे प्रसंगों में बड़ी सरलता के साथ देखा जा सकता है।

'अंत में बांसगीत की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही है जिसमें एक राउत दम्पति का वाद-विवाद है। गीत इस प्रकार है—

पत्नी कहती है—

छेरी ल बेंचौं, मेंढ़ी ल बेंचौं ; बेंचौं भेंसी बगार।
बनी भूती में हम जी जाबो ; सोबोन गोड़ लमाय।

पति कहता है—

छेरी न बेंचौं भेड़ी न बेंचौं, ना बेंचौं भेंसी बगार।
मोले मही में हम जी जाबो, औ बेंचौं तोहूला घलाय।

पत्नी— कौन तोरे करही रामे रसोई, कौन करै जेवनार।
कौन तोरे करही पलंग बिछौना, कौन जोहै तोर बाट ।।

पति— दाई करिहै रामै रसोई, बहिनी करै जेवनार ।
सुलखी चेरिया पलंग बिछैहै, औ मुरली जोहै मोर बाट ।।

पत्नी— सास डोकरिया मरघट जैहै, ननदि पठौं ससुरार।
सुलखी चेरिया हाटन बिकैहै, औ मुरली नदी में बोहाय ।

पति— दाई ला रखहूं अमर खवाके, बहिनी रखू छै मास।
सुलखी चेरिया बांधी छांदी रखहूं, औ मुरली ला रखहूं जी में डार।

पत्नी अपने पति का गायें चराना नहीं देख सकती, क्योंकि वह उतना भी उसका आँखों से ओझल होना नहीं सह सकती। वह प्रस्ताव करती है कि बकरी, भेड़, भैंस सब बेचकर मजदूरी करके सुख की नींद सोया जाय। पति कहता है कि जीविकोपार्जन के लिये क्या दूध दही बेचना उत्तम नहीं है? दुधारू पशुओं को बेचने की नौबत आई तो वह अपनी उस प्रस्ताविका पत्नी ही को

बेच डालेगा। पत्नी कहती है कि यदि वह बेच डाली गई तो रोटी कौन बनायेगा, पलंग कौन बिछायेगा, रास्ता कौन देखेगा। पति कहता है कि मां रसोई बनाएगी, बहिन थाली परोस देगी नौकरानी पलंग बिछा देगी और मुरली की तान रास्ता देखती रहेगी, प्रतीक्षा करती रहेगी। पत्नी कहती है कि वृद्धा सास तो मरने ही वाली है, ननद अपनी सुसराल चली जायगी, नौकरानी बिक जाने वाली है और मुरली नदी में बहा दी जाने वाली है। पति कहता है कि मैं मां को अमृत पिला-कर रख लूंगा, बहन को छः महीने ससुराल न भेजूंगा, नौकरानी को ज़बरदस्ती रोक रखूंगा और मुरली को तो अपने जी में ही छिपाकर रख लूंगा।

राउतों का गायें चराते रहना और वहीं एकान्त में मस्ती की बंशी बजाते रहना सुप्रसिद्ध है। छत्तीसगढ़ की यह राउत जाति भी बड़ी रहस्यमय है जिसने छत्तीसगढ़ी लोकजीवन को कई प्रकार से प्रभावित किया है। 'राजपूत' का अपभ्रंश ही 'राउत' हुआ, ऐसा कुछ लोगों का अनुमान है। ये अपने को कृष्णानुयायी आभीर वंशज 'अहिरा' या 'गहिरा' कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें विदेशी माना है और कुछ ने शुद्ध भारतीय। 'राउत' का एक अर्थ होता है 'बहादुर'। यद्यपि इनकी उपजातियाँ मुर्गा ही नहीं किन्तु चूहा और सुअर तक हजम कर जाती हैं फिर भी छत्तीसगढ़ी लोग, जिनकी स्नान-ध्यान और छुआछूत तथा साफ़-सुथरे रहने और अपने घर-द्वार साफ़-सुथरे रखने की परम्परा पर्याप्त प्रसिद्ध है, इनके हाथ का भरा पानी सादर ग्रहण करते हैं। अपने उत्सवों में शराब में सराबोर रहने वाली यह जाति कदाचित् इसीलिए इतनी समादृत हुई, क्योंकि किसी समय सचमुच ही वह बहादुरी के साथ इस अंचल में राज्य कर रही होगी।

गोसेवा इस जाति का प्रधान कार्य है और गोपाल कृष्ण इनके मान्य हैं। परन्तु प्रधान रूप से ये पूजते हैं सँहड़ा देव को, दूल्हा देव को, गोसाइं देव को जो सब के सब अनार्यों के देवता जान पड़ते हैं। 'गोबर-धन खुंदाना' इनका प्रधान उत्सव है। गोबर के एक ढेर को गायों के पैर से कुचलवा देना ही गोवर्धन खुंदाना है। दीपावली के अवसर पर गायों ने हरे चारे के लिए पर्वतारोहण कर लिया, यही इस उत्सव का आदि रूप जान पड़ता है जिसने श्रीकृष्ण जी के समय गोवर्धन-पूजा का रूप धारण कर लिया होगा। संभव है कि श्रीकृष्ण जी के समय से ही यह पूजा चली हो, और अब उसका विकृत रूप शेष रह गया हो : अब तो संहड़ा देव की पूजा इस 'गोवर्धन खुंदाने' का आवश्यक अंग हो गयी है। संभव है, यह 'सँहड़ा' शब्द ,सड़हा' से बना हो और सड़हा या सँड़हा अर्थात् सांड़वाला देव का विकृत रूप हो गया हो। गोसेवक जाति के लिए इस प्रकार सँड़हा देव की पूजा स्वाभाविक हो जाती है।

राउत लोग गोवर्धन-पूजा के अपने महान पर्व के अवसर पर गायों के गले में 'सुहाई' (एक प्रकार का आडम्बरपूर्ण रक्षा कवच) बाँधते हैं और स्वतः ऐसी भड़कीली वीर वेष भूषा धारण करते हैं जिसमें सामने कौड़ियों का और पीछे मोरपंख का संयोग रहता है। कौड़ी है लक्ष्मी का प्रतीक और मोरपंख है मंत्र-तंत्र अभिचार अथवा अन्य विपत्तिरूपी सर्पों के प्रतीकार का प्रतीक। सम्पत्ति आवे और विपत्ति जाय, यह इस वेषभूषा का प्रतीकार्थ हो सकता है। परन्तु राउतों ने शायद ही ऐसा अर्थ सोचा होगा। गुंजा तथा मोरपंख धारी श्रीकृष्ण के अनुकरण में

कौड़ियों और मोरपंखों का पहिनावा चल पड़ा होगा। रंग-बिरंगी फतुही और बढ़िया काला डंडा, जिससे पटा-बनेठी गदका-फरी आदि के भी हाथ इन राउतों द्वारा खेल लिये जाते हैं, इनकी उस वेषभूषा में सम्मिलित हैं। इसी वेषभूषा से वे गलियों-गलियों नाचते और मस्त हो-हो कर गाते रहते हैं। जिसके मन में स्फूर्ति आ जाय वही ज़ोर से 'हो...' कहकर लाठी ऊँची कर देता है, नृत्य क्षण भर के लिये रुक जाता है और वह अपना पद अथवा दोहा कह देता है या गा देता है और नृत्य फिर प्रारंभ हो जाता है।

इस पर्व के साथ 'नवाखाई' (नवान्नप्राशन) का पर्व सम्मिलित हो जाता है और कहीं 'मातर' कहीं 'मड़ई' के पर्वों का संयोग हो जाता है। 'मातर पूजा' राउतों की विशेष पूजा है जो पशुओं के आगन्तुक रोग निवारणार्थ रात्रि में की जाती है और वहाँ सुअर अथवा मुर्गे आदि की बलि दी जाती है और हो सका तो बलिपशु को गायों से कुचलवाया जाता है। 'मड़ई' पूजा रोग की अधिष्ठात्री कंकाली देवी की पूजा है। इसमें अनेक जनजातियाँ भाग लिया करती हैं, अतएव यह छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। इसके साथ राउतों का नाच अनिवार्य रूप से सम्मिलित हो गया है। केवट और गोंड़ लोगों का यह विशेष उत्सव है। 'मड़ई' का अर्थ है मड़ाना अथवा स्थापना करना। एक लंबे बाँस के ऊपर मयूरपंख के चन्द्रक लगाकर तथा कँदई नामक एक नदी तीर की कन्द के छिलकों से युक्त रस्सियाँ नीचे से ऊपर तक उस बाँस में बाँधकर उसकी स्थापना की जाती है। वही मड़ई है। देवारों और गोड़ों की मड़ई में लाल या काली पताकाओं की माला भी नीचे से ऊपर तक एक बाँस में लगी रहती है। संभव है, यह प्राचीन काल के इन्द्रध्वज से संबंधित पूजन-परम्परा हो। एक मड़ई का निमंत्रण पाकर अन्य मड़-इयाँ वहाँ अपनी-अपनी पूजा लेने पहुँच जाती हैं और इस प्रकार कई गाँव के लोग मिलकर सामू-हिक महोत्सव मना लिया करते हैं।

छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन की यह एक स्वल्प बानगी है। नयी सभ्यता के संचार से यह लोक-जीवन भी अब नये-नये रंग ग्रहण कर रहा है। जहाँ की स्त्रियाँ हमारे देखते-देखते उत्त-रीय अथवा कंचुकी धारण करना दूषित समझती थीं वहाँ अब कुर्तियों का आम रिवाज चल पड़ा है और जहाँ के पुरुष अच्छी खासी डेढ़-दो मील की यात्रा को 'धाप' भर ही मान लिया करते थे वे अब रेल के स्टेशनों और बस स्टैण्डों पर यान की प्रतीक्षा करते हुए घण्टो बैठे दिखाई देंगे। फिर भी छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन अब तक अपनी स्वच्छता और निश्छलता के लिए प्रसिद्ध है। वह उन के गीतों की तरह आडम्बरहीन और उनके नृत्यों की तरह ही उल्लासपूर्ण है। वह जग से छत्तीस न रहते हुए भी प्रभु-चरणों से छः और तीन का नाता अब भी निभाये हुए है।

●

वा० वि० मिरासी

रामगढ़ की मूर्तियाँ

श्री वा० कृ० परांजपे ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक "मेघदूत' पर नया प्रकाश" में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास के 'मेघदूत' में वर्णित रामगिरि सरगुजा ज़िले का रामगढ़ ही है और इसके प्रमाण में उन्होंने उस पर्वत की मूर्तियों को प्रस्तुत किया है। ये मूर्तियाँ राम, लक्ष्मण और सीता की हैं, ऐसा उनका कथन है। बीच में राम, उनकी बाईं ओर लक्ष्मण और दाईं ओर सीता की मूर्ति स्थित है। सामान्यतः राम के बाएँ बाजू सीता की मूर्ति होती है। परन्तु वहाँ वह दाएँ बाजू रखी गई है। इससे मूर्ति के अति प्राचीन होने का सबूत मिलता है, ऐसी भी उनकी मान्यता है। इससे उन्होंने यह भी अनुमान निकाला है कि रामगढ़ प्राचीनतम स्थान है। 'छत्तीसगढ़ स्टेट-गज़ेटियर' में उन मूर्तियों के चित्र भी हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६२ पर दिया है।

श्री परांजपे ने स्वयं उन मूर्तियों को नहीं देखा है, दूसरों के वर्णन पढ़कर उन्होंने अपनी धारणा बनायी है। उन मूर्तियों को वस्त्र पहना कर उनकी फ़ोटो ली गई है, अतः फ़ोटो से वे पहचानी नहीं जातीं। फिर भी, वे फ़ोटो से जिस मूर्ति को सीता समझते हैं उसके हाथ में 'कमंडलु' क्यों दिया गया है, यह शंका 'सकाल' (२८-९-५८) के पुस्तक-समीक्षक ने व्यक्त की है, जो स्वाभाविक है। वर्षों पूर्व दो व्यक्तियों ने उन मूर्तियों को अपनी आँखों देखकर उनका वर्णन लिखा है। सन् १८७४ में कनिंघम के सहायक वेग्लर रामगढ़ गये थे। उन्होंने रामगढ़ का सविस्तर वर्णन कनिंघम के 'आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया रिपोर्ट्स' (जिल्द १३, पृष्ठ २१, ५५) में किया है। वह कहता है, "सीता के नाम पर जो मूर्ति बतलाई जाती है वह गंगा अथवा अन्य किसी नदी की होगी। उसके दाहिने हाथ में रुद्राक्ष-माला और बाएँ हाथ में कमंडलु है। बीच की मूर्ति इन्द्र अथवा शिव की होगी। उसके एक हाथ में वज्र और दूसरे हाथ में त्रिशूल और मस्तक पर सर्प का फन है। पर यदि वज्र के कारण उसे 'इन्द्र' कहा जाय तो उसके मस्तक पर सर्प का फन कहाँ से आ गया ? अतएव वह मूर्ति शंकर की ही होनी चाहिए; ऐसा तर्क पेगमर ने प्रस्तुत किया। परन्तु साथ ही उसने यह भी कहा कि इन्द्र की मूर्ति क्वचित ही मिलती है। अतः हो सकता है कि वह इन्द्र की ही मूर्ति हो। श्री परांजपे अंतिम प्रतिमा को लक्ष्मण की मूर्ति बतलाते हैं। वेग्लर ने उसे राम की कहा है, क्योंकि उसकी बाईं ओर सीता और दाईं ओर हनुमान की मूर्ति दिखलाई देती है। अतः इस मूर्ति के संबंध में शंका का स्थल नहीं रह जाता। इसके पश्चात् सन् १९०५ में श्री इ० वी० काबडन रम्से आई० सी० एस० रामगढ़ गये और उन्होंने उन मूर्तियों का जो विस्तारपूर्ण वर्णन किया है वह उपर्युक्त 'छत्तीसगढ़ स्टेट गज़ेटियर' में छपा है। इन महाशय

रामगढ़ की मूर्तियाँ

रेवती
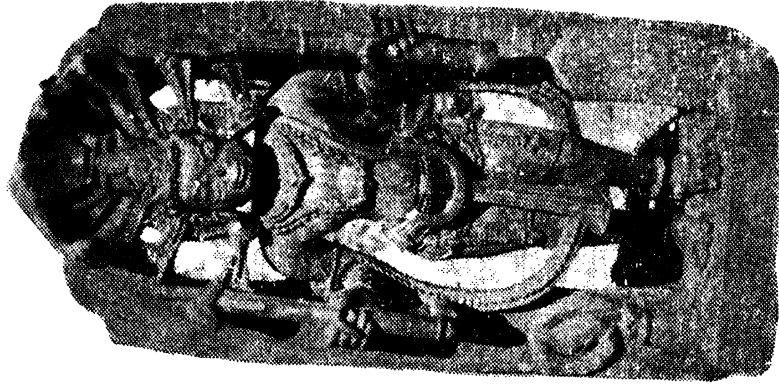
बलराम
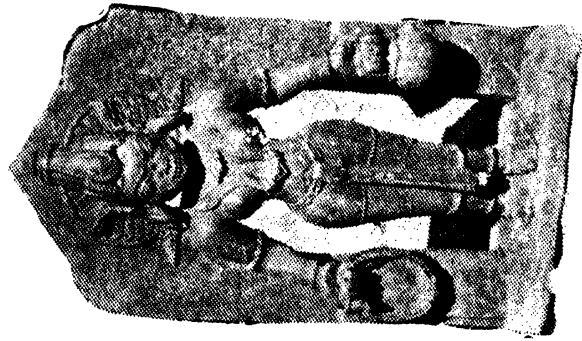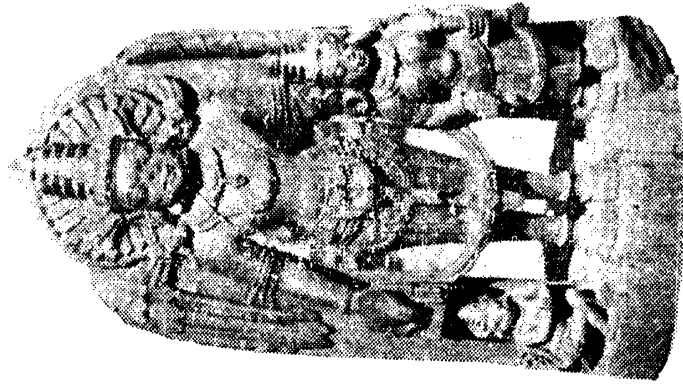
राम
[नागपुर संग्रहालय की कृपा से]

को भारतीय शिक्षा-शास्त्र का तनिक भी ज्ञान नहीं था। स्थानीय व्यक्तियों ने उन तीन मूर्तियों को क्रमशः सीता, राम और लक्ष्मण की मूर्ति कहा और वेग्लर ने उसे सत्य मानकर वैसा लिख दिया। उनकी पुस्तक को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि श्री परांजपे ने वेग्लर की पुस्तक अवश्य देखी है। फिर भी उन्हें काप्डेन और रम्से के मत स्वीकारने में कोई झिझक नहीं हुई, प्रत्युत उन्होंने वहाँ की स्त्री-मूर्ति को राम की दाहिनी ओर होते हुए भी सीता की मूर्ति मान कर यह निर्णय दे दिया कि वे तीनों मूर्तियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया कि 'मेघदूत' का रामगिरि रामगढ़ ही हो सकता है। उनकी पुस्तक की परीक्षा करते समय मेरा ध्यान रामगढ़ की मूर्तियों की ओर गया। उनकी पुस्तक की मूर्तियाँ वस्त्रावृत दिखलाई देने से उन्हें पहचानना कठिन था। फिर भी, सीता के हाथ में कमण्डलु कैसे और राम के मस्तक पर सर्प का फन कहाँ से आ गया, इसकी छानबीन आवश्यक प्रतीत हुई। अतः मूल शिल्प के चित्रों का अध्ययन आवश्यक जान पड़ा। सौभाग्य से नागपुर-संग्रहालय के क्यूरेटर डा० पटवर्धन तथा उनके सहायक श्री रोड़े कुछ मास पूर्व रामगढ़ की यात्रा कर चुके थे और उन्होंने प्रतिमाओं के चित्र भी लिये थे। उन्होंने वे चित्र मुझे दिये जिनको इस लेख के साथ छापा जा रहा है।

इन चित्रों पर मनन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यवर्ती मूर्ति इन्द्र, शंकर या राम की न होकर बलराम की है। बलराम की मूर्ति कैसी होनी चाहिए, इसका वर्णन 'वैखानसागम' में इस प्रकार दिया गया है—"अथ बलभद्र रामं मध्यमदशतालमिति द्विभुजं त्रिनतं दक्षिणहस्तेन मुसलधरं वामेन हलधरं श्वेताम्भं रक्तवस्त्रधरमुद्बद्धकुन्तलं दक्षिणेन हस्तेन पद्मधरां प्रसारित-वामहस्तामेवं कारयेत।"[1] उपर्युक्त पंक्तियों में कहा गया है कि बलराम की मूर्ति दशताल ऊँची, द्विभुज और त्रिभंगी होनी चाहिए। उनके दाहिने हाथ में मूसल और बाएँ हाथ में हल होना चाहिए। बलराम का वर्ण गौर तथा वस्त्र लाल हों, उनके केश ऊपर बँधे हुए हों। उनके दाहिने हाथ में कमल हो और बायाँ हाथ फैला हुआ हो।

वराह मिहिर की 'बृहत्संहिता' में बलराम की मूर्ति का निम्नानुसार वर्णन है—

बलदेवो हलपाणिर्मदविभ्रमलोचनश्च कर्त्तव्यः।
विभ्रत्कुंडलमेकं शंखेन्दुमृणालगौरवपुः॥

इसमें बलराम के एक ही कान में कुंडल होना चाहिए, ऐसा एक अधिक लक्षण दिया गया है। इस लेख के साथ प्रकाशित मध्यवर्ती मूर्ति का निरीक्षण करने से पता चलता है कि उसमें बलराम के बहुत से लक्षण मिलते हैं। मुख्य लक्षण तो ये हैं कि उसके दाएँ हाथ में हल है (वेग्लर के अनुसार वज्र नहीं, और दाएँ हाथ में मूसल, त्रिशूल नहीं), दोनों कानों में कुंडल और मस्तक पर रत्नजटित किरीट है। गले में अनेक आभूषण और पुष्पमाला हैं। बाहु पर अंगद, हाथ में वलय, उनका अधोवस्त्र घुटने तक ही है, कमर करधनी से बँधी हुई है और उसका छोर आगे छूटा हुआ है। बलराम शेष के अवतार माने जाते हैं, इसलिए उसका निदर्शक शेष का फन उनके

---

१. गोपीनाथ राव, एलिमेंटरी हिन्दू इक्नोग्रैफ़ी, जिल्द १ भाग २, परि० पृ० ४४।

मस्तक पर दिखलाया गया है। इन सब लक्षणों से यह मूर्ति राम की नहीं, बलराम की है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

बलराम के दाहिनी ओर स्थित मूर्ति रेवती की है, सीता की नहीं। श्री परांजपे का कथन है कि वह राम की दाईं ओर होने से अत्यन्त प्राचीन काल की स्थापित प्रतीत होती है। पर उनका यह अनुमान मध्यवर्ती मूर्ति के बलराम की सिद्ध हो जाने से निराधार हो जाता है। इस स्त्री के हाथ में कमण्डलु होने से वह गंगा के समान कोई नदी होगी, ऐसा वेग्लर का तर्क था। परन्तु यदि ऐसा होता तो पीठ पर नदी का चिह्न खुदा होता। गंगा की पीठ पर मगर का चिह्न उत्कीर्ण मिलता है। परन्तु उस मूर्ति पर किसी नदी का चिह्न नहीं है। बलराम की दाहिनी ओर उसका स्थान होने से वह मूर्ति बलराम की स्त्री रेवती की होनी चाहिए, ऐसा कहा गया है। उसके दाहिने हाथ में कमल होना चाहिए और बायाँ हाथ फैला हुआ होना चाहिए, यह 'वैखानसागम' में उल्लिखित है। ये लक्षण प्रस्तुत मूर्ति से मेल नहीं खाते। शिल्पकार ने बलराम की मूर्ति बनाते समय जैसे परिवर्तन किये हैं वैसे ही इस मूर्ति के संबंध में भी किये होंगे। इस मूर्ति के मस्तक पर किरीट और उसके पीछे तेजोवलय दिखलाया गया है, दोनों कानों में प्राचीन ढंग के कुंडल हैं। गले में रत्नजटित कंठा और हार है। बाहु और हाथ पर अलंकार है। बायें हाथ में कमण्डलु है। दाएँ हाथ की वस्तु रुद्राक्ष-माला होनी चाहिए, ऐसा वेग्लर का तर्क था। परन्तु उसकी बनावट रज्जु के समान दिखलाई देती है, अतः वह पाश होगा। प्राचीन समय में देवी की मूर्तियों के हाथों में कमण्डलु और पाश दिखाने की प्रथा थी। इसी प्रथा का यहाँ पालन दिखाई देता है। इस मूर्ति का अधोवस्त्र घुटने तक आया हुआ दिखलाई देता है। पैरों में कड़े-छड़े हैं।

तीसरी, बलराम के बाएँ बाजू स्थित मूर्ति श्री परांजपे के अनुसार लक्ष्मण की न होकर राम की है। राम के शिर पर किरीट-मुकुट और पीछे तेजोवलय है। दाएँ हाथ में शंख और बाएँ हाथ में धनुष है। दाईं ओर नीचे तीन पैने बाण दिखाई देते हैं। बलराम की मूर्ति के समान कंठ, बाहु, हाथ और पैर में अलंकार और वस्त्र दिखाये गये हैं; राम की बाईं ओर सीता की छोटी मूर्ति किरीटधारिणी और विविध अलंकार विभूषिता प्रदर्शित है। उसके दाएँ हाथ में चक्र और बाएँ हाथ में नालयुक्त कमल प्रदर्शित हैं। हाथ, पैर और गले में रेवती के समान ही अलंकार आदि दिखाई देते हैं। राम के दाहिने बाजू बैठी मुद्रा में हाथ जोड़े हनुमान दिखलाये गये हैं। मूर्ति के महत्व के अनुसार उनके आकार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसलिए राम की मूर्ति सब से बड़ी, सीता की उससे आधे आकार की और हनुमान की सब से छोटी दिखलाई गई है।

ये मूर्तियाँ रचना, अलंकार आदि की दृष्टि से मध्ययुग की जान पड़ती है। उनमें शिल्पकार ने रामगढ़ के क्षेत्र में बसने वाले आदिवासियों के चेहरे-मुहरे की नक़ल की है। इनसे प्राचीन सरगुजा राज्यान्तर्गत रामगढ़ के प्राचीनत्व अथवा कालिदास के 'मेघदूत' के रामगिरि के संबंध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

●

अमलिया पेज़्ज़ाली

बौद्ध साधना का अन्तरंग अर्थ

ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धधर्म की यह महान् विशेषता है कि इसने आलोचनात्मक विभज्यवाद[1] (विचारयोग्य सामग्री को सभी संभाव्य विकल्पों में विभाजित करके प्रत्येक विकल्प के खण्डन करने का सिद्धान्त) को विकसित किया। बुद्ध को ठीक ही चतुष्कोटिक न्यायप्रणाली का संस्थापक कहा जाता है,[2] यद्यपि इसके विकास का श्रेय उनके परवर्ती अनुयायियों को है। यह बौद्ध विचारधारा का उसके समग्र इतिहास में अथवा वस्तुवादी, वैपुल्यवादी, माध्यमिक तथा विज्ञानवादी निकायों की विभिन्न अवस्थाओं में प्रमुख लक्षण रही है।

आरम्भ से लेकर परवर्ती विकास तक बौद्ध विचारधारा में असाधारण परिवर्तन हुए हैं जिनको देखकर हमें आश्चर्य होता है कि कैसे विभिन्न युगों में रहने वाले विभिन्न प्रकार के शिष्य बुद्ध को अपना शास्ता मान सके। किन्तु यदि इस बात की तलस्पर्शी गम्भीरतर गवेषणा करें तो ज्ञात होगा कि बौद्ध धर्म में एक ऐसी क्रियाशील शक्ति थी जिसका उपर्युक्त प्रकार से अंकुरण (तथा विकास) होना एक तार्किक अनिवार्यता थी।

यह परिवर्तन उपासना में स्वतः क्रमशः प्रकट हुआ जिससे बुद्ध मानव या देशिक से लोकोत्तर पुरुष हो चले। धर्मशास्त्र में मौलिक्य बौद्धधर्म का भाववाद निरपेक्ष सर्वेश्वरवाद में परिणत हो गया। अभिधर्मशास्त्र में धर्मों की विपुलता धर्मता की निरपेक्षता में बदल गई; विज्ञानशास्त्र में प्रत्यक्षवाद और दृष्टिवाद चतुष्कोटिक न्याय में बदल गये (द्रष्टव्य डा० मूर्ति लिखित 'दी सेण्ट्रल फ़िलासफ़ी आव् बुद्धिज़्म' पृ० ५)। नीतिशास्त्र में भी परिवर्तन क्रान्तिकारी था; यहाँ अर्हत् का आदर्श बुद्धत्व-प्राप्ति के आदर्श में बदल गया। मेरे विचार से बौद्ध विचारधारा के इतिहास में अन्तिम प्रश्न का सर्वाधिक महत्त्व है। यह उसका सार है। क्योंकि एक दृष्टि से इसमें अन्य सभी प्रश्नों का अन्तर्भाव हो जाता है।

उपासना धर्मशास्त्र की अभिव्यक्ति है जिसके तार्किक समर्थन अभिधर्मशास्त्र तथा विज्ञान-

---

१. कोष्ठक के अन्तर्गत लेखिका के मन्तव्य को संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया गया है—संपादक। २. लेखिका का यह विचार कुछ प्रचलित अन्धविश्वासों पर निर्भर है। विद्वानों ने इस न्यायप्रणाली को बुद्ध-पूर्व सिद्ध किया है। द्रष्टव्य: दार्शनिक, द्वितीय वर्ष, अंक २ में डा० मूर्ति के इस मत की समीक्षा और पं० विधुशेखर भट्टाचार्य लिखित 'झा मेमोरियल वाल्यूम' में 'चतुष्कोटि' शीर्षक लेख—सम्पादक।

शास्त्र हैं। नीतिशास्त्र (विनयशास्त्र) धर्मशास्त्र का वैसे ही परिशिष्ट है जैसे साधना दर्शन (सम्यक् दृष्टि) का प्रतिफल है।

नैतिकता के अन्तर्गत जीवन के समस्त मूल्यों का समावेश हो जाता है जो कर्म तथा संकल्प के आभुक्त कर्म तथा आरंभक कर्म के (जिस कर्म का फल भोग लिया जाता है वह आभुक्त कर्म है और जो कर्म फल देना आरम्भ करता है वह आरम्भक है) प्रतिफल हैं। बुद्ध कर्म-विपाक में हस्तक्षेप नहीं करते, वे केवल उसके सार्वभौम पहलू पर प्रकाश डालते हैं। उन्हें कभी शक्ति-देव के रूप में नहीं स्वीकार किया गया, जैसा कि हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म में ईश्वर की धारणा है। उन्हें सदैव मान्य लोकोत्तर पुरुष (पुरुषोत्तम या अतिमानव) या विज्ञान-देव के ही रूप में माना गया। इतने पर भी उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया है; मनुष्यों को सम्यक् सम्बोधि दिखायी है और तथता का प्रकाश दिया है।

शाक्यमुनि की देशना के अनुसार विनय (निर्वाण साधना) शील के अभ्यास तथा शमथ के ध्यान से आरम्भ होती है, तथता के स्वभाव की विपश्यना (प्रज्ञा अथवा सम्यक् संबोधि) में इसका परिपाक होता है।[3]

शील का अभ्यास साधक के लिए आवश्यक ही नहीं है बल्कि इसके परित्याग के प्रलोभन को भी उसे आरम्भिक भूमिका में बचाना चाहिए। बुद्ध शीलव्रत को स्वयं साध्य मानने के पक्ष में न थे।

इसी प्रकार साधक को शमथयान पर चलना चाहिए और वहाँ रुक न जाना चाहिए, क्योंकि वह साधन है न कि स्वयं साध्य। साध्य विपश्यना या सम्यक् संबोधि है। इसमें अन्ततः आराम-प्राप्ति संभव है।

विभिन्न निकायों के अपने शीलव्रत हैं, किन्तु शील का आन्तरिक मूल्य सर्वत्र अनपेक्ष है। शील राग-द्वेष का नियमन तथा क्लेश की विजय है। जो राग-द्वेष में निमग्न है उसे विपश्यना उपलब्ध नहीं हो सकती।

शमथ का अर्थ मन को शान्त तथा स्थिर रखना है। यह चित्त की एकाग्रता है; जब सभी विक्षेप और औद्धत्य शान्त हो जाते हैं तो विपश्यना का यान सुलभ हो जाता है।

किन्तु हीनयान और महायान दोनों में विपश्यना का आलम्बन एक ही नहीं है। तात्पर्य यह कि महायान की विपश्यना अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। हीनयान का लक्षण वस्तुवाद था, जो धर्मों की शून्यता में बाधक था। यही कारण है कि अभिधर्म (सर्वास्तिवाद) धर्म-नैरात्म्य तक नही पहुँचता है। यह मात्र पुद्गल-नैरात्म्य का समर्थन करता है—सभी धर्म निरात्म हैं (निरात्मानः सर्वे धर्माः), पुद्गल चेतनतत्व नहीं है और वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का मात्र संघात है।

अविद्या आत्म-स्वभाव के अन्धविश्वास का हेतु है। जो इस अन्धविश्वास से संग्लन है वह संसार (जन्म मरण का चक्रवत् परिवर्तन) में घूमता है। जब विपश्यना प्रतिवेध के द्वारा

---

३. शमथयान और विपश्यना यान ये दो बौद्ध साधना के क्रमिक सोपान हैं—संपादक।

ऐसे अन्धविश्वासों का परीक्षण करती है तब पुद्गल के निरवद्य स्वभाव (जो निःस्वभावता है) का प्राकट्य और बोध होता है। तभी अविद्या तथा अन्य एकादश निदानों का, समस्त संसार का, निरोध सुलभ हो जाता है।

आभिधार्मिक निकायों में द्वादश निदानों के चक्र या प्रतीत्य समुत्पाद को कारणतावाद का नियम माना जाता है जो धर्मों के उत्पाद तथा विनाश को कालिक अनुक्रम (काल-धारा) के रूप में मानता है (डा० मूर्ति : दी सेण्ट्रल फ़िलाँसफ़ी ऑव् बुद्धिज़्म, पृ० ७)। धर्मों को स्वलक्षणतः वस्तु-सत् माना जाता है, यद्यपि उन्हें नित्य नहीं माना जाता। धर्मों की क्षणिकता या क्षणभंगवाद हीनयान की देशना है।

नीतिशास्त्र में हीनयानी निकाय अर्हत् के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। यह प्रत्येक बुद्ध का यान है। हीनयानी प्रत्येक बुद्धयान के निरोध-पक्ष पर, क्लेशों के निरोध तथा आवरण के निरोध पर, बल देते हैं और कोई भावात्मक आदर्श नहीं बताते। यह सभी लौकिक मलों का मात्र निरोध है। ज्ञेयावरण के निरोध को लाने के लिए वे प्रयत्न नहीं करते।

इस सन्दर्भ में कर्त्तव्य पालन के लिये सबसे अनुकूल मार्ग भिक्षु-जीवन है। संघ का परिवेश, विनय जिनकी संघ में देशना होती है और एक भिक्षु का दूसरे भिक्षुओं पर अनुशासन मिलकर इसी जीवन को अर्हत्त्वप्राप्ति के सर्वथा उपयुक्त बना देते हैं। प्रतिमोक्ष भी इस ओर उपपाद्य है। यह तप की भाँति भिक्षु की सहायता करता है और पापियों को दण्डकर्म प्रदान करता है। दण्डकर्म श्रावकों को शुद्ध कर सकते हैं और उनके दुरित को धो सकते हैं। इनसे कर्म-विपाक का नियम कुछ शिथिल हो जाता है।

भिक्षुओं का संघ पवित्रता का आलय और निधान है। भिक्षुओं का कर्त्तव्य इस निधि का संरक्षण और वर्धन करना है और मनुष्यों को सतत निर्वाणमार्ग दिखाना है। इसलिए यह संघ त्रिरत्नों में से एक रत्न है और बुद्ध तथा धर्म (अन्य दो रत्नों) के मध्य एक जीवन्त सम्बन्ध है।

महायान की दृष्टि हीनयान-दृष्टि से भिन्न है। यह धर्मों को वस्तु-सत् नहीं मानता और फलतः यह सिद्ध करता है कि परमार्थ की दृष्टि से वैपुल्यवाद असमीचीन है। यहाँ विपश्यना गम्भीरतर हो जाती है। आत्मा (पुद्गल) के घटकरूप धर्मों की शून्यता प्रमाणित करके और उन्हें मात्र परिकल्पक तथा भ्रान्ति सिद्ध करके (पुद्गल-नैरात्म्यवाद स्थापित करके) महायान विषयगत धर्मों की तात्त्विकता का खण्डन करता है (धर्म-नैरात्म्यवाद)। इस प्रकार की परीक्षा तथा गवेषणा भ्रान्ति के अपनय में तथा अविद्या-परिवार के अपमर्दन में सहायक है।

माध्यमिक निकाय का दावा है कि धर्मों की शून्यता (अतात्त्विकता) को धर्मों का नैःस्वाभाव्य (निःस्वभावता या स्वभावशून्यता) समझना चाहिये। यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ धर्मों का अनिवार्य इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) है।

इसके विपरीत विज्ञानवादी निकाय का दावा है कि धर्मों की तात्त्विकता के खण्डन का निष्कर्ष यह है कि धर्म मायामात्र हैं तथा अपने सांस्कृतिक रूप में मिथ्या हैं। यद्यपि धर्म नैरात्म्यवाद यहाँ भी मान्य है, तथापि इसका आधार ज्ञाता तथा ज्ञेय के द्वैत का भ्रम है। विज्ञानवादी निकाय विशुद्ध विज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) को जिसमें सृष्टि करने की शक्ति है, परमतत्व

मानता है। यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य मायिक जगत् को निर्धारित करने वाले नियम से है।

महायान की नैतिक समस्या भी हीनयान से भिन्न है। यहाँ अर्हत्व-प्राप्ति के स्थान पर बुद्धत्व-प्राप्ति आदर्श है। इसके लिए विशुद्धि आवश्यक है, किन्तु यही संबोधि की समस्त प्रक्रिया नहीं है। यह मात्र तैयारी है, बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग का प्रथम सोपान है। यहाँ वैयक्तिक विशुद्धि पर्याप्त नहीं है। बोधिसत्व (बुद्धत्व को प्राप्त करने वाला) दूसरों के लिए जीता है। संसार-बन्ध में पड़े हुए अविद्या से विमुग्ध (विमूढ़) तथा दुःख भोगने वाले समस्त सत्वों के प्रति करुणा पारमार्थिक प्रगति का उत्स है। बोधिसत्व का ध्यान अपने ऊपर कभी भी नहीं रहता। वह स्वार्थ-वाद से सर्वथा विमुक्त है। वह बुद्ध (परम कारुणिक) की देशना का सम्पूर्णता में (आंशिक रूप में नहीं) पालन करता है। संबोधि प्राप्त करने के पश्चात् शाक्यमुनि ने संबोधि को मात्र अपने तक सीमित रखने के प्रलोभन को जीता था। उसी क्षण वह आजीवन समस्त सत्वों को मुक्त करने के लिए पूर्णतया संलग्न थे।

महायान का दूसरा सारगर्भित सिद्धान्त है कि क्रममुक्ति संभव है। वास्तव में हीनयान ने भी निर्वाणप्राप्ति के मार्ग में चार विभिन्न सोपानों को माना था। प्रथम सोपान स्रोतापन्न का है जो मार्ग में प्रविष्ट हो चुके हैं। द्वितीय सोपान सकृदागामी का है जिन्हें निर्वाणलब्ध करने में केवल एक बार जन्म लेना है। तृतीय सोपान अनागामी का है जिन्हें पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता (जिन्हें इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त होने वाला है)। अन्ततः चतुर्थ सोपान अर्हतों का है जिन्हें निर्वाण लब्ध है। किन्तु महायान में क्रममुक्ति का अर्थ है कि अनास्रव वैराग्य मार्ग के, जो निर्वाण का सीधा (ऋजु) मार्ग है, अतिरिक्त एक और सरल, यद्यपि टेढ़ा (अनृजु) मार्ग है। समय पाकर यह दूसरा मार्ग भी निर्वाण तक पहुँचता है। यह स्वर्गों का यान है। जो पूर्ण वैराग्य का प्रणिधान (व्रत) नहीं कर सकते वे (श्रावक) लौकिक या श्रावक यान का अनुसरण करते हैं जो अभ्युदय-सुख अथवा सापेक्षिक हित प्रदान करता है। श्रावक त्रिरत्नों की, बुद्ध, संघ और धर्म की, शरण लेते हैं और मोक्षभागीय सामान्य शीलव्रतों का पालन करते हैं। वे उपासक कहे जाते हैं और संसार में अनासक्त होकर रहते हैं तथा पुण्य संपादक कर्म करते हैं। पुण्य के फल में उन्हें सुखमय जीवन मिलता है जिसमें निर्वाण के लिए अवशिष्ट शीलव्रतों को सम्पन्न करने तथा कठिन तप करने को उन्हें यथेष्ट बल प्राप्त होता है। इसके विपरीत बोधिसत्वों के शुभकर्म लोकोत्तर होते हैं; वे केवल निर्वाण के लिए संपादित किये जाते हैं और पुण्य या कोई कर्म नहीं उत्पन्न करते।

स्पष्ट है कि निर्वाण का सीधा मार्ग दूसरे मार्ग से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और महत्व-शाली है, किन्तु महायान ने श्रावकों के लिए जिनमें बलवीर्य का अभाव रहता है, क्रममुक्ति की संभावना को माना है। यह मानवता-प्रेम महायान का व्यापक लक्षण है।

बौद्धों की नैतिक साधना का समन्वय आर्य अष्टांगिक मार्ग में है जिसके सोपान हैं, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति तथा सम्यक् समाधि। प्रथम दो सोपानों को परमार्थ की भूमिका तथा साधना

का लक्ष्य समझना चाहिए, क्योंकि वे प्रज्ञा का विधान करते हैं। तदनन्तर तीन सोपान शील-व्रत के अभ्यास हैं और अन्तिम तीन सोपान ध्यान या समाधि के सोपान हैं। साधना के आरंभ में ही त्रिरत्नों में श्रद्धा अपेक्षित है, क्योंकि वह सम्पूर्ण मार्ग की सफलता को निश्चित करती है। मार्ग पर चलने का संकल्प ठीक वह है जो कर्मबन्ध का अपच्छेद करता है।

महायान बोधिचित्त के महत्व पर बल देता है जो पारमार्थिक प्रगति में पथ-प्रदर्शन करता है। इसके (बोधिचित्त के) चार आश्रम हैं—(१) पूर्व जन्म के कर्म से प्राप्त गोत्र (पारमार्थिक या गुरु-शिष्य-परम्परा) (२) बोधिचित्त का स्वयं उत्पादन (३) सभी सत्वों के प्रति करुणा तथा (४) तथागत की अवस्था का ध्यान।

बोधिचित्त दो प्रकार का हो सकता है—बोधिप्रणिधिचित्त (बोधि की ओर अग्रसर होने का संकल्प) और बोधि प्रस्थानचित्त (बोधि पर तात्कालिक ध्यान का अभ्यास)। दूसरा मार्ग अपेक्षाकृत सीधा है, किन्तु कठिन होने के कारण विरले ही इसका अनुसरण करते हैं।

निर्वाण के मार्ग में प्रवेश करने के लिए प्रणिधान तथा संवर (शीलव्रत) अनिवार्य हैं। तत्पश्चात् प्रथम चार पारमिताओं का (अर्थात् दानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता तथा वीर्यपारमिता का) संपादन अपेक्षित है। इन सबको शीलपारमिता के अन्तर्गत किया जा सकता है। ये तीन मूल दोषों को, मोह, राग और द्वेष को, दूर करती हैं और सद्गुणों को विकसित करती हैं। इनके अनन्तर ध्यानपारमिता आती है। इसका लक्ष्य विषय-वासना का उच्छेद है। इसके लिए चार प्रकार के ध्यान बताये जाते हैं। पहला ध्यान विशुद्ध नहीं है, क्योंकि वह आस्वादन से संप्रयुक्त है। इसका रूप वितर्क और विचार का है। दूसरा ध्यान शुद्धक है। तीसरा ध्यान अनास्रव है। चौथा ध्यान स्कन्धों के बारे में है और कर्मविपाक से उपलब्ध है। चारों ध्यानों के अपने-अपने चार आलंबन हैं जो क्रमशः अशुचिभावना (शरीर की अशुद्धता को सींचना), मैत्री (सभी सत्वों के प्रति प्रेम), आनापानस्मृति अर्थात् प्राणायाम तथा पाँच स्कन्धों के पुद्गलीय संघात हैं। सभी ध्यान रूपधातुक हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि निर्वाण-साधना के आन्तरिक तथा अनिवार्य अंग शमथ और विपश्यना हैं। शमथ और विपश्यना दोनों एक दूसरे की अपेक्षा में साथ-साथ चलते हैं। जब मन प्रगाढ़ ध्यान (शमथ) में रहता है तब विपश्यना इसे सुप्ति से बचाती है, और जब विपश्यना विक्षेपों से आक्रान्त होती है तो शमथ मन को नियंत्रित करता है और पुनः विपश्यना को उत्पन्न करता है। शमथ मन की पूर्ण शान्त अवस्था या सुस्थिरता है। शमथ की पराकाष्ठा समाधि है। कुछ महायानी ग्रंथों के अनुसार सभी प्रकार की समाधियाँ कौसिद्य, आलंबन-विस्मरण, विक्षेप, औद्धत्य, अव्यायाम और व्यायाम—इन छः दोषों से अनुविद्ध हैं। ये दोष, श्रद्धा, छन्द, व्यायाम, प्रश्रब्धि, स्मृति, संप्रज्ञान, चिन्तना और उपेक्षा—इन आठ विपरीत क्रियाओं द्वारा दूर किये जा सकते हैं।

कौसिद्य को श्रद्धा, छन्द, व्यायाम और प्रश्रब्धि से जीता जा सकता है। आलंबन विस्मरण को स्मृति से, विक्षेप और औद्धत्य को संप्रज्ञान से, अव्यायाम को चिन्तना से और व्यायाम को उपेक्षा से रोका जा सकता है।

ध्यान-मार्ग (समाधि) में श्रद्धा रखने से पहले समाधि की कामना उत्पन्न होती है। तदनन्तर वीर्य होता है जो कायचित्त की कर्मण्यता लाता है। इससे कायचित्त की प्रश्रब्धि आती है और तब कौसिद्य का पूर्णतया उच्छेद हो जाता है।

स्पष्ट है कि स्मृति आलंबन-विस्मरण को दूर करती है और संप्रज्ञान (ध्यान) विक्षेप तथा औद्धत्य को रोकता है। विक्षेप और औद्धत्य को जीतने के समय जो व्यायाम की कमी अनुभूत होती है उसे चिन्तना द्वारा जीता जाता है। जब विपश्यना शमथ में उसके विचार के साथ घटती है तब समस्त व्यायाम को रोकने के लिए उपेक्षा आवश्यक है।

इस प्रकार मन (चित्त) की शिक्षा महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि जिसने मन को अपने वश में कर लिया है उसके वश में सभी धर्म हैं। विपश्यना अगोचर (पारमार्थिक) विचार है। यह प्रज्ञा पारमिता है, तथता के लक्षण की दृष्टि है। खण्डनात्मक विचार (शून्यता) के रूप में विपश्यना के कई सोपान हैं—वितर्क या सांवृतिक सत्य की गवेषणा, विचार या अद्वय-तत्त्व का परीक्षण, स्वलक्षणों का विवेक तथा परिकल्पों (चैतसिक कृतियों) की संबोधि।

विपश्यना भूतप्रत्यवेक्षा है। यह भूत तथता है क्योंकि यह पुद्गल-नैरात्म्यवाद और धर्म नैरात्म्यवाद की संबोधि को उपपन्न करती है। यह अद्वय संबोधि (ज्ञान) है। यह विशुद्ध या सम्यक् संबोधि है। माध्यमिक मत से यह सभी धर्मों की प्रकृति (प्रकृतिर्धर्माणाम्) है। एक अर्थ में विपश्यना विचार (गवेषणा) की प्रक्रिया और विचार का लक्ष्य दोनों है। विचार के लक्ष्य के रूप में यह तर्कोर्ध्व (तर्कातीत) ज्ञान है और विकल्पों (प्रत्ययमूलक विचारणाओं) से मुक्त है। यह मात्र भूततथता है। गुण में यह गंभीर अप्रमेय और असंख्येय है।

विपश्यना स्वतः परमार्थ, परम मूल्य या परम श्रेय है। यह सर्वोत्कृष्ट पारमिता है। यही अन्य पारमिताओं की व्यवस्थापिका है और समस्त साधनमार्ग को प्रकाशित करती है।

शमथ और विपश्यना दोनों चार आर्यसत्यों के लक्षण को उनके सोलह रूपों में व्यक्त करते हैं। ऐसा वे ज्ञानलोक के द्वारा करते हैं जो आकाश-आनन्त्य-समापत्ति, विज्ञान-आनन्त्य-आयतन-समापत्ति, अकिञ्चन-आयतन्-समापत्ति और नैव-संज्ञान-असंज्ञान-आयतन-समापत्ति, इन चार आरूप्यधातुक समापत्तियों में विशद करता है। इस प्रकार भाववर्ग (संसार का अन्त) लब्ध होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

देहनिरोध से कर्म-विपाक के आभोग होने पर निरुपाधिशेष निर्वाण प्राप्त हो जाता है। मोक्ष कर्म और क्लेश का निरोध है। निर्वाण तथागत के रूप में प्रज्ञा को प्राप्त करना है।

इस प्रकार समझने पर पारमार्थिक साधना तथता के खोजने के लिए पूर्णतया आत्म-शून्यता (नैरात्म्य) का यान है। विपश्यना यान के द्वारा साधक प्रत्येक दृष्टि से अपने को मुक्त करता है और अपनी आत्मभावना को दूर करता है। उसकी कोई अपनी दृष्टि नहीं होती है। उसे केवल अपने को सभी दृष्टियों से शून्य करना रहता है। उसे भूततथता के समक्ष मात्र तथता होना है, अन्ततः यह खोजना है कि न तो ज्ञाता सत्य है और न ज्ञेय, किन्तु मात्र स्वयं-प्रज्ञा या तथता सत्य है।

●

संगमलाल पाण्डेय

साधु निश्चलदास : आधुनिक वेदान्त का जनक

हिन्दी दर्शन-साहित्य के विषय में यह धारणा प्रचलित है कि यह नगण्य है, इसमें एक भी मौलिक दर्शन-ग्रंथ नहीं है, अभी हाल से, लगभग १९४७ ई० से, कुछ लेखक हिन्दी में दर्शन-ग्रंथ लिख रहे हैं और पिछली शताब्दियों में इस भाषा में दर्शन-ग्रंथों की रचना नहीं हुई। यह धारणा कितनी निर्मूल है, इसका पता इस बात से लगाया जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द ने साधु निश्चलदास (निधन सन् १८६३ ई०) के 'विचारसागर' के विषय में कहा है कि "भारत में जितना प्रभाव इस पुस्तक का है उतना पिछली तीन शताब्दियों में किसी भी भाषा में लिखी गयी दूसरी पुस्तक का नहीं है।"[१] १६वीं शती के मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के पश्चात् यदि कोई महत्वपूर्ण और मौलिक ग्रंथ भारत की किसी भाषा में लिखा गया तो वह 'विचारसागर' ही है। यह ग्रंथ खड़ी बोली हिन्दी पद्य तथा गद्य में लिखा गया है। इसमें पारिभाषिक वेदान्त का केवल गहरा अध्ययन ही नहीं, प्रत्युत नयी दिशाओं में उल्लेखयोग्य विकास भी दीख पड़ता है। इसकी मौलिकता इस बात से भी आँकी जा सकती है कि इसके अनुवाद मराठी, बँगला व अंग्रेजी में हो चुके हैं।[२]

किन्तु 'विचारसागर' साधारण जिज्ञासुओं के लिए ही लिखा गया है। विशिष्ट तथा प्रौढ़ जिज्ञासुओं के लिए इसके लेखक ने 'वृत्तिप्रभाकर' नामक ग्रंथ की रचना की है। इसमें खड़ी बोली हिन्दी गद्य में अद्वैत वेदान्त की गूढ़ समस्याओं का समाधानपूर्वक विवेचन किया गया है। सबसे अधिक उल्लेखयोग्य बात इसमें यह है कि एक ओर तो भामतीकार वाचस्पति मिश्र, संक्षेपशरीरककार सर्वज्ञात्ममुनि, पंचदशीकार विद्यारण्य स्वामी, न्यायमकरन्दकार आनन्दबोध, वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि मौलिक ग्रंथकारों और अद्वैत प्रस्थान-कारों के कतिपय सिद्धान्तों को अद्वैत परम्परा से विसंगत दिखाया गया है और दूसरी ओर नव्य-न्याय के प्रमुख प्रवर्तकों और आचार्यों, गंगेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य के कुछ सिद्धान्तों का अद्वैत-सम्मत खंडन किया गया है। इसमें अनिर्वचनीय ख्याति का सयुक्तिक और सविस्तर निरूपण है।

डायसन और स्वामी विवेकानन्द से काफ़ी पहले निश्चलदास ने अद्वैत वेदान्त की सयुक्तिक व्याख्या आधुनिक भाषा और शैली में की है। आधुनिक वेदान्त की समस्त प्रवृत्तियों का सूत्र-

---

१. विवेकानन्द, कम्प्लीट वर्क्स, भा० ४, पृ० २८१।

२. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृ० ४३५।

पात 'विचारसागर' और 'वृत्ति प्रभाकर' में दीख पड़ता है, जिनका वर्णन अभी आगे किया जायगा। इससे कहा जा सकता है कि निश्चलदास आधुनिक वेदान्त का जनक है। जिस समय सन् १८५७ ई० में उत्तरी भारत में राष्ट्रीय क्रांति मची हुई थी और जर्मनी में डायसन का गुरु शोपेनहार (१७८८-१८६० ई०) उपनिषदों का दैनिक पारायण और स्तवन कर रहा था और वहाँ की उर्वर भूमि में वेदान्त-बीज छींट रहा था, प्रायः उसी समय दिल्ली के पास रहते हुए निश्चलदास अद्वैत वेदान्त की आधुनिक युग के अनुरूप नूतन प्रवर्तना कर रहा था।

उसने जिन दिशाओं में आधुनिक वेदान्त की प्रवर्तना की है उनमें से कुछ का यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

§१. आधुनिक भाषाओं द्वारा भी अद्वैत वेदान्त का यथार्थ ज्ञान और अद्वैत तत्व की अनुभूति हो सकती है। संस्कृत भाषा का अद्वैत-बोध से अपरिहार्य संबंध नहीं है, जैसा कि संस्कृतज्ञ समझते हैं। ब्रह्मवेत्ता की वाणी का नाम ही वेद है, फिर वह चाहे संस्कृत में हो या आधुनिक भाषा में। निश्चलदास ने ठीक कहा है:—

ब्रह्मरूप अहै ब्रह्मवित, ताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद।।[३]

फिर तर्क रखते हुए उसने कहा—"वेद के वचन बिना ज्ञान होवे नहीं, सो नियम नहीं। जैसे आयुर्वेद में कहे जो रोग और तिनके निदान और औषध, तिन संपूर्णक अन्य संस्कृत ग्रंथों से और भाषा, फारसी ग्रंथों से ज्ञान होय जावै है, तैसे सर्व का आत्मा जो ब्रह्म ताका ज्ञान भी भाषादिक ग्रंथों से होवै है। इस वास्ते सर्वज्ञ जो ऋषि और मुनि हुए हैं, तिन्होंने स्मृति और पुराण और इतिहास ग्रंथों में ब्रह्म विद्या के प्रकरण कहे हैं। जो वेद से बिना ज्ञान न होवै तौ वे सम्पूर्ण प्रकरण निष्फल होय जावैंगे। यातैं आत्मा के स्वरूप प्रतिपादक जो वाक्य हैं, तासूँ ज्ञान होवै है, सो वेद का होवै अन्यथा अन्य होवे। यातें भाषा ग्रंथ से भी ज्ञान होवै है यह वार्ता सिद्ध हुई।"[४]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निश्चलदास ने यहाँ बड़ी भारी क्रांति की और कई तथ्यों का उद्घाटन किया। उसने वेद का सच्चा अर्थ निश्चित किया कि ब्रह्मवित् की वाणी का नाम ही वेद है, फिर वह चाहे जिस भाषा में हो। हमारे वेदों का बाह्य रूप—संस्कृत भाषा—उनका महत्व का अंश नहीं है। इनका सार उस वाह्य रूप में प्रकाशित तत्व है। यदि इस तत्व का व्याख्यान संस्कृत-भिन्न भाषा में किया जाय, तो वह भी वेद ही होगा, वेद से अवेद न होगा। जो बात वेद के लिए है वही, बल्कि उससे भी बढ़कर, वेदान्त के लिए लागू होती है। इस प्रकार संस्कृत से अद्वैत वेदान्त की बपौती छीन ली गई और आधुनिक भाषाएँ भी अद्वैत वेदान्त की भाषा सिद्ध हुईं। इससे अद्वैत वेदान्त के बाह्य रूप का ज्ञान, संस्कृत के ग्रंथों का पंक्तिशः अध्ययन, समाप्त हुआ और उसके तत्वों के अध्ययन की परम्परा चली। इसका एक बड़ा महत्वपूर्ण फल यह हुआ कि शब्द-प्रमाण या श्रुति-प्रमाण और पंक्ति-पांडित्य का आधुनिक वेदान्त में महत्व बिल-

---

३. विचारसागर, पृ० ८०। ४. वही, पृष्ठ ८१।

कुल न रह गया और उसके स्थान पर युक्ति तथा अनुभव का महत्व हो चला। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन ग्रंथ-रचना और प्रतिपादन-शैली में हुआ, टीका-टिप्पणी करने अथवा खण्डन-मण्डन में एक पक्ष लेकर ग्रंथ लिखने के स्थान पर विवेचनापूर्ण शैली में मौलिक ग्रंथ लिखने की परिपाटी चली। स्वयं निश्चलदास के दोनों ग्रंथ इस प्रकार आधुनिक वेदान्त के अग्रदूत हैं।

२. निश्चलदास ने सिद्ध किया कि मनुष्य मात्र को तत्वज्ञान का अधिकार है। इस कारण शूद्र अथवा अन्त्यज भी अद्वैत ज्ञान के अधिकारी हैं। तर्क यों हैं—

"जन्मान्तर संस्कार तें अन्त्यजादिकन कूं भी जिज्ञासा होय जावै है तो पौरुषेय वचन तें तिनको भी ज्ञान होय कै कार्य सहित अविद्या की निवृत्तिरूप मोक्ष होवै है। यातें देव-असुरन की नाईं सकल मनुष्यन कूं तत्वज्ञान का अधिकार है। आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान कूं तत्वज्ञान कहे हैं। आत्महीन कोई शरीर होवै तौ ज्ञान का अनधिकार होवै। यातें आत्मज्ञान की सामर्थ्य मनुष्यमात्र में है।"[५]

और—

"चतुर्वर्ण के असाधारण धर्मन में शूद्र का अधिकार है। तिन कर्मन के अनुष्ठान तें अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा विद्या की प्राप्ति संभव है। यातें इतिहास-पुराणादिकन के श्रवण तें विवेकादिकन के संभव तें शूद्र कूं भी ज्ञानार्थित्व होने तें वेद भिन्न अध्यात्मग्रंथन के श्रवणादिकन में शूद्र का अधिकार है।"[६]

फिर, भाष्यकार शंकराचार्य के मत से भी शूद्र को तत्वज्ञान का अधिकार है—

"भाष्यकार ने भी प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में[७] यह कहा है—"उपनयनपूर्वक वेद का अध्ययन कह्या है, शूद्र कूं उपनयन के अभाव तें यद्यपि वेद में अधिकार नहीं है, तथापि पुराणादिक श्रवण तें शूद्र कूं भी ज्ञान होय जावै तौ ज्ञानसमकाल ही शूद्र का भी प्रतिबंध रहित मोक्ष होवे है। इसी रीति से भाष्यकार के वचन तें भी वेद भिन्न ज्ञान हेतु अध्यात्मग्रंथन के श्रवण में शूद्र का अधिकार है।"[८]

पिछली कई शताब्दियों में शूद्रों को केवल भक्ति का अधिकार था, तत्वज्ञान का नहीं। निश्चलदास ने उनके अधिकार की पुनः व्यवस्था की। शूद्र ही क्यों, उसने मनुष्यमात्र को—म्लेच्छों, यवनों आदि को भी तत्वज्ञान का अधिकार दिया। इस अधिकार-व्यवस्था में उसने भारतीय परम्परा का भी निर्वाह किया। शंकराचार्य के विषय में आज तक यह धारणा प्रचलित है कि उन्होंने शूद्र को तत्वज्ञान का अधिकार नहीं दिया। निश्चलदास ने इसकी असत्यता सिद्ध की

---

५. वृत्तिप्रभाकर पृष्ठ ४१२, ६. वही, पृष्ठ ४१२। ७. द्रष्टव्य—शारीरक भाष्य १।३।३८-येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्, वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्। ८. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ४१२।

और जिस प्रकार शंकराचार्य ने मनुष्यमात्र को तत्वज्ञान का अधिकार दिया था उसी प्रकार उसने भी दिया। उसने भी माना कि वेदाध्ययन में शूद्रों का अधिकार नहीं है। पर यहाँ वेदों का रूढ़िगत अर्थ है। वेदों का जो अर्थ उसने निश्चित किया है उसमें मनुष्यमात्र का अधिकार है। केवल संस्कृत भाषा में व्यक्त वेदों के अध्ययन में उन्हीं लोगों को अधिकार है जिनका उनकी विधि से उपनयन संस्कार हुआ है, और स्पष्ट है कि इन वेदों के अनुसार शूद्र का उपनयन संस्कार नहीं होता। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन वेदों का अध्ययन तत्वज्ञान का हेतु है। 'छन्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार नारद को चारों वेदों के अध्ययन के अनन्तर भी तत्वज्ञान नहीं हुआ। अतएव तत्वज्ञान का हेतु वेदाध्ययन नहीं है। अद्वैतपरक वाक्य का बोध ही तत्वज्ञान का हेतु है और इसमें मनुष्यमात्र का अधिकार है। इस प्रकार निश्चलदास ने आधुनिक वेदान्त को जनतंत्र और समाजवाद या साम्यवाद के अनुयायियों की माँगों के अनुकूल कर दिया है। जैसे भक्तों ने नारा लगाया कि "हरि को भजे सो हरि का होई" अर्थात् भक्ति में सबका समान अधिकार है, वैसे उसने भी घोषणा की कि जो जिज्ञासु है उसे वेदान्त का अधिकार है। जिज्ञासा मनुष्यमात्र की प्रवृत्ति है और इस कारण वेदान्त में भी मनुष्यमात्र का अधिकार है।

§३. निश्चलदास ने तत्वज्ञान की तीन विधियाँ बतलाई। पहली विधि तत्वदृष्टि, दूसरी विधि अदृष्टि और तीसरी विधि तर्कदृष्टि है। यद्यपि उसने इसको रूपक द्वारा मूर्तिमान बनाकर क्रमश: उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी माना है, तथापि उसका तात्पर्य यह है कि ये तत्वज्ञान की तीन वैकल्पिक विधियाँ हैं। इनमें से किसी का अवलम्बन लेकर आत्म-स्वरूप तत्वज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। तत्वदृष्टि विधि अद्वैत तत्ववाद का ज्ञान है। ब्रह्म, माया, जीव और ईश्वर तथा इनके संबंध को समझकर ब्रह्म का साक्षात्कार करना तत्वदृष्टि विधि है। 'विचारसागर' के चतुर्थ तरंग में इसका सविस्तर वर्णन है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे तत्वदर्शन-प्रणाली (metaphysical method) कहा जा सकता है। यही ज्ञानमार्ग है। इसके अनुसार आत्मा के दो स्वरूप हैं, एक सामान्य रूप तथा दूसरा विशेष रूप। सद्रूप सामान्य रूप है और असंगता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता, चिद्रूपता, आनन्द आदि विशेष रूप हैं।[९] यद्यपि आत्मा सामान्य-विशेष के द्वंद्व से मुक्त है तथापि प्रतीति के अनुसार उसके सामान्य और विशेष रूप कहे जाते हैं। "सर्व कूं जो प्रतीति होवे है आत्मा का सत् रूप, सो तो सामान्य रूप है। और केवल ज्ञानी कूं जो प्रतीति होवे चेतन, आनन्दादिक, सो विशेष रूप हैं।[१०] सामान्य रूप अज्ञान का विरोधी नहीं है, केवल विशेष रूप अज्ञान का विरोधी है। "सामान्य रूप की प्रतीति सर्व कूं अविद्याकाल में भी होवे है, और चेतन आनन्द रूप आत्मा है', यह प्रतीति सर्व कूं अविद्याकाल में भी होवे है। अविद्याकाल में चेतन, आनन्द, मुक्तता, शुद्धता भी है, परन्तु प्रतीति होवे नहीं, यातें अनहुए के समान है। इस अभिप्राय तें चैतन्य आनन्दादिक न्यूनकालवृत्ति कहिए हैं और सद्रूप अधिककालवृत्ति कहिए हैं। इस रीति से सद्रूप का और चेतन आनन्दा-

---

९. विचारसागर, पृ० ६८, २१५। १०. वही, पृ० ६७।

दिकों का सामान्य-विशेष भाव नहीं भी है, परन्तु अल्पकाल और अधिक काल में प्रतीति होने तें सामान्य-विशेष भाव की न्याई है। या कारण तें आत्मा का सत्‌रूप, सामान्य अंश कहिए है और चेतन आनन्दादिक विशेष अंश कहिए है।"[११] आत्मा के सामान्य रूप का ज्ञान परोक्ष है और विशेष रूप का ज्ञान प्रत्यक्ष या अपरोक्ष। प्रत्यक्ष में यह नियम नहीं है कि इसमें इन्द्रिय-संबंध से ही ज्ञान होना चाहिए। "विषय तें वृत्ति का संबंध होय के विषयाकार वृत्ति जहां होवे तहां प्रत्यक्ष ज्ञान कहिए है। सो विषय तें वृत्ति का संबंध कहूं इन्द्रिय द्वारा होवे हैं, कहूं शब्द से होए हैं जैसे 'दशम तू है' इस शब्द से।"[१२] "अहं ब्रह्मास्मि या वृत्ति का विषय जो ब्रह्म (आत्मा) तासे संबंध है, यातें ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष संभव है।"[१३]

यहाँ वेदान्त की प्रक्रिया बहुत कुछ अंग्रेज़ दार्शनिक एफ़० एच० ब्रैडले की विधि से मेल खाती है। ब्रैडले ने भी निरपेक्ष सत् (ब्रह्म) के सामान्य ज्ञान को सभी वृत्तियों (ideas) का विषय माना है और उसके विशेष रूप में सत्ता तथा चेतनता और आनन्द आदि की एकता पर बल देते हुए अपरोक्ष ज्ञान की कल्पना की है।[१४] पर जहाँ वेदान्त का अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्णतया भिन्न है वहाँ ब्रैडले ने अपने अपरोक्ष ज्ञान को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विकास माना है। यह उल्लेखयोग्य है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और निरपेक्ष सत् के अपरोक्ष ज्ञान के विरोध को न समझने के कारण ही ब्रैडले के दर्शन में असंगतियाँ आ गयी हैं। यदि ब्रैडले के दर्शन से यह दोष दूर कर दिया जाय तो उसकी विधि निश्चलदास की तत्वदृष्टि-विधि बन जायगी।

अदृष्टि-विधि का सविस्तर वर्णन 'विचारसागर' के पंचम तरंग में है। यह उपासना-मार्ग है। प्रणव-उपासना या ओंकार-उपासना इसमें विहित है। इसका प्रधान लक्ष्य लय-चिन्तन या प्रपंच-विलय है। इसमें पहले हिरण्यगर्भ (ईश्वर) की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् ब्रह्म या आत्मा का अभेद ज्ञान होता है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इस विधि को रहस्यात्मक प्रणाली (mystical method) कहा जा सकता है।

तर्कदृष्टि-विधि का सविस्तर वर्णन 'विचारसागर' के षष्ठ तरंग में है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में यह तर्कसम्मत प्रणाली (logical method) है। इसे संशयात्मक (sceptical) या काण्ट की भाषा में समीक्षात्मक (critical) विधि भी कहा जा सकता है। इस विधि में माना जाता है कि वेद, गुरु, शिष्य और उपदेश सभी मिथ्या हैं। परन्तु चूंकि जगत् भी मिथ्या है और समकोटिक वस्तुएँ ही परस्पर बाधक-साधक होती हैं, इसलिए मिथ्या जगत् की निवृत्ति मिथ्या गुरु, मिथ्या वेद, मिथ्या उपदेश और मिथ्या शिष्य से ही हो सकती है। परन्तु इन सब मिथ्या वस्तुओं का साक्षी चेतन नित्यसिद्ध है, क्योंकि उसके न सिद्ध होने पर मिथ्यातत्व का भी ज्ञान न होने से वह असिद्ध हो जायगा। यह चेतन आत्मा सदा एकरस है। और सब कुछ इसी का साक्षिभास्य है। सभी वस्तुओं का अस्तित्व दृष्टिकाल में

---

११. वही, पृ० ६७-६८। १२. वही, पृ० १७२। १३. वही, पृ० १७३।
१४. एफ़० एच० ब्रैडले: अपीरेंस एण्ड रियालिटी, अध्याय १३-१४।

ही है, उसके पूर्व और अनन्तर नहीं। अतएव इस विधि में दृष्टिसृष्टिवाद की मान्यता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम एकजीववाद है।

इस विधि में गुरु से सुने हुए अथवा ग्रंथों में पढ़े हुए आत्मतत्व का बोध मन्द रहता है। उस पर अनेक संशय उठते हैं जिनका परिणाम दृष्टिसृष्टिवाद और एकजीववाद है। इन संशयों की निवृत्ति के हेतु मनन करना पड़ता है. जिसके दो व्यापार हैं: तत्पदार्थशोधन और त्वंपदार्थ-शोधन। मनन का निर्देशन इस प्रकार 'तत्वमसि' का सिद्धान्त करता है। इसके फलस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' की अपरोक्ष वृत्ति होती है।

इन तीन विधियों का विकल्प मानने से निश्चलदास ने अद्वैतवाद के तीन वैकल्पिक रूपों की स्थापना की। कदाचित् इन तीनों में सब से अधिक प्रभाव आधुनिक युग में तर्कदृष्टि-विधि का हुआ है।

§ ४. तर्कदृष्टि से निश्चलदास ने अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन चार प्रमाणों का तत्वज्ञान में सुन्दर उपयोग दिखाया है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार श्रुत्यनुसारी तर्क या अनुमान ही ब्रह्मनिश्चय का हेतु है, स्वतंत्र अनुमान नहीं। इस सिद्धान्त को मानते हुए भी निश्चलदास ने अनुमान को अधिक महत्व दिया। जैसा पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म के सामान्य रूप का ज्ञान सभी को श्रुति-निरपेक्ष अनुमान से हो सकता है। फिर, निश्चलदास के अनुसार "वेदान्त-वाक्यनतैं अद्वितीय ब्रह्म का जो निश्चय सिद्ध हुआ है, तिसकी संभावना मात्र का हेतु अनुमान प्रमाण है, स्वतंत्र अनुमान ब्रह्म निश्चय का हेतु नहीं।"[१५] इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुत्यनुसारी अनुमान से ही ब्रह्म का निश्चय होता है, वैसे स्वतंत्र अनुमान से यद्यपि ब्रह्म की संभावना मात्र का ज्ञान हो सकता है, किन्तु ब्रह्म निश्चय नहीं हो सकता। यहाँ निश्चलदास ने वड़े महत्व की बात कही है। अनुमान से किसी वस्तु की संभावना मात्र का ही ज्ञान हो सकता है, उसके निश्चय का नहीं। फिर अनुमान से उस वस्तु का केवल सामान्य रूप ही विदित हो सकता है, विशेष रूप नहीं। अतएव यदि निश्चलदास ने स्वतंत्र अनुमान द्वारा ब्रह्म के सामान्य रूप का ज्ञान और उसकी संभावना मात्र का ज्ञान होना सिद्ध किया है तो वह अनुमान-प्रमाण की स्वरूपता और विषय-क्षेत्र के पूर्ण अनुकूल है। अनुमान-प्रमाण को माननेवाला इससे अधिक नहीं चाहता। इस प्रकार जहाँ निश्चलदास ने श्रुत्यनुसारी तर्क की महत्ता को अक्षुण्ण रखा वहाँ उसने स्वतंत्र तर्क की मर्यादा का भी पूर्ण निर्वाह किया। आधुनिक वेदान्त में उसकी प्रणाली द्वारा ही युक्ति का प्राबल्य है। ब्रह्मनिश्चय में युक्ति का जैसा उपयोग होता है उसका भी निरूपण निश्चलदास ने अच्छे ढंग से किया है। जिन परार्थानुमानों का उपयोग ब्रह्म-निश्चय में होता है उनमें से निम्नलिखित दो का महत्व विशेष रूप से है—

(क) "जीवो ब्रह्माभिन्नः चेतनत्वात्। यत्र यत्र चेतनत्वं तत्र तत्र ब्रह्माभेदः यथा ब्रह्मणि।"[१६] अर्थात् जीव ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि वह चेतन है। जो वस्तु चेतन है वह ब्रह्म से अभिन्न है जैसे स्वयं ब्रह्म ही। इस तर्क को हम यों भी रख सकते हैं—जीव ब्रह्म ही है, क्योंकि

---

१५. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ४४। १६. वही, पृ० ४४।

जीव का अस्तित्व और चेतनत्व वैसे ही अभिन्न है जैसे ब्रह्म का अस्तित्व और चेतनत्व। जिसका चेतनत्व और अस्तित्व अभिन्न हो वही ब्रह्म है।

(ख) "व्यावहारिकः प्रपंचो मिथ्या। ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम् यथा शुक्तिरजतादौ।"[१७] अर्थात् जगत् मिथ्या है, क्योंकि ज्ञान द्वारा वह निवर्त्य है (हट जाता है)। जो ज्ञान से निवर्त्य है वह मिथ्या है—जैसे शुक्ति में रजत।

उपमान का ब्रह्म निश्चय में यौं उपयोग है—

(क) "आत्मपद का अर्थ कैसा है? या प्रश्न का 'देहादिवैधर्म्यवान्' आत्मा है, ऐसा गुरु के उत्तर से अनित्य, अशुचि, दुःखस्वरूप देहादिकन से विधर्मा नित्य शुद्ध आनन्दरूप आत्मपद का वाच्य है, ऐसा एकान्तदेश में विवेचनकाल में मन का आत्मा सैं संयोग होय कै उपमिति ज्ञान होये है।"[१८] और

(ख) "प्रपंच मैं ब्रह्म की विधर्मता का ज्ञान उपमान है औ प्रपंच तें विधर्म ब्रह्म है, यह उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान है।"[१९]

अर्थापत्ति का ब्रह्म निश्चय में यों उपयोग है—

(क) 'तरति शोकमात्मवित्।' अर्थात् आत्मवित् शोक को पार करता है। "इहाँ ज्ञान तें शोक की निवृत्ति श्रुत है। ताकी शोकमिथ्यात्व बिना अनुपपत्ति है। यातें ज्ञानतें शोक की निवृत्ति का अनुपपत्तिसें बंधमिथ्यात्व की कल्पना होवे है।"[२०]

(ख) महावाक्यों में जीव-ब्रह्म का अभेद सुना जाता है। "सो ओपाधिक भेद होवे तो संभवे। स्वरूप से जीवब्रह्म का भेद होवे तो संभवे नहीं। यांतें जीव ब्रह्म के अभेद की अनुपपत्ति सें भेद का ओपाधिकत्वज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणजन्य है।"[२१]

अनुपलब्धि का ब्रह्म-निश्चय में उपयोग यह जानने में है कि प्रपंच पारमार्थिक नहीं है। "जो पारमार्थिकत्वविशिष्ट प्रपंच होता तो जैसे प्रपंच की स्वरूप तें उपलब्धि होवे तैसें पारमार्थिक प्रपंच की भी उपलब्धि होती ओ स्वरूप सें तो प्रपंच की उपलब्धि होवे है, परमार्थिकरूप तें प्रपंच की उपलब्धि होवे नहीं। यातें पारमार्थिक विशिष्ट प्रपंच का अभाव है। इस रीति सें प्रपंचाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होवे है।"[२२]

अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का इस प्रकार ब्रह्म-निश्चय में उपयोग दिखाने से निश्चलदास ने ब्रह्मनिश्चय के हेतु में भी अनुमान को महत्व दिया।

शंकरोत्तर युग के अधिकांश संस्कृत के अद्वैत ग्रंथों में तत्वदृष्टि और तर्कदृष्टि की अपेक्षा अदृष्टि की ही अधिक मान्यता है। इससे उनमें सगुण-उपासना ही स्वीकृत है। यद्यपि अद्वैतसम्मत सगुण-उपासना में साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नहीं है तथापि प्रायः सभी अद्वैतियों ने सगुण-उपासना में शैव या वैष्णव सम्प्रदाय का समर्थन किया है। आज भी अद्वैत-सम्प्रदाय के अनुयायी संन्यासी व्यवहार में शैव या वैष्णव पाये जाते हैं। अप्पयदीक्षित-जैसे अद्वैतवादी भी साम्प्रदायिक थे। उनकी आलोचना

---

१७. वही, पृ० ४४। १८. वही, पृ० ९५। १९. वही, पृ० १०२
२०. वही, पृ० १०८। २१. वही, पृ० १०८। २२. वही, पृ० १९६।

करते हुए निश्चलदास ने कहा कि 'महाभारत' के टीकाकार नीलकण्ठ का सिद्धान्त-वचन न समझने के कारण ही उन्होंने शिव को विष्णु से बड़ा ठहराया है—"भारत तात्पर्य नहिं देख्यो। जो अप्पयदीक्षित बुध लेख्यो।"[23] साम्प्रदायिक लोग श्याल-सारमेय न्याय से परस्पर कलह करते हैं।[24] वास्तव में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, देवी आदि में प्रत्येक के दो-दो अर्थ होते हैं, कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म। प्रत्येक सम्प्रदाय में उस सम्प्रदाय का इष्टदेव कारण-ब्रह्म के अर्थ में लिया जाता है और दूसरे सम्प्रदायों के इष्टदेव कार्य-ब्रह्म के अर्थ में लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय में वस्तुतः कारण-ब्रह्म की प्रशंसा और कार्य-ब्रह्म की निन्दा है। उदाहरण के लिए शैवमत में शिव कारण-ब्रह्म हैं और विष्णु कार्य-ब्रह्म, अतएव यहाँ शिव की प्रशंसा और विष्णु की निन्दा है। परन्तु वैष्णव मत में विष्णु कारण-ब्रह्म हैं और शिव कार्य-ब्रह्म, अतएव वहाँ विष्णु की प्रशंसा और शिव की निन्दा है। कारण-ब्रह्म के रूप में विष्णु, शिव इत्यादि की कहीं भी निन्दा नहीं है और न कार्य-ब्रह्म के रूप में उनकी कहीं प्रशंसा है। यह है तर्कदृष्टि से साम्प्रदायिक मतों का समन्वय जो अद्वैत वेदान्त का ही परिनिष्ठित मत है। निश्चलदास ने इसी दृष्टि का समर्थन किया है।[25] आधुनिक वेदान्त में यही वेदान्त-धर्म कहा जाता है। इसी के अन्तर्गत गांधी जी ने सर्वधर्म-समन्वय किया। वास्तव में यही विश्वधर्म है। यही वह सम्प्रदाय है जो ज़रा भी साम्प्रदायिक नहीं है।

§ ६. तर्कदृष्टि से मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद की रीति से निश्चलदास ने समस्त शास्त्रों और दर्शनों का अद्वैतवाद में समन्वय किया है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त हैं—

(क) सकलशास्त्रन का परम प्रयोजन मोक्ष है।
(ख) मोक्ष का साधन ज्ञान है।
(ग) सो ज्ञान अद्वय निश्चय रूप है।
(घ) भेद-निश्चय यथार्थ नहीं।
(ङ) सारे शास्त्र साक्षात् अथवा परम्परा तें ब्रह्मज्ञान के हेतु हैं।[26]

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सभी शास्त्रों का चूड़ामणि है। अद्वैत वेदान्त के प्रस्थानों का भी निश्चलदास ने इस प्रकार से समन्वय किया है—

(क) "आत्मस्वरूपें बंध का नाशरूप वा परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष वेदान्त श्रवण का फल नहीं। वेदान्त श्रवण तें पूर्व ही आत्मा मैं बन्ध का लेश नहीं तथापि अत्यन्त असत् बन्ध की प्रतीति होवे है। यातें भ्रमतें ही वेदान्तश्रवण में प्रवृत्ति होवे है। जाकूं बंधभ्रम नहीं होवे ताकी प्रवृत्ति होवे नहीं। सकल अद्वैतशास्त्र का इस पक्ष में ही तात्पर्य है।"[27]

(ख) "सर्वमत में ईश्वर एक है, सर्वज्ञ है, नित्यमुक्त है। ईश्वर में आवरण का अंगीकार

---

२३. विचारसागर, पृ० ४५२। २४. वही, पृ० ४६८-६९। २५. वही, पृ० ४६३-६९। २६. वही, पृ० ४३१। २७. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३६३।

किसी अद्वैतवाद के ग्रंथ में नहीं। जो ईश्वर में आवरण कहें, सो वेदान्त सम्प्रदायतें बहिर्भूत है।"[२८] इस प्रकार ईश्वर में माया की केवल विपेक्षशक्ति है, आवरणशक्ति और मलशक्ति नहीं है।

(ग) अवच्छेदवाद, प्रतिविम्बवाद और आभासवाद में निश्चलदास ने अवच्छेदवाद का खंडन किया है और यदि 'विचारसागर' में आभासवाद को अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त बताया है,[२९] तो 'वृत्तिप्रभाकर' में प्रतिबिम्बवाद को।[३०] इससे लगता है कि वह आभासवाद और प्रति-बिम्बवाद दोनों में से किसी को भी मान सकता है। उसका मत है कि "प्रतिबिम्बवाद में अथवा आभासवाद में आग्रह नहीं, चेतन में संसारधर्म का संभव नहीं और जीव-ईश का परस्पर भेद नहीं इस अर्थ के बोध के अर्थ अनेक रीति कही है, जिस पक्ष में असंग ब्रह्मात्मबोध होवे सोई पक्ष आदरणीय है।"[३१] यही बात 'विचारसागर' में भी कही गयी है।[३२] पर लगता है कि वह प्रतिविम्बवाद को उपर्युक्त तीनों वादों में अधिक अद्वैतसम्मत समझता है।

(घ) दृष्टिसृष्टिवाद ही सकल अद्वैतशास्त्र का अभिमत है।[३३] तथापि सृष्टिदृष्टिवाद में अद्वैतवाद की हानि नहीं है।[३४]

§ ७. निश्चलदास ने जीव-ब्रह्म और जगत्-ब्रह्म के संबंधों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। इस समय अधिकांश वेदान्ती दोनों संबंधों में भेद नहीं करते और दोनों को तादात्म्य संबंध कहते हैं। पर यह अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं है। जीव-ब्रह्म में अभेद समानाधिकरण या मुख्यसमाना-धिकरण है। जगत्-ब्रह्म में बाध-समानाधिकरण है।[३५] यह विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान का मत है। वार्तिकप्रस्थान में आभासवाद की रीति से जीव-ब्रह्म में भी बाध-समानाधिकरण माना जाता है। संभवतः इसी कारण निश्चलदास ने प्रतिबिम्बवाद को आभासवाद से अधिक अद्वैत-सम्मत ठहराया है। लगता है कि आभासवाद की रीति से जीव-ब्रह्म का बाध-समानाधि-करण अद्वैतवाद का प्रौढ़िवाद है। वस्तुतः जीव-ब्रह्म में अभेद संबंध है और जगत्-ब्रह्म में तादात्म्य या अनन्यत्व। तादात्म्य संबंध जीव-ब्रह्म का संबंध नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञान और ज्ञेय का संबंध है और "भेद और अभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप है।"[३६] शंकराचार्य के शब्दों में "यद्व्यतिरेकेण यस्य अग्रहणम् तत्तस्य आत्मत्वम् (तादात्म्यम्)", अर्थात् जिसके बिना जिसका ज्ञान न हो, उन दोनों का तादात्म्य संबंध है। जीव तो द्रष्टा या साक्षी है। जगत् दृश्य या साक्षि-भास्य है। ब्रह्म जीव का साक्षात् उपादान कारण है, किन्तु जगत् का विवर्त कारण है, क्योंकि जगत् का साक्षात् उपादान कारण माया है।

इस प्रकार निश्चलदास ने अद्वैत वेदान्त का तलस्पर्शी अनुशीलन करके सारग्राही दृष्टि दी है। उसने नव्यन्याय और अद्वैतवेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। ख्याति-वाद और प्रामाण्यवाद के विवेचन में उसने तत्संबंधित अन्य भारतीय दर्शनों

---

२८. वही, पृ० ३६३। २९. विचारसागर, पृ० ३९५। ३०. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३६६। ३१. वही, पृ० ३६६। ३२. विचारसागर पृ० ३९५। ३३. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३९४, विचारसागर, पृ० २८६। ३४. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३९४। ३५. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३४९-५१। ३६. विचार सागर, पृ० ३८५।

की भी मीमांसा की है। अन्त में उसने अद्वैत मतों की ही तर्कसम्मतता का प्रतिपादन किया है।

'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' को उसने संस्कृत में न लिखकर हिन्दी में लिखा। यदि वह चाहता तो संस्कृत में लिख सकता था, क्योंकि उसका संस्कृत-ज्ञान परिपक्व था और उसने कठोपनिषद् की एक टीका संस्कृत में भी लिखी है। पर वैसा करने पर उसके ग्रंथों का महत्व अधिक न होता, क्योंकि संस्कृत में दर्शन पढ़कर उसे हिन्दी में व्यक्त करने से उसके विचारों की स्पष्टता और मौलिकता बढ़ी है और उसे वेदान्त के वाह्य रूप तथा आन्तरिक रूप को पहचानने में सहायता मिली है। फिर जो लोग संस्कृत नहीं जानते उन्हें भी अद्वैतवाद का प्रमाणिक ज्ञान हो, इस शुभ उद्देश्य से उसने इन ग्रंथों की रचना हिन्दी में की है। अपने उद्देश्य में वह सर्वथा सफल हुआ है। इन ग्रंथों के कारण हिन्दी-क्षेत्र में अद्वैतवाद का प्रचार बढ़ा है और इसी कारण स्वामी विवेकानन्द ने (कम्प्लीट वर्क्स, भाग १, पृ० २८२) कहा कि "जहाँ जहाँ हिन्दी बोली जाती है वहाँ निम्नवर्ग के लोग भी बंगाल के उच्च वर्ग के अधिकांश लोगों की अपेक्षा अधिक वेदान्त को समझते हैं।"

आधुनिक भाषा में सर्वप्रथम अद्वैतवाद का प्रामाणिक और सारग्राही अध्ययन, सयुक्तिक और अधिकारपूर्ण विवेचन तथा असाम्प्रदायिक और जनतंत्रीय रूप प्रस्तुत करने के कारण निश्चलदास उचित अर्थ में आधुनिक वेदान्त का जनक है। जैसे अद्वैतवाद सर्वप्रथम उत्तरी भारत में उपजा और कालान्तर में उसका अखिल भारतीय प्रभाव हुआ, उसी प्रकार इसका आधुनिक संस्करण भी सर्वप्रथम निश्चलदास की कृतियों के रूप में उत्तरी भारत में ही उतरा और कालान्तर में समस्त भारत और विश्व में फैला।

●

वासुदेवशरण अग्रवाल

कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नाम

लगभग राष्ट्रकूट युग (नवीं शती) से भारतीय पुरुष नाम अपभ्रंश भाषा के साँचे में ढल गये। इस प्रकार के अनेक नाम उस युग के शिलालेखों और जैन-पुस्तक-प्रशस्तियों में मिलते हैं। उनमें अपभ्रंश भाषा की मूल्यवान सामग्री निहित है। अनुसंधान की दृष्टि से उनका अध्ययन आवश्यक है। यहाँ उस प्रकार के कुछ नामों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव का निजी पुकारने का नाम **धोर** हुआ (ए० इं० भाग १८, संजन प्लेट)। 'राधभट' का **राहड़**, वाग्भट का **बाहड़**, त्यागभट का **चाहड़** रूप हो गया। विष्णुवर्धन (घोर समुद्र के होयसल राजा—१११५ ई०) को **बिट्टिदेव** या **बिट्टिग** कहा गया है। पश्चिमी चालुक्य सम्राट सत्याश्रय (९९७—१००८ ई०) को **सत्तिग**, कर्कराज को **कक्क** और गोविन्द को **गोयिन्द** कहा गया है। गोविन्द का रूप **गोज्जिग** भी मिलता है (ए० इं० ६; १७७)। आम्रराज का **आँबड़**, ककुत्स्थ का **कक्कुक** (भंडारकर लेख सूची १६६३), (गुर्जर प्रतिहार नरेश) निर्भयराज का **निम्भर** (जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ६५) सुभटसिंह का **सुहड़सीह**, श्रद्धासिंह का **साढल**, **साढाक, या साढू**, शालिक का **सालिग**, यशोराज का **जासल** आशराज का **आसल** रूप मिलता है। विश्वल देव को **वीसल** या **बीसल** कहा गया है। विग्रहराज या विग्रहपालदेव के लिए भी **बीसलदेव** रूप आता है। णकारान्त नामों का भी एक गुच्छा है; जैसे प्रह्लादन का **पाल्हण**, प्रह्लादनपुर का **पाल्हणपुर** (वर्तमान पालनपुर), त्रिभुवन का **तिहुण**, आह्लादन का **आल्हण** स्पष्ट है। पर **केल्हण** सम्भवतः केलिसिंह का रूप था (भंडार० ५७९)। हेमचन्द्र व्याकरण में 'केलायइ' का अर्थ 'सँवारना' है। **केल्हा** (स्त्री नाम) का अर्थ 'संवारी हुई' हो सकता है। **कोला** नववधू के लिए देशी शब्द था (देशीनाममाला २-२३)। उससे संबंधित **कोल्हणदेवी** नाम हो सकता है। **साल्हण** का सं० रूप 'श्लक्ष्ण' संभव है। 'सल्लक्षण' से भी **सल्हण** या 'श्लाघ्' धातु से **सलह** हो सकता है। **बिल्हण** नाम प्रसिद्ध था। देशी **वीलण** का अर्थ 'स्निग्ध' या 'मसृण' था, अथवा **वील्ह** का अर्थ 'श्वेत' भी था। **उल्हण** का संबंध 'उल्लण' (आर्द्रकरण, पाइअसद्दमहण्णवो, २१३) से या 'उल्लअण' (समर्पण) से संभव है। **कल्हण** कल्ल, कल्य, कल्याण का विक्षिप्त रूप था। **लाल्हण देवी** नाम लालन से था और **मल्हना**(विलासवती) का संबंध देशी 'मल्हण' (लीला) से था। अपभ्रंश में लीलायमान के लिए **'मल्हंत'** आता है। **गोल्हण, द्रूल्हण, स्त्रल्हण** नाम रूप भी आये हैं, पर उनका मूल स्पष्ट नहीं। कुछ नकारान्त नाम भी ध्यान देने योग्य हैं, जैसे **सन्नामल** सं० 'संज्ञा', प्रा० अप० **'सण्णा'** से, **मन्नू** सं० **'मनोज्ञ'** से, **बिन्नू** सं० 'विज्ञ' से, **सिव्वन** सं० 'सर्वज्ञ' प्रा० 'सव्वण्णू'

(त्रिविक्रम १-२-१७), 'सब्बन' से हो सकते हैं। **सन्न** का मूल 'श्लक्ष्ण' (प्रा० सण्ह) या 'सूक्ष्म' (प्रा० सण्ह, त्रिविक्रम १-२-६६) भी संभव है। **नानक** सं० 'ज्ञानदेव > प्रा० 'नाणदेव' से निकला है।

सं० 'स्नेहालु' से प्रा० 'णेहालू' और बोलचाल में **नेहाल** या **निहाल** बनता है। गाँवों में **कन्नू** नाम आज भी चलता है। उसका मूल सं० 'कृतज्ञ' होना चाहिए। त्रिविक्रम (१-२-१०) ने **कअण्णू** रूप दिया है। 'सेतुबंध' में भी 'कृतज्ञ' के लिए **कअण्णुअ** आया है। मध्यकाल में **सोमल** नाम प्रायः मिलता है जिसका मूल प्रा० 'सोअमल्ल' या अप० 'सोमाल' या सं० 'सुकुमार' था। **नीधा** 'स्निग्ध'>'निद्‌ध' से, **मूधा** सं० 'मुग्ध'>'मुद्‌ध' (त्रिविक्रम १-४-३४) से बना। **पन्नालाल** में 'पन्ना' प्रा० 'पण्णअ' या सं० 'पर्णक' से तो स्पष्ट ही है, पर सं० 'प्रज्ञा', प्रा० 'पण्णा' से भी 'पन्ना' बन सकता है। सं० 'क्षेमगुप्त' से 'क्षीमाक' (प्रशस्ति संग्रह पृ० २) और उससे **खीमाक**, **खीमा** नाम बनते थे। 'पृथुल' से **पिहुल**, 'वृन्द' से **बिन्दा**, 'वृद्ध' से **बीधा** या **बीदा** बनता था। चंदेल नरेश विद्याधर को **बीदा** और **विज्जाहर** या **बीजड़** भी कहा जाता था। चंदेल राजा **धंग** के नाम का अर्थ था 'काला भौंरा' (देशी नाम-माला ५-५७)। ऐसे ही **गंड** का अर्थ था 'वीर' या 'अरण्य' (देशी० २-९९)। **गंडासिंह** में पिछला अर्थ ही संगत बैठता है। कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारी राजा को **कोट्टिग**, **खोट्टिग**, **खोटिक** कहा गया है (भंडारकर सूची १३३)। उसका मूल 'कोट्टिग'>'कोट्टपाल' होना चाहिए। **आभू** नाम भी मिलता है जो सं० 'अद्‌भुत< प्रा० 'अब्भुअ' का रूप था (अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ७७—अद्‌भुत आभू इति प्रसिद्धः)। सं० 'धन्य' का अपभ्रंश में **धन्ना** होता था। **धन्ना सेठ** प्रसिद्ध नाम था। लाला **सुक्कीमल** नाम भी लोक में चालू है। सं० 'सुकृती' से अपभ्रंश में 'सुक्कइ' होता था और 'सुकृत' से 'सुक्कउ' (अपभ्रंश पाठावली, पृ० १०६)। 'प्रीति' से **पीइ** 'भगवती' से **भयवइ** और 'भूति' से **भूइ** स्त्री नाम थे। बूलचन्द में 'बूल' सं० 'विपुल'>प्रा० 'विउल'>अप० 'बिउल' का रूप था। **कल्लू** या **कलुआ** नाम भी प्रचलित है इसका मूल 'कल्य' होना चाहिए। कल्याणसिंह, कल्याणदेव, कल्याणराज आदि सब को पुकारने में **कलुआ** कहा जा सकता था।

प्रताप का **पाताक>पाता** बनता था (जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह, पृ० ४९-५०)। लवणप्रसाद या लावण्य प्रसाद का **लूण** या **लूणा** बनता था। देशी 'धन्धा' (= लज्जा; देशी नाम माला ५-५७) से **धंध, धंधल, धंधूक, धंधिल** आदि नाम बनते थे। सं० शील, शीलादित्य के आधार पर **शिलुक, शीलुक, शिल्लुक, शीलू, सीलू** आदि नाम चलते थे (भंडारकर सूची २६, ३१)। **छज्जू** नाम लोकप्रसिद्ध है। **छाजल, छाजड़, छज्जल, छज्जुक** आदि रूपों का मूल अप० प्रा० 'छज्ज' (= सुशोभित होना) धातु है जिसे प्राकृत वैयाकरण सं० धातु 'राज्' का धात्वादेश मानते थे। **ननुआ, नन्नुक, नन्न** का मूल देशी 'णण्ण' (= बड़ा भाई, देशी० ४-४६) ज्ञात होता है। **खुमानसिंह** नाम भी लेखों में और लोक में काफ़ी मिलता है। इसका सं० रूप 'क्षुम्यमान्'> प्रा० 'खोम्माण' (= अति क्षुब्ध) था। **जेसल, जेन्द, जिंदा, जींदड** इन नामों के पूर्व पद में 'जय' शब्द निहित है, जैसे जयशाल, जयेन्द्र, जयन्त आदि। **वेजल्ल, वइज, वइजि, वयज, वयजा, वयजू, वइजादित्य** आदि नामों में पूर्व पद का आधार 'वैद्य' था (भंडारकर सूची २९८, २९७,

३०७, ६२३)। भंडारकर सूची ३७३ में **लाखणपाल** और ३७७ में **लाखणपाल्ह** रूप हैं। इससे ज्ञात होता है कि सं० 'पाल' से ही **पाल्ह, पाल्हू, पाल्हुका** आदि नाम रूप बनते थे। **खेदनलाल** भी लोकविदित है। इसका मूल सं० 'खेदज्ञ' है जिसमें 'खेद' का अर्थ है संसार का श्रम, या संसार-चक्र जनित कष्ट (रत्नचन्द्रकोश २-५७६)। **छडिका, छड्डक, छाडा, छाडाक, छाडि, छाडू** (जैन पुस्तक०, पृ० १७१) आदि नामों के मूल में 'छड्ड' धातु है। जन्म के बाद जो बच्चे घूरे पर फेंककर पुनः मोल ले लिये जाते हैं, उनके ये नाम होते थे जो पबेडू, फिक्कू, बहाऊ, घुराऊ के समानार्थक थे। इन्हें ही **सोलक, सोलाक, सोल्लाक, सोली, सोलुका** (प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७९-८०), **सोल्लू** (क्षिप् < सोल्ल = फेंकना; हेम० ४-१४३) या **खीवड** (सं० 'क्षिप्' > प्रा० 'खिव्व' या 'खिव') भी कहते थे। लोक में **सुल्ला** नाम पछाँह में सुना जाता है। इसी से संबंधित **छीतर** नाम है। आहर शिलालेख में **च्छितराक, च्छित्तराक, च्छितर** नाम आये हैं (ए० इं० १-१७३, १७७)। 'देशी नाम-माला' के अनुसार **छेत्तर** का अर्थ है पुराना शूप ('जीर्ण शूर्पाद्युपकरणम्)। मेरठ की बोली में टूटी डलिया 'छीतरी' कहलाती है। उस डलिया में रखकर जो बच्चा छठी पूजन के दिन कूड़ों पर डाल दिया गया हो उसके लिए यह नाम होता था। माँ उस बच्चे को भंगिन से पुनः ले लेती थी, या मान लिया जाता था कि मृत्यु के देवता को एक बार समर्पित करके पुनः प्राप्त किया गया है। इस प्रकार के नाम गुजरात आदि में भी प्रचलित हैं। संभवतः **छित्तू छीता, छीतू, छीतक, छीतूक** (सूची १२४८) नाम भी इसी कोटि के थे (क्षिप्त>छित्तड़ या स्पृष्ट-छित्त)। भंडारकर सूची १४५० में **फाहि** नाम आया है जो सं० 'स्फाति' (=वृद्धि) से प्रा० 'फाइ' का रूप है। **नापा** (भंडारकर सूची ७८९) सं० 'ज्ञा' धातु से बना जिसका एक प्राकृत रूप 'णप्पइ' (प्राकृतप्रकाश) होता था। वीवीक (सूची २५१) सं० वीचि>प्रा० वीवी (षड्-भाषाचन्द्रिका, पृ० १७२), **कोक्कल** (सूची ९९) सं० 'व्याहरति' का प्राकृत धात्वादेश 'कोक्कइ' (हेम० ४-७६, इसी के 'कुक्क', 'कुक्कल' रूप भी हैं), **वासटा** (सूची १६५४, सूर्यवर्मन् की पुत्री और हर्षगुप्त की पत्नी) सं० 'विकसित' का प्राकृत रूप 'वासट्ट', **पाबू** (सूची ८२२, ७११, ७५९) सं० 'पर्व'>प्रा० 'पव्व' (= जो पर्व के दिन जन्मा हो), **रट्टवा** (सूची १५३७, गुहिल-राज बालादित्य की रानी) सं० 'राष्ट्रपा'>प्रा० 'रट्टवा', **तीवर** (सूची १६५२) सं० 'तीव्र'> प्रा० 'तिव्व' (दुर्विषह्य, देशी० ५-११), **आउक** (सूची १५३७) सं० 'आयुष्मान'>प्रा० 'आउ' 'आउग'; **लिंबदेव** (प्रशस्ति-संग्रह पृ० १७१ पर लिंबा, लींबाक, लिंबाक आदि) प्रा० 'लिंब' (कोमल या नम्र, रत्नचन्द्रकोश ५-८२४) आदि नाम-निर्वचन ध्यान देने योग्य हैं। नामों में **ट** प्रत्यय भी अपभ्रंश युग में जोड़ा जाता था, जैसे **मोगट, सोमट** (जू० १८१९), **वज्जट** (वज्जड़), **लक्खट** (सूची १७९६)। लाखामंडल प्रशस्ति में अचलवर्मन् को **समरघंघल** कहा गया है, अर्थात् युद्धभूमि में घबड़ाहट उत्पन्न करने वाला। इसमें 'घंघल' का अर्थ था घबड़ाहट (रत्न-चन्द्रकोश ५-७३७, घंघलिअ घबड़ाया हुआ)। लखणपाल के बदायूं लेख में **वसावण** नाम सं० 'वैश्रवण' से ज्ञात होता है। पृथिवीषेण द्वितीय वाकाटक नरेश की माता कुन्तलकुमारी **अज्झित भट्टारिका** थी। यह नाम सं० 'अध्यात्म'>प्रा० 'अज्झत्त' से संबंधित ज्ञात होता है। **लड्डिका** नाम 'लड्ड' धातु (=लाड करना, छोह दिखाना) से निष्पन्न 'लड्डिय', 'लड्डिया'

का ही रूप है। चाहमान राजा कीर्तिपाल (ए० इं० ११-७९) को **कीतू** (वही, ११-७४), **कीत्तुक** और **कीतपाल** कहा गया है। **वूटड़ि** (प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७, २३), **बूटडि** (पृ० २९, ३१), **बूटर** (पृ० ८०), **बुट्ट**, **बूट**, **बूटा** (ए० इं०, ११-३३) नामों का एक वर्ग है। इनका निर्वचन सं० 'व्युष्ट' > प्रा० वुट्ट, वूट से संभव है, अर्थात् जो प्रातःकाल जन्मा हो। **गोसा, गोसल** नामों का अर्थ भी यही था (गोस = प्रभात, प्रातःकाल, देशीनाम० २-९६)। **खूडा** (प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७०) देशी **खुड्डओ** का रूप था जो सं० क्षुद्र > प्रा० छुल्लक > खुल्लक से सम्बन्धित था (षड्भाषा-चन्द्रिका, पृ० १७१) **हानू** या **हन्नू** नाम विचारणीय हैं, (प्रशस्ति संग्रह, पृ० १८०)। देशी 'हणु' का अर्थ है सावशेष या बाक़ी बचा हुआ (देशी० ८-५९) अर्थात्, वह बच्चा जो अपने कई भाई बहनों में आखिरी हो, जिसे हिन्दी में पेट की खुरचन और पंजाबी में 'ढड्ढघरोड़ी' कहा जाता है। ऐसा ही नाम **सेसिका** था (= शेषिका, बची खुची, प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७९)। स्त्री नाम **हाधू**, **हादू** का संबंध देशी 'हद्धओं' (=हास, देशी नाम० ८-६२) से था (हासवाली, हँसतामुखी)।

राजेन्द्र का एक रूप **राइन्द** मिलता है (कुमारपाल चरित १-२८)। उसी वज़न पर योगीन्द्र से **जोइन्द** बना। भंडारकर-सूची का (सं० ४१, १३७९) **धीइक** नाम सं० 'धृतिक' > प्रा० 'धिइक' से है। **हालू** नाम देशी 'हालुओ' (=क्षीब, मतवाला, देशी० ८-६६) से था। **वेल्लक, बेल्लिका** (प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७८) सं० 'रम्' के प्राकृत धात्वादेश 'वेल्ल' से बना (प्राकृत-प्रकाश, पृ० ९५)। त्रिविक्रम ने विलासवती का पर्याय **वेल्लरी** लिखा है। जैन-पुस्तक 'प्रशस्ति-संग्रह' में प्राप्त **सेढक, सेढाक, सेढा** नाम उस व्यक्ति के लिए थे जिसने उपवासों की श्रेणि या श्रेढि (=सेढ़ि, सीढ़ी) पूरी की हो। **अणहिल** या **अनहिल** (सूची १३५२) का सम्बन्ध देशी 'अणह' (= अक्षत, देशी नाम० १-१३) या 'अनह' (=अनघ, निर्दोष, पवित्र) से था। **जच्छिका** (सूची १४९९) में 'जच्छ' धातु (= दान देना, हेम० ४-२१५) का अर्थ था। **गोगा, गोगाक, गोगिल** आदि नाम (प्रशस्ति-संग्रह, पृ० १७०) संभवतः सं० 'गोग्रह' > प्रा० 'गोगाह' से संबंधित थे, जिनका अर्थ था (आक्रमणकारियों से युद्ध करके) गायों को वापस छीन लेने वाला। पछाँही हिन्दी में **पसेंडिया** नाम चलता है जिसका संबंध देशी 'पसिंडि' (=सुवर्ण, पाइअ लच्छि नाममाला, ५०) से था। 'देशीनाममाला' (६-१०) में 'पसंडि' स्वर्ण का पर्याय लिखा है। **छेदा, छेदी** वह बच्चा कहलाता था जिसकी नाक छेद दी गयी हो। इसे ही **झूता** भी कहते थे जो नाम बैसवाड़ी में चलता है (झुत्ती छेद, देशीनाम० ३-५८)। **झाबर** या **झाबरमल्ल** नाम भी राजस्थान में प्रसिद्ध है। यह सं० 'ध्वजपट' (प्रा० झयवड़, झयवर, झावर) से सम्बन्धित है। प्राचीन प्रथा के अनुसार लाख रुपये पीछे एक दीपक और करोड़ पीछे एक ध्वजा लगायी जाती थी। **मंझन** नाम का संबंध 'मध्याह्न' से था जिसका प्राकृत रूप 'मज्झण्ण' था, अर्थात् जिसका जन्म दोपहर के समय हुआ हो। **लहनासिंह** नाम में 'लहना' सं० 'श्लक्ष्णकं' > प्रा० 'लहणअ' का रूप है। मारवाड़ी अल्ल **ढंढणिया** में 'ढण्ढण' का देशी रूप 'डण्ढण' था जिसका अर्थ 'चपल' था (अव्युत्पन्नं चपल वाचि प्रातिपदिकं—भोजकृत सरस्वतीकंठाभरण, १-२६३) **दलेलसिंह** में 'दलेल' पद सं० 'दलवत्' > प्रा० 'दलिल्ल' का रूप है।

प्राकृत शब्दों का एक गुच्छा है जो कितने ही नामों में देखा जा सकता है, जैसे 'नदी' से **नई**, 'मति' से **मई**, 'दूती' से **दूई**, 'शची' से '**सई**', 'प्रणयी' से **पणई**, 'भारती' से **भारई**, 'वृहस्पति' से **विहस्सई**, श्रुति से '**सुई**', 'प्रकृति' से **पयई**, 'पति' से **पई**, 'स्वादु' से साउ, 'विधु' से **विहू** 'विधि' से **विही** आदि। अपभ्रंशकालीन नामों की अपरिमित सामग्री शिलालेखों, मूर्तिलेखों और पुस्तक-प्रशस्तियों तथा साहित्यिक वर्णनों में उपलब्ध है। उनकी परम्परा अभी तक अनपढ़ क्षेत्रों में चालू है। देहाती मतदाताओं की सूची में ऐसे नामों का भंडार ही मिलेगा। प्राचीन हिन्दी भाषा की निधि उन नामों में सुरक्षित है, और उनका व्यवस्थित अनुसंधान होना चाहिए। इनके व्याकरण-सम्मत नियम भी थे जो स्पष्ट समझे जा सकेंगे। धातु और प्रत्ययों से ही तब भी शब्दों का स्वरूप निष्पन्न होता था। उनमें प्राकृत धात्वादेशों का महत्वपूर्ण स्थान था। नामों की रचना में पाणिनि के समय से ही पूर्वपद और उत्तरपद दो भाग होते थे। इनमें उत्तरपद का लोप करके पूर्वपद में एक प्रत्यय जोड़ दिया जाता था, जैसे 'देवराज' या 'देवदत्त' से **देविल**, **देविक**, **देविय** **देवल**, **देवक** आदि रूप बनते थे। पूर्व पद ही विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता था। प्राकृत एवं अपभ्रंश युग में यही बात रही, जैसे 'आशराज' या 'अश्वराज' के लिए आसल और 'यशोदेव' के लिए **जासल** या जसल, एवं 'विश्वदेव' के लिए **विश्वल** या **बीसल**। कभी-कभी व्यक्तियों के कई नाम होते थे। एक मुख्य नाम होता था और दूसरा गौण नाम होता था, जैसा राष्ट्रकूट नरेशों के नामों में प्रसिद्ध है (फ़्लीट, ए० इं० ६-१८६, इं० ऐं० १२-१५९)। गौण नाम को 'अपर नाम' भी कहा जाता था, जैसे "हरिवर्म्मनामा श्रीमम्म इत्यपर नामकृतप्रतीतिः" (कुदराकोट-लेख, ए० इं० १-१८०)। स्त्रियों के नामों में पिता के घर का नाम 'पैतृक नाम' कहलाता था। पति के यहाँ आने पर पति के नाम के अनुसार नया नाम रक्खे जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जैसे "श्रेष्ठि वीरदेव पत्नी वीरमती, मोल्ही इति पैतृक नाम" (जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह, पृ० ९८)।

●

कन्हैयालाल सहल

ऋग्वेद की लोकोक्तियाँ

पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय में असीरिया की भाषा तथा इतिहास आदि के प्रोफ़ेसर डॉ० एस० एन० क्रेमर ने मिट्टी के दो बड़े पट्टों का पता लगाया था जिन पर, कहा जाता है कि दुनिया की सबसे पुरानी लिखित कहावतें और सूक्तियाँ अंकित हैं। इस्तनबुल म्यूज़ियम के सैकड़ों साहित्यिक महत्व के पट्टों में उक्त दो पट्ट भी प्राप्त हुए थे। सुमेरियन कहावतों का यह संग्रह आज से ३,६०० वर्ष पहले हुआ था। डा० क्रेमर की गणना के अनुसार बाइबिल की कहावतों से १,००० वर्ष से भी पूर्व ये कहावतें संगृहीत हो चुकी थीं। इन कहावतों के रूपान्तर आज भी प्रचलित हैं। कहावतों में से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

"जीने की अपेक्षा निर्धन का मरना अच्छा; यदि उसे रोटी मिलती है तो नमक नहीं मिलता, यदि नमक मिलता है तो रोटी नहीं मिलती। यदि उसे घर मिलता है तो पशु रखने की जगह नहीं मिलती, यदि पशु रखने की जगह मिलती है तो घर नहीं मिलता।"[१]

राजस्थानी और मराठी में इससे मिलती-जुलती निम्नलिखित कहावत उपलब्ध होती है—

"चणा जठे दांत ना अर दांत जठे चणा ना।" (राजस्थानी)—अर्थात् जहाँ दाँत हैं, वहाँ चनें नहीं और जहाँ चनें हैं, वहाँ दाँत नहीं।

"दांत आहेत तर चणे नाहींत आणि चणे आहेत तर दांत नाहींत।" (मराठी)

तात्पर्य यह है कि सब प्रकार की सुविधाएँ एक साथ नहीं मिलतीं; जहाँ धन है, वहाँ विद्या नहीं, जहाँ विद्या है, वहाँ धन नहीं। इसी तरह की एक असमी कहावत भी है—"भात हले पूत नाइ, पूत हले भात नाइ।" अर्थात् जहाँ भोजन है, वहाँ पुत्र नहीं है और जहाँ पुत्र है, वहाँ भोजन नहीं है।

विश्व की सब से प्राचीन लिखित कहावतें कौन सी हैं, इस प्रश्न पर विचार करते समय ऋग्वेद की कहावतों पर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। ऋग्वेद का काल-निर्धारण चिर-काल से विद्वानों के वादविवाद का विषय रहा है, इसलिए ऋग्वेद की कहावतों पर विचार कर लेने पर भी विश्व की प्राचीनतम लिखित कहावतों का चाहे निर्णय न हो सके तथापि उससे इतना तो स्पष्ट हो जायगा कि हमारे देश में कहावतों की एक बहुत प्राचीन परम्परा रही है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में "ऋग्वेद से शुरू करके अब तक के भारतीय साहित्य में

---

१. दि हिन्दुस्तान टाइम्स साप्ताहिक, रविवार, मार्च १९५२, पृ० १३।

प्रवाद और कहावतों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' में कितने ही पूरे अर्ध ऋक्, पाद या अर्ध पाद को अर्थतः लोकोक्ति या कहावत कहा जा सकता है।"[2] इसी प्रकार 'बाङ्ला प्रवाद' के विद्वान् लेखक श्री सुशीलकुमार दे की भी मान्यता है कि "न वै स्त्रैणानि सख्यानि, सन्ति" (ऋग्वेद-संवाद सूक्त १०।९५।१५) जैसे प्रवाद-वाक्य न केवल ऋग्वेद में, बल्कि ब्राह्मण-ग्रन्थों और बौद्ध त्रिपिटक में भी विरल नहीं हैं।"[3]

वह पूरी ऋचा, जिसमें "न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति" नामक प्रवाद-वाक्य का प्रयोग हुआ है, इस प्रकार है—

"(उर्वशी की उक्ति)—पुरुरवा, तुम मृत्यु-कामना मत करो। यहीं मत गिरो। तुम्हें वृक (भेड़िया) आदि न खायें। स्त्रियों की मित्रता कोई मित्रता नहीं होती। स्त्रियों और वृकों का हृदय एक समान होता है।"[4]

आनन्दसागर सूरीश्वर ने 'आगमीय सूक्तावल्यादि' में 'सूक्त', 'सुभाषित', 'संग्रह श्लोक' और 'लोकोक्तियाँ'—इस प्रकार उक्तियों के चार प्रकारों का संग्रह किया है। चारों का क्रमशः एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

१. सूक्त : नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु॥ (आगमीय सूक्तावलौ ३९९)

२. सुभाषित : प्राणिपतितवत्सला : प्रणभ्रजनहितकारिणः खलु उत्तम पुरुषा :। (जं० २४७)

३. संग्रहश्लोक : अनंतधर्मणोऽर्थस्यैकांशेनेति निरुक्तय :।
न्यासदेशागतं शास्त्रं, न्यस्यते न्यस्तमेव तत्॥

४. लोकोक्ति : वीरभोग्या वसुन्धरा (आचारांग सूत्र २६-१९)

'सूक्तावल्यादि' में घुणाक्षरन्याय जैसे लौकिक न्यायों को भी लोकोक्तियों के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है।

ऋग्वेद में भी 'संग्रह श्लोक' को छोड़कर अन्य तीनों प्रकार की उक्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं। सूक्त, सुभाषित और लोकोक्ति का एक-एक उदाहरण यहाँ 'ऋग्वेद' से उद्धृत किया जा रहा है—

सूक्त[5] : न दुरुक्ताय स्पृहयेत्। अर्थात् अपशब्द बोलने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

सुभाषित : अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वपन्। (५।४४।१३) अर्थात् अभ्यास के द्वारा ही मनुष्य अध्ययन कर पाता है, न कि सोते हुए।

लोकोक्ति : न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति। (३।५३।२३) अर्थात् अश्व के सम्मुख गर्दभ नहीं लाया जाता है।

---

२. द्रष्टव्य : भूमिका राजस्थानी कहावतां। ३. द्रष्टव्य : बांगला प्रवाद, भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६। ४. द्रष्टव्य : हिन्दी ऋग्वेद, रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ १३७०। ५. वेदों में ऋचाओं के समूह को 'सूक्त' के नाम से अभिहित किया गया है। वेदों की उक्तियाँ हमें कर्त्तव्य-पथ की ओर उन्मुख करती हैं; शान्ति, समृद्धि और शक्ति की प्रेरणा उनसे मिलती है। ऐसी उक्तियों को यदि 'सूक्त' की संज्ञा दी गयी हो तो यह उचित ही है।

यहाँ पर सूक्त, सुभाषित और लोकोक्ति आदि का सैद्धान्तिक विवेचन अभीष्ट नहीं है, ऊपर केवल यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि विद्वानों ने सूक्त, सुभाषित और लोकोक्तियों के अलग-अलग वर्ग निर्धारित किये हैं।

ऋग्वेद के सूक्त और सुभाषितों पर कुछ विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु ऋग्वेद की लोकोक्तियों का अभी तक किसी विद्वान् ने विधिवत् अध्ययन नहीं किया है। फिर भी समस्त ऋग्वेद पढ़ जाने के बाद जो हमारी धारणा बनती है, वह यह है कि ऋग्वेद में लोकोक्तियों की अपेक्षा सूक्त और सुभाषितों की संख्या अधिक है। यहाँ ऋग्वेद से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं जिन्हें आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से लोकोक्ति अथवा कहावत के नाम से अभिहित किया जा सकता है—

१. बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश। (१।१६४।३२)

अर्थात् अधिक सन्तान वाला अधिक कष्ट उठाता है। राजस्थानी भाषा में इस आशय की कहावतें आज भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ—

(क) "घण जायां घण ओलमा, घण जायां घण हाण।" अर्थात् अधिक बच्चों के होने से अधिक उपालम्भ मिलते हैं और अधिक हानि उठानी पड़ती है।

(ख) "घण जायां घण नास।"[६] अर्थात् सन्तान की अधिकता कुटुम्ब की एकता का नाश कर देती है।

२. केवलाघो भवति केवलादी। (१०।११७।६)

अर्थात् जो अकेला भोजन करता है, वह केवल पाप ही खाता है। राजस्थानी की एक कहावत है—

"बाँट कर खाणूं सुरग में जाणूं।" अर्थात् जो बाँट कर खाता है, वह स्वर्ग में जाता है।

३. न स सखा यो न ददाति सख्ये। (१०।११७।४)

अर्थात् मित्र होकर भी जो व्यक्ति नहीं देता, वह मित्र कहाने योग्य नहीं है।[७]

४. जायेदस्तम्। (३।५३।४)

अर्थात् स्त्री ही घर होती है। 'न गृहं गृहमित्याहुगृहिणी गृहमुच्यते' तथा 'बिन घरणी घर भूत का डेरा' आदि अनेक प्रवाद-वाक्य लौकिक संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में बहुप्रचलित है।

५. नावाजिनं वाजिना हासयन्ति। (३।५३।२३)

अर्थात् घोड़े के साथ घोड़े की ही प्रतियोगिता करायी जाती है, अन्य की नहीं। तात्पर्य यह है कि घोड़े की प्रतियोगिता में यदि गधा रख दिया जाय तो उससे केवल हँसी ही होगी।

किन्तु यहाँ 'सूक्त' का जो उदारहण दिया गया है, उसका तात्पर्य एक शिक्षाप्रद महत्वाक्य से है। 'अक्षैर्मा दीव्यः' (१०।३४।१३) अर्थात् 'जुआ मत खेलो' जैसी उक्तियाँ भी 'सूक्त' के अन्तर्गत आती हैं। ६. रूपांतर-घन जायां कुल मेहनों। ७. मिलाइए (क) आपद्गतं च न जहाति ददाति काले। सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥ (ख) A friend in need is a friend in deed.

ऋग्वेद की समस्त लोकोक्तियों का आकलन करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। ऊपर पाँच लोकोक्तियाँ यह सिद्ध करने के लिए दी गयी हैं कि ऋग्वेद में केवल प्राज्ञोक्तियाँ ही नहीं हैं, लोकोक्तियाँ भी हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, ऋग्वेद की लोकोक्तियों का अभी कोई वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है। हाँ, द्या द्विवेद नामक एक विद्वान् ने अवश्य 'नीति-मंजरी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें आठ अध्याय और दो सौ श्लोक हैं। श्लोक के पूर्वार्द्ध में कोई सूक्ति अथवा कहावत है तथा उत्तरार्द्ध में स्पष्टीकरण के लिए किसी कथा की ओर संकेत है जिसका या तो ऋग्वेद में वर्णन हुआ है अथवा जो वहाँ प्रसंगतः प्राप्त है। यहाँ 'नीति-मंजरी' से उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं:—

बहुप्रजस्य पुत्रस्य सुवाचोऽपि सदा विपत्।
सीदन्निन्द्रं मधुच्छन्दा वयस्याचट्टचोत नः॥—ऋ० १।४।६

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना।
चतुरश्चमसान्कृत्वा तं सोममृभवः पपुः॥—ऋ० १।२०।६

शुभाशुभं कृतं कर्म भुञ्जते देवता अपि।
सविता हेमहस्तोऽभूद् भगोऽन्धः पूषको द्विजः॥—ऋ० १।३५।९

प्रभोरपि धिगर्थित्वं रूपहानिं करोति यत्।
मेधातिथिं यदायाचदिन्द्रो मेषोऽभवत्ततः ॥—ऋ० १।५१।१

तत्त्वविदपि संसारे मूढो भवति लोभतः।
तत्त्वज्ञा सारमायाचदिन्द्रमन्नं गवां ग्रहे॥—ऋ० १।६२।३

अन्यः सुहृज्जनो भ्राता शत्रुर्भ्राता सहोदरः।
अश्विभ्यां तारितो भुज्युस्त्रितः कूपे निपातितः॥—१।१०५।१७

यादृशाज्जायते जन्तुर्नाम कर्मास्य तादृशम्।
अश्विनावश्वजावश्वं ददतुः पेदवे सितम्॥—ऋ० १।११६।६

कुलक्रमागतो धर्मो न त्याज्यः प्रभुभिः सह।
कण्वोऽश्विभ्यां भिषग्भ्यां हि सुत्वद् सुश्रुत्कृतः सुहृद्॥—ऋ० १।११७।८

न दद्याद्दोषशीलानामाश्रयं क्रूरकर्मणाम्।
दैत्या दत्ताश्रयाः कूपे प्राक्षिपन्रेभवन्दनौ॥—ऋ० १।११६।११–२४

द्या द्विवेद ने स्वयं ही 'नीति-मंजरी' के श्लोकों की रचना की और उन पर टीका लिखी। टीका में सायण-पद्धति का अनुसरण किया गया है जिससे स्पष्ट है कि 'नीति-मंजरी' का रचयिता सायण से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।

●

हरिहरप्रसाद गुप्त

कुछ हिंदी, गुजराती और मराठी कहावतें : एक तुलनात्मक अध्ययन

कहावतों में तुलना, सादृश्य अथवा विरोध का मुख्य स्थान होता है, क्योंकि इन्हीं के सहारे ये किसी तथ्य को चोखे और चुभते ढंग से रखने में समर्थ होती हैं। इनमें अभिधेय अर्थ के स्थान पर व्यंजना की प्रधानता होती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के किसी सार्वजनीन अनुभव को उपमा, उदाहरण एवं अन्योक्ति के सहारे ये इतने सटीक ढंग से रखती हैं कि श्रोता पर इनका अचूक प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः व्यावहारिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में ये संक्षिप्त अनुभव-सार बड़े काम के होते हैं। हमारे वर्तमान साहित्य में संस्कृत की सूक्तियों, लोकोक्तियों और न्यायों का इन्हें स्थान प्राप्त होता है। प्रस्तुत निबंध में कुछ हिंदी, गुजराती और मराठी कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. किसी की सम्पत्ति का दूसरा कोई उपभोग करे, इस तथ्य को **अंडे सेवे कोई बच्चे लेवे कोई** अथवा **अंधी पीसे कुत्ता खाय** इन विरोधसूचक उक्तियों से स्पष्ट किया जाता है। मराठी में यह **आंधळी दळते कुत्रा पीठ खातो** या **आंधळे दळते कुत्रे पीठ खाते** के रूप में है। इसी आशय की एक अन्य 'म्हाणी' भी प्रचलित है **आईजीच्या जिवावर बाई जी उदार**—अर्थात् माँ संग्रह करे और बाई (कोई स्त्री) लुटाती फिरे। गुज० में इस भाव के लिए **कीडी संघरे ने तीतर खाय** लोकोक्ति है।

२. कोई अपराध करने वाला जब शेखी बघारता है तब हिन्दी में **उलटा चोर कोतवाल को डाटें** अथवा **चोरी करे और सीनाजोरी करे** या **चोरी और मुँहजोरी** प्रचलित है। गुज० में यह **उलटो चोर कोतवाल ने दंडे** है। मराठी में यही **चोराच्या उलट्या बोंबा** अर्थात् 'चोर का उलटे शोर मचाना' के रूप में मिलता है। उलटे हाथ से ओंठों पर आघात कर निकाली आवाज़ (विशेषतः होली के अवसर पर) को मराठी में **'बांब'** कहते हैं। शिव को प्रसन्न करने के लिए हिन्दी तथा मराठी दोनों में अनुकरणात्मक 'बम' शब्द प्रचलित है, हिन्दी मुहा० 'बमकना'-(बढ़-बढ़कर बातें करना) में कदाचित् 'बम' का अर्थविस्तार ही है। इसी से संबंधित हिन्दी में 'बमक जाना', 'बोलना' या 'बोला जाना' 'अंत हो जाना' या 'टाँय टाँय फिस होना' के अर्थ में हैं। मराठी में भी यह मुहावरा 'बम वाजणें' के रूप में है। मराठी में **बोंब मारणें** तथा **बोंबलणें** शोर मचाने के अर्थ में आते हैं।

३. जहाँ रहे वहाँ के स्वामी से मिलकर रहे, इस नीति को **जल में रहे मगर से बैर**

कहावत में व्यक्त किया गया है। मराठी में यही **जलांत पायांत राहून माशांशी वैर** तथा गुजराती में **दरीयामां रहेवुं ने मगर साथे वैर** रूप में प्राप्त है।

४. **कर्म प्रधान विश्व करि राखा** अथवा **कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी** सूक्ति भारतीय जीवन-दर्शन को स्पष्ट करती है। इस आशय की **जैसी करनी वैसी भरनी** लोकोक्ति भी है। मराठी और गुजराती में भी यह क्रमशः **करावें तसे भरावें** तथा **करणी तेवी पार उतरणी** के रूप में प्राप्त है।

५. निर्बल सदैव सबल का शिकार रहा है। **अजापुत्रं बलिदद्यात्** उक्ति इसी भाव की निर्देशिका है। अवधी क्षेत्र में समाज की इस अनैतिकता के लिए एक बड़ी मार्मिक उक्ति है— **दुबरे क मेहर गाँव भरे क सरहज या भौजाई**। गुज० में भी यह **गरीबनी बहू सौनी** (सब की) **भाभी** रूप में प्रचलित है। मराठी में **गरीबाला कोणींहीं काम सांगावें** गरीब की बेबसी को चित्रित करता है।

६. किसी परिस्थिति का सामना करने के लिए यदि पहले से तैयारी न की गयी तो उस मूर्खता को **आग लगे खोदे कुवाँ** सूक्ति से अभिव्यंजित किया जाता है। गुजराती में इसी का रूपांतर है : **आग लागे त्यारे कुवों खोदवा जवु**। मराठी में यही **तहान (प्यास) लागल्यावर विहीर खणणे** के रूप में प्राप्त है।

७. बुरा मनुष्य कभी भी नहीं सुधर सकता, इसके लिए हिंदी में यह उक्ति प्रसिद्ध है—**कोयला होय न ऊजला सौ मन साबुन लाय**। मराठी में भी यही **कोळसा किती उगाळला तरी काळाचं**। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर एक अन्य कहावत भी है : **कुत्ते की पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी**। मराठी में यही इस प्रकार है: **कुत्र्याचे शेपूट नळींत घातले तरी वाकडेच** अथवा **कुत्र्याचे शेपूट वाकडे ते वाकडेच**। गुजराती में यह इस प्रकार है : **कूतरानी पूंछड़ी वांकी ते वांकीज**।

८. अत्यधिक परिश्रम करने पर यदि फल अत्यल्प हो गया हो तो कहा जाता है : **खोदा पहाड़ निकली चुहिया**। मराठी में भी यही है : **डोंगर पोखरुन** (पहाड़ खोदकर) **उंदीर** (चूहा) **काढणें**। गुज० में यही **खोदवो डुंगर ने काढवो उंदर** है।

९. निर्धन व्यक्ति यदि अपनी सामर्थ्य से बाहर पुण्य करता है तो **घर बेचकर तीर्थ करना** कहते हैं। गुजराती में भी यही उक्ति है। वस्तुतः संस्कृत के 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' (अर्थात् ऋण करके घी पीना) से यह प्रभावित है। मराठी में यह **ऋण काढून सण** (पर्व) **करणे** रूप में प्रचलित है।

१०. व्यावहारिक जीवन में एक नीति है : **जैसे को तैसा**। मराठी में यह **जशास तसे** रूप में प्रचलित है। ये भाव संस्कृत **शठे शाठ्यं समाचरेत्** से प्रभावित हैं। इस आशय को **सेर का सवा सेर** अथवा गु० **शेरने माथे सवाशेर** से भी व्यक्त करते हैं।

११. **रुपए की माँ पहाड़ चढ़ती है** या **सबका बाप रुपैया** अथवा **सबसे बड़ा रुपैया** या **रुपया गुरु और सब चेला** के लिए मराठी में **दाम करी काम** आता है। गुजराती में यह **दाम करे काम बीबी करे सलाम** है।

१२. परिश्रम करता रहे तो कभी न कभी सिद्धि प्राप्त होगी ही, इस आशय के लिए **बूंद बूंद या फुही फुही से तालाब भरता है** कहावत है। मराठी में यह ज्यों की त्यों है: **थेवें थेवें तळे** (तलैया) **सांचे**। गुजराती में यह इस प्रकार है: **कांकरे कांकरे पाछ** (सरोवर के चारों ओर बाँधी गई दीवार) **बंधाये, टीपे टीपे** (टीप = बूंद) **सरोवर भराय**।

१३. दूर चले जाने पर प्रिय व्यक्ति को भी लोग भूल जाते हैं। इस भाव के लिए कहा जाता है **नजर (या आँख) ओट पहाड़** ओट। गुजराती में यह इस प्रकार है: **नजर बहार ते कदर बहार** अर्थात् आँख से ओझल होने पर मर्यादा या मुरव्वत भी समाप्त हो जाती है। मराठी में इसे **दृष्टि आड सृष्टि** कहते हैं। अंग्रेजी में यही **आउट ऑफ़ साइट, आउट ऑफ़ माइंड** है।

१४. निराश्रित के लिए साधारण सहारा भी बहुत है, इसके लिए कहा जाता है **डूबते को तिनके का सहारा**। गुजराती में इसे **डूबतो माणस तणखलुं** (तिनका) **पकड़े** तथा मराठी में **बुडत्याला काडीचा आधार** कहते हैं।

१५. किसी कार्य में जब मतैक्य नहीं होता तो सं० में कहा जाता है **मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना** अथवा **भिन्नरुचिर्हि लोकः**। एतदर्थ हिन्दी में **जितने लोग उतनी राय** गुजराती में **तुंवडे तुंवडे जदी बुद्धि, जुदे मोढे** (मुख) **जुदी बात** तथा मराठी में **व्यक्ति तितक्या** (उतनी) **प्रकृति** कहा जाता है।

१६. मूर्खों में साधारण समझदार व्यक्ति भी विद्वान् सदृश आदर पाता है अथवा नगण्य वस्तुओं के मध्य साधारण उपयोगी वस्तु भी महत्वपूर्ण हो जाती है। इसके लिए हिन्दी में कहा जाता है: **अंधों में काना राजा** अथवा **जहाँ पेड़ न रूख तहाँ रेंड़इ महापुरुष**। सं० में भी **एरंडोऽपि द्रुमायते** है। गुजराती में ये **आंधळामां काणों राजा** तथा **उज्जड गाममां एरंडो प्रधान** रूप में प्रयुक्त होते हैं। मराठी में यह भाव इस प्रकार व्यक्त होता है: **वासरात** (वछड़ों में) **लंगडी गाय शहाणी** (चतुर या प्रमुख)।

१७. कठोर हृदयी या नीरस व्यक्ति को अपनी करुण कथा सुनाना व्यर्थ है, इसके लिए **अंधरे के आगे रोवइ आपन दीदा खोवइ** एक अवधी जनोक्ति है। एतदर्थ गुजराती में **आंधळाने आरसी ने बेहराने शंख** तथा मराठी में **आंधळ्या पुढे नाच आणि वहिऱ्या पुढे गाणें** म्हणी है।

१८. एक ओर से काम होता चले और दूसरी ओर से बिगड़ता चले, इस भाव के द्योतन के लिए अवधी लोकोक्ति है: **रसरी बरत जाय पँड़वा** (भैंस का नर बच्चा) **चबाए जाय**। गुजराती तथा मराठी में इसके लिए क्रमशः **आगळ भणता जाय पाछतुं भूलता जाय** व **पुढें पाठ मागें** (पीछे) **सपाट** है।

१९. एक ही साथ दो काम होने पर कहा जाता है: **एक तीर में दो शिकार** या **एक पंथ दो काज**। गुजराती में यह **एक कांकरे बे** (दो) **पक्षी मारवा** तथा मराठी में **एक दगडानें दोन पक्षी मारणें** है। ये दोनों कहावतें अंग्रेज़ी टू बर्ड्ज़ इन वन् स्ट्रोक् से प्रभावित हैं।

२०. दो वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के गुणों में अत्यधिक अंतर रहता है तो इसके लिए एक ऐतिहासिक कहावत है: **कहाँ राजा भोज कहाँ गंगवा तेली**। गुजराती में भी यह ज्यों की

त्यों है : **कहाँ राजा भोज कहाँ गांगो तेली**। मराठी में इसी भाव के लिए एक अन्य म्हाणी है: **कोठे** (कहाँ) **इन्द्राचा ऐरावत, कोठे शामभटाची तट्टाणी** (छोटी घोड़ी)।

२१. सब की गृहस्थी में एक ही दशा है अथवा एक समान समस्या है : इस बात को व्यक्त करने के लिए अवधी में एक कहावत है : **सबके घरे माटी का चूल्हा**। यह सांस्कृतिक कहावत गुज० तथा म० में भी क्रमशः इसी रूप में है : **घरे घरे माटी ना चुला व घरोघर मातीच्या चुली**।

२२. स्वार्थसिद्धि के लिए छोटे से छोटे व्यक्ति की भी खुशामद करनी पड़ती है, इसके लिए हिन्दी कहावत है : **गरज पर गदहे को भी बाप (या मामा) कहना पड़ता है**। गुजराती में यही उक्ति इस प्रकार है: **गरजे गधेडाने बाप कहेवो पडे**। मराठी में यह **अडला हरि या नारायण गाढवा** (गधा) **चे पाय धरी है**।

२३. ज्ञानी गम्भीर होता है और थोड़े ज्ञान वाला व्यक्ति अपने प्रदर्शन के लिए आतुर रहता है। इसके लिए संस्कृत में उक्ति है : **अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते**। हिन्दी में इस भाव के लिए एक अन्य उक्ति है : **अधजल गगरी छलकत जाय**। गुजराती में भी यह इसी रूप में है: **अधुरो घड़ो बहु छलकाय**। मराठी में यह **उथल पाण्याला** (पानी का) **खल-खल फार** (अधिक) है।

२४. **लोभ पाप कर मूल** इस भाव को **लालच बुरी बला** से भी व्यक्त किया जाता है। गुजराती में यह इस प्रकार है: **अतिलोभ पापनुं मूल**। मराठी में इसे इस प्रकार कहते हैं : **अति लोभांने पापाचरणाची प्रवृत्ति होते**।

२५. अपने ऊपर विपत्ति पड़ने पर दूसरों की भलाई की ओर ध्यान नहीं जाता, इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को **आप मरे जग डूबा** में व्यक्त किया गया है। गुजराती में यह **आप मुवे डुब गई दुनियां** तथा मराठी में **आपण मेले** (स्वयं मृत होने पर) **जग बुडलें** है।

२६. स्वतः परिश्रम के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती अथवा बिना अपने किये सफलता प्राप्त नहीं होती। इसके लिए कहा जाता है : **अपने मरे बिना स्वर्ग किसने देखा**। यह उक्ति गुजराती और मराठी दोनों में ही ज्यों की त्यों है—गुज० **आप मुवा बिना स्वर्ग न जवाय**; मराठी **स्वतः मेल्या शिवाय स्वर्ग** दिसत **नाहीं**।

२६. किसी को थोड़ा सहारा या आश्रय दो तो वह धीरे-धीरे पूरा अधिकार चाहने लगता है। इस मानव दुर्बलता को **हाथ पकड़कर पहुँचा पकड़ना** में सांकेतिक ढंग से व्यक्त किया गया है। गुजराती में भी यही है : **आंगळी आपीए** (आपुन = देना) **तो पहोंची पकड़े**। अवधी में एक उक्ति है: **बैठइ क जगहा देइ तो ओलरि जाय**। मराठी में भी यही है: **भटाला** (ब्राह्मण को) **दिली ओसरी** (ओसार) **भट हातपाय पसरी**। संस्कृत में इस भाव के लिए **चंचुप्रवेशे मुसलप्रवेशो** सूक्ति है।

२८. सामाजिक कार्यों में या सहयोग से सम्पन्न होने वाले उत्तरदायित्वों की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि दोनों पक्ष उसके लिए बराबर प्रयत्नशील हों। इस नीति को प्रकट करने के लिए एक साधारण अनुभव की बात कही जाती है : **एक हाथ से ताली नहीं बजती**। गुज-

राती व मराठी दोनों में ही इसका प्रचलन क्रमशः इस प्रकार है: **एक हाथे ताळी न पड़े; एका हाताने टाली बाजत नाहीं।**

२९. कोई स्वार्थी यदि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी का अनभल ताके या मनावे तो इससे क्या किसी की हानि हो सकती है ? यह तो उस स्वार्थी की घृणित मनोवृत्ति की ही परिचायिका है, यही मनोभावना इस प्रकार व्यक्त की गयी है: **कसाई के मनाये गाय नहीं मरती।** मराठी में यह इस प्रकार है **कावळ्या** (कावळा = काग) **च्या शापा ने कुठे गाय मरते।** गुजराती में यही भाव इस प्रकार है: **कणियाना शापथी कुई वरसाद** (बरसात) **अटके।**

३०. मानव की असावधानी या अन्यमनस्कता के स्वभाव को प्रकट करने वाली एक बड़ी सुन्दर उक्ति है: **गोद में लरिका गाँव भर में ढिढोरा।** गुजराती में भी यही है: **केडे छोकरो ने गामां ढंढ़ेरो।** मराठी में इसका दूसरा पाठ है : **कमरेला कलसा नि** (और) **गांवरा वळसा** (फेरा)।

३१. अवसर खोने पर पछताना ही हाथ रहता है, अतः मनुष्य को सदैव कार्यतत्पर रहना चाहिए। इस उपदेश को **समय चूकि पुनि का पछताने या गया वक्त फिर हाथ आता नहीं** में कहा गया है। गुजराती में भी यही है: **गयो अवसर पाछे न आवे।** मराठी में यह इस प्रकार है: **गेली बेल परतयेत** (परताणे = लौटा) **नाहीं।**

३२. आर्त व्यक्ति अपनी ही बात जोतता है, 'इसके लिए **गरजमंद बावला** कहा जाता है। गुजराती में यह **गरज विचारी बापड़ी** (दीन) तथा मराठी में यह **गरज आगळ अक्कल आंधणी या गरजवंताला अक्कल नाहीं है।** इस संबंध में 'रामचरित मानस' की यह सूक्ति आरत **के चित रहै न चेतू, पुनि पुनि कहै आपनो हेतू** भी ध्यान देने योग्य है।

३३. यदि कोई किसी वस्तु का न तो उपभोग करे और न दूसरे को करने दे, तो अवधी में कहा जाता है: **न तोका न मोका भरसाई में झोंका।** मराठी में यह इसी रूप में है: **ना तुला** (तुझको) **ना मला** (मुझको) **घाल** (डालना) **कुत्र्याला** (कुत्ते को)। गुजराती में यह इस प्रकार है **गुंजनो कूतरो न खाय ना खावा दे।** संस्कृत में **न देवाय न पित्राय** प्रचलित है।

३४. असमर्थ या दरिद्र से दान की बात कहना उसकी दरिद्रता के प्रति व्यंग है। इसे लोकोक्ति के रूप में कितने सुन्दर ढंग से समाज ने व्यक्त किया है। अवधी में एक कहावत है: **लरिकन के दाना नाहीं, पित्तरन सराध माँगें।** गुजराती में यही इस प्रकार है : **घरना छोकरा घंटी चाटे ने** (और) **उपाध्यायने** (उपाध्याय को) **आटो।** मराठी में इसे एक अन्य प्रकार से कहा गया है : **घरचं झालें थोडें, नि व्याह्याला धाडलें** (धाडणें = भेजना) **थोड़ं।**

३५. प्रत्येक वस्तु की शोभा उचित स्थान पर ही होती है, इस अनुभव को इस प्रकार कहा गया है: **घोड़ा घोड़साल में, बेटी ससुराल में; या हीरों की कीमत जौहरी जाने।** गुजराती में पहली उक्ति ज्यों की त्यों है: **घोडु घोड़ारमां ने कन्या सासरामाज शोभे।** दूसरी लोकोक्ति मराठी में लगभग उसी रूप में है : **हिरा कोंबणांत** (जड़ाव में) **च** (निश्चय पूर्वक) **उठून दिसती।**

३६. दूसरों को सुख पहुँचाने वाला साधारणतः कष्ट में रहता है। सामाजिक जीवन के इस पहलू को **दिया के नीचे अँधेरा** में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है। यह गुजराती और मराठी में भी प्राप्त है। गुजराती : **दीवा तळे अंधाड़;** मराठी : **दिव्या खाली अंधार।**

३७. एक बार का डहकाया या धोखा खाया हुआ व्यक्ति फूंक-फूंक कर क़दम उठाता है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए सांकेतिक कहावत है : **दूध का जला मठा फूंक-फूंक कर पीता है।** गुजराती में भी यह इसी प्रकार है: **दूध नो दाझ्यो छास फूंकीने पीए।** मराठी में भी यही है: **दुधाने तोंड** (मुख) **पोळणें** (पोलणें = जलना) **कीं ताक**(तक्र)**सुद्धां फुंकून पितात।**

३८. जहाँ रहे उसके अनुकूल आचरण करे इस बात के लिए कहा जाता है: **जैसा देस वैसा भेस।** गुजराती और मराठी दोनों में यह इसी रूप में है—गुज० **देश तेवो वेश;** मराठी : **देश तसा वेश।**

३९. चुप रहने से सारे झगड़ों से मुक्ति मिल जाती है, इसीलिए कहावत है: **सब से भला चुप।** गुजराती में भी इस प्रकार है: **न बोल्यामां नव गुण।** मराठी में भी यही है: **सब से बड़ी चूप।** संस्कृत में इसका रूप है: **मौनं सर्वार्थ साधनम्।**

४०. किसी वस्तु की महिमा सदा नहीं रहती, एतदर्थ कहा जाता है: **चार दिना की चाँदनी फिर अँधेरी रात।** गुजराती में यही इस प्रकार है: **नवो निशाळीयो** (पढ़वैया) **नव दिवस।** मराठी में यह इस रूप में है : **नव्याचे नऊ दिवस।**

४१. लक्ष्य भेद अनिश्चित रहने पर भी यदि हानि की संभावना न हो तो कहते हैं **लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का।** गुजराती में यह इस प्रकार है : **वागवुं** (लगाना) **तो तीर नहीं तो टखो।** मराठी में इस अनिश्चित लाभ को इस प्रकार कहा गया है : **गाजराची पुंगी** (तुंबी) **वाजली तर बाजली नाहींतर खाऊन टाकली।**

४२. सत्य को भय नहीं, इसके लिए हिंदी तथा गुजराती दोनों में एक ही कहावत है हिं० **साँच को आँच नहीं;** गुजराती **साचनों कदी आंच न आवे।** संस्कृत में यह **सत्यमेव जयते** के रूप में है। मराठी में भी यही प्रचलित है।

४३. स्तुति, खुशामद या चापलूसी किसको अच्छी नहीं लगती, इस अनुभव को इस प्रकार कहा जाता है: **खुशामद खुदा को भी प्यारी है।** गुजराती में भी यही है: **खुशामत तो खुदाने पण प्यारी।** मराठी में यह इस प्रकार है: **खुशामत कोणाला आवडत** (आवडणें = चाहना) **नाहीं**

इन कहावतों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के इस विस्तृत क्षेत्र की सांस्कृतिक एकता का स्वरूप क्या है। दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक भावना, सामाजिक आदर्शों, नैतिक मानदण्डों, आर्थिक व्यवस्था आदि की दृष्टि से किस सीमा तक व्यापक समता है और जो किंचित् भिन्नता है उसके कारण क्या हैं, इनपर भी इस अध्ययन से प्रकाश पड़ता है।

●

जगदीश गुप्त

मध्यदेश का एक अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र अंगईखेड़ा

मध्यदेश के प्रमुख प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कांपिल्य, संकाश्य, अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुब्ज, नैमिषारण्य, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, काशी और प्रयाग आदि की गणना की जाती है। इस सूची को कितना ही विस्तृत क्यों न किया जाय, 'अंगईखेड़ा' इसमें उपलब्ध नहीं होगा; क्योंकि इतिहास एवं पुरातत्व की दृष्टि से उसकी महत्ता अब तक सर्वथा अज्ञात रही है। वहाँ के निवासी भी उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व से प्रायः
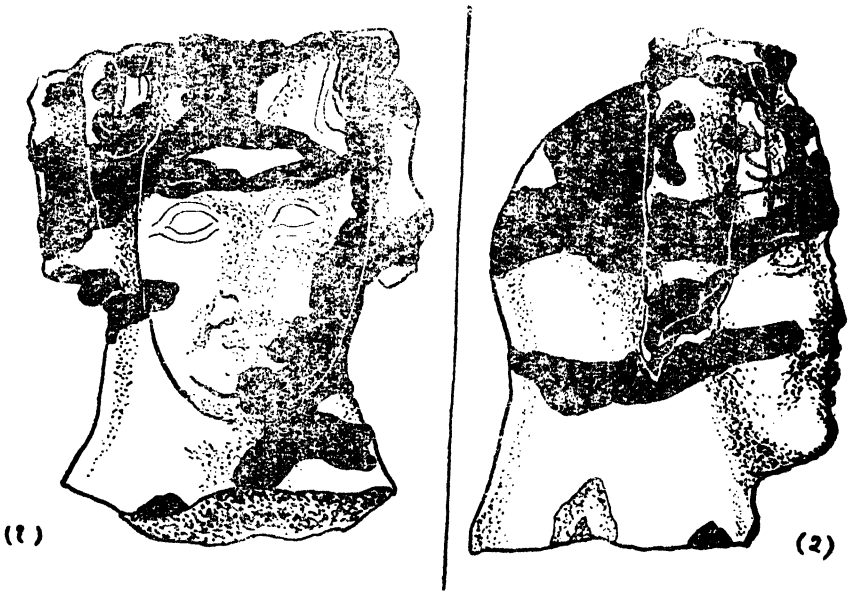
(१) सन्मुख (२) पार्श्व।

चित्र नं० १२—अंगईखेड़े से प्राप्त बड़ी काली चित्तियों वाले पत्थर की मूर्ति का शिरोभाग जो ग्रीक मेष देवता (Pan) का प्रतीत होता है। समय कुषाण-कालीन या उससे कुछ पूर्व।

अपरिचित हैं। जो कुछ परिचय उन्हें है उसका तज़किरा मुज़फ्फर हुसेन ख़ाँ ने अपने 'नामा-ए-मुज़फ़्फ़री' में इस तरह किया है—

"जिस जगह पर अब यह क़स्बा शाहाबाद है, एक क़स्बा 'अंगईखेड़ा' के नाम से बसा था और उसमें ठठेरों की क़ौम आबाद थी............इस क़स्बए अंगईखेड़ा की आबादी की मुतल्लिक़ हमें कोई तारीख़ हिन्दी नहीं मिली मगर हमारे एक मह-क़्क़िक़ दोस्त ने, जो क़ौम के हिन्दू थे, एक संसकिरत की पोथी से तर्जुमा करके कुछ बयान लिखाये जो नज़्र हाज़िरीन पेश किये जाते हैं: 'रवायत है कि अंगई अस्ल में अंगदगढ़ था। राजा अंगद ने यह बस्ती अपने नाम से बसायी थी। राजा अंगद महाराजा रामचन्द्र के सिपहसालार थे......बाज़ राजा अंगद को महाराजा रामचन्द्र की औलाद में भी बताते हैं।'"—पृष्ठ १६५-१८०।

इसी विवरण में पाँच प्रसिद्ध कुओं—गंगोदक, समुन्दरखार, सौभद्रक, कोषोदक, और पयोवर्त के अतिरिक्त नर्वदा, वाराहवर्त आदि नौ तीर्थों की गणना भी करायी गयी है। लोक प्रचलित 'आठ कूप, छेत्र नव नर्वदा प्रसिद्ध जामें, बाँवन मोहल्ले आम जात देस देस को' के रूप में भी ऐसी ही कुछ पूर्व स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। 'अंगदागाड़ो' और 'पुष्पावती' भी इसके अन्य नाम बताये जाते हैं। मुज़फ़्फ़र ख़ाँ के अनुसार 'क़स्बा शाहाबाद मुल्के अवध का सबसे बड़ा क़स्बा है।'

यह सारा विवरण अँगईखेड़े को एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मान्यता दिलाने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है। इससे केवल यही संकेत मिलता है कि इसका इतिहास संभवतः प्राचीन है तथा किसी अंगद नाम के राजा से इसका नाम सम्बन्धित है। इसमें संदेह नहीं कि पुराणों में सूर्यवंश के प्रसंग में लक्ष्मण के दो पुत्रों में अंगद का नाम मिलता है—'अंगदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।' (भागवत ९।११।११)। पर वह संस्कृत की कौन सी पोथी थी जिसमें इसका पूरा इतिहास अंकित था, यह जिज्ञासा को उभार कर मात्र प्रश्न के रूप में रह जाता है। इससे अधिक कुछ हाथ नहीं आता। प्राचीन कहे जाने वाले स्थानों की भारतवर्ष में कमी नहीं है, परन्तु बिना पुरातत्व की यथेष्ट सामग्री के किसी भी स्थान के सांस्कृतिक इतिहास का प्रामाणिक पुनर्गठन संभव नहीं है।

मुझे हर्षमिश्रित आश्चर्य हुआ जब अंगईखेड़े से स्तरीय उपलब्धि (surface findings) के रूप में शुंग-कुषाण और गुप्तकाल की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होने लगी। उपलब्धियों ने खोज की वृत्ति को जागृत किया और खोज-वृत्ति ने उपलब्धि को अनेकमुखी समृद्धि प्रदान की। विविध कालों की मृण्मूर्तियाँ, मुद्राएँ, आलिखित इष्टक-खण्ड, N. B. P. से युक्त ओपदार पात्र, खण्ड-मुद्रालेख, ताम्रफलक, पाषाण मूर्तियाँ तथा विभिन्न प्रकार के खण्डित मृत्पात्र आदि सब ने मिलकर पिछले एक डेढ़ वर्ष में मेरे चित्र-कक्ष (studio) को जबरदस्ती संग्रहालय (Museum) का रूप दे दिया। संग्रह की प्रत्येक वस्तु के खोजने-पाने का स्वतन्त्र इतिहास है जो व्यक्तिगत है और जिसका अंगईखेड़े के सांस्कृतिक इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ इस दूसरे इतिहास की चर्चा ही अभीष्ट है।

भारतवर्ष का क्रम-बद्ध इतिहास मौर्य-काल से आरंभ होता है। इससे पूर्व हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो के काल से लेकर मौर्यकाल तक का व्यवधान अपेक्षित प्रामाणिक सामग्री के अभाव में पूरी तरह भरा नहीं जा सका है, यद्यपि पुरातत्व के विद्वान् इस दिशा में सक्रियता-पूर्वक संलग्न हैं। अंगईखेड़े से जो प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई है वह उसके इतिहास को वर्त-मान समय से लेकर मौर्यकाल तक प्रायः क्रमबद्ध कर देती है और इस प्रकार ऐतिहासिकता उसे मध्यदेश के किसी भी पूर्वोक्त सांस्कृतिक केन्द्र के समकक्ष रख देती है। इधर दो ताम्र-अस्त्र (copper implements) भी प्राप्त हुए हैं, जो अंगईखेड़े के इतिहास को सहस्रों वर्ष पीछे खींच ले जाते हैं। विधिवत् उत्खनन (excavation) होने से पूर्व ही जब यह स्थिति दिखायी दे रही है तो वैज्ञानिक रीति से उत्खनित किये जाने पर और भी अप्रत्याशित तथ्य प्रकाश में आने की संभावना स्पष्ट प्रतीत होती है। चौड़ी भारी ईंटों से बनी दूर-दूर तक फैली हुई नीवें इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि अंगईखेड़ा वर्तमान समय में भले ही 'खेड़ा' या 'क़स्बा' रह गया हो पर मध्यकाल से पूर्व प्राचीन युग में वह अवश्य ही एक छोटा किन्तु समृद्धिशाली महत्वपूर्ण सांस्कृतिक नगर था जिसमें समय-समय पर अनेक धर्मों, जातियों और राजसत्ताओं का प्रभुत्व रहा होगा। कन्नौज, मथुरा, संकिसा, कंपिला, अहिच्छत्रा के समीपस्थ होने के कारण तथा मूर्ति-मुद्राओं की व्यापक समरूपता के कारण यह सहज ही प्रतीत होता है कि इस केन्द्र का सांस्कृ-तिक सम्बन्ध इन सब से अवश्य रहा होगा। इस प्रतीति को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए मध्यदेशीय पुरातत्व की सामग्री के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जो इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का कार्य है। यहाँ केवल उपलब्ध सामग्री की रूपरेखा तथा उसके महत्व का कुछ परिचय मात्र दे देना पर्याप्त है। सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग के वर्तमान अध्यक्ष तथा मथुरा संग्रहालय के भूतपूर्व क्यूरेटर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी और प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष तथा कौशाम्बी उत्खनन के संचालक श्री गोवर्धनराय शर्मा ने अनेक बार सम्मिलित रूप से किया है। मुद्राओं की प्राचीनता एवं तिथि-क्रम में स्व० डॉ० अल्तेकर का मत भी सम्मिलित है। श्री वाजपेयी जी ने भी इस कार्य में यथेष्ट सहायता दी है। अनेक मूर्ति-मुद्राओं की महत्ता का निश्चय करने में डॉ० सतीशचन्द्र काला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री रायकृष्णदास तथा श्री ब्रजमोहन व्यास से भी परामर्श लिया गया है। यों संग्रहालयाध्यक्षों के सामने जब कोई नयी सामग्री आती है तो वे उसे अपने संग्रहालय के लिए प्राप्त करने की बात पहले सोचते हैं, उसकी प्राचीनता के निश्चयात्मक निर्धारण का प्रश्न उनकी दृष्टि में प्रायः उतना तात्कालिक नहीं होता, परन्तु मुझे अधिकतर सबसे सद्भावपूर्ण परामर्श ही प्राथमिक रूप से मिला है।

अभिलिखित वस्तुएँ

उपलब्ध सामग्री के इस वर्ग में इष्टक-खंड, सीलें तथा कुछ मुद्राएँ आती हैं। एक बृहदाकार इष्टक-खंड पर पर्याप्त प्राचीन अवस्था के ब्राह्मी अक्षरों में 'ततिजसो इटाकु' अंकित मिलता है. जो ई० पू० प्रथम शती के लगभग का अनुमानित किया गया है। एक सील पर

चित्र नं० १—अंगईखेड़े का दक्षिणाभिमुख भाग इसके खुदे हुए अंश से अनेक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

चित्र नं० २—अंगईखेड़े के दक्षिणाभिमुख भाग से सर्वप्रथम प्राप्त कुषाणकालीन स्त्री-मृण्मूर्ति।

चित्र नं० ३—अंगईखेड़े से प्राप्त शुंगकालीन मिट्टी की मिथुन-मूर्ति।

चित्र नं० ४—कुषाणकालीन यक्षमुख क्रीड़ा-शकट।

चित्र नं० ८—अंगईखेड़े से प्राप्त विम कैडफाइसिस का ताँबे का सिक्का—समय: लगभग ४० से ७७ ई०।

चित्र नं० ७—अंगईखेड़े से प्राप्त एक पंचमार्क सिक्का। लगभग ४०० ई० पू०।

चित्र नं० ५—अंगईखेड़े से प्राप्त अर्चा-सरोवर का खंडित अंश। पहली-दूसरी शती ई०। (Votive Tank)

चित्र नं० ९—अंगईखेड़े से प्राप्त कुषाणकालीन पुरुष मृण्मूर्ति का शीश।

चित्र नं० ६—अंगईखेड़े से प्राप्त आयुधालंकृत शिरोभूषायुक्त देवी—सिनीवाली की मृण्मूर्ति। शुंग काल।

चित्र नं० १०—अंगईखेड़े से प्राप्त अनेक कुषाणकालीन मिट्टी के

'चपठस्य' तथा एक अन्य पर 'पुरणिकाया' आलिखित है, जो क्रमशः तीसरी और पाँचवीं शती ईसवी की प्रतीत होती हैं। यह सीलें वैयक्तिक नामों वाली हैं। दूसरी सील किसी 'पुरणिका' या 'पौराणिका' नामक स्त्री की है। दोनों सीलें मिट्टी की हैं तथा पहली में 'स्वस्तिक' एवं दूसरी में 'त्रिरत्न' का चिह्न लांच्छित है। तीसरी सील ताँबे की है जिस पर ब्राह्मी अक्षरों में 'वेरत-पतिफिलि' उत्कीर्ण है। अक्षराकृति से सील गुप्तकालीन सिद्ध होती है। इसमें पांचालों का नागयुक्त प्रसिद्ध चिह्न तथा वंशप्रतीक चन्द्रमा भी अंकित है। गुप्त-काल में संस्कृत का प्रयोग शिष्ट समुदाय में सर्वप्रचलित था। ऐसी दशा में इस सील में प्राकृत का प्रयोग भाषा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त कुषाण-काल, उत्तर कुषाण-काल तथा गुप्त-काल की अनेक स्वर्ण एवं ताम्र मुद्राएँ अभिलिखित हैं। कुछ विदेशी ढंग की मुद्राओं पर ग्रीक अक्षर भी मिलते हैं। स्वर्ण मुद्राएँ शाहाबाद के स्वर्णकारों के पास सुरक्षित हैं, जिनमें केदार-कुषाण मुद्राओं के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त आदि के सिक्के भी हैं। चाँदी-सोने के उत्तर गुप्तकालीन तथा मुस्लिम काल के सिक्के संख्या में कहीं अधिक उपलब्ध हुए हैं पर वे उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं।

पंचमार्क सिक्के एवं अन्य महत्वपूर्ण ताम्र-मुद्राएं

भारतवर्ष में जितने प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें अभी तक पंचमार्क सिक्के सबसे अधिक प्राचीन माने जाते हैं। जो पंचमार्क मुद्राएँ अंगईखेड़े से मिली हैं उनका समय डॉ० अल्तेकर ने चौथी से दूसरी शती ई० पू० के बीच निर्धारित किया था। विम कैडफाइसिस (लगभग ४०-७७ ई०) तथा अन्य अनेक क्षत्रपों एवं कुषाण शासकों की ताम्र-मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनका विशेष अध्ययन अभी नहीं किया जा सका है। एक ताम्र-मुद्रा संभवतः मौर्यकाल की है, जिस पर वृक्ष, स्तंभ, हाथी आदि प्रसिद्ध चिह्न मुद्रित हैं।

मृण्मूर्तियाँ (Terracottas)

अब तक लगभग साढ़े तीन सौ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें अधिकांश खंडित हैं। इनमें से अनेक कौशांबी, झूंसी, राजघाट, अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मूर्तियों के समरूप हैं। मृण्मूर्तियों का कालनिर्धारण शैली-शिल्प, चित्रित-वस्तु, उत्खनन-स्तर आदि के आधार पर किया जाता है, किन्तु अभी तक इसकी कोई निर्भ्रान्त पद्धति नहीं निकल सकी है। इस दिशा में जितना अध्ययन-मनन तथा सामग्री-संचयन अपेक्षित है उतना कदाचित् नहीं हुआ है। तथापि मृण्मूर्तियों की प्राचीनता की परख की ही जाती है और उसी के आधार पर संग्रहालयों में मूर्तियों के काष्ठाधारों पर काल-निर्देश दिया रहता है। कला की दृष्टि से मृण्मूर्तियों में अति साधारण से लेकर अति असाधारण शिल्प-कौशल के इतने स्तर मिलते हैं कि वह भी एक स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय प्रतीत होता है। अंगईखेड़े से उपलब्ध मृण्मूर्तियों पर न्यूनाधिक यह सभी बातें लागू होती हैं। मथुरा शैली की काली और लाल मिट्टी की शुंग-कुषाणकालीन मूर्तियों से लेकर गुप्त-काल तक की शैली में निर्मित मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह मूर्तियाँ क्रीड़ा, अलंकरण, पूजन आदि विविध भावों से रची जाती थीं। बालकों के खिलौनों में 'यक्ष-मुख

क्रीड़ा-शकट' अद्वितीय स्थान रखता है। दो पहियों वाले मेष, गज आदि की आकृति के ऐसे पशु-मुख मृच्छकटक मथुरा, कौशांबी आदि से भी प्राप्त हुए हैं, पर यक्ष आकृति से युक्त इतना कला-पूर्ण क्रीडा-शकट अभी तक कदाचित् कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ। इस पर अंकित पुरुषा-कृति मथुरा की यक्ष-मूर्तियों से मिलती-जुलती है और यह सिद्ध करती है कि मथुरा-कला का विस्तार इस क्षेत्र तक था। शुंगकालीन 'गजलक्ष्मी' और मिथुन मूर्तियों के टीकरे भी, जो कई प्रकार के उपलब्ध हुए हैं, इसी प्रभाव का साक्ष्य देते हैं। विशाल मानवकाय (संभवतः बुद्ध मूर्ति) का एक खंडित पदांश भी मिला है। कुछ छोटी बुद्ध-मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

अर्चा-सरोवर (Votize tank) और नैगमेष (Naigmesh)

दुंदुभि-वादक युक्त यह अर्चा-सरोवर मातृदेवी की उपासना का प्रतीक है। कौशांबी और अहिच्छत्रा से कई अर्चा-सरोवर प्राप्त हुए हैं। वैसा ही एक अंगईखेड़ा से मुझे मिला। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सन् १९४८ ई० में, Ancient India, Vol. IV में प्रकाशित अपने लेख 'Terracotta Figurines of Ahichhatra District' में votive tank के विषय में लिखा कि यह पार्थियन या इंडोपार्थियन प्रभाव से विनिर्मित है, क्योंकि तक्षशिला में भी यह पाये गये हैं। अतः लगता है इनका प्रचार ईरानी प्रभाव से गांधार में और गांधार से सारे उत्तर भारत में हुआ। बंगाल में अब भी ऐसे यम पुकुर (yama Pukur) बना कर कुमारियाँ यम का अर्चन करती हैं। डॉ० अग्रवाल ने अहिच्छत्रा से प्राप्त इन अर्चा-सरों का समय १००-२०० ई० के लगभग निर्धारित किया है। अंगईखेड़े वाले सरोवर (चित्र नं० ५) की आकृति उक्त लेख के साथ प्रकाशित प्लेट नं XXXVIII से तुलनीय है। दोनों का सादृश्य इस बात को सिद्ध करता है कि उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और उसके दक्षिणी भाग में स्थित 'अंगई-खेड़ा' के बीच ईसवी सन् के आसपास समान सांस्कृतिक धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका अकाट्य प्रमाण वे मेषकर्णी मूर्तियाँ हैं जो दोनों स्थानों से मिलती हैं तथा जिन्हें वासुदेवशरण जी ने 'नैगमेष' (Naigmesh) की संज्ञा प्रदान करते हुए ४५०-६५० ई० के लगभग का माना है। इनका सम्बन्ध उन्होंने मथुरा की 'हरिनैगमेष' मूर्तियों से माना है तथा इन्हें संतानोत्पत्ति से सम्बद्ध देवता विशेष की मूर्तियाँ बताया है। मुझे यह मूर्तियाँ कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती हैं, क्योंकि अर्चासरों की तरह इनका स्रोत भी विदेशी ही प्रतीत होता है। शाहाबाद से ही एक चित्तीदार प्रस्तरमूर्ति का शिरोभाग मिला है जो किसी यवन देवता, संभवतः ग्रीक मेष देवता (Pan) का जान पड़ता है, क्योंकि उसकी रचनाशैली यूनानी लगती है और सिर पर घूमे हुए सींग अत्यन्त स्पष्ट हैं। ग्रीवा की ऐसी पुष्टता भारतीय मूर्तियों में कहीं भी नहीं मिलती। विदेशी वेशभूषा से युक्त इतनी मूर्तियाँ अंगईखेड़े से मिली हैं कि लगता है किसी समय में वह यवन शक, कुषाण राजाओं से अवश्य अनुशासित रहा होगा। मथुरा तो ईसवी सन् के आसपास लगभग पाँच शताब्दियों तक इनकी प्रभुता का एक प्रमुख केन्द्र बनी रही। मथुरा से श्रावस्ती और अयोध्या जाने वाले मार्ग अंगईखेड़े या उसके समीपवर्ती भाग से होकर जाते होंगे, इसकी पूर्ण संभावना प्रतीत होती है। अन्यथा किसी असम्पृक्त एकाकी स्थान पर इतने सांस्कृतिक सूत्रों की एकता मिलना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त अंगईखेड़ा गर्रा नदी के वर्तमान तट से कुछ ही

मील दूर पर स्थित है और कहा यह जाता है कि कभी यह नदी अंगईखेड़े के बिलकुल पास थी। रेत और नावों के टूटे भाग, जो कभी-कभी पाये जाते हैं, इसकी पुष्टि करते हैं। यह नदी छोटी होते हुए भी उत्तर पांचाल के दक्षिणी भूभाग तक जाती है, और जलमार्ग से कन्नौज की यात्रा संभव बनाती है। प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र ऐसे ही जलमार्गों के समीप विकसित हुए, यह सुविदित है। इन तथ्यों को दृष्टि में रखकर अंगईखेड़ा मथुरा और अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मृण्मूर्तियों की शैली और रूपाकृति के बीच इतनी घनिष्ठ समता एवं संगति की व्याख्या कुछ सरलता-पूर्वक की जा सकती है।

आयुधालंकृत शिरोभूषा युक्त देवी—सिनीवाली

मध्यदेश के अनेक प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों से उत्खनन द्वारा मिट्टी की ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी शिरोभूषा अंकुश, परशु आदि विविध आयुधों से अलंकृत मिलती है। अगईखेड़ा से ऐसे दो टीकरे अभी तक मिले हैं। दोनों की रचनाशैली भिन्न हैं, किन्तु मूर्तरूप एक ही है (चित्र नं० ६)। अभी हाल ही में एक नींव की खुदाई करते समय कौशांबी में, बलिपात्र के समीपस्थ, ऐसी ही मूर्ति मिली है जिसका प्राचीन संदर्भ श्री गोवर्धनराय शर्मा को तैत्तरीय संहिता में 'सिनीवाली, सुकिरीरा, सुकपर्दा स्वौपशा' के रूप में मिला। 'सिनीवाली' शब्द मृण्मयी देवी के अर्थ में ऋग्वेद में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है और 'मोनियर विलियम्स' में इस शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध मानी गयी है। 'सुकपर्दा' विशेषण स्पष्ट रूप से इस विचित्र प्रकार की शिरोभूषा की ओर इंगित करता है। केशों का आयुध रूप में विशेष अलंकरण जिस मृण्मूर्ति में मिलता है वह 'सुकपर्दा, सिनीवाली' ही है, अब यह प्रायः असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाएगा। कदाचित् यह देवी किसी आदिम अथवा आगत अनार्य जाति की उपास्य रही होगी—इसीलिए 'सिनीवाली' शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति नहीं मिलती। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशांबी आदि की तरह अंगईखेड़े में भी इसकी उपासना की परम्परा पहुँची थी यह वास्तव में रोचक एवं महत्वपूर्ण तथ्य है।

प्राप्त सामग्री का इससे अधिक परिचय देना इस लेख की सीमा में संभव नहीं है। अंत में जिला हरदोई, जिसमें अंगईखेड़ा यानी आँझी-शाहाबाद स्थित है, के पुरातत्वपरक सर्वेक्षण की रिपोर्ट (Archaeological Survey of India, New Series Vol. II N. W. P. and Oudh Vol. II pp. 277-283) की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सारा हरदोई जिला डीहों और खेड़ों से भरा हुआ है, जिसमें कहीं भी खुदाई का विधिवत् कार्य अभी नहीं हुआ है। सर्वेक्षणकर्त्ता को हरदोई से इंडो-सिथियन सिक्कों के मिलने की सूचना थी, परन्तु शाहाबाद के पुरातत्व विषयक महत्व का विशेष उल्लेख उसने कोई नहीं किया है। चन्द्रवंशी हैहय क्षत्री ठठेरों को पराजित करके वर्तमान शाहाबाद को सन् १६७७ ई० में अंगईखेड़े के पास नवाब दिलेर खाँ ने बसाया, यही ऐतिहासिक बात उसमें मुख्य रूप से उल्लि-खित है। 'फूलमती देवी' के 'थान' की चैत्य जैसी आकृति के आधार पर उसके बौद्ध परम्परा से उद्भूत होने का अनुमान अवश्य लगाया गया है।

अभी तक 'अंगदी' या 'अंगई' में निहित 'अंगद' शब्द का ऐतिहासिक संदर्भ स्पष्ट नहीं हो पाया है। संभव है, 'आँझी' शब्द भी मूलतः उसी से सम्बद्ध हो जिससे 'अंगई'। पौराणिकतया जैसे मथुरा से शत्रुघ्न का सम्बन्ध माना जाता है उसी प्रकार लोक विश्वास के आधार पर लक्ष्मण के पुत्र अंगद से इसका सम्बन्ध तब तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक कोई दूसरी स्पष्ट ऐतिहासिक व्याख्या न की जा सके।

पूछा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य, कविता और चित्रकला को छोड़कर पुरातत्व के इस बीड़ह बन में मैं कहाँ आकर भटक गया तो उत्तर यह है कि प्रेम में क्या नहीं करना पड़ता। शाहाबाद मेरी जन्मभूमि जो है—स्वर्गादपि गरीयसी।
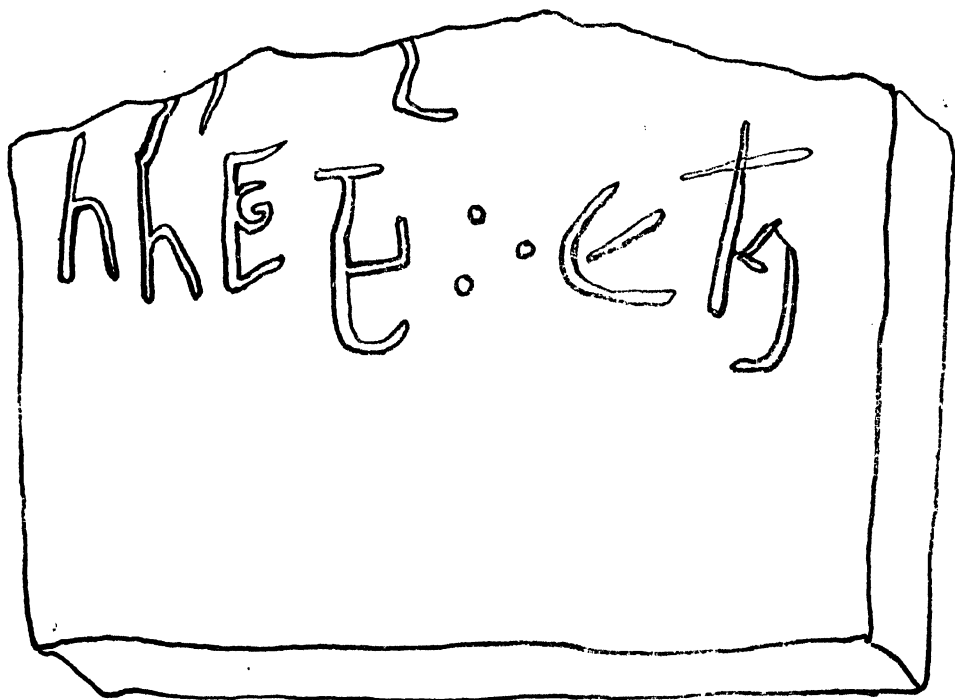
चित्र नं० ११—अंगईखेड़े की पुरानी नींव से प्राप्त ईंट पर अंकित ब्राह्मी अक्षर जो अपनी आकृति से ई० पू० की प्रथम शताब्दी से भी अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

रामरतन भटनागर

मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति

मध्ययुग के देशी-विदेशी इतिहासकारों ने मध्ययुग की भारतीय संस्कृति को इस्लामी संस्कृति से अनन्यतः प्रभावित माना है। उनके अनुसार इस्लाम की अप्रतिरोधित विजय-यात्रा के फलस्वरूप राजपूत-युग की संस्कृति का सर्वोच्छेदन हो गया और उसके स्थान पर विदेशी एवं विजातीय इस्लामी संस्कृति ही अपना चोला बदल कर प्रतिष्ठित हुई। इसीलिए इतिहास-ग्रंथों में मध्यदेश के मध्ययुगीन इतिहास को मध्य एशिया और ईरान के इतिहास से अनिवार्यतः जोड़ दिया जाता है, मानो भारतीय मध्य युग इस्लामी इतिहास का ही कोई स्वर्णिम अध्याय हो।[1] जहाँ कुछ अधिक संतुलित दृष्टि से काम लिया गया है, वहाँ इस मध्यदेशीय संस्कृति को मिली-जुली संस्कृति अथवा 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' कहा गया है[2] और उसे हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय अथवा योगायोग माना गया है। कदाचित् यह प्रयत्न कहीं भी नहीं हुआ है कि दिल्ली के मुसलमान शासकों पर से दृष्टि हटा कर मध्यदेशीय जनता के सांस्कृतिक अभ्युत्थान की ओर दृक्-पात किया जाए और उसे केन्द्रवर्ती महार्घता प्रदान की जाए। उपर्युक्त दृष्टिकोण के अभाव में मध्ययुग का सांस्कृतिक अध्ययन अभी तक अपूर्ण रहा है और उसमें तात्कालिक जनप्रवृत्तियों और पूर्ववर्त्ती सांस्कृतिक परंपराओं का वह प्रतिफल उपस्थित नहीं हो सका है जो वांछनीय है। इसका फल यह हुआ है कि हम मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य को सम्यक् महत्व नहीं दे सके हैं।

मध्ययुग की इस वैष्णव संस्कृति का मूलाधार भक्ति है और यह भक्ति विष्णु के अवतारों, विशेषतया नृसिंह, राम, कृष्ण, विट्ठल के प्रति उन्मुख है। यह भक्ति-भाव गुप्त युग के पौराणिक उपासना-भाव से भिन्न है और इसके जीवनादर्श भी भिन्न हैं। गुप्तयुग और राजपूत-युग का आदर्श मानव सामंत था जो ऐश्वर्य, साहस, शौर्य और शृंगार का प्रतीक था तो भक्ति-युग का आदर्श मानव वैष्णव संत अथवा भक्त था। इस आदर्श को ही हनुमान, भरत, लक्ष्मण और उद्धव जैसे भागवतों के वृत्तान्तों में चरितार्थ किया गया है। यह कहा जा सकता है कि गीता और भागवत में यह आदर्श पहले ही पल्लवित हो चुका था और मध्ययुग के लिए यह कोई नयी खोज नहीं था। परन्तु यह निश्चित है कि मध्ययुग से पहले यह आदर्श व्यावहारिक और जीवनोपयोगी नहीं बन सका था, न वह इतना सर्वांगी और सर्वग्राही ही था। अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही मध्ययुग ने प्राचीन उपकरणों को लेकर वैष्णव भावना और

---

१. डॉ० ताराचंद : इन्फ़्लुएंस ऑव् इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर; पृ० १३७।

२. डॉ० एस० आबिद हुसेन : दि नेशनल कल्चर ऑव् इंडिया; दि हिन्दुस्तानी कल्चर।

'भक्ति' की यह नयी पुनरावृत्ति उपस्थित की और युग के संस्कारी प्रयत्नों को नयी केन्द्रीयता दी। 'नयी वैष्णवता' मध्यदेश के लिए नया युगधर्म बन गई।

इस युगधर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ विशिष्ट तथ्यों को सामने रखें। ये तथ्य बौद्ध धर्म के ह्रास से संबंधित हैं। बौद्ध धर्म के खण्डहरों पर ही हिन्दू नवोत्थान का जन्म हुआ जिसका एक प्रमुख अग्रस्तंभ वैष्णव संस्कृति थी। एक प्रकार से वैष्णव धर्म और संस्कृति बौद्ध धर्म और संस्कृति से विकास, विलयन और विरोध के तीन तत्वों से संबंधित है। ८०० ई० से १२०० ई० तक हम इन तीनों प्रक्रियाओं को द्रुतगति से अग्रसर होते पाते हैं। पहले यह प्रक्रिया दक्षिण भारत में संपन्न हुई,[३] फिर पश्चिमी भारत में[४] १००० ई० के बाद मगध और बंगाल-उड़ीसा के क्षेत्र ही बौद्ध धर्म के केन्द्र बने रह गये थे।[५] अलबेरूनी के ग्रंथ 'किताबुल्हिंद' से यह स्पष्ट है कि काशी तक के क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म की व्याप्ति थी।[६] १२०० ई० के लगभग मगध और बंगाल से बौद्ध धर्म का उन्मूलन हो गया, यद्यपि उड़ीसा १५६० ई० तक बौद्ध धर्मावलंबियों का गढ़ बना रहा। एक तरह से चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियाँ वैष्णव धर्म के उन्नयन की शताब्दियाँ हैं, जब कि वैष्णव धर्म से संबंधित नये आन्दोलनों का सूत्रपात होता है और बौद्ध संस्कार हिन्दू संस्कारों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। बौद्ध धर्म के हिन्दू धर्म में विलीन होने की प्रक्रिया विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न समय उद्घाटित हुई परन्तु उसकी रूपरेखा समान ही है। १५०० ई० के बाद वैष्णव संस्कृति उत्तर भारत में सर्वव्याप्ति प्राप्त कर लेती है और नया जीवनादर्श महान् साधकों और कवियों की साधना में संपूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। कला-कमल के सहस्र दल खुलने लगते हैं और नये कंठ, नये स्वर, नये स्वप्न, नये रूप, नये साहित्य, नये संगीत, नये चित्र और नये शिल्प के रूप में नयी जाग्रति बन जाते हैं।

उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के पतन के संबंध में लामा तारानाथ की साक्षी[७] महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसको संपूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। बल्लभी, नालंदा और बौद्ध गया जैसे प्रमुख बौद्ध केन्द्रों में किसी भी प्रकार के ऐसे उत्कीर्ण लेख अथवा चिह्न नहीं हैं जो बौद्ध धर्म के पतन के संबंध में तिथिचक्र उपस्थित कर सकें अथवा ह्रास की प्रक्रिया और विस्तार की सूचना दें। उस युग के दानपत्रों से भी हमें कोई सहारा नहीं मिलता, न कुमारिल और शंकर जैसे क्रियमाण व्यक्तित्वों अथवा चक्रयान, सहजयान, तंत्रयान, मंत्रयान जैसे महत् आन्दोलनों से ही हम निश्चित तथ्यों की उपलब्धि कर पाते हैं।

सीमांतों के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ७२९ ई० तक सिंध में हीनयानी संप्रदाय के समितिया स्कूल का प्राधान्य था और तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश हो चला था।[८] यह भी संभव है कि इस हीनयानी संप्रदाय में भी बाद के युगों में पूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया हो।

---

३. हुमायू कबीर : दि इंडियन हेरिटेज, दि हिन्दुस्तानी वे; पृ० ७९-८९। ४. डॉ० आर० सी० मित्र : दि डिक्लाइन ऑव् बुद्धिज्म इन इंडिया; प्र० ९, पृ० १०३-१२४। ५. वही : प्र० ४, पृ० ३६-४८। ६. वही : प्र० ५, पृ० ४९-८९। ७. शरत् चन्द्र दास : तारानाथ; पृ० ६२-६४। ८. डॉ० आर० सी० मित्र : वही, पृ० ३४।

विदेशी लेखकों के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने स्थानीय बौद्धों को शंकित कर दिया था और उन्होंने नवागन्तुकों से अभिसंधि करके देश की परतंत्रता का द्वार उन्मुक्त कर दिया। अलबेरूनी के कथनानुसार मध्यएशिया, ख़ुरासान, अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म के अवशेष भी नहीं बचे थे।[९] यद्यपि निज़ामुद्दीन के ग्रंथ 'तबक़ाते अकबरी' में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि अपने चौदहवें आक्रमण में (१०२२ ई० में) सुलतान महमूद को कुरैत की घाटी से गुज़रना पड़ा जिसके उपासक सिंहोपासक थे (कदाचित् शाक्यसिंह से तात्पर्य है)।[१०] जलालाबाद और पेशावर के बीच के भाग में अब भी बौद्ध धर्म के अवशेष मिलते हैं। विद्वानों का विचार है कि समितिया बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म-भाव के इतना निकट था कि वह अनायास ही कालांतर में उसमें अंतर्भुक्त हो गया, यद्यपि १२२५ ई० तक एक चीनी यात्री के वृत्तांत में उसके अवशेष का आभास मिलता है।[११]

उत्तर-पश्चिम में नवीं शताब्दी तक जालंधर, गुजरात, राजपूताना, गांधार और उड्डीयान में बौद्ध मत प्रतिष्ठित था और पुरुषपुर के प्रसिद्ध कनिष्क बिहार की सर्वदिक् प्रतिष्ठा थी।[१२] बल्लभी (गुजरात) में शीलादित्य सप्तम् के समय तक (७७०ई० तक) बौद्ध धर्म का सम्मान था, यद्यपि सिलवेन लेवी के अनुसार उस समय तक बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म बन गया था और उसने शैवमत की अनुरूपता ग्रहण कर ली थी जिसमें वह अंततः लयमान हो गया।[१३] पाँचवीं शताब्दी में समितिया स्कूल मालवे में स्थापित हो गया था और युवान्चांग के समय में मगध और मालवा बौद्ध ज्ञान के प्रमुखतम केन्द्र थे। इत्संग के समय में बल्लभी के विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि नालंद से कम नहीं थी। गुजरात के शासक राष्ट्रकूट दंतिवर्मन् के एक शिलालेख (८६७ ई०) में मंगलाचरण में बुद्ध की वन्दना है, यद्यपि विष्णु और शिव से अभयदान की प्रार्थना की गयी है, और उसके भाई ध्रुव द्वितीय के दानपत्र (८८४ ई०) में बौद्ध संघ का स्पष्ट उल्लेख है।[१४]

११वीं शताब्दी के कसिया (कुशीनारा) के एक कलचुरि शिलालेख से यह पता चलता है कि शिव-पार्वती और बुद्ध-तारा बहुत-कुछ समान रूप से और एक ही समय आराध्य थे। दानी पहले शिव-पार्वती की वन्दना करता है और फिर बौद्धमतावलंबी के रूप में विश्वेश्वरी तारा और परम प्रबुद्ध बुद्ध के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है।[१५] मध्ययुगीन शैव भावना के विकास में कलचुरियों का महत्वपूर्ण स्थान है और तिब्बती परंपरा में कर्ण को स्पष्ट रूप से तीर्थक कहा गया है जिसने बंगाल पर आक्रमण कर महाराजा नयपाल को पराजित किया, यद्यपि दीपंकर श्रीज्ञान ने मध्यस्थ बनकर शांति स्थापित करवा दी। परन्तु कलचुरियों के युग के मध्यप्रदेशीय शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि उस समय तक बौद्ध मत वहाँ से लुप्त नहीं हुआ था। ११७८ ई० और ११९२

---

९. साचाउः वही, जिल्द २, पृ० ३५३। १०. इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग २, पृ० ४६५। ११. डॉ० आर० सी० मित्र : वही, पृ० ८५। १२. तककुसो : इत्संग, पृ० १७७ १३. लेवी : ले नेपाल; पृ० ८१७। १४. एपिग्राफ़िका इंडिका, भाग ६, पृ० २८५ और भाग २२, पृ० ६४। १५. वही भाग १८, पृ० १२८।

ई० के दो शिलालेख इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण हैं। खजुराहो के कुछ मंदिर दसवीं शताब्दी तक बौद्ध मंदिर थे, जैसे घंटई जैनमंदिर। महोबा से इस युग के अनेक बौद्ध शिल्प प्राप्त हुए हैं जिनमें सातन नाम के एक कलाकार की कृति भी है जिसमें लोकनाथ, बुद्ध, तारा, सिंहनाद अवलोकितेश्वर उत्कीर्ण हैं। यह कृत्ति ११वीं शती के उत्तरार्द्ध की जान पड़ती है।[१६] सीरपुर में आठवीं शती के एक मंदिर में ध्यानी बुद्ध और राम की मूर्तियाँ साथ-साथ प्रतिष्ठित हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि आठवीं शती में ही यह स्थानान्तर प्रारंभ हो गया था।[१७] दसवीं-ग्यारहवीं शती में अनेक अन्य प्रमाण इस संक्रमण के मिलते हैं।

बारहवीं शताब्दी बौद्ध धर्म के ह्रास और वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान का अंतिम चरण है और इस शती के अंत में हम इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप बौद्ध चैत्यों, विहारों और संघारामों को संपूर्ण रूप से ध्वस्त होते पाते हैं। फल यह होता है कि धर्मभावना के क्षेत्र में एक भीषण अंतराल उपस्थित हो जाता है और चौदहवीं शताब्दी में ही नामदेव (१२७०-१३५० ई०) और रामानंद (१२९९-१४१० ई०) के प्रयत्नों से इसकी पूर्त्ति होती है। परन्तु इस्लामी प्रहार के बिना भी बौद्धधर्म कालांतर में नवोत्थित हिन्दूधर्म में अंतर्योजित हो जाता। इस्लामी आक्रमण ने इस अंतर्योजन-प्रक्रिया को त्वरा दी और उस युग के सामने कोई अन्य मार्ग ही नहीं छोड़ा। समसामयिक उल्लेखों से इसकी अनिवार्यता का पता चलता है। गोविन्दचंद्र की दो पत्नियाँ कुमार देवी और वासन्तदेवी बौद्ध थीं और महायान की उपासिका थीं यद्यपि स्वयं गोविन्दचंद्र वैष्णव थे। जयचंद (११७०-११९३ ई०) के राजगुरु मित्रयोगी भी बौद्ध ही कहे जाते हैं।[१८] इस तरह यह निश्चित है कि बारहवीं शताब्दी में विलयन-प्रक्रिया बड़ी तेज़ी से गतिशील थी और बौद्ध तथा हिन्दू साधानाएँ तंत्र-मंत्र, ध्यान पूजोपचार एवं प्रतीकों के क्षेत्र में घुली-मिली चल रही थीं। इसी समय के लगभग वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान, चक्रयान शैव और वैष्णव तांत्रिक संप्रदायों में परिवर्तित हो जाते हैं। शैव तांत्रिक संप्रदायों के संबंध में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त है।[१९] परन्तु वैष्णव तांत्रिक संप्रदायों का इतिहास अभी अलिखित ही है। केवल बंगाल के सहजिया[२०] और राजस्थान के निरंजन मत[२१] का किंचित् इतिहास उद्घाटित हुआ है। संभवतः १२०० ई० में महाराज लक्ष्मणसेन की पराजय और मृत्यु के कारण बंगाल इस्लामी शासन के अंतर्गत आ गया। सेन वंश के द्वारा ही बंगाल में वैष्णव संस्कारों का जन्म हुआ और राधा-कृष्ण संबंधी प्रचुर साहित्य लक्ष्मणसेन के समय में निर्मित हुआ। जयदेव और उमापतिधर इन्हीं लक्ष्मणसेन से संबंधित हैं। मिथिला और नवद्वीप बहुत पहले से वैष्णव धर्मोत्थान के केन्द्र बन गये थे और शासक वंशों के कर्णाटकीय होने के कारण दक्षिण के संस्कारों का यहाँ प्राचुर्य था। इन संस्कारों ने ही उत्तर

---

१६. ए० आर० ए० एस० ओ० (१९१५-१६), पृ० १७१, प्लेट १, ३। १७. डॉ० आर० सी० मित्र: वही, पृ० ४० (ए० एस० जे० भाग २७, पृ० ५-६ से उद्धृत)। १८. डॉ० आर० सी० मित्र: वही, पृ० ४२। १९. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय (१९५०)। २०. दिनेश चन्द्र सेन: सहजिया सम्प्रदाय (बँगला)। २१. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल: योग-प्रवाह, पृ० ३८-५४।

में कर्णाटकी संगीत और भागवतप्रियता की दाग़बेल डाली और राधा-कृष्ण की प्रेमकथा को पल्लवित किया। बाद में सोलहवीं शती के अंत तक हमें बौद्ध साधकों और गृहस्थों के चिह्न मिल जाते हैं, परन्तु धार्मिक शक्ति के रूप में बौद्ध धर्म इस्लामी आक्रमण के साथ ही समाप्त हो जाता है। अराजकता और धर्म-विद्वेष की इस एक शताब्दी (तेरहवीं शताब्दी) के बाद जब हम चौदहवीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं तो पंजाब में नामदेव और काशी में रामानंद के रूप में दो महान् वैष्णवों के हमें दर्शन होते हैं और पंढरपुर की विट्ठल-भक्ति तथा राघवानंद की रागानुगा रामभक्ति नये संस्कारों के साथ विकासमान दिखलायी देती है। उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का अंतिम केन्द्र नालंद था जिसके खंडहरों में बौद्ध धर्म के विकास की अंतिम छः शताब्दियों का इतिहास निहित है।

बौद्ध धर्म के इस पतन-चक्र के साथ जब हम मध्ययुगीन वैष्णव धर्म के क्रमविकास को मिला कर देखते हैं तो सारी प्रक्रिया स्पष्ट ही समझ में आ जाती है। इस क्रम-विकास की सभी शृंखलाएँ अभी उद्घाटित नहीं हो सकी हैं, परन्तु गुप्तयुग (पुराण-युग) में ही उसका मूल माना जा सकता है। पाँचवीं शताब्दी से दक्षिण भारत और गुजरात में वैष्णव धर्म के चिह्न मिलने लगते हैं। वास्तव में वैष्णव भक्तिवाद तमिल और कन्नड प्रदेशों में होता हुआ १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र पहुँचता है और तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के लोप से उत्पन्न अंतराल के कारण अप्रत्याशित रूप से सफलता प्राप्त करता है। यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में प्रवेश से पहले वह बौद्ध और जैन धर्मों एवं आचार-विचारों से बहुत-कुछ ग्रहण कर चुका था और महाराष्ट्र के प्राथमिक संतों अथवा वारकरी संप्रदाय के भक्तों में उसका परिपूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो चुका था। बाद की शताब्दियों में उसने तांत्रिक विचारधारा को भी ग्रहण किया और विट्ठल-भक्ति के स्थान पर मधुर भक्ति अथवा शृंगार-भक्ति की योजना के द्वारा लीलावाद और राधावाद के रूप में एक नये भावोल्लास और एक नये समन्वय की उपलब्धि की। सोलहवीं शताब्दी की राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव साधनाएँ और पश्चात् रामभक्ति के अंतर्गत स्वमुखी और तत्सुखी शाखाओं का विकास स्पष्ट रूप से यह द्योतित करता है कि बौद्ध तांत्रिक साधनाएँ वैष्णव धर्म की उदारता के सहारे किस प्रकार उत्तरोत्तर शक्ति के साथ उसमें प्रवेश करती गयी थीं और उनके कारण वैष्णव धर्म का प्रारंभिक नैतिक स्तर किस प्रकार त्रस्त हो उठा था। जो हो, यह स्पष्ट है कि मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति में अनेक विविध एवं विरोधी जातीय-विजातीय सांस्कृतिक तत्व अविच्छिन्न रूप से समीकृत हो गये थे।

वैष्णव भक्ति का प्रारम्भिक स्वरूप आलवारों की रचनाओं 'तेवारम्' और 'प्रबंधम्' (नालियर, दिव्य) में मिलता है जिसका संकलन नाथ मुनि (८२४-९२४ ई०) ने किया। नाथ मुनि का वंश पांचरात्र वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित था और वही रामानुज के श्रीवैष्णव संप्रदाय का मूल है। रामानुज (१०१७–११३७ ई०) ने ही श्रीवैष्णव संप्रदाय को संगठित किया और 'प्रबंधम्' को 'पंचम वेद' का स्थान दिलाया। उन्हीं के प्रयत्नों से आलवारों की मूर्त्तियाँ वैष्णव मंदिरों में स्थापित हुईं। आलवारों का युग पल्लवों का युग है जो पहली शताब्दी से आरंभ होकर ८५० ई० तक समाप्त हो जाता है। आलवारों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार

है : पोगइ, पुदम् (भूत), पइ, तिरुमलिसै, नाम (शठकोप), मधुकर, कुलशेखर, पेरिय (विष्णु-चित्त), गोदा (अण्डाल), तोण्डरदिप्पोड्डि, तिरुप्पाणर और तिरुमंगइ। इन अलवारों की रचना में प्रमुखता नामालवार के चार शतकों और तिरुमंगइ के छः शतकों को मिली है जिन्हे क्रमशः वेद और वेदांग माना गया है। इन दोनों में भी नामालवार अधिक उत्कृष्ट हैं, क्योंकि उनकी रचनाओं में उपनिषद्, वेदांत, गीता और भागवत का निचोड़ मिल जाता है। विशिष्टाद्वैत के परवर्त्ती आचार्यों ने नामालवार को 'कूटस्थ' संज्ञा दी है, क्योंकि श्री-वैष्णवों की आस्था और वैचारिक भूमि का आरंभिक रूप उन्हीं में प्राप्त होता है। उन्हें हम आलवार-साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि रामकृष्ण के प्रति भक्ति-भावना के जो अनेक परिपाश्र्व मध्ययुग में उत्तर भारत में विकसित हुए, उनका मूल रूप 'नालियर प्रबंधम्' में मिल जाता है; परन्तु हिन्दी का भक्ति साहित्य तमिल और कन्नड पद-साहित्य से किस प्रकार संबंधित है, यह कहना कठिन ही है। प्रारंभिक वैष्णवों में से अनेक दाक्षिणात्य हैं और उनके द्वारा पद-रचना की सूचना भी हमें मिलती है, यद्यपि ज्ञानदेव और नाम-देव से हिन्दी पद-परंपरा की स्थापना होती है। विद्वानों का विचार है कि भक्ति-तंत्र का आरंभ सूर्योपासना के साथ हुआ और आरंभ में सूर्य 'विष्णु' के रूप में प्रकाम्य बने। बाद में सात्वत यादव जाति में देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण को लेकर यह भाव विकसित हुआ और वह वासुदेव 'भागवत' कहे गये। उनके भक्त भागवत कहलाये। भागवत धर्म का आरंभ ब्रजप्रदेश में हुआ, परन्तु संभवतः दूसरी शती ई० पू० के लगभग भागवत धर्म पांचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध होकर दक्षिण में पहुँचा और अर्चावतार की कल्पना के द्वारा उसने अनेक स्थानीय इष्टदेवों को विष्णु के अवतार के रूप में भागवत धर्म में स्थान दिया। इस नये अंतर्योग के फलस्वरूप ही तमिल प्रदेश में आलवार भक्ति का जन्म हुआ।

तेरहवीं शताब्दी में कर्णाटक में विट्ठल-भक्ति का जन्म हुआ और दासकूटों (दासों) की साधना और उनके रचित पद-साहित्य के रूप में नया भक्तिभाव सामने आया। ये दास दास्य भाव के उपासक और मध्व के द्वैत भाव के समर्थक हैं। मध्व (१२००-१२७६ ई०) के भक्तिवाद का आधार भागवत पुराण है और उन्होंने द्वैताश्रित कृष्णभक्ति का ही प्रचार किया है।[२२] मध्व के बाद सम्प्रदाय की गद्दी को नरहरि तीर्थ (आ० १३३१ ई०) ने सुशोभित किया और संस्कृत का आश्रय छोड़कर कन्नड पदसाहित्य को प्रश्रय दिया। इस 'हरिदासी' संप्रदाय में नरहरि तीर्थ के पश्चात् श्रीपादराज (आ० १४९२ ई०), व्यासराय तीर्थ (१४४६-१५३९ ई०) और शिनप्पा (१५-९१-१५६३ ई०) आते हैं। इनका प्रचुर पदसाहित्य प्राप्त है। श्रीपादराय ने पहले-पहल 'भ्रमरगीत', 'वेणुगीत' और 'गोपी-गीत' का कन्नड अनुवाद प्रस्तुत किया। ये अनुवाद श्रीरंगम् के मंदिर में प्रत्येक दिन गाये जाते रहे हैं। वास्तव में वैष्णव-भक्ति के व्यापक प्रसार का श्रेय 'हरिदासों' को है, क्योंकि उनके पद 'तेवारम्' और 'प्रबंधम्' के तमिल साहित्य की भाँति शिष्ट जनों की वस्तु नहीं थे। यह जन-साहित्य था और हरिदासों ने राग-रागिनियों में बाँध कर उसे लोकप्रियता

---

२२. कलचरल हेरिटेज ऑव् इंडिया, भाग २, पृ० ३५१।

दी। हरिदासों का पद-साहित्य मंगला के वैष्णव साहित्य की भाँति भावात्मक और शृंगार-प्रधान नहीं है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण संयत और निर्वैयक्तिक था। उनकी लोककल्याण-भावना भी संपूर्णतः जाग्रत थी। तत्कालीन कर्णाटकीय संगीत के विकास ने इस भक्तिभाव के प्रचार में बड़ी सहायता की।

महाराष्ट्र में वैष्णव भक्ति का प्रमुख केन्द्र पंढरपुर रहा है। यह भीमा नदी के तट पर बसा है जो कर्णाट और महाराष्ट्र के बीच सीमा-रेखा का निर्माण करती है। कर्णाटकी हरिदासी भक्ति और पंढरपुर की विट्ठल भक्ति एक ही इष्टदेव विठोवा पर आधारित हैं और दोनों समकालीन भावप्रक्रियाएँ हैं। परन्तु जहाँ हरिदासी भक्ति विशुद्ध आलवार भक्ति (रागानुगा भक्ति) है, वहाँ वारकरी भक्ति गोरखनाथ के योग और चक्रधर के महानुभाव पंथ की भूमिका को लेकर विकसित होती है। महाराष्ट्री स्रोतों से १२०७ ई० में गोरखनाथ की अवस्थिति का पता चलता है। इन्हीं के शिष्य गहिनीनाथ से निवृत्तिनाथ (१२७३-१२९७ ई०) दीक्षित थे। ये निवृत्ति ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता और दीक्षागुरु थे। ज्ञानेश्वर (१२७५-१२९६ ई०), सोपान (१२७७- १२९६ ई०), मुक्ताबाई (१२७९-१२९७ ई०) और चांगदेव (मृ० १३०५ ई०) में हम भक्ति के नवीन योगायोग की स्पष्ट झलक देखते हैं। इसे हम अद्वैत भक्ति या (निर्गुण) योगाश्रित भक्ति कह सकते हैं। इस परंपरा में गोरा कुम्हार (ज० १२६७ ई०), विसोवा खेचर (मृ० १३०९ ई०), सम्पत माली (मृ० १२९५ ई०), चोखामेला (मृ० १३३८ ई०), नरहरि सुनार (मृ० १३१३ ई०), सेना (आ० १४४८ ई०), कन्होपात्र (आ० १४६८ ई०) और भानुदास (१४४८-१५१६ ई०) उल्लेखनीय हैं। परन्तु इस वारकरी भक्ति को लोकप्रियता नामदेव (१२७०-१३५० ई०) के द्वारा ही प्राप्त हुई और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश, मुख्यतः पंजाब में वैष्णव भक्ति के बीजारोपण का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है।

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का मध्ययुगीन विकास दक्षिण के आलवारों, हरिदासों और वारकरी संप्रदाय के भक्तों का आभारी है। हरिदास (दासकूट) और वारकरी आन्दोलनों को हम बहुत कुछ समकालीन भी मान सकते हैं, परन्तु यह निश्चित है कि ये समानांतर रेखाएँ मध्य युग की उत्तर भारतीय भक्ति-रेखा को पुष्ट करती रहीं, यद्यपि कालांतर में उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति ने बौद्ध धर्म के पतन से उत्पन्न अंतराल को भरने के प्रयत्न में उत्तर महायानी विकास (वज्रयान, तंत्रयान, मंत्रयान, सहजयान और कालचक्रयान) के भी अनेक तत्व ग्रहण कर लिये। वास्तव में सोलहवीं शताब्दी में उत्तर भारत के वैष्णव संस्कार इन्हीं विविध प्रभावों के कारण विविध संप्रदायों में बँट जाते हैं। उनमें मंत्र, तंत्र, शृंगार भाव और गुह्य साधनाओं की योजना स्पष्ट रूप से पूर्ववर्त्ती बौद्ध साधनाओं की ओर इंगित करती है। परन्तु यह भी निश्चय है कि इस समन्वय ने वैष्णव संस्कृति के उदार और उदात्त व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

उत्तर भारत के वैष्णव संस्कारों की रूपरेखा को हम पश्चिमी हिन्दी प्रदेश से आरंभ करेंगे। पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की सीमा गुजरात तक फैली थी। वास्तव में भाषा और संस्कृति की दृष्टि से गुजरात, मारवाड़, मालवा, राजस्थान, उज्जयिनी और मथुरा का सांस्कृतिक

सीमांत ही था। इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र पाटण था जहाँ युग के शौर्य, साहस विद्वत्ता, कला और संस्कृति को प्रचुर प्रश्रय मिला था।

गुजरात में वैष्णव धर्म (भागवत धर्म) का प्रवेश गुप्त युग में हुआ और संभवत: एक छोटा वर्ग इस धर्म का अनुयायी भी बन गया, यद्यपि बाद में शैव और जैन धर्मों का गुजरात में विशेष प्रचार हुआ। गिरनार पर्वत पर स्थित ४५५ ई० में कृष्णार्पित एक मंदिर हमें प्राप्त है और उत्तर गुजरात में इस समय के अनेक ऐसे मंदिर खोज निकाले गये हैं जिनमें विष्णु के किसी-न-किसी अवतार की प्रतिष्ठा है। स्वयं हेमचन्द्र ने पाटण के एक विष्णु-मंदिर का उल्लेख किया है। १०७४ ई० के एक शिलालेख में प्रारंभ में द्वादशाक्षरी मंत्र आता है जिससे वासुदेव के प्रति इष्ट-भावना की स्थापना होती है। हेमचन्द्र (१०८९-११७३ ई०) ने 'काव्यानुशासन' में दो ऐसे श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे उस युग की कृष्णोपासना पर प्रकाश पड़ता है।[२३] 'कीर्तिकौमुदी' में सोमेश्वर (११८४-१२५४ ई०) का उल्लेख है कि जैन वसुपाल शंकर और केशव दोनों में आस्था रखते थे और 'सुरतोत्सव' में राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास का निर्देश है। इसी समय के लगभग वीरधदेव ने वीरनारायण के नाम से एक विष्णु-मंदिर का निर्माण कराया था। नवीं शताब्दी में गुजरात के ब्राह्मणों पर (जो पाशुपत धर्म में दीक्षित थे) शंकराचार्य के वेदांत-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा, परन्तु रामानुज, मध्व और निम्बार्क तथा अन्य वैष्णव आचार्य गुजरात को अधिक प्रभावित नहीं कर सके, यद्यपि उनकी उत्तर-भारत-यात्रा के मार्ग में गुजरात पड़ता था और एक तरह से उसे उत्तरापथ और दक्षिणापथ को जोड़ने वाला मध्यवर्ती क्षेत्र कहा जा सकता है। इन आचार्यों में से किसी ने गुजरात को अपने प्रचार का केन्द्र नहीं बनाया, परन्तु उनकी विचारधारा ने उसे सहिष्णु और उदार अवश्य बनाया होगा।

१५वीं शताब्दी तक राजस्थान शैवधर्म में दीक्षित रहा है और वहाँ नाथपंथियों एवं शाक्तों का प्राधान्य रहा। संभवत: गहरवार (राठौर) राजपूतों की जो शाखा जयचंद की पराजय के बाद जोधपुर में स्थापित हुई वह वैष्णव भक्तिभाव भी अपने साथ लेती गयी और बाद में उसने मेड़ता में ही एक शाखा स्थापित की। इसी मेड़ता-वंश में मीराँ (१५००-१५४८) का जन्म हुआ। मीराँ का जीवनवृत्त ही प्रमाण है कि उनके समय में वैष्णव भक्ति राजस्थान में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकी थी और मीराँ की साधना ब्रज-संप्रदायों से स्वतंत्र व्यक्तिगत स्तर की वस्तु थी। बाद में सतरहवीं शताब्दी में औरंगजेब के शासन-काल में काँकरौली में श्रीनाथ जी की स्थापना हुई और वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र राजस्थान में स्थापित हुआ। परन्तु पूर्वी राजस्थान में आमेर राज्य के 'गलता' स्थान पर इस प्रकार का एक प्राचीन केन्द्र था और संभवत: रामानंद के समय में इस केन्द्र की स्थापना हो चुकी थी। वैष्णवों में यह केन्द्र उत्तर तोताद्रि के नाम से प्रसिद्ध था। मेवाड़ के राणा कुंभ (१४३३-१४६८ ई०) का 'गीत-गोविन्द' का अनुवाद और उनकी रानी झाली का रैदास का शिष्यत्व यह सिद्ध करते हैं कि पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में वैष्णव भावना राजस्थान में अपनी जड़ जमा रही थी और उसे

---

२३. के० एम० मुंशी : गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ७७।

हम उस हिन्दू पुनरुत्थान से संबंधित कर सकते हैं जिसका प्रतीक मेवाड़ का शिशोदिया वंश था।[२४]

पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में सरहिंद नामदेव के समय (१२७०-१३५०) में ही वैष्णव भावना का केन्द्र बन चुका था, परन्तु प्राचीन युग में यह क्षेत्र नाथपंथी योगियों और सूफ़ियों की क्रीडाभूमि रहा है। फलस्वरूप, विशुद्ध वैष्णव भाव का प्रसार वहाँ असंभव था। १५वीं शती में पूर्वी पंजाब और सरहिंद में वैष्णव साधना निर्गुण साधना के रूप में विकसित हुई और गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) उसके आदि प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। 'गुरु ग्रंथ साहब' (सं० १६०४ वि०) में वैष्णव भावना के निर्गुण रूप का बड़ा विस्तार संकलित है, यद्यपि बाद में सिख-पंथ के रूप में उसने सांप्रदायिक आधार ग्रहण कर लिया। दक्षिण-पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में ग्वालियर के तोमर वंश (१४००-१५१९ ई०) और गढ़कुंडार-ओरछा के बुन्देलों ने ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में हिन्दू संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया और पूर्ववर्त्ती प्रतिहारों, परमारों, चन्देलों, बुन्देलों कछवाहों और चौहानों की सांस्कृतिक परंपराओं को अग्रसर किया। ये दोनों राज्य साहित्य, संगीत तथा कलाओं के केन्द्र बन गये और मध्य युग के वैष्णव साहित्य के आरंभ के लिए हमें इन्हीं स्वतंत्र राज्यों की ओर देखना पड़ता है। पिछले दिनों में गोस्वामी विष्णुदास (आ० १४३५ ई०)[२५], थेघनाथ (आ० १५०० ई०)[२६] और मानक कवि (१४८९ ई०)[२७] का काव्य प्राप्त हुआ। जिससे पता चलता है कि ब्रजप्रदेश के कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन और कृष्ण-काव्य की लगभग एक शताब्दी की साहित्य-साधना थी जो पुराणों के अनुवाद और विष्णुपदी के रूप में प्रचलित थी। इस क्षेत्र से तत्कालीन जैन कवियों का काव्य भी प्राप्त होता है जो अपभ्रंश जैन-काव्य की परंपरा से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। ओरछा के बुन्देलों ने भी इस परंपरा को जीवित रखा और नवरत्नों में से दो रत्न बीरबल और तानसेन अकबर को रामचन्द्र बुन्देला से ही प्राप्त हुए थे। वास्तव में ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी क्षेत्रों में वैष्णव धर्म की परंपरा बहुत पहले स्थापित हो गयी थी। कालिंजर, खजुराहो और चित्रकूट के मंदिर इसके प्रमाण हैं।

कान्यकुब्ज, प्रयाग और काशी में गहरवारों के समय में ही ब्राह्मण-धर्म को महत्व मिल चुका था। गोविन्दचन्द्र (१११४–११५५ ई०) के समय में ब्राह्मणों की सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी और उस युग की अंतर्वेदीय स्थिति का पता पंडित दामोदर शर्मन् के ग्रंथ 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण से चलता है। जयचंद की पराजय के बाद (११९३ ई०) इस क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव और भी बढ़ा होगा। ज्ञानेश्वर के पिता विठ्ठलपंत को काशी से व्यवस्था-पत्र मिलने पर ही जाति में स्थान मिला, इससे यह स्पष्ट है कि धर्म और समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में समस्त उत्तर भारत और महाराष्ट्र पर काशी की धाक थी। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तर भारत में राम-मंत्र के प्रचार का सारा श्रेय राघवानंद को है जिन्हें 'अवधूत' भी कहा गया है। यही राघवानंद रामानंद (१२९९-१४१० ई०) के गुरु थे। 'सिद्धान्तपंचमात्रा' नाम का उनका एक ग्रंथ भी हमें

---

२४. के० एम० पणिक्कर: सर्वे ऑव् इंडियन हिस्ट्री, पृ० १७७-८। २५. 'महाभारत-कथा' और 'रुक्मिणी-मंगल'। २६. भगवत्गीता भाषा। २७. बैतालपच्चीसी।

प्राप्त है जिसमें योग-संप्रदाय और श्रीवैष्णव-संप्रदाय के समन्वय के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस पुस्तिका की प्रति गोवर्धन के रामानुजी हनुमान-मंदिर में पायी गयी है जिससे यह स्पष्ट है कि बारहवीं शती के मध्य में राघवानंद द्वारा वैष्णव नवोत्थान का आरंभ हो गया था। नाभादास ने लिखा है कि राघवानंद ने पृथ्वी का पत्रावलंबन किया और वर्णाश्रम धर्म तथा भक्ति के सार्वभौम प्रचार के बाद काशी में आ बसे।[२८] रामानंद के संबंध में फ़र्कुहर का मत है कि उनका संबंध दक्षिण के किसी पुरातन रामोपासक अद्वैत संप्रदाय से था जो बाद में श्रीवैष्णवों में अंतर्भुक्त हो गया और वे ही दक्षिण से 'अगस्त्य-संहिता' और 'अध्यात्म रामायण' जैसे ग्रंथ लाये।[२९] इस कार्य का श्रेय कदाचित् रामानंद को ही मिलेगा। इसमें संदेह नहीं कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के योग्य पुरुष रामानंद ही थे। पंद्रहवीं शताब्दी रामानंद की शताब्दी कही जा सकती है।

अयोध्या इस्लामी आक्रमण से बहुत दिनों तक बची रही और वहाँ वैष्णव धर्म के विकास के लिए हमें कई शताब्दियों पीछे जाना होगा। यह निश्चय है कि मध्य युग में अयोध्या हनुमद् भक्ति और रामभक्ति का एक प्रमुख केन्द्र था और कदाचित् योग-साधना का भी वहाँ प्राधान्य रहा था। प्राचीन युगों के खण्डहर और मंदिर इसी ओर इंगित करते हैं।[३०]

पूर्वी हिन्दी प्रदेश (मिथिला और बिहार) में बौद्ध धर्म का अस्तित्व इस्लामी आक्रमण के बाद तक रहा और एक बार फिर नालंद के ध्वंसों को पुनः जीवत करने की चेष्टा की गयी। कहा जाता है कि कबीर के समय में उनके शिष्य भगवानदास ने धनौती में एक मठ की स्थापना की थी, परन्तु वास्तव में सोलहवीं शती तक बौद्ध और शैव प्रभाव इस क्षेत्र में प्रधान रहे हैं। वैसे नान्यदेव (१०१७ ई०) के द्वारा कर्णाटकी राजवंश की स्थापना के कारण भागवत धर्म की प्रतिष्ठा यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी में ही हो गई थी और बाद में ओनवाल वंश भी वैष्णव धर्म का समर्थक था, परन्तु जनता में शैव और शाक्त साधनाएँ प्रचलित थीं। सोलहवीं शताब्दी में जनकपुर अवश्य रामभक्ति का केन्द्र बन गया और वारिपुर-दिग्पुर का तुलसी ने स्पष्ट उल्लेख किया है।[३१] बिहार के सूफ़ी संतों की परंपरा के मूल में भी रामानंद का नाम लिया जाता है जिससे रामानंद के व्यापक प्रभाव का पता चलता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का जो रूप बिहार में विकसित हुआ उसपर पूर्ववर्त्ती बौद्ध संस्कारों की गहरी छाप थी।

सीमांतों में मध्यप्रांत और बंगाल-उड़ीसा के प्रदेश आते हैं। मध्यप्रांत में वैष्णव धर्म का प्रसार ११वीं शताब्दी में हो गया था। इस शताब्दी की हैहय शासनकालीन कुछ प्रतिमाएँ मैहर के पास एक स्तंभ पर खुदी मिली हैं। इस स्तंभ पर मत्स्य, बुद्ध, वामन और कल्कि की मूर्त्तियाँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। दूसरे स्तंभ पर कूर्म, वाराह और नरसिंह की प्रतिमाएँ

---

२८. पत्रालब पृथ्वी करि काशी स्याई। चार बरन आश्रम सबहीं को भक्ति दृढ़ाई। (नाभादास : भक्तमाल, ३०)। २९. फ़र्कुहर : आउटलाइन ऑव् इंडियन रिलीजस थाट्स, पृ० ५६। ३०. लाला सीताराम : अयोध्या का इतिहास। ३१. तुलसीदास : कवितावली।

हैं। इस युग की ब्रह्मा-विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ भी इस प्रदेश में मिलती हैं। सरस्वती और लक्ष्मी के साथ विष्णु की स्थानक मूर्तियाँ भी मिलती हैं। खजुराहो के मंदिरों (९५०-१०५० ई०) में वाराहावतार और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियों की प्रतिष्ठा है। ये मंदिर शैव-मंदिरों के बीच में स्थित हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चंदेल शासन-काल (९५०-१२०३ई०) में यद्यपि शैव-भावना की प्रधानता थी और चंदेलराज स्वयं को माहेश्वर कहते थे परन्तु वैष्णव भावना का भी उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। बाद में गढ़कुंडार-ओरछा के बुन्देलों ने वैष्णव धर्म को स्पष्ट रूप से मान्यता दी और इसी वंश की एक शाखा ने चित्रकूट और अयोध्या के वैष्णव मंदिरों का निर्माण कराया। रामभक्ति के विकास से रीवाँ-नरेशों का निकट का संबंध रहा है।

बंगाल में नवद्वीप और उड़ीसा में नीलाद्रि (जगन्नाथपुरी) वैष्णव धर्म के दो प्रमुख पूर्वस्थ केन्द्र रहे हैं। नवद्वीप में वैष्णव भावना का प्रवेश सेनवंश (१०१७-१२००) के द्वारा सम्पन्न हुआ और अंतिम सेन-राज्य लक्ष्मणसेन के समय में ही जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' की रचना के द्वारा विष्णु-भक्ति को नया कंठ दिया। पदों की परंपरा की सूचना यद्यपि हमें क्षेमेन्द्र के 'दशावतारचरित' से लग जाती है, परन्तु 'गीतगोविन्द' जैसी उत्कृष्ट रचना के अभाव में पद-रचना इतनी द्रुत गति से विकासमान नहीं हो सकती थी। जगन्नाथ का मंदिर प्रारंभ में बौद्ध मंदिर था और कुछ दिनों तक वज्रयानियों का भी उस पर आधिपत्य रहा, परन्तु दसवीं शती में यह वैष्णवों के अधिकार में आ गया। भुवनेश्वर के मंदिर (१०५०-११५०ई०) भी वैष्णव धर्मोत्थान के प्रतीक हैं। नालंद के ध्वंस के पश्चात् बौद्ध आचार्य और साधक भाग कर उड़ीसा में ही आ बसे थे और सोलहवीं शताब्दी तक उड़ीसा बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा, यद्यपि वैष्णव धर्म उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर था। धर्मठाकुर संप्रदाय, निरंजन पंथ, बाउल मत और सहजिया संप्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म के अवशेष इन प्रदेशों में अब तक शेष हैं।

वास्तव में वैष्णव धर्म के मध्ययुगीन अभ्युत्थान को गुप्त युग की पौराणिक एवं तांत्रिक संस्कृतियों से संपूर्णतः संबंधित किया जा सकता है। गुप्त युग में जिन सांस्कृतिक और शैक्षिक साधनों का आविष्कार हुआ उनमें पुराण सबसे प्रमुख हैं। इस युग से पहले महाभारत और हरि-वंश आर्य संस्कृति के विश्वकोश बन चुके थे और पंचम वेद अथवा शतसाहस्रिक संहिता के नाम से प्रसिद्ध थे। सातवीं शती तक वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड और देवी भागवत की रचना हो चुकी थी। गुप्त युग में सर्वाधिक लोकप्रियता 'विष्णुपुराण' (६०० ई०) को प्राप्त हुई और साहित्यिक संदर्भों एवं स्थापत्य की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त युग के लोक-मानस पर इस पुराण का प्रभाव सर्वाधिक था। अलबेरूनी के समय (१०२७ ई०) तक अट्ठारह पुराणों और उपपुराणों की रचना हो चुकी थी और उसके ग्रंथ 'किताबुलहिंद' में काशी के पण्डितों को प्रमाण मान कर संपूर्ण पुराण-सूची दी गयी है।

समस्त गुप्त युग में पुराण साहित्य को प्रेरित करते रहे हैं और आलोच्य युग के आरंभ तक विषय, प्रेरणा एवं परिवेश का आधार कोई-न-कोई पुराण ही रहता था। प्राचीन नृवंश, धर्मस्थानों से संबंधित देवकथाएँ, देवी-देवताओं की कहानियाँ, नैतिक आदर्श और कर्मकाण्ड इन सभी क्षेत्रों में पौराणिकता की छाप थी। वास्तव में पुराणों ने समस्त भारत को एक सूत्र

में संग्रथित कर दिया और पुराणोक्त 'धर्म' ही इहलोक-परलोक के निमित्त जीवनचर्या बना। उसीसे आर्य-जीवन में एकसूत्रता और निरंतरता आयी। इन्हीं पुराणों के द्वारा जहाँ एक ओर बौद्धधर्म का उन्मूलन किया गया, वहाँ मुसलमानों से उत्क्रांत हो जाने पर इन्हीं के द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति के संरक्षण का कार्य संपन्न हुआ। पौराणिक उपाख्यानों में ऐसा बहुत कुछ था जो नयी पीढ़ियों को आर्यपरंपरा में दीक्षित करने में सफल हुआ और जिसने विदेशियों के धर्मप्रचार की दुर्दमनीयता का उत्क्रमण किया। नयी जातियाँ पौराणिक गोत्रों को अपनाकर ही वर्णाश्रम धर्म में व्यवस्थित हुईं। वास्तव में पुराणों के आधार पर मध्ययुगीन ब्राह्मण-समाज शीर्षस्थान ग्रहण कर सका। पुराणों ने ही नव हिन्दू चेतना को जन्म दिया और हिन्दू समाज को आश्चर्यजनक जीवनक्षमता दी। पुराणवाचक मध्ययुग का केन्द्र-पुरुष बन गया और उसने जनपदीय भाषाओं के माध्यम से पुराणों के संदेश को घर-घर पहुँचाया। उसने अतीत को पुनर्जीवित किया। वास्तव में कवियों, सुधारकों, दार्शनिकों, पौराणिकों और भक्तों, सब ने पुराण-ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त की। उन्हीं के माध्यम से वैष्णव संस्कृति ग्रामीण समाज तक पहुँची और उसने पौर संस्कृति पर निरंतर वृद्धिमान ईरानी प्रभाव को चुनौती दी। इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग में वैष्णव धर्म और संस्कृति के द्वारा भारतीयता की रक्षा हो सकी।[३२]

गहरवारों की पराजय से पहले उत्तर भारत संपूर्ण रूप से समृद्ध था। अरबी यात्रियों ने उसके नगरों के ऐश्वर्य और वैभव का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। परन्तु बाद की पूरी शताब्दी (१३वीं शताब्दी) अराजकता की शताब्दी रही है। मंदिर खण्डित किये गये, शताब्दियों की संचित धन-संपत्ति लूट का विषय बनी, बलात्कार और अपहरण अराजक जीवन के नियम बन गये। इस्लाम का झंडा चतुर्दिक फहराने लगा। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन ने वर्णाश्रम धर्म के सामने एक विषम समस्या खड़ी कर दी। लोग सुरक्षा की खोज में जहाँ-तहाँ घूमने लगे और इसी समय बड़े-बड़े जन-समूह स्थानांतरित होकर दूर-दूर बस गये। गुजरात और देवगिरि में ब्रज, बांगड़ू और मारवाड़ की अनेक जातियाँ जा बसीं और ये अपने साथ उत्तर की भाषाएँ लाईं।[३३] धर्मगुरु, पण्डित, कवि, कलाकार और साधु-संन्यासी सुदूर गाँवों में चले गये जहाँ विद्वेषी यवनों से बचकर वे अपने संस्कारों को सुरक्षित रख सकते थे। इस्लामी प्रभुत्व-क्षेत्र में जो जन रहे उनके सामने यही मार्ग था कि वे नारी-समाज को परदे के पीछे बंद कर दें और जातिवाद, पंचायत और महाजन को लेकर स्वतंत्र गढ़ बना कर अपने लिए नये संसार के निर्माण का प्रयत्न करें।[३४]

इस्लाम की विजय के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में उथलपुथल मच गयी। संस्कृत का राजाश्रय समाप्त हो गया और राजाश्रय में पनपने वाली पण्डित-मंडलियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। पण्डितवर्ग काशी, मिथिला, नवद्वीप और पुणें में केन्द्रित हो गया और उसने नयी स्मृतियों का निर्माण कर व्यवस्थाओं के द्वारा पुरातन संस्कारों की सुरक्षा एवं रक्तशुद्धता का प्रयत्न किया। यह

---

३२. संपा० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : रामानन्द की हिन्दी रचना, पृ० २८।
३३. के० एम० मुंशी : वही, पृ० ११४। ३४. डॉ धीरेन्द्र वर्मा : विचारधारा (१९३७)

प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ, यह कहना कठिन है; परन्तु उससे जातिविद्वेष और संकीर्ण अहं का जन्म अवश्य हुआ। साधु-संन्यासियों के बड़े-बड़े अखाड़े बने और ध्वस्त बौद्ध चैत्यों, विहारों का स्थान मठों और आश्रमों ने ले लिया। जीविका के उपार्जन में असमर्थ पण्डितवर्ग सुदूर नगरों और ग्रामों में पुरोहिती अथवा पौराणिकी वृत्ति के द्वारा किसी तरह जीने का प्रयत्न करने लगा। कई शताब्दियों बाद यही निराश्रित पण्डितवर्ग देशी राज्यों और देशाधिपति अकबर पातशाह का आश्रय पाकर रीति कविता की नींव डालता है और स्वस्थ सौन्दर्य के स्थान पर भोग-वादी एवं चमत्कारनिष्ठ शृंगार-परंपरा का निर्माण करता है। इस समस्त विशृंखलता का फल यह हुआ कि समाज का नेतृत्व पण्डितवर्ग के हाथ से निकल कर अपढ़ साधकों, संन्यासियों, योगियों और सूफ़ियों के हाथ में चला गया जो देशी भाषाओं में लोकगीतों और लोकछंदों के सहारे अटपटी वाणी में जनता को संसार की असारता और वैराग्य का उपदेश देते हुए स्थान स्थान पर विचरने लगे। वल्लभाचार्य के समय तक यह विषम परिस्थिति बनी रही है और उनके 'कृष्णस्त्रोत्र' में इससे उबरने की उत्कट आकांक्षा सन्निहित है।[३५] वास्तव में बाहरी ध्वंस से वह भीतरी ध्वंस अधिक व्यापक और विनाशकारी था जिसने शताब्दियों में निर्मित आस्थाओं, जीवनप्रेरणाओं और परंपराओं को आमूल नष्ट कर दिया था। इसी बाहरी-भीतरी ध्वंस पर अगली शताब्दियों में रामानन्द और वल्लभाचार्य द्वारा नयी जन-संस्कृति का निर्माण होता है जिसे हम व्यापक अर्थों में 'वैष्णव संस्कृति' कह सकते हैं। इस संस्कृति ने उस भोगवादी ईरानी संस्कृति को चुनौती दी जो इस्लामी विजय के बाद नगरों में विकसित हो रही थी और जिसे इतिहासकारों ने भ्रांतिवश मध्ययुग का प्रतिनिधित्व दिया है। सच तो यह है कि नयी आस्था के निर्माण का काम रामानंद, कबीर, सूर, तुलसी और मीराँ के काव्य से ही हुआ और ध्रुपद-धमार की नयी गायकी तथा राजस्थानी-कांगड़ा क़लमों की चित्रकला में राधाकृष्ण के प्रेमकथात्मक प्रतीकों और रागमाला चित्रों के द्वारा एक नितान्त अभिनव भावलोक की सृष्टि हुई जो माधुर्य, शक्ति और साहस से ओतप्रोत था और जिसमें भारतीय संस्कृति का तप, चिंतन और रस सर्वरूपेण अक्षुण्ण था। वैष्णव संस्कृति की विकासोन्मुख कहानी नयी निष्ठा के निर्माण और विस्तार की कहानी है।

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में नव वैष्णव संस्कारों के प्रवेश का समय भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न है और आरंभ में उसकी प्रगति धीमी रही है, परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में ही समस्त अंतर्वेद पर व्यापक रूप से वैष्णव विचारावली और धर्मसाधना की छाप थी। बारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पठानों का आक्रमण बवण्डर की भाँति समस्त उत्तरापथ को रौंदता हुआ चला गया और उसकी प्रलयंकरी गति में प्राचीन संस्कार, धर्म, आदर्श और व्यवहार ध्वस्त होकर खण्डहर बन गये। फलस्वरूप तेरहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म अप्रत्याशित गति से अग्रसर हुआ और गुजरात से बंगाल तक तथा पंजाब से उड़ीसा तक उसकी जयभेरी बजने लगी। दर्शन के क्षेत्र में उसने रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्व के द्वैत और निम्बार्क के द्वैताद्वैत का आश्रय लिया और अद्वैत भक्ति के स्थान पर द्वैतभावसंपन्न

---

३५. संपा० भट्ट रमानाथ शर्मा : कृष्णाश्रयषोडश ग्रंथ, श्लो० २, ३, ५।

दास्यभावा एवं भेदाभेदी शृंगारी भक्ति को प्रश्रय मिला। इस्लाम के संस्कारों और सूफ़ी साधना की भावपरता से भी उसने संबल प्राप्त किया परन्तु उसने स्वयं अपने भीतर से ऐसी शक्ति विकसित कर ली जिसके कारण वह नाना प्राचीन धर्मों, संप्रदायों, भक्ति-भावों और प्रतीकों का समुच्चय कर सका और अनेकानेक संस्कारों को एक विराट् समन्वय में गूँथ सका। यह विराट् समन्वय ही मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति है।

इस वैष्णव संस्कृति में द्वैत और अद्वैत का समाधान साधना की भूमि पर हुआ है। 'ब्रह्मसूत्र' 'गीता' और 'उपनिषद्' का तत्वज्ञान इस संस्कृति का मस्तिष्क है, 'भागवत' और 'अध्यात्म' उसका हृदय हैं, षोड़षोपचार उसकी पूजापद्धति है और वर्णाश्रम धर्म उसका लोक-व्यवहार है। पुरातन विभिन्न साधनाएँ विभिन्न संप्रदायों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करके उदित हुई हैं और मधुर भाव (शृंगार भक्ति), वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि सभी दृष्टिकोणों से साधना बलवती हुई है, यहाँ तक कि मीराँ की दाम्पत्यभावा और चैतन्य की महाभावा शृंगारिक भावना का भी उसमें समाहार है। पौराणिक व्रतोपासन इस वैष्णव संस्कृति के कर्मकाण्ड हैं। मूल रूप में ऐकांतिक होते हुए भी मध्ययुग का वैष्णव भक्तिभाव उदार है और "हरि को भजै सो हरि को होई" दृष्टिकोण के द्वारा उसने वर्णाश्रम की कठोरता और सामाजिक आचार-विचार की संकीर्णता का परिहार किया है। इसमें संदेह नहीं कि सोलहवीं शताब्दी के अंत तक यह वैष्णव संस्कृति अपने सहस्र दल विकसित कर चुकी थी और साहित्य, संगीत एवं कला के क्षेत्र में इस शताब्दी का योगदान वैष्णव संस्कृति का ही योगदान है। इस वैष्णव संस्कृति ने 'हिन्दूकरण' की प्रक्रिया का विकास किया और पराजित हिन्दू जाति को आशा, उल्लास और विजय का नया रक्षास्तोत्र दिया। रामानंद और वल्लभाचार्य मध्ययुग के दो प्रमुख सांस्कृतिक व्यक्तित्व हैं जिन्होंने इस संस्कृति के कड़े-कोमल पक्षों को नया रूप दिया और विदेशियों से आक्रान्त उत्तरापथ को आतंक और अवसाद के गर्त्त में से उबारा। तुलसी के व्यक्तित्व और साहित्य में इन दोनोंपक्षों का समाहार हो जाता है और इसीसे हम उन्हें उसी प्रकार इस मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति का केन्द्रीय पुरुष कहेंगे जिस प्रकार कालिदास को गुप्त युग का केन्द्रीय व्यक्तित्व। स्वयं तुलसी की रचनाओं में एक अत्यन्त विराट् और उदार संकलन एवं समन्वय है जो उन्हें मध्य-युग का सर्वश्रेष्ठ महाकवि ही नहीं, सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक नेता भी बना देता है। 'रघुवंश' से 'रामचरितमानस' की तुलना करने पर हमें उन दो विभिन्न जीवनादर्शों का पता लग जाता है जो वैदिक काल से भारतीय संस्कृति को प्रेरित करते रहे हैं। शील, सौन्दर्य और साहस के साथ लोक-कल्याण और करुणा का समावेश कर तुलसी ने वैष्णव संस्कृति को एक नया मानदण्ड दिया जो अभी भी भारतीय हृदय-मन को प्रबोधन देने में समर्थ है। इस्लामी परिवेश को प्रधा-नता देकर मध्ययुग के इतिहासकार उस वैष्णव संस्कृति की अवहेलना करते रहे हैं जिसे हम सच्चे अर्थों में जन-संस्कृति कह सकते हैं। वैष्णव संस्कृति का यह नवीन उत्थान प्रत्यावर्त्तन नहीं, भविष्य की ओर बढ़ता हुआ साहसी क़दम है। अगली शताब्दियों के साहित्य और संस्कार में इसके प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलेंगे।

●

फ़्रेंकलिन एजर्टन

बुद्ध और तत्त्वविज्ञान

सैद्धान्तिक तत्त्वविज्ञान भारतवर्ष में सदा ही व्यापक रूप से परिवर्धित होता रहा। इन सिद्धान्तों का मूल स्वयं ऋग्वेद में प्राप्त होता है। परन्तु दर्शन के सुव्यवस्थित नियमबद्ध सिद्धान्त बहुत बाद तक आविर्भूत नहीं हुए। इस प्रसंग में समय की सीमा को लेकर विद्वानों में व्यापक मतभेद है। संभवतः अब कोई भी यह नहीं कहेगा कि प्राचीन उपनिषदों में ऐसी व्यवस्थित दर्शन-पद्धतियाँ उपलब्ध होती हैं। मुझे इसी प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी सत्ता महाभारत-काल तक भी नहीं थी। 'महाभारत' से मेरा अभिप्राय स्वर्गीय वी० एस० सुक्थं-कर तथा उनके सहयोगियों द्वारा पुनर्निर्मित महाकाव्य से है जो निस्संदेह अपने मूल रूप के निकट-तम दिखायी देता है—ऐसा मूल रूप जिसे कभी प्रकाशन का सौभाग्य मिल सकेगा। मैंने अन्यत्र प्रतिपादित किया है कि 'महाभारत' में सांख्य और योग शब्दों का तात्पर्य उन दर्शन-पद्धतियों से नहीं है जिनके अर्थ में परिवर्ती काल में उनका प्रयोग होने लगा। उनका तात्पर्य है मुक्ति के दो साधनों से—प्रथम ज्ञानमूलक और द्वितीय कर्ममूलक। वास्तव में मेरा व्यक्तिगत विचार, जिससे अनेक विद्वान् सहमत नहीं होंगे, यह है कि ऐसा कुछ भी जिसे सम्पूर्ण एवं सर्वक्षेत्रीय दर्शन-पद्धति कहा जा सके, भारतवर्ष में ईस्वी सन् के काफ़ी बाद तक आविर्भूत नहीं हुआ।

उस समय अर्थात् २०० ई० के लगभग बौद्ध तथा प्राचीन परम्परावादी ब्राह्मण-दोनों ऐसी पद्धतियों का विकास कर रहे थे। एक दूसरे के मत से भिन्नता रखने वाली अनेक बौद्ध शाखाओं के नाम परिज्ञात हैं। उनके निर्माता तथा अनुयायी निश्चय ही शून्य में से अपने सिद्धान्तों की रचना नहीं करते थे। उनके अनेक मत उन अल्प व्यवस्थित विचारों पर आधारित हैं जो उनके पूर्ववर्त्ती बौद्ध साहित्य में लेखबद्ध कर लिये गये थे; और इसमें संदेह नहीं कि बौद्धों तथा उनके निकटवर्ती ब्राह्मणों में बौद्धिक प्रतियोगिता थी। मेरे मत से पाली में लिखित बौद्ध नियमों के प्राचीनतम भाग अपने समय की किसी व्यवस्थित दर्शन-पद्धति को प्रमाणित नहीं करते, यद्यपि उनमें सिद्धान्तों के पूर्वाभासों अथवा आगे विकसित होने वाले अध्यात्म-विज्ञान से सम्बद्ध कुछ विचारों के प्रारम्भिक रूप अवश्य सन्निहित हैं।

कुछ भी हो, ऐसे लोग थे और अब भी हैं जो यह विश्वास करते हैं कि बुद्ध स्वयं अध्यात्म-विज्ञान की एक व्यवस्थित पद्धति के ज्ञाता थे। यह मत हाल ही में (१९५८ ई०) श्री हेल्मथ वान ग्लासेनाप ने, जो जर्मनस्थित ट्यूबिनगेन (Tübingen) के संस्कृत प्रोफ़ेसर हैं, हरमैन ओल्डेनवर्ग की 'बुद्ध' विषयक ख्यातिप्राप्त कृति (प्रथम प्रकाशन १८८१ ई०) के तेहरवें संस्करण के विस्तृत परिवर्धित अंश में प्रतिपादित किया है। इस विषय में वान ग्लासेनाप का मत ओल्डेन

बर्ग के सर्वथा विपरीत है। मैं ओल्डेनबर्ग से पूर्णतया सहमत हूँ। मैं सोचता हूँ, यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि न केवल बुद्ध के पास तत्वविज्ञान की पद्धति का अभाव था वरन् यह भी कि तत्वविज्ञान में उन्हें तनिक भी रुचि नहीं थी। उन्होंने उसे व्यर्थ और उपयोगिता-रहित ही नहीं समझा वरन् उसकी चर्चा करना भी अस्वीकार कर दिया। पाली प्रमाण, ग्रंथों में ऐसे अनेक अवतरण हैं जिनसे इसे सिद्ध किया जा सकता है। सबसे अधिक स्पष्ट है मालुंक्य सुत्तन्त, 'मज्झिम निकाय' का ६३वाँ उपदेश। 'मज्झिम निकाय' 'सुत्तपिटक' का एक भाग है और 'सुत्तपिटक' के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि इसमें कुल मिलाकर प्रचलित बौद्ध साहित्य और सिद्धान्तों के प्राचीनतम रूप संग्रहीत हैं।

इस सुत्त में मालुंक्यपुत्त नामक भिक्खु बुद्ध के पास आकर शिकायत करता है कि उन्होंने कुछ ऐसे प्रश्नों की व्याख्या नहीं की है जो उसकी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण हैं, जैसे क्या जगत् शाश्वत है या नहीं? यह ससीम है या असीम? आत्मा और शरीर समान हैं या भिन्न? बुद्ध मृत्यु के बाद रहते हैं या नहीं? अथवा क्या मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व रहता है और नहीं भी रहता, या न तो अस्तित्व है और न अनस्तित्व ही? मालुंक्यपुत्त ने स्पष्टतः कह दिया कि जब तक बुद्ध इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देंगे, या यह नहीं स्वीकार कर लेंगे कि उनको उत्तर ज्ञात नहीं हैं, वह बौद्ध संघ में नहीं रहेगा।

इसके उत्तर में बुद्ध ने पहले तो उससे पूछा—"क्या जब मैंने तुमको अपने साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करके के लिए आमंत्रित किया था, मैंने इन विषयों की व्याख्या करने का वचन दिया था? अथवा तुमने इस शर्त पर संघ में प्रवेश किया था कि मैं इन विषयों की व्याख्या करूँगा।" भिक्खु ने स्वीकार किया कि ऐसा नहीं था।

तब बुद्ध ने एक बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक दृष्टान्त प्रस्तुत किया—"यदि एक आदमी विषाक्त तीर से घायल होता है और उसके मित्र उसके उपाचार के लिए वैद्य अथवा शल्यचिकित्सक लाते हैं और मान लो कि वह कहता है कि मैं इस तीर को निकालने नहीं दूंगा और न उपचार ही करने दूंगा, जब तक मैं उस व्यक्ति के विषय में सारी बातों का पता नहीं लगा लूंगा जिसने मुझे मारा है, कि उसका नाम, उसकी जाति, उसका आकार, रूपरंग, आवास क्या है? अथवा वाण, धनुष तथा प्रत्यंचा ठीक किस पदार्थ की बनी है उसका ज्ञान मुझे नहीं हो जायगा? क्या इन व्यर्थ तथा निरर्थक प्रश्नों के उत्तर पाने के पहिले ही वह व्यक्ति अपने विषाक्त घाव से मर नहीं जायगा? इसी प्रकार बुद्ध का धार्मिक जीवन संबंधी सिद्धान्त जगत् और आत्मा की प्रकृति पर, अथवा मृत्यु के बाद बुद्ध का क्या होगा जैसे प्रश्नों पर आधारित नहीं है। जगत् और आत्मा की प्रकृति कुछ भी हो, सांसारिक अस्तित्व और उसका दुःख रह जाता है, जिससे मुक्ति पाने की शिक्षा देना मेरा उद्देश्य है। मैंने उन प्रश्नों की व्याख्या इस कारण नहीं की है कि वे अनुपयोगी हैं, उनका संबंध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों से नहीं है और उनसे निर्वाण प्राप्त नहीं होता। मैंने उसी का आख्यान किया है जो केवल उपयोगी है, जिसका धर्म के आधार-भूत सिद्धान्तों से संबंध है और जिससे निर्वाण प्राप्त होता है—अर्थात् दुःख का सत्य, दुःख का कारण, दुःख से मुक्ति, और दुःख से मुक्ति पाने के उपाय।"

वान ग्लासेनाप तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यह और ऐसे अन्य अंश (क्योंकि यह अंश अपने में अप्रतिम नहीं हैं) केवल उपदेशात्मक उद्देश्य के लिए हैं। उनके अनुसार बुद्ध ने मालुंक्यपुत्त को दार्शनिक सिद्धान्त का अधिकारी नहीं समझा, इसीलिए उसके समक्ष व्याख्या करना अस्वीकार कर दिया। अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि कभी-कभी पाली धर्मग्रंथों में और प्रायः उनके बाद रचित बौद्ध धर्म के अन्य परवर्ती ग्रंथों में भी यह प्रदर्शित किया गया है कि बुद्ध ने जनसाधारण को सरलतर शब्दों में उपदेश दिया तथा उसके सैद्धान्तिक सार भाग को उन अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रक्खा जिनकी बौद्धिक ग्रहणशीलता के विषय में कहा जाता है कि वे आश्वस्त थे। पर मैं इस अभिप्राय को ग्रहण करने में असमर्थता का अनुभव करता हूँ (जो कि बुद्ध के प्राचीन ग्रंथों में वर्णित सरल, कोमल, दयालु और सौम्य स्वभाव से असंगत ही नहीं प्रतीत होता वरन् पूर्वाग्रह एवं हठधर्मिता से युक्त भी दिखाई देता है।), विशेषतया उस उपदेश से जिसकी ओर मैंने ऊपर निर्देश किया है; क्योंकि उसमें स्पष्टतम शब्दों में कहा गया है कि मालुंक्यपुत्त द्वारा रक्खे गये अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक प्रश्न बुद्ध की समस्त शिक्षाओं से संगति नहीं रखते।

फिर यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि बुद्ध को जनता द्वारा अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के न समझे जाने का भय था तो भी यह मानना कि उपर्युक्त भिक्षु के भी विषय में उन्होंने वही सोचा, उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। मालुंक्यपुत्त के प्रश्न दार्शनिक सैद्धान्तिक समस्याओं से उसके यथेष्ट रूप से परिचित होने का स्पष्ट संकेत करते हैं। उसके कथन से आभासित होता है कि वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक सजगता के साथ यथार्थ के चिरंतन तत्वों के विषय में बुद्ध द्वारा संभावित उपदेशों को सुनने के लिए तत्पर था—विशेषतः अन्य प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायों के मत की विरुद्धता सिद्ध करने के लिए, जैसा कि अगले अनुच्छेद में उद्धृत वान ग्लासेनाप के विचारों से प्रकट होता है।

वान ग्लासेनाप ने ओल्डेनबर्ग तथा अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत विचारदृष्टि का खण्डन करते हुए लिखा है—"बौद्ध मत में यथार्थ के चिरंतन अविनश्वर तत्वों के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। केवल यही कहकर संतोष कर लिया गया है कि किसी चिरस्थायी आत्मा से शून्य यह संसार क्षणभंगुर तथा दुःखमय है। अतएव निर्दिष्ट मत के विद्वानों द्वारा यह मान लिया गया कि बौद्धमत किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। वह केवल मुक्ति का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है तथा समस्त दार्शनिक ऊहापोह का तिरस्कार करता है। इससे पूर्व यह संभव नहीं माना जाता था कि अन्य प्रचलित मतों की स्पर्धा में अपने को प्रतिष्ठित करने की इच्छा रखने वाले मत के लिए आवश्यक था कि वह अनेक दार्शनिक सैद्धान्तिक प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करे तथा अपनी नैतिकता को आधारभूमि प्रदान करे, यदि वह शास्त्रार्थ में उनके विरोध में अपने को शक्तिशाली सिद्ध करना चाहता है।"

मेरे पास ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे यह विश्वास किया जा सके कि बुद्ध अन्य सम्प्रदायों से स्पर्धा के प्रपंच में पड़ना चाहते थे। वे वैसे ही थे जैसे महात्मा गांधी। दूसरे मतावलम्बी ही उनके पास आते थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो कि बुद्ध उनके

पास गये। ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध के पास जो भी गया उन्होंने उसका उदारतापूर्वक स्वागत किया तथा उसके द्वारा पूछे गये समस्त प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त सरलता से दिया। गांधी जी की तरह ही उन्होंने दार्शनिक सैद्धान्तिकता की कोई आवश्यकता नहीं समझी। चाहे अपनी नैतिकता की स्थापना के लिए हो, चाहे किसी और कारण, जैसा उनके ही शब्दों से मुझे प्रतीत होता है। वान ग्लासेनाप का 'पूर्वाधार' वाला तर्क उनके लिए कोई शक्ति नहीं रखता होगा। उनकी नैतिकता कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर आधारित थी जो उनके लिए स्वतः सिद्ध थे। दो सहस्राब्दियों से भी अधिक समय से अधिकांश हिन्दुओं को ऐसा ही प्रतीत होता रहा। जैसा बुद्ध को लगा वैसा ही उनके समस्त अनुयायियों को भी प्रतीत हुआ कि इन सिद्धान्तों को मानने के लिए किसी तर्कयुक्त दार्शनिक आधार की आवश्यकता नहीं है, और बुद्ध की व्यावहारिक नैतिकता के लिए भी किसी दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा का अनुभव नहीं किया गया, वैसे ही जैसे गांधी जी के विषय में। पर यह निश्चय ही सत्य हो सकता है कि बुद्ध के अनेक अधिक परवर्ती अनुयायियों ने 'मालुंक्य सुत्तन्त' तथा वैसे ही अन्य उपदेशों में सिखाये गये पाठ को भूलकर अथवा उसकी अवहेलना कर अन्य मतवादियों, विशेषतः ब्राह्मणों, की दार्शनिक व्याख्याओं की प्रेरणा से अपनी स्वतंत्र दार्शनिक पद्धति का निर्माण कर लिया हो।

यह प्रश्न कि बुद्धधर्म के सिद्धान्त-ग्रंथों में कौन से तत्व बुद्ध के अपने उपदेशों को सही रूप से प्रस्तुत करते हैं, अत्यन्त कठिन है। अपने अन्तिम रूप के विश्लेषित किये जाने पर वह अधिकतर व्यक्तिपरक ही प्रतीत होता है। मैं समझता हूँ, इसमें किसी का मतभेद नहीं होगा। यही बात, कुल मिलाकर ऐतिहासिक ईसा मसीह के वास्तविक उपदेशों और 'न्यू टेस्टामेंट' के पारस्परिक संबंध में कही जा सकती है। किन्तु ओल्डेनबर्ग की उपक्रमणिका के पूर्व भाग में वान ग्लासेनाप ने कुछ अतिशय बुद्धिमानी की बातें कही हैं, जिनमें उन्होंने इस विषय में ओल्डेनबर्ग की उस सामान्य धारणा की सुरक्षा की है जिसके अनुसार सरलतम, अतिशय मानवीय भावना से युक्त तथा कम से कम रहस्यमयी प्रवृत्ति की पवित्र कथाएँ संभवतः सबसे अधिक प्राचीन एवं बुद्ध के अपने वचनों का प्रतिनिधित्व करने वाली मानी गयी हैं। कुछ पूर्ववर्ती विद्वानों ने इसके लिए ओल्डेनबर्ग की आलोचना की थी। वान ग्लासेनाप ने समुचित उत्तर देते हुए कहा—"यह मान्यता कि अतिमानवीय दैवीशक्तिसम्पन्न बुद्ध (जैसा कि बाद में उन्हें माना जाने लगा) बौद्ध इतिहास के आरम्भकर्ता होंगे और सिंहलवासी भिक्षुओं द्वारा बाद में पाली ग्रंथों में बुद्ध का मूलतः सरल मानवीय व्यक्तित्व बाद में गढ़ कर स्थापित कर दिया गया, इतिहास के स्वाभाविक विकास-क्रम का विरोधी प्रतीत होती है, यद्यपि मानवीय व्यक्तित्व में भी अंशतः चमत्कारिक तत्व समाविष्ट हैं।"

उसने बड़े औचित्यपूर्वक इस बात की ओर निर्देश किया है कि हमारे समय में ही गांधी (जो अत्यन्त सरल, सौम्य तथा संकोचशील थे) तथा अन्य धार्मिक नेताओं पर ईश्वरतत्व का आरोप देखते-देखते किया जाने लगा। ऐसा भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के अन्य भागों में भी घटित हुआ है। अच्छा होता यदि वान ग्लासेनाप ने इसी प्रकार की स्वस्थ एवं विचारपूर्ण दृष्टि बुद्ध तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के संबंध में अपनायी होती। कम से कम मुझे तो इसमें स्वा-

भाविक विकास-क्रम का विरोध ही दिखायी देता है कि बुद्ध से किसी दार्शनिक सिद्धान्त को सम्बद्ध किया जाय, क्योंकि तब मेरे मत से इसका तात्पर्य होगा 'मालुंक्य सुत्तन्त' जैसे लिखित अंशों को सिंहलवासी भिक्षुओं द्वारा रचित परवर्ती कृति मानना, विशेषत: तब जब यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्होंने किस कारण बुद्ध मत के मूल रूप को बदलने की चेष्टा की। गांधी की भी दार्शनिक ऊहापोह में कोई रुचि नहीं थी। पर इस तथ्य के कारण उनकी धार्मिक महत्ता कम हुई हो, ऐसा आभास नहीं मिलता। यद्यपि उनके समय में अन्य अनेक धर्म तथा दर्शन, जिनमें भारतीय और विदेशी दोनों सम्मिलित हैं, उतने ही जागरूक थे जैसे बुद्ध के समय में रहे होंगे। बुद्ध की तरह उन्होंने भी यह अनुभव किया कि उनसे संघर्ष करना निरर्थक है। बिना राग-द्वेष के अपने उपदेशों को सरलतापूर्वक प्रचारित होते देखकर ही वे संतुष्ट थे।

मानवीय बुद्ध जिन्हें वान ग्लासेनाप ने परंपरा के प्राचीनतम अंशों के बीच से खोज निकाला है, दार्शनिक सिद्धान्तवादिता से उतना ही विरक्त थे जितना कि अलौकिकता से।

●

सी-एच० वॉदवील

भागवत धर्म में प्रेम-प्रतीकवाद

प्रेम-प्रतीकवाद के माध्यम से लौकिक प्रेम तथा दिव्य प्रेम में सादृश्य की अभिव्यक्ति सभी आस्तिक धर्मों की एक सामान्य विशेषता है, जब तक कि वे परमात्मा और जीवात्मा में पारमार्थिक अथवा प्रातिभासिक, नित्य अथवा अनित्य भेद स्वीकार करते हैं। पारलौकिक संबंध उपमेय होता है और लौकिक संबंध उपमान—ज्ञात के सहारे अज्ञात की व्यंजना होती है और बूझ के सहारे अनबूझ की।

फिर भी इस प्रेम-प्रतीकवाद की अभिव्यक्ति में विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक संप्रदाय नितांत भिन्न दिखलाई पड़ते हैं—परमात्मा कभी प्रेमी और कभी प्रेमिका के रूप में और कभी पति के रूप में तथा आत्मा उसकी भार्या अथवा वल्लभा के रूप में और इसी प्रकार प्रेम स्वतः महासुख अथवा महादुःख के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस अलौकिक प्रेम-व्यापार में जीवात्मा तथा परमात्मा के पारस्परिक संबंधों के विषय में नाना संप्रदाय अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। इस पारलौकिक संबंध में निम्नलिखित में से किसी एक अथवा अनेक तत्वों का समावेश हो सकता है—

१. एकांत निष्ठा और पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना (केवल आत्मा के पक्ष में)।
२. ईश्वर से मिलन की वेदनापूर्ण लालसा (आत्मा के पक्ष में)।
३. कृपा अथवा अनुग्रह (केवल परमात्मा के पक्ष में)।
४. पारस्परिक आकर्षण।
५. मिलन का परमानंद।

प्रेम-प्रतीकवाद की अभिव्यक्ति नितांत सादृश्यमूलक अथवा यत्किंचित् यथार्थमूलक भी हो सकती है। बहुधा उपमेय (लोकोत्तर प्रेम) में एक ही दो तत्व ऐसे होते हैं जिनका वर्णन उपमान (लौकिक प्रेम) द्वारा भलीभाँति हो सकता है। उस दशा में उपमान का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वह धार्मिक साँचे में अधिक से अधिक फ़िट बैठ जाय—औचित्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। प्रायः ही लौकिक प्रेमव्यापार का नहीं बल्कि एक परिस्थिति-विशेष अथवा क्षण-विशेष का वर्णन किया जाता है, तथापि कभी-कभी दिव्य (अलौकिक) प्रेम की तुलना के लिए लौकिक प्रेमव्यापार का ही आश्रय लिया जाता है। अतः प्रेम-प्रतीकवाद में उपमान एक प्रकार से लौकिक प्रेम का उन्नयन अथवा उसका दैवीकरण प्रतीत होता है। और चूँकि लौकिक प्रेम को ऐंद्रियता की भावना से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए इस प्रकार का दैवीकरण

दूसरे शब्दों में लौकिक यौन संबंध का ही दैवीकरण है। चैतन्योत्तर बंगाली वैष्णव संप्रदाय स्थूल यौन संबंध के दैवीकरण का और फिर उसी प्रकार दिव्य प्रेम में वासनापरक ऐंद्रियता के आरोप का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि नास्तिक दर्शन-संप्रदाय भी लौकिक प्रेम के महत्व की नितांत उपेक्षा करने के बावजूद भी लौकिक प्रेमव्यापार में कुछ तत्वों को पृथक् कर प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग करते हैं। यह विशेषता मध्यकाल के बौद्ध तथा शैव तांत्रिकों में भलीभाँति देखी जा सकती है जब वे अकथनीय महासुख का वर्णन करने के लिए, जो दो विरोधी तत्वों—प्रज्ञा-उपाय, संज्ञा-करुणा, शिव-शक्ति (बाद में कृष्ण-राधा)—के संयोग से तथा युगनद्ध सहजावस्था तक पहुँच जाने से संभव माना जाता है, वर्णन करने के लिए यौन संबंध का बारंबार निर्देश करते हैं। यहाँ पर वैयक्तिक संबंध का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि ये विरोधी शब्द शक्ति अथवा सत्ता के प्रतीक-मात्र हैं, जिनका परमानुभूति में विलय हो जाना अवश्यम्भावी है। लौकिक प्रेम की दृष्टि से यह अपने मनोवैज्ञानिक संदर्भ से पृथक् एक सुखात्मक तत्व ही है जो सहजसुख के समकक्ष यौगिक महासुख के लिए पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इस प्रसंग में किसी प्रतीकवाद की चर्चा मुश्किल से होगी, क्योंकि महासुख स्वतः मैथुनपरक आनंद की ही चरम परिणति है।

यद्यपि महासुख और मैथुन का संबंध यथार्थ है तथापि विरोधी शब्दों के धर्म या गुण सादृश्यमूलक मात्र हैं। एक सिद्धान्त की कल्पना पुरुष के रूप में और दूसरे की स्त्री के रूप में की जाती है। एक सक्रिय है तो दूसरा निष्क्रिय। शैव सिद्धान्त में पुरुष (शिव) निष्क्रिय है और शक्ति (प्रकृति) सक्रिय—जैसा कि वेदान्त में माया। बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय इसके प्रतिकूल है। परन्तु उस प्रकार का आरोपण महत्वहीन है। महत्व की बात तो दोनों पक्षों का विरोध और आकर्षण तथा उनका अद्वैत स्थिति में अन्तिम पुर्नविलय है जो पूर्णानन्द की ही जाति का है।

लौकिक संबंध को तनिक भी महत्व न देते हुए तांत्रिक साधक ऐसे सभी प्रकार के संबंधों को, जिनमें लौकिक प्रेम के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष सन्निहित हैं, दृढ़तापूर्वक तिरस्कृत करता है। अर्धांगिनी एक स्त्री की अपेक्षा अलौकिक शक्ति अथवा प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में केवल सम्भोग की दृष्टि से देखी जाती है। लौकिक प्रेम लौकिक अर्थ में एक योगी के लिए वर्जित है। इसी कारण स्त्री को परकीया होना चाहिए। यदि वह वारांगना अथवा नीच जाति की स्त्री है तो और भी अच्छा है। अतएव तांत्रिक सम्प्रदाय के प्रेम-प्रतीकवाद की प्रवृत्ति यौन-व्यापार को उसके लौकिक संदर्भ से अलग करने की है। वह प्रेम-संबंध के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा भी करता है।

तांत्रिक साहित्य और सम्प्रदाय के विकास के बहुत पहले हम वैदिक ऋषियों को ब्रह्म और जीव के संबंध को व्यक्त करने के लिए प्रेम-प्रतीकवाद का स्वल्प प्रयोग करते हुए पाते हैं। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।२१) के प्रसिद्ध मंत्र में—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बह्यम् किंचन वेद नान्तरम्।
एवमेवायम् पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बह्यम् किंचन वेद नान्तरम्।।

परन्तु इस उपनिषद्-वाक्य में यौन-संयोग से उत्पन्न विलय की स्थिति मात्र की तुलना समाधि के आनन्द से की गयी है। ब्रह्म और जीव के मध्य प्रेमी और प्रेमिका के रूप में जो दो पक्षों का लाक्षणिक सादृश्य है वह यहाँ प्रत्यक्षतः स्पष्ट नहीं होता।

वैदिक साहित्य में लौकिक प्रेम की कल्पना काम के रूप में की गयी है। वह (काम) स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण से उत्पन्न काम-वासना को व्यक्त करता है। ऐसी काम-वासना का लक्ष्य, चाहे वह एक या दोनों के अनुभव की वस्तु हो, यौन-संबंध ही होता है। काम का वर्णन सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, अदम्य और समाज-विरोधी शक्ति के रूप में किया गया है। यह एक महान् साम्य विधायक है। इसके द्वारा अनेक भिन्न जातियों और जीवन स्तरों—राज पुत्रियों और ऋषियों, अप्सराओं और पुरुषों—से संबंधित प्राणियों का एकीकरण होता है। स्वभावतः उग्र और अहंकारी होने के कारण यह उदात्त भावनाओं और क्रियाओं का प्रेरक नहीं है, परन्तु वह पर्याप्त दुःख उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। ऋग्वेद (१०।९५) में पेन्ज़र[1] के अनुसार "ज्ञात भारोपीय साहित्य की सर्वप्रथम प्रेम-कहानी उर्वशी और पुरुरवा के अभूतपूर्व दुःखान्त प्रेम की कहानी है जिसमें प्रेम का सूत्रपात नारी करती है और पुरुष दुःखभागी बनता है।

एक प्रबल मानवीय प्रवृत्ति के वैयक्तीकरण के रूप में 'काम' महाकाव्य और पुराण के अनेक उपाख्यानों में प्रधान पात्र है जिनमें वह निश्चित रूप से एक कष्टदायक और अधम व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि उसकी गणना अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ जीवन के चार लक्ष्यों में की जाती है तथापि उसे धर्म-विरुद्ध और मुमुक्षुओं के लिए एक संघातक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विवाह की रूढ़ पद्धति में, जिसके अन्तर्गत कन्यादान आता है, उसका कोई स्थान नहीं है। वह (काम) विवाह की गन्धर्व-रीति को प्रेरित कर सकता है जो 'मानव-धर्मशास्त्र' (३, ३२) के अनुसार इच्छा से उद्भूत होता है और उसका उद्देश्य मैथुन है। परन्तु गन्धर्व-विवाह क्षत्रिय जाति के लिए एक रियायत सा लगता है। फिर भी विवाह के उपरान्त पत्नी (कामिनी) अपने पति के साथ लौकिक प्रेम का सुखानुभव करते समय उसके साथ पूर्णतः भिन्न तथा अपरिवर्तनीय सम्बन्ध में प्रवेश करती है जिसमें काम महत्वहीन हो जाता है। 'महाभारत' में हिन्दू जाति नारी के ही माध्यम से लौकिक प्रेम के स्तर से ऊपर उठ कर एक उत्कृष्ट उदात्त वृत्ति-प्रधान शक्ति के रूप में प्रकट होती है। 'महाभारत' में बहुत से सुरम्य प्रेमाख्यान हैं जिनमें नल और दमयन्ती की कथा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दाम्पत्य संबंध की समरसता और अपरिवर्तनशीलता पर जोर देते हुए यह कथा हिन्दू दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का आदर्श प्रस्तुत करती है; किन्तु पति जब अपनी विश्वसनीय पत्नी में सुकुमार भावना से अनुरक्त-सा प्रतीत होता है तब भी उसका स्नेह कभी भी वासना अथवा अहंकार से मुक्त नहीं होता। वह सदा ही न्यूनाधिक काम से

---

१. 'कथा-सरित्सागर' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

प्रभावित होता है। इसके विपरीत पत्नी के प्रेम में असीम गंभीरता रहती है, उसमें सम्पूर्ण भक्ति-भाव और उत्कट आत्मसमर्पण रहता है जिससे वह बड़ा से बड़ा आत्मोत्सर्ग कर सकती है। जहाँ पर पति के प्रेम का उल्लेख एक दुर्बलता के रूप में किया जाता है (जैसे, रामायण में राम-विलाप) वहाँ हिन्दू सती नारी में वही प्रेम एक उत्कर्षक भावना का प्रतीक हो जाता है। पति की कृतघ्नता और अयोग्यता बहुधा उसे (पत्नी को) अपने मार्ग से विचलित करने के स्थान पर एक ऐसा अवसर प्रदान करती है जिससे वह अपने चरित्र के सोने में प्राणोत्सर्ग के सुहागे का संयोग कर सकती है। वे ही 'पवित्र नारियाँ' अपने योद्धा पतियों की अपेक्षा भारतीय महाकाव्य की सच्ची नायिका हैं। वे अपनी कोमलता और मुग्धता को सुरक्षित रखती हैं जो उनके प्रेम को सचमुच मानवीय बनाता है। पर उनके प्रेम में एक निरपेक्ष, क़रीब-क़रीब अलौकिक पवित्रता, गम्भीरता और पूर्ण आत्म-समर्पण रहता है जो वस्तुतः उसे (प्रेम को) एक प्रकार की धार्मिकता की भावना प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि दाम्पत्य-प्रेम का नारी-आदर्श, जैसा कि 'महाभारत' में बताया गया है, तत्वतः धार्मिक होता है और उसका लक्ष्य उस अपूर्ण मानव की अपेक्षा, जिसके प्रति उसका आचरण होता है, उच्चतर होने का अधिकारी है। अतएव 'महाभारत' प्रेम को पति-पत्नी के बीच आदर्श प्रेम-सम्बन्ध मानता है जो काम-वासना मात्र से ऊपर उठ जाता है। परन्तु केवल पत्नी ही वस्तुतः इससे उदात्त और उत्कृष्ट बन पाती है अथवा यों कहिए वही इसे अपनी साधना बना पाती है। पवित्र हिन्दू सती नारी पहले से ही भक्त होती है।

यह निश्चित करना कठिन है कि 'महाभारत' में विकसित अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने भागवत धर्म के आदर्शों को कहाँ तक प्रभावित किया है। 'महाभारत' में विहित नारी-धर्म और 'भगवद्गीता' द्वारा सच्ची भक्ति के लिए प्रतिपादित प्रकृति और भावनाओं में विलक्षण साम्य है। तथापि 'भगवद्गीता' में मुश्किल से ही कोई प्रेम-प्रतीकवाद है। कृष्ण अपने भक्तों के प्रति अनुराग बारम्बार व्यक्त करते हैं (१२।१४ और २०) और गीता के ग्यारहवें अध्याय के ४४वें श्लोक में अनेक दृष्टांतों के सहारे इस कथन पर बल देते हैं — पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्। अर्थात् कृष्ण अपने भक्तों के लिए वैसे ही हैं जैसे पिता पुत्र के लिए, मित्र मित्र के लिए और प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिए। परन्तु यह कहीं भी ध्वनित नहीं होता कि भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रक्खे जैसे एक निष्ठावती नारी अपने अभीष्ट पति के प्रति रखती है।

अतः तामिल सन्त कवियों के धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत प्रेम-प्रतीकवाद के विचार-निष्ठ प्रयोग के लिए हमें ईसा की ७ वीं शताब्दी की प्रतीक्षा करनी होगी।

सबसे प्राचीन शैव सन्तों में सम्बन्दर हैं जिनकी तिथि ईसा की ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के आसपास है। उनके समय में शमनों, सर्वशक्तिमान् जैनों और ईर्ष्यालु बौद्धों का प्रभुत्व था। इन सबके विरुद्ध वह शैव अद्वैत के साहसी परन्तु एकाकी प्रवर्त्तक थे। शिव और तिरुवण्णमालइ तथा चिदम्बरम् के रमणीय तीर्थों की प्रशस्ति में लिखे गये बहुत से स्तोत्रों में हृदय की भक्ति बहुत प्रमुख नहीं है। सम्बन्दर का अपने ईश्वर से सम्बन्ध एक स्वामिभक्त सेवक के अपने स्वामी

के सम्बन्ध से बढ़कर है। तथापि कम से कम दो अवतरणों[२] में प्रेम-प्रतीकवाद का संकेत है। प्रथम अवतरण में शिव की चरण-स्तुति करती हुई एक नारी का वर्णन है—

"तुम्हारे चरणों में भय-विनत हो वह पुकारती, हे धूर्जटे! हे देव, मेरे शरण्य, हे वृषभ-वाहन!"

"मरुहल् के देव! जहाँ नव कुमुदिनियाँ विकसित होती हैं वहाँ क्या उसे इस हृदय की वेदना में छोड़ जाना उचित है?" (१७)

अंग्रेज़ी अनुवाद-कर्त्ताओं को प्रस्तुत पद्यांश की व्याख्या में सन्देह हुआ।

भूमिका के पहले ही जोड़ी गयी एक बाद की टिप्पणी में उन्होंने स्वयं पुस्तक में दी हुई व्याख्या से भिन्न एक दृष्टिकोण व्यक्त किया—

"इससे मिलते-जुलते तामिल धार्मिक काव्य के अन्य स्तोत्रों से इस स्तोत्र की पूरी-पूरी तुलना उनका (लेखकों का) यह विश्वास सुदृढ़ करती है कि स्तोत्रगत 'वह' (स्त्री) भक्त के अतिरिक्त कोई नहीं है जो अपनी उपमा एक प्रेमाकुल स्त्री से देता है, उदाहरणार्थ १९ वें पद्यांश में।"

१९ वाँ पद्यांश उस नारी की, जो अपने प्रेमी के लिए व्यथित है, प्रणय-वेदना का और उससे आविर्भूत शरीर पर पड़े हुए चिह्नों का निर्देश करता है—

"जैसे हरी शाखाओं वाले पुण्णइ के कुसुमित होते तरुवर में, वैसे ही मुझ पर प्रेम का विशद चिह्न बना हुआ है, क्योंकि वह, जिसने मेरी व्यथा को दूर किया था, अभी भी अनन्त सन्ताप छोड़ गया।"

प्राचीन तामिल काव्य में ऐसी कल्पना की गयी है कि अपने प्रियतम के वियोग-दुःख से प्रेमियों के शरीर पर चिह्न पड़ जाते हैं। इस विश्वास का दृष्टांत तृतीय संगम से सम्बन्धित ४०० कविताओं के एक संकलन 'अग नानूरु' में मिलता है, जिसकी विषय-वस्तु यथार्थतः वियुक्त पति-पत्नी की यातना ही है। अनुरक्त पत्नी कादली[३] का करुणापूर्ण चरित्र ही उसमें प्रधान है और वह प्राचीन राजस्थानी साहित्य की विरहिणी का सच्चा प्रतिरूप है। कबीर ने उस विरहिणी का उपयोग आत्मा की ब्रह्म के लिए उत्कण्ठा के प्रतीक के रूप में किया। यह महत्वपूर्ण बात है कि उत्तरी और दक्षिणी भारत में विभिन्न युगों में और विभिन्न धार्मिक प्रसंगों में एक ही प्रकार का लोक-साहित्य जीवात्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध के सबसे उपयुक्त प्रतीक के रूप में आया।

सम्बन्दर में, जिसकी धार्मिक प्रेरणा बहुत उच्चकोटि की नहीं है, प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग भिन्न है। परन्तु वाशगर के बारे में, जिन्हें दीक्षितार ने सम्बन्दर से दो शताब्दी बाद ईसा की ९वीं शताब्दी में रक्खा है, ऐसा नहीं है। उनके महान् ग्रन्थ 'तिरुवाशगम्' का वर्णन इन शब्दों में किया गया है: 'उत्कट धार्मिक भावनाओं का हर्षोन्मत्त काव्य में धारा-प्रवाह उद्रेक।' इस कृति का मुख्य विषय है कवि की अपने ईश्वर शिव के प्रति विषादपूर्ण उत्कण्ठा।

---

२. इन छंदों के अँग्रेज़ी अनुवाद तथा उनकी क्रमसंख्याएँ एफ़० किंग्जबरी तथा जी० ई० फ़िलिप्स के संकलन (हेरिटेज ऑफ़ इंडिया सीरीज़ में प्रकाशित १९२१ ई०) के अनुसार हैं। ३. जिसे तालेवी या नायगी (सं० नायकी) भी कहा जाता है। प्राचीन तामिल काव्य में 'विरह' और 'विरहिणी' शब्द अपरिचित हैं।

माणिक्क का हृदय अपने देव के प्रति प्रेमाभिलाषा में (निनरु उरुक) निरन्तर तरल हो उठता है। वह उसका वर्णन करते हैं[४] :—

"हे रत्नों के स्वर्णिम और यशस्वी पर्वत! जो तुममें निरन्तर अनुरक्त हैं उन्हें वरदान दो। मेरे प्रभु ! मेरी आत्मा को द्रवित करते हुए तुम मेरे अन्तर में निवास करो।"

आत्मा की परमात्मा के प्रति इस लालसा की उपमा गौ की अपने बछड़े के प्रति प्रदर्शित अभिलाषा से दी गयी है —

"जैसे एक गाय अपने बछड़े के लिए उत्कण्ठित रहती है उसी भावना से मैं उसकी खोज करूँगा, मेरी उत्कट आत्मा द्रवीभूत भले ही हो जाय।"

वह प्रेम जो भक्त की आत्मा को उपभुक्त और द्रवीभूत कर देता है, सामान्यतः, ऐसे पदों में व्यक्त किया गया है जो स्नेह अथवा सुकुमारता की अपेक्षा अभिलाषा की ओर अधिक इंगित करते हैं। उदाहरणार्थ, 'तिरुवाशगम' (३४, ७) में —

"जो शिव से प्रेम नहीं करता उसका स्पर्श मैं नहीं करूँगा।" (किंग्सबरी और फ़िलिप्स, पृ० १२१)।

जिस शब्द का अनुवाद 'प्रेम' किया गया है वह है, 'वेण्डार' अर्थात् 'कामना, अभिलाषा करना'; और प्रस्तुत पंक्ति का अनुवाद पोप ने अधिक औचित्य के साथ इन शब्दों में किया है— 'जो शिव की कामना नहीं करते'।

उसी प्रकार दूसरे उद्धरण में—'परन्तु मेरे प्रत्यंग में उसने प्रेम की उन्मत्त कामना भर दी।' (ट्रेंड—किंग्सबरी और फ़िलिप्स, पृ० १२७)। पुस्तक में सीधा-सीधा 'माल' शब्द है जिसका अर्थ 'कामना, अभिलाषा' होता है।

यद्यपि ५१ वें और अन्तिम स्तोत्र 'मुक्ति का विस्मय' में प्रथम पद्यांश 'प्रेममार्ग' अर्थात् 'पत्ती नेरी' का उल्लेख करता है तथापि यह उत्कण्ठा समूची कविता का प्रमुख स्वर है। पत्ती (भक्ति) का अनुवाद पोप ने 'पुण्य प्रेम' किया है। 'पत्ती नेरी' शब्द का चयन ही लेखक के इस अभिप्राय को ध्वनित करता है कि वह उत्कण्ठा के साधन को गीता के भक्ति-मार्ग के अनुरूप बनाना चाहता है।

यद्यपि 'तिरुवाशगम्' शिव की प्रशस्ति एक वैयक्तिक, सर्वानुग्रहपूर्ण और सम्वेदनशील ईश्वर के रूप में करता है तथापि गीता की तरह उसने भी प्रतीकवाद का उपयोग नहीं किया है। माणिक्क सुसंस्कृत ब्राह्मण था। 'तिरुवाशगम्' के प्रत्येक अंश से यह सिद्ध होता है कि वह 'भागवत' के विचार और परम्पराओं से प्रभावित था, क्योंकि इस ग्रन्थ के शिव 'भगवद्गीता' के कृष्ण की भूमिका में कई बार आते हैं; और यह तो हमने देखा ही है कि प्राचीन भागवत धर्म लौकिक प्रेम-सम्बन्ध और लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच सादृश्य नहीं स्वीकार करता था। तथापि माणिक्क की प्रेम-विषयक धारणा ने विरह-तत्व अथवा जीवात्मा की परमात्मा के प्रति उत्कण्ठा

---

४. 'तिरुवाशगम्' के उद्धरण जी० यू० पोप के अनुवाद से ग्रहण किये गये हैं। जहाँ इसका अपवाद है वहाँ अन्यथा सूचित किया गया है।

को प्रधानता देकर एक नये, वैयक्तिक तथा भावात्मक तत्व की प्रतिष्ठा की है जिससे प्राचीन भागवत धर्म अनभिज्ञ है।

'तिरुवाशगम्' के अतिरिक्त माणिक्क वाशगर ने 'तिरुक्कोवइ' नामक रोमांस की रचना की। इस रचना का विषय एक ऐसी विरहिणी की असह्य वेदना है जिसका प्रियतम (पति) विदेश में व्यवसाय करने गया है। यहाँ पर भी हम वियुक्त प्रेमियों के विषय का सविस्तर वर्णन पाते हैं जिसे 'अग नानूरु' के प्राचीन कवियों ने सम्पादित किया था। परन्तु इस बार वह प्राचीन राजस्थानी-साहित्य के 'बीसलदेव-रास' और 'ढोला-मारू' से मिलते-जुलते गल्प के लोकप्रिय रोमांस के आवरण में प्राप्त होता है। परन्तु जहाँ प्राचीन राजस्थानी आल्हे में सरल लौकिक प्रेम और एक वियुक्त पत्नी की अपने विदेश गये हुए पति के लिए, जिससे उसका संयोग पुनः हो जावेगा, करुणार्द्र विरह-व्यथा का निरूपण है वहाँ 'तिरुक्कोवइ' की नायगी को ऐसा सुख दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त, यह कहानी लोक-कथा मात्र नहीं है। माणिक्क के अनुयायियों ने इस कविता की रूपक के आधार पर आध्यात्मिक व्याख्या की है। यदि यह व्याख्या वस्तुतः न्यायसंगत है तो भारत में 'तिरुक्कोवइ' को ब्रह्म-जीव के गूढ़ प्रेम-बन्धन को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय रोमांस के प्रतीकात्मक उपयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है।

माणिक्क के बहुत पहले बौद्ध और जैन संन्यासियों ने लोकप्रिय लोक-कथाओं के अन्तर्गत उपदेश निहित करने में बड़ी कुशलता प्रदर्शित की थी। बौद्धों ने जातकों जैसे कल्पित कथानकों को श्रेष्ठ माना, जब कि जैन भिक्षु रूपक अथवा लोकप्रिय कहानी के सरल रूपान्तर को अच्छा मानते हैं, जिसमें विशिष्ट जैनी उपसंहार भद्दे रूप में जुड़ा रहता है। परन्तु उन रूढ़ धर्मानुयायियों से लौकिक प्रेम को किसी प्रकार का अनुमोदन नहीं प्राप्त हुआ। अत्यन्त मार्मिक प्रेम-कथाओं के जैन रूपान्तर—उदाहरणार्थ प्रसिद्ध 'तारांगोला'[५]—में लौकिक प्रेम की निरर्थकता यथोचित रीति से सिद्ध की गयी है और प्रेमी अन्त में जैन भिक्षु बन जाते हैं। यह समझना सरल है कि उन शमनों के अमानवीय दृष्टिकोण और धर्म के प्रति उनकी तिरस्कार-भावना ने किस प्रकार सभी सच्चे भक्तों की दृष्टि में उन्हें घृणास्पद बनाने में योग दिया होगा।

माणिक्क की कथा में अकृत्रिम लोक-काव्य का गौरव और स्वाभाविक रमणीयता है जो रूपक के पाण्डित्य-प्रदर्शन से बहुत दूर है। तथापि यह ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपनी कथा के गूढ़ महत्व की व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं किया और श्रोताओं को मनमाना अर्थ लगाने के लिए स्वतंत्र रहने दिया। व्याख्या करने की यह स्वतंत्रता इस सन्त के एक प्रशंसक द्वारा लिखित कविता के प्रथम छंद में ही उपस्थित है—

---

५. ईसवी सन् १६४३ में प्राकृत-पद्य में विरचित एक रूमानी प्रेमकथा। कहानी पाँचवीं शताब्दी के श्री पदलिप्त (अथवा सिरी पालित्त) की एक प्रसिद्ध जैन धर्म-कथा 'तरंगवती' पर आधारित है।

'इसकी चर्चा करते समय ब्राह्मण इसे ही वेदों का और योगी आगमों का सार कहेंगे। कामी पुरुष इसे ही कामशास्त्र का और तार्किक इसे ही तर्कशास्त्र का ग्रन्थ कहेंगे।'[६]

हिन्दू धार्मिक परम्परा श्रोताओं के पक्ष में इस स्वतंत्रता और व्यञ्जना-शक्ति पर पूरा-पूरा विश्वास करने की इस विधि का अनुमोदन नहीं करती। दूसरी ओर, यह पूर्ववर्ती सूफ़ियों के सादृश्य-भाव (मोत्तल) की प्राथमिकता से विलक्षण साम्य प्रकट करता है। सूफ़ी उपदेशक एक प्रकार की चेतावनी के रूप में साधारण भाषा के पदों का सादृश्यार्थ में प्रयोग करते हुए प्रायः निर्देश और व्यञ्जनाओं के सहारे आगे बढ़ता है। ऐसा वह श्रोताओं की आत्मा को जागृत करने के लिए करता है जो शनैः शनैः समीकरण की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा इसके गहन अर्थ को समझ जायँगे। गूढ़ पथ पर जितना ही वे प्रगतिशील होंगे उतना ही उनमें प्रत्येक शब्द अथवा क्रिया में, चाहे देखने में वह कितना ही महत्वहीन क्यों न हो, सादृश्यात्मक अर्थ और अलौकिक पुकार[७] को खोज निकालने की क्षमता आएगी। सूफ़ी धर्म-प्रचार ने उपाख्यान का भी बहुत प्रयोग किया है। ७ वीं-८ वीं शताब्दी में बसरा सूफ़ियों की पहली पीढ़ी का हिंडोला था और असंख्य उपदेशक (क़ोस्स) संगीतात्मक गद्य (क़िस्सः) में उपाख्यानों के सहारे जनता को शिक्षा देने में और उनको अपने धर्म में दीक्षा देने में संलग्न थे। बसरा के पूर्ववर्ती सूफ़ियों का तामिल सन्त-कवियों पर प्रभाव कालक्रम के आधार पर अमान्य नहीं सिद्ध किया जा सकता जबकि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ इस की संभावना[८] की ओर इशारा करती हैं।

माणिक्क वाशगर के धर्म-परिवर्तन का उपाख्यान और 'तिरुवाशगम्' में निहित आत्म-कथात्मक वृत्तान्त ही उपर्युक्त मुसलमानों के प्रभाव को ध्वनित करता है। हमें यह विदित होता है कि मदुरा के सम्राट् अरिमर्तनम् का युवक ब्राह्मण मन्त्री माणिक्क अपने स्वामी द्वारा मुसलमान व्यापारियों से राजसी अस्तबलों के लिए घोड़े खरीदने के लिए समुद्र-तट भेजा गया था।

---

६. 'तामिल साहित्य और इतिहास का अध्ययन', लन्दन, १९३०, पृ० १०३ पर वी० आर० दीक्षितार द्वारा उद्धृत। ७. लुल० एल० मसिग्नाँ : लेक्सीक तेकनीक द ला मिस्तीक मुसुलमेन, पारिस, ग्यूथनर १९२२, पृ० ९७-९८। ८. बसरा अरब खाड़ी का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था जो ७वीं-८वीं शताब्दी में इस्लाम-दर्शन और संस्कृति का विशाल केन्द्र था और प्रबल धार्मिक भावना का प्रचार-केन्द्र भी था। दूसरी ओर, हम यह जानते हैं कि हि० की दूसरी शताब्दी में भारत और मुस्लिम देशों के मध्य व्यापार और सांस्कृतिक सम्बन्ध सब से अधिक था और अधिकांश व्यापार बसरा से ही होता था। मुसलमान व्यापारी अच्छे धर्मप्रचारक थे और जहाँ कहीं वे जाते थे, मुसलमान सन्त उनका अनुगमन करते।

सातवीं शताब्दी में ही समृद्ध मुसलमान व्यापारी-समुदाय मालाबार-तट पर व्यवस्थित ऐश्वर्यशाली रूप से बस गया था और ९वीं शताब्दी के पूर्व ही उसका प्रभाव सम्पूर्ण पश्चिमी तट एवं दक्षिणी राज्यों में फैल चुका था।

८वीं शताब्दी के मध्य तक करंगनोर और मालदिव के मोग़लों का धर्म-परिवर्तन हसन बस्री के शिष्य बसरा के मालिक इब्न दिनार के शिष्यों ने सम्पन्न किया था। ९वीं शताब्दी

माणिक्क की धार्मिक आत्मा अनुरागी देवता शिव की उत्कट कामना में विलीन थी। जब वह समुद्र की ओर जा रहा था उसे एक रहस्यमय गुरु मिले। वह मानवीय वेश में स्वयं शिव ही थे जिन्होंने उसे एक वृक्ष के नीचे दर्शन और अलौकिक ज्ञान दिया। जनश्रुति के अनुसार माणिक्क लोकोत्तर प्रेम में लवलीन होने के कारण राजा को घोड़े लाकर न दे सका, अतएव उसे कड़ी सजा की आशंका थी। उसी समय शिव उसकी रक्षा के लिए एक विदेशी व्यापारी के वेश में आये और घोड़ों के एक बड़े झुण्ड को, जिसे दूर देश से लाने का उन्होंने बहाना किया, साथ लेते आये।[९]

पाण्डय राजा के समक्ष कोड़ा लेकर खड़े हुए और एक अरब व्यापारी के रूप में सौदा करते हुए शिव की कल्पना कुछ अद्भुत-सी है। यह कहानी इस बात की ओर संकेत करती है कि अपने रहस्यमय गुरु के द्वारा अथवा समुद्र-तट पर स्थित धर्मोत्साही मुसलमान व्यापारियों के सम्पर्क से माणिक्क मुसलमानी एकेश्वरवाद के और शायद बसरा के कुछ मुस्लिम सन्तों के संसर्ग में आये थे। इसी प्रभाव के आधार पर उनके प्रबल अद्वैतवाद की, वेदान्त के विचारों की उपेक्षा की, और एक उच्चकोटि के रहस्यात्मक उपदेश को प्रतिपादित करने के लिए साधारण लोक-कथा के उपयोग की—जो सूफ़ी धर्म-प्रचारकों की अपनी विशेषता थी—विशिष्ट प्रणाली की व्याख्या की जा सकती है।

लोकोत्तर प्रेम की 'काम' अथवा परमात्मा के प्रति आत्मा की उत्कण्ठा के रूप में माणिक्क की धारणा बसरा के पूर्ववर्ती सूफ़ियों की धारणाओं से साम्य रखती है। एक महत्त्वपूर्ण हदीथ, जिसका श्रेय सूफ़ियों के पहले प्रमुख महात्मा हसन बसरी (६४३—७२८) को दिया जाता है, और जिसका प्रचार, उसके शिष्य जैद ने किया, ईश्वर और आत्मा के पारस्परिक प्रेम को पारस्परिक कामना (इश्क) बताता है—वह इश्क़ जो पर्दा उठाकर आत्मा को ब्रह्म-दर्शन करा देता है।[१०] ज़ैद ने स्वयं अलौकिक प्रेम की कल्पना 'इश्क़' या 'शौक़' अर्थात् आत्मा की परमात्मा के प्रति उत्कट

के प्रारम्भ में मालाबार के अन्तिम चेर राजाओं ने मुसलमानी धर्म अपनाया। दूसरी ओर १२०-१२४ हि० में जारिर ब०हाज़िम अज़्दी ने बसरा में भारतीय उद्गम के संशयवादियों के एक दर्शन-सम्प्रदाय की स्थापना की। (दे०मैसिग्नाँ, पृ० ६५)। वे संशयवादी सोमनियों के नाम से पुकारे जाते थे। इस नाम में तामिल सन्तों की घृणा के पात्र शमनों को पहचानना सरल है। यह मानना स्वाभाविक है कि तामिल शैव सन्त इस्लाम के एकेश्वरवाद की ओर आकृष्ट हुए और नास्तिक शमनों के विरुद्ध जो उनका संघर्ष था उसमें वे इस्लाम को एक सहयोगी के रूप में देखना चाहते थे। (एम एम) ९. दे० दीक्षितार की पुस्तक का १००वाँ पृष्ठ; जी० यू० पोप के 'तिरुवाशगम्' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका (ऑक्सफ़र्ड, १९००) भी। इसमें कहा गया है कि व्यापारी 'आर्य देश' अर्थात् विदेश से आये। पोप के अनुसार "यह माना जा सकता है कि इस (विदेश) का अर्थ अरब है। भारत और पाश्चात्य देशों के मध्य, जहाँ से न केवल माल अपितु प्रभावशाली विचारधाराएँ भी आयीं, जलयानों द्वारा व्यापार होता था, इस तथ्य की ओर सारा का सारा वृत्तान्त इंगित करता है।" (दे० वही, पृ० २०) १०. दे० मैसिग्नाँ की पुस्तक का पृष्ठ १७३।

कामना और अभिलाषा के रूप में की है। उसने हुब्ब और मुहब्बह शब्दों को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि उनका अर्थ होता है परमात्मा और उससे उत्पन्न आत्मा के बीच समानस्तर की पारस्परिक मित्रता। उसके धर्मोपदेशों में इस विषय का यही स्वर प्रायः गूँजता है —

"हे बन्धुओ ! क्या तुम ईश्वर की कामना (शौक़) के लिए आँसू नहीं बहाओगे ? जो इस भावना से ईश्वर की भक्ति करता है वह उसके दर्शन से वंचित कैसे रह सकता है ?"[11]

पूर्ववर्ती सूफ़ियों में से हसन बसरी के शिष्य मालिक इब्न दिनार और मोदर कारी और धूल 'नून मिसरी ब्रह्म के प्रति आत्मा के अनुराग की व्याख्या 'शौक़' के रूप में करते हैं। परन्तु बसरा के सूफ़ियों में से केवल राबिया ही ऐसी है जो हुब्ब की अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्या करती है। इस विषय में दो प्रकार के प्रेमों[12] का विवेचन करते हुए उसने लिखा है कि अपूर्ण प्रेम आत्मा की अपने आनन्द के लिए कामना है और पूर्ण प्रेम स्वतः ईश्वर की निजी आनंद-लीला के लिए अनासक्त कामना है।

मोहसिबी के संयोग से 'हुब्ब' और 'मुहब्बह' शब्दों का तीसरी शताब्दी हिजरी में प्रचलन हुआ और यह व्याख्या हल्लाज और इब्न दाऊद के बीच एक प्रसिद्ध विवाद का विषय बनी। परन्तु बसरा के सूफ़ियों की पहली पीढ़ी ने, जिसमें सब के सब कट्टर मुसलमान थे, परमात्मा और जीवात्मा के बीच के प्रेम-सम्बन्ध की अपरिवर्तनीयता पर काफ़ी ज़ोर दिया है। इस सम्बन्ध का तात्पर्य आत्मा के पक्ष में निरपेक्ष आत्मसमर्पण तथा उत्कट कामना से है। यही मालिक इब्न दीनार की धारणा थी जिसके शिष्यों ने चरंगनोर के मोपलों को, जो ८ वीं शताब्दी में इस्लाम-धर्म स्वीकार करने वाली पहली हिंदू जाति थी, अपने धर्म में दीक्षित किया। अतः ८ वीं-९ वीं शताब्दी के तामिल सन्त-कवियों पर बसरा के पूर्ववर्ती सूफ़ियों का यत्किंचित् प्रभाव था, यह निराधार नहीं। इसी प्रभाव ने उनकी लोकोत्तर प्रेम-विषयक विशिष्ट धारणा के विकास में निश्चय ही अपना योग दिया होगा।

माणिक्क तथा सूफ़ियों की दृष्टि में ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा अलौकिक प्रेम के विकास में एक क्षण मात्र की घटना नहीं है अपितु वह प्रेम का सार-तत्व ही है। इतना ही नहीं, वही उसकी पराकाष्ठा है। अतः रहस्यात्मक चिन्तन-प्रणाली के अनुरूप बनाने के लिए प्रेम के सुखात्मक पक्ष की अपेक्षा उसके वेदनापूर्ण पक्ष पर ही अधिक बल दिया जाता है और प्रेमकथा की सरल रूप-रेखा तो उसी असह्य वेदना के वर्णन के लिए भूमिका मात्र है। तामिल लोक-साहित्य की व्यथित कादली अथवा तलीवी, जो 'तिरुक्कोवइ' की नायिका है, भारतीय धार्मिक-साहित्य में लोकोत्तर प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रथम मानवी है। यह कहना शायद अत्युक्ति नहीं कि विरह-प्रेम के रूप में लोकोत्तर प्रेम की रहस्यात्मक धारणा, जिसने उत्तर के लोकप्रिय साहित्यों में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त किया और भारतीय सूफ़ी साहित्य को अभिभूत किया, 'तिरुक्कोवइ' में बीज-रूप में विद्यमान है। माणिक्क का प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग पूर्णतया सादृश्यात्मक है। कभी-कभी मनुष्य रूप में प्रत्यक्ष होने के

---

११. दे० मैसिग्नाँ की पुस्तक, पृष्ठ १९२-१९३। १२. मैसिग्नाँ द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १९४।

बावजूद भी शिव अपनी पारलौकिकता की अगम्य ऊँचाई के कारण भक्तों की पहुँच के बाहर रह जाते हैं।

आलवार के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव कवि-सन्तों की भावना थोड़ी भिन्न है। उनका विष्णु-अवतार के सिद्धान्तों में विश्वास और कृष्ण की पौराणिक कथा के प्रति उत्साह उनके प्रेम-प्रतीकवाद में यथार्थवाद का एक नया पुट देता है। यहाँ भी हम लौकिक-प्रेम का तुलनात्मक निर्देश पाते हैं जिसके अनुसार ईश्वर (कृष्ण) की कल्पना प्रेमी अथवा पति के रूप में और जीवात्मा की ब्रह्म की प्रेयसी अथवा पत्नी के रूप में की गयी है। यहाँ पर भी आत्मा को विरहिणी माना गया है। आलवारों में सर्वश्रेष्ठ नाम्मालवार[१३] ने अपने को उस स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो अपने प्रियतम के वियोग में घुली जा रही है फिर भी उसी पर पूर्णतया निर्भर है।

अपने अलौकिक प्रभु के दर्शन से वंचित होने के कारण आत्मा जिस पीड़ा का अनुभव करती है वही नाम्मालवार के धार्मिक काव्य की आधारभूत प्रेरणा है। यदि वह कभी कृष्ण के दर्शन और आलिंगन का आनन्द प्राप्त करता है तो उसके सुख में एक नये वियोग का भय मिश्रित रहता है; और वे अस्थायी मिलन के क्षण केवल उसकी अनन्त कामना की अग्नि को और भी उद्दीप्त कर देते हैं। तथापि इस अत्यधिक अन्तर्द्वन्द्व में प्रेम की पराकाष्ठा का निवास है, क्योंकि मोक्ष से भी अधिक वांछनीय है ईश्वर का सान्निध्य—यहाँ तक कि चिन्ता और दुःख में भी। ऐसा प्रतीत होता है कि नाम्मालवार की दृष्टि में अलौकिक प्रेमलीला का प्रदेश आत्मा ही है, तथापि 'तिरुविरुत्तम्' के तीसरे शतक में उनका विचार यह है कि जो ईश्वर के सम्पर्क में तत्वतः नहीं आ सकता उसे उसकी मूर्त्ति और पुराण में वर्णित कृष्ण-कथा की ओर अपना मन केन्द्रित करने में ही सन्तोष मिलता है। नाम्मालवार की दृष्टि में पुराणगत कृष्ण एक रहस्यानुभूति के, जो उसकी आत्मा में ही घटित होती है, दृष्टान्त मात्र हैं। अपनी धार्मिक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए नाम्मालवार जिन शब्दों का बारम्बार प्रयोग करते हैं वे हैं 'निनरु कुमिरुमे' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'फूट पड़ने की स्थिति में होना'। दासगुप्ता के अनुसार इसकी व्याख्या प्रेम के सतत मथने वाले भाव के अर्थ में की गयी है जो गम्भीर से गम्भीरतर होता जाता है, कभी बिखरता नहीं और न समाप्त ही होता है। हृदय में प्रेम की मन्थन और अन्तःप्रवेश की क्रिया उसी तरह शब्द-हीन, मौन और अव्यक्त होती है जैसे वह गाय जिसके स्तन दूध से आपूरित हों और अपने दूर बँधे हुए बछड़े के पास पहुंचने की उत्कण्ठा को मुख से पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकती![१४] माणिक्क की तरह नाम्मालवार की अभिव्यञ्जनाओं में एक गत्यात्मक शक्ति, आत्मा का एक दुःखान्त अन्त-र्द्वन्द्व ध्वनित होता है जो उस मधुर और शान्तिपूर्ण भक्ति से जो कृष्ण के संयोग-सुख की ओर ले जाती है, और जिसका प्रतिपादन 'भगवद्गीता' ने किया है, बहुत दूर है। 'भागवतपुराण' में वर्णित गोपियों की कृष्ण के दर्शन के लिए कामना उसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है।

---

१३. आलवारों की तिथि के विषय में बहुत विवाद हो चुका है। दासगुप्ता ने (भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ३, ६५) नाम्मालवार की तिथि ईसा की ८वीं शताब्दी के अन्त अथवा ९वीं के आरम्भ में निश्चित की है। १४. पृष्ठ सं० ७८-७९।

नाम्मालवार ने 'भागवतपुराण' का प्रत्यक्ष उपयोग किया है या नहीं, इसमें सन्देह है। परन्तु उनकी कृतियों में कृष्ण-गोपाल और गोपियों का असंख्य निर्देश है और स्वभावतः उनकी प्रवृत्ति गोपियों से और कभी-कभी कृष्ण की संगिनी नपिण्णइ (राधा) से अपना तादात्म्य स्थिर करने की है। उस स्थिति में नपिण्णइ (राधा) का उल्लेख विष्णु की चिरसंगिनी की अपेक्षा एक वियुक्त स्नेहशीला पत्नी के रूप में किया गया है।

आण्डाल को छोड़कर नाम्मालवार और दूसरे आलवार कृष्णोपाख्यान को प्रतीकों का एक वन मानते हैं जिसका उपयोग अपने क्षणिक आवेशों के अनुसार करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता है। उस कथा में वह अपना तादात्म्य कभी गोपियों (नपिण्णइ को लेकर) कभी कृष्ण के सहचर गोपों, कभी (अपने पूर्ववर्त्ती पेरियालवार की तरह) कृष्ण की उपमाता यशोदा से करने में स्वतंत्र थे। परन्तु उन सभी पौराणिक कथाओं का उल्लेख निश्चय ही सच्चे भक्तों के रूप में हुआ है जो अपने प्रभु में पूर्णतया अनुरक्त तथा उसके दर्शन के लिए विकल रहते हैं और अपनी विरह-व्यथा के चरम महत्व को चरितार्थ करते हैं।

आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पेरियालवर की आध्यात्मिक पुत्री, कवियित्री आण्डाल ने कृष्णोपाख्यान के पात्रों के साथ भावात्मक सारूप्य को, जो आलवारों की अपनी चीज़ थी, आगे बढ़ाया। रहस्यवादियों के मध्य मणि-रूप आण्डाल के सम्पर्क से प्रेम-प्रतीकवाद में यथार्थ का और भी अधिक पुट आ गया। श्रीरङ्गम् में प्रतिष्ठित प्रभु तिरुमल (विष्णु) के प्रति अपने तीव्र अनुराग में उसने केवल उन्हीं को अपना पति मानने का संकल्प किया। पौराणिक कथा के अनुसार उसके आध्यात्मिक पिता पेरियालवार उसे परिणय-परिधान में मूर्त्ति के पास ले जाने को सहमत हुए। उनके ले जाते ही प्रभु ने अपने हाथ बढ़ा दिये और उससे प्रेमालिङ्गन किया और फिर वह उसी प्रकार अंतर्धान हो गयी जैसे हवा।[१५] यह कथा आण्डाल की 'तिरुप्पावइमप्पतु' तथा 'नाचियार तिरुमोली' नामक कविताओं के भावात्मक स्वर के अनुरूप ही है। 'नाचियार तिरुमोली' नाम्मालवार की 'तिरुविरुत्तम्' की भाँति एक विरह-गाथा है। वह एक शोक-गीत है जिसका विषय है पत्नी की आत्मा—आण्डाल—का उसके अलौकिक प्रियतम श्रीरंङ्गम् के प्रभु तिरुमल से वियोग। परन्तु नाम्मालवार की अपेक्षा आण्डाल का दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी है, क्योंकि वह अपने को उसी की वास्तविक पत्नी मानती है जिसे उसने अपने मन से पति रूप में वरण कर लिया है। 'तिरुप्पावइ' में मायन (कृष्णगोपाल) नन्दगोपाल के नन्दन, 'उत्तरी मथुरा के बालकृष्ण' ही 'गोपी' आण्डाल के प्रेमी हैं। सुन्दर केशों वाली नपिण्णइ का वर्णन विष्णु की प्रेमिका नीला देवी के अवतार के रूप में हुआ है, परन्तु उसका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं है। वह कृष्ण-गोपाल की चपल संगिनी है और रासलीला में उनकी सहचरी है। उनकी अलौकिक प्रेमिका होने के कारण नपिण्णइ मायन से कभी भी वियुक्त नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त नृत्य-बाला होने के कारण वह वियुक्त आत्मा का आदर्श नहीं हो सकती। अतः नाम्मालवार के विपरीत आण्डाल कभी-कभी अपना तादात्म्य नपिण्णइ

---

१५. दीक्षितार, पृष्ठ ११३।

से नहीं अपितु एक नामहीन गोपी से करती है जो विरहिणी है और भगवान् कृष्ण की सच्ची भक्त है।

'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' से लेकर 'भागवतपुराण' तक फैली हुई प्राचीन पौराणिक राधा को कोई स्थान नहीं देती। किंतु यह मानने के लिए पर्याप्त तर्क हैं कि भागवत का प्रणेता—परंपरा जिसका दाक्षिणात्य उद्गम सामान्यतया स्वीकार किया जाता है—गोनृत्य में कृष्ण की सहचरी के रूप में राधा नपिण्णइ से परिचित है। 'भागवत पुराण' (१०।३०) की कृष्ण के अपनी इष्ट गोपी के साथ प्रेम-पलायन करने की अन्तर्कथा की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह आख्यान राधा के साथ कृष्णलीला की ओर संकेत करता है, यद्यपि राधा का नाम वहाँ नहीं आया है। हमारे विचार से 'भागवत' के रचयिता का ऐच्छिक मौनव्रत कृति के धार्मिक उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त रूप से न्यायसंगत था। जहाँ तक कि वह विष्णु की चिरसंगिनी नीलादेवी के अवतार के रूप में मानी गयी है, राधा-नपिण्णइ धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति को अवश्य एक उलझन सी लगी होंगी।

'भागवत पुराण' के अन्तर्गत इष्ट गोपी की अन्तर्कथा का विलक्षण निबन्धन यह ध्वनित करता है कि लेखक राधा को कृष्ण की संगिनी के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था, क्योंकि वह स्वयं कृष्ण को विष्णु का अवतार न मानने की अपेक्षा परम भागवत ही अधिक मानता था।

यद्यपि आलवारों ने 'उत्तरी मथुरा के बालकृष्ण' का अपनी परम अलौकिक सत्ता श्रीरंङ्गम् के भगवान् विष्णु से और उनकी संगिनी नपिण्णइ का नीलादेवी से तादात्म्य स्थापित किया तथापि वे कृष्ण-कथा का प्रतीकात्मक अर्थ लेना चाहते थे; और जैसा हमें ज्ञात है, स्वयं आण्डाल ने अपना तादात्म्य नपिण्णइ से नहीं अपितु विरहावेश में एक साधारण गोपी से किया है। इसी प्रकार 'भागवत' में इष्ट गोपी महाभक्ता के रूप में प्रकट होती है। वह एक महान् सन्त है जिसकी जन्मजन्मान्तर की अपनी पूर्ण भक्ति ने भगवान् के हृदय पर विजय पा ली थी। उसका तिरस्कार सभी आत्माओं को विनय का एक पाठ पढ़ाने के लिए है जिनकी प्रवृत्ति अपने प्रभु के प्रेम पर गर्व करने की है और जो यह भूल जाते हैं कि उनका सर्वस्व उस प्रभु के ऊपर पूर्णतः निर्भर है। अन्ततः यह अन्तर्कथा स्वामिभक्त गोपियों के हृदय की विरहाग्नि को उद्दीप्त करने का उद्देश्य पूरा करती है। "सच्चिदानंद भगवान् ने केवल यह दिखलाने के लिए कि काम-पीडित कितने दयनीय होते हैं और स्त्रियों का हृदय कितना दूषित होता है, उसके साथ केलि की।" यह अवतरण तथा अन्य भी, जो गोपियों की कामना और अपने प्रिय तथा स्वामी कृष्ण के प्रति उनके पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना पर जोर देते हैं, स्वतः रूपक बन जाते हैं। यह तथ्य कि नायिका का नाम गुप्त रखा गया है, इस उपकथा की प्रतीकात्मक प्रकृति का एक दूसरा संकेत है। प्रकृति से सामान्यतया यथार्थवादी होने पर भी 'भागवत पुराण' में गोपियों की उपकथा के निबन्धन में प्रेम-प्रतीकवाद का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। ऐसा करने में उन्होंने निश्चय ही उसी विरह-तत्व को प्रस्तुत किया है जो आलवारों की कविताओं में इतना प्रधान था। यद्यपि आलवारों के अनुसार गोपियाँ कृष्ण की परकीया हैं तथापि वे स्वकीया हैं, निष्ठावती, सती पत्नियाँ हैं; क्योंकि उनके हृदय में कृष्ण के दर्शन और सामीप्य की उत्कट कामना है जो

उच्चकोटि की भक्ति का लक्षण है। 'भागवत पुराण' के धार्मिक महत्त्व की इस व्याख्या का भक्ति के सूत्र-ग्रन्थ—'शाण्डिल्य' और 'नारदभक्तिसूत्र' भी समर्थन करते हैं। फ़र्क़ुहर का मत है कि दोनों ही 'भागवत पुराण' पर स्पष्टतया आधारित हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रत्यक्ष आधार का शायद ही कोई प्रमाण हो। यह अधिक सम्भव है कि यह दोनों ग्रन्थ और 'भागवत' भी आलवारों के उपदेश पर आधारित हैं, यद्यपि 'नारदभक्तिसूत्र' उन उपदेशों के अधिक निकट है जैसा कि उक्त ग्रन्थ में भक्ति-विरह को उच्चस्थान प्रदान करने से ध्वनित होता है। फ़र्क़ुहर कहते हैं कि 'नारदभक्तिसूत्र' का केवल दाक्षिणात्य भागवतों ने प्रयोग किया है।[१६] वस्तुतः नारद के ग्रंन्थ में भक्ति-धर्म और वेदान्त के अद्वैतवाद में सामंजस्य स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं है, परन्तु 'शाण्डिल्यसूत्र' भेदाभेद का दृष्टिकोण ग्रहण करता है।

'शाण्डिल्यसूत्र' का लेखक भक्ति की व्याख्या ईश्वर में परानुरक्ति[१७] कहकर करते हैं और यह मत स्थापित करते हैं कि भक्ति न तो संकल्प है, न क्रिया और न विश्वास अपितु वह हृदय का अनुराग है। स्वप्नेश्वर-भाष्य 'संस्था' शब्द का विवेचन करते हुए 'महाभारत' के एक अवतरण की ओर निर्देश करता है जहाँ 'संस्था' का अर्थ पति के प्रति पत्नी की भक्ति से है। गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम को शाण्डिल्य ऐसी भक्ति के परिपूर्ण उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसका अनुभव हृदय की एकान्त निष्ठा में होता है। सच्चे भक्तों के चित्त की इस एकाग्रता का, जिस पर गीता से लेकर सभी भागवत ग्रन्थों में बल दिया गया है, गोपियों में चूडान्त निदर्शन है। यह ध्यान देने की बात है कि शाण्डिल्य ने किसी और रूढ़धर्मानुयायी पात्र की चर्चा नहीं की है।

'नारदभक्तिसूत्र' शाण्डिल्य के ग्रन्थ की अपेक्षा भक्तिदर्शन से कम और उसकी अभिव्यक्ति और लक्षणों से अधिक सम्बन्धित है। सूत्रसंख्या १,२ में भक्ति की परिभाषा 'परमप्रेमरूप' कहकर निर्धारित की गयी है। ऐसे सन्दर्भ में 'प्रेम' शब्द का प्रयोग एक नवीनता है, परशुराम चतुर्वेदी[१८] ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि उक्त शब्द महाकाव्य में विरल है, परन्तु काव्य में इसका प्रयोग प्रायः मिलता है, जहाँ पर मुख्यतया यह दो प्रेमियों की उत्कट सुकुमार भावना और लालसा को व्यक्त करता है। यहाँ पर 'रूप' शब्द द्वारा, जिससे तुलना की ध्वनि निकलती है, मानवीय प्रेम-बन्धन के निर्देश पर ज़ोर दिया गया है। विशेषण 'परम' से यह भी परिलक्षित होता है कि भक्ति लौकिक प्रेम से भिन्न है। नारद स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परम प्रेम अथवा लोकोत्तर प्रेम रहस्यमय और अनिवर्चनीय है। यह केवल अनुभव से जाना जा सकता है, परन्तु लौकिक प्रेम से इसका सादृश्य है। इसके लक्षण हैं सम्पूर्ण आत्म-समर्पण, विस्मृत होने पर अतिशय वेदना और भगवान के प्रताप और असीम महिमा की सतत चेतना। परम प्रेम काम का विरोधी है और उस स्वार्थपूर्ण प्रेम का भी जो एक प्रेयसी अपने

---

१६. फ़र्क़ुहर : ए रिलिजस आउटलाइन ऑव् इंडिया, ऑक्सफ़र्ड, १९२०, पृष्ठ २३३। १७. शाण्डिल्यसूत्रम्, स्वप्नेश्वरभाष्यसहित, एन० एल० सिंह का अंग्रेजी अनुवाद, इलाहाबाद, १९१८ (सैक्रेड बुक्स ऑव् दि हिंदूज) १, १, १। १८. परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, इलाहाबाद, १९५३।

प्रियतम के प्रति रखती है। यदि गोपियों में अपने प्रभु के प्रति अनन्त श्रद्धा और निःस्वार्थ भाव का अभाव होता तो इनका प्रेम भी उस वासनापूर्ण अधम प्रेम के सदृश होता जैसा व्यभिचारिणी स्त्रियों का अपने जार प्रेमियों के प्रति होता है! अतः 'भागवत पुराण' (१०, २९, ११) में निर्दिष्ट जड़-बुद्धि का भागवत धर्म के सिद्धान्तवादी स्पष्ट रूप से तिरस्कार और निन्दा करते हैं। परम भक्तों के आदर्श रूप में गोपियाँ कृष्ण की विश्वासपात्र पत्नियों के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकतीं। कृष्ण के विषय में पौराणिक गोपियाँ परकीया थीं या नहीं, यह महत्वहीन है, क्योंकि वे पवित्र और निःस्वार्थ पत्नीव्रत की प्रतीक हैं। नारद के विवेचन के अनुसार यह दाम्पत्य प्रेम अन्य सभी प्रेमों से श्रेष्ठ है—

"श्रद्धावान सेवक अथवा पत्नी की भाँति पूर्ण निष्ठा से प्रेम का—केवल प्रेम का—आचरण करना चाहिए।"

'नारदभक्तिसूत्र' के ४।५४ में गिनाये गये प्रेम के लक्षणों में 'कामनारहितम्' और 'प्रतिक्षण वर्द्धमानम्' हैं। अतः यद्यपि इसमें शान्ति और परमानन्द (४।६०) रहता है तथापि प्रेमा भक्ति तल्लीनता की निश्चेष्ट स्थिति नहीं अपितु शाश्वत कामना की सक्रिय स्थिति है (४।६६)। यह एकादश भक्तियों की गणना से स्पष्ट है जिसके अन्दर भक्ति के कारण (१।२), उपाय (३।४), भाव अथवा वृत्ति (५।६)—जिनमें सर्वश्रेष्ठ है कान्ता भाव की भक्ति और अन्त में प्रेम के गुण या लक्षण हैं—९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयासक्ति और ११. परमविरहासक्ति। इनमें परमविरहासक्ति भक्ति की पराकाष्ठा है। अतः नारद के लिए केवला रति, जो भगवान् के माधुर्य का उपभोग करती है, भक्ति की चरम स्थिति नहीं है। यहाँ तक कि तन्मयता भी अन्तिम सोपान नहीं है। परमविरहासक्ति ही भक्ति की चरम सीमा है जिससे सद्यः मोक्ष की प्राप्ति होती है, और जिसमें यद्यपि भक्त ईश्वर से नित्यतः संयुक्त हो जाता है तथापि उसे यह अनुभव होता है मानो वह उससे वियुक्त हो। सूक्ष्म दृष्टि से यही वह अवस्था है जो 'भागवत' में वर्णित रास-लीला में गोपियों की है और जो बाद में वैष्णव धर्म के बंगाली-सम्प्रदाय में राधा की है। उदाहरणार्थ गोविन्ददास में—

"रोदति राधा श्याम करि कोरे, हरि हरि कहँ गये प्राणनाथ मोरे..."

अर्थात् श्याम को अपने हाथों में लेकर भी राधा रोती है—'हे हरि! हे हरि मेरे जीवननाथ कहाँ गए?' अतः ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती भागवतों की भक्ति की कल्पना में सर्वाधिक महत्व विरह-तत्व दिया गया और इस धारणा का संबंध तामिल कवि-सन्तों से, जो स्वयं पूर्ववर्ती सूफ़ी धर्म से प्रभावित हुए होंगे, जोड़ा जा सकता है। 'भागवत पुराण' में यही धारणा कृष्ण की गोपियों के साथ प्रेम-लीला के वर्णन में व्यंजित हुई है और आगे चलकर भक्ति के सूत्रग्रन्थों में, विशेषकर 'नारदभक्तिसूत्र' में इसकी शास्त्रीय विवेचना हुई। आलवारों की धार्मिक प्रेरणा, 'नालायिर प्रबन्धम्' के रचयिता नाथमुनि से लेकर रामानुज के आध्यात्मिक गुरु यामुनाचार्य तक के पूर्ववर्ती वैष्णव धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्तों के लिए आधार प्रस्तुत करती है।

नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य, जिनका समय १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवीं का पूर्वार्द्ध है, 'नारदभक्तिसूत्र' के रचयिता के समकालीन हो सकते हैं। वैष्णव दार्शनिकों में

सर्वप्रथम यामुनाचार्य आलवारों की शिक्षा पर काफ़ी आधारित दीख पड़ते हैं। वह एक ऐसे सिद्धान्त के प्रवर्त्तक हैं जिसके अनुसार आत्मा ईश्वर और बहुरूप बाह्य संसार दोनों से भिन्न एक आत्म-चेतन तत्व है और जिसने संसार और ईश्वर के द्वैत का निराकरण किया ही नहीं (दासगुप्त)। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यामुन का ईश्वर और आत्मनिर्भर आत्मा के आदर्श सम्बन्ध के विषय में दृष्टिकोण आलवारों से भिन्न नहीं था और उनकी भक्ति-विषयक धारणा के अन्तर्गत न केवल पूर्ण समर्पण या प्रपत्ति अपितु कामना और विरह भी आते हैं। इसका अनुमोदन एक पंक्ति के द्वारा होता है जिसका रचयिता होने का श्रेय उन्हें है और जिसे स्वामी त्यागीशानन्द ने अपने 'नारदभक्तिसूत्र' संस्करण में उद्धृत किया है[19] —

दर्शनम् परभक्तिः स्यात् परज्ञानं तु संगमः।
पुनर्विश्लेषभिरुत्वम् परमाभक्तिरुच्यते ।।

"दर्शन परभक्ति है, संयोग परज्ञान है, और पुनः वियुक्त होने का भय परमा-भक्ति है।" यह कथन 'नारदभक्तिसूत्र' के अनुकूल है जो भक्ति के सोपानों में परम-विरह को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान करता है। इसमें तनिक सन्देह है कि आलवारों का रहस्यवाद किसी भी प्रकार के विश्वदेवतावाद के लिए स्थान नहीं छोड़ता और इस तर्क के अनुसार वेदान्त के अद्वैतवाद से सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। यह जानना रोचक है कि रामानुज के आध्यात्मिक पूर्वज यामुनाचार्य ने इस प्रकार के सामंजस्य का प्रयास ही नहीं किया अपितु स्पष्टतः ईश्वर से भिन्न, फिर भी उस पर पूर्णरूपेण निर्भर एक सत्ता के रूप में जीवात्मा की नित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। भक्ति की शास्त्रीय विवेचना करने वाले पंडितों ने आलवारों के समय से ही भक्ति की गत्यात्मक धारणा बनायी थी जिसकी चरम स्थिति शान्ति की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व है— ईश्वर-प्राप्ति में भी एक अतृप्त पिपासा, अलौकिक प्रेमी के पूर्णतर ज्ञान के लिए एक निरन्तर कामना है। अतः लोकोत्तर प्रेम में परितुष्टि नहीं। यह तो ऐसी विरहिणी अथवा अपने देवता के वियोग-दुःख से सतत पीड़ित और उसके दर्शन-सुख का उपभोग करते हुए भी उसी की कामना में आसक्त विश्वासपात्र पत्नी का चरित्र है जो आलवारों के और उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों के लिए लोकोत्तर प्रेम का सबसे उपयुक्त प्रतीक है।

जबकि रामानुज से लेकर महान् वैष्णव आचार्य भक्ति की बौद्धिक और निश्चेष्ट धारणा ग्रहण कर रहे थे और वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ उसका समन्वय कर रहे थे उस समय तामिल कवियों की लोकोत्तर प्रेम की विशिष्ट धारणा दक्षिण से लेकर उत्तर तक, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी भारत में, जहाँ पर यह धारा इस्लाम के अद्वैतवाद और सूफ़ी रहस्यवाद के प्रत्यक्ष प्रभाव से बल पा चुकी थी, अधिकांश धार्मिक साहित्य को प्रेरित कर रही थी। यह धारणा एक व्यक्तिगत ईश्वर के लिए वैयक्तिक आत्मा की कामना पर और उन कवियों के विशिष्ट प्रेम-प्रतीकवाद पर बल देती थी। इसमें विरहणी के चरित्र को प्रधानता दी गयी थी। राजस्थान की कवियित्री मीरा आण्डाल की उत्तरी प्रतिरूप हैं। यह कि 'भागवत पुराण' उस धार्मिक

१९. मद्रास, १९५२, पृष्ठ ४६।

धारा का अद्वितीय और मौलिक उद्गम नहीं है इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि उक्त धारा उन साहित्यों में—उदाहरणार्थ कबीर और उत्तरी भारत के सन्तों के दोहों और पदों में भी प्राप्य है जिन पर 'भागवत पुराण' का ऋण बिल्कुल नहीं अथवा अत्यल्प है।

उत्तरी भारत की सभी भाषाओं में, विशेषरूप से १४वीं से १७वीं शताब्दी तक, विरह-प्रधान रहस्यवादी साहित्य की असाधारण वृद्धि यह स्पष्ट प्रदर्शित करती है कि दक्षिण से उत्तर तक की जनता की धार्मिक चेतना प्रेम-प्रतीकवाद के एक विशिष्ट स्वरूप से लिपटी हुई है जो ईश्वर और ससीम आत्मा के शाश्वत भेद पर और उनके सम्बन्ध की अपूर्व अपरिवर्तनीयता पर ज़ोर देता है और जो प्राचीन भागवत धर्म में इतः पूर्व अज्ञात था।

●

तृतीय खण्ड : साहित्य

विश्वनाथ प्रसाद

हिंदी के विकास की कुछ झाँकियाँ

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विषय में प्रायः अनुमान किया जाता है कि उनमें से प्रत्येक किसी न किसी प्राकृत या अपभ्रंश से विकसित हुई है। कुछ लोग हिन्दी के विषय में भी ऐसा ही विचार करते हैं। परन्तु हिन्दी में निश्चित रूप से किसी एक ही प्राकृत या अपभ्रंश के रूप और लक्षण न मिलने के कारण उसे उनमें से किसी एक से ही व्युत्पन्न मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यूरोप की 'रोमांस' कुल की भाषाओं के समान हिन्दी वस्तुतः संक्रमण की प्रणाली से विकसित हुई है, व्युत्क्रमण की प्रणाली से नहीं। उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' के अनुसार ८वीं-९वीं शताब्दी में कम से कम सोलह प्रादेशिक भाषाएँ या बोलियाँ व्यवहृत थीं। उत्तर में पंजाब और पूर्व में बिहार-बंगाल के बीच की भाषाएँ और बोलियाँ बोल-चाल के रूप में अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताओं के बावजूद भी शनैः-शनैः एक समान आदर्श की ओर उन्मुख होती जा रही थीं। ८वीं से १२वीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि इसी प्रवृत्ति के कारण उस समय की साहित्यिक भाषा का बहुत कुछ अंशों में आदर्शीकरण हो चुका था और लिखित रूप में उनके स्थानीय भेदों में बहुत अधिक अन्तर नहीं रह गया था। साहित्यिक व्यवहार के लिए एक समान भाषा के रूप में हिन्दी का आविर्भाव उस समय के अपभ्रंश ग्रंथों में स्पष्टतः परिलक्षित है। संक्रमण की इस प्रणाली से हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के उदय और विकास के सर्वोत्तम प्रमाण हमें मिलते हैं सिद्ध कवियों की कृतियों में। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्राचीन से प्राचीन रूप हमें उन्हीं के ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

सन् १९१६ ई० में स्वर्गीय पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से सिद्ध कवियों के कुछ ग्रंथों के संग्रह के प्रकाशन के उपरान्त उनकी भाषा के सम्बन्ध में नाना प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। स्वयं शास्त्री महोदय तथा कुछ अन्य विद्वानों ने उसे बँगला का आदि रूप समझा। इसके विपरीत दूसरे महानुभावों ने उनमें उड़िया या मैथिली या भोजपुरी या मगही के प्राचीन रूपों के दर्शन किये। सच तो यह है कि इन पूर्वीय भाषाओं में बहुत कुछ समता है और ये सभी मागधी अपभ्रंश से ही सम्बद्ध हैं जिसके स्थानीय रूपों में उस समय बहुत अन्तर नहीं प्रकट हुए थे। इसलिए इन ग्रंथों के अनेक प्रयोगों में इनमें से किसी एक या अन्य के कुछ रूप या विकास के लक्षण ढूंढ़ निकालना सहज ही संभव है। पर इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की जो बात है वह यह है कि इन सिद्ध ग्रंथों में से अधिकांश बिहार के प्रसिद्ध विद्यापीठ नालन्दा और विक्रमशिला में ही लिखे गये थे और इनके बहुतेरे लेखक इन्हीं क्षेत्रों के निवासी थे। इसलिए इस अनुमान में निश्चय ही विशेष बल आ जाता है कि उन लोगों की आधारभूत

भाषा उस समय की प्रचलित मागधी या मगही का ही कोई रूप रही होगी। उसी की नींव पर उन लोगों ने अपनी रचनाओं में पश्चिमी अपभ्रंशों के आदर्शीकृत रूपों तथा पार्श्ववर्ती पश्चिमी प्रदेशों के प्रचलित रूपों का निधड़क मिश्रण करके एक ऐसी साहित्यिक शैली का विकास किया जिसके माध्यम से वे अपने विचारों को अधिक विस्तीर्ण जनवर्ग तक पहुँचा सकते थे और उन्हें प्रभावित कर सकते थे। फलतः एक ही रचना के दर्पण में अनेक रूपों की झलक दिखायी पड़ती है। वास्तव में हिन्दी इसी प्रकार के स्वाभाविक और यादृच्छिक मिश्रणों का परिणाम है, जिसके प्राचीनतम नमूनों का साक्ष्य हमें सिद्ध-साहित्य में मिलता है।

स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल तथा श्री राहुल सांकृत्यायन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इन सिद्ध कवियों में हिन्दी के उद्गम और विकास की ओर तथा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि इनके द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य का आदि काल प्रामाणिक रूप से पीछे हटकर ८वीं शताब्दी ईस्वी में जा पहुँचता है। इन रचनाओं में से जो सबसे पुरानी हैं उनमें भी हिन्दी के साथ उनके भाषा-साम्य को प्रकट करने वाली ऐसी बहुतेरी पंक्तियाँ हैं: जैसे, "जहि मण पवण ण संचरै" आदि जो एक स्वर या एक व्यंजन के परिवर्तन मात्र से (इस उदाहरण में केवल 'ण' के स्थान में 'न' और जहि के 'अ' के स्थान में 'ए') बहुत परवर्ती काल की विकसित हिन्दी के रूप में परिणत हो जाती हैं।[१] राहुल जी ने अपनी 'हिन्दी काव्य-धारा' में सिद्ध कवियों की थोड़ी सी चुनी हुई रचनाओं के नमूनों की जो हिन्दी छाया दी है, उनकी ओर एक नज़र डालने से भी इस बात की पुष्टि के प्रमाण मिल जायँगे। वे तिब्बत से सिद्ध-साहित्य की जो हस्तलिखित प्रतियाँ ले आये थे, उनमें कई ऐसे विशेष लक्षण वाले रूप मिलते हैं जो शास्त्री, बागची और शहीदुल्ला के संस्करणों में दिये हुए रूपों से भिन्न हैं और मगही तथा हिन्दी रूपों से अधिक सामीप्य और सादृश्य प्रदर्शित करते हैं। ये तिब्बती हस्तलिखित प्रतियाँ[२] कुटिलाक्षरों में लिखी हुई हैं जो ९वीं से १३वीं शताब्दी तक प्रचलित थे और नैपाली हस्तलेखों से अधिक प्राचीन तथा भाषा के अध्ययन के लिए अधिक प्रामाणिक हैं। सिद्ध-साहित्य में हिन्दी या मागधी-हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्गम स्रोत के अस्तित्व के पक्ष में जो सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण दिया जा सकता है वह यह है कि उनमें जो साहित्य-रूप और छन्द प्रयुक्त हुए हैं, विशेषकर दोहा, पद्धरि[३] और पद, उनकी परम्पराएँ हिन्दी में ही सुरक्षित और विकसित पायी जाती हैं तथा उनके रागात्मक तत्व बँगला और उड़िया की अपेक्षा हिन्दी ध्वनियों के अधिक अनुरूप हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे रूप भी हैं जो स्पष्टतः मगही या बिहारी रूप हैं, जैसे—**पड़िल, बुड़िल, घरे घरे, एत्थ, एथु** (अत्र), **जे, जबे** (जब), **तबे** (तब), **अइसे, अइसनि, कइसनि, मातेल** (मत्त) आदि। मूर्धन्य 'ण' के साथ

---

१. 'जहि' या ह्रस्व एकारान्त 'जेहि' शब्द से ही तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' का श्री गणेश किया है—मिलाइए : 'जेहि सुमिरत सिधि होय।' **२. तिब्बती हस्तलेखों पर आधारित सरहपा की कृतियों का राहुल जी द्वारा सम्पादित एक संस्करण बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हुआ है।** **३. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में पद्धरियों का विकास चौपाई के रूप में हुआ।**

ही साथ 'न' वाले रूप भी मिलते हैं, जैसे—णहि और न, नाहि आदि। हिन्दी के दन्त्य 'स' वाले तद्भव रूपों के अनेक उदाहरण बतिस, परबस, चौसठ, सुभासुभ आदि शब्दों में मिलते हैं। भाषा के रूपों के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि इस काल में विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से प्रारंभ हो गयी थीं। संज्ञा, विशेषण और कृदन्त के अविभक्तिक रूपों के ऐसे बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं जो विशेषणवत् प्रयुक्त होते हुए भी अपने रूपों में लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं प्रदर्शित करते। यह अपभ्रंश की अवस्था से हिन्दी की उत्पत्ति और विकास का एक स्पष्ट भेदक लक्षण है।

ये सिद्ध कवि बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय के थे जो सहजयान की एक शाखा था और इन्होंने महासुखवाद तथा शून्यवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों का एक सन्धानात्मक तथा रहस्यात्मक शैली में प्रचार किया जिसे 'सन्धा भाषा' (अर्थात् खोज की भाषा) संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें जिन विशेष रूपकों, उपमाओं और संकेतों का प्रयोग किया गया है उनका अभिप्राय यही था कि उनके धार्मिक सिद्धान्तों की ओर साधारण जनता का ध्यान प्रभावशाली ढंग से आकर्षित हो। उन्होंने इसी उद्देश्य से अपनी साहित्यिक रचनाओं में इस बात का प्रयत्न किया कि उनकी भाषा यथासंभव साधारण जनता की भाषा के निकट रहे। इस भाषा में तत्सम रूपों की अपेक्षा तद्भव रूपों की अधिकता इसी प्रवृत्ति का फल है।

इन सिद्ध कवियों में सबसे प्राचीन थे सरहपा (८वीं शताब्दी ईस्वी) जिनके दो और वैकल्पिक नाम—सरोजवज्र पाद और राहुलभद्र ग्रंथों में उल्लिखित हैं। ये नालन्दा में रहते थे, पर पीछे गुन्तूर ज़िले के श्री पर्वत पर रहने लगे। वज्रयान-सिद्धान्त पर उनके बत्तीस ग्रंथ तिब्बती तंजूर में अनुवादित मिलते हैं। इनमें से कम से कम सोलह, जिनकी सूची राहुल जी ने दी है, मगही-हिन्दी से अनुवादित किये गये थे। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—दोहाकोष, काया-कोष, अमृतवज्र गीति, सरहपाद-गीतिका, चर्यागीतिदोहाकोष और महामुद्रोपदेश-दोहाकोष। उन्होंने अपने ग्रंथों में जातिवाद, पुस्तकस्था विद्या, निरर्थक अन्धविश्वास और बहुदेवदेवीवाद तथा विधिवितंडावाद की तीव्र आलोचना की है।

इनके शिष्य शबरपा (९वीं शताब्दी ई०) के भी छः ग्रंथ मगही-हिन्दी-मिश्रित भाषा में लिखे हुए मिलते हैं, जिनमें कई सरल सुन्दर गीत हैं। शबरपा के शिष्य थे लुइपा, जिनके पाँच ग्रंथों के अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलते हैं। उन्होंने बड़े सूक्ष्म और सटीक संकेतों द्वारा गुरु और ब्रह्म की महिमा का बखान किया है। चौरासी सिद्धों में उन्हें प्रथम स्थान देकर उनके प्रभाव को मान्यता प्रदान की गयी है। इनके अतिरिक्त भूसुकपा ने भी, जिनका दूसरा नाम था शान्ति-देव, मिश्रित लोक-भाषा में 'सहजगीति' नामक एक ग्रंथ लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलता है।

सरहपा, कण्हपा आदि इन सिद्ध कवियों के अतिरिक्त नालन्दा के करणरीपा, विरूपा, डोम्बिपा, महीपा और ककंणपा, भंगल (भागलपुर) के जयानन्द, वैशाली के दीपंकरश्रीज्ञान, वैशाली के तिलोपा और गदाधर, विक्रमशिला के धम्पा, मिथिला के हरिब्रह्म और ओदन्तपुर (बिहार) के शान्तिपा के नाम उल्लेखनीय हैं। शान्तिपा इतने प्रकांड विद्वान् थे कि उन्हें

कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि मिली थी और विक्रशिला विश्वविद्यालय के वे द्वारपंडित नियुक्त किये गये थे। ये सभी ९ वीं से ११वीं शताब्दी के बीच हुए थे। बख़्तियार ने नालन्दा और विक्रमशिला पर जब चढ़ाई की तो ये सभी अपने ग्रंथों के साथ तिब्बत भाग गये। वहाँ इनकी कृतियों का पूरा सम्मान हुआ। वे या तो मूल या अनुवादित रूप में वहाँ सुरक्षित रहीं। बीस सिद्ध कवियों की अतिरिक्त सूची में चौरंगीपा का भी नाम आता है। नाथपंथ के सन्तों में भी चौरंगीनाथ का नाम लिया जाता है। इनके 'प्राणसंकली'[४] नामक ग्रंथ में हिन्दी गद्य के प्राचीनतम नमूने मिलते हैं जिनमें भोजपुरी और राजस्थानी के भी बहुतेरे रूप मिश्रित हैं।

सिद्ध कवियों से गोरखनाथ का जो अविच्छिन्न सम्बन्ध था, उसने पंजाब तथा पश्चिमी राजस्थान से लेकर पूर्वी बंगाल तक उनके प्रभाव के प्रसार में जोड़ने वाली जंज़ीर की कड़ी का काम किया। सिद्ध कवियों के पदों और छन्दों का प्रभाव विद्यापति तथा हिन्दी के सूर, तुलसी, कबीर आदि भक्त और सन्त कवियों तथा बंगाल और आसाम के ब्रजबुलि साहित्य पर भी पड़ा। उनके पद, दोहे और चौपाइयों में वही परम्परा जीवित रही। उनकी वाणी में अन्धविश्वासों, संकीर्णताओं और जातीय कट्टरताओं के प्रति वही विरोध की भावना जाग्रत रही। हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्गम की इन झाँकियों का यथार्थ मूल्यांकन तो तभी हो सकेगा जब उपर्युक्त समस्त साहित्य का प्रकाशन हिन्दी में हो सके।

इसके उपरान्त हम ज्योतिरीश्वर (१३२५ ई०) और विद्यापति (१३६० से १४९८ ई०) के युग में पहुँचते हैं जिनकी रचनाएँ जितनी मैथिली से संबद्ध हैं, उतनी ही हिन्दी से भी।[५] इस बात की विशेष व्याख्या का अवसर तो यहाँ नहीं है, फिर भी प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि जिस अवहट्ट में ज्योतिरीश्वर ने अपना 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' लिखी थी, वह अपभ्रंश का ही परवर्ती विकास था, जिसमें एक ओर तो पुरानी मैथिली के तत्व थे, जैसे 'ल' वाले भूतकालिक रूप जो मगही, भोजपुरी आदि अन्य मागधी बोलियों में भी समान रूप से पाये जाते हैं और दूसरी ओर पश्चिमी शौरसेनी रूपों के भी तत्व हैं। आधार रूप में यह भी वही अवहट्ट है, जिसका प्रयोग अब्दुर्रहमान के 'सन्देशरासक' (१३वीं शताब्दी ईस्वी) तथा 'प्राकृत-पैंगलम्' के उदाहरणों में मिलता है, जिनका रचना-काल ११वीं से १४वीं शताब्दी है। इसमें एक ओर जहाँ सम्बन्ध के चिह्न क और के पाये जाते हैं, जो मागधी बोलियों की विशेषता हैं तो दूसरी ओर **को, का, कर, करी** और **करे**—सम्बन्ध के इन परसर्गों के भी बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं, जो निश्चय ही ब्रजभाषा और अवधी में पाये जाने वाले हिन्दी के रूप हैं।

---

४. दे० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०, पृ० १३७-३८। ५. विद्यापति ने अपनी पदावली विशुद्ध मैथिली में नहीं, बँगला में नहीं, वरन् हिन्दी-मिश्रित एक व्यापक भाषा में लिखी थी, जिसमें इन सबके तत्व विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में दे० डा० सुकुमार सेन : ब्रजबोली की कहानी, भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५६ ई०, पृ० ७१-८४।

सामान्य वर्तमान के **कहइ, होइ, पालै, राखै** आदि और ह में अन्त होने वाले **करहि, बुज्झिह, परिज्जिह** आदि रूप पश्चिमी शौरसेनी में समान रूप से व्यवहृत हैं। 'कीर्तिलता' में हिन्दी सर्वनामों के कई प्राचीन रूपों के भी स्वच्छन्द प्रयोग मिलते हैं, जैसे, **जो, जेन, जसु, तसु, तासु, तुम्ह, केहु, काहु** आदि। विद्यापति के अवहट्ट में "वीर छत्र देखन को कारन सुरगन सोये, गगन तरू" इस प्रकार के अनेक वाक्य मिलते हैं, जिनमें मैथिली के साथ हिन्दी के कई स्पष्ट रूपों के मिश्रण के दृष्टान्त मिलते हैं। ज्योतिरीश्वर के गद्यग्रंथ 'वर्णरत्नाकर' में भी मैथिली रूपों के साथ कई ऐसे प्रयोग हैं, जो समान रूप से हिन्दी में पाये जाते हैं। वास्तव में जिस अवहट्ट भाषा में इन लेखकों ने लिखा है वह एक अखिल भारतीय भाषा थी, जो अपने आधारभूत स्थानीय रूपों के साथ अपनी अभिन्नता की रक्षा करती हुई भी व्यापकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थानों में व्यवहृत बोलियों के रूपों को भी ग्रहण करती गयी थी। इस अर्थ में वह किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं, वरन् विविध प्रादेशिक बोलियों के-जैसे, राजस्थानी, गुजराती, नेपाली हिन्दी, मैथिली तथा हिन्दी-क्षेत्र की अन्यान्य बोलियों के विकास की प्रारंभिक अवस्था का समान स्रोत थी। पूर्वी प्रदेश की ओर बंगाल, आसाम[६] और उड़ीसा[७] में भी अपने व्यवहार-क्षेत्र का विस्तार करती हुई इसने 'ब्रजबुलि' या 'ब्रजबोली' संज्ञा ग्रहण कर ली, जो पश्चिमी हिन्दी की ओर निश्चित रूप से झुकी हुई थी।[८] अवहट्ट और ब्रजबोली के सारूप्य-सम्बन्ध को 'कीर्तिलता' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वस्तुतः ब्रजबोली अवहट्ट का ही विकसित रूप थी।

'कीर्तिलता' के पहले भी ब्रजबुलि के व्यवहार का उदाहरण बिहार के प्रसिद्ध कवि उमापति (१४वीं शताब्दी ई०) के गीति-नाटक 'पारिजात-मंगल' में मिलता है जिसके गीत हिन्दी और मैथिली-मिश्रित ब्रजबुलि में ही रचे गये थे।

वस्तुतः गद्य और पद्य दोनों में इन ग्रंथों की तत्सम शब्दों से भरी हुई अलंकृत शैली एक

---

६. शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव (१४वीं शताब्दी ई०) ने असमी-मिश्रित ब्रजबुलि में काव्य-रचना की। शंकरदेव की ब्रजबुलि के नमूने के रूप में ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं—
"पद पंकज मंजिरे सुरे हरय चित्त हामार। शंकर कर छाड़ विरह केहि जग आधार।।"
७. उड़ीसा में हमें रामानन्द राय (१५वीं शताब्दी ई०) के ग्रंथ मिलते हैं जिनमें ब्रजबुलि का व्यवहार किया गया है। ८. ब्रजबुलि को दिनेशचन्द्र सेन ने बँगला का रूप नहीं, वरन् 'बंगाली का सम्यक्कृत हिन्दी-रूप' (thoroughly Hindi-ized form of Bengali) **कहा है। दे० उनका—बंगाली लेंग्वेज एंड लिटरेचर, कलकत्ता, १९५४ ई०, पृ० ५३ तथा ५०८—५०९। यही नहीं, उन्होंने बँगला के बहुतेरे वैष्णव कवियों की भाषा पर हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव बताया है और 'काहाँ', 'ताहाँ', 'कवलूँ', 'हइलूँ' जैसे रूपों तथा बँगला में बहुवचन के लिए प्रयुक्त कारक-चिह्न 'दिग' को इसके उदाहरण में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त ब्रजबुलि में खड़ीबोली, ब्रजभाषा, मैथिली और बँगला के मिश्रण के संबंध में दे० सुकुमार सेन; ए हिस्ट्री ऑफ़ बंगाली लिटरेचर, कलकत्ता, १९५३ ई०, पृ० १ तथा भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५६, पृ० ७७।**

ऐसी सुविकसित परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा का परिचायक है जो पूर्व में आसाम और पश्चिम में गुजरात के बीच के समस्त प्रदेश में समान रूप से व्यवहृत थी और जो इस विस्तीर्ण प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति की साधन थी। दामोदर शर्मा के 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' (१२वीं शताब्दी ई०) में भी जो भोजपुरी में लिखा हुआ है, यही तत्सम-प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। पश्चिमी शौरसेनी क्षेत्र में 'कुवलयमालाकथा' (९वीं शताब्दी ई०) और तरुणप्रभसूरि की 'भद्रकथा' (१४वीं शताब्दी ई०) का प्रमाण मिलता है, जिनमें देशी और तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है।

यह ध्यान देने की बात है कि विद्यापति की पदावली को हिन्दी के सभी विद्वानों ने हिन्दी के प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रंथों में परिगणित किया। इसकी पुष्टि में यह कहा गया है कि क्रिया-पद आदि के कुछ व्याकरणिक रूपों में अन्तर रहते हुए भी मैथिली की शब्दावली की हिन्दी से वैसी ही समानता है जैसी ब्रजभाषा, कनौजी और अवधी से और इस प्रकार विद्यापति की पदावली' पर हिन्दी साहित्य का वैसा ही दावा है जैसा 'बीसल देवरासो' पर।[१] परन्तु यह विचारणीय है कि विद्यापति के अतिरिक्त मैथिली के अन्य प्रसिद्ध साहित्यकारों की ओर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अब तक कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उनमें हिन्दी के विकास के जो रूप हमें मिलते हैं, जो झाँकियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे कदापि नगण्य नहीं हैं और उनकी ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अविलंब जाना चाहिए।

इन अवहट्ट ग्रंथों में भाषा के विकास के एक और महत्वपूर्ण पक्ष की ओर भी मैं ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस काल की भाषा पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से पड़ने लगा था, जैसा कि इनके वर्णनों में अरबी और फ़ारसी के बहुतेरे शब्दों के व्यवहार से प्रकट होता है। 'वर्णरत्नाकर' और 'कीर्तिलता' दोनों में **तीर, तुलुक** (तुर्क), **ख्वाजु, ओहदा, अदव** (अदब), **दर, सदर, देमान** (दिवान) जैसे बहुतेरे रोज़मर्रे के आगत शब्द पाये जाते हैं।

पूर्वी प्रदेशों में भाषा-सम्मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा एक सामान्य मिश्रित भाषा—खड़ी बोली हिन्दी के विकास की दिशा में सूफ़ी मत के प्रचारकों की देन का महत्व उल्लेखनीय है। उनके शागिर्दों द्वारा उल्लिखित उनकी उक्तियों तथा रचनाओं में हमें भाषा-समीकरण के सच्चे नमूने और प्रामाणिक उदाहरण मिलते हैं। साधारण बोलचाल में प्रचलित हिन्दी के ऐसे सामान्य शब्द ही नहीं जैसे, **भात, खिचड़ी, खाट, चारपाई, डोला, खिड़की, लँगोटी** आदि और ऐसे बहुतेरे देशी व्यक्तिवाचक नाम ही नहीं, जैसे **छज्जू गवाई, बीबी पुजारी, भीखन प्यारा (पिआरा) जोहन, मौलाना नाथन** आदि, वरन् उनके द्वारा स्वेच्छोच्चरित हिन्दी के पूरे-पूरे वाक्य और स्वरचित या उद्धृत दोहरे भी मिलते हैं।

परन्तु इसे मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी (११९८ ई०) आदि मुस्लिम आक्रमणकारियों की विजय का प्रभाव या परिणाम मान बैठना उचित नहीं होगा। सच बात तो यह है कि अपने आक्रमण के सौ वर्षों के भीतर ही इन मुसलमानों ने वास्तविक देशानुराग और भार-

---

१. रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास, वि० सं० २०१२, पृ० ५७।

तीय भावना को अपनाकर अपने को पूर्णतः भारतीय रंग में रँग डाला था। उनके बीच अमीर-खुसरू (१२५५ ई०) जैसे हिन्दी कवि का आविर्भाव इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि उसके नाम से प्रचलित रचना का अल्पांश भी सत्य हो तो वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उसकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति शत-प्रतिशत भारतीय थी।

यह वह समय था जबकि पश्चिम की ओर से कई सूफ़ी फ़कीर पूर्व की ओर आ चुके थे और वहाँ की जनमंडली में उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। जनता के लिए अपनी बातों को सुबोध बनाने के लिए और उनके हृदय में प्रवेश पाने के लिए उन्हें भाषा के एक ऐसे रूप का प्रयोग करना पड़ा जो अधिक से अधिक लोगों के द्वारा आसानी से समझा जा सकता हो। पश्चिमी हिन्दी से वे पहले से ही थोड़ा-बहुत परिचित थे, क्योंकि देश के पश्चिमी भाग की जनता के संसर्ग और संपर्क में वे पहले ही आ चुके । जब वे पूर्वी प्रदेशों में आए तो लिखित और उच्चरित दोनों ही रूपों में हिन्दी का व्यवहार करते समय वे उसमें स्थानीय प्रयोगों का मिश्रण करने लगे। इस तरह शब्दावली में दो प्रकार के मिश्रण उनके द्वारा सहज भाव से होने लगे—एक तो उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध तुर्की, अरबी और फ़ारसी शब्दों के, जो सर्वथा स्वाभाविक बात थी और दूसरे अवधी, भोजपुरी तथा अन्य पूर्वी भाषाओं और बोलियों के प्रयोगों के। हिन्दी के विकास में भाषायी मिश्रण और सम्बद्धता की इस प्रवृत्ति और प्रक्रिया का बड़ा सुन्दर निदर्शन[10] हमें इन सूफ़ी सन्तों के फ़ारसी में लिखे हुए पत्रों (मलफ़ूज़ात) तथा उपदेशात्मक वाणियों (मकतूबात) में मिलते हैं, जिनमें पद्य और गद्य दोनों ही रूपों में हिन्दी की उदाहरणीय सूक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं।[11] यह ध्यान देने की बात है कि स्वतः इन सूक्तियों में विदेशी उद्‌गम के शब्दों का व्यवहार जान-बूझ कर नहीं किया गया है। इन सूफ़ी सन्तों में से बहुतेरे अभी अज्ञात ही हैं और उनकी लिखित सामग्री बहुत कुछ अंधकार में ही पड़ी हुई है। इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त हिन्दी के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरणों का थोड़ा संकेत यहाँ रुचिकर और उपयुक्त होगा।

बिहार के १४वीं शताब्दी के सूफ़ी सन्त हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद मनेरी के सब से पुराने मलफ़ूज़ात 'मआदन्-उल-मआनी' में किसी मजमें के बयान के सिलसिले में एक रोचक घटना का वर्णन है। मौलाना जलालुद्दीन मुल्तानी ने बताया कि किसी हिन्दू कवि ने विवेच्य विषय को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है। पूछे जाने पर उन्होंने किसी दोहे का यह अंश उद्धृत किया—

---

१०. कबीर (१३९८-१५१७ ई०) ने इस भाषा-मिश्रण की प्रक्रिया को पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ अपनी रचनाओं में चरितार्थ किया है और एक उदार दायरे के भीतर पंजाबी, राजस्थानी, खड़ीबोली, अवधी, पूर्वी (भोजपुरी आदि) सभी के प्रयोगों को समाबद्ध कर लिया है। इसे केवल सधुक्कड़ी कह कर टाल देना (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ९७) हिन्दी के विकास और प्रसार के विषय में एक बहुत बड़े तथ्य से मुंह मोड़ लेना है।

११. पटने के मेरे मित्र प्रो० हसन हसकरी साहब ने ऐसे अनेक महत्वपूर्ण मलफ़ूज़ों और मकतूबों की खोज की है और उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रसंग में प्रधानतः उसी सामग्री का संकेत किया गया है।

'बाट भली पर साँकरी'[12] अर्थात् राह वही अच्छी होती है जो सँकरी हो। इस पर सन्त ने दूसरे अंश के लिए ठहरे बिना उत्तर दिया, 'देस भला पर दूर' अर्थात् देश वही अच्छा होता है जो दूर का हो।

इससे उस ज़माने में पश्चिम में मुलतान से लेकर पूर्व में बिहार तक हिन्दी के विस्तीर्ण प्रसार और लोकप्रियता का पता चलता है।

हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद मनेरी के शागिर्द हज़रत मौलाना मुज़फ़्फ़र शम्स बल्ख़ी (बिहार के मख़दूम, १४वीं शताब्दी ई०) ने पत्रों के अपने संग्रह में (मौलाना कर्मुद्दीन के नाम से लिखे हुए १२१ वें पत्र में) एक कमाच या एकतारा बजानेवाले का वर्णन किया है, जो हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद के पास आया और उसने अपना मामूली-सा बाजा बजाते हुए निम्नलिखित दोहरा[13] गा सुनाया—

एकत कन्दी बेधना भूतर भरके काइँ।
चिताहीन इच्छा मरन...तितही न्हाइँ।।

जान पड़ता है, इसके भी कुछ शब्द छूट गये हैं या बदल गये हैं। शब्दों से ऐसा अर्थ प्रकट होता है कि एक छोटे-से कंडे ने समस्त संसार के शरीर को बेध दिया है और एक स्वेच्छानुकूल चिताहीन मृत्यु की स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ पहुँच कर लोग उसीमें स्नान करते या निमग्न हो जाते हैं। इसमें उस समाधि की अवस्था का संकेत है जिसमें साधक इच्छानुसार मृत्यु का आलिंगन करता है अर्थात् अपनी हस्ती मिटा डालता है और बिना चिता के ही अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न कर डालता है।

इस उक्ति की रहस्यात्मक भावना ने उस सन्त के मर्म को इस प्रकार स्पर्श कर लिया कि वह बिलकुल द्रवीभूत हो गया और आँसू बहाने लगा।

इससे पता चलता है कि हिन्दी के दोहे कितनी आसानी से मुस्लिम फ़क़ीरों द्वारा समझ लिये जाते थे और वे कितनी भावुकता से उनका अर्थ-ग्रहण और रसास्वादन करते थे।

हज़रत मुज़फ़्फ़र शम्स बल्ख़ी के नाम से कई किताबें और उक्तियाँ प्रचलित हैं, जिनमें उनके हिन्दी 'चुटकुले', 'नुस्ख़े', 'फलनाम' (फलादेश) और 'तबीर ख़्वाब' (स्वप्न-विचार) उल्लेखनीय हैं। परन्तु इनकी हस्तलिपि दो सौ वर्षों से पुरानी नहीं है। उनका निम्नलिखित दोहरा शाह मनौअर द्वारा उद्धृत किया गया है, जो शाहदौलत मनेरी के पुत्र थे। ये अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। इनका सुन्दर मक़बरा मनेरशरीफ़ में अब भी विद्यमान है।

---

१२. ये उद्धरण कबीर के निर्देशों का स्मरण दिलाते हैं जिसके अनुसार 'प्रेम-गली अति साँकरी' होती है, क्योंकि 'ता में दो न समाहिं' तथा दूर का एक ऐसा देश है, जिसमें रैन नहीं होती और जो 'बिराना' नहीं अपना देश है। १३. दोहरा या दोहा उस समय का सबसे अधिक प्रचलित और लोक-प्रिय छन्द था, जिसने जान पड़ता है, इन सूफ़ी सन्तों का मन मोह लिया था।

काला हंसा निरमला बसै समुन्दर तीर।
पंख पसारै बिख हरै निरमल करै सरीर॥
दर्द रहै ना पीर॥

अर्थात् वह काले रंग का निर्मल हंस समुद्र के तीर पर रहता है। वह अपने पंख फैलाता है, विष हर लेता है और शरीर को निर्विकार कर देता है, जिससे न दर्द रह जाता है न पीड़ा।

बोलचाल में व्यवहृत रोज़मर्रे की हिन्दी का एक नमूना हज़रत क़ाज़ी सुत्तर (१३८५ ई०) की किताब 'माअदन्-उल-असरार' में मिलता है। इनकी क़ब्र मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले के बनिया-बसाढ़ में मौजूद है। उन्होंने हिन्दी का निम्नलिखित वाक्य १४वीं शताब्दी के ऊछ-निवासी फ़क़ीर मखदूम जलालुद्दीन बुख़ारी द्वारा उच्चरित बताया है। फ़ीरोज़ शाह तुग़लक इन्हें अपना गुरु मानता था। वह वाक्य है—खंदा है फंदा कहाँ?

स्वयं हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद मनेरी का भी एक सुन्दर अर्थपूर्ण वाक्य उनके एक समसामयिक शागिर्द के लिखे हुए 'मुक्तबाते सादी' की हस्तलिखित प्रति के हाशिये पर अंकित है, जो फतुहा खानकाह के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

हज़रत ख़्वाजा अज़ीज़ुल्ला के मलफ़ूज़ 'राहत-उल्-अरवाह' में, जिसकी हस्तलिखित प्रति १६७३ ई० की है, पाक पट्टन के बाबा फ़रीद शकरगंज (१५वीं शताब्दी ई०) की पंक्तियाँ दी हुई हैं,[१४] जिनको हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद मनेरी (१२६२-१३८० ई०) ने उद्धृत किया था—

कलहा लबड़ी बावली बन्दी करे न लज्ज।
जोहा खोय न पाइए निरगुन सबही छज्ज।

अर्थात् झगड़ालू, मिथ्यावादी, पागल तथा बन्धन में पड़े हुए निर्लज्ज होते हैं। उस सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व को वे खोजकर भी खो देते हैं और प्राप्त नहीं कर पाते।

दोहरा—सात...सुख देखकर लोग कहें दरवेस।
अन्दर तेरी भावले (?) बाहर कोरा भेस॥

लिपिकार के प्रमाद के कारण इस दोहे की प्रथम और दूसरी पंक्ति के पूर्वार्ध के कुछ अंशों के छूट जाने या विकृत हो जाने के कारण इसका अर्थ केवल प्रसंग के सहारे समझा जा सकता है। प्रायः लोग साधु-सन्तों की कोरी बाहरी वेश-भूषा को देख कर भ्रम में पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि उनके अन्दर तो केवल पागलपन का विकार ही विकार है।

बाबा फ़रीद का 'हिन्दी ज़िक्र' उस समय का बहुत ही लोकप्रिय ग्रंथ था, जिसका प्रचार और प्रभाव १७वीं सदी तक क़ायम था। इसका एक बड़ा से बड़ा, प्राचीन से प्राचीन

---

१४. शेख़ फ़रीद की कुछ रचनाएं 'आदि ग्रंथ' में भी संगृहीत हैं।

उल्लेख शेख़ मुहम्मद ग़ौस ग्वाहरी (१६वीं शताब्दी ई०) के 'जवाहिरे ख़म्सा' में मिलता है। ये बिहार के हज़रत हाजी हमीद हुज़ूर (१५वीं शताब्दी) के शागिर्द थे, जिनकी क़ब्र सारन ज़िले के गोपालगंज महकमे के रतनसराय नामक गाँव में मौजूद है। १७वीं सदी के और हस्त-लेखों में भी इसका ज़िक्र आया है, जैसे जमदाहा के सन्त के 'कौवाली लीला' में जिससे मालूम होता है कि बाबा फ़रीद के 'हिन्दी ज़िक्र' का उपयोग उस समय शिक्षा के लिए पाठ्य-ग्रंथ के रूप में दूर-दूर तक किया जाता था।

अम्बेर (बिहार) के मशहूर सूफ़ी सन्त हज़रत अहमद चर्मपोश (चमड़े का कपड़ा पहनने वाले १४वीं शताब्दी ई०) ने, जो हज़रत शर्फ़ुद्दीन अहमद के चेचेरे भाई थे, कई उच्च कोटि की रचनाएँ की थीं, जिनमें उनके रहस्यात्मक अनुभव, उदार सहानुभूति, धार्मिक सहिष्णुता विश्व-बन्धुत्व तथा उन्नत विचार की अभिव्यक्ति हुई है। उनके एक शिष्य शेख़ अल्लाउद्दीन अली-बिन-इब्राहीम द्वारा संगृहीत 'ज़िया-उल्-क़ुलुब' नामक ग्रंथ में उनका एक दोहरा दिया हुआ है जो इस प्रकार है—

मीता मान न मूनिया सिरमनि काहाँ होय।
ऐँही बिधा विदमान मैं नर ना कीनी कोय।।

हस्तलिखित प्रति में इस दोहे का जो पाठ उपलब्ध है, उससे इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता और इसके लिए उसके प्रसंग की अपेक्षा प्रतीत होती है। यहाँ एक बनावटी साधु या फ़क़ीर जो अपने त्याग का प्रदर्शन किया करता है और एक सच्चे सन्त जो बिना किसी अहंकार या दिखावे के सदाचार और विनय के नियमों का अनुसरण करता है, इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "मैं इतना अधिक विद्वान् और बुद्धिमान हूँ कि मेरी बराबरी करने वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ। हे मित्र! जो ऐसा सोचता है उसे, मुनि या फ़कीर न मानो। भला कहीं ऐसा अहंकारी मिथ्याचारी व्यक्ति सन्तों में शिरोमणि हो सकता है?"

आगे बताया गया है कि इस संबंध में जो सत्य है वह इस देश के बुद्धिमान लोगों को, जो हिन्दू धर्म के मर्मज्ञ हैं, अच्छी तरह मालूम है। इन पंक्तियों में जो सौन्दर्य और अमूल्य विवेक है, उससे प्रभावित होकर सन्त ने कहा कि अरबी भाषा में इस तरह की कोई उक्ति नहीं पायी जाती।

इस दोहे में 'काहाँ' शब्द निश्चित रूप से पूर्वी या बिहारी प्रयोग है, जो इसी रूप में शब्द के तक़ाज़े की भी पूर्ति करता है, अपने पश्चिमी 'कहाँ' रूप में नहीं।

संग्रहकर्ता ने 'ज़िया-उल्-क़ुलुब' के एक अवतरण की टिप्पणी करते हुए, जिसमें अपने मूल उद्गम स्थान स्वर्ग के परम पद पर पहुँचकर ईश्वर में विलीन हो जाने के लिए आत्मा की तड़प का वर्णन है, अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। उन्होंने बच्चे के व्यवहार का दृष्टान्त दिया है, जो संसार में जन्म लेते ही 'वहाँ-वहाँ' कह कर रोने और चिल्लाने लगता है और इस प्रकार अपने जिस दिव्य स्रोत से उसका आविर्भाव हुआ है, उसके प्रति अपना आकुल अनुराग और आकर्षण व्यक्त करता है। ऐसे प्रसंगों में इस प्रकार के हिन्दी के

शब्दों का प्रयोग न केवल इन मुस्लिम सन्तों के हिन्दी-ज्ञान का, वरन् भाषा के प्रति उनकी सच्ची रचनात्मक अभिरुचि और सहज सौन्दर्यानुभूति के साधन के रूप में उनकी अभिव्यंजना शक्ति का भी सूचक है, यहाँ तक कि वे अपने मार्मिक उद्गारों, साहित्यिक अलंकरणों और विषय की विवृतियों के लिए हिन्दी का स्वच्छन्द व्यवहार करने लगे थे।

कुछ दूसरे मक़तूबों से गहरी रहस्यानुभूतियों से व्याप्त निम्नलिखित हिन्दी दोहरों के उद्धरण का लोभ संवरण करना यहाँ कठिन प्रतीत होता है—

बाट भली पर साँकरी नगर भला पर दूर।
नाँह भला पर पातरा नारी कर हर चूर॥

इसका अर्थ यह है कि मार्ग संकीर्ण ही अच्छा है, जिससे गुज़रने के लिए दुई को बिलकुल मिटाकर प्रिय से एक हो जाना पड़ता है। देश दूर का ही अच्छा होता है जहाँ जाकर लौटना नहीं है, उसीमें विलीन हो जाना है। बन्धन की रस्सी वही अच्छी है, जो पतली और सूक्ष्म हो। स्त्री के हाथों की चूड़ी वही अच्छी है, जो पतली हो और एक दूसरी से टकराकर आवाज़ न करे। कुछ अन्य दोहरे इस प्रकार हैं।

सागर कोइ पताल पानी लाखन बूंद लखाय।
बजर पड़े यह मथुरा नगरी कान्हा प्यासा जाय॥[१५]
कहा पवन एँ (याँ) घर ठठर (ठहर) कहा पवन निस्तार।
बीच पँलदिया घर चुए बूंद पड़े भंभार॥
जालें तौ झलकै जलौं...बिकट कटार।
जहिं सरोत सो तस भँखै तहीं भयौ भिनसार॥
जेठ असाढ़ न आइयाँ पाताँ भरहर बाहँ।
तेइ भीरी बिसार घन तिहकइ जल थल नाँह॥
आइ कौन तन पखेरुआ जंगल करहिं उदास।
कंकर चुनि जल बीन्ह धनि तेही छूव न बास॥

दोहों की इन पंक्तियों में पाठ-शोध की अपेक्षा है। प्रो० हसन अस्करी को जो हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनके फ़ारसी अक्षरों में लिखे हुए पाठों का रूप स्थिर करने के लिए हम लोगों ने बहुत प्रयास किया, पर अब तक इससे अधिक कुछ सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। बस इतना झलकता है कि इनमें जीव के संसार में आगमन और प्रयाण की चर्चा की गयी है। न जाने कहाँ से यह प्राणवायु यहाँ इस घर में प्रवेश करके ठहरती है और कहाँ चली जाती है। छप्पर (पलाणी) के बीचोबीच यह घर चूता रह जाता है और छेदों से होकर बड़ी-बड़ी बूंदें टपकती

---

१५. ऊपर 'मआवन्-उल्-मआनी' के वर्णन में इसी दोहरे का संकेत है। इसकी तुलना रहीम (१५५२-१६२५ ई०) के इस निम्नलिखित दोहे से कीजिए, जो इससे प्रभावित जान पड़ता है: धनि रहीम जल पंक को लघु जिय पियत अघाय। उदधि बड़ाई कौन जो जगत पियासो जाय॥

ह जाती हैं। जीवन के अभावों की कभी पूर्ति नहीं हो पाती और उसकी शून्यता और पीड़ा ज्यों की त्यों बनी रह जाती है।

यदि वह ज्योति जीवन में प्रज्वलित होती है तो उसकी झलक से जल जाता हूँ और यदि ह तीक्ष्ण रूप में प्रकट होती है तो जैसे विकट दुधारी कटार चल जाती है और कट जाता हूँ। जस स्रोत से उद्गम हुआ है, उसीका उपयोग करते हुए सांसारिक जीवन की यह रात कट जाती और फिर सबेरा हो जाता है।

जेठ-आषाढ़ में बाहों में भरभराकर पत्ते नहीं आते। उसके सामने यह भी भूल जाओ क बादल होंगे तो हरे भरे पत्ते होंगे। उसे तो न जल से संबंध है न थल से। गरमी हो या बरसात ो, चाहे कोई भी अवस्था हो वह तो सदा एकरस, एकरूप और निर्विकार रहता है।

न जाने इस शरीर में यह कहाँ का पखेरू आ गया जो इस जंगल को आखिर उदास करके ला जाता है। कंकड़ चुन-चुन कर जल और धन के साधन बिन-बिनकर वह घोंसला बनाता , पर बस नहीं पाता। उसका बनाया हुआ निवास उसे छू भी नहीं पाता। ये सारे सांसारिक यास अन्ततोगत्वा निष्फल हो जाते हैं।

इन उद्धरणों में भाषा-मिश्रण के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यहाँ एक ही साथ में अवधी (चुए, पड़ै, करहिं आदि), ब्रजभाषा (जलौं, भयो आदि), खड़ी बोली (आई), जाबी (आइयाँ), भोजपुरी (तेइ, भीरी, तिहकइ, भिनसार) के स्वच्छन्द प्रयोग मिलते ैं।

दरभंगे के भीखा शाह सैलानी (१५वीं शताब्दी ई०) ने एक वाक्य का व्यवहार किया , जिसमें 'पूर्वीभाषा' का स्पष्ट उल्लेख है। कबीर ने भी अपनी भाषा को पूर्व की बोली ो कहा है—

बोली हमरी पूर्व की, हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय।।

—बीजक, साखी १९४।[१६]

यहाँ पूर्व शब्द श्लिष्ट है और उसके दो अर्थ हैं—एक तो पूर्व दिशा के पक्ष में और दूसरा पुरातन के पक्ष में। पूर्व में साधारण बोलचाल के रूप में हिन्दी के व्यवहार का एक प्रमाण हमें १५वीं सदी ई० के गया ज़िले के औरंगाबाद इलाक़े के अमझर के फ़क़ीर सैयद मुहम्मद के उदाहरण में मिलता है, जो उस स्थान के निवासियों से हिन्दी में ही बातचीत करते थे। उनके समसामयिक जीवनी-लेखक ने अपनी किताब 'मनकीहे मोहमदी' में उनके द्वारा उच्चरित एक वाक्य को उद्धृत किया है, जिसे उन्होंने ग्वालों के एक मुखिया के प्रति कहा था। वह उनके मत में दीक्षित होकर उनका चेला बन गया था। उसने उनसे पूछा कि अब जबकि मुसीबत के दिन बीत गये और बिहार के सूबेदार दरया खाँ नूहानी के हुक्म से उनके लिए कई इमारतें और खनक़ाह बन गये तब वे अपने अनुयायियों को उस जगह को छोड़कर जंगल में जाने को क्यों कह रहे हैं।

---

१६. मूल बीजक, बंबई, १९५१ ई०।

वह एक साधारण-सा वाक्य है—"न माना जइयो, इहाँ न रहना ।" इसमें 'माना', 'रहना' तथा 'जइयो' पच्छिमी हिन्दी या खड़ी बोली के प्रयोग हैं और 'इहाँ' पूर्वी का। जनसाधारण की बोलियों में यह हिन्दी का तथा हिन्दी में स्थानीय बोलियों का प्रतिबिम्ब इस बात का परिचायक है कि मुस्लिम फ़क़ीरों तथा अन्यान्य सामाजिक सम्पर्कों के द्वारा जन-समाज में किस प्रकार अलक्ष्य रूप से भाषायी सम्मिश्रण का व्यापार क्रियान्वित था। इन मुस्लिम फ़क़ीरों के प्रभाव से हिन्दी का प्रसार द्रुतगति से बढ़ता जा रहा था।

इसी प्रकार 'दक्खिनी' के रूप में हिन्दी के विकास में भी हमें पारस्परिक सम्पर्क और मिश्रण की सक्रिय परम्परा का पता चलता है। मलिक काफ़ूर के समय से ही बहुतेरे गूजर उधर जा चुके थे और १३वीं सदी से तो अपनी विजय के उपरान्त मुस्लिम सुल्तानों ने उधर जाकर अपना राजकाज ही चलाना शुरू कर दिया। उनके साथ केवल मुसलमान ही नहीं, अनेक हिन्दू कर्मचारी, व्यापारी, योद्धा, मुसद्दी आदि भी वहाँ गये। दक्षिणी-भाषा-भाषी जनवर्ग से उनके बढ़ते हुए संसर्गों के प्रभाव 'दक्खिनी' के विकास और इतिहास में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।

शताब्दियों पहले से हिन्दी में क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के साथ सम्मिश्रण तथा पारस्परिक अन्तर्भाव की जो प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक रूप से काम करती आ रही है और जिसकी एक झाँकी ऊपर प्रस्तुत की गयी है, वह उसके विकास और प्रसार का एक प्रबल, प्रभावशाली साधन रही है। उसके यथावत् अध्ययन और अनुशीलन के बिना हिन्दी का इतिहास सांगोपांग और ठीक-ठीक नहीं लिखा जा सकता।

●

लुइस रनू

संस्कृत शब्दावली में प्रधान और अप्रधान अर्थ

वैयाकरणों के अनुसरण पर काव्यशास्त्री वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की चर्चा करते हैं। मुख्य अर्थ बाधित होने पर उस से संबंध रखनेवाला लक्ष्यार्थ ही मान्य है। मुख्यार्थ निरन्तर (बाह्य) है और लक्ष्यार्थ सान्तर (आभ्यन्तर) है; सान्तर के दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो अप्रत्यक्ष (मुख्य अर्थ प्रत्यक्ष है) और दूसरा गंभीर अथवा गूढ़ (मुख्यार्थ अपेक्षाकृत ऊपरी है)। मुख्यार्थ का बोध संकेत द्वारा होता है, किंतु लक्ष्यार्थ का बोध रूढ़ि (परम्परा) के आधार पर कराया जाता है। लक्ष्यार्थ तथा रूढ़ि का संबंध समझने के लिए बहुत-सी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

संस्कृत काव्य में अप्रधान (अप्रत्यक्ष) अर्थों का प्रयोग अत्यन्त व्यापक ही रहा है; प्रायः समस्त अलंकार अप्रत्यक्ष अर्थों पर आधारित हैं। यह सच है कि प्रत्येक साहित्य की अलंकृत भाषा में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं किन्तु संस्कृत में जो श्लेष तथा गूढ़ (रहस्यमय) अर्थ की व्यापकता मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

श्लेष के विधान द्वारा एक शब्द के दो अर्थ व्यक्त किये जाते हैं। ये दोनों अर्थ वाक्य के दूसरे शब्दों के साथ संगति रखते हैं और इसी कारण से दूसरे शब्दों के भी बहुधा दो अर्थ होते हैं। श्लिष्ट शब्द का एक अर्थ स्पष्टतया प्रत्यक्ष है और दूसरा अर्थ अप्रत्यक्ष, यद्यपि इस अप्रत्यक्ष अर्थ का संदर्भ के कारण अधिक महत्व हो सकता है। कवियों ने संस्कृत शब्दों की असाधारण अनेकार्थकता से पूरा लाभ उठाया है। यह अनेकार्थकता (बह्वर्थकता) एक प्रकार से संस्कृत की जन्म-सिद्ध विशेषता ही है, किंतु इसका इतना विकास इसीलिए हो सका है कि प्राचीन भारत के धार्मिक, पौराणिक तथा दार्शनिक चिन्तन में द्व्यर्थक अथवा बह्वर्थक अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यहाँ पर इस बात पर बल देना उचित ही होगा कि पश्चिम में अलंकृत साहित्य भले ही एक प्रकार से संयोगवश उत्पन्न हुआ हो किंतु संस्कृत अलंकृत साहित्य प्राचीन भारतीय प्रवृत्तियों की परिणति ही है। गद्य हो अथवा पद्य, ललित साहित्य हो अथवा धार्मिक (नीति-विषयक), सर्वत्र प्रारंभ ही से इस प्रवृत्ति के लक्षण विद्यमान हैं।

संस्कृत काव्य की (कम से कम परिष्कृत रचनाओं की) एक दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य रहस्यमय, गूढ़ अर्थ भी अप्रत्यक्ष रूप से इसमें व्याप्त रहता है, जिसकी ओर संकेत करना कवि का वास्तविक उद्देश्य है। 'किरातार्जुनीयम्' का उदाहरण लीजिए। द्वादश सर्ग के १६वें छन्द में "वृक्ष-समूह न जलानेवाली तथा जलाशयों को न सुखानेवाली अग्नि" की चर्चा है। पाठक के मन में अनायास ही प्रश्न उठेगा कि यह अग्नि क्या हो सकती है। किंतु

इसी छन्द में इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है—वह रहस्यमय अग्नि इंद्र-पुत्र अर्जुन का तेज है (तेज के लिए **धाम** शब्द का प्रयोग हुआ, इस शब्द का प्रथम अर्थ संभवतः संस्थान अथवा कृत्य है)। अन्य उदाहरण यहाँ पर अनावश्यक हैं। काव्य के असंख्य छन्दों के विषय में पाठक के मन में ये प्रश्न उठते हैं—आखिर कवि क्या कहना चाहता है? इस चमत्कार का क्या अर्थ है? प्रकृति के नियमों का यह विपर्यय क्यों?

उपर्युक्त दो विशेषताएँ, अर्थात् बह्वर्थकता (जो अंशतः कृत्रिम है) तथा रहस्यात्मकता, मूलभूत तथा संबद्ध हैं। दोनों वैदिक मंत्रों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद में दो भिन्न शैलियाँ पायी जाती हैं। एक सरल शैली जिसमें प्रत्यक्ष अर्थ प्रधान है और व्यंजना का एक प्रकार से अभाव है; उदाहरणार्थ उषाविषयक मंत्र तथा इंद्र से संबंध रखनेवाले अधिकांश मंत्र इसी शैली में लिखे गये हैं। दूसरी शैली अलंकृत, अस्पष्ट और गूढ़ है। इसमें द्व्यर्थकता (प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थों) का बाहुल्य है। ऋग्वेद के इस भाग के दो और कभी तीन स्तर होते हैं। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि काव्यशास्त्रीय श्लेष वेद में मिलता है किंतु फिर भी इसमें एक अस्पष्ट, अपरिष्कृत श्लेष विद्यमान ही है। जब ऋषि किसी साधारण घटना अथवा प्रकृति के किसी व्यापार का वर्णन करते हैं, वे वास्तव में और कुछ जतलाना चाहते हैं, और जब वे इस साधारण घटना अथवा प्रकृति के उस व्यापार की ओर संकेत करना चाहेंगे तो वे किसी और बात की चर्चा करेंगे। मेरी दृढ़ धारणा है कि लूडर्स (Lueders) का निम्नलिखित कथन नितान्त भ्रामक है—"हमें हमेशा के लिए इस विश्वास को छोड़ देना चाहिए कि वैदिक ऋषि प्रायः एक बात कहते हैं और दूसरी बात सोचते हैं तथा अपने विचारों पर परदा डालने के लिए ही मंत्रों का उच्चारण करते हैं (दे० तरुण, भाग १, पृ० १०)। ऋषि जो कहना चाहते हैं उसे अवश्य कहते हैं और जब वे घोड़ों की दौड़ अथवा गोशाला में बंद गायों की चर्चा करते हैं, वे उस दौड़ और उन गायों के विषय में तो सोचते हैं किंतु साथ-साथ वे कवियों की प्रतिद्वन्दिता तथा रात्रि के अंधकार के विषय में भी सोचते हैं। यह अव्यक्त अर्थ-समूह ही मंत्र के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन कर सकता है। ऋग्वेद का प्रत्येक शाब्दिक एकार्थक अनुवाद शिक्षण मात्र के लिए कुछ ही महत्व रखता है, किंतु अद्वैतवादियों की शब्दावली में वह अविद्या के क्षेत्र तक सीमित रहता है। "समुद्र से मधुमय लहर उत्पन्न होती है" (४, ५८, १), "पत्थर अपनी पीठ पर अश्व को वहन करता है" (८, २६, २४), आदि उक्तियों का समीचीन अर्थ नहीं लगाया जा सकता है जब तक अप्रत्यक्ष अर्थों का सहारा न लिया जाय। यज्ञ की तैयारी के लिए याजकों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है—"नौका का निर्माण करना, हल जोतना, पालों को तैयार करना..... घोड़ों को संतुष्ट करना...कवच सीकर प्रस्तुत करना" (१०, १०१)। क्या इससे इनकार किया जा सकता है कि यहाँ पर प्रतीकों तथा रूपकों द्वारा धार्मिक साधना की ओर संकेत किया गया है? उन अप्रत्यक्ष अर्थों की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है जब बेरगेंञ (Bergaigne) के अनुकरण पर ऋग्वेद के सब महत्वपूर्ण शब्दों का प्राथमिक अर्थ खोज निकालकर उसी को बराबर अनुवाद में रखा जाता है। इस प्रकार के शाब्दिक एवं एकार्थक अनुवाद का अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र का वास्तविक अर्थ समझने के लिए अप्रत्यक्ष अर्थ

का सहारा लेना निन्तान्त अनिवार्य है। प्राचीन भारत के कुछ आचार्य वैदिक मंत्रों के आनर्थक्य की चर्चा करते हैं; इसका एकमात्र कारण यह है कि वे शाब्दिक अर्थ तक सीमित रहकर (जो बहुधा निरर्थक ही है) गूढ़ार्थ का ध्यान नहीं रखते थे। बेरगेंज्ञ शाब्दिक अर्थ पर इतना बल देते थे कि वे **गो** का अर्थ गाय ही मानते थे (यद्यपि स्पष्टतया 'दूध' अथवा 'चमड़े' की चर्चा होती थी और अंततोगत्वा 'किरण' अथवा 'शब्द') और फलस्वरूप उनको स्वीकार करना पड़ता था कि वैदिक मंत्रों में अस्वाभाविक प्रतीक, असंगत उपमाएँ, यहाँ तक कि अनर्थक सामग्री भी मिलती है। किंतु वही बेरगेंज्ञ अप्रधान अर्थों का सहारा लेकर वैदिक विचार-धारा की एक विस्तृत प्रतीकावली का निर्माण करते थे, जिसमें आध्यात्मिक तथा यज्ञविषयक भावनाएँ भी सम्मिलित थीं और इस प्रकार वे भाषा से अनेकार्थकता अथवा गूढ़ार्थ को हटाकर उसी को विचार-धारा में रखते थे।

प्रतीकों के विषय में जो काव्य तथा वेदों का संबंध है, इसकी ओर भारतीय विद्वानों ने भी संकेत किया है। आनर्थक्य के किसी समर्थक के इस तर्क का खंडन करते हुए कि मंत्रों में **अविद्यमान** वस्तुओं की चर्चा है जैमिनि कहते हैं कि गौण अर्थ का ध्यान रखकर उन मंत्रों का रहस्य स्पष्ट हो जाता है (दे० मीमांसा सूत्र १, २, ४६)। शबरस्वामी इस उत्तर की व्याख्या करते हुए काव्य का उदाहरण देते हैं, जिसमें नदी का वर्णन करते समय उन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है, जो नारी के शरीर के वर्णन में आते हैं।

वैदिक मंत्रों के रहस्यमय अर्थ का बहुत समय से अस्तित्व स्वीकृत हुआ है किंतु इस अर्थ का समीचीन महत्व नहीं दिया गया है। काव्य के छन्दों की भाँति ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के बहुत से स्थलों के विषय में पाठक के मन में अनायास ये प्रश्न उठते हैं—वर्ण्य विषय क्या है? किस देवता की स्तुति हो रही है? इस प्रतीक का क्या अभिप्राय है? इन परस्पर-विरोधी उक्तियों का समाधान क्या हो सकता है? वेदों की रहस्यात्मकता प्रसिद्ध ब्रह्मोदय-विषयक मंत्र (ऋग्वेद १, १६४) तक सीमित नहीं है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के दार्शनिक अंशों में प्रायः रहस्यमूलक छन्द मिलते ही हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों और काव्य में महान् अंतर है, किंतु बीच की लड़ियाँ हमें **निघंटु, निरुक्त, ब्राह्मणों, उपनिषदों** आदि में प्राप्त हैं। यास्क की व्युत्पत्तियाँ असंगत सी लगती हैं और अक्सर परिहास का विषय बन चुकी हैं; वास्तव में मंत्रों के गूढ़ार्थ का समाधान इनका उद्देश्य है। निघंटु में कहा गया है कि नाम विशेष को छोड़कर 'नदी' के लिए ३७ संज्ञाएँ मिलती हैं, 'शब्द' के लिए ५७ और 'जल' के लिए १०१। इसका क्या अर्थ हो सकता है? इस प्रकार की प्रचुरता एक तर्कसंगत शब्दार्थ-विज्ञान में अनावश्यक है। वास्तव में उन संख्याओं में गूढ़ार्थ, व्यंग्यार्थ, प्रतीकात्मक अर्थ आदि सम्मिलित हैं।

ब्राह्मण-साहित्य का उद्देश्य है यज्ञ-विषयक मानवीय कार्य-कलाप तथा उसके द्वारा सूचित धार्मिक और दार्शनिक तत्वों का संबंध प्रतिपादित करना। इस प्रकार के संबंध **'निदान'** अथवा 'बंधु' कहलाते हैं; ओलिविए लाकाँब (Olivier Lacombe) उनको 'सत्त्वात्मक अनुरूपता की लड़ियाँ' कहकर पुकारते हैं। 'निदान' शब्द द्वारा मूलभूत तत्वों की अभिव्यक्ति

होती है; इस कारण से इस शब्द को ऋग्वेद के उस मंत्र में स्थान मिला जिसमें यज्ञ की स्थापना वर्णित है (देखिए १०, १३०, ३)। 'निदान' के अतिरिक्त निम्न शब्दों का भी प्रयोग होता है—आयतन, प्रतिष्ठा, सम्पद्, आदेश। ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र में यज्ञ के विषय में कहा गया है कि वह एक आदर्श प्राचीन प्रथा तथा उसके अनुकरण की अनुरूपता ही है (दे० १०, १३०, ६-७)। इस प्रकार का यज्ञ-विषयक गूढ़ चिंतन स्पष्टतया वैदिक साहित्य की द्वयर्थकता अर्थात् अन्योन्याश्रित प्रधान और अप्रधान अर्थों का सहारा लेता है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में यज्ञ-विषयक वैदिक सामग्री का चिंतन मिलता है, इस प्रकार उपनिषदों में वैदिक दर्शन की व्याख्या है। उपनिषदों में भी प्रधान और अप्रधान अर्थ के उपर्युक्त साहचर्य-विचार का विकास हुआ है। उपनिषदों की तत्संबंधी सामग्री का प्रधान उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि प्रधान और अप्रधान अर्थों के साहचर्य में एकता लायी जाय, इसका कोई सिद्धान्त स्पष्ट कर दिया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अप्रधान अर्थों की संख्या और बढ़ा दी गयी है। उपनिषदों में जिन **प्रतीकों** और **विद्याओं** की चर्चा है, ये सब शब्दों के अप्रधान अर्थों पर आश्रित हैं। क्या **उपनिषद्** ही का अर्थ (**अध्यात्मम्** और **अधिदैवतम्** का) सन्निधान नहीं है?

ब्राह्मणों तथा प्राचीनतम उपनिषदों में **ब्रह्मोदय** अर्थात् धार्मिक विषयों के वाद-विवाद मिलते हैं। इनमें ऋग्वेद के पुराने रहस्य नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। कभी-कभी प्रश्नों तथा उत्तरों का क्रम पहले ही से निर्धारित प्रतीत होता है—प्रत्येक वक्ता मंत्र-संग्रह के क्रमानुसार अपना पाठ सुनाता है (दे० वाज० सं० अध्याय २३)। किंतु प्रायः उसमें अधिक स्वतंत्रता दी जाती है और संवाद स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ 'शतपथ' ब्राह्मण के दसवें काण्ड में हम देखते हैं कि कोई पुरोहित किसी गृहस्थ के लिए पुरोहिताई करना चाहता है और गृहस्थ पुरोहित की विद्या की जाँच करने के बाद ही उसे अपना पुरोहित बनाता है। अन्यत्र यजमान श्वेतकेतु एक यज्ञ का आयोजन करना चाहता है। उसका पिता उद्दालक पुरोहित के ज्ञान की परीक्षा करने लगता है। प्रारंभ में पुरोहित सही उत्तर दे पाता है किंतु अंत में वह अपनी पराजय स्वीकार करता है। इस पराजय के दो लक्षण सर्वविदित हैं और समस्त संस्कृत साहित्य में पाये जाते हैं—एक तो मौन रहना तथा दूसरे, पुरोहित का यह निवेदन कि वह विजयी का शिष्य बन जाय। एक अन्य स्थल पर पाँच विद्वानों की चर्चा है जो आपस में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते हैं और किसी गृहस्थ की सेवा करने की प्रतिज्ञा करते हैं, यदि वह उनके प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर दे सके। अनन्तर गृहस्थ क्रमशः पाँचों से प्रश्न करते-करते उनको धार्मिक शिक्षा देता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में सभी ब्रह्मोदय राजा जनक में केंद्रीभूत हैं। राजा जनक अपने होता के ज्ञान की सहायता से ब्राह्मणों की परीक्षा लेते हैं। अतः होता ब्राह्मण याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने लगता है। बाद में पाँच ब्राह्मण क्रमशः याज्ञवल्क्य से हार जाते हैं; अंतिम प्रश्नकर्ता शाकल्य ऐसे प्रश्न पूछता है जो मानवोचित ज्ञान का अतिक्रमण करते हैं और फलस्वरूप उसका सिर फट जाता है। एक अन्य स्थल पर जनक स्वयं याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेते हैं और संतोषजनक उत्तर पाकर उनके शिष्य बन जाते हैं। अन्यत्र याज्ञवल्क्य जनक के प्रश्नों का उत्तर

तो देते हैं किंतु ऐसी नौबत भी आ जाती है कि याज्ञवल्क्य को स्वीकार करना पड़ता है कि राजा जनक ने उनको उनके सिद्धान्तों से विचलित कर दिया है (अर्थात् जनक ने उनको उनके सिद्धान्तों के पूरे-पूरे निरूपण के लिए बाध्य किया है)। फिर भी राजा का शाकल्य के समान कोई अनर्थ नहीं होता; राजकीय मर्यादा का पूरा ध्यान रखा गया है। ध्यान देने योग्य है कि उन समस्त ब्रह्मोदयों के विषय यज्ञ के परे की समस्याओं से संबंध रखते हैं; उदाहरण—उद्गीथ की उत्पत्ति, चारों परमार्थ (शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १०), अर्क (जिसके दो अर्थ हैं, अर्थात् पौधा और अग्नि)। जो कोई किसी समस्या का समाधान कर पाता है वह **एवंविद्** कहलाता है क्योंकि वह मंत्र में सन्निहित तेज अर्थात् ब्रह्मन् जानता है और फलस्वरूप जिस चीज़ को वह जानता है उसे वह प्राप्त कर लेता है। अंततोगत्वा विश्व में विद्यमान गूढ़ संबंधों पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में रहस्य का कितना महत्वपूर्ण स्थान है; जो तंत्रवाद में मंत्र का स्थान है वही वैदिक विचारधारा में रहस्य का होता है, अर्थात् वह एक सर्जनात्मक शक्ति ही है।

यह स्वाभाविक ही है कि वैदिक विचारधारा से प्रेरणा लेनेवाले परवर्ती दर्शनों में, अर्थात् मीमांसा तथा वेदान्त में यदि उस रहस्य के नहीं, कम से कम उस द्व्यर्थकता के अवशेष पाये जाते हैं। मीमांसा का उद्देश्य है वैदिक **विधियों** का निरूपण; अतः उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वेदों के वे अंश अलग किये जायँ जिनमें 'विधि' का अभाव है अर्थात् **मंत्र** और **अर्थवाद**। यह विभाजन वैदिक शब्दों के अर्थ और उनका सापेक्ष महत्व निर्धारित किये बिना संभव नहीं है। सिद्धान्ततः अप्रत्यक्ष अर्थ रखने वाले अंश **अर्थवाद** अथवा **मंत्र** हैं और प्रत्यक्ष अर्थ रखने वाले अंश **विधि** के अंतर्गत आ जाते हैं। मीमांसा सूत्रों में (३, २, १) अवश्य ही कहा गया है कि मंत्रों में शब्दों का अप्रधान अर्थ हटाकर उनके प्रधान अर्थ का ध्यान रखना चाहिए। (यह सिद्धान्त व्याकरण की परिभाषाओं में भी पाया जाता है—"किसी शब्द के विषय में कोई भी व्यापार उस शब्द के प्रधान अर्थ ही से संबंध रखता है, न कि उसके अप्रधान अर्थ से")। किंतु इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् तुरंत इसके अपवादों की चर्चा होती है (दे० ३, २, ३ आदि)। वास्तव में यह विकास संदर्भ के कारण ही हुआ है अर्थात् **ब्राह्मण** को दृष्टि में रखकर, जिसके साथ **मंत्र** का अनिवार्य संबंध रहता है। फिर भी मीमांसा में **गौणार्थ** का प्रयोग भी है, जो **लाक्षणिक अर्थ** से अलग माना जाता है (दे० कुमारिल १, ४, २८)। **लक्षणार्थ** तब होता है जब मुख्य अर्थ से संबंध रखनेवाला कोई अन्य अर्थ व्यक्त किया जाता है; **गौणार्थ** तब होता है जब अप्रधान अर्थ तथा मुख्य अर्थ का संबंध दोनों के सामान्य गुणों पर ही आधारित है। उदाहरणार्थ ब्रह्मचारी 'अग्नि' कहा जाता है, क्योंकि उसके गुणों से अनायास ही 'अग्नि' की कल्पना हो सकती है।

मंत्रों तथा **ब्राह्मणों** के संबंध का सिद्धान्त ही (अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के अनुसार मंत्र का अनुकूलन) अर्थपरक प्रतीकवाद का परिणाम है। ऐसे मंत्र कम ही मिलते हैं जिनका आनुषांगिक अनुष्ठान के साथ संबंध प्रधान अर्थ पर निर्भर है; मंत्र का 'लिंग' प्रायः कोई प्रतीकात्मक शब्द है। कुमारिल का कहना है कि **सामर्थ्य** कभी प्रत्यक्ष अर्थ और कभी अप्रत्यक्ष अर्थ पर

निर्भर रहता है (३, २, १), किंतु वास्तव में अप्रत्यक्ष अर्थ कहीं अधिक महत्व रखता है। उसी स्थल पर कुमारिल उन परिस्थितियों का निरूपण करते हैं जिनमें अप्रधान अर्थ को प्रश्रय दिया जा सकता है—**जहत्स्वार्थाभिधायित्व** (मुख्य अर्थ छोड़ देने की क्षमता); **संघात** (दोनों अर्थों का सामंजस्य); **परिकल्पना**; **सोपपदा वृत्ति**; **समुदायप्रसिद्धिता**; **वाक्यार्थ**, **अल्पप्रसिद्धित्व**; **अल्पप्रयोगिता**; **सादृश्य**। यह सब समान रूप से प्राचीन मंत्रों तथा काव्य के छन्दों पर लागू होता है। एक अन्य स्थल पर जैमिनि (१, ४, २३ आदि) अर्थवाद की विशेषताओं का निरूपण करते हुए कहते हैं कि ये ही अप्रधान अर्थ की विशेषताएँ भी हैं। अन्य शब्दों में वेद के सभी अंग जो 'विधि' के अंतर्गत नहीं आते, उन सब का अप्रधान अर्थ ही ध्यान में रखना चाहिए। इससे अप्रधान अर्थ की व्याप्ति स्पष्ट ही है।

वेदान्त में भी यह सब लागू है। ऊपर इसका उल्लेख हो चुका है कि उपनिषदों के मूल में एक प्रतीकवाद निहित है, जो अप्रधान अर्थ पर आधारित है। अतः यह स्वाभाविक है कि शंकरवादी वेदान्त में भी इस विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित है। शंकर तथा ब्रह्मसूत्रों के अनुसार वेदों के सभी वाक्य जो प्रतीकों के सहारे ब्रह्म का निरूपण करते हैं अप्रमाणिक हैं। क्या इसके फलस्वरूप उन्हें 'अविद्या' के अंतर्गत मानना चाहिए? जी नहीं! क्योंकि इसका परिणाम यह होता कि काफ़ी बड़ी संख्या में वेदों के अंश अनावश्यक सिद्ध होते। ये स्थल उपासना के काम में आते हैं। अतः उपासना अप्रधान अर्थ, प्रतीकादि पर आश्रित है। ये प्रतीक मिथ्या न होकर **अध्यास** अथवा **अध्यारोप** के परिणाम हैं, अतः अध्यास वास्तव में धार्मिक (दार्शनिक) मात्र नहीं है, वह शब्दार्थपरक भी है। शंकरवादी अद्वैत में (तथा अन्य दर्शनों में भी) शब्द का अप्रधान अर्थ उसके प्रधान अर्थ से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंध रखता है; प्रधान अर्थ या तो पूर्णतया अथवा अंशतः सुरक्षित रह सकता है, अथवा उसे पूर्णतया छोड़ भी दिया जा सकता है। वास्तव में प्रायः यही हुआ करता है कि प्रधान अर्थ के साथ जो संबंध है वह रखा भी जाता है और छोड़ भी दिया जाता है। मूलभूत वाक्य **तत् त्वमसि** ले लें—**त्वम्** व्यावहारिक **अहं** का अर्थ छोड़ देना है और **तत्** भी **जो अहं नहीं है** ऐसा अर्थ छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में अप्रधान अर्थ गौण (प्रतीकात्मक या बाह्य) नहीं है किन्तु वह **लक्ष्य** अर्थात् अप्रत्यक्ष या अभ्यन्तर है। 'लक्षणा' का अद्वैत में महत्वपूर्ण स्थान है; उदाहरणार्थ इसमें **ब्रह्मन्** की समस्त परिभाषाएँ वाच्य न होकर लक्ष्य ही हैं। ओलिविए लाकॉब के अनुसार 'लक्षणा' एक 'प्रकार' से साधारण भाषा तथा परा विद्या के बीच का पुल ही है। यह स्पष्ट है कि आत्मन् और ब्रह्मन् की विशेषताओं का एकीकरण करने के लिए शंकराचार्य को बहुधा 'अप्रधान अर्थ' का ही सहारा लेना पड़ता है। दूसरी ओर रामानुज, जो अद्वैत पर इतना बल नहीं देते हैं, प्रायः शाब्दिक अर्थ से संतोष कर लेते हैं।

तंत्रवाद में अप्रधान अर्थ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि तंत्रवाद वास्तव में एक प्रतीकवाद है जो भाषा के अस्वाभाविक प्रयोग पर ही निर्भर रहता है और मंत्रों की एक नवीन व्याख्या की सृष्टि करता है (**मंत्रशास्त्र**)। किंतु यहाँ पर इसका विश्लेषण नहीं किया जायगा।

संहार के रूप में कहा जा सकता है कि विज्ञान तथा शिल्प-विषयक शास्त्र (इनमें श्रौत गृह्य और धर्मसूत्र भी सम्मिलित हैं), यथार्थवादी दर्शन, महाभारत तथा रामायण, सरल शैली के काव्य-ग्रंथ ये सब प्रत्यक्ष अर्थ को ही ध्यान में रखते हैं। कुछ अन्य क्षेत्रों में द्वयर्थक शब्दावली तथा अप्रधान अर्थ का न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग होता है अर्थात् दोनों मीमांसा (वेदान्त के लिए कम से कम शंकरवादी अद्वैत), तंत्रवाद, काव्यशास्त्र, भाषा-दर्शन, ललित साहित्य में काव्य का समस्त क्षेत्र। यह प्रवृत्ति वैदिक मंत्रों से प्रारंभ होकर दूसरे रूप में वैदिक गद्य के दार्शनिक अंशों में परिलक्षित है, अर्थात् ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा आरण्यकों में। उस समस्त सामग्री में साधारण अर्थ के परे एक अन्य अर्थ का सहारा लिया जाता है, भाषा के साथ एक प्रकार से बल-प्रयोग होता है—या तो द्वयर्थकता को जानबूझ कर स्थान दिया गया है (जैसे मंत्रों तथा काव्य में), या विभिन्न अर्थों के एकीकरण का प्रयास हुआ है (जैसे उपनिषदों और अद्वैत में)। बौद्ध ग्रंथों में एक तीसरा समाधान मिलता है—वहाँ तो प्रधान और अप्रधान अर्थ दोनों को हटाकर शून्य का प्रतिपादन हुआ है। धर्मशास्त्र में मध्यमार्ग अपनाया गया है—प्रामाणिक शिक्षा देने के उद्देश्य से इसमें नियमों का समन्वय अपेक्षित रहा है, जो मीमांसा से प्रेरणा लेनेवाले उपायों द्वारा संभव हो सका है। व्याकरण एकार्थक है जहाँ तक वह 'लोक' अर्थात् प्रचलित भाषा से संबंध रखता है, किंतु पाणिनीय सूत्रों की संकीर्ण व्याख्या का सिद्धान्त अपनाने के कारण व्याकरण द्वयर्थकता का सहारा लेने के लिए बाध्य हो जाता है और इस प्रकार उसको अपने तर्कों में आभ्यन्तर अर्थ को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

●

परशुराम चतुर्वेदी

संत-साहित्य के प्रामाणिक पाठ का प्रश्न

संत-साहित्य के पाठ की प्रामाणिकता पर विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावतः कई बातों की ओर चला जाता है। सर्वप्रथम हम यह अनुमान करने लगते हैं कि इसके मूल रचयिता कैसे व्यक्ति रहे होंगे, कैसी स्थिति में उन्होंने इसकी रचना की होगी, किस रूप में की होगी तथा इसके लिए वे साधारणतः किस प्रकार के साधनों का प्रयोग करते रहे होंगे। ऐसे साहित्य की अधिकांश रचनाओं का रूप ठीक वैसा ही नहीं पाया जाता जैसा अन्यत्र उपलब्ध होता है, जिस कारण न केवल हमारी दृष्टि पहले उनकी अनेक विलक्षणताओं पर चली जाती है, अपितु इसके साथ ही हमें यह भी सोचना पड़ जाता है कि जिन पाठशोध-संबंधी नियमों का पालन बहुधा सर्वत्र किया जाता है, वे क्या उसी रूप में यहाँ भी लागू होंगे ? अथवा यदि कतिपय आवश्यक बातों को दृष्टि में न रखकर, ऐसा किया जाय तो, क्या वह उचित और न्यायसंगत कहा जा सकता है ? सच तो यह है कि किसी भी साहित्य की रचनाविशेष के पाठशोध की समस्याओं का हल तब तक समुचित और संतोषजनक नहीं कहा जा सकता जब तक उसकी निर्माण-संबंधी वस्तुस्थिति का सम्यक् परिचय न प्राप्त कर लिया जाय तथा जब तक उसके रूप-संबंधी सुधार की अपेक्षा उसके मूल के पुनरुद्धार की ओर पूरा ध्यान न दिया जाय।

संत-साहित्य, और विशेषतः उसके प्रारंभिक अंश के रचयिता प्रायः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति थे और उनका संपर्क अधिकतर ऐसे लोगों के साथ रहता था जो जनसाधारण की कोटि के कहे जा सकते हैं। वे या तो इस प्रकार के व्यक्तियों के समाज में जाकर अपनी बातें कहा करते थे अथवा अपने निकटवर्ती शिष्यों को उपदेश देते थे। इसके सिवाय उनका ध्यान जितना अपने कथनीय अथवा प्रतिपाद्य विषय की ओर रहता था उतना उसके माध्यम भाषा की ओर नहीं जाता था; इसी कारण वे अपनी परिस्थिति के अनुसार मनमाने शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग करते थे। उनकी भाषा का खिचड़ीपन तथा, इसी कारण, उसमें किये गये प्रायः विकृत फ़ारसी, संस्कृत, देशज एवं अप्रचलित शब्दों के प्रयोग और उनकी व्याकरण-संबंधी अनेक भूलें भी उनके इसी स्वभाव के परिचायक हैं। उनके प्रवचनों का विशिष्ट अंश बहुधा गेय वा पद्यमय रहता था जिसमें छंदोनियमों के प्रति उपेक्षा की संभावना बनी रहती थी। फिर भी, आकर्षण वा चमत्कार-प्रदर्शन की दृष्टि से उसमें प्रायः श्लेष, यमक अथवा अनुप्रास के बहुत से ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं जिनके कारण या तो उसमें कुछ न कुछ दुरूहता आ गयी है या उसका रूप अटपटा वा विलक्षण बन गया है।

ऐसी दशा में संतकवियों की रचनाओं का स्वहस्तलेखों (autographs) में पाया

जाना स्वभावतः सरल नहीं हो सकता। उनका रूप अधिकतर वैसा ही हो सकता है जैसा उनके मुख से सुनकर लिखने वाले श्रोताओं द्वारा लिपिबद्ध हुआ होगा। ऐसे लोगों की श्रवणशक्ति, शब्दग्रहण की योग्यता, सावधानी, विषय-परिचय तथा लेखनाभ्यास आदि के अनुसार उनमें कभी-कभी परिवर्तन वा परिवर्धन हो जाता होगा तो कभी-कभी, उनके कुछ अंशों के यथावत् उतारने में प्रमाद भी हो जाता होगा। इसके सिवाय इस बात की भी कम संभावना नहीं कि प्रवचनकर्त्ता कभी-कभी अपने एक ही पद्य को अन्यत्र किंचित् भिन्न रूप में प्रकट कर दें और उसको वहाँ इस दूसरे रूप में ही लिपिबद्ध कर लिया जाय। ऐसी रचनाओं के संग्रहों का यदि उनके रचयिताओं द्वारा एक बार पुनर्निरीक्षण न हो जाय, तो अनेक भ्रमों का निराकरण कभी संभव नहीं हो सकता; किंतु जहाँ तक पता है, संत-साहित्य के कम-से-कम आरंभकालीन अंश के संबंध में ऐसा नहीं किया गया। इन रचनाओं को या तो उनके निर्माताओं के शिष्यों-प्रशिष्यों ने अधिकतर उनके देहांत हो जाने पर संगृहीत किया अथवा ऐसे छोटे-बड़े संग्रहों की प्रतियों का प्रसारण (transmission) उनके सांप्रदायिक मठों द्वारा, अवैज्ञानिक रूप में, होता आया।

जहाँ तक वैसी रचनाओं का प्रश्न है जिनका निर्माण शिक्षित संतों द्वारा हुआ अथवा जिनके विषय में यह भी संभावना है कि उन्हें इन्होंने कहीं अपने हाथ से लिखा भी होगा, हम उसका भी समाधान उतनी सरलता से नहीं कर सकते। एक तो इसलिए कि ऐसे संतों के स्वहस्त-लेखों के उपलब्ध होने की बहुत कम संभावना है, और दूसरे इस कारण भी कि इनके शिक्षित होने का तात्पर्य सदा यही नहीं होता कि इन्हें शुद्ध रूप में लिखने का वैसा अभ्यास भी रहा होगा। इसके सिवाय कभी-कभी ऐसा भी होता था कि संत सुन्दरदास जैसे प्रकांड पंडित भी अपनी रचनाओं को किसी दूसरे से लिखा लिया करते थे अथवा गुरु अर्जुनदेव जैसे कुछ संतकवि, अपनी तथा दूसरों तक की रचनाओं का संग्रह करते समय, किसी अन्य की ही सहायता लेते थे। इन दोनों दशाओं में केवल निरीक्षण मात्र हो पाता था। लिपिकारों का सीमित ज्ञान उनके द्वारा साधारणतः कैथी, मुंड़िया अथवा गुरुमुखी आदि लिपि का प्रयोग किया जाना तथा कभी-कभी प्रतिलिपि करते समय, उनमें से किसी-किसी के जी में पाठ-सुधार की प्रवृत्ति का जग जाना—ये कतिपय ऐसी बातें रहा करती थीं जिनके कारण पाठ-संबंधी भूलों की संख्या में सदा वृद्धि होते जाने की ही आशंका बनी रह सकती है। इस प्रकार की भूलें न केवल संतों की मुक्तक रचनाओं के संग्रहों में मिलती हैं, अपितु उनके दो-चार उपलब्ध प्रबंध-ग्रंथों में भी कम नहीं पायी जातीं।

संत-साहित्य की अभी तक प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में दिखलायी पड़ने वाली वैसी भूलों के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) लिपि वा अक्षर अथवा वर्णमाला संबंधी प्रयोगों के अंतर्गत—जैसे, 'व'-'ब', 'श'-'स', 'ष'-'ख' आदि विषयक मनमाने प्रयोग; 'क्ष' के स्थान में 'छ' एवं 'ज्ञ' के स्थान में 'ग्य' का प्रयोग तथा, इसी प्रकार, 'ए'-'ऐ' की जगह कभी-कभी 'अे'-'अै' के प्रयोग।

(२) संयुक्ताक्षरों के रूप में किये जाने वाले अनावश्यक प्रयोग—जैसे, 'दु:ख' का 'दुक्ख' और 'सुख' का 'सुक्ख' कर देना आदि।

(३) मात्राओं के रूपों में परिवर्त्तन—जैसे, 'कौतुक' का 'कौतिग' करना और 'चातक' का 'चात्रिग' वा 'चातृग' तक लिख देना।

(४) विंदु, विसर्ग, चंद्रविंदु तथा अनुनासिक वर्ण संबंधी विशिष्ट प्रयोग—जैसे, 'नाम' के स्थान पर 'नांउ' के प्रयोग, 'नमः' के बदले 'नमह्' के प्रयोग, 'माहिं' की जगह 'मांहिं' लिख देना तथा 'प्राण' की जगह 'प्रांन' का व्यवहार करना।

(५) विराम-चिह्नों के प्रयोग में बहुधा कामा (,) के स्थान पर खड़ी पाई (।) दीख पड़ती है—जैसे, दोहों वा साखियों की प्रत्येक पंक्ति अथवा चौपाइयों की अर्द्धालियों तक में यति के स्थलों पर पाया जाता है।

(६) 'य' की जगह कभी-कभी 'ए' का प्रयोग कर देना—जैसे, 'यह्' के स्थान पर 'एह्' लिखना तथा 'ओ' की जगह कभी-कभी 'वो' को स्थान देना—जैसे, 'ओर' शब्द को 'वोर' का रूप दे देने में दिखाई पड़ता है।

(७) कहीं-कहीं शब्दों के अंत में 'अ' अथवा उनके मध्य में 'इ' को जोड़कर उनका विस्तार कर देना—जैसे, 'गरु' की जगह 'गरुअ' तथा 'काया' की 'काइया' अथवा 'माया' की जगह 'माइया' लिखने में देखा जा सकता है।

(८) कभी-कभी बहुत से शब्दों को विकृत रूप दे दिया जाता है—जैसे 'आयुध' का 'आवध', 'वायु' का 'बाव', 'दीक्षा' का 'दष्या', 'निन्दा' का 'निंद्या', 'संशय' का 'संसा', 'विश्वास' का 'बेसास', 'हृदय' का 'रिदै' आदि कर देने में पाया जाता है।

(९) व्यंजनभेद के भी उदाहरण मिलते हैं—जैसे, 'युक्ति' के 'जुगति', 'पुष्प' के 'पुहप' व 'वियोग' के 'बिवोग' कर देने में।

(१०) कभी-कभी तो इनके ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जिनमें और भी अधिक परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है—जैसे, 'वाक्य' को 'बाइक', 'पथ्य' को 'पछि', 'पहुंचा' को 'पहुंता', 'मत्सर' को 'मंछर' तथा 'मरघट' को 'मड़हट' कर देने में देखा जा सकता है।

(११) शब्दों के रूपों में कहीं-कहीं कुछ अन्य प्रकार के भी परिवर्तन देखने में आते हैं—जैसे, 'कवल' के 'कौल' में, 'यह्' के 'येह्' में, 'प्रलय' के 'परलै' में, 'प्रियतम' के 'प्रीतम' में, 'लवण' के 'लूंण' में, 'कर्म' के 'क्रम' में, 'भ्रम' के 'भर्म' में, 'निर्गुण' के 'न्रिगुण' वा 'नृगुण' में, 'सर्प' के 'स्रप' में, 'शून्य' के 'सुन्नि' में तथा 'बिछड़े' के 'बिहड़े' कर देने में दिखाई पड़ता है।

(१२) कभी-कभी 'ई' को 'य' तथा 'य' को 'इ' कर देते हैं जिससे शब्दों के रूप बदल जाते हैं—जैसे, 'पिंड' का 'प्यंड' और 'बिंब' का 'ब्यंब' कर देना तथा इसी प्रकार 'उद्यम' को 'उदिम' एवं 'अनन्य' को 'अनिन' रूप दे देना।

(१३) ऐसे ही कभी-कभी 'य' का 'ई', 'ए' का 'ऐ' तथा 'व' और 'अव' का 'औ' में परि-

वर्तित होना भी दिखाई पड़ता है,—जैसे, 'इंद्रिय' के 'इंद्री', 'निश्चय' के 'निहचै', 'समय' के 'समै', 'पवन' के 'पौन', 'हवस' के 'हौंस' तथा 'दिवस' के 'दौंस' हो जाने में देखा जाता है।

(१४) कहीं-कहीं संयुक्ताक्षरों में परिवर्तन कर दिया जाता है—जैसे, 'रक्षा' के 'रख्या' और 'लज्जा' के 'लज्या' करने में है, जहाँ अन्यत्र अकेले अक्षरों को संयुक्त करके लिखते हैं—जैसे, 'बंधा'-'बंध्या' वा 'सौंपा'- 'सौंप्या' में।

(१५) कभी-कभी 'माना' वा 'बेधा' जैसे शब्दों को क्रमशः 'मानिया' वा 'बेधिया' जैसा लिखते हैं; 'श्रोता' को 'सुरता', 'गुह्य' को 'गूझ', 'और' को 'हौर', 'शौच' को 'सुच्या', 'शंका' को 'संक्या' कर देते हैं तथा 'पुरुष' को 'पुरिस' एवं 'इक' को 'हिक' तक बना डालते हैं।

(१६) उच्चारण में सुलभता लाने के लिए 'प्रगट' का 'परगट' एवं 'स्तन' का 'अस्तन' वा 'थन', 'स्पर्श' का 'परस' वा 'सपरस', 'सरस्वती' का 'सुरसति', 'स्मरण' का 'सुमिरण', 'परमेश्वर' का 'परमेसुर' तथा इसी प्रकार 'स्वाद' का 'साद' कर देना आदि बहुत अधिक पाया जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में बहुत से ऐसे हैं जो संत-साहित्य के अतिरिक्त अन्य स्थलों में भी पाये जाते हैं और उनमें से कई प्रयोग बहुधा उन हस्तलिखित प्रतियों में मिलते हैं जिनकी प्रतिलिपि पंजाब, गुजरात वा राजस्थान में की गयी है। परन्तु संत-साहित्य के संबंध में यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि उसमें प्रायः जानबूझ कर स्वर-विपर्यय वा वर्ण-विपर्यय कर दिया जाता है तथा ऐसे ही कारणों से कुछ आलोचकों ने इसकी भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' नाम देना उचित समझा है। इसी प्रकार कभी-कभी लिखित शब्दों का पारस्परिक मिलान करते समय अथवा एक ही शब्द को विभाजित करके लिखने की जो असावधानी कर दी जाती है, और जिसके कारण बहुधा बहुत अनर्थ भी हो जाता है, वह अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। छूट गये शब्दों अथवा वाक्यों को कहीं लिख कर वहाँ उपर्युक्त स्थलनिर्देश कर देने की भूल भी केवल यहीं नहीं पायी जाती। परन्तु संत-साहित्य के हस्तलेखों में जहाँ ऐसे उदाहरणों का बाहुल्य है वहाँ अन्यत्र अपवादस्वरूप ही देखा जाता है, जिसका कारण संभवतः यही है कि इसके लिपिकार अधिकतर न केवल अयोग्य हैं अपितु वे अपनी 'सधुक्कड़ी भाषा' का मोह बड़ी कठिनता से त्याग पाते हैं। अतएव, यहाँ तक कह डालने में भी कदाचित् कोई अत्युक्ति न समझी जाय कि और स्थलों पर ऐसी बातें भूलों में गिनी जा सकती हैं, यहाँ के लिए वैसा नहीं कह सकते।

संत-साहित्य के पाठ की प्रामाणिकता के संबंध में कतिपय अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। बहुत से पदों वा साखियों के संग्रहों में जो किसी पंथ वा संप्रदाय की ओर से तैयार किये गये हैं, बीच-बीच में यत्र-तत्र तुलनीय रचनाओं का समावेश करते जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऐसे स्थलों पर बहुधा भ्रम उत्पन्न होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए दादू-पंथ अथवा बावरी-पंथ के अनुयायियों द्वारा संगृहीत रचनाओं की बहुत-सी प्रतियों के अंतर्गत

संग्रहकर्त्ता ने किसी संतविशेष की बानियों को एक स्थल पर एकत्र करते समय उनमें से किसी न किसी एक के आगे अनेक ऐसी रचनाएँ भी दे दी हैं जो उस संत की नहीं हो सकतीं, किंतु जिनका समावेश वहाँ पर केवल भावसाम्य के आधार पर तुलनामात्र की दृष्टि से कर दिया गया है। ऐसी पंक्तियों में यदि किसी के नाम का 'भोग' न लगा हो तो यह कहना कठिन हो जाता है कि वे उस संत की नहीं हो सकतीं जिनकी रचनाओं का संग्रह वहाँ विशेष रूप से किया जा रहा है। ऐसे अवतरणों का समावेश कहीं-कहीं सिक्खों के 'गुरु ग्रंथ साहब' में भी किया गया है, जहाँ शेख फ़रीद के 'सलोकों' में बीच-बीच में तीन-चार नानक के नाम की रचनाएँ भी आ गयी हैं।

रचनाओं के अंत में 'भोग' परक नामों के समावेश द्वारा कभी-कभी एक दूसरे प्रकार की कठिनाई की संभावना रहती है। किसी ऐसे नाम की मात्राओं का योग यदि किसी अन्य के नाम की मात्राओं से मेल खा जाता है अथवा 'भोग' वाली पंक्ति में केवल किंचिन्मात्र ही हेरफेर कर लेने पर पद्यविशेष किसी अन्य की भी रचना कहा जा सकता है तो उसमें परि-वर्तन कर दिया जाता है और उसके मूल रचयिता का पता लगाना हमारे लिए बहुधा असंभव सा हो जाता है। संत कबीर की रचनाओं के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' के अंतर्गत आयी हुई एक साखी (२।१८) केवल थोड़े से परिवर्तन के साथ मंझन की 'मधुमालती' में भी मिलती है, उसकी एक अन्य साखी (३।२१), उसी प्रकार, 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत शेख फ़रीद के सलोकों में आ जाती है तथा उसकी एक तीसरी साखी (३।४१) भी केवल कुछ ही परिवर्तनों के साथ फिर हमें इन्हीं के अंतर्गत मिल जाती है। ऐसे प्रसंगों में यह कह देना मात्र पर्याप्त नहीं कि परवर्ती कवि ने अपने पूर्ववर्ती की रचना को केवल थोड़े से सुधार के साथ अपना लिया होगा। जब तक इस बात का पुष्ट प्रमाण न मिल जाय कि वह संग्रह विशेष भी, जिसके अंतर्गत ऐसी रचना समाविष्ट की गयी है, उसके जीवनकाल के पहले ही तैयार हो गया था तथा वह पद्य किसी तीसरे की रचना भी नहीं हो सकता जिससे दोनों ने ही लिया हो। 'कबीर-बीजक' का 'सब्द' १० 'बषना जी की वाणी' में पद ६० के रूप में मिलता है, उसका 'सब्द' ७६ 'सूरसागर' (ना० प्र० सभा संस्करण) के पद ३६९ के रूप में मिलता है तथा उसकी साखियाँ १९६ और २११ संत दादू दयाल की बानियों की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों में भी हैं। इनमें केवल कुछ ही शब्दों का हेरफेर दृष्टिगोचर होता है। तो क्या ऐसी दशा में यह अनुमान करना सर्वथा असंभव है कि कबीर साहब की रचनाओं का वह प्रामाणिक संग्रह सत्रहवीं शताब्दी के पहले नहीं किया गया होगा?

अतएव, जिस प्रकार किसी रचना के शब्दों में उसके लिपिकारों के अनुसार, रूप एवं उच्चारण संबंधी परिवर्तन आ जाते हैं, उसी प्रकार उसके वाक्यों वा समूची पंक्तियों तक में, उसके संग्रहकर्त्ताओं के अनुसार भेद आ जाने की संभावना रहा करती है। कोई व्यक्ति किसी रचना का पाठ सुनाता है अथवा उसे कहीं पढ़ता है और उसे अपनी स्मृति में न्यूनाधिक सुरक्षित रखता है, किंतु उसके रूप का सदा ठीक पूर्ववत् वहाँ क़ायम रह जाना बहुधा संभव नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसका केवल अधूरा रूप टिक पाता है जिस कारण उसे अन्यत्र व्यक्त करते समय उसकी कमियों की पूर्ति अपनी ओर से करनी पड़ जाती

है और ऐसी दशा में हमें उसके मूलभाव मात्र का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु वैसे भावों का पद्यबद्ध किया जाना केवल किसी एक ही कवि द्वारा संभव नहीं। इसलिए यह भी संभावना रहती है कि उसके मूल रचयिता का नाम सर्वथा विस्मृत हो जाय और उसके स्थान पर किसी और का ही नाम उपयुक्त समझ लिया जाय। इस प्रकार के परिवर्तन अधिकतर वहीं हुआ करते हैं जहाँ रचनाओं का प्रचार मौखिक रूप में विस्तार पाता है और जहाँ इसके साथ रचनाओं की भाषा अथवा रूप की अपेक्षा उनमें 'निहित' भावों की सुरक्षा का प्रश्न सर्वप्रमुख रहा करता है। संत-साहित्य की यह एक विशेषता रही कि इसका अधिकांश रूप पहले इसी नियम के अनुसार परिवर्तित होता आया। एक ओर जहाँ, इसके पदों के गेयत्व के कारण, इस ओर प्रेरणा मिली वहाँ दूसरी ओर इसकी साखियों के छोटी और सरलतापूर्वक उद्धृत करने योग्य होने के कारण इस प्रवृत्ति को बल मिला। इस प्रकार एक ही बानी के कभी-कभी विविध रूप बन कर विभिन्न प्रतियों में प्रवेश पा गये। उदाहरण के लिए संत कबीर के ही समझे जाने वाले एक पद (क० ग्रं० सं० १२, पृ० ९२) का रूप अन्यत्र (गु० ग्रं० साहब, रागु आसा ६) दूसरा हो गया, इसी प्रकार एक अन्य पद (क० ग्रं० सं० १६२, पृ० १४१-२) का भी रूप दूसरे संग्रह (बीजक, सबद २) में भिन्न हो गया। यदि केवल कबीर की रचनाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन, विभिन्न प्रतियों और संस्करणों के अनुसार किया जाय, तो उनमें इतने प्रकार के पाठभेद मिलेंगे जितने कदाचित् अन्यत्र नहीं मिल सकते और हम उनके कारण एक विचित्र गोरखधंधे में भी पड़ सकते हैं।

संत-साहित्य-संबंधी रचनाओं के पाठभेद पर विचार करते समय हमारे सामने कुछ कठिनाइयाँ एक अन्य कारण से भी आ सकती हैं। यहाँ पर बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियों के प्रारंभ में, और कभी-कभी अंत में भी, हमें ऐसे रचयिताओं के नाम देखने को मिलते हैं जिनसे उक्त कृतियों के साथ वस्तुतः कोई भी संबंध नहीं रहता, किंतु जो उनके किन्हीं शिष्यों वा अनुयायियों द्वारा रचित होने पर भी स्वयं उनके ही नाम से प्रचलित हो जाती हैं तथा जिन्हें, इसी कारण, उनके नाम से चलाये गये पंथ वा संप्रदाय में बड़ी श्रद्धा के साथ देखने भी लगते हैं। यदि ऐसे ग्रंथ केवल छोटी-बड़ी रचनाओं के संग्रह-मात्र होते हैं, तो उस दशा में उनके अंतर्गत अनेक ऐसी रचनाएँ आ सकती हैं जो सचमुच उन्हीं संतों की कृतियाँ हैं और उन्हें अधिक से अधिक विकृत रूप दे दिया गया है। परन्तु जो निबंधों वा प्रबंधों के रूपों में हैं तथा जिनमें वैसे संतों के प्रति प्रशंसात्मक बातों के उल्लेख भी पाये जाते हैं, उनमें प्रायः उक्त प्रकार के उदाहरणों का अभाव रहता है और हमें उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करने का कोई साधन नहीं मिलता। इस कठिनाई का सामना हमें साधारणतः उस समय करना पड़ता है जब हम किसी संत की विविध रचनाओं को एकत्र कर उसकी 'ग्रंथावली' के सम्पादन का काम हाथ में लेते हैं और जब हमें कभी-कभी एक वृहत् ग्रंथराशि में से केवल उन्हीं को चुनना रहता है जिनका निर्माण वस्तुतः उसके द्वारा हुआ होगा तथा शेष को अस्वीकृत करने के लिए हमें उपयुक्त कारण भी देने पड़ जाते हैं।

अतएव, संत-साहित्य के मूल पाठों की प्रामाणिकता का निर्णय करने तथा उनके पुन-

उद्धार में सफल होने के लिए हमें अपनी दृष्टि न केवल हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध पंक्तियों पर डालनी पड़ेगी, अपितु अपना ध्यान अनेक प्रासंगिक बातों की ओर ले जाना पड़ सकता है। तभी हमारे द्वारा उन दोनों प्रकार के भ्रमों का पूर्ण निराकरण भी होगा जिन्हें हम प्रायः 'चाक्षुष' एवं 'समझसंबंधी' भूलों (अर्थात् क्रमशः visual errors and psychological errors) के नाम दिया करते हैं। इनमें से प्रथम को दूर करने में हमें यहाँ इस बात से सहायता मिल सकती है कि हम उन्हें सहसा भ्रमात्मक अथवा दोषजन्य ही न स्वीकार कर लें, प्रत्युत इसके साथ ऐसी धारणा को भी प्रश्रय दें कि वे बातें प्रयोगरूढ़िता के कारण भी संभव हो सकती हैं। इसी प्रकार उक्त दूसरे से भी बचने में हम उस परिज्ञान द्वारा लाभ उठा सकते हैं जो तद्विषयक मूल परिस्थितियों से संबंध रखता हो। संत-साहित्य की रचनाओं के लगभग आदिकाल, अथवा कम से कम संत कबीर के समय से ही उसमें बहुत-सी ऐसी अभिव्यक्तिपरक शैलियों का समावेश होता गया तथा उनके लिए ऐसे अनेक विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी होने लगा जिनके मूल कारण तत्कालीन परिस्थिति में भी ढूंढ़े जा सकते हैं। एक विशेष प्रकार के वातावरण एवं क्रमागत परम्परा ने संत कबीर के संस्कारों में कुछ अपूर्वता ला दी, जिसके आधार पर निर्मित उनके विलक्षण व्यक्तित्व के कारण अनेक विचित्र कथन-शैलियों को प्रेरणा मिली तथा अनेक शब्दों के स्वरूप में भी स्थिरता आ गयी। उनके अनुसरण वा अनुकरण में परवर्त्ती संतों द्वारा क्रमशः प्रोत्साहन मिलता गया जिससे वैसी प्रवृत्तियों में उत्तरोत्तर प्रौढ़ता आती चली गयी। इसके परिणामस्वरूप जो कुछ भी सामने आया उसे हमें रूढ़िवत स्वीकार करना पड़ गया। इस कारण ऐसे प्रयोगों को हम न तो सहसा भ्रमात्मक ठहरा सकते हैं, न इनकी प्रामाणिकता में वैसा संदेह प्रकट कर सकते हैं। यहाँ पर भाषाशैली एवं छंद-योजना से अधिक ध्यान भाव की ओर देने तथा अधिकतर विशिष्ट प्रयोग-रूढ़ियों के लिए छूट देते रहने की प्रवृत्ति अपेक्षित होगी।

●

मुंशीराम शर्मा

जायसी की विरहानुभूति का आध्यात्मिक पक्ष

अध्यात्म-प्रधान कवियों की वाणी में संयोग की अपेक्षा विरहानुभूति की जो तीव्रता प्रतिपादित हुई है, वह उनकी सहज साधना की परिचायिका है और इसी आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के ऋषि ने अपने प्रभु से वियोग का अनुभव करके ही कहा था, 'कब मैं उस वरुण, वरणीय देव के अन्तस्तल में, क्रोड़ में प्रवेश करूँगा? क्या वह मेरे समर्पण को स्वीकार करेगा? कब मैं प्रसन्न मन से उसके दर्शन कर सकूँगा?' (७–७६–२)। साधनों का उल्लेख करते हुए वैदिक ऋषि शारीरिक दमन के साथ मन के संयम को भी विस्मृत नहीं करते। प्रभु की पूजा करनी है तो शरीर का, इन्द्रियों का दमन तो करना ही पड़ेगा, मन को भी वश में करना होगा।[1]

योगदर्शन के अष्टांगों में भी शारीरिक और मानसिक तप वर्णित हुए हैं। ब्रह्मचर्य शारीरिक तप है तो अहिंसा और सत्य मानसिक तप के अन्तर्गत हैं। वैसे दोनों ही एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। एक की साधना दूसरे की साधना में सहायक ही नहीं होती, उसे प्रभावित भी करती है। साधना क्लेश-बहुल है, पर इन क्लेशों को साधक स्वेच्छा से वरण करता है। वह जानता है कि यही क्लेश उसे ऐहिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जायँगे, पृथिवी से छुड़ा कर उसे द्युलोक में प्रविष्ट करेंगे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पदमावत' में लिखा है—'जो दुख सहै होइ सुख ओकां। दुख विनु सुख न जाइ सिव लोकां ॥'

साधक अपने प्राणाधार की प्राप्ति के लिए अनवरत रूप से चतुर्दिक् भ्रमण करता रहेगा, वह उस पथ पर अपना सर्वस्व तक निछावर कर देगा, अपने अंग-अंग को तप की भट्ठी में डाल कर भस्म बना देगा और क्षण भर के लिए भी उसे तब तक स्थिरता या संतुष्टि प्राप्त नहीं होगी, जब तक वह अपने प्रियतम के द्वार पर उसकी एक झलक प्राप्त न कर ले। प्रिय के पथ में उसकी आँखें बिछी रहती हैं और हृदय में एक ही लालसा जाग्रत रहती है— 'कव सो घरी करै तहँ फेरा।' अर्थात् कब वह पुनीत घड़ी उदय होगी जब उसका प्रिय उसकी आँखों के आगे उपस्थित होगा।

अध्यात्म-पथ के पथिक जायसी ने सात समुद्रों के वर्णन रूप में जिन विघ्नों का उल्लेख किया है और उनके बहाने जिन विकट कष्टों का निर्देश किया है, उनसे प्रिय की ओर ले जाने

---

१. यो अग्निर्तन्वो दमे देवं मर्तः सपर्यति। – ऋ० ८-४४-१५।
युञ्जानः प्रथमं मनः तत्वाय सविताधिय। – यजु० ११-१।

वाले मार्ग की भीषणता का थोड़ा सा अनुमान तो हो ही जाता है। वेद ने अधम, मध्यम और उत्तम तीन पाशों का नाम लिया है, जिन्हें तम, रज और सत के आवरण अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहा जा सकता है। साधक जब तक इन पाशों, आवरणों और शरीरों से मुक्ति न प्राप्त कर ले, तब तक प्रिय की सधस्थता कहाँ है? स्थूल शरीर के मोह और लोभ दो साथी हैं, सूक्ष्म शरीर के साथ द्वेष और क्रोध लगे हैं; कारण शरीर से मद और अहंकार का संबंध है। लोभ पार्थिव पदार्थों के साथ होता है और मोह परिवार के प्रति। लोभ और मोह का एक जोड़ा है। द्वेष में ईर्ष्या रहती है और वह मन में छिपा भी रहता है; क्रोध में अन्दर की द्वेषाग्नि भड़क उठती है। द्वेष और क्रोध का दूसरा जोड़ा है; और दोनों की अभिव्यक्ति मनोकामना की पूर्ति में बाधक बनने वाले व्यक्ति के प्रति होती है। मद में मानव अपनी ही महत्ता के चारों ओर चक्कर काटता रहता है और अपने बड़प्पन के नशे में किसी को कुछ भी नहीं समझता। अहंकार मद का बड़ा भाई है जो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक अपना विस्तार चाहता है। इस प्रकार मद और अहंकार का तीसरा जोड़ा है। इन्हीं को भारतीय मनीषियों ने षड्रिपुओं की संज्ञा दी है।

जायसी ने मोह को क्षार, लोभ को क्षीर, द्वेष को दधि, क्रोध को उदधि, मद को सुरा तथा अहंकार को किलकिला समुद्र से उपमित किया है। मोह उमड़ कर विवेक, सत्य या वास्तविकता पर परदा डाल देता है। अतः जैसे ही विवेक जाग्रत होगा, मोह भाग जायगा। मोह के कारण कभी मानव ऊँचा उठ जाता है और कभी नीचे गिर जाता है।[२] ऐसा मोह के आलम्बन के कारण होता है। वास्तविकता के प्रकट होते ही हमें मोह से मुक्ति मिल जाती है।[३] लोभ के सम्मुख माणिक्य, मोती और हीरे रहते हैं, जिन्हें देख कर मन अधीर होता है।[४] द्रव्य और उसका उपभोग मानव को प्रभु-संयोग के पथ से भटका कर विनाश की ओर उन्मुख कर देते हैं।[५] जायसी लोभ को दूर करने के लिए योग और त्याग के मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। योग का मार्ग सब के स्थान पर एक के स्नेही बन जाने का मार्ग है।

द्वेष में जलन है; पर यदि द्वेष के उद्देश्य को हम बदल सकें, तो द्वेष का भाजन भी बदल जायगा। हम किसी से प्रतिस्पर्धा के कारण द्वेष करते हैं। प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या पर अवलम्बित है। कोई हमसे लौकिक उन्नति की दौड़ में आगे न निकल जाय; ज्ञान, बल या धन में कोई हमारा प्रतिपक्षी न रहे, हमारे द्वेष का यही लक्ष्य है। इसके स्थान पर यदि हम अपनी न्यूनताओं को द्वेष का लक्ष्य बना लें तो दूसरों से द्वेष करने की अपेक्षा हम अपने पर ही झुंझलाने लगेंगे। यह मन्यु की अवस्था है जिसमें मनन और अपने दोषों का परिमार्जन सम्मिलित है। जायसी ने इसीलिए लिखा है: 'जो जानें सत आपुहिं जारैं'। यह अपने अवगुणों को जलाना है। यह द्वेष ऐसा दधि है जिसकी एक बूंद से ही द्रव्य-लोभ का समग्र दूध जम जायगा। दूसरों से द्वेष करना तो काँजी

---

२. खिन तर होहिं खिनहिं उपराहीं। —पदमावत ; सात समुद्र खण्ड, दोहा १। ३. जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा। —वही। ४. दरब देखि मन होहि न धीरा। —वही, दो० ३। ५. पंथ भुलाइ बिनासै जोगू। —वही, दो० ३।

की बूंद है जो इसे फाड़कर फैला देगी, दूध का भी जल बना देगी जिसकी प्रवृत्ति ही निम्नगा है। द्वेष से द्वेष बढ़ता ही जायगा और वह हमें नीचे से नीचे गिराता जायगा।

द्वेष-दमन के लिए जायसी ने रूपक की लपेट में प्राणायाम की ओर भी संकेत किया है। यह रूपक है लोभ-दूध को द्वेष-दधि से जमा कर मन की मथानी से साँस की डाँडी (नौती) द्वारा हृदय या भाव की चोट दे-देकर साढ़ी को फोड़ना और प्रेमरूपी घी को निकालना। इस क्रिया द्वारा द्वेष नहीं, प्रेम का विस्तार होगा। प्रेम ही द्वेष का शमन करने में समर्थ है। द्वेष करना ही है तो दूसरों से नहीं, अपने दोषों से द्वेष करो। अपने दोषों से द्वेष तथा दूसरों के सद्‌गुणों से प्रेम जितना ही अधिक होता जायगा, उतना ही अधिक हम आत्मा के निकट आते जायँगे। प्राणायाम और हार्दिक प्रेम-भावना द्वेष के दूरीकरण की अमोघ ओषधि हैं। प्रेम की अग्नि में जो जलन-क्लेश सहना पड़ता है, वह व्यर्थ नहीं जाता, एक न एक दिन सुफल लाता ही है।[६]

क्रोध भयंकर है। यह भभकता है तो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक को जला डालता है। शरीर की धरती और मस्तिष्क का स्वर्ग दोनों इसकी भीषण लपटों में जलकर ख़ाक हो जाते हैं। भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, आँखों में ख़ून उतर आता है, नासिका के रंध्र ज्वारभाटा बन जाते हैं और दाँत अधरों को चबाने लगते हैं। जैसे चूल्हे पर चढ़े हुए कड़ाह में तेल खौलता है, वैसे ही सारा शरीर खौलने लगता है। न शरीर आपे में रहता है, न दिमाग़। इस क्रोध को बेध कर शासन में रखने वाला प्रेम का मलयगिरि है। प्रेमरूपी चंदन का सौरभ जहाँ-जहाँ पहुँचेगा, वहीं-वहीं क्रोध का वेग शांत होता जायगा और क्या धरित्रीरूपी शरीर तथा क्या स्वर्गरूपी मस्तिष्क, सब के सब अपनी-अपनी स्थिति में आ जायँगे।[७]

मद तो नशा है ही। मद में ग्रसित व्यक्ति झूम-झूम कर चलता है।[८] उसका शिर फिर जाता है, सामान्य अवस्था में नहीं रहता। दर्प से उन्मत्त बन कर वह कर्त्तव्य-पालन से भी विमुख हो जाता है। मैं बहुत बड़ा हूँ, मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है? मैं यह भी नहीं करूँगा, वह भी नहीं करूँगा, देखें किसकी मजाल जो मेरी ओर आँख भी उठा सके? इस प्रकार मद-छत्र को ऊपर ताने हुए व्यक्ति दूसरों की तो अवहेलना तथा अपमान करता ही है, अपने सच्चे अभ्युत्थान का भी शत्रु बन जाता है। कर्त्तव्य-पथ पर पैर नहीं रखेगा, तो आगे बढ़ ही कैसे सकेगा? जायसी कहते हैं: नशा पीना ही है, तो प्रेम का नशा पियो और प्रेम के मार्ग में सिर को पतंगे की भाँति बलिदानी बनाओ। जब तक बलिदान की, त्याग की भावना जाग्रत न होगी, तब तक अपना खाद्य, साध्य या लक्ष्य भी प्राप्त नहीं होगा।

विघ्नों में सबसे ऊपर अहंकार है। जायसी ने इसे किलकिला समुद्र माना है, जिसके सामने सभी धैर्य छोड़ बैठते हैं और भयभीत बन जाते हैं। अहंकार पर्वत की भाँति

---

६. प्रेम कै आगि जरै जो कोई। दुख तेहि कर न अबिरथा होई॥ —वही; दो० ४। ७. यह जो मलयगिरि प्रेम कर बेधा समुद्र समीर। —वही; दो० ५। ८. जो तेहि पियै सो भांवरि लेई। —वही; दो० ५।

उठता है। इसके उठते ही समुद्र-मंथन जैसी गंभीर हलचल उत्पन्न हो जाती है, जो कभी-कभी प्रलय की भी सूचना देने लगती है।[9] अहंकारी व्यक्ति का नेत्रस्फालन निखिल ब्रह्माण्ड को निगल जाने की आकांक्षा रखता है। कुंभकार के चक्र की भाँति घूमता हुआ यह बढ़ता ही जाता है और एक बार तो अपने सामने पड़ने वाले की हिम्मत पस्त कर ही देता है। साधक का सबसे बड़ा शत्रु यही है। साधना में जो अंतिम और सब से प्रबल संकट है, वह यही अहंकार है।[10] साधक को सत्य से विचलित करने वाला भी यही है।[11] इसकी तीव्रता और सूक्ष्मता दोनों ही अपने प्रभाव-चमत्कार से साधना-पथ को आक्रान्त कर देती हैं। जो साधक इनकी चपेट में आ गया, वह नष्ट हो गया; पर जो इन से बच गया, वह स्वर्ग-सुख का अधिकारी भी निश्चित रूप से बन जाता है।

अहंकार पर विजय प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता है।[12] गुरु के रूप में मानों हम अपने से बड़े किसी व्यक्तित्व की सत्ता स्वीकार करने लगते हैं। गुरु का अर्थ ही महान् है। गुरुओं का गुरु तो परमेश्वर ही है, पर वह दृष्टिगोचर नहीं है। गुरु सदैव आँखों के आगे रहता है और साधक पल-पल में उसकी अनुभूति से लाभ उठाता है। गुरु की गुरुता सदैव उसके समक्ष प्रस्तुत रहती है। अपने सामने एक महती सत्ता की अनुभूति साधक को अहंकार से बचाने वाली है। गुरु का महत्व साधना-पक्ष में इसीलिए अनिवार्य माना गया है। यही गुरु उस परम गुरु से मिलाने वाला है। पर यह गुरु वस्तुतः गुरु हो, जो न तो स्वयं स्वर्ग का राज्य चाहता है, न सिद्धिजन्य दैवी उपभोगों की आकांक्षा रखता है और न अपने शिष्य को ही उनके ऐश्वर्यों की ओर ले जाना चाहता है। गुरु और शिष्य दोनों ही केवल उसके दर्शनों के अभिलाषी हों, जिसकी प्रेम-तरंगें प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं। यह सत्ता निखिल सत्ताओं की मिति है, चेतनों में चेतन है, देवों में देव और ज्योतियों में ज्योति है।

'पार्वती महेश खंड' में जब पार्वती सुरूपा अप्सरा बन कर रतनसेन के सामने मोहक चकाचौंध उत्पन्न करने लगी तो रतनसेन ने साधक की दृष्टि से उसे उपयुक्त उत्तर देते हुए कहा था—

'अप्सरे ! भले ही तू सुन्दरी हो, अनुपमेय स्वर्ग की निधि हो, पर मुझे तो पद्मावती के अतिरिक्त, अपने ध्येय से पृथक्, कोई भी अन्य आकर्षक प्रतीत नहीं होता। और मैं जो उसके स्मरण में मरा जा रहा हूँ, उसका लाभ तो तू स्वयं अपनी आँखों से देख रही है। देख, मैं अभी उसके लिए प्राण दे भी नहीं पाया, अभी तो केवल कष्ट सहन कर रहा हूँ, तप की ज्वाला को झेल रहा हूँ, इतने में ही तेरी जैसी अप्सराएँ मेरी सेवा में आकर खड़ी हो गईं। यदि प्राण दे दूंगा, तो स्वर्ग में क्या बीतेगी, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।'[13]

---

९. माथेरंभ समुद जस होई। भै परलय नियराना जबहीं।—वही; दो० ७। १०. एही ठांव सांकर सब काहू।—वही; दो० ७। ११. एही समुद आये सत डोला। वही; दो० ७। १२. एही ठांव कहँ गुरु सँग लीजिय।—वही; दो० ७। १३. पार्वती महेश खण्ड-दोहा; दो० ४।

साधक का लक्ष्य वही परम सत्ता होनी चाहिए। स्वर्ग लेकर वह क्या करेगा।[१४] पार्थिव सुखों की भाँति स्वर्गिक सुखों की भी एक सीमा है। साधक का सुख, उसका चरम आनन्द तो प्रभु की प्राप्ति है। यह एकनिष्ठ प्रेम से ही संभव है जो स्वर्ग-सुख को भी निकट खींच लाता है। हाँ, साधक उसके आकर्षण-पाश में आबद्ध नहीं होता। वह स्वर्ग-सुख को भी लात मार देता है। गुरु-कृपा उसे प्रभु-कृपा तक पहुँचा देती है जिससे वह प्रभु-प्रेम को, भगवद्‌भक्ति को भुक्ति और मुक्ति दोनों के ऊपर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो जाता है।

ऊपर जिन विघ्नों तथा विघ्न-जन्य क्लेशों की ओर संकेत किया गया है, वे सभी साधकों की अनुभूति के विषय हैं। इन क्लेशों से साधक घबड़ाता नहीं है। गुरु ने उसके अन्दर प्रभु-वियोग की जो चिनगारी डाल दी है, उसको सुलगाने तथा प्रज्वलित करने में वह लगा रहता है। क्लेशों का वरण मानों उस चिनगारी को जाज्वल्यमान रूप देने में उसका सहायक बनता है। जो सहायक है उसे तो अपनाया ही जाता है, दुतकारा नहीं जाता। लौकिक वियोगी भले ही क्लेशों से भयभीत हो, पर परमार्थ-प्रेमी तो वियोग की अनुभूति को अपना सर्वप्रमुख सहारा समझता है। अतः वियोग की अनुभूति में आ जाने वाले क्लेशों का भी वह स्वागत करता है। वियोग को दूर करने वाले जितने साधन हैं, वे सब उसे प्यारे हैं। जो आवरण उसे प्रभु के सम्मुख जाने से रोकते हैं, उन्हें तो हटाना ही पड़ता है। तिल-तिल जलते हुए, आवरण के एक-एक अवयव को चीरते हुए, उसे अपने प्रिय के पास पहुँचना है। षड्‌रिपुरूपी छः समुद्र पार करके अन्त में रतनसेन भी सत के प्रशान्त मानसर में पहुँच ही गया।

विघ्न तो आते ही रहते हैं, पर जो साहसी हैं, वे विघ्नों पर विजय प्राप्त कर ही लेते हैं। जो साधक हिम्मत छोड़ देगा, वह घुन की भाँति सूखा काठ ही खाता रहेगा, पर भ्रमर की भाँति जो लगन से चलता रहेगा, उसे कमल-रस रूप आनन्दमय प्रभु का रसास्वाद प्राप्त होगा ही। सत्वगुण रूपी मानसरोवर की प्रशान्त स्थिति तम तथा रज के अन्धकार, रात्रि की कालिमा और मोह, द्रोह आदि बटमारों की चोटों से बचाने वाली है। वहाँ निर्मल प्रकाश की किरणें हैं जिनके पड़ते ही साधक 'अस्ति अस्ति' का भान करने लगता है। इसी मानसर में साधक को अपने से पूर्व सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्धों, हंसों, मुक्तात्माओं के दर्शन होते हैं। यहीं आत्मज्ञान होता है और यहीं से परमात्म-प्राप्ति। यह वियोगानुभूति है जो साधक को क्लेश-कष्ट, दुःख-दाह सबसे पार करती हुई उसके प्रिय से मिला देती है—

जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥

---

१४. हो कविलास काह लै करऊँ।—वही दो० ४।

उमाशंकर जोशी

कविकर्म

काव्य-रचना की प्रक्रिया का परिचय कवियों, काव्य-विवेचकों एवम् मनोवैज्ञानिकों ने देने का प्रयत्न अवश्य किया है। फिर भी एक वस्तु पर प्रकाश डालने में ये समस्त प्रयत्न अधूरे ही रहे हैं। कवि-चित्त में काव्यकृति का प्रारंभ किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर किसी को प्राप्त नहीं होता। 'चलो,चलें, आज तो काव्य की रचना करें—'इस संकल्प-शक्ति के बूते पर कोई कवि-समर्थ कवि भी काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। काव्य का आविर्भाव जब होना होता है, तभी होता है; यह बात कवि की इच्छा-शक्ति के बस की नहीं।[1] काव्य-सर्जन के प्रथम क्षण में तो कविता और रहस्यदर्शिता (mystcism) का सखी-संबंध रहता है।

उस क्षण सर्जक-कवि अपने चित्त में किसी संचार, स्पंदन, सरसराहट का अनुभव करता है। नाटक का कोई पात्र जिस प्रकार अपटीक्षेप से रंगभूमि पर आकर प्रकट होता है, उसी प्रकार कविचित्त में अनायास ही कुछ प्रादुर्भूत हो जाता है। उस समय वह हमेशा सुस्पष्ट एवं सुरेख भी नहीं होता, धुँधला-सा प्रतीत होता है। फिर भी वह तुरंत ही कविचित्त को वश में कर लेता है और कविचित्त भी सामने से उसे पकड़ने को प्रवृत्त होता है और दोनों के परस्पर-कार्य (inter-action) का प्रारंभ होता है।

इन क्षणों में कवि को बहुधा कृति की बीज-रूप कल्पना, प्रतिरूप या प्रतीक अथवा कृति की सूक्ष्म रूपरेखा अथवा जैसा कि कइयों के उदाहरणों में होना संभव है, एक या अधिक पंक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वालेरी कहता है कि काव्य की एकाध पंक्ति तो प्रभु या प्रकृति प्रदान करती है (une ligne donnéé)। वह यही प्रारंभ की देन ही है।

हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि वह क्षण कब आयेगा, कैसे आयेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई प्राकृतिक दृश्य, कोई मानवीय संबंध या एकाएक किसी के द्वारा जाग्रत स्मृति उस क्षण को निमंत्रित कर देगी। किसी समय किसी पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते या उसके अंशों का स्मरण करते-करते चित्त निस्पंद रुक जाये और वह उस क्षण के आगमन का अवसर हो। कभी-कभी तो शारीरिक थकान की अवस्था में भी, हाथ में लिया हुआ काम—व्यावहारिक काम—पूरा होने के पश्चात् वह क्षण इस प्रकार प्रकट होता है मानों देर से प्रतीक्षा कर रहा हो।

---

१. 'A man cannot say, "I will compose poetry." The greatest Poet even cannot say it;....'—Shelley, *Defence of Poetry*.

यह भले ही न कहा जाय कि वह क्षण कब प्रकट होगा, पर इसमें तो ज़रा भी संदेह नहीं कि कवि उसे आँख के इशारे से ही पहचान लेता है।

यह तनिक गूढ़-सी प्रक्रिया 'प्रेरणा' के नाम से पहचानी जाती है। कोई कविचित्त को प्रेरित करता है, उसे धक्का देता है। प्रेरणा के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'inspiration'–अंतः श्वसित–कविचित्त में होनेवाली प्रक्रिया पर प्रकाश डालनेवाला है।

प्रेरणा के पश्चात् तत्काल ही होनेवाले रचना-कार्य में कई बार वह इतनी सक्रिय बन जाती है कि कविचित्त पंक्ति-खंड या पूर्ण पंक्तियाँ वेगपूर्वक नोट करने लगता है। कई उदाहरणों में यह देखा गया है कि यह प्रक्रिया काफ़ी देर तक सक्रिय रहती है और कवि धड़ल्ले के साथ अवतरित पंक्तियों को अंकित करता जाता है—कुछ पंक्तियाँ पूर्ण नहीं होतीं, बीच में शब्द बाकी रहते हैं। कवि उन रिक्त स्थानों को छोड़कर आगे बढ़ता है। कई पंक्तियाँ तो अपने एक से अधिक रूप एक साथ प्रकट करती हैं। पसंदगी के लिए बिना रुके उस समय कवि उन्हें लिखकर अग्रसर होता है।

कवियों और काव्यरसिकों के द्वारा सर्जन-काल की इस प्रेरणा की प्रक्रिया की महिमा सामान्यतया गायी जाती है। कवि शेली[२] सर्जन में प्रवृत्त चित्त की 'बुझते अंगारे' की उपमा देता है और यह कहता है कि किसी अदृश्य 'प्रभाव' के वशीभूत होकर वह क्षण भर प्रकाशित हो उठता है। 'यह प्रभाव यदि अपने मूल शुद्धि एवम् शक्ति के साथ टिक जाय तो उसके परिणाम के रूप में महत्त्व की आगाही करना असंभव है; किन्तु जब रचना-कार्य प्रारंभ होता है, उसके पूर्व प्रेरणा कब की विलुप्त होने लगी होती है और संसार तक पहुँची हुई सबसे अधिक गौरवशाली कविता भी कदाचित् कवि की मूल विभावना की पांडुर छाया मात्र हो।'[३]

अनायास ही प्राप्त आरंभ की वस्तु के विषय में इस प्रकार के महिमा-वचनों के उद्‌गार तो समझे जा सकतें हैं, परन्तु काव्य-रचना के बारे में आज तक जो कुछ भी जाना जा सका है, उससे यह स्पष्ट है कि आरंभ में प्राप्त वस्तु को चाहे जितना गौरव प्रदान करें, फिर भी 'कवि की मूल विभावना' क्या थी—इसका अंदाज़ तो काव्य का सर्जन पूर्ण होने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है, उससे पूर्व नहीं। और इस बीच में कवि की कारवाई[४]—आप चाहें तो उसे

---

२. '...for the mind in creation is as a fading coal, which some invisible influence...awakens to transitory brightness;...' *Ibid.* ३. 'Could this influence be durable in its original purity and force, it is impossible to predict the greatness of the results; but when composition begins, inspiration is already on the decline, and the most glorious poetry that has ever been communicated to the world is probably a feable shadow of the original conceptions of the poet.'—*Ibid.* ४. अंग्रेज़ी Poem शब्द ग्रीक Poieo make (निर्माण करना) से संबद्ध है। (एक भाषाविद् इस ग्रीक शब्द का संबंध संस्कृत 'पुंस्' से समझता है)।

दस्तंदाजी भी कह सकते हैं—शुरू हो चुकी होती है। जिस प्रकार प्रारंभ की प्रेरणा के अभाव में काव्य संभव नहीं है, उसी प्रकार कवि के इस कौशल के बिना भी काव्य का होना असंभव है। स्वयं शेली ने मेडविन को अपने एक पत्र में यह लिखा है कि 'कविता का बीज नैसर्गिक एवं अ-वैकल्पिक है, किन्तु उसके विकास के लिए अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है।'[५]

कविकर्म की पहली भूमिका वह है जब कि कवि प्रेरणा का वह क्षण या क्षणांश प्राप्त करता है – जिसकी योजना करना कवि के लिए सम्भव नहीं; जिसमें कवि के कार्य का आरंभ हो चुका है और कतिपय उदाहरणों में तो प्रेरणा सक्रिय भी दृष्टिगोचर होती है, वह है दूसरी भूमिका; तीसरी भूमिका काव्य के सर्जन की समाप्ति तक की है। प्रेरणा किस विषय की प्राप्त हुई थी—इसका पूर्णरूपेण वास्तविक परिचय तो तीसरी भूमिका की परिसमाप्ति के पश्चात्—काव्य के रचे जाने के बाद ही प्राप्त करना संभव है। सच बात तो यह है कि दूसरी और तीसरी भूमिका का भेद करना समुचित नहीं, क्योंकि जब प्रेरणा सक्रिय प्रतीत होती है तब भी कवि की प्रवृत्ति का प्रारंभ हो ही चुका होता है और तीसरी भूमिका में भी एकाग्रता द्वारा—(एकाग्रता के लिए प्रत्येक कवि का भिन्न साधन होता है। शिलर के जैसे कवि टेबल में सड़ी हुई सेव रखते हैं, कोई सिगरेट के कश लगाता रहता है, कोई चाय या काफ़ी पीता रहता है.....इत्यादि।) प्रेरणा की सक्रियता की स्थिति तक पहुँचे बिना काम नहीं चलता। प्रेरणा-क्षण की पकड़ दूसरी भूमिका में मजबूत होती है। पर यदि वह कभी भी शिथिल हो तो कृति संपूर्ण रची ही नहीं जा सकती। कॉलरिज कहता है कि महाकाव्यों की रचना में बीस वर्ष लगते हैं। इसका यह अर्थ है कि प्रेरणा-क्षण के वश में कविचित्त बीस वर्ष तक रहता है। महाकाव्य को गौरव प्रदान करने के लिए यह एक सत्य बात है—ऐसा मैं मानता हूँ। जिसने कविचित्त को वर्षों तक विश्राम नहीं लेने दिया वह प्रेरणा वास्तव में मानवजाति के लिए अति अमूल्य होनी चाहिए। दूसरी और तीसरी भूमिकाओं में प्रेरणा-क्षण की पकड़ कभी भी छूटने नहीं पाती और दूसरी ओर कवि का कार्य भी दूसरी भूमिका के आरंभ से ही शुरू हो गया होता है।

तो, पहली भूमिका प्रेरणा-क्षण की और दूसरी भूमिका प्रेरणा-क्षण की पकड़ के अंतर्गत होनेवाले रचनाकार्य की—इस प्रकार दो ही भूमिकाओं की गणना करना कदाचित् अधिक उचित है। छोटे-छोटे भाव-गीतों की रचना मुख्य रूप से दूसरी भूमिका के आरंभ में ही समाप्त हो जाती है, महाकाव्यों और पद्य-नाटयों के संबंध में यह भूमिका सुदीर्घ काल तक रहती है। गीत हो या महाकाव्य, अंत में वह किस प्रकार की रचना होगी—इसका यथार्थ ज्ञान तो स्वयं कवि को भी उसकी समाप्ति के पश्चात् ही होता है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में प्रेरणा की महत्ता को न समझने वाले का गीति-काव्य की रचना के प्रति, और कवि की प्रवृत्ति की महिमा न समझ सकने वाले का महाकाव्य के प्रति ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

---

५. 'The source of poetry is native and involuntary, but requires severe labour in its development.'—Shelley in a letter to Medvin, *The World of Poetry*, edited by Clive Sansom, p. 112.

कहा जाता है कि दर्शन एवं वर्णन के कारण कवि कवि है। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वर्णन के पूर्ण होने के पूर्व दर्शन का क्या रूप था। यदि कोई कवि यह कहे कि मुझे इस प्रकार की प्रेरणा प्राप्त हुई है, इस प्रकार का दर्शन हुआ है और मैं अब उसका वर्णन करना चाहता हूँ, उसे शब्दबद्ध करना चाहता हूँ तो हम उससे कह सकते हैं कि जो आप कहते हैं, ठीक उसी प्रकार का आपको दर्शन प्राप्त हुआ हो तो आपके ये शब्द ही उसका वर्णन हैं, अर्थात् आपका काव्य तो इन शब्दों में रचा जा चुका है, फिर अब अन्य प्रयत्न की आवश्यकता क्या है? अथवा यह माना जाय कि आप यह जो कुछ कह रहे हैं, ठीक उसी प्रकार का हूबहू आपका दर्शन नहीं है। साक्षात् रचना में संलग्न होकर भाषा द्वारा काम करते-करते ही अंत में दर्शन या प्रेरणा के सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। भले ही कवि अपने मनोभावों को किसी से कहे या मित्र को पत्र में निर्दिष्ट करे अथवा अपने उपयोग के लिए तत्संबंधी गद्य टिप्पणियाँ लिखे, किन्तु अंत में जो काव्य-कृति साकार होती है वह तो उसके उपर्युक्त प्रारंभिक कथन से भिन्न प्रकार की ही होती है। थोड़े ही समय में रचित (रच जाते-से प्रतीत होते) गीति काव्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। ध्रुव पंक्ति के सूझते ही यदि कवि अपने मन में कहे कि सारी रचना इस प्रकार की होगी तो उसकी यह उक्ति असामयिक एवं अयथार्थ ही है; भाषा द्वारा काम करते-करते अंत के समीप पहुँचने के पहले या अंत तक, उसे स्वयं भी उस रची जानेवाली कृति के विषय में संपूर्ण ज्ञान नहीं होता। कुछ सूझा है और मैं उसे काव्य में प्रकट कर रहा हूँ—बात ऐसी नहीं है। जो कुछ भी सूझा है, काव्य के ही रूप में सूझा है और उस काव्य-रूप के पूर्णतया प्रस्फुटित होने के पूर्व यह कैसे कहा जा सकता है कि क्या सूझा है?

'कुछ सूझा है—' यों कहना प्रेरणा या दर्शन या इसी प्रकार के अन्य शब्दों से मुझे अधिक उचित लगता है। वैयक्तिक जीवन में अनुभूत कवि का भाव, काव्य में अभिव्यक्त भाव और रसिक-भावक द्वारा अनुभूत भाव—इन तीनों में भिन्नत्व है। कवि का मूल भाव कोई एक होता है और वह भाव अपना कार्य कर जाता है। परंतु काव्यकृति में कवि का वह मूल वैयक्तिक भाव कहीं ढूंढ़ने पर भी प्राप्त नहीं होता। साधारणीकृत होकर उसने काव्यरूप धारण कर लिया है। आचार्य अभिनवगुप्त के कथनानुसार कवि-गत साधारणीभूत संवेदन काव्य के रूप में प्रकट हुआ है और वही रस है जो भावक द्वारा अनुभूत होता है।[६]

किसी एक भाव के साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत हो सकने की संभावना है—यह अनुभव कर, फिर कवि यह जानने के लिए भाषा द्वारा प्रयत्नशील होता है कि उस वस्तु में कितना क्या है। रचना की समाप्ति पर उसे यह अनुभव होता है कि उसका साधारणीभूत संवेदन साकार हुआ है और तत्पश्चात् वह भाषा द्वारा कार्य करना बंद करता है। अंत में रचना के रूप में कविगत साधारणीभूत संवेदन प्रकट हुआ है। यह 'कवि-संविद' है जो स्वयमेव रस है

---

६. 'कविगतसाधारणीभूत संविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नट व्यापारः, सैव च संवित् परमार्थतः रसः।'—अभिनव भारती। इसके साथ ही अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत का वचन ध्यान में रखना उचित है: 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'

अर्थात् जिसकी अनुभूति काव्यानुभव के समय भावक को होती है याने जो भावक-संविद के तुल्य है।

काव्य सूझा अथवा प्रेरणा प्राप्त हुई—इसका यह अर्थ है कि किसी भावानुभव के परिणाम स्वरूप मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि मेरी मानवीय संविद में, भावकों की संविद के साथ समानता स्थापित करने की कवि-संविद की शक्यता है। एक उदाहरण लें: एक व्यक्ति प्रेम में है। यह प्रेमानुभव उसका अपना मानव के रूप में व्यक्तिगत अनुभव है। किन्तु प्रियतमा सामने खड़ी है और प्रेमानुभव के उस क्षण के साथ ही कवि-संविद की संभावना उसके हृदय में चमक उठती है। तत्काल ही प्रेमी के रूप में उसकी जो मानवीय संविद थी उससे उसका रस हट गया और उसमें स्थित कवि-संविद की संभावना में वह लवलीन हो गया। दूसरे शब्दों में—विधि की वक्रता को उल्लिखित कर कहें तो—सामने खड़ी हुई प्रियतमा के साथ समान अनुभव में निमग्न होने का त्यागकर, उसके ही साथ के अनुभव के फलस्वरूप, भिन्न-भिन्न देश और काल के अज्ञात तथा अभी तक बहुतेरे अज्ञात भावकों की संविद के साथ समान अनुभव की उपलब्धि की संभावना के प्रति वह आकर्षित हुआ।

मानवीय संविद में से कवि संविद प्रकट करने की संभावना का इंगित ही प्रेरणा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह कवि-संविद, कविगत साधारणीभूत संवेदन ही भावक के द्वारा आस्वादित रस है और काव्य उसका माध्यम है; अतः यदि हम प्रेरणा की प्राप्ति की घटना को 'काव्य सूझने' की शब्दावली द्वारा प्रकट करें तो अधिक युक्तियुक्त होगा।

काव्य सूझा है, मिला नहीं है। यही नहीं, वह क्या है, इसका भी पूरा पता नहीं। काव्य तक पहुँचने के लिए भाषा का आधार ग्रहण करना पड़ता है। भाषा के शब्द सार्थ होते हैं और प्रत्येक शब्द का अर्थ बाह्य जगत् से संबद्ध रहता है। काव्य-रचना में, शब्द-योजना करते समय, कवि बाह्य जगत् के अपने अनुभवों का किस रीति से समावेश करता है, यही महत्त्व की बात है।

अनुभवात्मक बाह्य जगत् काव्य में यथारूप नहीं रहने पाता, भाव से परावर्तित होकर परिवर्तित हो जाता है। कविता का जगत् भावजगत् है। रंगभूमि पर अभिनीत नाटक में आलंबन विभाव के रूप में दुष्यंत और शंकुतला प्रस्तुत होते हैं, वे लौकिक दुष्यंत और शंकुतला नहीं हैं। कालिदास की कृति की शंकुतला और किसी अन्य की कृति की शंकुतला में समानता नहीं होती; इससे भी यही सूचित होता है कि कवि-कृति में जगत् के मनुष्य का वही-का-वही रूप नहीं रहता। अभिनवगुप्त का विभावों को बार-बार अलौकिक के रूप में अभिहित करना समुचित ही है।

काव्य-रचना के लिए भाषा का उपयोग करने के साथ अनुभवात्मक जगत् भावजगत् में परिवर्तित होने लगता है। कवि भले ही यह माने कि वह अपनी प्रियतमा पर काव्य लिख रहा है, भीतर या शीर्षक में प्रियतमा का नामोल्लेख भी भले ही वह करे, यदि वह कृति काव्य बन पायी हो तो उसके अनुभव की प्रियतमा के स्थान पर उसमें भावमय अलौकिक व्यक्ति ही प्रवेश कर गया होगा।

फिर भी भले ही भावमय रूप में, अनुभावात्मक जगत् का बहुत सारा, कवि की रचना में प्रवेश कर जाता है। कवि का अपना प्रत्यक्ष अनुभव ही नहीं, अपितु कल्पना द्वारा अनुभूत विषय, अनेक सत्य या कल्पित अनुभवांशों के आधार पर संयोजित सामग्री भी रचना में प्रवेश पाये हुए रहती है। इस विषय में कवि की स्मृति अनुभव या अनुभवांश लाकर कवि के समक्ष उपस्थित कर देती है। काव्य-रचना के लिए उपयुक्त अनुभव अथवा अनुभवांश, जागतिक व्यवहार में जैसे माने जाते हैं, वैसे महत्वपूर्ण न भी हों; वे उनके समान हों, जो जगत् में सामान्य, मूल्य-हीन और विस्मरणीय समझे जाते हैं; फिर भी काव्य-रचना के लिए वही उपयुक्त होते हैं और स्मृति उसी सामग्री को कवि के समक्ष ला उपस्थित करती है। महान् कवि की यह एक विशेषता होती है कि जो कुछ भी उसके अनुभव में आता है, उसमें से अधिकांश किसी न किसी प्रकार उसकी काव्य-सृष्टि में औचित्यपूर्वक प्रवेश कर जाता है, अलबत्ता, कविता में प्रवेशित जगत् के अनुभवों की इस सामग्री का भावमय रूपांतर हो ही जाता है।

कवि यह कार्य भाषा के माध्यम से करता है। कुंतक ने इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है[७] — कवि के आन्तर-परिस्पंद (प्रेरणा) के परिणामस्वरूप वास्तविक जगत् के पदार्थ उसके चित्त में भावमय अलौकिक रूप में प्रकट होते हैं और वह उस भावमय विषयवस्तु का वर्णन करने की क्षमतावाले शब्द-चयन करता है—अर्थात् कवि के अनुभव की जागतिक विषयवस्तु अपना जागतिक स्वरूप त्यागकर कविचित्त में भावमय बन जाती है और शाब्दिक रूप में परिवर्तित हो जाती है। अनुभव-वस्तु के भावमय रूप के साथ शाब्दिक रूप का पूर्ण सामंजस्य होता है। इसी कारण हमें 'साहित्य' की कृति प्राप्त होती है। शाब्दिक रूप का जो साहित्य (सहितता) सिद्ध होता है वह कवि की मूल अनुभव-वस्तु के साथ नहीं, किन्तु उस मूल अनुभव-वस्तु के भावमय रूप के साथ होता है।

यह तथ्य एलियट की दृष्टि के बाहर रह गया सा प्रतीत होता है। हेम्लेट के कला-तत्त्व की आलोचना करते हुए एलियट ने अपना सुप्रसिद्ध 'विषयगत सहसंबंधक' (objective correlative) का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। 'कला के रूप में भाव को व्यक्त करने का एक मात्र मार्ग, विषयगत सह-संबंधक की खोज करने का ही है; दूसरे शब्दों में वस्तुओं का एक संबद्ध समूह, एक घटना, प्रसंगों की शृंखला—जो उस 'विशेष' भाव का सूत्र बना रहे; इस प्रकार कि जब उन बाह्य घटनाओं को, जो इन्द्रियगम्य अनुभव में परिणत होनी चाहिए, पेश किया जाय तब वह भाव तुरंत ही उद्दीप्त हो।'[८]

---

७. 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणं, यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीम् अवतरन्तः तथाविधविशेष प्रतिपादनसमर्थेन अभिधानेन अभिधीयमानाः चेतनचमत्कारिताम् आपद्यन्ते।'—वक्रोक्तिजीवित।

८. 'The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'; in other words, a set of objects, a situation,

यहाँ एलियट को आरंभ में तो कवि के नहीं, किन्तु पात्र के भाव अभिप्रेत हों, ऐसा प्रतीत होता है। वह कहता है—'अपने भावों के विषयगत तत् समान रूपों की अनुपस्थिति के कारण होनेवाली हेम्लेट की उलझन, उसके निर्माता की अपनी कला-विषयक समस्या से भेंट करते समय अनुभूत उलझन का ही विस्तार रूप है।'[९] परन्तु विषयगत 'सहसंबंधक' के महत्त्व की इस सारी चर्चा में, एलियट के मन में, कवि के मूल भाव के विषयगत सहसंबंधक को ढूंढ़ना है या पात्र के भाव को—ये दो प्रश्न परस्पर घुलमिल जाते-से प्रतीत होते हैं। आगे जाकर वह कवि के मूल भाव पर बल देता हुआ जान पड़ता है। 'हेम्लेट के पात्र में, कार्य में मार्ग न ढूंढ़ सकने-वाले भावों का परिहास है; नाटककार में जिसे वह कला में अभिव्यक्त कर नहीं सकता, ऐसी एक वृत्ति का परिहास है।'[१०]

यदि एलियट का यही कथन है कि कवि द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत भाव जब अपना विषयगत सहसंबंधक खोज ले तभी उसे कला-स्वरूप प्राप्त होता है, तो हमें यह स्वीकार्य है। परन्तु, ऐसी स्थिति में, उस मूल भाव का, एलियट जैसा चाहता है वैसा, 'विशेष' रूप टिकने का नहीं, बल्कि यहाँ यह स्पष्ट ध्यान में रहना चाहिए कि काव्य में मूल भाव को अपने 'विशेष' रूप में हूबहू जगाना है ही नहीं।

अन्यत्र उसका यह कथन कि 'जो संक्रांत करना है वह तो काव्य स्वयम् ही है'[११], यथार्थ परिस्थिति को निरूपित करता है। फ्रेन्च महान् कवि वालेरी ने काव्य-रचना की प्रक्रिया की समस्या को समझने की काफ़ी कोशिश की है। कुल मिलाकर, कविकर्म के प्रारंभ के विषय में उसका प्रतिपादन लगभग कुंतक का-सा ही है। वालेरी कहता है कि काव्य याने 'एक प्रकार का भाव, एक विशेष भावस्थिति, जो नितांत भिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं परिस्थितियों से जाग्रत हो सकती है। नैसर्गिक दृश्य के काव्यमय होने की बात हम कहते हैं; जीवन के किसी प्रसंग के विषय में भी हम उसी प्रकार के उद्गार प्रकट करते हैं; कभी-कभी किसी व्यक्ति के बारे

---

a chain of events which shall be the formula of that *particular* emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked.'—T. S. Eliot, *Selected Essays*, p. 145. ९. '...Hamlet's bafflement at the absence of objective equivalent to his feelings is a prolongation of the bafflement of his creator, in the face of his artistic problem.'—*Ibid* p. 145. १०. 'In the character Hamlet it is the buffoonery of an emotion which can find no outlet in action; in the dramatist it is the buffoonery of an emotion which he cannot express in art.'—*Ibid* p. 146. ११. '...that which is to be communicated is the poem itself, and only incidentally the experience and the thought which has gone into it.'— T. S. Eliot, *The Use of Poetry & the Use of Criticism*, p. 30.

में भी हम उसी तरह कहते हैं।'[१२] और फिर वह यह बताता है कि 'काव्य' एक संकुचित अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यह काव्य एक ऐसा विचित्र उद्योग है कि जिसका ध्येय प्रथम प्रकार के काव्यमय भाव (poetic emotion) को पुनः सर्जित करना है।[१३] 'काव्यमय भाव को स्वेच्छानुसार पुनः संयोजित करना—जिन प्राकृतिक संयोगों में वह स्वयंभू रीति से प्रकट होता है, उनसे स्वतंत्र भिन्न रीति से, और भाषा के कृत्रिम साधनों द्वारा—यह है कवि का लक्ष्य. . . . . ।'[१४]

कवि के अनुभव की जागतिक विषय-वस्तु, कवि का मूल अनुभूत भाव-शब्द द्वारा कवि पुनः प्रकट करता है, ऐसा उपर्युक्त कथन से वालेरी को अभिप्रेत हो, ऐसा लगता है। परन्तु वालेरी आगे जाकर अपना अभिप्राय अधिक स्पष्ट करता है।

सर्वप्रथम 'सामान्य भाव और काव्यगत भाव (poetic emotion) का विरोध यथाशक्य स्पष्टतापूर्वक' समझ लेने का वह अनुरोध करता है।[१५] सामान्य-भाव याने कवि और भावक दोनों का भाव—वालेरी को शायद यह अभिप्रेत हो और फिर वह कहता है कि "यह भेद करना एक कोमल कर्म है, क्योंकि वस्तुतः वह कदापि सिद्ध नहीं होता। मनुष्य यह हमेशा देखता है कि तात्त्विक काव्यगत भाव के साथ वैयक्तिक कोमलता, शोक, रोष, भय अथवा आशा सम्मिलित हो जाती है और व्यक्ति के विशिष्ट रस एवं अनुराग कविता—जिसमें एक विश्व होने के अनुभव (sense of a universe) की-सी लाक्षणिकता प्रकट होती है—के साथ जुड़े बिना नहीं रहते।

मैंने कहा—'एक विश्व के होने के अनुभव की-सी लाक्षणिकता', इससे मैं यह कहना चाहता हूँ कि मुझे काव्यगत स्थिति अथवा भाव एक खुलते जाते दर्शन (perception) में—

---

१२. '...it indicates a certain kind of emotion, a special emotive state, that can be aroused by very differing objects and circumstances. We say of a landscape that is poetic; we say the same of an event in life; we sometimes say it of a person.'—Paul Valery, *The Art of Poetry*, p. 196. **१३. 'पोयटिक इमोशन' का अनुवाद प्रथम प्रकार (देखो पादटिप्पणी १२) के बारे में मैंने 'काव्यमय भाव' किया है, जहाँ काव्य कृति से उसका संबंध है वहाँ 'काव्यगत भाव' पर्याय रखा है।** **१४.** 'To reconstitute poetic emotion at will—independently of the natural conditions in which it is spontaneously produced—and by means of the artifices of language, this is the poet's aim,...'—Paul valery, *The Art of Poetry*, p. 157. **अन्यत्र वह** '...the essential principle of the mechanics of poetry, that is, of the production of the poetic state through speech'.—**की बात करता है।** *(Ibid p. 200)* 'poetic state **ही तो है 'कविसंविद'।** १५. 'We must contrast as clearly as possible, poetic emotion with ordinary emotion.'—*Ibid* p. 197.

एक जगत् को, संबंधों की पूर्ण योजना को देखने की वृत्ति में समाये हुए प्रतीत होते हैं; उस योजना में प्राणी, पदार्थ प्रसंग और कार्य इस प्रकार के होते हैं कि उनमें से प्रत्येक, स्पर्शक्षम जगत् को—जिसमें से वे ऋण के रूप में लिये गये हैं उस तात्कालिक जगत् को—भरे हुए और उसे आकार देने वाली उन्हीं वस्तुओं में से **प्रत्येक के साथ** समानता स्थापित करे, फिर भी वे सब वस्तुएँ हमारी साधारण संवेदनशीलता के प्रकारों और नियमों के साथ अव्याख्येय किन्तु चमत्कारिक ढंग से सुनिश्चित संबंध से जुड़ी हुई होती हैं। इससे इन सुपरिचित पदार्थों और प्राणियों का मूल्य किसी न किसी रीति से परिवर्तित हो जाता है। वे सामान्य स्थिति में जिस प्रकार व्यवहार करते हैं उससे नितांत भिन्न रीति से परस्पर व्यवहार करते हैं और संबद्ध होते हैं।"[१६]

कवि के अनुभव का वास्तविक जगत् कविता में ठीक उसी रूप में रहने नहीं पाता, किन्तु परिवर्तित हो जाता है और सभी मनुष्यों की साधारण संवेदनशीलता के साथ उसका संबंध है। इस वस्तु का निर्देशकर वालेरी यह भी सूचित करता है कि कविगत साधारणीकृत संवेदन —जो काव्य के माध्यम द्वारा प्रकट होता है—की संभावना ने प्रेरणा के क्षण के साथ जन्म लिया है। एक 'विश्व' की झलक मिलने लगती है, पर वह 'विश्व' सुरेख प्रकट नहीं हुआ है। उसे प्रकट करने का कार्य भाषा द्वारा करना होता है। कवि को काव्य की शक्यता का पता लगता है और शक्यता का वह भान उसके चित्त को वश में करता है और उस ओर से कविचित्त भी सर्जन-संभव काव्य को वश में करने के लिए प्रवृत्त होता है। यह खींचातानी भाषा द्वारा चलती है।

सुरेख काव्य तक भाषा द्वारा पहुँचने का क्रम बड़ी कसौटी का है। भाषा जगत् के अनुभवों को व्यक्त करने के लिए निर्मित व्यावहारिक साधन है। उसे कविता में नितांत भिन्न ढंग

---

१६. 'This is a delicate seperation to perform, for it is never accomplished in fact. One always finds tenderness, sadness, fury, fear, or hope intermingled with the essential poetic emotion; and the particular interests and affections of an individual never fail to combine with that *sense of a universe* which is characteristic of poetry. I said : *sense of a universe*.I meant that the poetic state or emotion seems to me to consist in a dawning perception, a tendency toward perceiving a *world*, or complete system of relations, in which beings, things, events, and acts, although they may resemble, *each to each*, those which fill and form the tangible world—the immediate world from which they are borrowed— stand, however, in an indefinable, but wonderfully accurate, relationship to the modes and laws of our general sensibility. So, the value of these well-known objects and beings is in some way altered. They respond to each other and combine, quite otherwise than in ordinary conditions.' —*Ibid* p. 197-198.

से प्रयोजित करने का प्रसंग आता है। शब्द अनुभवात्मक जगत् का निर्देश करने के अभ्यस्त हैं। अब उन्हें कविता के आत्मपर्याप्त, आत्मनिर्भर जगत् का ही निर्देश करना है, याने काव्य में जब वे प्रयोजित हों तब उन्हें बहिर-निर्देशक न रहकर अंतर-निर्देशक होना है। भाषा से इस प्रकार का काम लेते समय कवि को भाषा की रचना के साथ छूट लेनी पड़ती है और काव्य के इष्ट हेतु के लिए उसे जोतना होता है। भाषा मोड़ने पर मुड़नेवाला एक लचीला साधन है, फिर भी वह काफ़ी प्रतीकार भी करती है। भाषा की वर्ण-संघटना (ध्वनि-रचना) एवं अर्थ-संघटना को अपने हेतु के लिए कार्यक्षम रीति से सुयोजित कर कवि उससे सारा काम लेता है, याने छंद, अनुप्रास, उपमादि अलंकारों, प्रतिरूपों, प्रतीकों इत्यादि के द्वारा वह काम लेता है। अनेक शब्दों की ध्वनियों और अर्थों के द्वारा उन सबको एक सूत्र में आबद्ध कर अपेक्षित कार्य सम्पन्न करवाना तो कवि की कसौटी है ही। पर साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना है कि भाषा के साधन को आवश्यकतानुसार मोड़ना चाहिए, लेकिन इस हद तक नहीं कि वह टूट जाय। शब्दों की अंतर्-निर्देशक शक्ति काव्य-सृष्टि के लिए प्रयोजित की जाय, विकसित भी की जाय, पर शब्दों की बहिर्-निर्देशक शक्ति का सर्वथा ध्वंस न होने पाये, अन्यथा वह निरा आत्मसंभाषण ही बन जायगा।

भाषा के साधन से काम लेना बड़ा विकट कार्य है। वालेरी बताता है कि संगीतकार के साधनों की तुलना में कवि के साधन अधिक अनिश्चित होते हैं। आगे चलकर वह यहाँ तक कहता है कि—'जिन प्रश्नों को हल करना होता है उनके विषय में यदि तनिक भी समानता रहती तो कवि होते ही नहीं। (यदि चलने की क्रिया के लिए यह चाहें कि उसके छोटे से छोटे डग के हिस्सों के बारे में स्पष्ट जानकारी समझ में और पकड़ में आनी जरूरी मानी जाय तो कोई चलने को सीखे ही नहीं)।'[१७] भाषा कवि की कसौटी करनेवाला, माध्यम है, अतः काव्य-सर्जन के पश्चात् कलाकार-कवि को—उसे प्राप्त करने की शक्यता को उसने पूरी तरह आजमाया है—इस बात का संतोष कई बार नहीं होता। वालेरी कहता है—"कविता पर अधिक श्रम करने की आदत के कारण सारी भाषा और पूरी लिखावट को सदा ही इच्छानुसार फिर से साथ में लिया जा सकता है। लगभग इस प्रकार मानने का स्वभाव पड़ गया है। और मैं यह मानता हूँ कि स्वयम् कार्य का अपना मूल्य है, और वह सामान्यतः समूह द्वारा अंकित कृति के मूल्य से विशेष।"[१८]

---

१७. 'There would have been no poets if there had been any awareness of the problems to be solved. (No one would learn how to walk if walking demanded that one realize and grasp as clear ideas all the elements of the smallest step.)—*Ibid*, p. 200. १८. 'The habit of long labour at poetry has accustomed me to consider all speech and all writing as work in progress that can nearly always be taken up again and altered; and I consider work *itself* as having its own value, generally. much superior to that which the crowd attaches only to the *product*.'—*Ibid*, p. 177.

फिर आगे कहता है— 'एक कृति अवश्यमेव कदापि पूर्ण नहीं होती, क्योंकि जो उसका निर्माण करता है वह पूरा नहीं. . . . . .।'[१९]

कविकर्म के बारे में वह कहता है कि 'उसमें मनुष्य को अनंत यातनाओं, असमाधानकारी विवादों, कसौटियों, समस्याओं और निराशाओं से भी भेंट होती है, जो कवि के शिल्प को सबसे अनिश्चित एवम् श्रमदायी बना देता है। माल्हेर्ब (Malherbe) कहा करता कि एक श्रेष्ठ सॉनेट को पूर्ण करने के पश्चात् कर्ता को दस वर्ष के विश्राम का अधिकार है। और उसने यह भी सूचित किया कि 'एक पूर्ण किया हुआ सॉनेट'—इन शब्दों का कुछ अर्थ होता है। . . . . यदि मैं अपनी बात कहूँ तो मैं शायद ही इन शब्दों को समझ सकता हूँ।'[२०]

एलियट वालेरी के 'The Art of Poetry' (दी आर्ट ऑव पोएट्री) के प्रवेशक में[२१] लिखता है—'मेरी धारणा है कि वालेरी जब यह कहता है कि, काव्य कभी पूर्ण नहीं होता तब उसके मन में क्या है। उसे मैं समझता हूँ। मेरी दृष्टि में उन शब्दों का यह अर्थ है कि काव्य 'पूर्ण हुआ' है, अथवा—मैंने अपनी साधन-सम्पन्नता पूरी तरह खर्च कर दी है और उस काव्य को मैं जितना अच्छा बना सकता था उतना अच्छा वह बना है—इस प्रकार का मुझे विश्वास हो गया है, अतः मैं उसे फिर कभी छूऊँगा भी नहीं। वह बुरा काव्य भी हो सकता है। पर मुझसे जो कुछ भी हो सका, किया। इससे ज्यादा अच्छा नहीं बनेगा। फिर भी मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि माना कि वह अच्छा काव्य है तथापि, यदि मैं ज्यादा अच्छा कवि होता तो उसे मैं विशेष सुन्दर बना सका होता—उसी काव्य को विशेष सुन्दर. . . . . .।'

कविकर्म के ज्ञाता दो उत्कृष्ट कवियों के ये निवेदन अंकित करने में मेरा हेतु कविकर्म का विकट-प्रवृत्ति होने का मात्र निर्देश करना ही नहीं है, अपितु मैं इस वस्तु के प्रति भी ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि कवि जब काव्य-रचना में इतनी एकाग्रता एवम् प्राणपण से संलग्न हो तब—(उस समय के लिए तो) उसका चित्त कदाचित् ही इस विचार में रुकता है कि वह दूसरों को कुछ संप्रेषित (communicate) करना चाहता है। जब तक काव्य-रचना की प्रक्रिया चलती रहती है तब तक कवि के समक्ष किसी अन्य को कुछ संप्रेषित करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कवि के मूल भाव को वाचक के चित्त में संप्रेषित करना

---

१९. 'A work is never necessarily *finished*, for he who made it is never complete,...' *Ibid* p. 177. २०. 'One meets endless torments there, disputes with no solution, tests, emigmas, cares and even despairs, which make the poet's craft one of the most uncertain and exhausting. Malherbe...used to say that after finishing a good sonnet, an author has the right to ten years' rest. And he even implied that the words, *a finished sonnet,* meant something....As for me, I hardly understand them....I translate them by *abandoned sonnet.*' —*Ibid*, p. 212. २१. introduction, the art *of Poetry*, p. xiii.

है—इस अर्थ में अवगमन (communication) का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि मूल वैयक्तिक भाव तो काव्य में टिकने ही नहीं पाता। किन्तु कविगत साधरणीकृत संवेदन, कवि-संविद काव्य के माध्यम द्वारा भावक-संविद के तुल्य बनती है। इस दृष्टि से अवगमन अवश्य होता है। अभिनवगुप्त रस-संवेदन के लिए 'अवगमन' शब्द प्रयुक्त करते हैं। कविगत संवेदन की भावक को प्रतीति हो, उसीका नाम है 'अवगमन करना' और वही है रस-संवेदन।

इस अर्थ में अवगमन (communication) काव्य का चरम हेतु है। यों भी, यदि अवगमन का बिलकुल आशय ही न हो तो कवि सार्वजनिक व्यवहार के साधन भाषा का आधार ही क्यों ले? कोई कहेगा आत्माभिव्यक्ति के लिए। परन्तु अवगमन के न सधने की स्थिति में आत्माभिव्यक्ति भी कदाचित् ही सिद्ध हो पाती है। मरे क्रीगर[२२] कहता है कि बीजरूप में सब अस्पष्ट ही था। उसे विशद, सुरेख करने के लिए काव्य रचने की आवश्यकता हुई। विशदता भाषा के उपयोग द्वारा ही आयी। भाषा एक व्यवस्था है जो अन्य किसी भी व्यवस्था की भाँति कार्य करने के लिए अपने कुछ नियमों—अर्थ विषयक अन्वय के नियमों—पर आधार रखती है। तो फिर, प्रेरणारूप आकार-विहीन विचारों को इन नियमों के वश में करना आवश्यक है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि वे विचार निश्चित रूप से क्या हैं? अराजकताप्रिय मस्तिष्कवाला कवि यदि इस कार्यपद्धति के सिद्धांतों की उपेक्षा करे तो भाषा का उपयोग करने के बावजूद भी उसके विचार वैसे ही अव्यक्त (अव्याख्यात) रहेंगे जैसे पहले थे। अभिव्यक्ति का कार्य है निश्चित विचार। अतएव आत्माभिव्यक्ति के लिए भी अवगमन की सिद्धि अनिवार्य है।

कविसंविद जहाँ काव्य रूप में प्रकट हुई कि कविकर्म समाप्त हुआ। 'कारयित्री' प्रतिभा का कार्य पूरा हुआ। अब भावक की, सहृदय की 'भावयित्री' प्रतिभा उस काव्य के अनुभव द्वारा कवि-संविद के तुल्य बनकर रस-संवेदन प्राप्त करती है।

कविसंविद-कविगत साधरणीभूत संविद ने यथातथ्य ज्योंही काव्य रूप में शब्दावतार ग्रहण किया कि कवि ने अपनी क़लम एक ओर रख दी। कवि के भीतर के काव्य-निर्माता ने जो क्षण काव्य-समाप्ति का माना वही क्षण उसमें निवासित भावक के लिए रससंवेदन का है; बल्कि यों कह सकते हैं कि भावक के रूप में प्राप्त उसके रससंवेदन ने ही उसे काव्य-रचना की समाप्ति की भी प्रतीति करवायी। शब्द-सृष्टि की सहायता से कवि ने स्वयम् रसानुभव किया, याने आत्मस्थ साधारणीभूत संवेदन का यथार्थतः अनुभव किया। इसलिए अब उसे यह विश्वास हो गया कि दूसरों के लिए भी रसानुभव की (अपनी कविसंविद के साथ एक-रूप होने की) शक्यता अपनी इस नवनिर्मित काव्यकृति के द्वारा प्रकट हुई। काव्यरचना की पूर्णाहुति का क्षण ही कवि की कारयित्री–भावयित्री प्रतिभा के युगपत् आविर्भाव का क्षण है। कृति का सर्वप्रथम सहृदय भावक कवि स्वयम् ही है। अब अन्य भावकों को काव्यरचना की परिसमिति के क्षण कवि में

२२. Murray Krieger, *The New Apologists for Poetry*, p. 72 लेखक ड्यूई-कृत 'discharge' और 'expression' के भेद *Art as Experience* pp. 60-64) के प्रति भी ध्यान आकृष्ट करता है। —(*Ibid*, p. 208.

प्रकटित भावयित्री प्रतिभा के साथ समानता सिद्ध करनी है अभिनवगुप्त ने योग रीति से ही निर्दिष्ट किया है कि कविसंविद ही वस्तुतः रस है; किन्तु कविसंविद क्या वस्तु थी, इसका अंदाज़ तो काव्यकृति के द्वारा ही हम भावक पा सकते हैं। उस काव्य में कविसंविद यथार्थ रूप से अवतरित हुई या नहीं, इसका निर्णय तो अंततोगत्वा कवि के भीतर के भावक ने ही कर लिया होता है। आचार्य अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोक' की अपनी टीका 'लोचन' के आरंभिक श्लोक के 'सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यं.....' इन शब्दों में सरस्वती के तत्त्व का 'कवि-सहृदय' से नामकरण करते हैं। कवि और सहृदय दोनों एक ही व्यक्ति हैं—ऐसा अर्थघटन कर सकें, इस प्रकार की उनकी शब्दयोजना है। काव्यनिर्माण के क्षण एक ही व्यक्ति के दोनों स्वरूप—कवि एवं सहृदय—के समानरूप हुए होते हैं और अन्य सहृदयों के लिए कवि के साथ वैसी समान-रूपता प्राप्त करने की संभावना तत्पश्चात् प्रगटित करते हैं। इस अर्थ में सरस्वती का सारतत्व काव्य निर्माता में कवि सहृदय के रूप प्रादुर्भूत हुआ—यह देखा जा सकता है।[२३]

उत्तम काव्य के निर्माता कवि में उत्तम विवेचन-शक्ति है, यह बात इस घटना में ही अभिप्रेत है कि उसने काव्यकृति को सिद्ध किया है। वह फिर वास्तव में विवेचन करे या न करे, उसकी विवेचनशक्ति का प्रमाण उसकी काव्य-रचना में निहित ही है। कई कवि विवेचना भी करते रहे हैं और कविता-विवेक की गहरी सूझ का परिचय देनेवाले कई कवि विवेचकों के नाम सर्वोपरि हैं: कालरिज, ग्युईथे (Goethe), एज़रा पाउंड आदि के कविता-विवेक संबंधी उद्‌गार अभिप्रायगर्भित एवम् महत्त्वपूर्ण हैं।

यदि काव्य-रचना की प्रक्रिया उपर्युक्त प्रकार की हो—अनुभवात्मक जगत् काव्य में परिवर्तित हो जाता है, काव्य पूर्वनिर्णीत किन्हीं विषयों का पद्यानुवाद नहीं है, किन्तु उसके रचे जाने के पश्चात् ही यह स्पष्ट होने की संभावना रहती है कि वह किस विषय का था—तो इससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि बहिर्-तत्वों को काव्यदेह कहनेवाला, भाट होने का धर्म, प्रेरणा या संदेश देने का धर्म तथा ऐतिहासिक पार्ट अदा करने का धर्म—ये सब कदापि कविधर्म नहीं हो सकते। रहस्यदर्शिता का वाहन होना कविधर्म है—ऐसा माननेवाले भी ठीक नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वे कवि से सिर्फ़ लिपिक होने से अधिक की अपेक्षा नहीं रखते। कला द्वारा सुख देना कविधर्म है—इस प्रकार की मान्यता भी समुचित नहीं। मानवजाति भारी असुख सहकर

---

२३. क्रोचे सर्जक कवि की मनोमयी अभिव्यक्ति को कला कहता है और शब्ददेह को सहायक भौतिक पदार्थ के रूप में परिचय देता है। परन्तु यह स्मृति-सहायक तो सर्जक की ही स्मृति के लिए मदद रूप हो सकता है और इसके द्वारा मूलतः अनुभव की हुई आन्तरिक अभिव्यक्तिरूप आध्यात्मिक कला का वह फिर से अवश्य आनन्द ले सकता है। परन्तु सर्जक कवि के अतिरिक्त अन्य भावकों के लिए यह मूल अनुभव है ही नहीं। उनका क्या? इस प्रश्न का उत्तर क्रोचे के देने का है। कवि, काव्य और भावक इस त्रिपुटी का संबंध जोड़ने में इन आचार्यों की और वालेरी की विचारणा कुछ अधिक संतोषजनक है।

भी कलाओं को सँभालती है और कवि स्वयं, जैसा कि हमने अभी देखा, काव्य-सर्जन के लिए अपार कष्ट झेलने की तैयारी बताता है। उक्त कविधर्म की मान्यता इन ठोस अनुभवों के विरुद्ध ठहरती है। यथासंभव उत्तम रीति से कविता-निर्माण करना—इसके अतिरिक्त कवि के लिए अन्य धर्म है नहीं।

काउन्ट द गॉबिनो ने चित्र, शिल्प, स्थापत्य और काव्य इन चार कलाओं के महान् प्रतिभाशाली कलाकार माइकेलेञ्जेलो के बारे में एक नाट्य-प्रसंग अंकित किया है जिसमें यह वस्तु मार्मिक ढंग से सूचित की गयी है। माइकेलेञ्जेलो एक रात अपनी शिल्प कृति को पूर्ण करने के लिए छेनी चला रहे थे, इतने में खबर आई कि प्रतिभाशाली नवयुवक चित्रकार रफायेलो की आखिरी घड़ी है। शिल्पकार्य अधूरा छोड़कर उस आधीरात में वह रफ़ायेलो के घर की ओर जाने के लिए निकल पड़े। रास्ते में उन्हें यह सूचना मिली कि रफ़ायेलो की आँख सदा के लिए मिच गयी। माइकेलेञ्जेलो ढाढ़स खो बैठते हैं :, ज्यों-त्यों कर अपने कार्यकक्ष की ओर लौट पड़ते हैं। 'पिछले साल लियोनार्दो गये, आज रफ़ायेलो.....! हम शक्ति का एक एक बिन्दु संभाले रहें और काम किये जायँ।'

सचमुच कविकर्म ही कविधर्म है।

●

ग्वाल कवि

ग्वाल कवि वृन्दाबन के रहनेवाले थे और सेवाराम के पुत्र थे। इनका संबंध उत्तरप्रदेश के रामपुर दरबार से था। सं० १९३० वि० में उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री अमीर अहमद मीनाई ने 'इंतखाबे यादगार' नामक पुस्तक में हिंदी के जिन कई कवियों का वृत्त लिखा है उनमें एक ग्वाल कवि भी हैं। मीनाई साहब के समय में ग्वाल कवि रामपुर दरबार में थे, इसलिए उन्होंने जो उल्लेख किया है वह प्रामाणिक है। उसके अनुसार सं० १८५९ वि० में इनका जन्म हुआ था। ये वृन्दाबन के रहने वाले थे, पर अपने जीवन के अंत में मथुरा में रहे। विद्याध्ययन के लिए ये काशी आये और बरेली के श्रीखुशहाल राय के यहाँ अध्ययन किया। जिस समय ये विद्याध्ययन कर रहे थे उस समय एक मस्त फ़क़ीर आया और खुशहाल राय से पानी माँगा। पानी पीने के अनंतर उसने खुशहाल राय से कुछ माँगने को कहा। उन्होंने अपने शिष्य ग्वाल के कवीश्वर हो जाने का वरदान माँगा। फ़क़ीर से तीन बार यही आकांक्षा व्यक्त की गयी। उसने पृथिवी पर से एक तिनका उठाकर इनकी जीभ पर कुछ लिख दिया और तीन बार सर पर हाथ फेरा, फिर कहा कि 'जा तू कवीश्वर हो गया।' कहते हैं कि उसके अनंतर ग्वाल कवि बड़े कुशाग्रबुद्धि हो गये। वहाँ से ये पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह के यहाँ पहुँचे और बीस रुपये दैनिक वेतन पर काम करने लगे। रणजीतसिंह के स्वर्गवास के अनंतर उनके पुत्र शेरसिंह के यहाँ भी रहे और उनसे जागीर पायी। उनके दरबार में इनका बड़ा सम्मान था, यहाँ तक कि इनकी महाराज के बराबर कुर्सी लगती थी। शेरसिंह के मारे जाने पर ग्वाल राय अपने घर लौट आये। वहाँ से लौटने पर रामपुर के नवाब साहब ने इनको अपने यहाँ बुलवाया और इनसे रामपुर में रहने की बात कही, पर इन्होंने सात महीने रहने के अनंतर रामपुर छोड़ दिया। उनकी नौकरी इन्होंने स्वीकार ही नहीं की। ६५ वर्ष की वय में इनका शरीरपात हुआ। इस प्रकार सं० १९२४ वि० में ये स्वर्गवासी हुए। उनके अनुसार इन्होंने चौदह पुस्तकें लिखी थीं।

'शिवसिंहसरोज' में इनके पाँच अतिरिक्त ग्रंथों का उल्लेख है—'साहित्यदूषण', 'साहित्य-दर्पण', 'भक्तिभाव', 'दोहा-शृंगार' और 'शृंगार-कवित्त।' 'मिश्रबंधुविनोद' में इनके दो ग्रंथ 'राधामाधवमिलन' और 'राधाष्टक' का उल्लेख हुआ है। 'खोज' में इनके निम्नलिखित ग्यारह ग्रंथों का उल्लेख है: १. रसिकानन्द (१९००-८४); २. यमुनालहरी (१९०१-८८); ३. रसरंग; ४. अलंकार-भ्रमभंजन; ५. नखशिख; ६. हम्मीरहठ; ७. भक्तिभावन; ८. दूषण-दर्पण; ९. गोपी पच्चीसी; १०. बंसीबीसा; ११. कविहृदय-विनोद। इनके अतिरिक्त इन्होंने अपने 'रसिकानन्द' ग्रंथ में 'नेहनिबाह' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'कविदर्पण' नाम से श्री नवनीत जी चतुर्वेदी के पास था। इसी का दूसरा नाम 'दूषण-दर्पण' है। इन्होंने 'यमुना लहरी' सं० १८७९ वि० में प्रस्तुत की—

९ ७ ८ १
संबत निधि रिषि सिद्धि ससि, कातिक मास सुजान।
पूरनमासी परमप्रिय, राधा हरि को ध्यान।
भयो प्रगट ताही सुदिन, जमुनालहरी ग्रंथ।
पढ़ै सुनै आनन्द मिलै, जानि परै सुरपंथ।।

यह इनकी सर्वप्रथम रचना कही जाती है। 'भक्तभावन' इनका अंतिम ग्रंथ कहा जाता है जो सं० १९१९ में संकलित हुआ[1]। इसमें भक्तिसंबंधी रचनाओं का संकलन है जिसके अंतर्गत 'यमुनालहरी', 'श्रीकृष्णचंद्र को नखशिख' और 'गोपी पच्चीसी' के अतिरिक्त तीन अष्टक (राधा-कृष्ण और राम के), गंगा जी के कवित्त, देवी देवतान के कबित्त, गणेशाष्टक, ध्यानादि के कबित्त, षड्ऋतुवर्णन, अन्योक्ति और मित्रता विषय की रचनाएँ संकलित हैं। इस प्रकार यह स्वतंत्र ग्रंथ न होकर इनकी भक्ति-विषयक रचनाओं का संकलन मात्र है।[2] 'कवि-हृदय-विनोद' भी इनकी अनेक रचनाओं का संग्रह है। इसमें 'भक्तभावन' भी संग्रहीत है (दे० खोज २०-५८ सी)।

'शिवसिंहसरोज' में कथित 'साहित्यदूषण' और 'साहित्यदर्पण' कदाचित् 'दूषणदर्पण' के दो खंड होकर नये-नये नाम बन गये हैं। 'दोहा-शृंगार' और 'शृंगार-कवित्त' शृंगारी दोहे और कवित्तों के संग्रह के लिए हैं जिनका कदाचित् कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार इनके ग्यारह ग्रंथ ही प्रमुख हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

ग्वाल कवि बहुरंगी थे। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की शैली का विभिन्न ग्रंथों में अनुगमन करने का प्रयास किया है। पद्माकर की 'गंगालहरी' का अनुगमन 'यमुनालहरी' में किया गया है। पर पद्माकर जैसी भाषा की सफ़ाई और व्याजस्तुति की विशेषता इनकी रचना में नहीं है। विस्तार के लिए इन्होंने नवरस-वर्णन और षट्ऋतुवर्णन भी अंत में जोड़ा है। ग्वाल चमत्कारवादी कवि थे। शब्दावली प्रायः मिश्रित रखा करते थे। भक्ति-संबंधी रचनाओं के कारण इन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता। भक्त कवि साधक हुआ करते हैं। यदि साधना की बात छोड़ भी दी जाय तो भी भक्त कवि की की हुई रचना और किसी कवि की भक्ति की रचना में वास्तविक भेद अनुभूति की लीनता और उक्तिभंगिमा के प्रदर्शन में दिखाई देता है। इनकी भक्तिसंबंधी अनेक रचनाएँ हैं। 'नेहनिबाह' नामक बत्तीस छंदों की रचना में इन्होंने ठाकुर, घनआनन्द आदि स्वच्छन्द धारा के कवियों के अनुगमन पर प्रेमपंथ की विलक्षणता का रसमय उल्लेख किया है।[3]

ग्वाल कवि के वर्णनों में राजसी ठाट-बाट की रंगीनी अत्यधिक पायी जाती है। जो स्थिति रीतिमुक्त कवियों में बोधा की है वही रीतिबद्ध कवियों में ग्वाल की समझनी चाहिए।

---

१. संबत निधि ससि निधि ससी, मास अषाढ़ बखान।
सित पख द्वितिया रबि बिषे, प्रगट्यौ ग्रंथ सुजान।।—खोज–०५–१४।
२. ग्रंथ फुटकरन को करत एक ग्रंथ अभिराम।—वही।
३. दे० विशाल भारत, वर्ष २, खंड १, १९२९।

'हम्मीरहठ' श्री चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीरहठ' की अनुकृति पर बना हुआ है। कथा और घटनाओं का रूप तक जो वहाँ है वही यहाँ भी। भेद केवल प्रणाली का है। यह रचना सं० १८८३ वि० में प्रस्तुत हुई थी—

संवत गुन सिधि सिधि ससी, कातिक कुहू बखान।
श्रीहमीरहठ प्रगट्यौ, अंमृतसर सुभ थान॥

यद्यपि इन्होंने रचना पर्याप्त परिमाण में की है फिर भी इनके कार्य का गौरव कवि के रूप में उतना नहीं है जितना रीतिग्रंथकार के रूप में। नखशिख, प्रकृतिवर्णन आदि रीतिबद्ध रचना के अतिरिक्त इन्होंने रीति के कई लक्षणग्रंथ प्रस्तुत किये हैं। अलंकार पर 'अलंकार भ्रमभंजन', शृंगार रस और नायिका-भेद पर 'रसरंग', काव्यदूषणों पर 'दूषणदर्पण', पिंगल पर 'प्रस्तार-प्रकाश' और साहित्यशास्त्र पर 'साहित्यानंद' तथा 'रसिकानन्द' प्रस्तुत किये हैं। 'अलंकार भ्रमभंजन' की एक प्रति स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार के पुस्तकालय में है। उसका कुछ अंश उन्होंने 'ब्रजभारती' में मुद्रित भी कराया था और उनके ग्रंथ के विषयविमर्श पर अपने विचार प्रकट भी किये थे। अलंकार का लक्षण नये ढंग का करने का इन्होंने प्रयास किया है ; उदाहरणतया—

रसआदिक तें व्यंग्य तें, होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ तें भिन्न ह्वै, सब्दारथ के मांहि॥
होइ विषम संबंध करि, चमत्कार के कर्म।
ताही सों सब कहत हैं, अलंकार इमि बर्न॥

ग्वाल कहना यह चाहते हैं कि रस जिस प्रकार शब्द से भिन्न होता है और व्यंग्य जिस प्रकार शब्द से भिन्न होता है उसी प्रकार अलंकार भी शब्द से भिन्न होता है। पर ऐसा कहते हुए ये उसे शब्द और अर्थ दोनों से भिन्न कह रहे हैं। तत्त्वतः रस और व्यंग्य पदार्थ रूप होते हैं। यह दूसरी बात है कि रस आस्वाद्य भी होता है, इसीलिए वह 'रस' कहलाता है। 'रसन' अर्थात् आस्वादन से 'रस' शब्द व्युत्पन्न है। रस व्यंग्य होता है—अर्थात् उसकी व्यंजना की जाती है, वह व्यंग्यार्थ रूप में काव्य में आया करता है। अलंकार का संबंध वाच्यार्थ से होता है। अलंकार एक प्रकार का अर्थ ही है। ग्वाल के कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकार रूप में जो कुछ प्राप्त होता है वह कोश, व्याकरणादि से नियत मुख्यार्थ से कुछ भिन्न चमत्कार रूप होता है। इसी भिन्नता को लक्षित कर इन्होंने अलंकार को शब्दार्थ से भिन्न कहा है। इस प्रकार की भेदकता को बताने के लिए उसे विस्तार से समझाने की आवश्यकता है। यह लक्षण इन्होंने 'कुवलयानंद' की व्याख्या 'अलंकार-चंद्रिका' के आधार पर किया है जिसके व्याख्याता श्री वैद्यनाथ हैं—

अलङ्कारत्वं च रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति
शब्दार्थ्यान्यतरनिष्ठा या विषयिता सम्बन्धावच्छिन्ना
चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्॥

'अन्यतर' शब्द का अर्थ 'भिन्न' कर लेने से सारी गड़बड़ी हो गयी है।

'रसरंग' में रसों का और नायकनायिका भेद का विस्तार से निरूपण है। जब ये वृन्दाबन से मथुरा सुखवास करने लगे तब १९०४ वि० में इसका निर्माण हुआ—

४ ० ९ १
संवत बेद रवं निधि ससी माधव सित पख संग।
पंचमि ससि कौं प्रगट हुअ ग्रंथ जु यह रसरंग॥

इसमें इन्होंने अपने आधारग्रंथ 'रसतरंगिणी' का स्पष्ट उल्लेख किया है। छल संचारी के संबंध में ये लिखते हैं—

भानुदत्तजू नै लिख्यौ, रसतरंगिनी माहि।
नूतन इक औरो बनत, छल संचारी चाहि॥—रसरंग, प्रथम उमंग, १९।

इसके अंत में शांतरस के अंतर्गत 'गुरूपदेश' और 'भक्तपक्ष' शीर्षक से बहुत से उदाहरण संकलित किये गये हैं। केशवदास की भाँति इन्होंने भी भाव के चार भेद माने हैं—विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव—

भाव सु चारि प्रकार है, कहियत प्रथम विभाव।
पुनि कहि थाई भाव को, लिखिहौं फिर अनुभाव।
पुनि संचारी भाव सो, द्विविध होत कबि-ईस।
मन-सहाय सौं तनज वसु, मनज कहत तैंतीस॥

विभाव और अनुभाव को 'भाव' का भेद कहना ठीक नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विभावादि का स्वरूप इन्हें स्पष्ट नहीं था। विभाव का लक्षण लिखते हुए ये आलंबन और उद्दीपन दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

हेतु रूप औ वृद्धिकर, रस को सो जु बिभाव॥
दोइ भाव की संगता, सो बिभाव बरनाव॥

नायकनायिका-भेद के प्रसंग में इन्होंने नायक के भी जातिगत भेद लिखे हैं। कामतंत्र की बातों का अधिक विस्तार साहित्य के गांभीर्य को क्षति पहुँचाता है। नायिकाओं के पद्मिनी आदि भेदों का उल्लेख तो किसी हद तक माना भी जा सकता है, क्योंकि इनका उल्लेख साहित्य की परंपरा में कभी-कभी हो जाया करता है, पर नायक के पांचालादि भेद यहाँ अनावश्यक प्रतीत होते हैं। ऋतुवर्णन आदि में इन्होंने राजसी ठाटबाट का भरपूर उल्लेख किया है। दरबार में रहनेवाले कवि भी कभी-कभी साहित्यसीमा की व्याप्ति बहुत संकुचित कर लिया करते थे। ग्वाल में इसके उदाहरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ आदि भेद 'रसतरंगिणी' के ही अनुगमन पर दिये गये हैं। स्वनिष्ठ भेद रौद्र और वीर रस में नहीं होते। अन्य छः रसों में दोनों भेद होते हैं। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का अर्थ यह है कि जब दूसरे को किसी रस में लीन देखकर कोई उस रस में लीन होता है तो वह 'परनिष्ठ' होता है, जैसे किसी को हँसते हुए देखकर कोई व्यक्ति विभाव का ग्रहण कर हँसने लगे तो वह परनिष्ठ हास्य होगा।

हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावं चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः॥—रसतरंगिणी।

'दूषणदर्पण' में दोषों का विचार किया गया है। इसमें ग्वाल ने दोषों के उदाहरण हिंदी

कवियों से चुने हैं और उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उदाहरण एक से अधिक दिये हैं। बिहारी के बहुत से उदाहरण दिये गये हैं। ग्वाल कवि ने 'नाक', 'पेट' और 'गाल' शब्दों को हिंदी में ग्रामीण माना है। बिहारी के 'जटिल नीलमनि जगमगति सीक सुहाई नाक' के 'नाक' में ग्रामीण दोष कहा है। उन्होंने 'आँख' और 'कटि' को भी ग्रामीण कहने के बाद यह कहा है कि इन्हें ग्रामीण दोष से मुक्त किया जा सकता है। यद्यपि इनके कथित दोषों के संबंध में मतभेद हो सकता है तथापि यह धारणा कि हिंदी में अपने ही उदाहरण सर्वत्र दिये गये हैं, ठीक नहीं। ग्वाल कवि कविरूप में चाहे उतने उत्कृष्ट न हों पर आचार्य के रूप में इन्होंने पर्याप्त संग्रह किया है और अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छी काव्य-चर्चा की है। जिन श्रीपति की प्रशस्ति इस बात को लेकर की जाती है कि उन्होंने 'काव्यसरोज' के दोषप्रकरण में केशवदास के बहुत से उदाहरण उद्धृत किये हैं उनसे कहीं अधिक विस्तृत दोष की चर्चा और हिंदी के कवियों के कहीं अधिक उदाहरण इस ग्रंथ में दिये गये हैं। 'कटि के तट हार लपेटि लियो कटि किंकिनि लै उर मौं उरमाई' का विचार करते हुए इन्होंने लिखा है कि 'कटि किंकिनि' में 'कटि' शब्द अधिक है। 'उरमाई' शब्द बुंदेलखंड की बोली का है। हिन्दी के इन रीतिग्रंथकार कवियों ने हिंदी की परंपरा और उसके दोष का जितना विचार किया है उस सब का संग्रह किया जाय तो इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री मिल सकती है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनमें आलोचना की समयानुरूप दृष्टि थी। यह ग्रंथ महाराज रणजीतसिंह के मुसाहिब लहना सिंह के आश्रय में लिखा गया है। ये लहनासिंह मजीठा नगर के रहनेवाले थे। जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है—

लहनासिंह महाराज को, नगर मजीठा चारु।
जिन दीनो तिन सबन को, मीठा लगत अपारु।।

वे लिखते हैं—

चाहै तौ रचना करै, ग्रंथ सैकरन आप।
पै फुरसत कमती बहुत, प्रजापाल की छाप।।
यातें कृपा सनेह करि, बोले बचन नवीन।
कबिदर्पन अभिधान करि, रचौ ग्रंथ एक बीन।।
रोग दोष सम ग्रसित कहुँ, सुखद काव्य की देह।
बिन बिचार कहुँ कहत हैं, अविचारित दुखगेह।।
जो कविदर्पन-सम सदा, निरखै याहि बनाय।
कबिता दर्पन माहि तिहि दोष न दरसै आय।।

इसमें सरदार साहब की भी रचना दी गयी है—आरंभ में एक उदाहरण लीजिए—

भई नाहिं भेट आज अली री सहेटहूं मैं लागी चेत चेट स्व पठाई प्यारी आरसी।
जाकी दुति दीह देखि दामिनि दबत हीय ससि और सूर हू की भूमि जात कारसी।
ताकी कहै कौन कबि सुषमा बखानि सकै आरसी सी आरसी सो प्रानन पै आरसी।
जात सुखसार सी लगाई हिय आरसी पै प्यारी बिन आरसी लगी है हाय आरसी ।।

'रसिकानन्द' ग्वाल कवि का सबसे प्रथम लक्षणग्रंथ है। यह केवल अलंकारग्रंथ नहीं है, जैसा भ्रम से समझा जाता रहा है। इसमें 'काव्यनिर्णय' की भाँति नायिका-भेद सहित पूरे रस-

चक्र का वर्णन है। ग्वाल कवि की विशेषता इसी ग्रंथ के द्वारा पूर्णरूप में प्रकट होती है। नायिका-भेद के अष्ट और दस भेदों पर इन्होंने विस्तृत विचार किया है। इनका कहना है कि कोई आठ, कोई नौ, कोई दस भेद मानते हैं। इनके अनुसार आठों में अतिरिक्त दो का अंतर्भाव नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत में आठ ही भेद माने जाते हैं। 'रसमंजरी' में प्रोस्यत्पतिका नवाँ भेद प्राचीन परंपरा के अनुसार सूचित किया गया है। हिंदी में आगतपतिका नया भेद माना गया है। 'रसिकप्रिया' के अनुसार इन्होंने अभिसारिका के तीन भेद माने हैं—कामाभिसारिका, प्रेमाभिसारिका और मत्ताभिसारिका। इन्होंने पद्मिनी आदि को जातिभेद, दिव्यादिव्य को अंशभेद, उत्तमादिक को गुणभेद, स्वकीयादि को कर्मभेद और मुग्धादिक को वय-भेद बताया है। दर्शन के इन्होंने सोलह भेद किये हैं—श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष तो प्रसिद्ध हैं ही। इन प्रत्येक के बोल, गुण, पत्र और नादध्वनि से चार-चार और सूक्ष्म भेद किये हैं। इन्होंने नायक के भी जातिगत भेद 'रसरंग' के अनुसार इसमें दिये हैं। कुलपति के काव्यलक्षणादि का खंडन भी किया है।

रसविमर्श भी इन्होंने विस्तृत किया है। भक्तिसंप्रदाय के दास्य, सख्य, वात्सल्य की भी चर्चा की गयी है और कहा गया है कि ये तीन रस गौड़ेश्वरों के ग्रंथ 'भक्तिरसामृतसिंधु' में वर्णित हैं, पर 'साहित्यदर्पण' में केवल वात्सल्य ही गृहीत हुआ है। प्राचीन प्रथानुसार दास्यादि को इन्होंने शांत के साथ माना है। संक्षेप में कह सकते हैं कि ग्वाल कवि ने रीतिग्रंथों के लिए संस्कृत का पर्याप्त वाङमय आलोड़ित किया था। इन्होंने यथास्थान दूसरे कवियों के उदाहरण बराबर दिये हैं। कविरूप में ग्वाल कवि का महत्व चाहे उतना न हो पर रीतिग्रंथकार के रूप में इनका पूरा महत्व माना जाना चाहिए। हिंदी-रीतिशास्त्र की परंपरा में संस्कृत-आधारग्रंथों का कदाचित् सबसे अधिक आलोड़न करनेवाले ये ही हुए हैं। इनका एक 'साहित्यानन्द' ग्रंथ भी है, वह इससे भी विस्तृत जान पड़ता है। इसमें नायिकाभेद और रस का ही विस्तृत विचार है। पर उसमें कदाचित् शब्दशक्ति आदि का परिपूर्ण विवेचन किया गया है। यही कारण है कि उसका नाम 'साहित्यानन्द' रखा गया है।

'रसिकानंद' नाभा के जसवंतसिंह के आश्रय में लिखा गया है, जिन्हें इन्होंने शालिवाहन का वशंज लिखा है और जिसकी परंपरा यों दी है. . .फूलसिंह, त्रिलोक सिंह, गुरुदत्त सिंह—सूरतिसिंह—हमीरसिंह—जसवंतसिंह। इसमें इन्होंने शास्त्र के आदि निर्माता नंदीश्वर, गौणिका-पुत्र, भरत, वामन और वादरायण का नाम भी दिया है। ग्रंथ का निर्माणकाल सं १८७९वि० है—

९ ७ ८ १
संमत निधि रिषि सिद्धि ससि स्यामपक्ष मधुमास।
आदितवार सु द्वादसी रसिकानंद प्रकास।।

मागध, बंदी और सूत शब्दों की व्याख्या विभिन्न व्याकरण और धार्मिक ग्रंथों के आधार पर इन्होंने दी है और 'बंदी' शब्द को स्तुति करनेवाले अर्थ में स्वीकार किया है। इसका धातु 'वंद्' माना है। अपना वंशवृक्ष इन्होंने यों दिया है—माथुर—जगन्नाथ—मुकुन्द—मुरलीधर—सेबाराय—ग्वाल।

आनन्दप्रकाश दीक्षित

मधुमती भूमिका

केशव प्रसाद जी ने 'मेघदूत' के पद्यानुवाद की भूमिका में पहली बार इस विषय की चर्चा की थी। उनके पश्चात् बाबू श्यामसुन्दरदास ने उसे 'साहित्यालोचन' में स्थान दिया। केशव जी का कथन है कि "मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, यह मेरा पुत्र है, इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता, इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं; जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक-वृत्ति की प्राधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दुःख का, तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लायी जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्र चित्त व्यक्ति अपने-पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिए दुःख पाते हैं, क्योंकि 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'।

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़-कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्त का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं। योगी अपनी साधना से उस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है, तब उसके वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।

"योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक

प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट राजस् या तामस के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है, उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है, जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है। यही रसास्वाद की अवस्था है। यही रस की ब्रह्मा-स्वाद-सहोदरता है।"

इस विवेचन के संबंध में विचार करने के लिए विशेष रूप से निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं: १–मधुमती भूमिका में वितर्क की सत्ता नहीं रहती; २–पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति सात्विक-वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है और उसमें दुःख तथा मोह दोनों दबे रहते हैं तथा ऐसे व्यक्ति को भेद में भी अभेद तथा दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है; ३–सात्विकशील व्यक्तियों में यह स्वभावतः विद्यमान रहती है; ४–अभिनवगुप्त का साधारणीकरण और पर-प्रत्यक्ष एक ही है; ५–मधुमती में समस्त वस्तुजात दिव्य प्रतीत होने लगते हैं, स्वर्ग का द्वार खुल जाता है; ६–साधक यथेष्ट काल तक मधुमती में ठहर सकता है; और ७–यही रसास्वाद अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदरता की स्थिति है।

कथित निष्कर्षों की उपयोगिता पर विचार करने के लिए योगशास्त्र का सहारा लेना होगा। पातंजल योगसूत्र में चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया गया है; यथा, प्रथमकल्पित मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभावनीय। जिनका अतीन्द्रिय ज्ञान प्रवर्तित हो रहा है, उन्हें प्रथमकल्पित कहा जाता है। ऋतंभर प्रज्ञ द्वितीय हैं, भूतेन्द्रियजयी तृतीय हैं जो भूतेन्द्रिय साधे हुए हैं और विशोका से असंप्रज्ञात तथा साधनीय विषयों में विहितसाधनयुक्त हैं। अतिक्रान्तभावनीय का केवल चित्तविलय ही अवशिष्ट रहता है। इनमें मधुमती भूमि के साक्षात्कारी ब्रह्मवित् की सत्वबुद्धि देखकर स्थानिगण या देवगण उस स्थान के योग्य मनोरम भोग दिखाते हैं और इस प्रकार से उपनिमंत्रण करते हैं—"हे महात्मन्, यहाँ विराजिए, यहाँ रमिए, यह भोग कमनीय है, यह रसायन जरा-मृत्यु को हटाता है, यह यान आकाशगामी है, कल्पद्रुम, पुण्य-मन्दाकिनी और सिद्ध महर्षिगण ये हैं। आयुष्मन्, आपने अपने गुणों से इन सबको उपार्जित किया है, अतः आप प्राप्त कीजिए। यह अक्षय, अजर, अमर तथा देवों के प्रिय पदार्थ हैं।" आगे इस मधुभूमिक की सावधानी के लिए स्पष्ट बताया गया है कि इस प्रकार से बुलाये जाने पर योगी को निम्नलिखित रूप से संग-दोष का चिन्तन करना चाहिए। "घोर संसार-सागर में जलते और जन्म-मरण अन्धकार में घूमते-घूमते क्लेश-तिमिर-नाशक योगप्रदीप को बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है, यह तृष्णा-संभव विषयपवन उस योग-प्रदीप का विरोधी है। आलोक पाकर भी मैं इस विषय-मरीचिका से वंचित होकर फिर उस प्रदीप्त संसार-अग्नि का हवन कैसे बन सकता हूँ? हे स्वप्नोपम, कृपणजन प्रार्थनीय विषयगण, तुम मजे में रहो।" इस प्रकार निश्चित-मति हो समाधि की भावना करनी चाहिए। संग-त्याग के पश्चात् स्मय (आत्म-प्रशंसा) नहीं करना चाहिए। स्मय से अपने को सुस्थित समझने के कारण कोई भी व्यक्ति यह चिन्तन नहीं करता कि मृत्यु ने मेरे केश पकड़ रखे हैं, अतः नियम-पूर्वक यत्न से

प्रतिकार के योग्य छिद्रान्वेषी प्रमाद उस पर अधिकार करके क्लेश-समूह को प्रबल करेगा। उनसे फिर अनिष्ट संभव होगा। उक्त प्रकार से संग तथा स्मय न करने से योगी का भावित विषय दृढ़ होगा और भावनीय विषय अभिमुखी न होगा।

सर्वोत्कृष्ट योगी वही है जो अतिक्रान्तभावनीय कहा गया है। उस स्थिति तक क्रमशः तीन कोटियों को पार करके जाना होता है। इन कोटियों में मधुभूमिक केवल दूसरी कोटि से आता है, जिसका तात्पर्य यह है कि अभी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे कम-से-कम एक भूमि और लाँघनी होगी, तब कहीं सफल योगियों की श्रेणी में उसे स्थान मिल सकेगा। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने की है, वह यह कि मधुभूमिक के सम्मुख देवता अनेक पदार्थ प्रस्तुत करते हैं। यदि योगी इनसे प्रभावित होकर इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है तो उसे उलटे पैरों लौट जाना होगा। उसके लिए सिद्धि का सुमार्ग अवरुद्ध हो जाता है, उसे मोह घेर लेता है। अतः स्पष्ट शब्दों में उसे इस आकर्षण-भूमि से बचने की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि वह उन पदार्थों के संग तथा आत्म-श्लाघा से दूर ही रहे। इन दोनों को यत्न से प्रतिकार-योग्य बताया गया है। तात्पर्य यह है कि यदि यह स्थिति प्रतिकार-योग्य है तो वह योगी के लिए बहुत देर तक क्या, क्षण-भर के लिए भी काम्य नहीं, किन्तु उस स्थिति से उसे जाना अवश्य पड़ता है, क्योंकि यही उसकी वास्तविक परीक्षा-भूमि है। यदि योगी की साधना कच्ची है, तो उसका यहीं पतन हो जायगा और यदि साधना दृढ़ है तो उसके मार्ग से बाधाएँ सदा के लिए दूर हो जाएँगी। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि १—योगियों की चार कोटियों में मधुभूमिक दूसरी कोटि में बताया गया है, जिससे उसे पूर्ण सिद्ध नहीं कहा जा सकता; २—यह भूमि साधक की परीक्षा-भूमि है, सिद्धि-भूमि नहीं; ३—परीक्षा-भूमि में अधिक देर तक स्थित रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत उसके प्रतिकार का उपदेश दिया गया है; ४—यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है तो ब्रह्मानन्द का संबंध ही इससे नहीं माना जा सकता और तब ब्रह्मानन्द-सहोदरता को इस प्रसंग के द्वारा नहीं समझाया जा सकेगा।

इस प्रकार विचार करने से मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत किये गये निष्कर्षों में से छठे तथा सातवें निष्कर्ष की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। पाँचवें के संबंध में मिश्र जी का कथन है कि इस मधुमती में समस्त वस्तुजात दिव्य प्रतीत होने लगते हैं, मानों स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। थोड़ा ध्यान-पूर्वक विचार करने से उनके इस विचार की असंगति विदित हो जायगी। मधुमती के अन्तर्गत देवताओं के द्वारा दिखाये जाने वाले जिन प्रलोभनों का वर्णन किया गया है, वे देवताओं से संबंध रखने के कारण स्वयं दिव्य हैं, यह नहीं कि किसी मायाजाल के कारण वह थोड़ी देर के लिए ऐसे प्रतीत होते हैं। दिव्य का तात्पर्य यही है कि उनमें असाधारण आकर्षण-क्षमता है। यदि मधुमती में पहुँचकर भी अदिव्य पर दिव्यता का आरोप किया गया तो फिर योग-ज्ञान कहाँ रहा? यदि योग-ज्ञान ही नहीं, तो मधुभूमिक को जो ऋतंभर-प्रज्ञ कहा गया है, वह भी मिथ्या सिद्ध हो जायगा। उन्होंने जो 'दिव्य प्रतीत होने लगते हैं' जैसा निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसी के कारण उन्हें यह भी कहना पड़ता है कि इस अवस्था से दुःखद वस्तुएँ भी सुखद प्रतीत होने लगती हैं, शोकादि भाव भी सुखद हो जाते हैं। वस्तुतः यह धारणा संगत नहीं है। मिश्र जी ने इसी मधुभूमि के अन्तर्गत

कथित इस बात पर विचार नहीं किया कि "नियम-पूर्वक प्रतिकार के योग्य, छिद्रान्वेषी प्रमाद उसपर अधिकार करके क्लेश-समूह को प्रबल करेगा", इस प्रकार की उक्ति की आवश्यकता क्यों हुई ? स्पष्ट है कि यहाँ परिणाम में क्लेश की प्राप्ति मानी गयी है, न कि विभावादि के साधारणीकरण के कारण तन्मय हो जाने पर आनन्दमय रसानुभूति के सदृश स्थिति की दोनों स्थितियाँ परस्पर विरोधी हैं। एक का परिणाम निश्चित रूप से क्लेश है और दूसरे का परिणाम आनन्द। अतः दोनों में कोई संबंध नहीं है।

यहीं इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि संग तथा स्मय त्याज्य हैं। इनके त्याग अथवा प्रतिकार की विधि भी बतायी गयी है। विधि है इनके प्रतिपक्ष में सोचना, विरोध में चिन्तन करना। यह प्रतिपक्ष से सोचना योगसूत्र के अनुसार वितर्क के वाद के लिये उपयोगी है। 'वितर्कबोधने प्रतिपक्षभावनं' (२।३३) इस सूत्र को समझाते हुए स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मवित् को जब हिंसादि वितर्क होते हैं कि मैं अपकारी का हनन करूँगा, असत्य वाक्य कहूँगा, इसकी चीज लूँगा, इन सब वस्तुओं का स्वामी होऊँगा—तब ऐसे अतिदीप्त, उन्मार्गप्रवण, वितर्कज्वर द्वारा बाध्य होने पर उसके प्रतिपक्ष की भावना करे; जैसे घोरसंसार-अंगार में जलते हुए मैंने सर्वभूत में अभय दान कर, योग-धर्म की शरण ली है। वहीं से वितर्क त्याग करके भी फिर उन्हीं वितर्कों को ग्रहण करके मैं कुत्तों जैसा आचरण कर रहा हूँ। इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यदि संग तथा स्मय से बचने के लिए प्रतिपक्षभावना आवश्यक बतायी गयी है, तो निश्चय ही दूसरे रूप में यह स्वीकार किया गया है कि इस स्थिति में भी वितर्क की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः इस प्रकार विचार करने से मिश्र जी की प्रथम स्थापना भी निरर्थक हो जाती है। अब प्रश्न किया जा सकता है कि मधुभूमिक को जो ऋतंभरप्रज्ञ कहा गया है, उसका क्या तात्पर्य है? समाधान यह है कि मधुभूमि वास्तव में वह नहीं है जो भूल से संग तथा स्मय मान ली गयी है। संग तथा स्मय तो उसके विरोधक मात्र हैं। वहाँ ऋतंभरा कहाँ? ऋतंभरा इन्हीं दोनों के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली स्थिति है। अतएव यों कहना ठीक होगा कि संग तथा स्मय का निरोध करके ब्रह्म को जाननेवाले योगी का नाम ऋतंभरप्रज्ञ है और वही मधुभूमिक भी कहा जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि संग के कारण जिस दिव्य वस्तुबोध को मधुभूमि समझ लिया गया है, वह वितर्क-संवलित है और मधुभूमि की प्राप्ति में बाधक भी है।

अब मिश्र जी की दूसरी धारणा पर विचार करें तो जान पड़ेगा कि उनका यह विचार कि पर-प्रत्यक्ष की अवस्था में दुःख भी सुख हो जाता है, भ्रमात्मक है। पर-प्रत्यक्ष का सीधा संबंध मधुमती से है, क्योंकि उसमें वितर्क की अवस्था नहीं रहती और पर-प्रत्यक्ष भी निर्वितर्क समापत्ति ही है। ठीक, किन्तु ऋतंभरा प्रज्ञा का काम तो अन्वर्था होने के कारण केवल इतना है कि वह ऋत् अर्थात् सत्य का, वास्तव का ज्ञान करा देती है। कहीं दुःख का सुख बना देना तो पतंजलि या उनके भाष्यकारों ने ऋतंभरा के साथ बताया नहीं है। प्रथम पाद के ४८वें सूत्र में केवल इतना बताया गया है कि यह ऋतंभरा प्रज्ञा अध्यात्म-प्रसाद के कारण समाहित-चित्त व्यक्ति में ही उत्पन्न होती है। अध्यात्म-प्रसाद का अर्थ है रजस्तमोमल से शून्य प्रकाश गुण

का उत्कर्ष। इस प्रज्ञा में विपर्यास की महक भी नहीं होती। तात्पर्य यह कि दुःख को सुख बना देने की बात ऋतंभरा के लिए संभव नहीं है।

इसी प्रकार चौथी उपपत्ति अर्थात् यह विचार कि 'उस समय दुःखात्मक क्रोध-शोकादि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं और अभिनवगुप्त का साधारणीकरण भी यही है', कम विचित्र नहीं है। अभिनवगुप्त ने 'अभिज्ञान-शांकुतल' से मृग-भय का उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि साधारणीकरण की अवस्था में दुःख के सुख में परिवर्तित होने की स्थिति न आकर केवल इतना होता है कि देशकालावच्छिन्न भय मात्र की प्रतीति होती है। सार यह है कि ब्रह्मानन्द-सहोदर का योग की मधुमती भूमिका से संबंध स्थापित करना उचित प्रतीत नहीं होता। मधुमती का मोहक वर्णन इस बात का प्रमाण है कि उसे ऐश्वर्य-भूमि तो कहा जा सकता है, आनन्द-भूमि नहीं।

स्व० चन्द्रबली पाण्डेय ने रस की ब्रह्मानन्द-सहोदरता का योग की 'विशोका' स्थिति से संबंध बैठाते हुए कहा है—"रस को अतीन्द्रिय कहा जाता है और यह भूमि है भी अतीन्द्रिय। निदान मानना पड़ता है कि यदि योग की किसी भूमि को रस-भूमि, बिना किसी खटके के, कहा जा सकता है तो वह विशोका भूमि ही है।"—साहित्यसंदीपनी, पृ० ४१।

इस संबंध में हमारा इतना ही निवेदन है कि रस का संबंध इस भूमि से भी स्थापित नहीं करना चाहिए और न उसे अतीन्द्रिय ही कहना उपयोगी है। रस-ज्ञान सुख-स्वरूप-हीन अति-मानस-प्रत्यक्ष है, अतीन्द्रिय नहीं। इसीलिए हजारीप्रसाद जी ने इसे 'अतीन्द्रियग्राह्य' माना है (साहित्य का मर्म, पृ० २)। आचार्य शुक्ल ने तो रस को प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से भिन्न मानने का भी विरोध किया है (चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५६)। विशोका का लक्षण यह है कि "भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे विशोका सिद्धि कहते हैं।" किन्तु रसास्वादकर्त्ता विभावादि पर निर्भर रहने के कारण यद्यपि भूतेन्द्रियराज्य का अतिक्रमण नहीं कर पाता है, तथापि वह ममत्व-परत्व से मुक्त होकर सत्वोद्रेक होने पर रसास्वाद करता हुआ आनन्दित अवश्य होता है। अतः दोनों स्थितियों में भेद स्पष्ट है। ऐसी दशा में दोनों का संबंध स्थापित करना संभव नहीं है।

'काव्यप्रकाश' कार ने ब्रह्मानन्द-सहोदर की विलक्षणता का ध्यान करके ही उसे न तो निर्विकल्पक समाधि से सम्बद्ध माना है और न सविकल्पक से। तथापि उभयाभाव के रहने पर भी उभयात्मक मानने में उन्होंने किसी विप्रतिपत्ति की शंका नहीं उठायी। इसके विपरीत इससे रस की अलौकिकता की ही सिद्धि मानी है। विभावादि के कारण वे उसे निर्विकल्पक नहीं मान सकते और स्वसंवेदन-सिद्धि के कारण उसे सविकल्पक नहीं कह सकते। दोनों होकर भी वह दोनों में से कोई एक ही नहीं है, अतएव अलौकिक है (काव्यप्रकाश, पृ० ९४-९५)। अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित आचार्य मम्मट के इस मत के रहते हुए रस को किसी भूमि से सम्बद्ध मानना उचित नहीं।

●

कामिल बुल्के

हनुमान् के चरित्रचित्रण का विकास

हनुमान् के चरित्रचित्रण के विकास की दृष्टि से रामकथा-साहित्य में कालक्रमानुसार चार सोपान निर्धारित किये जा सकते हैं, अर्थात् राम विषयक आख्यान-काव्य, आदि वाल्मीकि-रामायण, प्रचलित वाल्मीकि-रामायण तथा मध्यकालीन रामसाहित्य। विकास की रूपरेखा स्पष्ट रूप से अंकित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में जो हनुमान् की जन्मकथा मिलती है वह आदि रामायण में विद्यमान नहीं थी।

क—हनुमान् की जन्मकथा

प्रचलित वाल्मीकि-रामायण की हनुमान्-विषयक जन्मकथा की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता के विरुद्ध दो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक तो वाल्मीकि-रामायण में केसरी अथवा अंजना के उल्लेखों की कमी, दूसरे, हनुमान् की उपाधि 'वायुपुत्र' का निरन्तर प्रयोग।

§१. हनुमान् की जन्मकथा प्रचलित वाल्मीकि-रामायण के तीनों पाठों में तीन बार मिलती है : प्रथम बार, किष्किन्धा काण्ड के अंत में (दे० सर्ग ६६-६७); दूसरी बार, युद्धकाण्ड के एक प्रक्षेप में, जिसमें गुप्तचरों, शुक और शार्दूल को दुबारा राम-सेना का निरीक्षण करने भेजा जाता है (दे० सर्ग २८, १०, १५); तीसरी बार, अपेक्षाकृत अर्वाचीन उत्तरकाण्ड में (दे० सर्ग ३५-३६)। हनुमान् की इस जन्मकथा के प्रसंग के बाहर प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में केवल एक ही स्थल है जहाँ तीनों पाठों में केसरी का हनुमान् के पिता के रूप में उल्लेख हुआ है; और यह स्थल स्पष्टतया प्रक्षिप्त है। सीता-हनुमान्-संवाद में हनुमान् सीता से कहते हैं—**अहं सुग्रीवसचिवो हनुमान् नाम वानरः** (५, ३४, ३८)। अगले सर्ग में वह पुनः अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं केसरी की पत्नी से उत्पन्न हनुमान् हूँ —

> माल्यवान्नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरिः ॥७९॥
> ततो गच्छति गोकर्णं पर्वतं केसरी हरिः।
> यस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि।
> हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥८१॥ (सर्ग ३५)

प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में केसरी का नाम मात्र भी बहुत कम मिलता है। हनुमान् की जन्मकथा तथा उपर्युक्त प्रक्षिप्त उद्धरण के अतिरिक्त उनका नाम किष्किंधा अथवा सुन्दर-काण्ड में कहीं भी नहीं आया है। इस अभाव की अर्थपूर्णता स्पष्ट है जब इसका ध्यान रखा जाता है कि उन काण्डों में चार बार मुख्य वानरों की लम्बी सूचियाँ दी गयी हैं (दे० किष्किंधा के सर्ग

४, ५० और ६५ और सुन्दरकाण्ड का सर्ग ३)। प्रामाणिक काण्डों में से युद्धकाण्ड में सब से अधिक मात्रा में प्रक्षिप्त सामग्री पायी जाती है। इस काण्ड के एक स्थल पर केसरी को वानर-मुख्य की उपाधि मिल गयी है—**मुख्योवानरमुख्यानां केसरी नाम यूथपः** (दे० २७-३८)। फिर भी इस उद्धरण के अतिरिक्त केसरी का नाम केवल तीन बार आया है— दो बार अन्य नामों के साथ केसरी का उल्लेख मात्र मिलता है (दे० ४,३३ और ७३, ५९), और एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि केसरी तथा संपाती ने घोर युद्ध किया था—**युद्धं केसरिणा संख्ये घोरं सम्पातिना कृतम्** (४९, २६)। ध्यान देने योग्य है कि किष्किधा और सुन्दरकाण्ड की भाँति युद्धकाण्ड में भी मुख्य वानरों की बहुत-सी लम्बी सूचियाँ मिलती हैं जिनमें केसरी का नाम नहीं है; उदा० सर्ग ३, २६, ३०, ३१, ४२, ४३ और ४७। युद्धकाण्ड के अंत में भरत द्वारा अयोध्या में वानरों का स्वागत वर्णित है; इस प्रसंग में हनुमान् के अतिरिक्त तेरह वानरों के नाम आये हैं, किंतु केसरी का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है (दे० १२७, ४२ आदि)। दाक्षिणात्य पाठ के बालकाण्ड में भी वानरों की उत्पत्ति के वर्णन में बारह नाम उल्लिखित हैं (दे० सर्ग १७); बालि और तारा को छोड़कर सभी के नाम युद्धकाण्ड के अंत में भी आये हैं। ये ही प्रमुख माने जा सकते हैं, किंतु केसरी उनमें से एक नहीं है। उत्तरकाण्ड के निरीक्षण से भी वही निष्कर्ष निकलता है। हनुमान् की जन्मकथा को छोड़कर (सर्ग ३५-३६), उत्तरकाण्ड का केवल एक ही स्थल है जहाँ तीनों पाठ केसरी का नाम लेते हैं; दान-वितरण के प्रसंग में केसरी का अन्य वानरों के साथ उल्लेख हुआ है (दे० सर्ग ३९, २०)। स्वर्गारोहण के वर्णन में कहीं भी केसरी का नाम नहीं आया है (दे० सर्ग १०८)। इन सब बातों को ध्यान में रखकर स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभ में केसरी का मुख्य वानर के रूप में चित्रण नहीं हुआ था। अधिक संभव यही प्रतीत होता है कि आदि रामायण में इसका उल्लेख तक नहीं किया गया था। 'महाभारत' के रामोपाख्यान[1] में केसरी का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता; इससे भी हमारे निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

अंजना का नाम प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में हनुमान् की जन्मकथा के बाहर केवल एक ही बार आया है, किंतु जिस सर्ग में अंजना का यह उल्लेख मिलता है वह निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है (दे० ६, ७४, १८)। इस सर्ग की अप्रामाणिकता के तर्क डॉ० याकोबी ने पिछली शताब्दी के अंत में प्रस्तुत किये थे (दे० डस रामायण, पृ० ४५)। 'महाभारत' में अंजना का नाम एक बार भी नहीं पाया जाता है।

प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि आदि रामायण में केसरी अथवा अंजना का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ था। हनुमान् की जन्मकथा की प्राचीनता के विरुद्ध जो दूसरा तर्क है वह कहीं और महत्वपूर्ण है। यह तर्क प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में प्रयुक्त हनुमान् की उपाधियों पर आधारित है।

---

१. 'महाभारत' के एक ही स्थल पर अर्थात् हनुमान्-भीम-संवाद के अंतर्गत केसरी का नाम मिलता है (दे० ३, १४७, २४)। इसमें हनुमान् के केसरी की पत्नी से उत्पन्न होने का उल्लेख है।

§२. वाल्मीकि-रामायण में हनुमान् को प्रायः **वायुपुत्र** अथवा इसके पर्यायवाची शब्द की उपाधि दी जाती है। इन में से **मारुतात्मज, मारुति, पवनात्मज, वायुपुत्र, वायुसूनु, वायु-सुत** और **अनिलात्मज** सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। **वातात्मज, मारुत, पवनसुत, अनिलसुत** भी कई बार आये हैं। कुछ अन्य पर्याय केवल एक ही बार प्रयुक्त हुए; अर्थात् **वायुनन्दन** (५, ५७, १०), **वायुसंभव** (५, ३५, ८८), **पवनसंभव** (५, १५, ५४), **मारुतनन्दन** (५, १८, २०), **वासवदूतसूनु** (६, ७४, ५८), **गंधवहात्मज** (एक सर्ग में दो बार, दे० ६, ७४, ६६ और ७३)। 'महाभारत' में हनुमान् को पाँच बार **मारुतात्मज**, तीन बार **पवनात्मज**, दो बार **अनिलात्मज** तथा एक-एक बार **वायुपुत्र** तथा **वायुतनय** कहा गया है।

हनुमान् की जन्मकथा-विषयक उपाधियों का यह बाहुल्य दृष्टि में रखकर तथा इसमें केसरी अथवा अंजना के उल्लेख का अभाव देखकर उपर्युक्त अनुमान सुदृढ़ धारणा में परिणत हो जाता है कि वाल्मीकि-रामायण के कुशीलव बहुत समय तक हनुमान् को वायुपुत्र ही मानते थे, और उस कथा से अनभिज्ञ थे जिसके अनुसार हनुमान् केसरी की पत्नी अंजना की सन्तान हैं। बाद में **आंजनेय** (दे० महानाटक, अंक १४-९४), **अंजनीसुत** आदि नाम भी प्रचलित होने लगे; उत्तरकाण्ड के दाक्षिणात्य पाठ में **अंजनीसुत** पाया ही जाता है, किंतु अन्य पाठों के समानान्तर स्थलों पर इसका अभाव इस नाम को प्रक्षेप सिद्ध कर देता है।[२] 'वायुपुत्र' नाम के रहस्य पर प्रस्तुत निबंध के द्वितीय भाग में प्रकाश डाला जायगा।

ख—चरित्रचित्रण के चार सोपान

§१. **रामविषयक आख्यान-काव्य**—प्रायः समस्त विद्वान् रामकथा के वानरों, रीछों आदि को आदिवासी वनजातियाँ समझते हैं, जिनके गोत्र वानर, रीछ, गीध आदि आजकल तक प्रचलित हैं। अतः हनुमान् भी मध्य-भारत के कोई आदिवासी थे, जिनका गोत्र वानर ही था। 'हनुमान्' शब्द वास्तव में एक द्राविड़ शब्द 'आण्-मंदी' का संस्कृत रूपान्तर मात्र है जिसका अर्थ 'नर-कपि'[३] ही है। वह सुग्रीव के पराक्रमी तथा बुद्धिमान् मंत्री के रूप में चित्रित किये गये होंगे,

---

२. **उद्धरण इस प्रकार हैं—**

तथा केसरिणा त्वेष वायुना सोऽ*ञ्जनीसुत* :॥३१॥
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लंघयत्येव वानरः। (दाक्षिणात्य पाठ, सर्ग ३६)
यदा केसरिणा ह्येष वायुनाऽ*ञ्जनया* तथा।
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लंघ्यत्येष वानरः॥३१॥ (पश्चिमोत्तरीय पाठ, सर्ग ३९)
यदा केसरिणा त्वेष वायुना *स्वजनैः सह*।
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लंघ्यत्येष वानरः॥७॥ (गौडीय पाठ, सर्ग ४०)

३. बाद में हनुमान् का वृषाकपि से संबंध जोड़ा गया है (दे० ब्रह्मपुराण ८४, १९) किंतु ऋग्वेद का वृषाकपि वानर न होकर एक शृंग वाराह था और हनुमान् अथवा किसी कपि से कोई भी संबंध नहीं रखता।

क्योंकि बाद के राम-साहित्य में उनके पराक्रम तथा बुद्धिमत्ता को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[४] 'महाभारत' के आरण्यकपर्व में भी भीम हनुमान् का इस प्रकार परिचय देते हैं—

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो **बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।**
रामायणेऽतिविख्यातः शूरो वानरपुंगवः ।।११।। (अध्याय १४७)

अतः अधिक संभव प्रतीत होता है कि प्रारंभिक आख्यान-काव्य में हनुमान् को एक **वानर गोत्रीय आदिवासी, सुग्रीव के बुद्धिमान् तथा पराक्रमी मंत्री** के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

§२. **आदि रामायण**—वाल्मीकि के समय तक रामकथा-विषयक आख्यान-काव्य का प्रचुर मात्रा में सृजन हुआ था। इतने में आदिवासी गोत्रों का वास्तविक अर्थ आवृत्त होता जाता रहा और उसके फलस्वरूप उन आदिवासियों को वास्तव में वानर ही माना गया, यद्यपि उनमें मानवीय विवेक तथा बोलने की क्षमता भी रह गयी थी। प्रचलित रामायण में हनुमान् के वानरत्व-विषयक विशेषणों के बाहुल्य से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि के समय यह धारणा मान्यता प्राप्त करने लगी थी कि हनुमान् वास्तव में एक प्रकार का वानर था। इसके अतिरिक्त हनुमान् को 'वायुपुत्र' की उपाधि भी मिल गयी थी।

इस उपाधि की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती है। रामायण के रचना-काल में 'वायुपुत्र' एक निश्चित अर्थ में प्रचलित था। जातक '**सुमग्ग**' में एक 'वायुस्स पुत्त' अर्थात् विद्याधर की कथा मिलती है जिसमें न तो हनुमान् का उल्लेख है और न किसी अन्य वानर का। यह विद्याधर ऐन्द्रजालिक है; 'वायुस्स पुत्त' का अर्थ अन्यत्र भी विद्याधर अथवा जादूगर ही है; महाभारत में 'वातिक' इससे मिलता-जुलता अर्थ रखता है (दे० ३, २४३, ३)। रामायण में हनुमान् समुद्र लाँघते हैं, सीता का पता लगाते हैं और अन्य वानरों की अपेक्षा बुद्धिमान् और कार्यकुशल माने जाते हैं। अद्भुत् रस से परिपूर्ण उनके इस चरित्र-चित्रण का ध्यान रख कर उनको **वायुपुत्र** (अर्थात् विद्याधर, ऐन्द्रजालिक) की उपाधि मिली होगी।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि रामायण में हनुमान् सुग्रीव के बुद्धिमान् तथा पराक्रमी मंत्री के अतिरिक्त **कपिकुंजर** तथा **वायुपुत्र** भी माने जाते थे।

§३. **प्रचलित वाल्मीकि-रामायण**—काव्योपजीवी कुशीलवों ने आदि रामायण में बहुत से प्रक्षेप जोड़ दिये हैं, यह प्रचलित रामायण के विभिन्न पाठों के विश्लेषण से सुस्पष्ट है। हनुमान् के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्षेप उनकी जन्मकथा तथा बाललीला का वर्णन है। **'वायुपुत्र'** उपाधि के आधार पर कुशीलवों ने मान लिया कि वायु ने शापभ्रष्टा अप्सरा पुंजिकस्थला से (जो अंजना के रूप में प्रकट हुई थी) हनुमान् को उत्पन्न किया है।[६]

---

४. दे० रामकथा (द्वितीय संस्करण), अनु० ६८२- ६९२। ५. जर्मन ओरियंटल जर्नल, भाग ९३, पृष्ठ ८९। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास भी हनुमान् को 'काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो' कहते हैं (दे० २८,५)। ६. इस जन्मकथा में हनुमान् देवताओं से विभिन्न वर प्राप्त कर लेते हैं; इसके आधार पर वह व्याकरण के विशेषज्ञ

प्रचलित रामायण के प्रक्षिप्त अंशों की एक सामान्य विशेषता है अद्भुत रस तथा अलौकिकता की बढ़ती हुई सामग्री। हनुमान् के चरित्रचित्रण में भी वही बात पायी जाती है। आदि-रामायण में उनके समुद्र-लंघन का अतिशयोक्ति-पूर्ण शब्दों द्वारा वर्णन किया गया था, किंतु बाद के प्रक्षेपों में वह अन्य वानरों की भाँति आकाशगामी बन गये हैं, जन्म के बाद ही सूर्य की ओर बढ़ते हैं और हिमालय से अनायास ही एक सम्पूर्ण पर्वत लंका ले आते हैं। नवीन विशेषताओं में से उनका चिरंजीवत्व संभवतः सब से महत्वपूर्ण है।

'महाभारत' के रामोपाख्यान में हनुमान् की किसी वरप्राप्ति का उल्लेख नहीं मिलता—न राम की ओर से और न देवताओं की ओर से। रावणवध के बाद सीता हनुमान् को आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति (दे० ३,२७५,४३)। सीता के इस कथन का लाक्षणिक अर्थ है कि तुम्हारी कीर्त्ति राम की कीर्त्ति की तरह अमर ही होगी। बहुत संभव है कि इस उक्ति के आधार पर यह माना जाने लगा कि हनुमान वास्तव में जीवित रह कर हिमालय पर निवास करते हैं। इस विश्वास की प्राचीनतम अभिव्यक्ति महाभारत के हनुमान्-भीम-संवाद में सुरक्षित है। इसमें हनुमान् कहते हैं कि मैंने राम से यह वरदान माँग लिया है कि जब तक रामकथा पृथिवी पर प्रचलित होगी, तब तक मैं जीवित रह सकूँ —

> यावद्रामकथा वीर भवेल्लोकेषु शत्रुहन।
> तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत ।।३७।। (दे० ३, १४७)।

तदनन्तर हनुमान् भीम को बताते हैं कि इस स्थान पर अप्सराएँ तथा गंधर्व रामचरित गाकर मुझे आनंदित करते रहते हैं। रामायण के उत्तरकाण्ड में राम द्वारा हनुमान् को वर-प्रदान का दो बार उल्लेख हुआ है। ध्यान देने योग्य है कि वहाँ पर भी रामकथा का प्रचलन ही हनुमान् की अमरता का आधार माना गया है। स्वर्गारोहण के पूर्व राम यह कहकर हनुमान् को चिरंजीवत्व प्रदान करते हैं—

> मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर।
> तावद्रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ।।३०।। (सर्ग १०८)

प्रस्तुत प्रसंग का सब से विस्तृत रूप उत्तरकाण्ड के ४०वें सर्ग में मिलता है। 'महाभारत' में हनुमान् ने कहा था कि हिमालय के जिस स्थान पर वह रहते थे, वहाँ गंधर्वादि रामचरित गाया करते थे; अब रामचरित का यह गान वरदान का रूप धारण कर लेता है। अभिषेक के बाद अयोध्या से विदा लेते समय हनुमान् ने राम से तीन वर माँगे थे, अर्थात् अनन्य रामभक्ति चिरंजीवत्व तथा रामकथा-श्रवण—

> स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
> भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ।।१६।।

भी बन जाते हैं। बाद में उनको ज्योतिषी, संगीतज्ञ तथा कवि ('महानाटक' का रचयिता) भी माना गया है।

यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः ॥१७॥
यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन।
तन्मयाप्सरो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ ॥१८॥

इन उदाहरणों से पता चलता है कि किस प्रकार हनुमान् के वरों की संख्या बढ़ती गयी;[७] साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हनुमान् को चिरंजीवत्व का विचार उनकी अमर कीर्ति-विषयक उक्तियों से उत्पन्न माना जा सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में हमें हनुमान् की दो नयी विशेषताएँ मिलती हैं; अब से लेकर हनुमान् को **चिरंजीव** तथा **आंजनेय** माना जाएगा।

§४. मध्यकालीन रामकथा-साहित्य—अत्यन्त विस्तृत अर्वाचीन राम कथा-साहित्य में हनुमान् का महत्व बढ़ता हुआ प्रतीत होता है और उन्हें मुख्यतया चार नवीन विशेषताएँ मिल गयी हैं।

(अ) कम-से-कम दसवीं शताब्दी से हनुमान् को **रुद्रावतार** माना गया है। तत्संबंधी प्राचीनतम सामग्री में इसका उल्लेख मात्र किया जाता है कि हनुमान् रुद्रीय अथवा रुद्रावतार हैं; उदा० स्कंदपुराण (अवंतीखंड, चतुरशीतिलिंग माहात्म्य, अध्याय ७९; रेवाखंड, अध्याय ८४); महाभागवतपुराण (अध्याय ३७); बृहद्धर्मपुराण (अध्याय १८); महानाटक (अंक ६, २७)। परवर्ती रचनाओं में बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं, जिनमें दिखलाया जाता है कि किस प्रकार हनुमान् शिव के तेज तथा अंजना के गर्भ से उत्पन्न हुए थे; उदा० भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व ४, १३); शिवमहापुराण (शतरुद्रसंहिता, अध्याय २०); तत्वसंग्रह रामायण (४, १२)। फलस्वरूप यह प्रायः सर्वत्र माना जाने लगा कि हनुमान् वास्तव में रुद्र के अवतार हैं; दे० आनन्दरामायण (१, ११); कृत्तिवास रामायण; सारलादास का उड़िया महाभारत, तुलसीदास की विनयपत्रिका, श्याम का रामकियेन, आदि।

हनुमान् की जन्मकथा का यह विकास स्वाभाविक प्रतीत होता है। राम-कथा की बढ़ती लोकप्रियता को देखकर शैव इसकी अवहेलना न कर सके। रामायण की आधिकारिक कथा-वस्तु में शिव के लिए कोई स्थान नहीं था, अतः उन्होंने सुन्दरकाण्ड के नायक को अपने इष्ट-देव का अवतार मान लिया है।

---

७. हनुमान् की जन्मकथा के प्रारंभिक रूप में देवताओं द्वारा वर-प्रदान का उल्लेख नहीं था। गौडीय पाठ के किष्किधा-काण्ड की जन्म-कथा में किसी भी वर का संकेत नहीं मिलता। पश्चिमोत्तरीय पाठ में ब्रह्मा ही हनुमान् को 'अशस्त्रवध्यता' प्रदान करते हैं तथा दाक्षिणात्य पाठ में ब्रह्मा के इस वरदान के अतिरिक्त इंद्र का भी उल्लेख है जो हनुमान् को 'स्वच्छन्दतश्च मरणम्' (दे० ४, ६६, २९) का वर देते हैं। उत्तरकाण्ड की जन्मकथा में (तीनों पाठों के अनुसार) इंद्र, ब्रह्मा, वरुण, यम, कुबेर, शिव तथा विश्वकर्मा सभी हनुमान् को अपने अस्त्रों द्वारा अवध्यता प्रदान करते हैं और अन्य वरदानों के अतिरिक्त विश्वकर्मा के चिरंजीवत्व-प्रदान का भी उल्लेख है।

(आ) रामभक्ति की व्याकपता मध्यकालीन राम-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि आदि-रामायण के उत्साही एवं विश्वस्त राम-सेवक हनुमान् को उस साहित्य में **आदर्श रामभक्त** के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'शिवमहापुराण' हनुमान् के विषय में कहता है —

स्थापयामास भूलोके रामभक्तिं कपीश्वरः।
स्वयं भक्तवरो भूत्वा सीतारामसुखप्रदः ॥३६॥
—शतरुद्र संहिता, अध्याय २०।

इस उद्धरण में हनुमान् को रामभक्ति के प्रवर्त्तक की उपाधि से विभूषित किया जाता है; वास्तव में रामरहस्योपनिषद्, हनुमत्संहिता, शिवसंहिता आदि रचनाएँ हनुमान् को रामभक्ति के आचार्य के रूप में देखती हैं तथा रसिकसंप्रदाय उनको अपना प्रवर्त्तक मानता है।

हनुमान् की रामभक्ति का प्राचीनतम उल्लेख वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में मिलता है (दे० ऊपर)। परवर्त्ती रचनाओं में हनुमान् के एक अन्य वर की भी चर्चा की जाती है—जहाँ कहीं भी रामचरित का वर्णन होता है वहाँ हनुमान् उपस्थित रहते हैं —

यत्र यत्र कथा लोके प्रचरिष्यति ते शुभा।
तत्र तत्र गतिर्मेऽस्तु श्रवणार्थं सदैव हि ॥१४३॥
—आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग १२।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार रामाभिषेक के अवसर पर सीता ने राम, से जो माला मिली थी, उसे हनुमान् को प्रदान किया था (दे० ६, १२८, ७८-७९)। हनुमान् की रामभक्ति सिद्ध करने के उद्देश्य से इस घटना को अर्वाचीन रामसाहित्य में एक नवीन रूप दिया गया है। कृत्तिवासी रामायण के अनुसार हनुमान् ने माला ग्रहण कर उसे ध्यान से देखा लिया और तदनन्तर वे उसे तोड़कर उसकी बहुमूल्य मणियाँ खाने लगे। अपने इस व्यवहार का कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि इस माला में राम नाम अंकित नहीं है, इसीलिए इसका मेरी दृष्टि में कोई भी मूल्य नहीं है। इस पर लक्ष्मण ने पूछा कि तुम अपना शरीर क्यों नहीं छोड़ देते हो। यह सुनकर हनुमान् ने अपने नखों से छाती फाड़कर दिखलाया कि उनकी हड्डी-हड्डी पर राम का नाम अंकित है। इस प्रकार की और कथाएँ मध्यकालीन साहित्य में पायी जाती हैं, जिनमें हनुमान् को आदर्श रामभक्त के रूप में चित्रित किया गया है (दे० रामकथा, द्वितीय संस्करण, अनु० ७०१-७०७)।

(इ) हनुमान् का **ब्रह्मचर्य** परवर्त्ती राम-साहित्य में उनके चरित्रचित्रण की तीसरी विशेषता है। महीरावण-वध की कथा में हनुमान् के एक पुत्र का भी प्रायः उल्लेख होता है। लंका-दहन के बाद समुद्र में स्नान करते हुए हनुमान् का स्वेद अथवा श्लेष्मा निगल कर एक मत्स्या गर्भवती हुई और इस प्रकार हनुमान् के पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। 'मैरावणचरितम्' के अनुसार उस पुत्र का नाम मत्स्यराज है; वह हनुमान् को अपना परिचय देते हुए कहता है—**तिमिंगला हि मन्माता पिता च हनुमान्**। इस पर हनुमान् यह कहकर आपत्ति करते हैं—**हनुमान् ब्रह्मचारीति विख्यातं भुवनेष्वपि** (दे० अध्याय ११)।

हनुमान् के उस ब्रह्मचर्य का प्राचीनतम उल्लेख स्कंदपुराण (अवंतीखंड, रेवाखंड, अध्याय ८३) में मिलता है। परवर्ती साहित्य में उनके वज्रकौपीन की भी चर्चा की जाती है, जिसे पहनकर हनुमान् ने जन्म लिया था (दे० सारलादास का 'उड़िया महाभारत', अर्जुनदास का 'रामविभा', मराठी 'भावार्थ रामायण' का उत्तरकाण्ड)।

हनुमान् की इस विशेषता के विषय में भारतीय तथा विदेशी रामकथाओं में अंतर पाया जाता है। हिन्देशिया तथा श्याम के वृत्तान्तों में हनुमान् की संभोग-क्रीड़ाओं का कई अवसरों पर उल्लेख मिलता है। श्याम के 'रामकियेन' में हनुमान स्वयंप्रभा, विभीषण की पुत्री बेंजकाया, नागकन्या सुवर्णभच्छा तथा मंदोदरी के साथ भी रमण करते हैं। इन कथाओं का मूलस्रोत 'भारत' में ही मानना चाहिए, क्योंकि जैन 'पउमचरिय' में हनुमान् तथा लंकासुन्दरी की प्रेम-क्रीड़ा तथा विवाह का वर्णन किया गया है (दे० पर्व ५२) तथा हनुमान के विषय में यह कहा गया है कि पद्मरागा (सुग्रीव की पुत्री), अनंगकुसुमा (चंद्रणखा की पुत्री) आदि उनकी एक सहस्र पत्नियाँ थीं (पर्व १९, ४२)। वाल्मीकि-रामायण में भी इसका उल्लेख मिलता है कि हनुमान् से विजयी राम के प्रत्यागमन का शुभ समाचार सुनकर भरत ने उनको १६ कन्याओं को पत्नी स्वरूप प्रदान किया था (दे० ६, १२५, ४४-४५)।

फिर भी हनुमान् के ब्रह्मचर्य का सूत्रपात वाल्मीकि-रामायण से ही माना जा सकता है। रावण के अंतःपुर में प्रविष्ट होकर तथा वहाँ की सुप्त अर्धनग्न ललनाओं को निहार कर हनुमान् के सुव्यवस्थित मन में कोई विकार नहीं हुआ था; इसका 'रामायण' में स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है —

कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचिद्वैकृत्यमुपपद्यते ॥४१॥
मनो हि. . . . . .मे सुव्यवस्थितम् ॥४२॥ (सुन्दरकाण्ड, सर्ग ११)

इसके अतिरिक्त वाल्मीकि-रामायण में हनुमान् के संयम तथा धार्मिकता की ओर बहुधा संकेत किया गया है तथा उनको महात्मा, सुवर्त्मना, कृतात्मा आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। अतः संभव है कि वाल्मीकि-रामायण की सामग्री के आधार पर उनके ब्रह्मचर्य की कल्पना उत्पन्न हुई हो। मध्यकालीन भारतीय राम-साहित्य में हनुमान् की यह विशेषता अत्यन्त व्यापक है ; उन्हें प्रायः **जितेंद्रिय** तथा **कुमार-ब्रह्मचारी** के रूप में चित्रित किया गया है।

(ई) ऊपर इसका उल्लेख हो चुका है कि कम से कम दसवीं शताब्दी ई० से लेकर हनुमान् शिव के अवतार माने जाने लगे। इसके फलस्वरूप उनके प्रति भक्तिभाव जाग्रत हुआ और धीरे-धीरे विकसित होने लगा। इस विकास का प्रथम लक्षण हमें शैव ग्रंथों में मिलता है, जो स्वाभाविक ही है। 'स्कंदपुराण' में शिव हनुमान् को आशीर्वाद देकर कहते हैं कि तुम्हारे नाम कल्याणकारी होते हैं—**उपकाराय लोकानां नामानि तव मारुते** (अवंतीखंड, रेवाखंड ८३, २९)। उस स्थल पर हनुमान् के बारह नाम भी उद्धृत हैं, जिससे पता चलता है कि रेवाखंड के रचनाकाल में हनुमान् के नामों का जप प्रचलित होने लगा था।

परवर्त्ती साहित्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि दसवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दी के बीच

हनुमद्भक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। उनकी पूजा का उद्देश्य प्रधानतया विघ्नशांति तथा भूत-प्रेतों का नाश माना गया है; पंद्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में हनुमान् का यह **संकट-मोचन** रूप सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।[८] इसके अतिरिक्त बाँझपन दूर करने के लिए भी हनुमान् की पूजा होने लगी और वह गाँवों के संरक्षक तथा मंदिरों के द्वारपाल बन गये।[९]

हनुमान् की संकटमोचन के रूप में जो पूजा आजकल तक व्यापक रूप से प्रचलित है, इसका आधार उनका रामायण में चरित्रचित्रण मात्र नहीं प्रतीत होता है। इसका वास्तविक कारण यह है कि हनुमान् का संबंध यक्षपूजा से स्थापित किया गया है। अत्यन्त प्राचीन काल से गाँव-गाँव में यक्षों की पूजा चली आ रही थी।[१०] यक्ष और वीर पर्यायवाची ही हैं; इधर हनुमान् की ख्याति रामायण की लोकप्रियता के कारण शताब्दियों से बढ़ती जा रही थी और उन्हें वाल्मीकि-रामायण के समय से ही महावीर की उपाधि मिल गयी थी। अतः अन्य यक्षों अथवा वीरों के साथ महावीर हनुमान् की भी पूजा होने लगी। इस प्राचीन पूजापद्धति से संबंध हो जाने पर हनुमान् की जो लोकप्रियता बढ़ गयी और उस समय तक जिस उद्देश्य से और जिस रूप में यक्षों की पूजा होती रही, अब उसी उद्देश्य से और उसी रूप में हनुमान् की भी पूजा होने लगी। प्राचीन यक्षपूजा तथा हनुमत्पूजा के उद्देश्यों का सादृश्य उपर्युक्त विकास की सच्चाई को प्रमाणित करता है। हाल में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका एक और प्रमाण उपस्थित किया है। उन्होंने दिखलाया है कि आजकल तक हनुमान् की पूजा के दो रूप प्रचलित हैं—एक वीरपूजा जिसमें कोई मूर्ति नहीं होती और जो प्राचीन यक्षपूजा से संबंध रखती है तथा एक दूसरा रूप जिसमें वानर की मूर्ति रहती है और जो रामकथा पर निर्भर है।[११]

विकास के कारणों के विषय में मतभेद की संभावना है, किंतु अर्वाचीन साहित्य में तथा जनसाधारण की धार्मिक चेतना में हनुमान् का यह **संकटमोचन महाबीर** वाला रूप निर्विवाद रूप से सर्वाधिक महत्व रखता है।

---

८. तुलसीदास ने भी अपनी 'विनयपत्रिका' में हनुमान् के इस रूप को बहुत महत्व दिया है; दे० "संकट सोच विमोचनि मूरति" (३०,२)। ९. दे० आनन्दरामायण (सार काण्ड, सर्ग १२; मनोहर काण्ड, सर्ग १३ और १६); लांगूलोपनिषद्; श्री हनुमत्सहस्र-नामस्तोत्र; श्री मारुतिस्तवराज। १०. यक्ष गाँवों के रक्षक देवता और मंदिरों के द्वारपाल थे; उनकी पूजा बाँझपन, रोग तथा भूतों का उत्पात दूर करने के उद्देश्य से की जाती थी—दे० आनन्द कुमारस्वामीः यक्षस्, १९२८। ११. दे० वीरबरह्म, जनपद, खंड १, अंक ३, पृ० ६४-७३।

●

त्रिलोकी नारायण दीक्षित

संतों की नैतिक दृष्टि

हिन्दी के संत कवियों की सदाचार विषयक धारणा का अध्ययन करने के पूर्व एक बात को ध्यान में रखना आवश्यक और उपयोगी होगा। मनु महाराज के समान ये संत कवि सदाचार शास्त्र के रचयिता नहीं थे। इन्होंने जिस दृष्टि से सदाचार के नियमों की रचना की, वह मनु की दृष्टि से कुछ भिन्न और पृथक् है। दोनों के कोण और लक्ष्य में किंचित् विभेद है। फिर भी दोनों के दृष्टिकोण में पारस्परिक वैषम्य नहीं है, हो भी नहीं सकता।

मनु की स्मृति की रचना केवल सात्विकी, सदाचारी व्यक्तियों के लिए हुई है। तामसी और राजसी चरित्र या प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों की ओर उनकी विचारधारा प्रसार नहीं पा सकी, परन्तु संतों की सदाचार-पयस्विनी में सभी वर्ग, वर्ण और व्यक्ति अवगाहन करके जीवन को समुन्नत और कल्याणकारी बना सकते हैं। मनु जी ने केवल सदाचार-नियमों की रचना के हेतु 'स्मृति' जैसा विशाल ग्रन्थ लिख डाला और सन्तों ने केवल व्यक्तिगत, धार्मिक एवं सामाजिक प्रयोजनों की दृष्टि से सदाचार विषयक नियमों की रचना की। व्यक्तिगत जीवन अधिक सुष्ठु, सुन्दर और सम्पन्न बने कि विश्व के लिए वह उपयोगी और कल्याणकारी हो। सामाजिक जीवन में सदाचार, सहानुभूति और सहकारिता का प्रसार हो, धार्मिक जीवन में साधक दृढ़ होकर लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु अग्रसर हो—यही इन संतों के सदाचार-नियमों की रचना का लक्ष्य था।

संतों के सदाचार-नियमों का प्रस्फुटन तीन क्षेत्रों में हुआ है। ये क्षेत्र हैं: १. व्यक्तिगत जीवन, २. सामाजिक क्षेत्र और ३. धार्मिक जगत्। इन तीनों क्षेत्रों में कोई विभेद-रेखा नहीं है, वरन् ये सभी एक दूसरे का अवलम्बन लेकर आगे चलते हैं। ये सभी अन्योन्याश्रित हैं। मानव के व्यक्तिगत जीवन में संतों ने निम्नलिखित सदाचारों पर विशेष ध्यान दिया है: १. प्रेम, २. विश्वास, ३. विनय, ४. करनी-कथनी, ५. गृहस्थ की रहनी, ६. सत्य, ७. सत्संग, ८. क्षमा, ९. दया, १०. परमार्थ, ११. उदारता, १२. धैर्य, १३. दीनता, १४. माया, तृष्णा, कपट, १५. शील, १६. इन्द्रिय-निग्रह। धार्मिक क्षेत्र में उन संतों ने निम्नलिखित विषयों पर सदाचार-नियमों का निर्धारण किया है: १. यम, २. नियम, ३. प्रत्याहार, ४. अहिंसा, ५. साधुसेवा, ६. स्वच्छता, ७. दान और ८. धर्मप्रियता। सामाजिक जीवन में संतों की दृष्टि प्रस्तुत विषयों पर गयी, इन्हीं पर उन्होंने अपने सदाचार प्रधान विचारों को व्यक्त किया है, १. विश्वबंधुत्व, २. समदृष्टि, ३. समता या साम्य, ४. मधुर वाणी, ५. त्याग, ६. अहंभावना का त्याग और, ७. व्यापक दृष्टि।

अब इनमें से प्रत्येक शीर्षक पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार-विमर्श वांछित है। सर्व-

प्रथम हम संतों द्वारा मानव के व्यक्तिगत जीवन के लिए निर्द्धारित नियमों पर विचार करेंगे। इस शीर्षक में सर्वप्रथम विषय है प्रेम। प्रेम मानव जीवन का तत्त्व है, मूल है। प्रेम का महत्व मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। इससे बन्धुत्व की भावना विकसित होती है। प्रेम औदार्य और विश्वास का जीवारोपण करता है। प्रेम के द्वारा साधानात्मक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में सहायता मिलती है। कबीर ने प्रेम को बड़ा महत्व प्रदान किया है। उनके मत से प्रेम जिस घट में नहीं विद्यमान है वह श्मशानवत् शून्य है।[1] प्रेम में स्थिरता प्रधान है।[2] प्रेम के अभाव में धैर्य, लगन, वैराग्य सभी कुछ विलीन हो जाते हैं।[3] प्रेम दृष्टिकोण को व्यापक बना देता है।[4] संत दादू के अनुसार निश्चल सहज समाधि के लिए प्रेम-साधना अनिवार्य है।[5] प्रेम ही ब्रह्म है।[6] मलूक उस जीवन को बोधिकृत मानते हैं जहाँ प्रेम ने प्रवेश नहीं पाया है। चरनदास जी आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रेम को जप, तप, दान, ध्यान, योग, साधना आदि[7] से श्रेष्ठ मानते हैं।[8]

प्रेम के अनंतर साधना के क्षेत्र में मानव के लिए विश्वास आवश्यक तत्त्व है। कहा गया है कि 'विश्वासो फल दायकः'। ब्रह्म में पूर्ण विश्वास रखना ही आत्म-संतोष और धैर्य का श्रीगणेश है। सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक जीवन में विश्वास निश्चितता प्रदान करता है। तभी कबीर ने निश्चित होकर विश्वास को दृढ़ करने का उपदेश दिया है।[9] संत दादू भी कबीर के सदृश मनसा,

---

१. जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसांन।
जैसे खाल लुहार की, सांस लेत बिन प्रांन॥ —संतबानी-संग्रह १,१९,९।

२. खिनहि चढ़ै खिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघर प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहा, सोय॥ —वही वें १,१९,५।

३. प्रेम बिना धीरज नहीं, गिरह बिना बैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग॥ १,१९,११।

४. जहां प्रेम तहं नेम नहि, तहां न बुधि ब्यौहार।
प्रेम मगन जन मन भया, तब कवन गिनै तिथि बार॥ —वही, १,२०,१७।

५. प्रेम भगति जब ऊपजै, निहचल सहज समाध।
दादू पीवै प्रेम रस, सतगुरु के परसाद॥ —वही, १,८२,१२।

६. इसक अलह की जाति, है इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥ —१,८३,१२।

७. प्रेम नेम जिन ना कियो, जीतो नाहीं मैन।
अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार परो तेहि नैन॥ —१,१०१,१।

८. प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधवो, सब ही थोथा ध्यान॥

९. कबीर क्या मैं चितऊं, मम चिते क्या होय।
मेरी चिंता हरि करै, चिंता मोहिं न कोय॥ —वही, १,२१,१।

बाचा, कर्मणा विश्वास-स्थापना के पक्ष में हैं। कारण कि चिन्ता मानव का शत्रु है। जो कुछ होना है वह होगा ही, फिर चिन्ता की क्या बात है।[10]

दरिया साहब (बिहार वाले) जीवन में विश्वास का बड़ा महत्व मानते हैं।[11] इन्हीं संतों के समान गरीबदास भी शील, संतोष, विवेक, बुद्धि, दया, धर्म आदि का आधार इसी विश्वास को ही मानते हैं—

> सील संतोष बिबेक बुद्धि, दया धर्म इक तार।
> बिन निहचै पावै नहीं, साहिब का दीदार।।—सं०बा०सं० १,१९१,१।

विश्वास के अनन्तर विनय सदाचार के क्षेत्र में सहायक है। सद्भावना और प्रेम की स्थापना में विनय की समान रूप से उपयोगिता है। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में विनय ही सदैव वांछनीय है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि की विनय-भावना ने मानवता के समक्ष जिन आदर्शों को उपस्थित किया, क्या वे सर्वथा स्पृहणीय नहीं हैं? संतों ने विनय को एक अलंकार माना है।[12]

व्यक्तिगत जीवन हो या धार्मिक तथा पारिवारिक अथवा सामाजिक—हर क्षेत्र में करनी तथा कथनी का समन्वय आवश्यक है। कोरी कथनी मानव को व्यावहारिक क्षेत्र में कभी सफलता नहीं प्रदान कर सकती है। जीवन में कथनी-करनी का साम्य और संतुलन परमावश्यक है। जीवन संतुलन का ही प्रतीक है। जहाँ संतुलन नष्ट हुआ, वहाँ सभी दृष्टिकोण एकांगी हो जाते हैं। इसीलिए कबीर, चरनदास आदि ने करनी-कथनी के सामंजस्य पर ज़ोर दिया। कथनी में प्रवृत्त और करनी से विहीन या शून्य मानव आलसी और गप्पी कहा जाता है। इसलिए कबीर ने कहा है—

> मारग चलते जो गिरै, ताको नांहीं दोस।
> कह कबीर बैठा रहै, ता सिरि काले कोस।।[13]
> कथनी मीठी खांड सी, करनी बिष की लोय।
> कथनी तजि करनी करै, तौ बिष से अंमृत होय।।[14]
> कबीर के सूरे घने, थोथे बाँधे तीर।
> बिरह बान जिनके लगा, तिनके बिकल सरीर।।

दादू[15], तथा चरनदास[16] आदि संतों ने भी इसी प्रकार इस भाव का प्रतिपादन अपने ढंग से किया

---

१०. च्यंता कीयां कुछ नहीं, च्यंता जीव कूं खाय।
हूणां था सो ह्वै रह्या, जाणा हो सो जाय।।—वही, १,८४,३।।

११. भजन भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
प्रीत प्रतीति इन नाम पर, संत बिबेकी दास।।—वही, १२२,१।।

१२. संतबानी संग्रह; भाग १, पृ० २४,७२,८५,१०२,११४,१३७,१४५,१७२,।।

१३. संतबानी संग्रह; भाग १, पृ० ४७,५। १४. वही, पृ० ४७,१। १५. वही, पृ० ४७,२। १६. वही. पृ० १३।

है। 'गृहस्थ की रहनी को अंग' शीर्षक में सदाचार के कुछ बड़े महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमें गृहस्थ के लिए आवश्यक कर्मों का उपदेश किया गया है। कबीर के शब्दों में गृहस्थ के सदाचार निम्नलिखित हैं—

जो मानुष गृह धर्म युत, राखै सील बिचार।
गुरुमुख बानी साधु संग, मन बच सेवा भार।।
सत्त सील दाया सहित, बरतै जग ब्यौहार।
गुरू साधु का आस्रित, दीन बचन उच्चार।।
गिरही सेवै साधु तो, साधू सुमिरै नाम।
या में धोखा कछु नहीं, सरै दोऊ को काम।।

बैरागी की रहनी कबीर ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है—

धारा तो दोऊ भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासातन करै, बैरागी अनुराग।।
बैरागी बिरकत भला, ग्रेही चित्त उदार।
दोउ बातों खाली पड़ै, ताको वार न पार।।

धैर्य सदाचार का महत्वपूर्ण अंग है। मनु ने इस धर्म में सर्वप्रथम धृति या धैर्य को माना है। 'भर्तृहरि नीति-शतक' में धैर्यवान् व्यक्तियों की बड़ी सराहना की गयी है। धैर्य प्रत्येक कार्य की साधना में सहायक होता है, तथा विशेष साधना के सोपानों को सम्यक् धैर्यपूर्वक ही क्रमशः पार करना पड़ता है। धैर्यवान् को पाप का स्पर्श नहीं होता है। विपत्ति और संकटों में धैर्य की नौका पर बैठ कर ही सांसारिक मन-सागर का उल्लंघन करते हैं। धैर्ययुक्त हुए बिना मन का वश में होना किसी प्रकार से भी संभव नहीं है। सदाचार के लिए धैर्य अमोघ वरदान है। कबीर,[१७] दूलनदास[१८] आदि संतों ने धैर्य को सदाचार का अभेद्य अंग माना है।

सत्य मानव का अनिवार्य गुण है। 'सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप', 'सत्यं जयते नानृतं'। 'महाभारत' में कहा गया है कि सत्य के बराबर कोई धर्म नहीं और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है। इसलिए सत्य का लोप नहीं करना चाहिए। सत्य से दान-दक्षिणा युक्त यज्ञों का, अग्नि-होम का, वेदाध्ययन का और अन्य धर्मों का फल मिलता है। हज़ार अश्वमेध यज्ञों का फल तराज़ू की एक ओर और सत्य दूसरी ओर रख कर तौला जाय तो हज़ार अश्वमेध की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।[१९] शास्त्र का भी यही मत है। योगदर्शन के अनुसार मन सहित वाणी के यथार्थ कथन का नाम सत्य है।[२०] सत्य सदाचार का आधार है। सत्य ब्रह्म के अन्तर्गत निवास करता है। सत्यप्रिय स्वर्ग का और असत्यभाषी नरक का भागी होता है। सत्य श्रेष्ठ तप है। सत्य में अनुरक्त

---

१७. संतबानी; भाग २, पृ०५१,१,२। १८. संतबानी; भाग २, पृ० १३७,१,२।
१९. महाभारत; शान्तिपर्व अ० १६२। २०: योगदर्शन; साधनपाद ३।

व्यक्ति को श्राप व्यथित नहीं करते हैं। और यथार्थ तो यह है कि सत्य ही ब्रह्म के नाम का पर्याय है। जब सत्य ही ब्रह्म का पर्याय है तो सत्यवादी सर्वथा अभिनन्दनीय और पूजनीय है। हमारे सदाचार में सत्य का व्यवहार अधिकाधिक होने से हम विश्वास, श्रद्धा और प्रेम के पात्र बनते हैं।[२१]

मानव धर्म अथवा सदाचार का एक आवश्यक अंग है इन्द्रिय-निग्रह। व्यक्तिगत जीवन में उसके द्वारा स्थिरता, सबलता और शक्तिसम्पन्नता तो प्राप्त होती है, परन्तु सामाजिक और धार्मिक जीवन में भी इसकी अपनी महत्ता तथा आवश्यकता है। इन्द्रिय-निग्रह सदाचार की आत्मा या सर्वस्व है। मनु महाराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

'इंद्रियों के विषयों में संलग्न करने से मनुष्य दोषों को प्राप्त होता है। पर इन्हीं इंद्रियों को भली प्रकार वश में कर लेने से उसे परम सिद्धि प्राप्त होती है।' इंद्रियों की लोलुपता मानव को बड़े-बड़े भयंकर कृत्यों में फँसा देती है। चरित्र ही मनुष्य की सब से बड़ी विशेषता होती है। यदि वही विशेषता नष्ट हो गयी तो वह समस्त गुणों से सुशोभित होता हुआ भी समादरित नहीं होगा। भारतवर्ष में इंद्रिय-संयम पर सदैव से बड़ा जोर रहा। हिन्दी के संत कवियों ने सदाचार में इंद्रिय-निग्रह या और अन्य साधनों की ओर जगत में सामान्य वर्ग का ध्यान आर्काषित किया है। कबीर, दादू, मलूक, चरनदास, आदि संतों ने इस विषय पर अपने विचारों को सविस्तर प्रकट करके सदाचार के इस अंग को और व्यापक बना दिया है।[२२]

सन्तों ने सत्संग, क्षमा, दया, परमार्थ, दीनता, एवं शील को सदाचार का अनिवार्य अंग माना है।[२३] सत्संग सद्‌बुद्धि का प्रचारक और प्रेरक है। मानसिक विकारों से बचने के लिए चेतना और विवेक सजग करने के लिए तथा आत्मिक विकास प्राप्त करने के लिए सत्संग आवश्यक है। यह सदाचार के लिए एक पोषक तत्व है। सत्संग जीवन के लिए पारस है। जीवन का विचार, सद्‌वृत्तियों का उदय और परिष्कार जितना सत्संग के द्वारा होता है उतना अन्य साधनों से नहीं। इसी प्रकार क्षमा, दया, परमार्थ, उदारता, दीनता एवं शील के द्वारा सदाचार का विकास होता है और मानव सामाजिक जीवन में अपने सत्कर्मों के प्रकाश से मानवता को आलोकित करता है।

धार्मिक क्षेत्र में संतों ने यम, नियम, प्रत्याहार, साधुसेवा धर्मप्रियता एवं शौच को सदाचार माना है। यम-नियम की सुदृढ़ भित्ति पर ही साधना का उच्च भवन निर्मित्त होता है। 'पातंजल योग दर्शन' में यम पाँच प्रकार के माने गये हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं: १. अहिंसा, २, अस्तेय, ३. सत्य, ४. ब्रह्मचर्य, तथा ५. अपरिग्रह। इसी प्रकार 'पातंजल

---

२१. संतबानी संग्रह; भाग १; ९४,८; २०३, ८। वही: वही: १२४, १। वही: वही: २०३,४,७। वही: वही: ४९,१। वही: वही: ४९, ९। वही: वही: ९४,१। २०३, ९०; २०३,११। २२. संतबानी संग्रह; १,६०,१ तथा ५५। वही; १,९८। वही; १,१०३। वही; १,११५। २३. वही; ३१,२०१,२१९,२२९,२३०। वही; ५०। ५२, ९५, १०४,१२४,१४८। ४९,५१,६५,१६०,२०६।

योग दर्शन' में नियम के भी पाँच भेद माने गये हैं: शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रतिपादन। 'हठयोगप्रदीपिका' में नियम के दस भेदों का उल्लेख हुआ है। संतों ने साधना के क्षेत्र में यम और नियम की आवश्यकता का बारबार अनुभव किया है। इनमें से प्रत्येक भेद मनुष्य में दैवी भावनाओं और प्रवृत्तियों का सृजन कर सकता है। ये सभी सद्भावनाओं के प्रेरक हैं, अतः समाज के लिए इन गुणों का प्रसार परमावश्यक है। केवल यम ही को ले लीजिए। इसमें अहिंसा, विश्ववन्धुत्व और प्रेम का भाव उत्पन्न करती है। वह परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि है। दान, साधुसेवा आदि उदारता के सूचक हैं। शौच, सन्तोष, तप, और स्वाध्याय जीवन में दिव्य अनुभूति का सृजन करते तथा पूर्ण जीवन के लिए इनका विकास और प्रसार आवश्यक है। इन सभी के मूल में समाजहित की भावना सन्निहित है। इन सब का आधार है आध्यात्मिक चेतना। इसकी चेतना के अभाव में ये तत्त्व गंभीरता के साथ जम नहीं सकते हैं। ये सभी सदाचार के अंग बनकर जन-कल्याणकारी भावनाओं एवं वातावरण का सृजन कर सकते हैं। कबीर ने बड़े विचार के अनन्तर कहा कि "घट-घट में वह सांईं रमता, कटुक बचन मत बोल।"

यह स्थिति इन नियमों और यमों को कार्यान्वित करने पर और व्यावहारिक रूप से जीवन के सभी पक्षों में लागू करने के उपरांत उत्पन्न होती है। जब सभी घटों में एक ही आत्मा विद्यमान है तो किससे बैर किया जाय और किससे प्रेम। यम, नियम, सदाचार के रूप में उदार प्रवृत्तियों को विकसित कर स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं।

सामाजिक जीवन में उल्लेखनीय सदाचार हैं सम दृष्टिकोण से समता, विश्ववन्धुत्व मधुर वाणी, त्याग, व्यापक दृष्टिकोण तथा अहं-विसर्जन। इनमें से समता, समदृष्टि और व्यापक दृष्टिकोण शब्द-भेद के साथ एक ही भाव प्रेषित करते हैं। ब्रह्म के घट-घट में व्याप्त रहने की विचारधारा दृष्टिकोण में व्यापकता का समावेश कर देती है। जब सभी में एक ही तत्त्व विद्यमान है तो फिर परस्पर भेद-भाव कहाँ है। बिना इस प्रकार की दृष्टि के मनुष्य का हृदय विशाल और बुद्धि निर्मल नहीं हो सकती है। साम्य या सम दृष्टि भ्रम और विचार की विनाशक है, समता की जन्मदात्री है।[२४] जो तत्त्व हमारी दृष्टि को व्यापक, हृदय को उदार और बुद्धि को निर्मल बना देता है वह समाज के लिए कल्याणकारी है।

संतों ने कर्त्ता की बुद्धि को समस्त सदाचारों की कसौटी माना है। "परिणाम ही साधना का मापदंड है" यह सिद्धांत संतों ने बारबार दुहराया है—

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बे तूल।
कहा लाल ले कीजिए, बिना बास का फूल ।। (बीजक साखी; ३२४)

---

२४. समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जहं देखों तहं एक ही, साहिब का दीदार।।
सम दृष्टी तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी होय।।

संतों ने भाव को प्रधान माना है और भावनाहीन पठन को व्यर्थ—

पढ़े गुनें कछु समुझ न परई, जौ लौं भाव न दरसै। (रै० बा०; पृ० १३)

संतों ने अन्यथा वृत्ति आचार और परम्परागत अधिकरण को रूढ़ि ही नहीं अकर्म भी माना है—

सुमृति बेद पुरान पढ़ें सब अनुभाव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौं कैसे जो नहिं पारस परसै ॥ (कबीर-बीजक, १४)

●

रामखेलावन पाण्डेय

जायसी : तिथिक्रम और गुरु-परम्परा

जायसी के रचना-काल और कालक्रम के संबंध में जितनी गंभीरता के साथ विवेचन होना चाहिए, वह सम्भव नहीं हो सका है। इस प्रश्न पर विचार करते समय जायसी के उल्लेखों, गुरु-परम्परा के आधार पर निर्मित और निर्धारित तिथि-क्रम और रचनाओं में सांकेतिक घटनाओं की तिथियों पर ध्यान रखना होगा, अन्यथा भ्रम हो जाने की संभावना बनी रहेगी। चिश्तिया संप्रदाय से संयोग घटित करने के प्रयास-स्वरूप कई भ्रान्तियाँ होती रही हैं, उनके निराकरण का भी समय आ गया है। इस निबंध में इसी प्रकार के विवेचन की चेष्टा की जा रही है।

'आख़िरी कलाम' (जिसे कुछ लोगों ने अन्तिम रचना होने का भ्रम उत्पन्न किया है) प्रलय-काल के पश्चात् होने वाले अन्तिम निर्णय की चर्चा करता है। मुहम्मद साहब अन्तिम पैग़म्बर हैं, उनके कथनों को भी अन्तिम कथन अर्थात् 'आखिरी कलाम' मानना तर्कसंगत है। उसमें जायसी के निम्नलिखित उल्लेख हैं—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी। (आ० क० ४।१)

नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे। (वही १३।१)

इन कथनों से स्पष्ट होता है कि जायसी का जन्म 'नौ सदी' में हुआ था और 'आख़िरी कलाम' की रचना ९३६ हिजरी में हुई थी। 'नौ' शब्द को लेकर जो शंकाएँ उठायी जाती हैं और इनकी परिक्रमा के लिए 'नौ' का जो अर्थ लिया जाता है, उनकी अपेक्षा इस कथन से नहीं रह जाती। 'नौ सदी' का स्पष्ट तात्पर्य निकलता है ९००। इसका अर्थ नवीं सदी लेना उपयुक्त नहीं। उस समय बाबर दिल्लीश्वर था, शाहेवक़्त के रूप में जिसका वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है—

बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उन कहँ बिधि साजा।।

मुलुक सुलेमाँ कर ओहि दीन्हा। अदल दुनी ऊमर जस कीन्हा।। (पदमावत ८।१-२)

डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने 'तीस बरिख ऊपर कबि बदी' को आधार मान ९३६-३० = ९०६ हि० को जायसी का जन्म-काल माना और शुक्ल ने 'नौ सदी' के आधार पर ९०० हि० को। इन धारणाओं का खण्डन किया पटना कॉलेज के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष और मध्यकालीन इतिहास के तत्त्वज्ञ विद्वान् प्रो० हसन असकरी ने। फुलवारी शरीफ़ के खानकाह से 'अखरावट' की जो हस्तलिखित पोथी उन्हें उपलब्ध हुई उसकी पुष्पिका में ९११हि० अंकित है। यदि यह प्रति प्रामाणिक है अथवा किसी प्रामाणिक प्रति की प्रामाणिक प्रतिलिपि है, तो ९०० अथवा ९०६ हि० को अमान्य करना ही पड़ेगा। प्रोफ़ेसर असकरी इसे प्रामाणिक

प्रति की प्रतिलिपि मानते हैं और इसकी असंदिग्धता में विश्वास करते हैं, यद्यपि अत्यन्त संकोच के साथ स्वीकार करते हैं कि प्रतिलिपिकार की शिक्षा-दीक्षा सामान्य थी, अत: तिथि और दिनांक के उल्लेख में भ्रम संभव है। गणनानुसार तिथि-क्रम ठीक नहीं उतरता। सन् ९११ को, किन्तु, वे असंदिग्ध मानते हैं। इस प्रकार 'तीस बरिख ऊपर कबि बदी' के आधार पर ९११-३०=८८१ हि० के आस पास जायसी का जन्म-काल होगा। इस प्रति की पुष्पिका का उल्लेख है—"तमाम सुदद पोथी अखरौती ब-जुबाने मलिक मुहम्मद जायसी किताबे हिन्दवी किताबुल मिल्क ब क़ातिबे हुरूफ़ फ़क़ीर हक़ीर मोहम्मद मोकीन साकिन टप्पा नन्दानू उर्फ़ बकानू ख़ास अमला परगना निज़ामाबाद व सरकारे जौनपुर सूबे इलाहाबाद बवक़्ते जोहर जुमा जकी शहरे गुलकाद सन् ९११। दर मौज़ें ख़ास दीया मुक़ाम कनौरा अमला परगना नेहू ख़सरा मस्तूर अस्त तहरीर याफ़्त ज्यिद: गुफ़्तार नविस्तन इज़हार नीस्त।"

इस कथन में तिथि-क्रम की जो त्रुटि है, उस पर विचार करने का एक और भी आधार है। ऐतिहासिकों के साक्ष्य से प्रयाग का नाम इलाहाबाद दिया गया था और अकबर ने ऐसा नामकरण किया था। निज़ामुद्दीन के अनुसार अकबर ने झूसी-प्रयाग के समीप गंगा-यमुना के संगम पर इस नगर की स्थापना की[1]। मुसलमान इतिहासकारों ने प्राग (प्रयाग), झूसी प्राग, और अरील (अड़ैल) नामों का उल्लेख किया है; जायसी ने भी गंगा-यमुना के संगम पर स्थित अरइल (अड़ैल) प्रयाग का उल्लेख किया है—"कै कालिंदी बिरह सताई। चलि प्रयाग अरइल बिच आई।" बदाऊनी की सन् ९०० हि० तक की चर्चाओं में इलाहाबाद का नाम नहीं आता। इलाहाबाद की प्रतिष्ठा सन् ९८१ हि० में होती है।[2] सूबे इलाहाबाद की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रति सन् ९८१ के पूर्व की नहीं हो सकती। इस अनुबन्ध में 'जायस' पर भी विचार करना चाहिए। जायसी का कथन है—"जायस नगर धरम अस्थानू। नगर क नाँव आदि उद-यानू।" स्पष्ट है कि जायस का पूर्व नाम 'उदयनगर' अथवा 'उदितनगर' था, जिसे कमल कुल-श्रेष्ठ का अनुगमन करते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'उद्यान' बनाने का उपक्रम किया है।[3] बदाऊनी के ही प्रमाण को देखा जाय तो कम-से-कम सन् ९१२ हि० तक इसका नाम 'जायस' नहीं

---

१. तबकात, पृष्ठ ४३६। २. (क) बदाऊनी ने सुलतान सिकन्दर इब्न-ए-सुलतान बहलोल के सैनिक अभियान के संबंध में लिखा है कि ८९७ हिजरी में उसने अरील (=अड़ैल), में, जो इलाहाबाद के समीप है, पड़ाव दिया (द्रष्टव्य—भाग १, पृ० ४१५) अर्थात् ८९७ तक इसका नाम इलाहाबाद नहीं था। (ख) तबकात, भा० २, पृ० ४३८। (ग) वही, पृ० ५७७। (घ) बदा०; भाग २, पृ० १७९। (ङ) 'जहाँगीरनामा' में सर्वत्र इलाहाबास लिखा है, इलाहाबाद नहीं। सौभाग्य-विजय नामक जैन लेखक ने 'तीर्थमाला' में इलाहाबास ही लिखा है। संवत् १६५४ (=सन् १५९७ ई०) की घटनाओं की चर्चा करते हुए जैन कवि बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' में लिखा है—'फिरि उठि चले प्रयागपुर, बसे त्रिबेनी पास' (पृ० १३।१३२), 'बसे प्रयाग त्रिबेनी पास। जाको नाउँ इलाहाबास" (पृ० १३।१३३)। ३. संजीवनी भाष्य, पृ० ३५।

था। इसके उदितनगर, उदवन्तनगर अथवा उन्तगढ़ आदि कई भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। इसका पूर्वनाम देवगढ़ भी था[4] जिसकी ध्वनि 'धरमअस्थानू' में मिलती है। फ़रिश्ता के अनुसार सुलतान सिकंदर लोदी ने ग्वालियर-विजय के लिए इस पर अधिकार करना आवश्यक माना था। सिकंदर लोदी ने सन् ९१२ में उन्तगढ़ पर आक्रमण किया था और जायस जैसा नाम सिकंदर लोदी के सैनिक पड़ाव के पश्चात् ही पड़ा होगा, क्योंकि 'जैस' शब्द का अर्थ है पड़ाव। फुलवारी शरीफ़ वाली प्रति का प्रतिलिपिकार 'ब-जुबाने मलिक मुहम्मद जायसी' लिखता है और यह हमने देखा कि जायस नाम ९१२ के पश्चात् पड़ा एवं इलाहाबास नाम भी ९८१ हि० के पूर्व का नहीं है। इनके द्वारा स्पष्ट हो जाना चाहिए कि फुलवारी शरीफ़ वाली प्रति का तिथिक्रमोल्लेख प्रामाणिक नहीं। यह प्रतिलिपि सन् ९८१ के पूर्व की नहीं हो सकती, एवं ९११ की तो किसी प्रकार नहीं। प्रतिलिपिकार के भ्रम से ९८१ हि० ही ९११ में परिवर्तित है। इस प्रकार प्रोफ़ेसर असकरी की तिथि-कल्पना सुदृढ़ आधार पर आधारित नहीं है।

जन्म-काल की समीपवर्तिनी घटना का सविस्तर वर्णन जायसी ने किया है—

आवत उधत चार बिधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना।२
धरती कीन्ह चक्र बिधि भाईं। फिरै अकास रहँट कै नाईं।३
गिरि पहार मेदिनी तस हाला। जस चाला चलनी भरि चाला।४
मिरित लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खह डोला।५
गिरि पहार परबत ढहि गये। सात समुद्र कीचि मिलि भये।६
धरती फाटि छात भहरानी। पुनि भइ मया जो सिष्टि दिठानी।७

—आखिरी कलाम, चौपाई ४।

'मुंतखाबुल तवारीख' के लेखक अल्-बदाऊनी ने ३री सफ़र सन्९११ (छठी जुलाई १५०५) को होने वाले एक भीषण भूकम्प का वर्णन किया है।[5] 'बाबरनामा'[6] भी, जिसे 'वाक़ियाते बाबरी' अथवा 'तुज़ुके बाबरी' की संज्ञा प्राप्त है, इसकी सविस्तर चर्चा करता है। बाबर के अनुसार ३री सफ़र को "तैंतीस धक्के लगे और प्रायः एक मास तक प्रतिदिन दो-तीन धक्के लगते रहे।" डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की धारणा है कि 'आवत उधत चार' में जिस भूकम्प का वर्णन है वह ९११ हि० वाला नहीं है। किसी दूसरे भूकम्प का उन्हें पता नहीं चला। प्रोफ़ेसर असकरी की धारणा को मान्यता देने के कारण ही वे इसे ९११ वाला भूकम्प नहीं मानते। निज़ामुद्दीन ने सन् ८८७ हि० (१४२८ ई०) में होने वाले एक भूकम्प का वर्णन 'तबक़ात' में किया है और उसने माना था कि यह भूकम्प ग्रहों के संयोग के कारण हुआ[7]। किन्तु, यह उल्लेख बहुत बाद का है और किसी समकालीन इतिहासकार ने इसकी चर्चा नहीं की है, अतः इस उल्लेख को

---

४. आईन (बे०) भाग १, पृ० ३८० की पादटिप्पणी १। ५. अंग्रेज़ी अनुवाद (रैंकिंग) भाग १, पृ० ४२१। ६. एलियट, भाग ४, पृ० २१८। ७. द्रष्टव्य—तक़कात (डे कृत अंग्रेज़ी अनुवाद) भाग, ३, पृ० ५५०–५१। फ़रिश्ता ने भी इसका वर्णन किया है, किन्तु उसने तबक़ात-ए-अकबरी के प्रमाण का उल्लेख कर दिया है।

प्रामाणिक मानना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में जायसी द्वारा वर्णित भूकम्प ९११ वाला ही है।

'पदमावत' के रचना-काल-संबंधी विवाद को भी इस अनुबन्ध में देखना चाहिए। "सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कबि कहै" में सैंतालिस का उल्लेख स्पष्ट है। विभिन्न प्रतियों के आधार पर जिन पाठान्तरों का क्रम डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने दिया है उनमें 'सत्ताइस' और 'पैंतालिस' भी हैं। तर्काभास उपस्थित करते हुए अग्रवाल ने निष्कर्ष दिया है कि "हस्त-लिखित प्रतियों के आधार पर ९२७ पाठ सबसे अधिक प्रमाणित जान पड़ता है।"[८] कुलश्रेष्ठ ने भी एक दूसरे तर्क से संगति बिठाकर रचना का प्रारंभ ९२७ में ही माना था।[९] कुलश्रेष्ठ का तर्क है कि 'आख़िरी क़लाम' की रचना ९३६ हि० में हुई थी और नाम का तात्पर्य है कि वह कवि की अन्तिम रचना है, अतः 'पदमावत' की रचना का प्रारंभ ९२७ हि० में ही होना चाहिए। 'आख़िरी क़लाम' का यह अर्थ नहीं है। धार्मिक विषयों के अन्तिम निर्वचन के रूप में ही इसकी रचना हुई है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। अग्रवाल ने भारत-कला-भवन, काशी की जिस कैथी प्रति का हवाला दिया है उसकी संगति 'आख़िरी क़लाम के कथन से बैठती है अर्थात् दोनों में विलक्षण साम्य है—

सन नौ सै छतीस जब रहा। कथा उरेहि बएन कवि कहा। पदमा०[१०]

सन नौ सै छतीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे।आ० क०

'पदमावत' की कैथी प्रति का यह उल्लेख 'आख़िरी क़लाम' का अनुकरण है और लिपिकार जायसीकृत 'आख़िरी कलाम' की रचना-तिथि से अवगत था, फलस्वरूप 'पदमावत' के रचना-काल का उसने संशोधन कर दिया।

'पदमावत' की कोई उपलब्ध प्रति जायसी की समकालीन नहीं। माताप्रसाद गुप्त वाली प्रति संख्या १ फ़ारसी अक्षरों में है और वह 'इबादुल्लाह अलहम्द ख़ान मुहम्मद, साकिन मुअज़्ज़मा-बाद उर्फ़ गोरखपुर' द्वारा किन्हीं दीनानाथ के लिए शव्वाल, ११०७ हिजरी की लिखी हुई है। ९४७ को यदि रचना-काल माना जाय तो एक सौ साठ वर्षों के पश्चात् यह प्रति तैयार की गयी। इसकी आदर्श प्रति कब की थी, इसके जानने का कोई साधन नहीं है। ९४५ पाठ वाली प्रति सन् ११०९ हि० की है। जिस बँगला अनुवाद का उल्लेख किया जाता है, वह सन् १६४५ ई० के पूर्व का नहीं अर्थात् 'पदमावत' की रचना के प्रायः एक सौ वर्ष बाद का है। बिहार शरीफ़ वाली प्रति में पुष्पिका नहीं है अतः उसके लेखन-काल के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सन् ९११ (इसके भ्रम का विवेचन किया जा चुका है) लिखित अन्य पुस्तकों की जिल्द में 'पदमावत' है, अतः वह भी ९११ का है, ऐसा कथन किसी प्रकार तर्कसंगत नहीं हो सकता। ज़ियाउद्दीन ने जायसीकृत 'पदमावती और रतनसेन की कथा' का सारांश उपस्थित किया है। उसने 'पदमावत' के तीन रूपान्तरों की चर्चा की है। उसके अनुसार सन् १०२८ हि० में शेख़ मुनव्वर[११] के पुत्र

८. पद० (भाष्य), प्राक्क०, पृ० ३३। ९. म० मु० जायसी, पृ० २५। १०. अग्रवाल; पद० पृ० ३३ की पाद-टिप्पणी। ११. शेख़ मुनव्वर वही व्यक्ति हैं जिसका

बज़्मी ने सम्राट् जहाँगीर के लिए फ़ारसी रूपान्तर किया था। ज़ियाउद्दीन इबरत देहलवी ने इसके हिन्दुस्तानी रूपान्तर का प्रारंभ किया, किन्तु उसे पूरा किया ग़ुलाम अली महसदी इशरत ने। इसका एक और रूप उपस्थित किया अब्दुल जलील बिलग्रामी ने, जिसमें एक अर्धाली उर्दू में है और दूसरी अवधी में, जिसे लेखक ने ब्रजभाषा मानने का भ्रम किया है। इसका लिपि-कार है किसी लखन कायस्थ का पुत्र मेवालाल। बज़्मी की रचना का काल है सन् १०२८ हि० और लिपि-काल है सन् १०५० हि० और लिपिक है कोई मेवादास नामक व्यक्ति। इसके अनु-सार ९४७ हि० में ही 'पदमावत' की रचना का प्रारंभ हुआ था। प्रायः अस्सी वर्ष के पश्चात् ही रचित और प्रायः एक सौ वर्षों के पश्चात् लिपिबद्ध रचना में 'पदमावत' का ९४७ में प्रारंभ होना माना गया है। नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित प्रति का उल्लेख है--"सन् नौ सै सत्ताईस हिजरी में बज़ुबान क़ादिम खाँ का लिखा।" क़ादीम खाँ सम्भवतः वही क़ादिम खाँ है जिसकी चर्चा जायसी ने अपने मित्र के रूप में की है—पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। किन्तु निश्चित है कि उस मूल प्रति की कोई प्रतिलिपि ही आदर्श है, मूल ग्रंथ नहीं। इस प्रकार तिथि संबंधी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं रहती। इस कथा का सारांश ग्रहण कर मीर असकरी आक़िल खाँ राज़ी ने 'शमा व परवाना' नामक ग्रंथ लिखा था।

'पदमावत' के रचना-काल पर विचार करते समय कुछ अन्तःसाक्ष्यों का आधार लेना अपेक्षित है। वर्णन-क्रम में जायसी ने सिंहल द्वीप और उससे संबद्ध विषयों का सविस्तर वर्णन किया है। सिंहल द्वीप के फलों और पक्षियों का वर्णन बाबर के वर्णनों से विलक्षण साम्य रखता है। वर्णन-क्रमों में थोड़ी विभिन्नता तो है, किन्तु उनका साम्य स्पष्ट है। 'बाबरनामा' में पक्षियों की बोलियों के अर्थ दिये गये हैं। इसकी ध्वनि जायसीकृत 'आपनि आपनि भाखा लेहिं दई कर नाउँ' वाली अर्धाली में मिलती है। अब्दुर्रज़्ज़ाक के वर्णनों से भी महलादि के वर्णन की समता है। यहाँ तक कि "पँवरहिं पँवरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तिन्ह ठाढ़े।", "बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गार्जाहं चाहहिं सिर चढ़े। टारहिं पूँछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा।" आदि का गद्यात्मक वर्णन उपलब्ध है।[१२] सिंहल द्वीप के गढ़ का वर्णन 'बाबर-नामा' के मानसिंह के गढ़-वर्णन से साम्य रखता है। 'पदमावत' के कवि का 'बाबरनामा' से परिचय है और उसके स्रोतों का ज्ञान भी। शेरशाह बाबर के पक्ष में लड़ा था और सम्भव है कि जायसी शेरशाह के साथ रहे हों और उसी काल में मानसिंह के गढ़ पर विजय प्राप्त होने के पश्चात् वहाँ के गढ़ को देखा हो, जिसका वर्णन सिंहल द्वीप के गढ़-वर्णन में संयुक्त हो गया। इन दोनों में इतना साम्य है कि प्रभाव-ग्रहण की सीमा निर्दिष्ट हो जाती है।

अलाउद्दीन और रत्नसेन के जिस युद्ध का वर्णन 'पदमावत' में है, वैसा ही एक और युद्ध शेरशाह और रतन सिंह या सेन (फ़ारसी इतिहासों के रामसेन) के मध्य हुआ था। रतनसिंह

उल्लेख आईन-ए-अकबरी (ब्ला० भाग १; पृ० ५४७) में हुआ है और जिसकी चर्चा बदाऊनी ने भी (अंग्रेजी अनुवाद, भाग ३, पृ० ८६) की है। १२. इलियट और डाउसन, भाग ४, पृ० ११२।

की ओर से युद्ध किया था पूरनमल राजा सालहड़ी (सिसोदिया) पूरबिया ने। सालहड़ी अथवा सिलहड़ी सिसोदिया के ही रूपान्तर हैं, जो गुहिलौतों की पूर्वी शाखा है। मनूची ने पूरबिया और बघेल शाखाओं को एक माना है।[१३] रतनसेन के सेनापति पूरनमल ने चंदेरी पर आक्रमण किया था। इस लेखक के अनुसार रायसेन की हरम में दो हजार हिन्दू और मुस्लिम पत्नियाँ थीं। सन् ९५० हि० में यह युद्ध हुआ। शेरशाह और पूरनमल में सन्धि हो गयी, किन्तु मीर सैयद रफ़ी उद्दीन सफ़वी की प्रेरणा से शेरशाह ने सन्धि की अवमानना की। दोनों सेनाओं में भयानक संग्राम हुआ। राजपूतों ने पराक्रम, शौर्य और वीरता का प्रदर्शन किया। बदाऊनी के अनुसार दस हज़ार स्त्री-पुरुषों ने मृत्यु का वरण किया। पुरुष युद्धक्षेत्र में खेत रहे और स्त्रियों ने जौहर किया।[१४] 'तारीख़-ए-शेरशाही' के अनुसार राजपूतों की संख्या पन्द्रह सौ थी (सोलह सौ चंडोल सँवारे—जायसी)। 'तुजुके बाबरी' में रतनसेन और विक्रमादित्य को राणा संग्राम सिंह (राणा साँगा) का पुत्र कहा गया है। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् रत्नसिंह राणा हुए। रत्नसिंह निस्संतान मरे, अतः उनकी मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य राणा हुए। 'तुजुके बाबरी' में राणा विक्रमादित्य की माता का नाम पद्मावती दिया गया है और रतनसी के राजत्व की भी चर्चा है।[१५]

कुछ ग्रंथों के अनुसार सन् १५४२ ई० में राणा रत्नसेन की मृत्यु हुई, किन्तु, फ़ारसी इतिहासों के साक्ष्यानुसार उनका ९५० हि० तक जीवित रहना सिद्ध होता है। पूर्णमल्ल के साथ शेरशाह का जो युद्ध हुआ, उसमें रत्नसिंह उपस्थित नहीं दीखते। राणा रत्नसिंह ने आमेर के नरेश पृथ्वीराज की पुत्री से गुप्त विवाह किया था और इसका परिज्ञान पृथ्वीराज को नहीं था। राजा पृथ्वीराज ने अपनी उस पुत्री का विवाह हाड़ावंशीय सरदार सूरजमल के साथ करना चाहा अथवा कर दिया। राणा रत्नसिंह और सूरजमल ने अहेरिया के उत्सव के दिन द्वंद्व-युद्ध किया। फलस्वरूप सूरजमल की मृत्यु तो तत्काल हो गयी, किंतु रत्नसिंह की मृत्यु चित्तौड़ में कुछ समय के पश्चात् हुई। 'देवपाल-दूती-खण्ड' में जायसी का कथन है—"कुंभलनेरि राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय सालू।" शत्रुता के कारण का स्पष्ट कथन नहीं है, किन्तु पद्मावती को वश में करने की आकांक्षा इसे स्पष्ट कर देती है। दूती का नाम कुमुदिनी है और जायसी का कथन है—"कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सूरुज चाँद की आसा।" 'बैरी सूरुज' में क्या सूरजमल की ध्वनि नहीं? 'रतनसेन-देवपाल-युद्ध खण्ड' में द्वंद्व-युद्ध का वर्णन भी आया है—"दुवौ लरैं होइ सनमुख लोहें भएउ असूझ। सतुरु जूझि तब निबरै, एक दुहूँ महँ जूझ॥" युद्ध के परिणाम का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं—"चढ़ि देवपाल राउ रन गाजा। मोहि तोहि जूझि एकौझा राजा। मेलेसि साँगि आइ बिष भरी। मेंटि न जाइ काल की घरी। आइ नाभितर साँगि बईठी। नाभि बेधि निकसी जहँ पीठी॥ चला मारि तब राजैं मारा। कंध टूट धर परा निनारा।" आघात के कारण रत्नसिंह की दशा यह हुई कि—"सुद्धि बुद्धि सब बिसरी बाट

---

१३. मनूची; भाग २, पृ० ४५९। १४. तब० अक०; भाग २ (अंग्रेजी अनुवाद); पृ० १७०-१। १५. तुजुके बाबरी (अं० अनु०) भाग ६, पृ० ६१२–६१३।

परी मँझ बाट। हस्ति घोर को काकर घर आना कै खाट।" इतिहास-ग्रंथों का साक्ष्य है कि रत्न-सिंह की अनेक पत्नियाँ सती हुईं और जायसी भी इसका समर्थन करते हैं। जायसी वर्णित रत्न-सिंह और राणा साँगा के पुत्र रत्नसिंह के उत्तरकालीन इतिवृत्त में मनोरंजक और विलक्षण साम्य है। जायसी के शेरशाह और अलाउद्दीन में पराक्रममूलक साम्य दीख पड़ता है।

रत्नसेन के बन्धन-मोक्ष के साधनों का ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध है। पद्मिनी ने सोलह सौ पालकियों में शस्त्र-सज्जित राजपूत वीर बैठा दिये थे। वाहक भी शस्त्रसज्जित सैनिक थे। यह कहा गया था कि पद्मिनी के साथ उसकी सोलह सौ सखियाँ भी अलाउद्दीन के हरम में जा रही हैं—

सोरह सौ चंडोल सँवारे। कुँवर सजोइल कै बैसारे।
सोरह सै सँग चलीं सहेली। कँवल न रहा औरु को बेली।

निज़ामुद्दीन ने 'तबक़ात-ए-अकबरी' में शेरशाह के प्रसंग में एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया है।[१६] इसके साक्ष्यानुसार शेरशाह ने रोहतास गढ़ के दुर्गाधिपति से प्रार्थना की कि मुग़लों से रक्षा प्राप्त करने के लिए उसके परिवार को आश्रय चाहिए। अनुनय-विनय के पश्चात् दुर्गाधिपति ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शेरशाह ने एक हज़ार डोलियों में सैनिक बिठा दिये। अगली क़तार वाली डोलियों में कुछ स्त्रियाँ रख दी गयी थीं जिससे संदेह न हो सके। दुर्गाधिपति ने डोलियों की जब जाँच करनी चाही, तब नारियों की सम्मान-रक्षा का प्रश्न उठा कर बाधा उपस्थित की गयी। डोलियों में बैठकर सैनिक दुर्ग में प्रवेश पा गये और इस प्रकार सामान्य युद्ध के पश्चात् गढ़ अधिकृत कर लिया गया। राजा-मुक्ति वाला अंश इस घटना के घटित होने के पश्चात् ही लिखा गया है।[१७] अलाउद्दीन ने रणथंभौर, नरवर, जूनागढ़, चंपानेर, मांडौ, चंदेरी, ग्वालियर, खंधार, कालिंजर, अजयगिरि, बिजयगिरि, उदयगिरि, देवगिरि आदि गढ़ों और उनके गढ़पतियों पर विजय पायी थी। फ़ारसी इतिहासकारों का उदयगिरि ही उदय अथवा उदितगढ़ है। गिरि का गढ़ के अर्थ में प्रयोग मिलता है। यह उदितगढ़ अथवा उदयगढ़ जायसी का 'उदयानू' है। रोहतास पर शेरशाह ने विजय प्राप्त की थी। कालिंजर-विजय ९५२ हि० (१५४५ ई०) में हुई—"छेंका गढ़ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा। हब्शी रूमी और फिरंगी। बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी।" इन पंक्तियों में 'फिरंगी' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है। फिरंगियों ने मुग़लों की सेना में नौकरी की थी और उनकी ओर से युद्ध भी किये थे, किन्तु इस घटना का प्रामाणिक उल्लेख सन् १६०८ ई० के पूर्व का नहीं

---

१६. अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृ० १६२–६३। १७. 'तारीख़-ए-शेरशाही' के अनुसार शेरशाह ने चूड़ामन ब्राह्मण के माध्यम से रोहतास गढ़ के राजा को दुर्ग छोड़ने पर राजी कर लिया था। 'चूड़ामन' और 'हीरामन' का संयोग आकस्मिक ही नहीं है। हीरामन के लिए जायसी का उल्लेख है "सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पंडित हीरामन नाऊँ।" और उसने भी अपने क्रेता ब्राह्मण से कहा था,—"हम तुम्ह जाति बराभँन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ।"

प्राप्त होता। बदाऊनी ने फिरंगियों के द्वारा सुलतान बहादुर के प्रति किये गये विश्वासघात का वर्णन किया है।[१८] यह घटना ३री रमज़ान ९४३ हि० की है। उत्तर भारत का फिरंगियों से परिचय ९४३ हि० के पूर्व का नहीं जान पड़ता। सन् ९२७ हि० में 'फिरंगी' का प्रयोग सम्भव नहीं था। 'राजा-बादशाह-खण्ड' में अलाउद्दीन की ओर से युद्ध करने वालों में मलिक जहाँगीर का उल्लेख आया है—"मलिक जहाँगीर कनउज राजा। ओहिक बान पारित कहँ बाजा।" (५२९।५)। चौंसा-युद्ध (९ सफ़र ९४६ हि० = २७ जून, १५३९ ई०) में विजय प्राप्त करने के पश्चात् शेरशाह ने हुमायूँ के सेनाध्यक्ष जहाँगीर कुली बेग़ से युद्ध किया था।[१९] सम्भव है, इस प्रसंग के लिखते समय जहाँगीर का नाम जायसी को स्मरण हो आया हो।

सुलतान सिकन्दर लोदी की मृत्यु १७वीं (फ़रिश्ता के अनुसार ७वीं) ज़ुलकदा, ९२३ हि० (जनवरी १५१८ ई०) को हुई और उसके पश्चात् सुलतान इब्राहीम लोदी दिल्लीश्वर हुआ। बाबर की प्रथम विजय ९३० हि० ('फ़तह् वा दौलत' तारीख़ है जिसके अक्षरों की नियत संख्या का योगफल ९३० होता है) में हुई। पानीपत के युद्ध में उसकी विजय जुमैदुल् अख़ीर ९३२ हि० (१२वीं अप्रैल, १५२६ ई०) को हुई। बाबर के राजत्वकाल में 'पदमावत' की रचना का प्रारंभ मानने वाले इस ऐतिहासिक तथ्य का विस्मरण कर बैठते हैं कि ९२७ हि० में बाबर का भारतीय अभियान प्रारंभ भी नहीं हुआ था। जायसी ने ९३६ हि० में रचित 'आख़िरी क़लाम' में 'बाबर साह छत्रपति राजा' लिखा है। 'पदमावत' में शेरशाह के प्रताप-वर्णन में जायसी ने जैसा उत्साह प्रदर्शित किया है, वैसा बाबर के वर्णन में नहीं। इससे जायसी की अन्तर्वृत्ति की सूचना मिलती है। जायसी पठान थे और पठान शेरशाह की विजय से उनके उल्लास की सीमा नहीं रहती। ऐसा प्रतीत होता है कि उस विजय में जायसी का भी भाग है। 'मलिक' की उपाधि भी सैनिकाध्यक्ष होने की संभावना पर प्रकाश डालती है।

तिथि-क्रम पर विचार करते समय 'ना-नारद तब जाइ पुकारा. एक जुलाहे से मैं हारा।'[२०] में कबीर के संकेत देखे गये हैं। हम लोगों के प्रसिद्ध संत कबीर के अतिरिक्त कई कबीर हो गये हैं। शेख़ कबीर और कबीर अहमद दो व्यक्ति तो अधिक प्रसिद्ध हुए थे। इन दोनों की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार 'अखरावट' में जुलाहे से तात्पर्य कबीर से है। वे कबीर को साधारण जुलाहा नहीं मानते।"[२१] नारद 'भक्ति-सूत्र' के रचयिता और भक्ति मार्ग के संस्थापक माने जाते हैं, उन्हें जुलाहे से पराजित कराना जायसी के इस्लामी मत-समर्थन का द्योतक है न कि कबीर को असाधारण मानने का उपक्रम। यदि किसी व्यक्ति-विशेष से इसका

---

१८. बदा०; भाग १, पृ० ४५८ 'तारीख़-ए-ख़ानजहाँ' में भी डोलीवाली कथा का समर्थन है। (द्र० अंगरेजी अनुवाद, भाग २, पृ० ११५)। १९. बादशाह (हुमायूँ) ने जहाँगीर बेग को पहले ही लिखा था कि एक मंजिल आगे चलो। जब वह गढ़ी पर पहुँचा तब युद्ध हुआ जिसमें जहाँगीर बेग घायल हुआ; हुमायूँनामा हिं० अ०; पृ० ७२)। २०. ना-नारद सँग रोइ पुकारा (फुलवारी शरीफ़ वाली प्रति)। २१. काशी-नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सं० १९८० वि०।

संबंध ही जोड़ना आवश्यक हो तो इस उल्लेख का संबंध मीर सैयद मुहम्मद से सम्भव है जिसने 'फ़िक्री' उपनाम से रचनाएँ की थीं और जिसका जुलाहा होना प्रसिद्ध है। महदी मीर सैयद मुहम्मद से इसका संयोग आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। हज़रत मुहम्मद साहब को भी काली कमलीवाला कहा जाता है और सूफ़ी की व्युत्पत्ति तो 'सुफ़' (ऊन) से सर्वमान्य है ही। सूफ़ी लोग हज़रत मुहम्मद साहब को प्रथम सूफ़ी मानते हैं। जुलाहे में इनकी ध्वनि आकस्मिक अथवा अप्रत्याशित नहीं।

'हिंदू तुरकन्ह महँ भई लड़ाई' में मुग़लों के प्रति परोक्ष भर्त्सना भी व्यञ्जित है। मुग़लों को उस काल में तुर्क ही माना जाता था और बाबर की मूल आत्मकथा तुर्की भाषा में ही है। पठानों और अफ़ग़ानों की विजय के उल्लास में आत्म-गौरव का अनुभव जायसी के अफ़ग़ान होने का सूचक है। जिस महदवी सिद्धान्त के जायसी अनुयायी थे, उसका प्रचार भी अफ़ग़ानों में विशेषतया था। तुर्कों के प्रति जिस भर्त्सना की अभिव्यक्ति जायसी में है उसके संकेत बदाऊनी में मिलते हैं।[२२]

जायसी ने अपने मित्रों में शेख़ बड़े का उल्लेख किया है। फ़ारसी इतिहासों में शेरशाह के समकालीन शेख़ बुध (बुढ़) की जो चर्चा मिलती है, वह इन्हीं शेख़ बड़े की है। लिपि के कारण ऐसा भ्रम सम्भव हुआ है। शेख़ बुढ़ (न) ने सासाराम को अपना निवासस्थान बनाया था। इनकी समाधि का तो पता मुझे नहीं चल सका है, किन्तु सासाराम के निकट जिस पहाड़ी को इन्होंने अपना निवासस्थान बनाया था, उसका नाम ही 'बुढ्ढन पहाड़ी' पड़ गया है। सासाराम शहर से प्रायः दो मील की दूरी पर यह पहाड़ी स्थित है। शाह मदार की समाधि भी समीप में है और इनके नाम पर 'मदार दरवाज़ा' नामक मुहल्ला भी बसा हुआ है। चंदन पीर की पहाड़ी से हटकर थोड़ी दूरी पर यह पहाड़ी अवस्थित है।

'पदमावत' के लिए यह कथन उपयुक्त नहीं कि उसकी रचना का प्रारंभ ९२७ हि० में हुआ और समाप्ति हुई ९४७ हि० में। डोलीवाली घटना, मलिक जहाँगीर और फ़िरंगियों के उल्लेख से सूचना मिलती है कि ९४७ हि० में ही इसका प्रारंभ हुआ था। मंझनकृत 'मधुमालती' की रचना ९५२ हि० में हुई—'संबत नौ सै बावन भयऊ, सती पुरुख कलि परिहर गयऊ। तौ हम चित उपजा अभिलाखा, कथा एक बाँधउं रस भाखा।" उस काल में सलीम शाह सूर (इस्लाम शाह) दिल्लीश्वर था। १५वीं रवि-उल्-अव्वल ९५२ हि० (=सन् १५४५) को सलीम शाह ने राज्यारोहण किया। प्रारंभिक काल दुश्चिताओं का था। इस तिथि के पश्चात् ही 'मधुमालती' की रचना हुई होगी। मंझन ने 'पदमावत' का उल्लेख नहीं किया है, अर्थात् उस समय तक उसकी ख्याति नहीं हुई थी। आश्चर्य का विषय है कि शेरशाह सूर की सभा में सम्मान पानेवाले कवि की रचना का परिचय सलीमशाह के राजत्वकाल के प्रारंभ में लिखने वाले मंझन को नहीं। 'संबत सोलह सै सतसठा' का उल्लेख करते हुए बनारसीदास ने 'मधुमालती' और 'मृगावती' की चर्चा की है—"तब घर मैं बैठे रहैं, जाइं न हाट बजार। मधुमालति मिरगा-

---

२२. द्रष्टव्य—बदाऊ० (अंग्रेजी अनुवाद) भाग ३, पृ० १।

वती, पोथी दोइ उदार।" (अर्द्धकथानक, पृ० ३१।३३५)। किन्तु इस कथन से मंझनकृत 'मधुमालती' का ही आशय लेना सर्वथा उपयुक्त नहीं। जैन कथाओं में 'मृगावती' और 'मृणालवती' की गाथाएँ मिलती हैं। मंझन का वास्तविक नाम शेख़ मंगन था और वे शेख़ मुहम्मद ग़ौस ग्वालियरी के शिष्य थे। ये शत्तारी परम्परा के संत एवं शेरशाह के समकालीन थे। हुमायूँ के यहाँ इनकी प्रतिष्ठा थी।

तिथिक्रम पर विचार करते समय जायसी द्वारा उल्लिखित व्यक्तियों के तिथिक्रम पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। सूफ़ी संतों के क्रम पर विचार करते समय हमें ध्यान रखना होगा कि वंशावली के दो क्रम हैं—संतान-क्रम और शिष्य-परम्परा। शिष्य-परम्परा में एक कठिनाई है कि एक ही व्यक्ति अन्य ख़ानदानों में अनुशासित अतः परिगणित रहता है, एवं सम्प्रदायों की भिन्नता आध्यात्मिक तत्त्ववाद पर आधारित नहीं। गुरु की प्रसिद्धि, प्रभाव और कभी-कभी अर्थ-गौरव आदि आकर्पण के आधार रहे हैं। गुरु से अधिक वयवाले शिष्यों का भी अभाव नहीं रहा है। प्रसिद्ध और प्रभावशाली सम्प्रदायों से सम्बद्ध होने और करने की चेष्टाएँ भी होती रही हैं।

सैयद अशरफ़ जहाँगीर चिश्ती का उल्लेख जायसी ने 'पदमावत', 'अखरावट' और 'आख़िरी क़लाम' तीनों ग्रंथों में किया है—

(१) कही तरीकत चिस्ती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू।—अख० (शुक्ल), २६।२।
कही सरीअत चिस्ती पीरू। सैयद असरफ हूँ जहँगीरू।—फुलवारी शरीफ़ की प्रति।

(२) मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा।
जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग महँ दीपक बिधि करा॥—आ० क० ९।१०२।

(३) सैयद असरफ पीर पियारा। तिन मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा।
जहाँगीर ओइ चिस्ती निहकलंक जस चाँद।
ओइ मखदूम जगत के हौं उनके घर बाँद॥—पद० १।१८

शिरेफ़ ने सैयद अशरफ़ जहाँगीर चिश्ती को शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया की चौथी पीढ़ी में और शेख़ अलावल हक़ का शिष्य माना है।[२३] अग्रवाल ने केवल इतने से ही संतोष कर लिया कि सैयद अशरफ़ जहाँगीर "चिश्ती वंश के सूफ़ियों में बहुत बड़े सन्त थे। उन्हीं के उत्तराधिकारी मुहीउद्दीन (सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध) जायसी के गुरु थे।"[२४] अग्रवाल ने एक और भ्रम की सृष्टि की है कि "यह (सैयद अशरफ़ जहाँगीर) फ़ैज़ाबाद ज़िले में कछौछा के चिश्ती सम्प्रदाय के सूफ़ी संत थे, जो आठवीं शती हिजरी के अंत और नवमी शती के आरंभ में जायसी से काफ़ी पहले हुए थे।'[२५] राजपूताना गजेटियर के अनुसार सैयद अशरफ़ की मृत्यु कछौछा नामक स्थान में हुई थी, जहाँ उनकी समाधि है। किन्तु जायस नगर के बाहर उनकी दरगाह और समाधि आज तक

---

२३. द्रष्टव्य—शि० कृत पद० का अंग्रेज़ी अनुवाद, पृ० १७।　　२४. संजीवनी, पृ० १८।
२५. वही, प्राक्क०, पृ० ३८।

अवस्थित हैं; उन्होंने जौनपुर को ही अपना स्थान बनाया था। चिश्तियों की कोई कछौछा शाखा नहीं है।[२६]

शेख़ अलाउद्दीन अलावल हक़ शेख़ आरवी सिराज (मख़दूम आखी सिराजुद्दीन) के शिष्य थे। शेख़ अलावल हक़ की मृत्यु १ली रज्जब ८०० हि० (२०वीं मार्च १३९८) को हुई और उनकी समाधि पंडुआ नामक स्थान में है।[२७] अलावल हक़ के उत्तराधिकारी और ख़लीफ़ा उनके पुत्र शेख़ नूरुद्दीन हुए। नूरक़ुतुब आलम बंगाल के राजा कंस (जो ८०८ हि० में बंगाल का शासक हुआ) और जौनपुर के शासक सुलतान इब्राहीम शरक़ी के समकालीन थे। 'आईन-ए-अकबरी' (भाग ३, पृ० ४१२) के अनुसार इनका वास्तविक नाम शेख़ नूरुद्दीन अहमद बिन उमर असद था और जन्मस्थान था लाहौर। इनकी मृत्यु सन् ८०८ हि० (१४०५ ई०) में हुई। राजा कंस ८०८ से लेकर संभवतया ८१७ तक नरेश था, किन्तु अन्य प्रमाणों के आधार पर इनकी मृत्यु-तिथि ८५१ हि० (= १४४७ ई०) ज्ञात होती है।

सैयद अशरफ़ जहाँगीर का जन्म सिम्नान के सैयद कुल में हुआ था। इन्होंने जौनपुर को अपना स्थान बनाया था। अख़बार-उल्-अख्यार के अनुसार जायस में इनकी ८४० हि० में मृत्यु हुई। इस प्रकार इनकी समाधि जायस के बाहर है और दरगाह कछौछा में, राजपूताना गज़ेटियर का कथन इस संबंध में भ्रामक है। जायसी ने सैयद अशरफ़ की चर्चा करते हुए 'मख़दूम जगत के' और 'दस्तगीर गाढ़ें कै साथी' लिखा है। सैयद जलालुउद्दीन बुख़ारी (मृ० ७८५ हि० = १३८४ ई०) की उपाधि 'मख़दूम-ए-जहाँनियाँ' थी। शेख़ सदरुद्दीन राजू कत्तल, मख़दूम-ए-जहाँनियाँ का भाई था जिसकी मृत्यु सन् ८२७ हि० में हुई। ग़ौस-उल्-आज़म मोहिउद्दीन जिलानी के उत्तराधिकारी और ख़लीफ़ा, शाह फ़िरोज़ (मृ० ९३४ हि० = १५२७ ई०) की उपाधि 'पीर दस्तगीर' थी। निश्चित रूप से जायसी का परिचय इन दोनों विरुदों से था। निज़ामुद्दीन यमनी (वह अपने को 'निज़ाम हाजी ग़रीब यमनी' कहता है) इनका शिष्य था जिसने अपने गुरु के उपदेशों का संग्रह 'लताएफ़-ए-अशरफ़ी' नाम से किया था।

सैयद अशरफ़ जहाँगीर का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है—

> उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइ भरा।
> तिन्ह घर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहँ दइअ सँवारे।
> सेख मुबारक पूनिउँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥(पद० १।१९।१-३)

शेख़ मुहम्मद अल् अहजी के गुरु थे मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी, जिन्होंने मह-

---

२६. भाषा की असमर्थता के कारण अग्रवाल का वाक्य विपरीत अर्थ का सूचक हो गया है। गज़ेटियर की भाषा के स्वतंत्र अनुवाद का ही यह दोष है। २७. विस्तृत जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य: जे० ए० एस० बी० (सन् १८७३) के २६२ वें पृष्ठ पर ब्लाकमैन का निबंध।

दवी संप्रदाय का संगठन किया था और स्वयं महदी होने का दावा किया था।[२८] अल् अहजी ने 'गुलशन-ए-राज' का भाष्य भी तैयार किया था। इनका उपाधि सहित पूरा नाम था अली अहजी जिलानी नूर बख्शी। जायसी ने 'नूर' की विशेष चर्चा प्रत्येक ग्रंथ के प्रारम्भ में की है। महदवी सम्प्रदाय के प्रति उनका प्रेम सर्वत्र संकेतित है। इन्हें हाजी खलीफ़ा का विरुद प्राप्त था और इनकी मृत्यु सम्भवतया ८७७ हि० में हुई थी। सैयद अशरफ़ जहाँगीर के पत्रों का 'मक़तूबात-ए-अशरफ़ी' नाम से संकलन इनके शिष्य हाजी अब्दुल रज़्ज़ाक-उल्-हसनी-उल्-हुसैनी-अस्-सिम्मानी-उल्-उसमानी ने सन् ८६९ हिजरी में किया था।[२९] सैयद अशरफ़ के प्रधान शिष्य निजामुद्दीन का नाम 'निज़ाम हाजी' भी कहा गया है।

बदाऊनी ने शेख़ मुबारक अलवरी, शेख़ मुबारक नागौरी और गोपामऊ के क़ाज़ी मुबारक का उल्लेख किया है। शेख़ मुबारक अलवरी अपने को सैयद बतलाते थे और अफ़ग़ानों में पूजित थे। शेख़ सलीम चिश्ती, जब अफ़ग़ानों द्वारा बंदी बनाये गये थे, तो शेख़ मुबारक अलवरी ने ही उन्हें मुक्ति दिलायी थी। शेख़ मुबारक पर सलीम चिश्ती का स्नेह था। इन्होंने दो बार क़ाबे की यात्रा की थी। बदाऊनी ने इनका दो बार साक्षात्कार किया था। सन् ९८७ हिजरी में दूसरी बार दर्शन किये थे। सन् १००४ हिजरी की सूचना है कि इस तिथि के कुछ पूर्व उनकी मृत्यु ९० वर्षकी आयु में हुई। इस प्रकार शेख़ मुबारक अलवरी की जन्म-तिथि ९१४ हि० के आसपास पड़ती है।[३०] निज़ामुद्दीन ने शेख़ मुबारक को सैयद मुबारक अलवरी कहा है।[३१] 'आईन-ए-अकबरी' में इनकी चर्चा नहीं है, किन्तु शेख़ मुबारक नागौरी के प्रसंग में यह लिखा गया है कि शेख़ मुबारक अलवरी और शेख़ मुबारक ग्वालियरी का उल्लेख 'तबक़ात' में उपलब्ध है।[३१] किन्तु 'तबक़ात' के इस प्रसंग में इनका उल्लेख नहीं मिलता। 'तबक़ात' में शेख़ मुबारक अलवरी और शेख़ कमाल अलवरी का समीप-समीप कथन है।[३२] 'आईन-ए-अकबरी' में शेख़ कमाल की चर्चा आयी है और बदाऊनी ने भी इनका उल्लेख किया है।[३३] शेख़ सलीम चिश्ती के शिष्यों में शेख़ कमाल अलवरी की चर्चा है जिसकी वृद्धावस्था, धार्मिक उत्साह और तन्मयता की प्रशंसा बदाऊनी ने की है।[३४] शेख़ मान पानीपती और शेख़ कमाल अलवरी को बदाऊनी ने शेख़ सलीम चिश्ती के प्रसंग में स्मरण किया है।

बदाऊनी गोपामऊ के क़ाज़ी मुबारक—जिन्हें उनके गुरु शेख़ निज़ामुद्दीन मियाँ मुबारक कहते थे—और शेख़ निज़ामुद्दीन के उत्तराधिकारी और खलीफ़ा शेख़ मुहम्मद का उल्लेख

---

२८. बदाऊनी भाग ३ के अनुवादक ने भ्रमवश मीर सैयद मुहम्मद-ए-नूर बख़्शी को बदख़्शाँ का मान लिया है। महदवी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी थे। नूर-बख़्शी उपाधि के कारण ऐसा भ्रम हुआ है। २९. रिऊ, भाग १, पृ० ४१२, बुहर लाइ० कट० भाग १, पृ० १३६, एवं ओरि० लाइ० कैट० भाग १६, पृ० ३१, ३०. द्रष्टव्य—बदा० (अं० अ०) भाग ३, पृ० १६२-१६३। ३१. तब० (डे कृत अनु०, भाग २), पृ० ७०६ की पाद टिप्पणी; ३ आ० अ०; भाग १, पृ० ५३७। ३२. वही, पृ० ७०६। ३३. आ०; भाग १, पृ० ५४६ ३४. बदा०; भाग ३, पृ० २१

किया है। शेख़ निज़ामुद्दीन शेख मआरुफ़-ए-चिश्ती के शिष्य थे, जो उपाधि है और इस विरुद का धारण करनेवाला व्यक्ति नूरक़ुतुब आलम की परम्परा में हुआ था। इस प्रसंग में स्मरण करना चाहिए कि निज़ामुद्दीन यमनी ने अपने गुरु सैयद अशरफ़ जहाँगीर के उपदेशों का संकलन प्रस्तुत किया था, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। शेख़ अल अहजी जायसी के 'सेख हाजी' के अतिरिक्त और कोई अन्य व्यक्ति नहीं और मआरुफ़-ए-चिश्ती सैयद अशरफ़ जहाँगीर का ही विरुद है। शेख मुबारक अलवरी और गोपामऊ के क़ाज़ी मुबारक में अभिन्नता है। शेख़ मुहम्मद, शेख हातिम की मृत्यु के पश्चात्, अपने गुरु के जीवन-काल में ही प्रधान शिष्य और खलीफ़ा हुए। इनका नाम मियाँ शेख़ मुहम्मद था। शेख निज़ामुद्दीन ने लम्बी आयु पायी थी और अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था में सन् ९७९ हि० (१५७१-७२) में उनकी मृत्यु हुई। सन् ९०० हि० के कुछ पूर्व उनका जन्म हुआ होगा। सैयद अशरफ़ जहाँगीर की मृत्यु ८४० हि० में नहीं हो सकती, जैसा साधारणतया माना जाता है। कई प्रतियों में शेख़ मुबारक के स्थान में शेख़ मुहम्मद पाठ मिलता है। इससे भी सिद्ध होता है कि निज़ामुद्दीन के साथ इन दोनों व्यक्तियों का सम्पर्क है और क़ाज़ी मुबारक ही शेख मुबारक अलवरी हैं।

कमल कुलश्रेष्ठ[१] ने मलिक मुहम्मद जायसी को शेख मुबारक का शिष्य माना है और प्रमाण-स्वरूप अन्तःसाक्ष्य की चर्चा की है, जो 'हौं उन्हके घर बाँद' से अधिक नहीं है। शेख़ मुबारक के पश्चात् शेख़ कमाल का उल्लेख है, अतः यदि इसका यही अर्थ लिया जाय तो जायसी का गुरु होना चाहिए शेख कमाल को, न कि शेख़ मुबारक को, जैसा कुलश्रेष्ठ ने माना है। जायसी के अनुसार शेख़ मुबारक और शेख़ कमाल शेख़ हाजी के पुत्र हैं। और उनके संबंध में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

> दुऔ अचल धुब डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिनहुं उपराहीं।
> दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की नाईं।
> दुहूँ खंभ टेकी सब मही। दुहूँ के भार सिस्टि थिर रही।
> जिन्ह दरसे औ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया। (१।१९।४-७)

इस अनुबंध में जायसी के कुछ अन्य कथनों पर विचार किया जाय। सैयद अशरफ़ जहाँगीर का स्मरण पीर रूप में किया गया है। गुरु को खेवक और पीर को पतवरिया अथवा करिया (कड़िहार) कहा गया है। इस परम्परा में संतान-क्रम का उल्लेख है। शेख़ मुबारक और शेख़ कमाल के साथ जायसी का संबंध स्पष्ट नहीं होता। इस अनुबन्ध में जायसी का साक्ष्य उपस्थित किया जाय—

> जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदयानू।
> **तहाँ दिवस दस पहुँने आएउँ**। भा बैराग बहुत सुख पाएउँ।
> —आ० क० १०।१-२।

और 'पदमावत' में उल्लेख है—

> जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू।।

माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रंथावली में इसका पाठ है "तहवाँ यह कबि कीन्ह बखानू।"

(२३।१), किन्तु विभिन्न पाठान्तरों पर ध्यान दिया जाय तो 'तहाँ आइ' की उपयुक्तता सिद्ध होती है। 'तहाँ आइ करि', 'तहाँ अवर कबि', 'तहाँ जाइ कवि' एवं 'तहाँ अवनि कबि' जैसे पाठों से निष्कर्ष निकलता है कि केवल आदर्श प्रतियों में ही ऐसे पाठ नहीं रहे होंगे बल्कि लिपिकारों के ध्यान में भी यह तथ्य रहा, जो परम्परा और जनश्रुति से समर्थित था। 'पदमावत' के प्रक्षिप्त छंदों में एक गुप्त द्वारा परिशिष्ट में संकलित है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव अवध अस गाऊँ।
तहवाँ देवस दस पठाएँ आएउँ। भा बैराग बहुत दुख पाएउँ॥

'आखिरी क़लाम' की उक्ति से इसमें विलक्षण साम्य है। 'आदि उदयानू' इसमें 'अवध अस गाऊँ' हो गया है, 'पहुँने' इसमें 'पठाएँ' हो गया है, जिसे अधिक से अधिक 'पठएँ' होना चाहिए एवं 'आखिरी क़लाम' का 'सुख' इसमें 'दुख' हो गया है। इस प्रति का लेखक अयोध्यावासी रहा होगा, क्योंकि मध्यकाल में अयोध्या को अवध कहते थे। इन सभी कथनों में संकेत निहित है कि जायस जायसी का मूल निवासस्थान नहीं, वहाँ किसी कारणवश उन्हें आना पड़ा था और सत्संग के फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न हुआ।

गुरु-परम्परा के क्रम पर विचार करना हमारे लिए अपेक्षित है—

पा-पाएउँ महदी गुरु मीठा। मिला पंथ महँ दरसन दीठा।
नाँव पियार सेख बुरहानू। कलपी नगर कीन गुरु थानू।
तैं उन्ह दरस गोसाइँक पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा।
अलहदाद जग सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद कै वै चेला।
सैयद मुहमद महदी साँचा। दानियाल दीन्ह चिन्हाई बाचा।
जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे।
दानियाल तौं परगट कीन्हा। हजरत ख्वाज खिजिर किन चीन्हा।[३५]

'पदमावत' में तत्संबंधी उल्लेख है—

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गियानू।
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखरू।
सैयद मुहमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहि खेला।
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए।
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरइ जहँ सैयद राजे।
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी।१।२०

'गुरु मोहदी' को सामान्यतया मुहीउद्दीन मानकर जायसी को उनका चेला कहा जाता रहा है। प्रोफ़ेसर असकरी ने 'मोहदी' को मीर सैयद मुहम्मद का विरुद माना है और इस प्रकार जायसी के गुरु होंगे मीर सैयद मुहम्मद न कि मुहीउद्दीन। फुलवारी शरीफ़ में प्राप्त 'अखरावट'

---

३५. अखरावट (फुलवारी शरीफ की हस्तलिखित प्रति) पद-संख्या २७।

(=अखरौती) की पुष्पिका को प्रामाणिक मानने से जायसी की जन्मतिथि ९११-३०= ८८१ हि० के आसपास होगी और मीर सैयद मुहम्मद की मृत्यु ९१० हि० में हुई, इस प्रकार प्रो० असकरी की धारणा को बल मिलता है। किन्तु, यह स्पष्ट किया जा चुका है कि फुलवारी शरीफ़ वाली प्रति ९८१ हि० के पूर्व की नहीं हो सकती। शेख मुबारक के शिष्यों में शेख मुहम्मद और मुहिया का उल्लेख है, किन्तु शेख मुहिया जायसी के गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि शेख बुराहनवाली परम्परा से सम्बद्ध नहीं।

"पा-पाएउँ गुरु महदी मीठा। मिला पंथ महँ दरसन दीठा। नाँव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरुथानू।" की तुलना "गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा। अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेंइ दीन्ह गियानू।" के साथ यदि की जाय तो प्रचलित भ्रम का निराकरण हो जाता है। इन पंक्तियों के स्पष्ट अर्थ की अवमानना के परिणाम-स्वरूप महत्त्वपूर्ण भ्रम की सृष्टि हो गयी है। सूफ़ी-संतों के जीवनवृत्त-संबंधी ग्रंथ सर्वांशतः प्रामाणिक नहीं हैं और इनकी शिष्य-परम्परा का इतिहास भी सरल मार्ग पर नहीं चलता। एक सम्प्रदाय में दीक्षित होनेवाला न केवल अपनी अलग परम्परा ही चलाता है, बल्कि दूसरे सम्प्रदायों में दीक्षित भी होता रहा है। गुरु के जीवन-काल में ही शिष्य बनाने का अधिकार इन्हें मिलता रहा है। सूफ़ियों में से अनेक शासन-व्यवस्था से सम्बद्ध थे।

'अखरावट' वाले पाठ का सीधा अर्थ है कि गुरु महदी अर्थात् ईश्वर का संदेश वाहक है और उस खेवक, जीवन-नैया के खेनेवाले, का मैं सेवक हूँ। उस खेवक का नाम शेख बुरहान है और मैंने कालपी को गुरु-स्थान बनाया है अर्थात् कालपी नगर में मेरा गुरु-स्थान है। 'पदमावत, के पाठ का अर्थ है कि गुरु जैसे खेवक के मिलने से मेरी जीवन-नौका संसार-सागर में उतरा कर चलती है। 'आखिरी कलाम' जिसकी रचना ९३६ हि० में हुई थी, शेख बुरहान की परम्परा का उल्लेख नहीं करता। इसमें "मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद अशरफ़ पीर पियारा। जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक बिधि धरा।" एवं "तिन घर हौं मुरीद सो पीरू। सँवरत बिन गुन लावैं तीरू।" तो है किन्तु, शेख बुरहान आदि का कथन नहीं। इस प्रकार शेख मुबारक अथवा शेख कमाल का शेख बुरहान के साथ संबंध जोड़ना असमीचीन है। सन् ९३६ हि० के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी शेख बुरहान के सम्पर्क में आये होंगे। यहाँ गुरु को महदी कहा गया है और इसमें न तो मोहिउद्दीन चिश्ती के संकेत हैं और न मीर सैयद मुहम्मद से तात्पर्य। जायसी के अगुआ अर्थात् पथ-प्रदर्शक हैं शेख बुरहान। 'अखरावट' का कथन इस संबंध में स्पष्ट है कि जिस गुरु से पंथ के दर्शन हुए उसका "नाव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू।" इसका ही समर्थन मिलता है, जब वे कहते हैं कि 'अगुआ भए सेख बुरहानू। पंथ लाइ जिहिं दीन्ह गियानू।'

शेख बुरहान का सविस्तर वर्णन बदाऊनी ने किया है।[३६] उसने सूफ़ियों के क्रम में इन्हें चौथा स्थान दिया है और शेख सलीम चिश्ती (जिनकी दुआ से सम्राट् अकबर को पुत्र की प्राप्ति

---

३६. द्रष्टव्य; बदा० (अं० अ०) भाग ३, पृ० १०-१२।

हुई थी अतः उसने स्मृति-रक्षार्थ पुत्र का नामकरण सलीम किया था और जो बाद में जहाँगीर नाम से समाट् हुआ) से भी पूर्व स्थान दिया है। बदाऊनी को महदवी सम्प्रदाय के प्रति अनुराग है, अतः उदारतापूर्वक इसके अनुयायियों का उल्लेख किया गया है। बदाऊनी के अनुसार बुरहान बारी के मियाँ अलहदाद के सम्पर्क में रहे, जो मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी थे। इनका विश्वास महदवी साधना-पद्धति पर था और इन्होंने प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं का अभ्यास किया था। बदाऊनी का साक्ष्य है कि इन्होंने हिन्दी में भी रचनाएँ की थीं। प्रोफ़ेसर असकरी को 'अरिल्ल' नामक छंद में इनकी कुछ रचनाएँ फुलवारी शरीफ़ के ख़ानकाह में मिलीं जिन्हें उन्होंने और उनके अनुकरण पर अग्रवाल ने भ्रमवश 'अरील' कहा है। बदाऊनी को इनकी रचनाओं में ईश्वर-प्रेम, उपदेशादेश, वैराग्य, सूफ़ी-मत-प्रतिपादन और ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मा की व्याकुलता का वर्णन मिला था।[३७] सन् ९६७ हि० में बदाऊनी ने इनका साक्षात्कार किया था और उसके साक्ष्यानुसार उनकी मृत्यु सन् ९७० (१५६२-६३ ई०) में प्रायः सौ वर्षों की आयु में हुई।[३८] इस प्रकार उनका जन्म ८७० हि० के आसपास ठहरता है। उन्होंने कालपी को अपना निवासस्थान बनाया था, जहाँ निवास के लिए छोटी सी गुफा बनवा ली थी। मृत्यु के पश्चात् शिष्यों ने उनकी इच्छा का पालन करते हुए उसी गुफा में उन्हें समाधि दे दी। 'आईन-ए-अकबरी'[३९] में इनकी संख्या २९वीं है और उसमें भी इन्हें कालपी-निवासी कहा गया है। 'तबक़ात-ए-अकबरी'[४०] में इन्हें कालीवाल कहा गया है, जो स्पष्टतया लिपिकार का भ्रम है। 'कालीवाल' का शुद्ध पाठ है 'कालपीवाल'। इनका नाम इब्राहीम था और पूरा विरुद था शेख़ इब्राहिम दरवेश बुरहान और पिता का नाम था अली।

जायसी के साक्ष्यानुसार अलहदाद शेख़ बुरहान के गुरु हैं—"तै उन्ह दरस गोसाइँक पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा। अहलदाद जग सिद्ध नेवला।" एवं "अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखरू।' बदाऊनी के अनुसार बारी के मियाँ इलहदाद और शेख़ बुरहान की कुल तीन दिनों तक संगति रही।[४१] उसने दोनों के गुरु-शिष्य-संबंध का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु, इस सम्बन्ध में जायसी का प्रमाण सर्वाधिक प्रामाणिक होना चाहिए। बदाऊनी ने मियाँ इलहदाद लखनवी, मौलाना इलहदाद अमरोही, मौलाना इलहदाद सुलतानपुरी, एवं मौलाना इलहदाद-ए-लंगरख़ानी का विवरण दिया है। किन्तु इनमें से किसी एक के साथ जायसी के अलहदाद की संगति नहीं बैठती। 'मआसिर-उल्-उमरा' के अनुसार सैयद अलहदाद महदवी मत के प्रवर्त्तक सैयद मुहम्मद जौनपुरी के वंशज थे। वे अपने पुत्र सैयद अबुल फ़तह के साथ दक्षिण गये। सैयद अलहदाद अपनी तपस्या और आचरण की पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे और इनका बड़ा सम्मान था।

---

३७. द्रष्टव्य : बदा०, भाग ३, पृ० १२। ३८ बदा० (अं०), भाग ३, पृ० १२१। ३९. ब्लाक, भाग १, पृ० ५४९। ४० तब० (डे० कृत अनु०), भाग २, पृ० ७०९। ४१. बदा०, भाग ३, पृ० १२।

बदाऊनी ने जिसे शैख़्-उल्-हिंदिया कहा है[४२], वे ही जायसी के अलहदाद हैं। शेख़ निज़ामुद्दीन अमेटीवाल, जिन्हें जायसी का शेख़ हाजी समझना चाहिए, और शेख़ इलहदिया दोनों घनिष्ठ मित्र थे। बदाऊनी[४३] ने शैख़ुल् हिंदया के उल्लेख में इनका सविस्तर वर्णन किया है और इन्हें ख़ैराबादी कहा है, उसके अनुसार ये शेख़ सफ़ी के शिष्य थे और शेख़ सईद (सैयद) की परम्परा में थे। बदाऊनी के अनुसार शेख़ अबुल फ़तह गुजराती, जिसे मआसिर-उल्-उमरा ने दकनी लिखा है, मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी के जामाता थे।[४४] हमने देखा है कि अबुल फ़तह अलहदाद के पुत्र थे और अलहदाद मीर सैयद मुहम्मद के शिष्य। शेख़ अलहदाद की मृत्यु सन् ९९३ हि० (१५८५ ई०) में हुई।[४५] शेख़ अबुल फ़तह के प्रसंग में यह भी बदाऊनी का उल्लेख है कि मीर सैयद मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् यह विवाह हुआ था और इन्होंने मीर के दर्शन नहीं किये थे।

अहलदाद (मृ० ९९३ हि०) के दीक्षा-गुरु हैं मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी और इन्होंने लम्बी आयु पायी थी। इनके शिष्य बुरहान की मृत्यु ९७० हि० में हुई थी। बदाऊनी के अनुसार मीर सैयद मुहम्मद वलियों में श्रेष्ठ थे और इन्होंने महदी होने का दावा किया था। मक्के से लौटते समय बलूचिस्तान के फरह्-नामक स्थान में इनकी सन् ९१० हि० में मृत्यु हुई थी।[४६] 'मआसिर् उल्-उमरा' के अनुसार महदवी मत का प्रवर्त्तन सन् ९०६ हि० में हुआ था।[४७] सैयद मुहम्मद जौनपुरी के पिता का नाम था मीर सैयद ख़ाँ। क़ुरान शरीफ़ में महदी की चर्चा है और मीर सैयद मुहम्मद ने महदी होने का दावा किया। शिष्यों की मण्डली जुटती गयी और फिर उनका अभाव नहीं रहा। उनके शिष्यों में सुलतान महमूद भी था जिसकी अनुरोध-रक्षा के लिए इन्होंने मक्के की यात्रा की थी और उस यात्रा से लौटते समय इनकी मृत्यु हुई थी।[४८] बदाऊनी ने सैयद की जीवन-चर्या का इस प्रकार वर्णन किया है—वे बैरागियों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं, दिन में संतों की समाधियों की परिक्रमा करते हैं और अपनी छोटी-सी कुटिया में रात्रि-यापन करते हैं। वे कुलीन और पवित्रात्मा हैं और सामरिक कला में निपुण और दक्ष।[४९] मीर सैयद मुहम्मद की उपाधि नूर-बख़्शी है।[५०] शेख़ मुहम्मद-अल्-अहजी (जो अपने को मीर सैयद का शिष्य कहता है) ने शेख़ मुहम्मद तबरीज़ी कृत 'गुलशन-ए-राज़' की टीका लिखी थी जिसमें महदवी सिद्धान्तों की व्याख्या थी। अल्-अहजी की मृत्यु सन् ९८३ हिजरी में हुई थी। मियाँ अब्दुल्ला, जो नियाज़ी अफ़ग़ान था, मीर सैयद मुहम्मद के साथ मक्के की यात्रा में गया था। वहाँ से लौटकर उसने बियाने को अपना निवासस्थान बनाया। पहले वह शेख़ सलीम चिश्ती

---

४२. बदा० भाग १, पृ० ५४६—इसमें भी अबुल फ़तह को शैख़ुल् हिंदिया का पुत्र कहा गया है। ४३. भाग ३, पृ० ४५–४६। ४४. बदा०; भाग ३, पृ० ७७–७८ ४५. बदा०; भाग ३ पृ० ४७। ४६. बदा०; भाग १, पृ० ४२०। ४७. म० उ०, (अं० अ०), पृ० ११६। ४८. आईन; भाग १, जीवन-वृत्त। ४९. बदा०, भाग ३, पृ० ५८–५९। ५०. अं० अनुवादक ने 'नूर-बख़्शी' को उपाधि नहीं माना है और इसे भिन्न व्यक्ति मानने का भ्रम किया है।

का शिष्य था। पीछे चलकर सैयद के प्रभाव में आया।[51] प्रार्थना के समय जो भी मार्ग में मिलना चाहे, वह मजदूर, नौकर अथवा साधारण-से-साधारण व्यापारी ही क्यों न हो, उसे नमाज़ पढ़ने के लिए विवश करता था।[52] शेख़ अलाई, जो स्वयं प्रसिद्ध परम्परावादी था, महदवी मत में दीक्षित हुआ और कुछ समय के पश्चात् उसने अपने आप को 'महदी' घोषित किया। अपने शिष्यों के दल को इसने सैन्य-संगठन का रूप दिया, जो सदा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहता था। यदि किसी को उसके अनुयायी अधार्मिक कृत्यों में संलग्न देखते तो अनुनय-विनय द्वारा पहले सुधारने की चेष्टा करते, किन्तु अनुनय-विनय द्वारा असफल होने पर अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से भी नहीं चूकते थे।[53] इस्लाम शाह शूर (शेरशाह के पुत्र सलीम शाह) के समक्ष यह आक्षेप किया गया था कि शेख़ अलाई क्रान्तिकारी है और महदी होने का दावा करता है एवं महदी ही सारे संसार का सम्राट् होगा।[54] इस्लाम शाह की सभा में जो विवाद हुआ उससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय महदी के आगमन की चर्चा सर्वाधिक प्रबल थी। मीर मियाँ सैयद मुहम्मद नूर-बख़्शी की मृत्यु सन् ९१० हि० में हुई। क़ाज़ी हसन और शेख़ मुबारक दोनों ने तारीखें कही हैं। शेख़ मुबारक द्वारा कथित तारीख़ थी 'मज़ा महदी'।[55]

जायसी ने सैयद मुहम्मद के गुरु-रूप में शेख़ दानियाल का उल्लेख किया है—"दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए। भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरइ जहँ सैयद राजे।"[56] 'अखरावट' का कथन सीधा और इससे अधिक स्पष्ट है—"अलहदाद जग सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद कै वै चेला। सैयद मुहमद महँदी साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सुबाचा।" इससे स्पष्ट तात्पर्य प्रकट होता है कि सैयद मुहम्मद के गुरु का नाम दानियाल था। 'मआसिर-उल्-उमरा' का कथन है कि "बहुत से लोग यह भी समझते हैं कि वह (सैयद मुहम्मद जौनपुरी) शेख़ दानियाल का शिष्य तथा उत्तराधिकारी था, जो राज़ी हामिद शाह मानिकपुरी का शिष्य था।"[57] इस कथन में स्पष्ट संकेत है कि 'मआसिर-उल्-उमरा' के लेखक को इस जनश्रुति में विश्वास नहीं। 'अखरावट' और 'पदमावत' दोनों में दानियाल तक की परम्परा समान है। ख्वाजा खिज्र और उनकी पौराणिकता के कारण दानियाल और 'सैयद राजे' की सम्बद्धता सिद्ध करने के लिए राज़ी हामिद शाह मानिकपुरी को जायसी का 'सैयद राजे' मानना पड़ता है।

'अखरावट' में ख्वाजा खिज्र के पौराणिक व्यक्तित्व के संकेत हैं—"जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे। दानियाल तौं परगट कीन्हा। हजरत ख्वाजा खिजिर किन चीन्हा।" जायसी को दानियाल तक की गुरुपरम्परा का ज्ञान 'अखरावट' की रचना-काल तक है और ख्वाजा खिज्र केवल पौराणिक व्यक्ति तक रहते हैं। 'पदमावत' की रचना के समय दानियाल के गुरु ख्वाजा खिज्र और उनके मार्ग-प्रदर्शक सैयद राज, राजू, रज़ा, अथवा राज़ी की परम्परा

---

५१ बदा०; भाग ३, पृ० ८४। ५२. बदा०; भाग १, पृ० ५०९। ५३. बदा०; भाग १, पृ० ५११। ५४. बदा०; भाग १, पृ० ५१३। ५५. बदा०; भाग १, पृ० ४२१। ५६. पदमावत; १।२०।५–६। ५७. हिंदी अनुवाद; भाग २, पृ० ६४; अं० अनुवाद; पृ० ११६।

तक का परिचय हो जाता है। 'अखरावट' 'आखिरी क़लाम' और 'पदमावत' के बीच की रचना, ज्ञात होती है।

ख्वाजा खिज्र एक प्रसिद्ध सूफ़ी संत हो गये हैं, जिनकी दरगाह सोनपथ नामक स्थान में है। उसके उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार उस दरगाह के निर्माण का प्रारंभ १५वीं सव्वाल ९२८ को हुआ था और समाप्ति हुई १५वीं रज्जब ९३० हि० को।[५८] ख्वाजा खिज्र के पिता का नाम दरिया खाँ शिरवानी था। दरिया खाँ शेख़ अहमद का पुत्र और शेख़ मंडूकी दरवेश का पौत्र था। ख्वाजा खिज्र का पूरा नाम था मियाँ ख्वाजा खिज्र। निज़ामुद्दीन ने 'तबक़ात-ए-अकबरी' में जिस ख्वाजा खिज्र बख्तियार का उल्लेख किया है, वह जायसी के ख्वाजा खिज्र से अभिन्न है।[५९] दिल्ली में यमुना के दूसरे तट पर ख्वाजा खिज्र की समाधि थी जिसके समीप सन् ९८६ हि० में अकबर की सेना उतरी थी।[६०] 'अकबरनामा' में जिन ख्वाजा खिज्रियान का उल्लेख है उनका संबंध इन्हीं ख्वाजा खिज्र से होना चाहिए।

शेख़ सदरुद्दीन राजू कत्ताल, सैयद जलालुद्दीन बुख़ारी मखदूम-ए-जहाँनियाँ (मृत्यु ७८५ हि०) के लघु भ्राता थे, जिनकी मृत्यु ८२७ हि० (१४२४ ई०) में हुई थी। सैयद अशरफ़ जहाँगीर की मृत्यु सम्भवतः ८४० हि० में हुई थी, इस प्रकार दोनों समकालीन हैं। जायसी के 'सैयद राजे' ये नहीं हैं। जायसी ने जिस सैयद राजे की चर्चा की है वे हैं सैयद राज बोख़ारी जिनकी समाधि और दरगाह बारी में है। किम्वदन्ती के अनुसार इन्होंने ही बारी को स्थापना की थी। पन्द्रहवीं शताब्दि के मध्य में इनका वर्तमान रहना कहा जाता है।[६१] इनकी दरगाह ९४४ हि० में बनवायी गयी थी। ग्रेंड कार्ड लाइन पर सैयद राजे नामक जो स्टेशन है उसके समीपवर्ती ग्राम में भी इनकी छोटी-सी दरगाह है। किम्वदन्ती के अनुसार इनका नाम सैयद रजा था, जो सैयद राजू हो गया है। इनसे जायसी सम्बद्ध थे, ऐसी जनश्रुति उस ग्राम में है। सैयद राजू ने हुसैनशाह जौनपुरी के राजत्व-काल में कन्नौज में मसजिद बनवायी थी। उस पर जो अभिलेख उत्कीर्ण है, उसके अनुसार उनके पिता का नाम जलाल था। उसका संयोजक फ़तह खाँ का पुत्र हरि खाँ था एवं उस अभिलेख के लेखक की दृष्टि में सैयद राजू की योग्यता से सारा संसार प्रकाशित हुआ था।[६२] 'मआसिर-उल्-उमरा' में उल्लेख है कि कुछ लोग मीर सैयद मुहम्मद को दानियाल का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते हैं और दानियाल को राजी हामिदशाह मानिकपुरी का।[६३] इसके ग्रंथकार ने किसी प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है, जिससे इसके सत्य की परीक्षा की जा सके एवं स्वयं उसे भी इस कथन की वास्तविकता में संदेह ज्ञात होता है। शिरेफ़ ने इस उल्लेख को प्रामाणिक मान लिया है। शेख़ मुहम्मद ग़ौस के गुरु का नाम था हाजी हामिद। मीर मियाँ

---

५८. जे० ए० एस० बी० (प्रोसिडिंग्स, जन—दिस०, १८७३, पृ० ९४–९५) में उद्धृत सोनपुर मसजिद का अभिलेख। ५९. तब०, अं० अ०, भाग २, पृ० ७०७। ६० तब० अ०; भाग २; पृ० ५१३। ६१. राजपूताना गजेटियर, भाग १, पृ० २७६। ६२. जे० ए० एस० बी०; प्रोसिडिंग्स १८७३; पृ० २०४। ६३. द्रष्टव्य—अं० अनु०; पृ० ११६।

मुहम्मद महदी के नाम के साथ भ्रम उत्पन्न होने के कारण हाजी हामिद मानिकपुरी ही राजी या राजू हामिदशाह बन गये हैं। 'मआसिर-उल्-उमरा' के हिन्दी अनुवादक श्री ब्रजरत्नदास ने क़ाज़ी हामिद शाह मानिकपुरी लिखा है।[६४]

'अखरावट' और 'पदमावत' की परम्पराओं में दानियाल तक समानता है। ख्वाजा खिज्र का दोनों में उल्लेख है, किन्तु उनके रूपों में भिन्नता है। 'पदमावत' में सैयद राजे तक की चर्चा आयी है और संभवतः जायसी के पश्चात् जोड़ी गयी है। चिश्तिया सम्प्रदाय के साथ संबंध जोड़ने के प्रयास से कुछ भ्रमों की सृष्टि होती रही है।

इस अपेक्षाकृत सविस्तर चर्चा से हमें कई निष्कर्षों पर पहुँचने में सहायता मिलती है।

(१) जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी में हुआ और वे शेख बुरहान के शिष्य थे। वे नियाज़ी अफ़ग़ान एवं महदवी मत के अनुयायी थे।

(२) जायसी ने शेरशाह के पक्ष से युद्ध किया और अपनी वीरता के कारण 'मलिक' की उपाधि प्राप्त की। शेरशाह ने ऐसा नियम बनाया था कि प्रत्येक सशक्त अफ़ग़ान को सैनिक का कार्य करना पड़ता था। आदेशोल्लंघन का दण्ड था प्राणवध। शेर खाँ (बाद में शेरशाह) जिस समय बाबर के पक्ष में युद्ध कर रहा था, उस समय जायसी उसके साथ थे। 'तुज़ुके बाबरी' में संकलित सूचनाओं के मूल स्रोत से उनका परिचय था।

(३) 'पदमावत' की प्रतीकात्मकता एवं ऐतिहासिकता के अन्तराल में तत्कालीन घटनाओं का समावेश है। 'चूड़ामणि' ब्राह्मण हीरामन है। रतनसेन केवल अलाउद्दीनकालीन नहीं हैं, सिसोदिया वंश के राणा साँगा के पुत्र रायसेन अर्थात् रत्नसेन के साथ इनका साम्य है। पदमावती राजा विक्रमादित्य की कन्या भी है। सूरजमल ही कुंभलनेर नरेश देवपाल हैं। डोली वाली कथा के भी ऐतिहासिक आधार उपलब्ध हैं।

(४) जायसी समकालीन घटनाओं के प्रत्यक्षदर्शी हैं। 'पदमावत' की रचना शेरशाह के राज्यारोहण की स्मृति के रक्षार्थ हुई। इसका प्रारंभ १०वीं मुहर्रम—हुमायूँ और शेर खाँ के कनौज-युद्ध की तिथि, जिसमें शेर खाँ ने विजय पायी और फलस्वरूप दिल्लीश्वर हुआ—के पश्चात् ही हुआ। 'पदमावत' की प्रतीकात्मकता का आयोजन शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् हुआ, जिस समय वे सांसारिकता का पूर्ण त्याग कर धार्मिकता का आवेश ग्रहण करते हैं। सलीम शाह की सभा में इनका वह सम्मान नहीं रहा होगा जो शेरशाह के काल में उपलब्ध था। सलीमशाह का राजकवि शेख मंगन है, जो मंझन बन गया है।

(५) जायस इनका जन्मस्थान नहीं। मेरी धारणा है कि इनका जन्म सासाराम में हुआ था और वे शेरशाह के बाल्य सहचर थे। इनका वास्तविक नाम मियाँ मुहम्मद था और पीछे चलकर शेख की उपाधि से विभूषित हुए। हाजी शेख के एक शिष्य का नाम था शेख मियाँ मुहम्मद।[६५] वह हुसैन शाह जौनपुरी का प्रिय-पात्र था; शेख हाजी की इस व्यक्ति पर पुत्रवत् ममता थी। हाजी शेख की मृत्यु ९७९ हि० में हुई। बदाऊनी (जो प्रारंभ में सासाराम का

---

६४. हिन्दी अनु०; भाग २, पृ० ६४। ६५. बदा० (अ० अ०); भाग ३, पृ० ३४

निवासी था) और शेख़ मियाँ मुहम्मद का साक्षात्कार बारी में सन् ९७४ हि० में हुआ था। शेख अलहदाद और शेख़ बुरहान दोनों का संबंध बारी और कालपी से रहा था। बदाऊनी ने शेख मुहम्मद की कवित्व-शक्ति, प्रतिभा और धार्मिक प्रवृत्ति का सविस्तार उल्लेख किया है। शेख़ हाजी के परिवार में इनके विवाह होने की संभावना है और 'तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ' में इसके संकेत देखे जा सकते हैं। शेख़ मुबारक के पाठान्तर रूप में शेख़ मुहम्मद भी मिला है, इस प्रकार शेख मुहम्मद और मलिक मुहम्मद जायसी में अभिन्नता मिलती है। जायसी की मृत्यु ९४९ हि० में नहीं हुई। सन् ९७४ हि० तक उनका जीवित रहना संभव है। जायसी ने दीर्घायु प्राप्त की थी और अत्यंत वृद्धावस्था में उनकी मृत्यु हुई।

(६) जायसी महदवी मत के अनुयायी थे, जिसका प्रवर्त्तन मीर मियाँ मुहम्मद जौनपुरी ने किया था। उनके गुरु का नाम था शेख़ बुरहान, जिनसे यौगिक क्रियाओं का सामान्य ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था। महदवी मत के उत्थान में राजनीतिक संकट की गन्ध मानी गयी थी। इसके प्रवर्त्तक में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य एवं सांस्कृतिक संगम की प्रेरणा एवं भावना नहीं थी। इस्लाम की परम्परागत मान्यताओं से च्युति का विरोध करने के लिए इस मत का प्रवर्त्तन हुआ था। जायसी में इस परम्परा के निर्वाह की आकांक्षा थी। सांस्कृतिक संगम के उदार पक्षपाती की अपेक्षा वे इस्लाम की गौरववृद्धि के आकांक्षी थे। इस्लाम के गौरव की ही उन्होंने गाथा गायी है।

(७) सैयद अशरफ़ जहाँगीर पीर अथवा कुल-पूज्य हैं और शेख़ बुरहान कालपीवाल दीक्षा-गुरु। हाजी शेख़ के पुत्र और सैयद अशरफ़ के पौत्र शेख़ मुबारक के माध्यम से इन्होंने शेख बुरहान का शिष्यत्व ग्रहण किया। इनकी गुरु-परम्परा शेख़ दानियाल तक ही प्रामाणिक है। ख्वाजा ख़िज्र वास्तविक से अधिक पौराणिक व्यक्ति हो गये हैं। सैयद राजू का उल्लेख बाद में जोड़ा गया है। इस अंश का आधार वही है, जिसने 'मआसिर-उल्-उमरा' के लेखक को भ्रम में डाल दिया।

(८) मनेर शरीफ़ वाली प्रति में अंकित तिथि (९११हि०) भ्रामक है; वह प्रति ९८१ हि० के पूर्व की नहीं हो सकती, अतः उसके आधार पर निर्णय देना युक्ति-संगत नहीं।

●

बच्चन सिंह

अभिनय, नाट्य और नृत्य

अभिनय नाटक का वह तत्त्व है जो इसे साहित्य की अन्य विधाओं से अलग कर देता है। आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य—अभिनय के ये चार भेद माने गये हैं और नाटक के प्रयोगात्मक पक्ष की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इन भेदों में समाहित नहीं हो जाती। संवाद, वेश-भूषा, रंग-सज्जा, गीत, नृत्य, वाद्य आदि सभी कुछ अभिनय के अंग हैं। 'अग्निपुराण' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः।
चतुर्धा सत्ववागङ्गाहरणाश्रयः॥

अर्थात् नाटक के वर्ण्य विषय को अभिनय के माध्यम से ही दर्शकों के समक्ष लाया जाता है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में इसकी व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की गयी है—

"अभित्युपसर्गः। णीञित्ययं धातुः प्रापणार्थः। अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूपं सिद्धम्। एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम्। अत्र श्लोके—

अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥[1]

अभि उपसर्ग है, णीञ् धातु। इसमें अच् प्रत्यय के लगने से अभिनय बना। अर्थात् नाट्य प्रयोग को सामाजिकों तक ले जाने को अभिनय कहते हैं।

मल्लिनाथ ने किरात की टीका में एक स्थान पर कहा है—'अभिनयो रसभावादि व्यञ्जक चेष्टाविशेषः।'[2] डा० मनमोहन घोष ने 'अभिनयदर्पण' की भूमिका में लिखा है कि 'अभिनय नाटक के सौन्दर्य तथा उसके अनेक रसात्मक पक्ष के उद्घाटन का साधन है; नाट्यग्रंथों को पढ़कर उनका पूर्ण रसास्वादन नहीं किया जा सकता। इन तथ्यों पर विचार करते हुए अभिनय को पात्रों की अनेकानेक मनोदशाओं और संवेगों का व्यंजनात्मक अनुकरण कहा जा सकता है।'[3] इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि 'अभिनय' का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है।

---

१. नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, भाग २, पृ० ८१६–७।

२. मल्लिनाथ, किरात, १०–४२। ३. The word Abhinaya may be said to be the means for disclosing to the spectator the beauty for manifold pleasurable aspects of play which cannot be adequately appreciated by simply reading its texts. In consideration of all these facts, Abhinaya may be termed the 'suggestive immitation of the varying moods and

अंग्रेज़ी के 'ऐक्ट' शब्द को कुछ लोग अभिनय का समानार्थी समझते हैं। प्रायः अभिनेताओं का नाट्य देखकर लोग कहते हैं कि अमुक की ऐक्टिंग काफ़ी सुन्दर थी। 'ऐक्ट' के संबंध में विचार प्रकट करते हुए सुसेन के० लैंगर का कहना है कि कोई मानवीय शारीरिक या मानसिक प्रतिक्रिया 'ऐक्ट' कही जाती है। यह दृश्य भी हो सकती है और अदृश्य भी। नाटक में इन्हीं प्रतिक्रियाओं का भ्रम-स्थापन 'ऐक्ट' कहा जाता है। कहना न होगा कि 'अभिनय' की अपेक्षा 'ऐक्ट' बहुत सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

नाट्य और अभिनय का अन्तर भी यहाँ संक्षेप में स्पष्ट कर लेना चाहिए। 'नाट्य' नट धातु से बना है जिसका अर्थ होता है नटन करना। संस्कृत नाटकों में प्रायः 'नाटयति' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस शब्द का प्रयोग जिन संदर्भों में मिलता है उनके विश्लेषण से इसका अर्थ स्पष्ट हो जायगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से ही कुछ उदाहरण लीजिए—'इति शर-संधानं नाटयति', 'इति वृक्षसेचनं रूपयति', 'इति भ्रमरबाधां रूपयति', 'शकुंतला श्रृङ्गारलज्जां रूपयति', 'परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा', 'सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः'—इन उदाहरणों में 'नाटयति' या 'रूपयति' शब्द का व्यवहार किया गया है, 'अभिनयति' का नहीं। और इनसे यह भी प्रकट होता है कि 'नाटयति' या 'रूपयति' शब्द से अवस्था-विशेष की अनुकृति का ही संकेत किया गया है। इन अवस्थाओं की अनुकृति आंगिक अभिनय पर मुख्य रूप से और सात्विक अभिनय पर गौण रूप से निर्भर करती है। इस तरह के अन्य संस्कृत नाटकों का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सामान्यतः उनमें अभिनयों की प्रधानता रही है।

नाट्यशास्त्रों में विशेष प्रकार के नाट्य के लिए अनेकानेक मुद्राओं का विधान है। नाट्यशास्त्रों में उल्लिखित निर्देश अभिनय कहे जायेंगे पर रंगमंच पर उनके प्रयोग को नाट्य संज्ञा दी जायगी। 'वृक्षसेचन' का नाट्य करने के लिए शिर को अवधूत मुद्रा में रखकर चेहरे को अधोमुख रखा जायगा। शरीर को थोड़ा झुकाते हुए कंधे के पास हाथों को नलिनी और पद्मकोश के ढंग पर रखना चाहिए। 'श्रृङ्गारलज्जा' के लिए परावृत्त शिर और लज्जापूर्ण आँखों से काम लेना होगा। 'विषाद' के लिए धूत शिर और विषण्ण आँखों का प्रयोग अपेक्षित है। इसी प्रकार और भी समझना चाहिए।

प्राचीन काल का रंगमंच आज के रंगमंच की तरह यथार्थवादी नहीं था। आज वृक्षसेचन क्रिया के लिए शकुंतला की भूमिका में काम करने वाली स्त्री झारी लेकर उक्त क्रिया के संपन्न करने का नाट्य करेगी; पर संस्कृत-रंगमंच पर इसका नाट्य करने के लिए उसे कुछ विशिष्ट भंगिमाओं और मुद्राओं का सहारा लेना पड़ता था। यद्यपि उन भंगिमाओं और मुद्राओं से बहुत कुछ यथार्थता का बोध हो जाता था, पर कुछ क्रियाओं में वैसा नहीं हो पाता था। फिर भी उनके नाट्य के लिए नाट्य-शास्त्रों में निर्दिष्ट रूढ़ियों का पालन करना पड़ता था। कभी-कभी ऐसा भी होता कि एक विशेष प्रकार के नाट्य के लिए नाट्य-रूढ़ियाँ प्रायः व्यर्थ सिद्ध होती थीं। ऐसी स्थिति में आचार्यों को अपनी कल्पना शक्ति से काम लेना पड़ता था।

---

emotional states of characters,—**मनमोहन घोष, अभिनय दर्पण, भूमिका, पृ० ९।**

नाट्यशास्त्रों के अध्ययन से यह पता लगता है कि आंगिक अभिनय को प्राचीन काल से ही विशेष महत्त्व मिलता रहा है। 'नाट्यशास्त्र' (भरत) में इसके संबंध में काफ़ी विस्तार से विचार किया गया है। नन्दिकेश्वर ने तो अलग से 'अभिनय-दर्पण' ही लिख डाला। इस ग्रंथ में यद्यपि उल्लेख तो चार प्रकार के अभिनयों का किया गया है फिर भी विवेचन-विश्लेषण आंगिक अभिनय का ही हुआ है। विद्वानों का विचार है कि नन्दिकेश्वर भरत की परंपरा में न पड़कर कृश्वाश्व और शिलालिन की परंपरा में पड़ते हैं, जो संभवतः आंगिक अभिनय पर विशेष ज़ोर देते थे।

पर क्या नृत्य आंगिक अभिनय से भिन्न है? नाट्य से तो नृत्य भिन्न है ही—अन्य-द्भावाश्रयं नृत्यम् (भावाश्रय नृत्य बिलकुल पृथक् वस्तु है)—धनंजय के इस सूत्र पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए धनिक ने स्पष्ट कहा है कि नाट्य या रूप रसाश्रित होता है तो नृत्य भावाश्रित। वह 'गात्रविक्षेपार्थत्वेन' आंगिक अभिनय ही है। नृत्य में पदार्थाभिनय है तो नाट्य में वाक्यार्थ रूप अभिनय। किन्तु आंगिक अभिनय और नृत्य को समानार्थी नहीं कहा जा सकता, फिर भी दोनों का अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। अभिनय नृत्य का अनिवार्य अंग है, शास्त्रानुमोदित अनेकानेक अंगोपांग विक्षेप ही तो नृत्य है। शारंगदेव ने अपने 'संगीत-रत्नाकर' (७।२८) में नृत्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि नृत्य में आंगिक अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती है। 'अभिनय-दर्पण' में नटन के तीन भेद माने गये हैं—नाट्य, नृत्त और नृत्य। इससे भी स्पष्ट है कि कुछ अर्थों में तीनों में समानता है पर कुछ अर्थों में ये भिन्न हैं। दशरूपककार ने इनकी विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

'अभिनय-दर्पण' में नृत्य-अभिनय का ही वर्णन किया गया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार यह नर्तकियों का ही कार्य है। पात्र-लक्षण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

> तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा॥
> प्रगल्भा सरसा कान्ता कुशला ग्रहमोक्षयोः।
> विशाललोचना गीतवाद्यतालानुवर्तिनी॥
> परार्घ्य भूषा सम्पन्ना प्रसन्नमुखपङ्कजा।
> एवंविधि गुणोपेता नर्तकी समुदीरिता॥—अभि० दर्पण, २३, २४, २५।

नृत्य, अभिनय और मुद्राओं के संबंध में 'अभिनय-दर्पण' में जो वर्गीकरण किया गया है वह किन्हीं अंशों में 'नाट्यशास्त्र' और 'अग्निपुराण' के वर्गीकरणों से मिलता-जुलता है।

'नाट्यशास्त्र' में शिर, हस्त, उर, पार्श्व, कटि और पाद छः अंग माने गये है तथा नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल, चिबुक उपांग। 'अभिनय-दर्पण' में अंग, उपांग के अतिरिक्त प्रत्यंग की भी एक कोटि है। अंग के अन्तर्गत जिन अवयवों का उल्लेख भरत ने किया है नन्दिकेश्वर ने भी उन्हीं के नाम गिनाये हैं। प्रत्यांगों में उसने स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर और जंघों की गणना की है। उसके अनुसार दृष्टि, भ्रूपुट, तारा, कपोल, नासिका, अधर, दशन, जिह्वा, चिबुक और वदन उपांगों में परिगणित होते हैं। 'अग्निपुराण' में भी अंग और प्रत्यंग के ही उल्लेख हैं।

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार शिर की १३ गतियाँ होती हैं—आकंपित, कंपित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अंचित, निहंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत, लोलित (८/१२-१९)। 'अग्निपुराण' में भी इन्हीं तेरह गतियों का उल्लेख है। 'अग्निपुराण' में अंचित के स्थान पर प्रचित, निहंचित के स्थान पर निकुंचित और लोलित के स्थान ललित छपा दिखायी देता है। पर शायद यह छापे या अनुवादक का भ्रम हो। नन्दिकेश्वर के अनुसार ये गतियाँ नौ हैं। इन नौ गतियों में पाँच तो वे ही हैं जो 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित हैं, दो आंशिक रूप में मिलती हैं। शेष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस तरह शेष गतियों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। समयानुसार इनकी संख्या में जो न्यूनता अथवा अधिकता दिखाई पड़ती है उसके कारणों का विश्लेषण अध्ययन का रोचक विषय हो सकता है।

अभिनय संबंधी इन निर्देशों के आधार पर नृत्य-नाट्य (डांस-ड्रामा) का प्रचार भी इस देश में खूब रहा है। 'कर्पूरमंजरी' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में भी इसका इंगित मिल जाता है। उसमें वस्तु को पहले गीत में तथा बाद में नृत्य-नाट्य (डांस-ड्रामा) में उतारने का उल्लेख है (४।२९७-९८)। बौद्ध और जैन ग्रंथों में भी इस तरह के निर्देशों की कमी नहीं है। जैन-साहित्य के 'राजप्रश्नीय' आगम ग्रंथ में एक प्रकरण ऐसा है जिसमें महावीर की जीवनचर्या को नृत्य-नाट्य (डांस-ड्रामा) में निबद्ध किया गया है। उसमें अनेक मांगलिक चिह्नों, कलात्मक अभिप्रायों (मो टिफ़) को विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं में उतारा गया है। जावा और बाली में आज भी 'महाभारत' तथा पुराणों की कथा-कहानियों को नृत्य-नाट्य (डांस-ड्रामा) में उतारते हैं। बहुत से विद्वानों का विचार है कि जापान का 'नो' नाट्य भारतीय नृत्य-नाट्य का ही विकास है।

सच पूछिए तो हमारे देश में नाट्य-सिद्धान्तों का जितना सांगोपांग और गहन विवेचन हुआ है उतना साहित्य के किसी अन्य अंगोपांग का नहीं। पर उनके आधार पर नयी व्याख्या प्रस्तुत करनी है, बहुत से पुराने शब्दों का (जो आज बहुत कुछ अस्पष्ट हो गये हैं) अर्थ ढूंढ़ना है। नाट्य, अभिनय और नृत्य का नाट्यशास्त्र में बहुत महत्व है, पर इनके संबंधों का सम्यक् विवेचन तथा इनके अन्तर्गत विवेचित तथा उल्लिखित मुद्राओं का ठीक-ठीक आकलन नहीं हो पाया है।

●

सत्यदेव चौधरी

कामशास्त्र और काव्यशास्त्र

संस्कृत के नाटयशास्त्रों अथवा काव्यशास्त्रों में निरूपित नायक-नायिका-भेद-प्रसंग मूलतः इन शास्त्रों का विषय प्रतीत नहीं होता। यदि इस प्रसंग की काव्य के अन्य अंगों—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, रीति और अलंकार के निरूपण के साथ तुलना की जाय, तो यह आपाततः लक्षित हो जाता है कि इन काव्यांगों की विषय-सामग्री को जितने सूक्ष्म, गम्भीर और तर्कपूर्ण खण्डन-मण्डनात्मक विमर्श के साथ परिपक्व और सुगठित शैली में प्रतिपादित किया गया है, उसका एक अंश भी नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को प्रस्तुत करने में व्यवहृत नहीं हुआ। विषय-वस्तु और शैली दोनों की दृष्टि से ये प्रकरण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पृथक् से दीखते हैं। इस धारणा की पुष्टि भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत-प्रणीत 'नाटयशास्त्र' के नायक-नायिका-भेद-प्रसंग के अन्तर्गत उन स्थलों से हो जाती है, जिनमें कामशास्त्र का आधार स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया गया है—

(क) तत्र राजोपभोगं तु व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।
उपचारविधिं सम्यक् **कामसूत्रसमुत्थितम्**॥—ना० शा० २२।१५१।

(ख) आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रयः।
एतासां चैव वक्ष्यामि **कामतन्त्रमनेकधा**॥—वही २२।२२१।

(ग) कुलाङ्गनानामेवायं प्रोक्तः **कामाश्रयो** विधिः।—वही २२।२२४।

(घ) भावाभावौ विदित्वा च ततस्तैस्तैरुपक्रमैः।
पुमानुपचरेन्नारीं **कामतन्त्रं** समीक्ष्य तु॥—वही २३।५८।

इस आधार-स्वीकृति के अतिरिक्त इसी प्रकरण में ही 'नाटयशास्त्र' के प्रणेता ने कामशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ प्रेमसूचक इंगित, राजाओं तथा सामान्य पुरुषों द्वारा नारियों को वश में करने के उपाय, वासक (सम्भोग) के कारण, सम्भोग का समय, सम्भोग से पूर्व के आयोजन, सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार, नायक का स्वागत, अपराधी नायक का व्यंग्यमिश्रित तिरस्कारपूर्ण स्वागत, मान-प्रकार, कुपित नारियों को प्रसन्न करने के उपाय आदि।[1] 'नाटयशास्त्र' का प्रथम लक्ष्य केवल

---

१. ना० शा० २४।१५२, १५८, १९५–१९९; २५।६५–७२, २२२–२२३, ३०१; २४।२००, २२९, २३१, २२८, २४९, २५०, २६५, २८१, ३३–५५।

अभिनेय क्रियाकलापों का प्रतिपादन करना है, अतः रंगमंच के लिए त्याज्य कामशास्त्रीय दृश्यों के विषय में भी आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गये हैं—

यदा स्वपेदर्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिङ्गनं चैव तथा गुह्यं च यद् भवेत॥
दन्तं नखक्षतं छेद्यं नीवी संस्रनमेव च।
स्तनाधरविमर्दं च **रंगमध्ये न कारयेत्**॥
—ना० शा० २४।२८६, २८७।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रसंग के निर्माण के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का पुष्टाधार विद्यमान होगा।

इसी प्रकार रुद्रट भी, जिनका नायक-नायिका-भेद-प्रसंग सर्वप्रथम व्यवस्थित और शताब्दियों पर्यन्त अनुकृत रहा है, अपने ग्रन्थ के इसी प्रसंग में कामशास्त्रीय धारणाओं को उल्लिखित करने के लोभ को संवरण नहीं कर सके। उनके शब्दों में—

(क) सुकुमाराः पुरुषाणामाराध्या योषितः सदा तल्पे।
तदनिच्छया प्रवृत्तः श्रृंगारं नाशयेन्मूर्खः॥
वाग्मी समप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम्।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम्॥
—का० आ० १४।१५, १६।

(ख) सामप्रदानभेदौ प्रणतिरुपेक्षा प्रसंगविभ्रंशः।
अत्रैते षडुपाया दण्डस्त्विह हन्ति श्रृंगारम्॥—वही १४।२७।

कामशास्त्र और काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद निरूपण

केवल इतना ही नहीं, एक ओर काव्यशास्त्रों तथा नाट्यशास्त्रों और दूसरी ओर कामशास्त्रों की नायक-नायिका सम्बन्धी सामग्री की पारस्परिक तुलना की जाय तो इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि काव्यशास्त्री इस प्रसंग के लिए कामशास्त्र का अधिकाधिक ऋणी है। यह अलग प्रश्न है कि पारिभाषिक शब्दावली में कहीं-कहीं अन्तर हो, पर दोनों शास्त्रों के विषय-सामग्री विषयक दृष्टिकोण और स्वरूपाख्यान में विशेष अन्तर नहीं है। उदाहरणार्थ—काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका के गुण लगभग वही हैं, जो कामसूत्र में उल्लिखित हैं,[२] तथा नाट्यशास्त्र का वैशिक (रसिक) कामसूत्र के ही रसिक का संक्षिप्त संस्करण-मात्र है।[३] वात्स्यायन-सम्मत नायक के तीन प्रकार पति, प्रच्छन्न और वैशिक काव्यशास्त्रीय नायक-भेदों—पति, उपपति और वैशिक का स्रोत उपस्थित करते हैं। संस्कृताचार्यों में अकबरशाह और हिन्दी आचार्यों में केशवदास ने प्रच्छन्न और प्रकाश नायकों का उल्लेख किया है। उनका मूल रूप कामसूत्र में वर्णित अन्तःपुरगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भोगों के प्रयोक्ता नायकों में मिल जाता

२. का० सू० ६।१।१२, १३, १४।
३. ना० शा० २५।१–८; का० सू० १।४ (सम्पूर्ण)।

है।[४] इसी प्रकार काव्यशास्त्रीय अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त नायकों का स्रोत भी कामशास्त्र में उल्लिखित पुरुष-व्यवहार में उपलब्ध हो जाता है, तथा उत्तम, मध्यम और अधम नायकों का भी।[५]

काव्यशास्त्रीय नायिका भेदों में स्वकीया नायिका कामशास्त्रीय 'कन्या' नायिका का पर्याय सी है।[६] परकीया और वेश्या नायिकाएँ भी 'कामशास्त्र' में उल्लिखित हैं।[७] भोज-सम्मत पुनर्भू का स्रोत भी 'कामसूत्र' में मिल जाता है।[८] इसी प्रकार स्वकीया के नवोढ़ा और विस्रब्धनवोढ़ा तथा ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक उपभेदों को भी 'कामसूत्र' के स्वतन्त्र अध्यायों अथवा प्रकरणों में स्थान मिला है।[९] परकीया के उद्बुद्धा और उद्बोधिता नायिकाओं और इन्हीं के अन्तर्गत सुखसाध्या और असाध्या नायिकाओं का मूल स्रोत कामसूत्र के अयत्नसाध्य योषित्, परिचयसम्पादन-(बाह्य तथा आभ्यन्तर-) विधि और भाव-परीक्षा नामक प्रकरणों में सरलतापूर्वक मिल जाता है।[१०]

उधर रुद्रट और इधर केशव ने अगम्या नारियों की जो सूची प्रस्तुत की है, उसका स्रोत भी 'कामसूत्र' में उपलब्ध है। काव्यशास्त्रीय नायक-सहायों में से पीठमर्द, विट और विदूषक का स्वरूप-निरूपण कामसूत्र के 'नागरिक वृत्त' नामक अध्याय में हुआ है।[११] 'कामसूत्र' में निस्सृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयंदूती, मूढ़दूती, भार्यादूती, मूकदूती और वातदूती—इन आठ दूतियों का उल्लेख हुआ है। इधर काव्यशास्त्रीय तीन दूतियों में से 'निस्सृष्टार्था' तथा 'परिमितार्था' तो वही हैं और 'सन्देशहारिका' में वात्स्यायन-सम्मत शेष सभी दूतियों का समावेश हो जाता है।[१२]

कामशास्त्रीय ग्रन्थों—'कामसूत्र', 'रतिरहस्य', 'अनंगरंग' और 'पंचसायक' में कामशास्त्र के निजी नायक-नायिका-भेदों का उल्लेख भी हुआ है। प्रमाण, भाव और काल के आधार पर नायक-नायिका के प्रमुख तीन-तीन भेद माने गये हैं,[१३] पर ये भेद संभवतः विशुद्ध रूप में रतिक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं हुए। नारी के शारीरिक गठन, अंगविन्यास तथा गति, रुचिभिन्नता, प्रकृतिभिन्नता और यौन-वासना को लक्ष्य में रखकर इसे चार भेदों में विभक्त किया गया है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी।[१४] संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में श्रीकृष्ण कवि और अकबरशाह को छोड़कर किसी भी अन्य आचार्य ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। हिन्दी आचार्यों में भी केशव देव, सोमनाथ, दास, तोष आदि इने-गिने आचार्यों ने इन भेदों की चर्चामात्र की है।

---

४. शृं० मं०; पृष्ठ ५०; र० प्रि० २।८, ९, १२, १३, १५, १७। का० सू० १।५।२८, २९, ३१; ५।१।५०। ५. वही; ४।५।८५; ७।२, ५८, ५९; १।५।३०। ६. वही; १।५।१, ४। ७. वही; १।५।५, ४। ८. अ० पु० ३३९।४१; स० क० भ० ५।११२; का० सू० १।५।४। ९. वही; ३।२ सम्पूर्ण; ४।२ (पृ० २०९–२१३)। १०. वही; ५।१।५१, ५२; ५।२।४–१७; ५।३।१–३०। ११. वही; १।४।४४, ४५। १२. वही; ४।४।४४; सा० द० ३।४७। १३. का० सू० २।१।१–४, ९, १३–१५, १७, १८; रतिरहस्य; पृष्ठ ३६–३८; अनंगरंग १।१–१५। १४. रतिरहस्यजात्यधिकार १०–१९।

रामकुमार वर्मा

हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना

साहित्य मानव-जीवन की संवेद-जन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सम्पन्न माध्यम है। कभी-कभी उसकी अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि अश्रुधारा भी उसकी अभिव्यक्ति में सफल नहीं हो सकती। यह साहित्यकार की कुशलता पर ही निर्भर है कि वह किस प्रकार अपनी अनुभूतियों को भाषा के परिधान में सजा दे। किन्तु प्रायः भाषा संवेगजन्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। जब लेखक अपनी भावना और भाषा को समानान्तर नहीं पाता है, तो वह ऐसी कलात्मक युक्ति की खोज करता है, जो उसकी अनुभूति को सफलतापूर्वक व्यक्त कर चिरस्थायी बना सके। प्रतीकों की भाषा एक ऐसी ही युक्ति है, जिसे कुशल लेखक अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को व्यापक एवं पूर्ण बनाने के लिए प्रयुक्त करता है।

प्रतीक-योजना का इतिहास बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में कवि जब प्रकृति की महानता और विकरालता से आक्रांत हुआ, तब उसने ऐसे मंत्र उच्चरित किये, जो पहेली से थे। उन मंत्रों की कूट भाषा में ही प्रतीकों का आदि स्वरूप सुरक्षित है। आज भी वे मंत्र उलझे हुए लगते हैं और विज्ञ टीकाकार उनका अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। यह मंत्र तत्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों का भी निरूपण करते हैं। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, सूर्य और चन्द्र, मेघ और झंझावात अपने अन्तराल में मानव के भविष्य का संदेश छिपाये हुए हैं। प्रकृति के अद्भुत रहस्य साधारण भाषा में व्यक्त नहीं किये जा सकते। 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल में एक कूटश्लोक है—'अन्धकारमय रजनी ने सुन्दर शिशु को जन्म दिया, जो आकाश में विचरण कर रहा है।' स्पष्ट है कि यहाँ रवि के उदय होने का संकेत है।

उपनिषद् में प्रतीकों का उपयोग दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। 'वृहदारण्यक' उपनिषद् में अश्वत्थ वृक्ष के प्रतीक का प्रयोग हुआ है, जो चिरन्तन है, जिसकी शाखाएँ अधोमुखी हैं और मूल ऊर्ध्वोन्मुखी। इस प्रतीक का अभिप्राय ब्रह्म से है, जो इस सृष्टि में विभिन्न रूपों में विद्यमान है।

महाकाव्य-युग (Epic Age) में 'महाभारत' की प्रतीक-योजना सर्वश्रेष्ठ है। 'महाभारत' में प्रतीकों की संख्या ८८०० बतायी जाती है। ये प्रतीक अलंकारों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन प्रतीकों का सौन्दर्य उपमाओं और रूपकों के माध्यम से निखर उठा है। यह परम्परा 'श्रीमद्भागवत' में भी अक्षुण्ण रही है, जिसमें अनेकानेक दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किये गये हैं। अपभ्रंश तथा हिन्दी की प्रारम्भिक बोलियों में प्रतीकों की भाषा को 'संधा-

भाषा' की संज्ञा से अभिहित किया गया। सिद्धों ने, जिनकी संख्या ८४ है, वज्रयान सम्प्रदाय की विचित्र साधना-पद्धति की अभिव्यक्ति में अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया है।

भुसुकिपा ने जीवन को एक अँधेरी रात माना है और मृत्यु को एक चूहा, जो निरन्तर हमारे जीवन को नष्ट करता रहता है। धीरे-धीरे इन प्रतीकों ने उलटबाँसियों का रूप ले लिया, जिनमें परस्पर विरोधी लगने वाले प्रतीकों द्वारा गंभीर और दार्शनिक भाव-भूमि को स्पष्ट किया गया। वैसे देखने में यह उलटबाँसियाँ निरर्थक सी लगती हैं, किन्तु व्याख्या करने पर इनका अद्‌भुत अर्थ-सौंदर्य साकार हो उठता है। कुक्कुरिपा ने लिखा है—'बलद बिआअल गविया बाँझ।' अर्थात् बैल ने बछड़ा जना और गाय बन्ध्या रही। इसका अर्थ है कि बैलरूपी संदर्भ से ज्ञान का प्रसार होता है, किन्तु मायारूपी गौ असत् और निरर्थक है। नाथ-योगियों और संत कवियों ने इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया। हिन्दी के सगुणोपासक कवियों ने भी प्रतीकों की यह भाषा प्रयुक्त की है।

रीति-युग में प्रतीक-योजना ने दो रूप ग्रहण किये : एक तो 'कवि-परिपाटी' का और दूसरी 'रूपक-योजना' का। इन दोनों रूपों में कलात्मकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। कवि-परिपाटी से उन मान्यताओं का बोध होता है, जिन्हें परम्परा से कवि-गण सत्य मानते आये हैं। कवियों ने ऐसे प्रतीकों का प्रयोग भावानुभूति को अधिक स्पष्ट करने के लिए किया है, जो अपनी विशेषता के कारण किसी भावना के मूर्त-स्वरूप की भाँति स्वीकृत हो गये हैं। चातक प्रेम की अनन्यता का, हंस नीर-क्षीर विवेक का, जल-रहित मीन प्रेम की दृढ़ता का प्रतीक बनकर उन भावनाओं के प्रतिनिधि से बन गये हैं। अपने गुणों के कारण प्रकृति की अनेक वस्तुएँ सौन्दर्य का उपमान बनकर कवियों की लेखनी का आभूषण बनीं—मीन, मृग और कमल नयनों के उपमान बने, भ्रमर और व्याल काले केशों की शोभा के लिए प्रयुक्त हुए, केहरि के कटि की समानता प्रेयसि के क्षीण कटि से की गयी और गंभीर चाल के कारण प्रेयसि को गजगामिनी कहा गया। इन उपमानों का प्रयोग प्राचीन समय से आज तक के कवियों ने अनेक बार किया है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को स्थायी रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी है।

आधुनिक काल में प्रतीक-योजना ने छायावाद और रहस्यवाद की दार्शनिक भावधारा की अभिव्यक्ति में सहायता दी है। छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों ने फूलों की कान्ति में असीम और चिरन्तन शक्ति की मुस्कान का व्यक्त रूप देखा और लहरों के आवर्तन-प्रत्यावर्तन में प्रकृति के फैले हुए हाथों के दर्शन किये, जो शाश्वत सत्य के दोनों कूलों का स्पर्श करते हैं। प्रयोग-वाद और अभिव्यंजनावाद में झोपड़ी निर्जन का प्रतीक बनी और महल पूंजीपतियों के के प्रतीक हुए। परम्परागत शास्त्रीय प्रतीकों का स्थान नवीन प्रतीकों ने ले लिया, जो अपने व्यंजना-क्षेत्र में अधिक व्यापक बने। कभी-कभी उनकी व्यंजना केवल भावात्मक होती है। अकेले रहना घृणा का सूचक समझा जाता है और मोटा होना तुष्टि का। इस प्रकार आज हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना मूर्त से अमूर्त की ओर उन्मुख हो रही है।

प्रतीक-योजना के प्रमुख तत्वों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जावेगा कि प्रतीकों का उपयोग किन-किन अवस्थाओं में किया जाता है। हमें यह भी ज्ञात हो जावेगा कि प्रतीक-योजना का

विकास किस प्रकार हुआ। यह देखा जा चुका है कि प्रतीक-योजना का उद्भव अनुभूति की सबल और अधिक व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ। विस्मय की भावना और आनन्द की कामना का योग प्रतीकों के प्रयोग में अन्तर्निहित है। प्रतीकात्मक शैली की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं, यह शैली भी रस और अलंकार को सहायता से आनन्द और चमत्कार की सृष्टि करती है। प्रतीकात्मक शैली को निम्नलिखित छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, इन्हीं अवसरों पर प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया जाता है—

१—सौन्दर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए,

२—किसी भाव को छिपाकर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए,

३—दार्शनिक भावधारा की अभिव्यक्ति के निमित्त,

४—रहस्यात्मक अनुभूति की परस्पर विरोधी (उलटबाँसियों के रूप में) अभिव्यक्ति के अवसर पर,

५—कवि-सत्य को आदर्श रूप देने के लिए, तथा

६—मनोवैज्ञानिक भावना के क्षेत्र-विस्तार के लिए।

संक्षेप में इन विभिन्न वर्गों की व्याख्या की जा सकती है। सौन्दर्यात्मक अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसे दो शब्दों का आश्रय लेती है जो उपमेय या वस्तु से पूर्ण समानता रखते हों। इस प्रकार एक शब्द-चित्र का निर्माण होता है। यह शब्द-चित्र कुछ शब्दों और अलंकारों की सहायता से ऐसे भाव की व्यंजना कर सकता है, जो ऊपर से दिखाई नहीं देता, किन्तु व्याख्या करने पर सहज चमत्कार और आनन्द की सृष्टि करता है। जब दर्शन साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, तो किसी दूसरे प्रकार के शब्द-भण्डार की आवश्यकता होती है। इसके लिए अन्य प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया जाता है, जो प्रकृति के सजीव और जड़ तत्वों से किसी दार्शनिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के हेतु लिये जाते हैं। व्यक्तिगत दार्शनिक अनुभूति से जिस अद्भुत आनन्द की सृष्टि होती है, उसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी जाती है। यह रहस्यात्मक अनुभूति इन्द्रिय-जन्य मात्र नहीं होती, वह तो सहज अनुभूति है, जिसमें कार्य-कारण-सम्बन्ध का प्रश्न नहीं रहता। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में जिन रूपकों का प्रयोग किया जाता है वे कार्य-कारण-सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण परस्पर विरोधी हो जाते हैं, इसीलिए रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति-शैली 'उलटबाँसी' कहलाती है। योग की पंचम अवस्था 'प्रत्याहार' में योगी अथवा रहस्यवादी कवि इन्द्रियों के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त हो जाता है और वह अपने शरीर की पार्थिव सीमा से दूर होकर अपनी इन्द्रियों की गति उलटी कर देता है, वे बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उसकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सामान्य अनुभूतियों की विरोधी जान पड़ती है, इसलिए उसे उलटबाँसी कहते हैं।

जब प्रतीकों का प्रयोग आदर्श की सिद्धि के लिए होता है तो उन सब विषयों का वर्गीकरण किया जाता है जो किसी गुण के लिए प्रयुक्त हो सकें। वस्तु और गुण इतने अधिक समान होते हैं कि दोनों एक दूसरे के लिए प्रयुक्त हो जाते हैं। इससे साहित्यिक अभिव्यक्ति में सौंदर्य और संक्षिप्तीकरण दोनों की एक साथ सृष्टि होती है।

वर्तमान युग में मनोविज्ञान भी विज्ञान की एक शाखा का रूप ग्रहण करता है, जब काव्यात्मक शैली के द्वारा बाह्य जगत् का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। चित्रित वस्तुएँ अपनी पार्थिवता त्याग कर आत्मा के रूप में ही हमारे सम्मुख आती हैं। इस भाँति प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मनोभावों की गहराई को बाह्य तत्वों के मापदण्ड से मापती है।

प्रतीकात्मक शैली को साहित्यिक अभिव्यक्ति के सबल माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह शैली और अधिक परिपुष्ट होकर सौन्दर्यात्मक अनुभूति को साहित्यिक सौंदर्य देती रहेगी।

●

मनोहरलाल गौड़

शेख़ आलम

शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास में दो आलम कवि दिये हुए हैं। एक भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं का कर्ता जिसका समय उन्हीं के अनुसार संवत् १६३९-४० वि० है। इसका प्रमाण है कवि के द्वारा 'माधवानल कामकंदला' में दिया गया रचनाकाल हिजरी सन् ९९१। उसने इस रचना के प्रारम्भ में सूफ़ी कवियों की परम्परा से अपने समकालीन शासक अकबर की प्रशंसा की है, साथ ही टोडरमल का भी स्मरण किया है—

जगपति राज कोटि जुग कीजे, साह जलाल छत्रपति जीजे।
दिल्ली पति अकबर सुल्ताना, सप्त दीप मंह जाकी आना।।
आगे रहे महामति मंत्री, नृपराजा टोडरमल खत्री।
सन नव से इकानवे आहि, करौं कथा अब बोलौं ताहि।।

इससे स्पष्ट रूप से आलम का काव्यकाल ईसा की सोलहवीं शताब्दी का अंतिम पाद निश्चित होता है। इसका जीवनचरित्र अज्ञात है।

दूसरा आलम रीतिकाल के फुटकल कवियों में माना गया है। इसका समय बहादुरशाह के समकालीन सं० १६८३ के आसपास स्थिर हुआ है। बहादुरशाह का शासनकाल सन् १७०७-१२ है। आलम को इनका समसामयिक मानने का आधार शिवसिंह सरोज में दिया हुआ एक सवैया है जिसमें बहादुरशाह (मुअज्ज़म) की यह कह कर प्रशंसा की गयी है कि वह आलम कवि का पालन करते हैं—

जानत औलि किताबन कौं जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे।
पालत हैं इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे।।
मौजमशाह तुम्हें करता करिबे कों दिलीपति हैं वर दीन्हें।
काबिल हैं ते रहैं कितहूँ कहूँ काबिल होत हैं काबिल कीन्हे।।

पद्य की दूसरी पक्ति में स्पष्ट कहा गया है कि, हे 'मुअज्ज़मशाह, तुम इधर आलम कवि को आश्रय देकर उसकी पालना करते हो और दूसरी ओर रहीम का नाम-स्मरण करते हो'। इसमें 'आलम' और 'रहीम' श्लेष द्वारा संसार और आलम कवि एवं परमेश्वर और रहीम कवि के दुहरे अर्थ देते हैं। इससे भी आलम का मुअज्ज़मशाह का समकालीन होना निर्बाध सिद्ध है।

पहले इस सवैया के प्रमाण पर सत्रहवीं शताब्दी ईसवी के अंतिम पाद में एक ही आलम माना जाता था। 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में एक ही आलम स्वीकार किया गया है। पर उत्तरकाल में 'माधवानलकामकंदला' के प्रकाश में आने पर

अकबरकालीन एक और पृथक् आलम माना गया। शुक्ल जी के एतद्विषयक इतिहास का यह इतिहास है। रीतिकाल के आलम के विषय में दो किंवदन्तियाँ भी थीं। एक थी उनके शेख नाम की रंगरेजिन के साथ प्रेम-विवाह की और दूसरी थी मुअज्जम के साथ हास-परिहास की। इन्हें भी सहायक प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार हिन्दी संसार में दो आलम माने जाने की परम्परा बन गयी। पर बाद में सन् १९५० और ५२ में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आलम के विषय में दो लेख प्रकाशित किये और उनमें तर्क देकर यह प्रमाणित किया कि आलम एक ही कवि है। विद्वानों ने इस स्थापना को स्वीकार कर लिया। परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'नव निबंध' के आलम विषयक लेख में यही बात मानी है।

मेरा निवेदन यह है कि आलम की विभिन्न रचनाओं के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता। उनसे तो दो ही आलम सिद्ध होते हैं। अपनी बात कहने से पहले मैं मिश्र जी की उक्तियों को प्रस्तुत करूँ। ये चार भागों में बाँटी जा सकती हैं—(१) 'जानत औलि किताबन कौं' आदि सवैया आलमकृत भूल से समझ लिया गया है। यह मुअज्जम के आश्रित कवि जैतसिंह महापात्र का है। उन्हीं के 'आजमप्रकाश' में यह मिला है। (२) अनेक संग्रहात्मक हस्तलेखों में प्रबन्धकार और मुक्तककार आलम के पद्य साथ-साथ संगृहीत मिलते हैं। (३) आलम के पद्यों का संग्रह संवत् १७१२ से होने लगा था। यह हस्तलेखों के लिपिकाल से प्रमाणित होता है। कवि का काव्यकाल इससे पूर्व का अवश्य होना चाहिए। (४) मुक्तककार आलम के एक पद्य में कामकंदला का नाम आया है। इससे संकेत मिलता है कि कवि कामकंदला की कथा से परिचित है। इससे यह अनुमान करना सम्भव हो जाता है कि मुक्तककार आलम ही प्रबंधकार है। ये युक्तियाँ पर्याप्त बलवती हैं। पर प्रबंधकार आलम की भाषा-शैली मुक्तककार की भाषा-शैली से इतनी भिन्न है कि उन्हें एक मानना अत्यन्त असंगत लगता है। तुलसीदास जी के निदर्शन पर यह तो कह सकते हैं कि मुक्तक और प्रबंधों के लिए क्रमशः व्रजभाषा और अवधी के प्रयोग की परम्परा थी, पर भाषा-भेद हो जाने पर भी एक कवि की अभिव्यंजना-शैली एक ही रहती है। अवधी और व्रजभाषा दोनों में गोस्वामी जी के भाव, अलंकार और अभिव्यंजना की प्रणाली एक सी है। आलम की रचनाओं में समानता कम और असमानताएँ बहुत हैं।

'सुदामा चरित्र' की भाषा तो कथमपि सोलहवीं शताब्दी की नहीं हो सकती। वह बहुत अर्वाचीन है। मुक्तककार आलम अलंकृत एवं कल्पनाप्रवण शैली के भावविभोर पर चमत्कार-प्रेमी कवि हैं। प्रबंधकार आलम इतिवृत्तात्मक ढंग से सरल कथाकार हैं। एक सरल सत्यान्वेषी है तो दूसरा सजावट का शौकीन। एक की प्रेमानुभूति गंभीर है तो वेगवती नहीं। दूसरे की अनुभूति सान्द्र, वेगवती और कुतूहलयुक्त है। इसलिए यही तथ्य प्रामाणिक लगता है कि आलम दो हैं—एक ईसा की सोलहवीं शताब्दी के अंत में था और दूसरा सत्रहवीं शताब्दी के अंत में। 'सुदामाचरित्र' दूसरे आलम की प्रारम्भिक कृति लगती है।

मिश्र जी की युक्तियों को भी इस बदली दृष्टि से परखा जा सकता है। 'जानत औलि' आदि सवैया के जैतसिंह कृत माने जाने पर प्रस्तुत मान्यता में कोई अंतर नहीं पड़ता। आलम का

मुअज्ज़म की कृपा का पात्र होने का तथ्य तो हर दशा में प्रमाणित हो जाता है। पद्य में 'आलम' अन्य पुरुष के रूप में गृहीत है। यह आलम द्वारा भी तथा अन्य किसी के द्वारा भी हो सकता है। पद्यों का संग्रह रसिकता के आधार पर हुआ करता है। भिन्नकालीन दो आलमों के पद्यों का एक साथ संगृहीत होना संभव है। प्रसंगवश या प्रसिद्धि के कारण जीवन-काल से ही आलम की रचनाओं का संग्रह प्रारम्भ हो गया होगा, अत: संवत् १७१२ वि० में उनके पद्यों का दूसरे के पद्यों के साथ संग्रह कोई आपत्ति की बात नहीं। वास्तव में आलम मुअज्ज़म के समकालीन होकर भी समवयस्क नहीं थे; उनसे आयु में बड़े होंगे। दूसरे सवैया की रचना के समय 'मुअज्ज़म' राज्याधिरूढ़ नहीं लगते। 'मौजमशाह तुम्हें करता करिबे कों दिलीपति हैं बर दीन्हें' से यही प्रतीत होता है। औरंगज़ेब ने उन्हें 'दिल्लीपति करिबे को' वरदान दिया था, राज्याधिकार नहीं। 'माधवानल कामकंदला' की कथा इतनी प्रचलित थी कि उसका परिचय आलम जैसे प्रेम-शृंगार के कवि को होना संभव है। इसलिए उपर्युक्त तर्क दोनों मान्यताओं में समाहित हो सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण और विशेष विचारणीय बात 'सुदामाचरित्र' की रेख़ता भाषा की है। ऐसी भाषा सत्रहवीं शताब्दी में ही साहित्य में प्रयुक्त हुई थी, अकबर के काल में नहीं। इधर रेख़ता का प्रयोग 'आलमकेलि' के कुछ पद्यों में भी मिलता है। 'सुदामाचरित्र' में 'आलम' नाम दो बार प्रयुक्त हुआ है और दोनों जगह संसार के श्लिष्टार्थ के साथ है जैसा कि 'जानत औलि' वाले सवैया में है। फलत: यही अनुमान निर्दोष लगता है कि आलम दो हैं और 'आलम-केलि' तथा 'सुदामाचरित्र' रीतिकालीन आलम की रचनाएँ हैं, भक्तिकालीन आलम की नहीं।

माधवानल कामकंदला—भक्तिकालीन आलम की दो रचनाएं प्राप्त हैं—'माधवानल कामकंदला, और 'स्याम सनेही'। पहली में उत्तरभारत की प्रसिद्ध माधवानल तथा कामकंदला की प्रेम-कथा है जो आलम के अतिरिक्त अनेक कवियों द्वारा हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं के काव्यों का विषय बनी है। इसकी एक बड़ी शुद्ध हस्तलिखित प्रति नागरी-प्रचारिणी-सभा के संग्रहालय में है। ऐसा ही शुद्ध एक दूसरा हस्तलेख लखनऊ के डॉ० भवानी-शंकर याजनीक के पास है। अंतर इतना है कि लखनऊ वाली प्रति का पाठ अपेक्षाकृत बड़ा है। इसमें माधवानल के पिता का पूरा विवरण, माधवानल-कामकंदला के पूर्व जन्म की कथा आदि के अंश बढ़े हुए हैं। प्रत्येक दोहे के साथ उसीके अर्थ का एक सोरठा भी साथ में रहता है। उसकी अनावश्यकता स्पष्ट सिद्ध करती है कि वह बाद में बढ़ाया गया है।

लेकिन प्राचीन रचनाओं में छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की कथाओं की परम्परा मिलती है। गणपति ने 'माधवानल कामकंदला प्रबंध' में बड़ा ही रूप अपनाया है। इसी रूप को बोधा ने 'विरहवारीश' में प्रयुक्त किया है। छोटे रूप को लेकर लिखे गये ग्रंथ हैं—माधव शर्मा का ब्रजभाषा में लिखा हुआ 'माधवानलकामकंदलारसविलास' (संवत् १६०० वि०), कुशललाभ की राजस्थानी में लिखी 'माधवानलकामकंदलाचउपई' (संवत् १६१६ वि०), दामोदर की 'माधवानल कथा' एवं आनन्दधर का अनुमानत: १० वीं शताब्दी का संस्कृत 'माधवानल नाटक'।

अधिक संख्या में कथा का छोटा रूप ही अपनाया गया है। आलम की रचना में बढ़ा हुआ अंश बाद का परिवर्तन लगता है।

यह रचना है तो सूफ़ियों के अनुकरण पर मसनवी शैली में दोहे-चौपाइयों में लिखी हुई, कथा का विभाजन भी खण्डों में हुआ है, पर सूफ़ियों का सा साम्प्रदायिक रहस्य इसमें नहीं निहित हुआ है। सीधे सरल ढंग से प्रेमकथा का आख्यान कवि ने दिया है। इस शैली की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। इससे अनुमान होता है कि पहले लोक प्रसिद्ध प्रेमकथाओं का सूफ़ी मार्ग तथा सरल इतिवृत्तमार्ग दोनों प्रकार से साहित्य में प्रयोग होता था।

स्यामसनेही—'स्यामसनेही' की रचना भी 'माधवानलकामकंदला' की भाँति मसनवी शैली में दोहे चौपाइयों में हुई है। इसकी एक शुद्ध हस्तलिखित प्रति लखनऊ के डॉ० भवानीशंकर याजनीक के पास है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की प्रसिद्ध कथा इसका विषय है। 'स्याम-सनेही' शब्द का प्रयोग रुक्मिणी के लिए हुआ है—

हरित पीत भई स्यामसनेही, तामँह रही मीन हुइ देही।

कथा के स्रोत की चर्चा करते हुए कवि ने स्वयं प्रारम्भ में बताया है कि यह 'भागवत' के दशम स्कंध में उसने सुनी थी। सुनकर चित्त में इस प्रकार शान्ति हुई जैसे हवा चलने पर तालाब की काई फट जाती है। पर व्यास की वाणी ठीक-ठीक समझ में नहीं आयी, इसलिए यह कथा दोहे-चौपाई में लिखी। इन सरस दोहे-चौपाइयों से लोहे का हृदय भी पिघल जाता है।

'भागवत' में यह कथा दशम स्कंध उत्तरार्ध के ५२-५४ अध्यायों में आयी है। आलम ने उसमें थोड़ा अन्तर भी कर लिया है। 'भागवत'कार ने कर्ण परम्परा से श्रीकृष्ण और रुक्मिणी दोनों के हृदयों में प्रेमांकुर उत्पन्न कराया है। आलम ने सखी के द्वारा रुक्मिणी के हृदय में ही प्रेमभाव दिखाया है। श्रीकृष्ण के मन में रुक्मिणी का पत्र पढ़कर स्नेह जगा। 'स्यामसनेही' में प्रजाजनों की प्रार्थना पर माता के द्वारा रुक्मिणी के लिए राजमंदिर में गौरी-मंदिर बनवाने की बात है। 'भागवत' में यह नहीं है। 'भागवत' का रुक्मिणी-संदेश व्यवहारिक है। उसमें गौरी-पूजन के समय मिलने का संकेत है। आलम का प्रेम-संदेश भावात्मक है।

गहसन लाओ तिया जन को संताप जानि, संकट हरन जानुकी ते जानि पाये हो।
आलम सरूप स्याम करुणा के सिंधु स्वामी, तेरे गुन तारा हूँ अहल्या नीके गाये हो।
मेरी जो बिपति सुनि धारे नाथ पाव पीड, ऐसे पाँव धारो जैसे हाथी काज धाये हो।
पाती दीजौ पंडित संदेसो मुख ऐसो कहि, आवन की आस बढ़ी मेरे जान आये हो॥

'भागवत'कार ने राजा भीष्म को पुत्रस्नेह के कारण शिशुपाल के लिए कन्या दे देने को उद्यत दिखाया है। यह बात 'स्यामसनेही' में नहीं है। यहाँ तो वह प्रारम्भ से अंत तक श्रीकृष्ण के सस्नेह और शिशुपाल के प्रति द्वेषपूर्ण है। 'भागवत'कार ने कथा के अंत में भाग्य की बलवत्ता बतायी है पर आलम ने घटनाओं का मूलकारण प्रेम भाव माना है। रुक्मिणी का प्रेम-पत्र पढ़ते समय श्रीकृष्ण की मनोदशा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जो यह प्रलय पयोधि न भीजै, सो पल माँह प्रेम रस भीजै।
रोम रोम भरि पुलक पसीजा, कोटि सूर के तपनि तपीसा ।।
पूरन ब्रह्म प्रेम में जानहु, सब ऊपर प्रेमहिं पहिचानहु ।।

यह रचना भी सूफ़ियों के रहस्य और भक्तों के भक्ति-संम्प्रदाय की छाया से मुक्त है। इसमें रस कथा का है वर्णनों या कवित्व-नैपुण्य का नहीं। चारुता की दृष्टि से ये वर्णन विशेष रोचक हैं। रुक्मिणी का प्रेम-पत्र इस रचना का प्राण है। श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन, द्वारका के राज-महल और प्रभात का वर्णन, लड़ाई में हाथियों के युद्ध का वर्णन, रुक्मिणी को लेकर श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रविष्ट होने का वर्णन, विवाह और स्त्रियों का द्व्यर्थक भाषा में श्रीकृष्ण को गालियाँ सुनाना आदि इसके रोचक प्रसंग हैं।

ये दोनों रचनाएँ भक्तिकालीन आलम की हैं। रीतिकालीन आलम की दो रचनाएँ हैं—फुटकल पद्यों का संग्रह 'आलमकेलि' और 'सुदामाचरित्र'। पहले में ४०० से ऊपर पद्यों में प्रेम-शृंगार, विरह-व्यथा, ऋतु आदि का वर्णन है। नायिका-भेद के भी कुछ पद्य हैं। कुछ पद्य रेख़ता भाषा में लिखे मिलते हैं। रचना-शैली दोनों प्रकार की है—रीतिमुक्त और रीतिबद्ध। कहीं पर भावविभोर हृदय के प्रेमोद्‌गार परिमार्जित भाषा में व्यक्त हुए हैं, तो कहीं अलंकारिक सजावट और चमत्कार-लोभ प्रकट हुआ है।

'सुदामाचरित्र' ६० पद्यों की छोटी रचना है और रेख़ता भाषा में लिखी गयी है। दो बार आलम का नाम आता है। हस्तलेख पर भी 'आलम कृत सुदामाचरित्र' लिखा है। इसका हस्त-लेख नागरी-प्रचारिणी-सभा के संग्रहालय में विद्यमान है। भाषा और भावों से रचना किसी मुसलमान की ही लगती है। श्रीकृष्ण और सुदामा के विषय में जो भावनाएँ व्यक्त हुई हैं वे साम्प्रदायिक नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से दो पद्य देखे जा सकते हैं—

बहुत गरीब सुदामा ब्राह्मन निपट खिलाफत में जब अटका,
सद पैबंद लगे चादर में सिर जंबू सा बाँध्या पटका।
जूती गई टूटि करि टुकड़े धोती लई घाटि कर कटका,
रे पै अपनी किस्मत पर वह राजी किसी तरफ सों दिल नहीं लटका ।।

× × × ×

तेरी समा बहुत है दिल में तिस खातर इस बात बतावै,
अपने सुख की ख्वाहिश तुझ कूं मुझकूं नाहक भेजि लजावै।
राजी होइ रहना है नादर जो कादर नित भीख मंगावै,
ऐसे हाल मीत सों मिलना इह हरगिज मन में नहिं आवै।

इनमें 'अटका', 'बाँध्या', 'किसी तरफ', 'लटका', 'तिस खातिर', 'तुझ कूं', 'मुझ कूं', 'रहना है', 'मिलना' आदि शब्द स्पष्टतया भक्तिकाल के नहीं हो सकते। इस प्रकार की उर्दू सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साहित्य में प्रयुक्त हुई थी। ऐसी ही भाषा 'आलमकेलि' के कुछ पद्यों में है। अतः यही अनुमान होता है कि ये दोनों रचनाएँ रीतिकाल के मुक्तककार आलम की हैं।

आलम के विषय में एक समस्या और है। वे 'शेख' के प्रेमी पति बताये जाते हैं। शेख रंगरेजिन थी। इसके साथ विवाह होने की रोमानी घटना का उल्लेख शुक्ल जी ने अपने इतिहास में किया है। मुअज्जम के साथ उसके परिहास-विनोद की भी एक घटना बतायी जाती है। इनका आधार किंवदन्तियाँ ही हैं।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इसकी परख की जाय तो संदेह अधिक उत्पन्न होता है, निश्चय कम। मुक्तक पद्यों में कुछ पद 'सेख' छाप के हैं और कुछ 'आलम' छाप के। 'आलमकेलि' के ३९७ पद्यों में से ५२ पद्यों पर 'सेख' की छाप है। लाला भगवानदीन ने 'आलमकेलि' के समस्त पद्यों को विषय के आधार पर भिन्न-भिन्न शीर्षकों में बाँटा है। इनमें 'सेख' छाप के पद्य प्रायः सभी शीर्षकों में प्राप्त होते हैं। रचनाओं से यह पता लगाना कठिन है कि 'सेख' का मनोऽभिनिवेश किन-किन विषयों पर विशेष था। वह आलम के साथ एकमना होकर आयी है।

बहिःसाक्ष्य के दो प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनसे 'सेख' को पृथक् व्यक्ति समझ सकते हैं; (१) संग्रह की पुस्तकों में 'सेख' और 'आलम' के पद्य पृथक्-पृथक् संग्रहीत मिलते हैं। 'शिवसिंह-सरोज' तथा नवीनकृत 'सुधासार' में यही व्यवस्था है; (२) किंवदन्ती। पर इसके विपरीत ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि 'सेख' आलम का ही दूसरा नाम है; वह कोई अन्यतर नहीं है। वे प्रमाण निम्नलिखित हैं—

१—'सेख' नाम मुसलमानों में स्त्रियों का नहीं होता। शेख, सैयद, मुग़ल, पठान ये जातियाँ हैं और पुरुष इन्हें अपने नामों के साथ जोड़ते हैं। २—'शेख' और 'आलम' नाम से मिलने वाले छंदों में भाव, भाषा और शैली आदि का कोई तात्विक अंतर नहीं दिखाई पड़ता। ३—आलम ने एक छप्पय में सच्चे 'सेख' का लक्षण बताया है जो योगी के लक्षणों के समान है। उसमें किसी स्त्री का संकेत लेशमात्र भी नहीं है। छप्पय 'आलमकेलि' के अनुसार इस प्रकार है —

> जपन नाम सोइ जपिय नहिंन बावन अक्षर महँ,
> तब सुदरस दरसिये चित्र अपने प्रतच्छ तहँ।
> सुन्न पवन बिन उठै सबद तहँ उठै श्रवन बिन,
> तहँ मँह चित संचरै न तहँ जुग संधि रैन दिन।
> जल पर जु बरन आलम सुमति, लिखि मेंटत पढ़ि लिखत पुनि,
> सोइ सिद्ध सेख जापर सुमति यह बिबेक बूझे सु मुनि।।

४—आलम ने 'सेख' नाम देकर किसी स्त्री का रूप-सौन्दर्य और उसके प्रति अपना प्रेमभाव नहीं व्यक्त किया। घनानंद ने अपनी कविता में प्रेयसी 'सुजान' के रूप, नाच, सोना, उठना, बैठना, हँसना, रूसना आदि सभी चित्रित कर अमर बना दिये। आलम जैसा प्रेमोन्मत्त कवि यह न करे, इस पर विचार करना चाहिए। ५—पुरानी प्रतियों में 'शेख आलम' एक नाम मिलता है जो एक ही व्यक्ति का प्रतीत होता है, जैसे—(अ)—काँकरौली की प्रति ७५।५, अक्षरानुक्रम से संगृहीत, आदि भाग—'अथ कवि शेख आलमकृत कवित्त'। अंत भाग—'इति श्री कवि शेखआलम के समाप्त।' (आ)—काँकरौली की प्रति ७३।२८; लिपिकाल संवत् १७१२; चार

सौ छंदों का संग्रह, पुष्पिका—'इति शेखआलम के छंद संपूर्णम्' । (इ)—भवानीशंकर याजनीक, लखनऊ की प्रति १४० । २२ : रस कवित्त आलम को संग्रह; आदि—'शेख आलमकृत रसकवित्त लिख्यते' अंत—'इति श्री शेख आलमकृत रसकवित्त समाप्त संपूर्णम्'।

६—'आलमकेलि' में 'शेख' छाप का एक कवित्त है जिसमें देवी की स्तुति की गयी है। स्तुति करने वाला पुरुष है—

सेख मति सेख ही सुसेख की सी दीन तुम, रावरे सिखाये सिख ढिग आनि लयौ हौं।
दुर्गा देवी तेरी ई दाया ते दुर्ग नाँघि आयौ, पारबती तुम्हें सुमिरत पार भयौ हौं।'

यहाँ पर 'आनि लयौ हौ' तथा 'पार भयौ हौं' क्रिया पद पुरुष के साथ ही जुड़ सकते हैं। स्तुति करने वाला स्वयं 'सेख' है, अतः यह आलम के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। अतः यही प्रतीत होता है कि 'शेख' और 'आलम' दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। 'आलम' नाम है और 'शेख' उसका जातिनाम। दोनों को वह निर्विशेष भाव से प्रयुक्त करता है। हो सकता है कि आलम ब्राह्मण से मुसलमान बनने पर 'शेख' जाति में ले लिये गये हों। विद्वान् तो वे थे ही। रंगरेजिन की घटना सही हो सकती है, पर उसका नाम 'शेख' था—यह बाद में लोगों ने भूल से समझ लिया।

●

बदरीनारायण श्रीवास्तव

उत्तर भारत का मध्यकालीन रामकाव्य (१४००-१८०० ई०)

आदि कवि द्वारा 'रामायण' की रचना हो जाने के पश्चात् रामचरित भारतीय साहित्य का न केवल एक प्रमुख विषय ही बन गया, वरन् इसने साहित्य की अनेक विधाओं को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित भी किया। डॉ० बुल्के ने (रामकथा, पृ० १७९) यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि संस्कृत ललित साहित्य में अनेक महाकाव्य, नाटक, श्लेष, विलोम, चित्र एवं खंड काव्यों की रचना रामचरित को लेकर की गयी है। वस्तुतः रामचरित इतना रोचक, आदर्शमय एवं पारिवारिक है कि भारतवर्ष का कोई भी महान् कवि उसे अपनी रचना का विषय बनाने के लोभ का संवरण नहीं कर सका। आगे चलकर रामभक्ति का विकास हो जाने पर तो रामकथा के विविध भावुक प्रसंग अनेक भक्तों एवं कवियों के कंठोद्गार ही बन गये। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में रामकथा के ये दोनों ही पक्ष—वर्णनात्मक तथा आध्यात्मिक—रामकथा द्वारा अपनाये गये हैं। यह अवश्य है कि विभिन्न प्रदेशों एवं अंचलों में जाकर रामकथा ने अनेक स्थानीय विश्वास एवं मान्यताओं को अपने में समेट लिया है, फिर भी उसकी मौलिकता कहीं भी नष्ट नहीं हुई है। प्रस्तुत निबंध में उत्तर भारत की प्रमुख भाषाओं के मध्यकालीन रामकाव्य[1] का विवरण प्रस्तुत करते हुए उसकी कतिपय सामान्य विशेषताओं का उल्लेख प्रयास किया जायगा।

महाराष्ट्र में १५वीं शताब्दी से ही रामकाव्य की उपलब्धि होनी प्रारंभ हो जाती है। इस शताब्दी के प्रमुख मराठी कवि हैं: एकनाथ (भावार्थरामायण, रामगीता, कौशल्या-स्वयंवर, सीतामंदोदरीसंवाद), केशवराज (रामायण), और जनार्दन पंत (रामस्तुति)। इसी काल के गुजराती कवियों में हैं (रामलीला ना पदो), मंत्री कर्मण (सीताहरण), भीम-कवि ('हरिलीलाषोडशकला' में दसवीं कला में रामलीला), लावण्यसमय (रावणमंदोदरी-संवाद), श्रीधर (रावणमंदोदरीसंवाद), मीठा (रामप्रबंध), स्वयंभूदेव (रामायणपुराण),

---

१. **संदर्भ ग्रन्थ**—Third All India Writers Conference at Chidambaram; Ramayana : Influence on regional languages, पृ० ५०-१२९।

आसामी—प्रो० यू० सी० लेखरू, बंगला—श्री नरेन्द्र देव; उड़िया—श्री लक्ष्मीनारायण महंती; गुजराती—श्री पी० सी० दीवान जी; मराठी—प्रो० के० पी० कुलकर्णी; पंजाबी—म० मोहन सिंह; मैथिली—डॉ उमेश मिश्र।

भालण (रामबालचरित, रामविवाह या सीतास्वयंवर) आदि प्रमुख हैं। बंगाल में इसी समय कृत्तिवास (रामायण, जटायुपिंडदान, शिवरामेर युद्ध, अंगदेर रायबार, बीरबाहुर युद्धपाला, इन्द्रजितेर पाला, लक्ष्मणेर शक्तिशेल, महिरावणेर पाला, देशागमन, लक्ष्मणेर चतुर्दश बर्ष अनिद्रा वो अनाहार, ययातिर नरमेधयज्ञ, अंगूरीसंवाद) और द्विज अनंत (अनंतरामायण) ने अपने रामकाव्यों की रचना की।

१६वीं शताब्दी में मराठी में अच्युताश्रम (रामनोविया), अच्युताश्रम शिष्य (रामस्तुति), जयराम स्वामी (सीतास्वयंवर), नामा पाठक (भरतभेंट), मल्हारी (भरतभेंट), मुक्तेश्वर (रामायण, हनुमन्नाटक), रंगनाथ (रामजन्म), रामदास (रामगीत, सुन्दर व युद्धकांड लघुरामायण) विट्ठल (शबरी आख्यान, सीतास्वयंवर), विष्णुदास नामा (अंगदशिष्टाई, लवकुशाख्यान, सीतास्वयंवर) तथा वेणी स्वामी (सीतास्वयंवर) ने रामकाव्य की रचना की। इसी शताब्दी के गुजराती रामकवियों में नाकर (रामायण, लवकुशाख्यान), कहान कवि (रामायण के ६ कांड), उद्धव व विष्णुदास (रामायण ६ कांड), विष्णुदास (सातवाँ कांड, अंगदविष्टि, लवकुशाख्यान), तुलसीसुत वैकुंठ (रामविवाह), काशीसुत (हनुमंतचरित), तुलसी (सीताजी नो सोहलो), शिवदास (परशुरामाख्यान), हरिराम (सीतास्वयंवर, सीता ना संदेशा, रणजंग, सीतावेल, सीयरामंडप), मंडण (सीतानो संदेश), प्रभाशंकर (रावणमंदोदरीसंवाद), देवविजयमणि (रामचरित्र), चंद्रमणि (रामरास), गुणशील (अंजनासुन्दरीप्रबोध), बाल कवि (सीतारामरास), कनक सुन्दर (अंगदविष्टि), समय सुन्दर (रामसीताप्रबंध), देशराज (रामयशोरसायनरास) आदि प्रमुख हैं। बँगला के १६ वीं शताब्दी के प्रमुख कवि हैं: रामदास, द्विज दुर्लभ (रामनिर्वासन, लक्ष्मणशक्ति), द्विज दुर्गाचरण (रामलीलापद), द्विज मधुकंठ (सीतार अग्निपरीक्षा, रामचन्द्रेर बनयात्रार उपलक्ष्ये सीता के प्रबोधदान), षष्ठीवर और गंगादास (संक्षिप्त रामायण, रामायण-आदि व उत्तर कांड)। डॉ० सुकुमार सेन इस काल के आसामी रामकवि माधवकंदली (श्रीरामपांचाली) तथा शंकरदेव (उत्तरकांड, श्रीरामविजय नाटक) को बँगला कवि ही मानते हैं।[2]

१७वीं शताब्दी के महाराष्ट्री रामकवियों में अमृतराय (रामचंद्रवर्णन, रामजन्म, लंकावर्णन), आनंदतनय (रामायण, सीतास्वयंबर), आनन्दमूर्ति (रामचरित्र), उद्धव चिद्घन (जानकीवर्णन), कान्हा हरिदास (अनुभवरामायण), गिरिधर (सप्तरामायणें), गोसावीनंदन (सीतास्वयंवर), जगजीवन प्रभु (कुंभकर्णवध, जटायुआख्यान, रामकथा, बाल व उत्तरकांड, अनेक संवाद), जगन्नाथ (रामायण), नयनात्मज सुत (रामजन्म), नरहरि मोरेश्वर (रामजन्म), नागेश (सीतास्वयंवर), माधैव (ओवी तथा श्लोकरामायण), माधव सुत (रामनामतरंग, रामपंचरत्न, रामामृततरंग), मुकुंद (सुन्दरकांड), मुद्गल (युद्धकांड), मेरु स्वामी (रामसोहला, श्रीरामपंचरत्न), वामन पंडित (अहल्योद्धार, रामगीता, संकलित रामायण, लोपामुद्रासंवाद, सीतास्वयंवर), शिवराम (अध्यात्मरामायण), श्रीधर (रामविजय, रामसगुण-

---

२. बाँगला साहित्येर इतिहास—प्रथमखंड, पृ० ३३८-४३।

ध्यान) आदि प्रमुख हैं। इस शताब्दी के गुजराती रामभक्त कवि हैं: प्रेमानन्द (रणयज्ञ, रामायण, लवकुशाख्यान, ऋष्यश्रृंगाख्यान), रत्नेश्वर (लंकाकांड), वल्लभ (सीताहरण, सीताविलाप, सीताविलास), वैकुंठ (रामविवाह), तुलसी (रामचन्द्रजी ना धोला), हरिदास (सीताविरहिणी चतुरिओ), भावना भक्त (रावणमंदोदरीसंवाद), सामलभट (रावणमंदोदरीसंवाद, अंगदविष्टि), विराजी (अंगदविष्टि), गोविन्दराम (रावण अने विभीषण), मेघा जी काशी (हनुमान्चरित)। बंगाल में इस काल में अद्भुताचार्य (अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका, उत्तरकांड, मायामुंड निर्माण, मकराक्षेर युद्ध, बीरबाहुर युद्ध, रामायणशतस्कंध रावणेर पाला, लक्ष्मणइन्द्रजितेर युद्ध), वैद्य रामशंकर दत्त (श्रीरामपंचाली), द्विज भवानीनाथ (रामाभिषेक, लक्ष्मणदिग्विजय, रामायणेर वंदना, श्री रामेर दुर्गापूजा, रामेर स्वर्गारोहण, राम दिग्विजय, रामचन्द्रेर स्वर्गारोहण), द्विज दुर्गाराम (रामायण, कालिकापुराण का अनुवाद), द्विज लक्ष्मण (रामायण आदि व अरण्य कांड, रामेर नागपाश, शिवरामेर युद्ध, सीतार उद्देश, अंगदेर रायबार, महिरावणेर पाला) चन्द्रावली (सीतार बारमासि, रामायण, चन्द्रावतीर पाला, मनसामंगल) और घनश्याम दास (सीतार बनबास) आदि ने रामकाव्य की रचना की।

१८वीं शती तथा १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मराठी में गणेश आत्माराम (रामगीता), चिंतामणि (सीतास्वयंवर), देवनाथ (श्रवणाख्यान, रामायण), पांडुरंग (रामगौरव), प्रह्लाद बुवा (अहल्योद्धार, सीतास्वयंबर) और मोरोपंत (अष्टोत्तरशतरामायण तथा कुशलवाख्यान) ने रामकाव्य की रचना की। गुजराती रामभक्त कवियों में दिवाली बाई (रामबाललीला, रामविवाह, रामजन्म, राम-राज्याभिषेक), रघुनाथ दास (रामायण), रणचोद जी (रामायण, रावणमंदोदरीसंवाद), भानो (रामचरित्र), राजाराम रणछोड़ (रामकथा), पुरीबाई (सीतामंगल), धीरोभक्त (रणयज्ञ), कालिदास (सीतास्वयंवर), गोविन्द राम (रामजी ना पदो), वल्लभ भट्ट (रामविवाह), वजिओ (रणयज्ञ, सीतानो संदेशो, सीतामंडप), थोभन (रामजीना विवाह, हनुमाननी गरबी), प्रीतमदास (अध्यात्मरामायण), छोटम (जानकीविवाह), हरिराम (सीतास्वयंवर), बापू साहब गायकवाड़ (रामराजिओ), मुकुन्द (रामलीला), मीठो (रामप्रबंध), कृष्णाबाई (सीताजीनी कांचली), मनहर स्वामी (रामगीता), गिरिधर (रामायण, हनुमन्नाटक) और दयाराम (हनुमानगरुड़संवाद) आदि प्रमुख हैं। इस शती में बँगला में शंकर चक्रवर्ती कविचन्द्र (रामायणपांचाली, अंगदेर रायबार, हरिश्चन्द्रेर पाला, लक्ष्मणेर शक्तिशेल, शिवरामेर युद्ध, नरमेधयज्ञ, कुंभकर्णेर रायबार, शक्तिशेलेर पाला, अंगूरी संवाद, ययातिर नरमेर यज्ञ, हरिश्चन्द्र उपाख्यान, ययातिर उपाख्यान, सीताहरण, अतिकायेर पाला, बालिर पिंडदान, रावणकुंभकर्णसंवाद, भरतेर पितृश्राद्ध); रायबार ग्रन्थों में 'अंगदेर रायबार' के लेखक फकीरराम कविभूषण, द्विज तुलसी, खोशालशर्मा, मतिराम, जगन्नाथदास, द्विज दुलाल; 'बिभीषणेर रायबार' के लेखक रामचन्द्र; 'विभीषणेर खोट्टा रायबार' के लेखक रामनारायण ; 'कालनेमिर रायबार' के लेखक कालीराम आदि प्रमुख कवि हुए। अन्य छोटे-छोटे पाला ग्रन्थों में 'शिवरामयुद्ध' (कृत्तिवास, लक्ष्मण, कविचन्द्र), लक्ष्मणभोजन (कृत्तिवास), 'तरणी सेनेर युद्ध' (कृत्तिवास, द्विज दयाराम, रामशंकर), 'महिरावणवध'

(रामशंकर, द्विज सर्वाणीनन्दन), 'नरमेधयज्ञ' (कृत्तिवास, लक्ष्मण), 'ययातिर पाला' (कृत्तिवास) और 'वज्रपातवध' (कृत्तिवास) आदि प्रमुख हैं। इस काल के अन्य बँगला कवियों में राम हाजरा (रामायण पांचाली), द्विज सीतासुत (वाल्मीकिपुराण), कृष्णदास (संक्षिप्त श्रीरामपांचाली), गुणराजखान (संक्षिप्त रामकहानी), राम गोविन्ददास, भवानी शंकर (किष्किन्धाकांड), रामशंकर (अरण्यकांड), शिवचन्द्रसेन (संक्षिप्त श्रीरामपांचाली, शारदामंगल), गंगाराम दत्त (वृहत्तर रामायण), द्विज साफल्य तथा द्विज धनंजय (श्रीराम-पांचाली), गंगासेन तथा द्विज राजीव (उत्तरकांड), कुमुदानंद दत्त (रामेर अश्वमेध), द्विज पंचानन्द (उत्तरकांड), द्विज माणिकचन्द (लंकाकांड), रामचन्द्र (सुन्दरकांड), द्विज शिवराम (लक्ष्मणशक्तिशेल, रामायण लंकाकांड), द्विज शंभुसुत (रामायण आदिकांड), उत्सवानंद (सीतार वनबास, लवकुशेर युद्ध), रसिक कवि (ताड़काबध), रामनारायण (खंड रामारायण), जयदेवदास (पद्मलोचनबध), द्विज मधुकंठ, द्विज रामचंद्र, द्विज दर्पनारायण, कृपाराम, भिखन शुक्लदास, कंठमणिदास (रामस्वर्गारोहण), द्विज कानूराम, द्विज निधिराम, खुदुराम, हट्टुशर्मा, द्विज गंगादास, द्विज पंचानन, द्विज दुर्गाराम आदि आते हैं। कूचविहार के रामकवियों में लक्ष्मीराम (अयोध्याकांड), रघुराम (अयो०, उ० कांड), द्विज रुद्रदेव (अरण्यकांड), देवीनंदन (किष्किधाकांड), द्विज ब्रजसुन्दर (लं० कां०), द्विज जगन्नाथ, लोकनाथ शर्मा (सुं० व कि० कांड,) शारदानंद (उ० कां०), वंशीमोहन, महाराज हरेन्द्र नारायण आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त रामानंद यति, रामानंद घोष, जगद्राम व रामप्रसाद, रघुनंदन गोस्वामी तथा राम-मोहन वन्द्योपाध्याय ने संपूर्ण 'रामायण' की रचना की है।

उपर्युक्त शताब्दियों (१४वीं-१८वीं) में हिन्दी में भी पर्याप्त रामकाव्य की रचना हुई है, किन्तु यहाँ तुलसी के प्रखर प्रताप के समक्ष कोई भी अन्य कवि टिक नहीं सका, सब की प्रतिभा बौनी पड़ गयी। 'हिन्दी साहित्य कोष' में दी हुई डॉ० बुल्के जी की सूची तथा 'रामानंद-संप्रदाय' में दी हुई अपनी सूचियों के अनुसार मैं हिन्दी रामकाव्य का एक परिचय यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ। यह परिचय तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होगा। यों तो हिन्दी रामकाव्य का प्रारंभ तुलसी से ही होता है, किन्तु उनके पूर्व 'पृथ्वीराजरासो' के द्वितीय समय में दशावतार का वर्णन करते हुए १०० छन्द राम के विषय में लिखे गये हैं। सूर ने भी दशमस्कन्ध में लगभग डेढ़ सौ छंद राम के विषय में लिखा है। अन्य कवियों में ईश्वरदास (रामजन्म, भरतमिलाप, अंगदपैज) तथा अग्रदास (ध्यानमंजरी, अष्टयाम, कुंडलिया) आदि प्रमुख हैं।

१७वीं शताब्दी में नाभादास (अष्टयाम), सुरतिलाल (रामप्रकाश), तुलसीदास (मानस, नहछू, जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न, बरवै, दोहावली, विनय गीतावली, कवितावली आदि), केशव (रामचंद्रिका), सोढ़ी मेहरबान (आदिरामायण), हृदयराम (हनुमन्नाटक) रामानन्द (लक्ष्मणायन), माधौदास (रामरासो), ब्रह्मरायमल (हनुमंतमोष्यगामीकथा), लालदास (अवधविलास) आदि प्रमुख कवि हुए।

१८वीं शताब्दी में सेनापति (रामरसायन), नरहरिदास (रामचरित), भूपति (राम-चरितरामायण), गोविन्द सिंह (गोविन्दरामायण), सुखदेव मिश्र (दशरथराय), केशव (बालि-

चरित), झामदास (श्रीरामायण); सेनापति (रामरसायन), पद्माकर (रामरसायन), रुद्र-प्रताप सिंह (सुप्रसिद्ध स्तोत्र), शिवदत्त (सीताहरण) आदि प्रमुख हैं। राजस्थानी कवियों में मुरली, नागरीदास, सुन्दर कुँवरि, उम्मेददास, सोमनाथ, मंछाराम, किशन जी आदि ने राम-काव्य की सृष्टि की है।

रामानंदी हिन्दी कवियों में अवधभूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, गोमतीदास, चित्रनिधि, जनकराज किशोरीशरण, जनकलाड़िली शरण, जानकीचरण, जानकीप्रसाद महंथ जानकी रसिकशरण, जीवाराम, दाशरथीदास, धर्मदास, बनादास, प्रेमसखी, बालअली, बालकृष्ण मधुरअली, युगलानन्दशरण, युगलप्रिया, रत्नहरि, रघुवरशरण, रघुराजसिंह, रमणबिहारी, रसिकगोविन्द, रसरंगमणि, रसिकवल्लभशरण, रसमालिका जी, रामकांताशरण, रामगुलाम शरण, रामचरणदास, रामनाथ ज्योतिषी, रामनाथ प्रधान, रामानुजदास, रामप्रियाशरण, राम-रत्न, रामसखे, लक्ष्मणशरण, लछिराम कवि, ललनपिया, लालदास, लाल विजयसिंह, विदेहजा-शरण, श्रीकांत शरण, श्रीनिवास, शृंगारलता, सुधामुखी, सूरकिशोर आदि प्रमुख हैं। इन पर माधुर्य भाव का प्रभाव पड़ा है। इनकी रचनाओं के लिए 'रामानंद-संप्रदाय' ग्रन्थ देखें।

अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का राम-साहित्य इस प्रकार है—

आसामी—माधव कंदली (वाल्मीकि का अनुवाद), दुर्गावर (गीतिरामायण), अनंत-कंदली (अनंतरामायण) शंकरदेव (उत्तरकांड), रघुनाथ दास (शत्रुंजय), चन्द्रभारती (महि-रावणवध), गणक चरित।

मैथिली में मध्यकाल में कोई रामकाव्य नहीं लिखा गया। नेपाल के नाटक-साहित्य में 'रामायण नाटक' नाम की मैथिली रचना मिलती है। शिवदत्त का 'सीताहरण' भी ऐसी ही रचना है। आधुनिक काल में चन्दा झा ने रागरागिनियों में रामायण की रचना की, लालदास (रामेश्वरचरित, रामायण), अनंत झा (सीतास्वयंवर नाटक) ने भी रामकाव्य लिखे।

उड़िया—आदि जुग—सरलदास (विलंकारामायण), अर्जुन दास (रामविभा); पंचसखा जुग (१६-१८वीं शती)—बलरामदास (रामायण), शंकरदास (बारामासी कोइलीया-कौशल्या का विरह-वर्णन), हलधर दास (आध्यात्मरामायण); भंज जुग (१८-१९वीं शती)—धनंजय भंज (रघुनाथविलास), उपेन्द्र भंज (वैदेहीविलास), पीताम्बर राजेन्द्र (रामलीला), विश्व-नाथ खुन्तिया (विचित्ररामायण), सर्व मणि पटनायक तथा कृष्ण चरण पटनायक (रामायण अनुवाद)।

पंजाबी—गुरु नानक (अनेक पदों में राम का वर्णन किया), हिरदयराम (रामायण, हनुमन्नाटक), कपूरचन्द्र (लहेन्द्रनाटक) गुरुगोविन्द सिंह (रामकथा या रामचरित्र), गुलाब सिंह (अध्यात्मरामायण), मानसिंह (रामायण), भाई गुरदास (फुटकल पद), सौन्धतपा दास (रामायण)। १९वीं शताब्दी में पंजाबी में सन्तोखसिंह (वाल्मीकि-अनुवाद), ज्ञानी संत सिंह (तुलसी का अनुवाद), अमर सिंह (अमररामायण) आदि ने अपनी रचनाएँ की।

मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी, मैथिली, उड़िया, बँगला तथा असमिया के मध्यकालीन रामकाव्य के उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) उपर्युक्त भाषाओं के रामकाव्य पर वाल्मीकि, अध्यात्म, अद्भुत, योगवशिष्ठ, पउमचरिय (गुजरात में) का विशेष प्रभाव पड़ा है। कथावस्तु का ढाँचा वाल्मीकि पर ही आधारित है।

(२) सत्तरहवीं शताब्दी के पश्चात् और विशेषकर आधुनिक काल के रामकाव्य पर तुलसीदास का भी पर्याप्त प्रभाव मिलता है। बंगाल में रघुनन्दन गोस्वामी कृत 'रामरसायन' तथा जगद्राम राय कृत 'रामायण' पर कथावस्तु के विवेचन-क्रम तथा दर्शन दोनों ही दृष्टियों से यह प्रभाव विशेषरूपेण परिलक्षित होता है। राममोहन वन्द्योपाध्याय ने तो 'तुलसीदासेरपद करियावन्दन' कहकर ही अपने ग्रन्थ का प्रारंभ किया है। राममोहन का वर्षा-वर्णन और रघुनन्दन का शरत्-वर्णन तुलसी की ही भाँति हैं। तुलसी से ही हनुमतोपासना, एकनिष्ठ रामोपासना, पतिभक्ता के रूप में नारी सौन्दर्य आदि की परंपराएँ चलीं। जगद्राम ने तो वाल्मीकि द्वारा रामनिवास कथन या राम द्वारा शबरी को नवधा-भक्ति कथन आदि तुलसी के ही आधार पर किया है। इसी प्रकार उन्होंने राम का जन्म के समय चतुर्भुज रूप धारणा करना, कामोपाख्यान, धनुर्भंग के समय लक्ष्मण का कोल, कमठ, दिग्गजों आदि को सहेजना, कैकेयी की जिह्वा पर सरस्वती का आकर बैठना, राम के प्रति शिव की अनन्य भक्ति आदि को तुलसी से ही पाया। यही नहीं उनके रामायण में दो श्लोक—'मूलं धर्मतरोर्विवेक' इत्यादि और 'सान्द्रानंदपयोद सौभगतनुं' इत्यादि भी तुलसी के हैं। गुजराती में भी तुलसी के पाँच अनुवाद हुए, गिरिधर ने तुलसी से पर्याप्त प्रेरणा पायी है। मराठी में हनुमानभक्ति तुलसी के ही माध्यम से गयी। उड़िया में जगमोहन महापात्र (पद्य), काप्ति पदाधीश (गद्य) तथा हरे कृष्णदास (पद्य) ने तुलसी का अनुवाद किया है। पंजाबी में गुरुमुखी लिपि में मानस की सैकड़ों प्रतियाँ मिलती हैं। अमरसिंह पर तुलसी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पुराने पंजाबी पदसंग्रहों में तुलसी के पद मिलते हैं। गद्य में भी उनका अनुवाद किया गया है।

(३) उपर्युक्त प्रभावों के अतिरिक्त स्थानीय प्रभाव भी इन रामकाव्यों पर मिलते हैं। आसाम में राम को कृष्ण के ही रूप में देखा गया है और रामकाव्य के माध्यम से कृष्णभक्ति का ही प्रचार किया गया। बंगाल में विष्णु को कृष्ण कहा गया है और राम को उनका अवतार माना गया है। गरुड़ की प्रार्थना पर राम द्विभुज मुरलीधर का भी रूप धारण करते हैं। रघुनन्दन ने राधाकृष्ण के प्रेम की ही भाँति राम-सीता प्रेम का वर्णन किया है, दुर्गा को सीता का रूप धारण कर लज्जित होने का प्रसंग लाकर वैष्णव धर्म का शाक्तों पर प्रभुत्व स्थापित करना उनका अभीष्ट था। फिर भी बँगला रामकाव्य शाक्त प्रभावों से पूर्णतया प्रभावित हैं। राम द्वारा चंडी की उपासना, चंडी की सहायता से महिरावण व रावण का वध, शतस्कंध रावण को मारने के लिए सीता का चंडी रूप धारण करना आदि ऐसे ही प्रभाव हैं। इसी प्रकार रामकथा पर शैव, ब्राह्मण एवं बौद्ध प्रभाव भी पड़ा। उड़ीसा में शाक्त प्रभाव के साथ ही राम को (अर्जुनदास) पुरुषोत्तम पुरी के जगन्नाथ की प्रतिमूर्ति बना दिया गया है। मध्यदेश तथा पंजाब में तुलसी के बाद ही कृष्णभक्ति का प्रभाव रामकाव्य पर पड़ने लगा। फलतः १८-वीं-१९वीं शती का सारा रामकाव्य श्रृंगाररस-पूर्ण हो गया। गुजरात में जैनधर्म ने रामकाव्य को प्रभावित किया है।

महाराष्ट्र में रामकथा ही विशेष अपनायी गयी, फिर भी एकनाथ, मुक्तेश्वर, मोरोपन्त पर वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है। १८वीं शती तथा उसके बाद अधिकांश अंचलों में रामकथा में माधुर्यप्रभाव प्रधान हो गया। जगद्रामी रामायण में 'रामरास' पर एक अध्याय भी जुड़ गया।

(४) मध्यकालीन रामकाव्य पर स्थानीय प्रचलनों एवं परंपराओं का भी प्रभाव पड़ा है। कथावस्तु और पात्र दोनों ही इस प्रभाव से प्रभावित हैं। बँगला में रघुनंदन ने सीतास्वयंबर के समय आये राजाओं का परिवेश (बनाए दाँत पहनना, दाढ़ी में काला रंग लगाना) आदि युगानुरूप ही रखा है। उनके गहने तथा भोजन (मोतीचूर, पीठा, खाजा, कचुरा) आदि भी बंगाली हैं। कृत्तिवास की अनेक उपमाएँ स्थानीय हैं: केतकी के फूल की भाँति दाँत, केला के पेड़ की भाँति गिरना, हाँड़िया मेघ आदि ऐसी ही उपमाएँ हैं। डा० दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार कुछ बंगाली प्रथाएँ भी रामायण में प्रवेश कर गयी हैं—रात में दहीभात न खाना, नाक पकड़ कर आश्चर्य प्रकट करना, बंगाली धोती का पहना जाना, राक्षसों के हाथ सीता का चावल खाने से इनकार करना, भृगुराम द्वारा राम को पुनः धनुष देकर उसे तोड़ने के लिए कहने पर सीता का राम के पुर्नविवाह की आशंका करना आदि।

(५) रामकथा ने भी बहुविध प्रभाव ग्रहण करने के साथ ही विभिन्न साधना-प्रणालियों एवं काव्य-पद्धतियों को प्रभावित किया है। श्री नरेन्द्र देव ने बँगला पर इस प्रकार के प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत से रामायण ने बँगला-काव्य की तीनों शैलियों—पदावली, पांचाली तथा संदर्भ को प्रभावित किया है। कृष्णकाव्य में कृष्ण के मथुरागमन पर गोपियों की विरह-व्यथा रामवनगमन से प्रभावित है। काशीरामी महाभारत का वनपर्व अरण्यकांड से प्रभावित है, मंगलकाव्यों में 'रायमंगल' के दक्षिणाराय तथा पीरग़ाजी खाँ के युद्ध पर लंकाकांड का प्रभाव है, 'चंडी मंगल' में फुल्लौरा की अग्निपरीक्षा सीता की अग्निपरीक्षा से प्रभावित है और कालकेतु के चरित्र पर राम का प्रभाव है। पांचाली काव्यों में द्विज रघुनाथ की 'अश्वमेध पांचाली' पर रामाश्वमेध (अर्जुन का अपने पुत्र बभ्रुवाहन से युद्ध राम और लवकुश-युद्ध के समान है) का प्रभाव है। लोकगीत एवं लोकगाथाओं पर भी रामायण का प्रभाव मिलता है। श्वेतवसंत का राक्षसों के हाथ से एक सुन्दरी राजकुमारी की रक्षा करना राम का रावण से सीता की रक्षा करने से प्रभावित है। गाँवों में रामलीला और पुतुल नाच रामायण से ही प्रभावित हैं। आधुनिक काल पर भी रामायण का प्रचुर प्रभाव मिलता है। यही स्थिति अन्य भाषाओं की भी है। कवि गुरु रवीन्द्र के शब्दों में भारतवर्ष और रामायण एक ही हैं।

(६) रामकथा काव्य के सभी रूपों—प्रबंध (महाकाव्य, खंडकाव्य), मुक्तक और नाटक—की विषय-वस्तु बनी है। अनेक मधुर स्थल विभिन्न राग-रागिनियों के विषय वन गये हैं। कृत्तिवासी रामायण, मानस, भावार्थ रामायण के साथ ही छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर भी कवियों ने अपने को गौरव-मंडित किया है।

(७) रामकथा के जिन सुन्दर स्थलों का कवियों ने गुणगान किया है, उनमें कुछ प्रमुख ये हैं: मराठी में पुत्रेष्टियज्ञ, कौशल्या की पुत्रेच्छा, ताड़कावध, धनुर्भंग, सीता-स्वयंवर, सीता-परित्याग, लवकुश-युद्ध; गुजराती में इनके अतिरिक्त लक्ष्मण, इन्द्रजित युद्ध, इन्द्रजीत की पत्नी

का गुणगान, अंगद, मंदोदरी, विभीषण, हनुमान का चरित्रांकन; उड़िया में इन विषयों के अतिरिक्त कौशल्या विरह; बँगला में सीता का बारहमासा, शिव-राम युद्ध, राम-नागपाश, अंगद-विभीषण, कुंभकर्ण के रायबार, महिरावण, मकराक्ष, वीरबाहु आदि के पाला, अंगूरी-संवाद आदि अनेक छोटे-छोटे विषयों को लेकर कवियों ने अनेक स्वतंत्र रचनाएँ की हैं, जिनमें कथात्मकता का पूरा विकास मिलता है। हिन्दी में इस प्रकार की रचनाओं का पर्याप्त अभाव है। तुलसी की दार्शनिक प्रतिभा से हमारे कवि प्रकाश-अंध हो गये हैं, उन्हें नहीं ज्ञात है कि राम कथा स्वयं अपने में इतनी रोचक है कि उसकी एक-एक छोटी घटना काव्य-विषय बन सकती है।[३]

---

३. अन्य संदर्भ ग्रन्थ : १. दि बंगाली रामायण ; डी० सी० सेन : माइल स्तोरीज ऑफ गुजराती लिटरेचर; झावेरी; मराठी वाङमया चा इतिहास; पांगारकर : हिन्दी साहित्य कोश; रामकथा।

●

प्रभुदयाल मीतल

चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य के शोध

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में चैतन्य मत के केवल १०–१२ कवियों का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु हमारे पास इस मत से संबंधित जो सामग्री और सूचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें प्रायः १२५ कवियों के नाम, उनमें से अधिकांश के जीवन-वृत्तांत और रचना-काल तथा उनकी सैंकड़ों रचनाओं की जानकारी मिलती है। इन रचनाओं में वृन्दावन निवासी श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी की सामग्री विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यमुनावल्लभ चैतन्य मतानुयायी सारस्वत ब्राह्मण हैं और अपने को महाकवि जयदेव का वंशज मानते हैं।

चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसमें रूप, सनातन, रघुनाथदास, कृष्णदास, कविराज, नरोत्तमदास ठाकुर प्रभृत्ति चैतन्य मत के आरंभिक भक्तों की रचनाओं के आधार पर कथित अनेक सरस काव्य-कृतियाँ हैं, 'गीतगोविंद' और 'भागवत' के कई अनुवाद हैं, श्री चैतन्य महाप्रभु की वन्दना, जन्म बधाई एवं उनकी लीलाओं से संबंधित बहुसंख्यक पद और छंद हैं, 'भागवत' दशम स्कंध में वर्णित श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का कथन करने वाली अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ हैं, ब्रज-वृन्दावन के माहात्म्यसूचक अनेक मुक्तक पद और छंद हैं, तथा चैतन्य मतानुयायी संतों की अनेक नामावलियाँ और भक्त-गाथाएँ हैं। इनमें कवि-छाप और रचनाकाल का उल्लेख होने से उनके रचयिताओं के नाम और समय का बोध तो हो जाता है, किन्तु उनके जीवन-वृत्तांत की प्रामाणिक सूचनाएँ उनसे कम प्राप्त होती हैं। ऐसे कवियों की जीवन-घटनाएँ कुछ बाह्य साक्ष्य और कुछ अनुमान से निश्चित की जा सकती हैं, किन्तु इस प्रकार के निश्चय सर्वथा निर्भ्रांत नहीं कहे जा सकते। बहुत सी रचनाएँ ऐसी उपलब्ध हुई हैं, जिनमें कवि-छाप के साथ ही साथ चैतन्यदेव और उनके आरंभिक भक्तों का गुणगान है, किन्तु उनमें रचना-काल का उल्लेख नहीं है। इनसे रचयिताओं के नाम और उनके चैतन्य मतानुयायी होने का तो निश्चय हो जाता है, किन्तु वे किस काल में हुए, इसे जानने का कोई साधन प्राप्त नहीं होता।

इस मत के ब्रजभाषा साहित्य की सबसे अधिक रचनाएँ गोपाल भट्ट गोस्वामी और नित्यानंद के तथाकथित शिष्य रामराय के परिकर द्वारा वृन्दावन में हुई हैं। इनके बाद गंगाधर पंडित गोस्वामी और वृन्दावन के रूप, सनातन, रघुनाथ भट्ट गोस्वामी गण के शिष्यों द्वारा तद्विषयक साहित्य का निर्माण हुआ है। चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य के अंतर्गत कुछ ऐसे भक्त कवियों की रचनाएँ भी मानी जाती हैं, जो विभिन्न भक्त-परिकरों से स्वतंत्र ज्ञात होते हैं और जिनके चैतन्य मतानुयायी होने के निश्चित प्रमाण भी उपलब्ध नहीं हैं। हम पहले इन भक्त-

कवियों के संबंध में विचार कर फिर परिकरों के क्रमानुसार इस मत के ब्रजभाषा-साहित्य का सिंहावलोकन करेंगे।

माधवदास जगन्नाथी ब्रजभाषा के पुराने भक्त-कवियों में एक उल्लेखनीय कवि हुए हैं। उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के दादा गुरु श्री माधवेन्द्रपुरी से माध्व संप्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने स्वयं भी सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री हरिराम व्यास के पिता श्री सुमोखन शुक्ल को माध्व संप्रदाय में दीक्षित किया था। इस प्रकार माधवदास को माध्व संप्रदायी भक्त कवि समझना चाहिए।

परन्तु वे चैतन्य महाप्रभु के गुरु ईश्वरपुरी के गुरुभाई होने के नाते चैतन्य के गुरु तुल्य थे। जिस प्रकार ईश्वरपुरी के अन्य गुरुभाई नित्यानंद और अद्वैताचार्य बाद में चैतन्य के मतानुयायी हो गये थे, उसी प्रकार संभवतः माधवदास भी हुए होंगे। हिन्दी साहित्यकारों ने उनके जन्म और रचनाकाल के संवत् क्रमशः १५८० और १६०२ वि० के लगभग माने हैं, किन्तु उनका कथन ठीक नहीं मालूम होता है। माधवेन्द्रपुरी के शिष्य और सुमोखन शुक्ल के गुरु होने से माधवदास का अस्तित्व-काल काफ़ी पहले का होना चाहिए। कदाचित् उनका जन्म संवत् १५४० वि० के लगभग मानना उचित होगा।

माधवदास के संबंध में प्रसिद्ध है कि वे पूर्वी क्षेत्र के निवासी विरक्त ब्राह्मण थे और माधवेन्द्रपुरी के शिष्य होकर प्रायः जगन्नाथपुरी में रहा करते थे। श्री जगन्नाथ जी के परम भक्त होने के कारण वे 'माधवदास जगन्नाथी' के नाम से विख्यात हैं। उनकी रचनाओं में भी जगन्नाथ जी की स्तुति विषयक पद अधिक मिले हैं। उनसे संबंधित अनेक चमत्कारपूर्ण दंतकथाएँ प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में किया है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, भक्ति शास्त्रों के ज्ञाता और अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। नाभादास के कथन से ज्ञात होता है कि भाषा-साहित्य में उनका वही स्थान है, जो संस्कृत साहित्य में वेदव्यास का। जिस प्रकार वेदव्यास ने वेद-विभाग कर 'महाभारत' और भगवतादि अठारह पुराणों की रचना की थी, उसी प्रकार माधवदास ने अनेक ग्रंथों को शोध कर उनके भाषानुवाद प्रस्तुत किये थे।[1] कहते हैं, उन्होंने 'महाभारत' और 'इतिहास कथासार समुच्चय' जैसे विशाल संस्कृत ग्रंथों का ब्रजभाषा में काव्यानुवाद किया था। इस समय ये ग्रंथ और नाभादास के कथन को प्रमाणित करने वाली उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। केवल निम्नलिखित छोटी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—'इतिहास कथासार समुच्चय' का खंडित अंश, 'नारायणलीला,' 'प्रतीतिपरीक्षा,' 'जगन्नाथ-माहात्म्य', 'ग्वालिन भगरौ' और 'मदालसा आख्यान'। इनके अतिरिक्त 'बाललीला', 'जानराय-लीला', 'जनमकरमलीला', 'ध्यानलीला', 'रथलीला', 'स्वयंवरलीला', 'रघुनाथलीला' की एक हस्तप्रति वृन्दावन के श्री जी कुंज में है, जो सं० १७७६ में लिपिबद्ध हुई थी। इनके साथ ही उनके पद, जगन्नाथ जी की स्तुति के गीत और लोककाव्य की विविध रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। उनकी वाणी का प्रचार उड़ीसा में बहुत अधिक है।

---

१. भक्तमाल, छप्पय सं० ७०।

माधवदास नाम के अन्य भक्त कवि भी हुए हैं, जिनकी रचनाएँ आपस में मिल गयी हैं। उनमें से इन माधवदास की रचनाओं को पृथक् करना कठिन है, फिर भी जगन्नाथ जी का अधिक उल्लेख होने से उनकी कुछ रचनाएँ बहुत कुछ पहिचानी जा सकती हैं।

आनंदघन नाम के अनेक कवि हुए हैं। उनमें सबसे प्राचीन ब्रज के नंदगाँव निवासी आनंदघन थे। चैतन्य महाप्रभु के जीवनवृत्तांत से ज्ञात होता है कि उन्होंने सं० १५७२वि० में ब्रज-वृन्दावन की यात्रा की थी। उस समय वे नंदगाँव भी गये थे, जहाँ उनका आनंदघन से साक्षात्कार हुआ था। ऐसा समझा जाता है कि उसी समय आनंदघन श्री चैतन्यदेव के अनुगत हुए थे। सं० १५७२ वि० में उनकी विद्यमानता से उनका समय सं० १५५० से १६०० वि० के लगभग अनुमान किया जाता है।

वे नंदगाँव के निकटवर्ती खरोट ग्राम के निवासी ब्राह्मण थे। उन्होंने नंदगाँव में मंदिर बनवाकर उनमें देव-विग्रहों की प्रतिष्ठा की थी, जिनके दर्शन श्री चैतन्यदेव ने किये थे। आनंदघन के वंशज अब भी खरोट और नंदगाँव में रहते हैं और चैतन्यदेव में श्रद्धा रखते हैं। नंदगाँव मंदिर के वर्तमान पुजारी अपने को आनंदघन के वंश का बतलाते हैं।

आनंदघन के रचे हुए बहुत कम पद प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ नंदगाँव के मंदिर में गाये जाते हैं। चैतन्यदेव की वंदना का एक पद जो उनका रचा हुआ माना जाता है, कुछ पाठ-भेद के साथ सुजान प्रेमी घनानंद की पदावली में भी संकलित मिलता है।[२]

चैतन्य मत में नित्यानंद और अद्वैताचार्य का महत्व चैतन्यदेव के बाद सर्वोपरि माना जाता है। बंगाल में उनकी शिष्य-परम्परा के अंतर्गत अनेक भक्त कवि और विद्वान् हुए हैं जिनकी रची हुई संस्कृत और बँगला भाषाओं की अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। जहाँ तक ब्रजभाषा साहित्य का संबंध है, नित्यानंद के परिकर में **रामराय** और उनके वंशजों की रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री यमुनावल्लभ की सामग्री के अनुसार रामराय का जन्म सं० १५४०वि० है और उन्होंने स्वयं नित्यानंद से दीक्षा प्राप्त की थी। परन्तु 'चैतन्य भागवत', 'चैतन्य चरितामृत' और उसके बाद के ग्रंथों में चैतन्य मत के भक्तों की जो बृहद् नामावली मिलती है, उनमें से किसी में रामराय का नामोल्लेख नहीं हुआ है। नाभादासकृत 'भक्तमाल' के जिन अंतिम छप्पयों में रामराय का उल्लेख है, वे नाभादासकृत नहीं जान पड़ते हैं। फिर, उनसे संबंधित छप्पय में भी उनके नित्यानंद के शिष्य होने का उल्लेख नहीं है। 'भक्तमाल' के बाद रची हुई ध्रुवदासकृत 'भक्तनामावली' में, यहाँ तक कि चैतन्य मतानुयायी प्रियादासकृत 'भक्तमाल-टीका' में भी, रामराय का नामोल्लेख नहीं हुआ है। इसके विरुद्ध 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में रामराय को गोसाईं विट्ठलनाथ का सेवक बतलाते हुए उनका रचा हुआ गोसाईं जी की वन्दना का एक पद भी उद्धृत किया गया है, जो वार्ता के अतिरिक्त 'रागकल्पद्रुम'[३] में भी मिलता है।

---

२. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'घनानंद' के वाङ्मुख में आनंदघन का उल्लेख पृ० ६७ पर और उक्त पद का संकलन पृ० ४४९ पर हुआ है। ३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, द्वितीय खंड, पृ० ३७० और रागकल्पद्रुम, भाग, २ पृ० १००।

इसके अतिरिक्त वल्लभमत की कीर्त्तन-पोथियों में रामराय के अनेक पद संकलित हैं, जो वल्लभ-संप्रदायों में सदा से बड़े आदरपूर्वक गाये जाते रहे हैं। इससे उनका संबंध चैतन्य मत की अपेक्षा वल्लभ मत से अधिक सिद्ध होता है। हमारा अनुमान है कि रामराय पहले वल्लभ-मतानुयायी थे और बाद में चैतन्य मत की ओर आकर्षित अवश्य हुए। लेकिन उनका संबंध वल्लभ मत से बराबर बना रहा। इसीलिए संभवतः चैतन्य मतानुयायी भक्तों में उन्हें उचित स्थान नहीं मिल सका। रामराय के अनुज चंद्रगोपाल निश्चित रूप से चैतन्य मतानुयायी थे। वे रामराय की प्रेरणा से ही गौर चरणाश्रित हुए थे, जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

गौर-चरन की रति दई, दई दास-गति मोय।
बलिहारी ता बंधु की, जा सम कोऊ न होय।।

इस प्रकार रामराय का स्वयं श्री नित्यानंद जी से दीक्षा लेना सिद्ध नहीं होता है। यह संभव है कि अपने उत्तर जीवन में उन्होंने अथवा उनकी प्रेरणा से चंद्रगोपाल ने नित्यानंद की शिष्य-परंपरा के किसी महानुभाव से चैतन्य-मत की दीक्षा ली हो। रामराय को नित्यानंद का साक्षात् शिष्य सिद्ध करने के लिए ही संभवतः उनका जन्म संवत् १५४० में बतलाया जाता है। वस्तुतः वे उसके बाद उत्पन्न हुए ज्ञात होते हैं। उनका रचा हुआ 'गीतगोविंद' का ब्रजभाषा पदानुवाद है जिसके अन्त में उसके रचना-काल के रूप में सं० १६२२ वि० का उल्लेख हुआ है।

रामराय का जन्म संवत् १५४० वि० मानने से 'गीतगोविंद भाषा' की रचना के समय उनकी आयु ८२ वर्ष की होती है, जो साधारणतया स्वीकार योग्य नहीं है। अनुमानतः उनका जन्म सं० १५४० से प्रायः ५० वर्ष बाद का होना चाहिए। वे नाभादासकृत 'भक्तमाल' और ध्रुवदासकृत 'भक्तनामावली' के अनुमानित रचना-काल सं० १६५० से १६६० तक इतने प्रसिद्ध हुए ज्ञात नहीं होते कि उक्त ग्रंथों में उनके नामोल्लेख की आवश्यकता प्रतीत होती। रामराय का मत और उनका जन्म-काल विवादग्रस्त होने पर भी यह निश्चित है कि उनका घराना नित्यानन्द के परिकर में सदा से चैतन्य मतावलम्बी रहा है।

रामराय और चन्द्रगोपाल दोनों संस्कृत के विद्वान् और ब्रजभाषा के उत्कृष्ट वाणीकार थे। उनकी काव्य-रचना प्रौढ़ और भाषा परिमार्जित है। उन्होंने अत्यन्त मनोहर शैली में राधा-माधव की सरस निकुंज लीलाओं का वर्णन किया है। रामरायकृत 'गीतगोविंद' का पदानुवाद और 'आदिवाणी' नामक उनके पदों का संकलन दोनों प्रकाशित हो चुके हैं। चन्द्रगोपाल के पदों का हस्तलिखित संग्रह 'चन्द्रचौरासी' के नाम से उपलब्ध है।

रामराय के १२ शिष्य थे। वे सब के सब भक्त और कवि कहे जाते हैं। उनमें **भगवानदास** और **चन्द्रगोपाल** के पुत्र **राधिकानाथ** प्रमुख थे। चन्द्रगोपाल के ४ शिष्यों में रसिकमोहन मुख्य थे। उन सबकी ब्रजभाषा-काव्य-रचनाएँ लिखित रूप में उपलब्ध हैं। रामराय के प्रमुख शिष्य भगवानदास कौन थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। 'वार्ता' में उनको आगरा के सूबेदार का दीवान बतलाया गया है। यमुनावल्लभ जी के घराने की सामग्री के अनुसार वे आमेर के राजा भगवानदास थे जिन्होंने गोवर्धन में श्री हरिदेव जी का मंदिर बनवाया था। 'भक्तमाल' छप्पय संख्या १८८ में मथुरा निवासी एक भगवानदास का उल्लेख हुआ है। वे भागवत-

ज्ञाता एक भक्त जन थे। प्रियादास ने 'भक्तमाल-टीका' में उन्हें तिलक-माला के प्रति निष्ठावान और मथुरा का स्थायी निवासी बतलाया है। उनके आमेर नरेश होने का उल्लेख न तो नाभादास ने किया है और न प्रियादास ने। प्रियादास ने उनके द्वारा हरिदेव का मन्दिर बनवाया था, किन्तु वे स्थायी रूप से मथुरा, वृन्दावन अथवा गोवर्धन में कभी नहीं रहे। वे अकबर के शासन-काल में लाहौर के सूबेदार थे। उनका अधिकांश जीवन काश्मीर, गुजरात और पंजाब में रहकर युद्ध करते हुए बीता था। रामरायकृत 'आदिवाणी' में उसका माहात्म्य सूचक भगवानदास-कृत एक छंद है, जिसमें बताया गया है कि उक्त वाणी स्वयं रामराय ने भगवानदास के लिए कही है—

कहे सेवक भगवानदास, सुन्दर सुखदानी।
अनुपम श्री गुरुदेव, दयाकर बोली बानी।।

आमेर के राजा भगवानदास को राजनीतिक झंझटों से इतना अवकाश कहाँ था कि वे रामराय के पास रहकर उनकी वाणी लिखते और स्वयं भी रचना करते? अनुमानतः रामराय के शिष्य भगवानदास आमेर नरेश नहीं, बल्कि इसी नाम के कोई अन्य भक्त-कवि थे। वल्लभ-मत की कीर्तन-पोथियों में 'भगवान हित रामराय' की छाप के अनेक पद मिलते हैं। रामराय कृत 'आदिवाणी' और 'गीतगोविंद' के अनुवाद में भी इस छाप के कई पद हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार इस छाप के समस्त पद भगवानदासकृत हैं, रामरायकृत नहीं। केवल भगवानदास की छाप के भी उनके अनेक पद मिलते हैं। उनकी रचना उच्चकोटि की है। वे रामराय और चन्द्रगोपाल के समान ही उत्तम वाणीकार थे।

चन्द्रगोपाल के वंशजों में **राधिकानाथ** और **ब्रह्मगोपाल** नामक दो-दो भक्त कवि विभिन्न कालों में विद्यमान कहे जाते हैं, जो बड़े और छोटे के नाम से स्पष्ट किये गये हैं। बड़े राधिकानाथ चन्द्रगोपाल के पुत्र और रामराय के शिष्य थे। वे ब्रजभाषा के उत्तम वाणीकार थे। उनकी 'महावाणी' नाम की रचना लिखित रूप में प्राप्त है। छोटे राधिकानाथ की 'भावसिंधु' नामक रचना बतलायी जाती है। बड़े ब्रह्मगोपालकृत 'हरिलीला' नामक काव्य बाबा कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुका है। छोटे ब्रह्मगोपाल चंद्रगोपाल के वंश में बड़े प्रतापी महानुभाव हुए हैं। उन्होंने १९ वीं शती में वृन्दावन में ब्रह्मपुरी नामक बस्ती स्थापित कर उसमें अपने पारिवारिक और सजातीय जनों को बसाया था। उन्होंने 'बारह वैष्णवन की वार्त्ता' नामक ग्रन्थ में रामराय के १२ शिष्यों का वृत्तान्त लिखकर अपने पूर्वजों की गौरव-वृद्धि का प्रथम प्रयास किया था। उन्होंने 'ब्रह्म' उपनाम से ब्रजभाषा में काव्य-रचना भी की है। ऐसा जान पड़ता है कि रामराय और चन्द्रगोपाल के अस्तित्व-काल को प्रायः ५० वर्ष पूर्व का बतलाने से जो बाद के वंशजों के समय में व्यवधान पड़ा है, उसे दूर करने के लिए ही एक नाम के दो व्यक्तियों की कल्पना की गयी है। तथ्य यह मालूम होता है कि राधिकानाथ और ब्रह्मगोपाल एक-एक व्यक्ति ही थे, दो-दो नहीं। राधिकानाथ चन्द्रगोपाल के पुत्र थे और ब्रह्मगोपाल ब्रह्मपुरी के निर्माता एवं 'हरिलीला' के रचयिता। ब्रह्मगोपाल के पौत्र श्री **नंदकिशोर गोस्वामी** थे, जो संस्कृत के विद्वान् और 'भागवत' के अद्वितीय वक्ता हुए हैं। उनके संबंध में श्री राधाचरण गोस्वामी ने कहा है—

भयो न कोई होयगो, वक्ता त्रिभुवन रंध्र मां,
श्री नंदकिशोर पूरन कला, भए भागवत-चन्द्रमा।

नंदकिशोर गोस्वामी ने संस्कृत में कई बड़े काव्य-ग्रंथों की रचना की है, किन्तु ब्रजभाषा-काव्य की उनकी छोटी और साधारण रचनाएं ही उपलब्ध होती हैं। उन्होंने 'भागवत' की कथा को ब्रजभाषा गद्य में भी लिखा है। नंदकिशोर गोस्वामी के अनुज **ब्रजकिशोर गोस्वामी** थे। उन्होंने 'उद्धवसंदेश' की टीका और श्री राधामाधव की सेवा संबंधी एक छोटी काव्य-रचना की है। ब्रजकिशोर के पुत्र **वासुदेव गोस्वामी** और उनके पौत्र **प्रियतमलाल गोस्वामी** थे। वे श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी के क्रमशः पितामह और पिता थे। वासुदेव गोस्वामी ने अपनी 'प्रणालिका' नामक रचना में जयदेव से अपने समय तक के पूर्वजों के नाम और जन्म-संवत् खोज कर लिखे हैं। वे कहते हैं—

विक्रम संवत जन्म को, जाकौं जा विधि सोय।
वासुदेव देखी लिखी, खोज करी सब होय॥

प्रियतमलाल गोस्वामी ने 'श्री रसिकाचार्य चरितावली' की रचना कर जयदेव का विशेष रूप से और उनके बाद होने वाले अपने पूर्वजों का संक्षिप्त रूप से ब्रज-भाषा काव्य में वृत्तान्त लिखा है। उसके बाद श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी ने इसे और भी व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है कि श्री यमुनावल्लभ की यह मान्यता कि जयदेव और रामराय उसके पूर्वज थे, अधिकतर वासुदेव गोस्वामी और प्रियतमलाल गोस्वामी की रचनाओं पर आधारित है। उन दोनों ने अपने पूर्वजों के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह परम्परागत प्रचलित अनुश्रुतियों पर आधारित जान पड़ता है। उन्होंने उन सबके जो जन्म-संवत् निश्चित किये हैं, वे अधिकतर अनुमानिक ही हैं। इस प्रकार जयदेव और रामराय से कई सौ वर्ष बाद इस २० वीं शती में लिखित उनके तथाकथित वंशों के जन्म-काल और जीवन-वृत्तांत कहाँ तक प्रमाणिक हो सकते हैं, यह विचारणीय है। फिर भी चैतन्य-मत के ब्रजभाषा साहित्य में इस सामग्री का विशेष महत्व है, क्योंकि इससे अनेक नयें कवियों की अज्ञात रचनाएं प्रकाश में आयी हैं।

नित्यानन्द के परिकर में प्रसिद्ध भक्त कवि **श्यामानन्द** हुए हैं? उन्होंने बंगाल और उड़ीसा के सीमावर्ती क्षेत्र में चैतन्य मत का प्रचार किया था। उन्होंने कुछ पद बँगला मिश्रित ब्रजभाषा में लिखे हैं। इनकी शिष्य-परम्परा में एक **साधुचरण** नामक भक्त कवि की 'रसिक-विलास' नाम से ब्रजभाषा काव्य-रचना प्राप्त हुई है। इसमें श्यामनंद तथा उनके शिष्य रसिकानंद और रसिकमुरारी ने किस प्रकार भक्ति-तत्व का प्रचार किया, इसका वर्णन है। इसका रचना-काल संवत् १७९८ वि० है।

अद्वैताचार्य के परिकर में एक **वृन्दावनदास** नामक भक्त कवि की ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। ये रचनाएं श्री देवकीनंदनदास कृत बँगला 'वैष्णववंदना' और श्री नरोत्तमदास ठाकुर कृत बँगला 'प्रेमभक्तिचंद्रिका' के ब्रजभाषा के पद्यानुवाद हैं। उन्होंने रघुनाथदास गोस्वामी कृत संस्कृत-रचना 'विलापकुसुमांजलि' का भी ब्रजभाषा पद्यानुवाद किया है। पिछले दो अनुवादों के रचना-काल क्रमशः सं० १८१३ और १८१४ वि० हैं।

चैतन्य मत में चैतन्यदेव, नित्यानंद और अद्वैताचार्य के पश्चात् गदाधर पंडित गोस्वामी का महत्व माना जाता है। वे चैतन्यदेव के अंतरंग पार्षद थे और उनके साथ जगन्नाथपुरी में रहकर उन्हें 'भागवत' सुनाया करते थे। उनके शिष्यों में अनंताचार्य और श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी मुख्य हैं। उन दोनों की शिष्य-परंपरा में ब्रजभाषा के अनेक भक्त कवि हुए हैं। अनंताचार्य के शिष्य **हरिदास** थे, जो गोविन्ददेव के सेवाधिकारी और सुप्रसिद्ध भक्त थे। उनके आग्रह से कृष्णदास कविराज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'श्री चैतन्यचरितामृत' की रचना की थी। वे गौड़ीय महात्मा ज्ञात होते हैं, किन्तु उनकी एक ब्रजभाषा काव्य-रचना 'युगल प्रेमरसबोधिका' कही जाती है। इसे उन्होंने रूप गोस्वामी की रचना के आधार पर उन्हींकी आज्ञा से लिखा था। उनके शिष्य **माधवमुदित** और उनके पुत्र **भगवतमुदित** थे। माधवमुदित आगरा निवासी भावुक भक्तजन थे। उनकी कुछ थोड़ी सी ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। उनके पुत्र भगवतमुदित उच्चकोटि के भक्त और विख्यात कवि थे। हिन्दी ग्रंथों की खोज-रिपोर्टों में उनके चार ग्रंथों का नामोल्लेख हुआ है। ये ग्रंथ हैं—१—'हितचरित्र', २—'सेवकचरित्र', ३—'रसिकअनन्यमाला,' और ४—'वृंदाबनशतक'। वास्तव में उनके रचे हुए चार नहीं, बल्कि दो ही ग्रंथ हैं—'रसिकअनन्य-माला' और 'वृंदाबनशतक'। 'हितचरित्र' राधावल्लभीय कवि उत्तमदास कवि की कृति है। यह रचना प्रायः 'रसिकअनन्यमाला' के आरम्भ में लिखी हुई मिलती है। इसी से हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने इसे भ्रमवश भगवतमुदित की कृति समझ लिया है। 'सेवकचरित्र' स्वतंत्र रचना नहीं है। 'यह 'रसिकअनन्यमाला' का ही एक अंश है। इस प्रकार भगवतमुदित की रचनाओं के रूप में 'रसिकअनन्यमाला' और 'वृंदाबनशतक' इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त २०७ स्फुट पद भी उपलब्ध हुए हैं। चैतन्य मतानुयायी होते हुए भी उन्होंने राधावल्लभीय भक्तों का सर्वप्रथम चरित्र-ग्रंथ 'रसिकअनन्यमाला' की रचना की है। इसलिए मिश्रबंधु आदि हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने उन्हें भ्रमवश हितहरिवंश का अनुयायी समझ लिया है। उनका दूसरा ग्रंथ 'श्री वृंदाबनशतक' प्रबोधानंद सरस्वतीकृत इसी नाम के विख्यात संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। इसकी रचना सं० १७०७ वि० में हुई थी। गदाधर पंडित गोस्वामी की शिष्य-परम्परा के **दामोदरदास** की 'स्मरणमंगल' नामक एक रचना उपलब्ध है। इसे उन्होंने रूप गोस्वामीकृत इसी नाम की संस्कृत रचना के अनुवाद रूप में लिखा है। दामोदरदास का निश्चित समय और जीवनवृत्तान्त ज्ञात नहीं हो सका है।

गदाधर पंडित गोस्वामी के परिकर में श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी के शिष्य **नारायण भट्ट** हुए हैं। उन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों की रचना द्वारा ब्रज की गौरव वृद्धि का महान् प्रयास किया था। नारायण भट्ट की शिष्य-परंपरा में ब्रजभाषा के कई कवि हुए हैं। उनके शिष्य **नारायण-दास श्रोत्रिय** का रचा हुआ गुरु-वंदना का एक पद प्राप्त हुआ है। इसीसे उनके कवि होने की बात ज्ञात होती है। नारायण भट्ट की चौथी अथवा पाँचवीं पीढ़ी में **गोपाल भट्ट** नामक एक भक्त कवि हुए हैं। उनके कुछ पद उपलब्ध हैं। इन्हें भ्रमवश वृंदावन के सुप्रसिद्ध गोस्वामी **श्री गोपाल भट्ट** की रचना समझ लिया जाता है। बँगला ग्रंथ 'पदकल्पद्रुम' में गोपाल भट्ट के नाम से ब्रजभाषा

के जो तीन पद संकलित हैं, वे इन्हीं के रचे हुए ज्ञात होते हैं। गोपाल भट्ट १८ वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।

नारायण भट्ट के वंशज यदुपति भट्ट के शिष्य **सुबलश्याम** कृत ब्रजभाषा रचना 'चैतन्य-चरितामृत' उपलब्ध हुई है। यह इसी नाम के विख्यात बँगला ग्रंथ का ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। मूल ग्रंथ में तीन खंड हैं, किन्तु सुबल श्याम कृत केवल आरंभिक दो खंड ही उपलब्ध हुए हैं। इन्हें बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। नारायण भट्ट की शिष्य-परंपरा में दो भक्त कवि **ललित सखी** और **लाड़िलीदास** की भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। ललित सखी कृत 'कहानी-रहसि' और 'कुँवरकेलि' नामक दो छोटे ग्रंथ हैं। इनमें से दूसरे की रचनातिथि सं० १८३६ वि० की श्रावण कृष्णा ६ है। लाड़िलीदास बरसाने के गोस्वामी नारायणदास श्रोत्रिय के वंशज थे। उनके रचे हुए कुछ पद बरसाने के मंदिरों में गाये जाते हैं। वे १९ वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

चैतन्य मत के सर्वमान्य आचार्यों में वृंदावन में निवास करने वाले गौड़ीय गोस्वामियों का अन्यतम महत्व है। उन्होंने स्वयं तो ब्रजभाषा में रचना नहीं की, किन्तु उनके द्वारा ब्रज-संस्कृति और ब्रज-साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन गोस्वामियों में सनातन सबसे अधिक वयोवृद्ध और आदरणीय थे। उनके परिकर के ब्रजभाषा कवियों में सर्वप्रथम नाम **सूरदास मदनमोहन** का आता है। अपनी सरस और भावपूर्ण पदावली के कारण वे ब्रजभाषा के प्रमुख भक्त कवियों में गिने जाते हैं। पदावली के अतिरिक्त उनका रचा हुआ 'भागवत दशमस्कंध' का ब्रजभाषा पद्यानुवाद भी प्राप्त हुआ है। इसकी एक अपूर्ण प्रति काँकरौली विद्या विभाग में है। सनातन गोस्वामी के परिकर में **किशोरीदास** और **गौरगणदास** नामक दो भक्त कवियों की ब्रजभाषा रचनाएँ भी मिली हैं। गोस्वामी किशोरीदास सनातन गोस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में वृंदावन के ठाकुर श्री मदनमोहन की गद्दी के आचार्य थे। वे बंगाली ब्राह्मण और गोस्वामी वंशीदास के शिष्य थे। उनका अस्तित्व काल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। वे काव्य और संगीत के प्रेमी थे। उनका रचा हुआ बसंत का एक पद 'श्री गौड़ेश्वर संप्रदाय का सचित्र इतिहास' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने कीर्तन संबंधी स्फुट पदों की रचना की थी। हमारी खोज में 'किशोरीदास की बानी' नामक एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुई है। इसमें कवि का परिचय नहीं दिया गया है, किन्तु इसके आरंभ में दिए हुए वंदना के पदों से वह चैतन्य मतानुयायी सिद्ध होता है। किशोरीदास नाम के कई कवि हुए हैं। इससे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि यह रचना किस किशोरीदास की है। यदि यह गोस्वामी किशोरीदास की ही रचना है, तो वे उत्तम वाणीकार सिद्ध होते हैं। किशोरीदास नामक एक राधावल्लभीय भक्त कवि ने रूप गोस्वामी कृत ग्रंथ के आधार पर 'राधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका' की रचना की थी। गौरगणदास कृत 'गौरांग भूषण मंझावली' नामक एक छोटी सी रचना प्राप्त हुई है। इसे बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इसके संक्षिप्त प्राक्कथन में बाबा जी ने गौरगणदास को 'श्री सनातन गोस्वामी चरणों के आश्रित प्रिय शिष्य' बतलाया है, किन्तु रचना के अध्ययन से गौरगणदास का अस्तित्व-काल सनातन गोस्वामी के बहुत बाद का जान पड़ता है।

हिन्दी काव्य में मंज या माँझ काव्यरूप की एक परंपरा है। इसमें हिन्दी शब्दों के साथ फ़ारसी शब्दों का प्रचुरता से मिश्रण किया जाता है। कभी-कभी पूरी शब्दावली ही फ़ारसी भाषा की होती है। क्रिया का रूप खड़ी बोली जैसा होता है। १८ वीं शती के **वल्लभ रसिक और** १९ वीं शती के **सीतलदास** और **सहचरिशरण** इस शैली के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। मिश्रबंधुओं ने सीतल के काव्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें खड़ी बोली का प्रथम कवि माना है। गौरगणदास ने भी माँझों की रचना की है।

गौरगणदास निश्चित रूप से सीतलदास से बहुत पहले हुए। अनुमानतः वे वल्लभ रसिक के समकालीन और १८ वीं शती के आरंभ में विद्यमान थे। 'गौरांगभूषण मंझावली' में माँझों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी हैं।

रूप गोस्वामी के परिकर में **माधुरी** नामक एक उत्कृष्ट कवि हुए हैं। बाबा कृष्णदास ने उनकी रचनाओं को संकलित कर उन्हें 'श्री माधुरीवाणी' नाम से प्रकाशित किया है। इसमें उनकी निम्नलिखित रचनाएँ संगृहीत हैं : १—उत्कंठा माधुरी, २—वंशीबट माधुरी, ३—केलि-माधुरी, ४—वृदावन माधुरी, ५—दान माधुरी, ६—मान माधुरी, ७—होरी माधुरी, ८—प्रिया जू की बधाई ।

माधुरी ने अपनी रचनाओं में अधिकतर संयोग शृंगार का भावपूर्ण वर्णन किया है, किन्तु उनकी 'उत्कंठा माधुरी' में असह्य विरह वेदना और मिलन की उत्कट चाह भी दिखलायी देती है। 'माधुरी' उनका उपनाम है। काँकरौली विद्या विभाग में उनकी रचनाओं की कुछ हस्त-प्रतियाँ हैं जिनकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनका नाम माधवदास कपूर था।

रघुनाथ भट्ट गोस्वामी के परिकर में **गदाधर भट्ट** और **बल्लभ रसिक** नामक दो विख्यात भक्त कवि हुए हैं। उनसे हिन्दी जगत् भली-भाँति परिचित है।

गोपाल भट्ट गोस्वामी की शिष्य-परंपरा में सदा अनेक विद्वान् साहित्यकार और कवि होते रहे हैं। उनके उपास्य ठाकुर श्री राधारमण की गद्दी वृंदावन में है। उनके परिकर में ब्रजभाषा के सबसे अधिक भक्त कवि हुए हैं। इनमें सर्वप्रथम नाम **मनोहर राय** का आता है। वे श्री गोपाल भट्ट की शिष्य-परंपरा में रामशरण चट्टराज के शिष्य थे। उनके रचे हुए ग्रंथ 'श्री राधारमण रससागर' की पूर्ति सं० १७५७ वि० में वृन्दावन में हुई थी। इसे बाबा कृष्णदास ने प्रका-शित किया है। इसके अतिरिक्त 'रसिकजीवनी' और 'संप्रदायबोधिनी' नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी कही जाती हैं। बाबा कृष्णदास के मतानुसार ब्रजभाषा ग्रंथ 'क्षणदा गीति चिंतामणि' भी उनके द्वारा संपादित है। हमने 'संप्रदायबोधिनी' की एक हस्तलिखित प्रति देखी है। हमारा अनुमान है कि यह किसी अन्य मनोहर कवि की रचना है। मनोहरदास के शिष्य **प्रियादास** थे। नाभादास कृत 'भक्तमाल' के टीकाकार होने के कारण उनका नाम भक्तजनों में विख्यात है। उसकी मुख्य रचना 'भक्तमाल' की 'भक्त रस बोधिनी' टीका है, जो नाभादास कृत 'भक्तमाल' के साथ कई स्थानों से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त उनकी छोटी-छोटी चार रचनाएँ और प्राप्त हुई हैं। उनके नाम हैं : 'रसिकमोहिनी' 'अनन्यमोहिनी', 'चाह वेली' और 'भक्त सुमरिणी'। इन्हें बाबा कृष्णदास ने एक जिल्द में प्रकाशित किया है। प्रियादास के पौत्र **वैष्णवदास रसजानि**

थे। उन्होंने प्रियादास कृत 'भक्तमाल' टीका का माहात्म्य लिखा है। इसका प्रकाशन रूपकला की 'भक्तमाल टीका' के अंत में हुआ है। इन्होंने 'गीतगोविंद' और 'भागवत' के ब्रजभाषा अनुवाद भी किये थे। इनका प्रकाशन बाबा कृष्णदास द्वारा हो चुका है। 'भागवत' जैसे विशाल भक्ति-ग्रंथ का सरल ब्रजभाषा में श्लोकों के क्रमानुसार करने का उनका प्रयास अत्यंत सराहनीय है। इसकी रचना चौपाई छंद में हुई है। बाबा कृष्णदास के ग्रंथ-संग्रह में एक वृहत् संग्रह की अपूर्ण प्रति मिली है। बाबा जी ने इसको किसी पुरानी फटी हुई पुस्तक से नकल किया था। पुस्तक में आरंभिक और अंतिम अंश नहीं हैं तथा उसमें संकलित ८९३ छंदों में से किसी में कवि-छाप नहीं है। इससे पुस्तक और रचयिता के नामों के साथ उसके रचना-काल का भी बोध नहीं होता। फिर भी उसकी अंतरंग परीक्षा करने पर कुछ ऐसी सूचनाएँ मिलती हैं, जिनसे इस वृहत् ग्रंथ का रचयिता भी वैष्णवदास अनुमानित होता है। इस पुस्तक में भगवान् श्री कृष्ण की दैनंदिनी लीलाओं का रसपूर्ण शैली में गायन किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है, इसकी रचना कृष्णदास कविराज के 'गोविंदलीलामृत' ग्रंथ के आधार पर हुई है।

गोपाल भट्ट गोस्वामी के परिकर में वैष्णवदास के बाद से अब तक अनेक साहित्य-मनीषी हुए हैं। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना से ब्रजभाषा के भंडार को भरा है। उनकी बहुसंख्यक रचनाएँ खोज में उपलब्ध हुई हैं। **गुणमंजरी, दक्षसखी, रामहरि, गोपाल, दयानिधि, हरिदेव, कृष्ण चैतन्य, लल्लू जी, बलवंतराय** आदि बीसों भक्त कवियों की सैकड़ों रचनाओं से हिन्दी जगत् प्रायः अपरिचित है। इस परिकर के जिन साहित्यकारों से हिन्दी जगत् सुपरिचित है, उनमें **ललित किशोरी**, **ललितमाधुरी** और **गोस्वामी राधाचरण** प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त हमारे संग्रह में चैतन्य मत के लगभग ५० ऐसे कवियों की रचनाएँ हैं जिनके रचयिताओं के नामों के अतिरिक्त उनके निश्चित वृत्तांत अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं। उनमें से कुछ प्रमुख नाम अकारादि क्रम से इस प्रकार हैं —

कृष्ण, कृष्ण जीवन, कृष्णचरण, कृष्णदास, किशोरीशरण, गोरचरण, चंद, दयालदास दीनदास, देवकीनंदनदास, नवचैतन्य, नवद्वीप प्रसाद, नवल बिहारिणी, नाथशरण, प्रियालाल, प्रियाशरण, बनविहारी, बिहारिणिदास, वल्लभ, भक्तराज, मदन, मुकुंददास, रसिक, रसिकदास, ललित लड़ैती, लाल मणि, वीर वल्लभदास, शरण किशोरी, शिवपददास, सदानंद, सरस माधुरी, सूरज और हरिवल्लभ।

●

दीनदयालु गुप्त

परमानन्ददास की भक्तिभावना एवं काव्य-प्रतिभा

कृष्णभक्त कवियो में अष्टछाप की प्रतिभा अद्वितीय है। इनमें सूरदास और परमानन्ददास अग्रगण्य हैं। ये परमभक्त, परम दार्शनिक, परम संगीतज्ञ तथा परम प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भाव स्पष्ट करते हुए श्री हरिराय जी उक्त दोनों भक्तों के विषय में कहते हैं—"वैष्णव तो अनेक श्री आचार्य जी के कृपापात्र हैं परन्तु सूरदास और परमानन्ददास ये दोऊ सागर भये। इन दोउन के कीर्तन की संख्या नाहीं सो दोऊ सागर कहवाये।" वार्ताकार ने उक्त 'चौरासी वैष्णन की वार्ता' में एक स्थान पर और कहा है कि 'ताते वाणी तो सब अष्टकाव्य की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जो सागर भये।' इस प्रकार परमानन्ददास जी का कवि और भक्त रूप सूरदास जी के समान ही बताया गया है और दोनों को सागर के समान भक्ति-काव्य-गुणाकर कहा गया है।

अष्टछाप के भक्त कवि परमानन्ददास जी की ख्याति उस स्थिति में भी थी जब उनका काव्य प्रकाश में भी नहीं आया था। किसी कवि अथवा लेखक की ख्याति तभी मिलती है जब उसके काव्य में लोकरंजन और लोक-कल्याण के गुण होते हैं। अष्टछाप भक्तों के काव्य में लोक-रंजन का तो गुण अपनी चरम सीमा पर है ही, उसमें लोक-कल्याण की भावना भी निहित है। परमानन्ददास के काव्य में भगवत प्रेम के विविध भावों से उद्भूत भक्ति रस के साथ उच्च कोटि का काव्यानन्द भी है जो जनमन को रसमग्न कर देता है। उस काव्य में वात्सल्य, हास्य और माधुर्य की अविरल प्रसन्नकारिणी धारा प्रवाहित है। उसमें प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के मनोरम चित्र अंकित हुए हैं। भावविभोरता के साथ उसमें विचारात्मकता भी है जो आचार्य वल्लभ की चिन्तन प्रणाली के अनुकूल है। भक्ति रस, काव्यानन्द और दार्शनिक ज्ञान-गरिमा इन तीनों गुणों का समावेश सूरकाव्य की तरह परमानन्ददास के काव्य में भी है।

भक्ति रस के अनेक भाव परमानन्ददास जी के पदों में व्यक्त हैं। आनन्द स्वरूप कृष्ण के चरण-कमलों का मकरन्द पान करते हुए परमानन्ददास जी कहते हैं—

आनन्द की निधि नंद कुमार।
परब्रह्म नट भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार॥
स्रवननि आनंद, मन महिं आनंद, लोचन आनंद आनंद पूरति।
गोकुल आनंद गोपी आनंद, नंद जसोदा आनंद मूरति॥
सुर मुनि आनंद संतनि आनन्द, निज गुण आनंद रास विलास।
चरण कमल मकरंद पान कों अलि आनंद परमानंद दास॥

इस प्रकार के पदों में परमानन्ददास की प्रेम-भक्ति के साथ यह मान्यता भी प्रकट है कि वे ब्रह्म के आनन्द अथवा रसरूप के उपासक थे। एक पद में वे कहते हैं—

रसिक सिरोमनि नंदनंदन।

× × ×

जिहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दावन।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानन्द मन।।

परमानन्ददास ने संसार के लोकव्यवहार से विरक्त होकर अपनी समस्त लौकिक भावनाओं को कृष्णार्पण कर दिया था और वे जीवनमुक्त भजनानन्दी भक्त रूप में गोवर्द्धन-नाथ जी के चरणों में रहते थे। प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप आनन्दकंद कृष्ण की भक्ति के आनन्द के सामने भक्तों ने सायुज्यादि मुक्तियों की भी अवहेलना कर दी है। भजनानन्द ही उनके लिए मुक्ति की अवस्था है। "सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू तें मीठी।"

एक पद में परमानन्ददास जी गोपी रूप में कहते हैं "मैं न तो योगाभ्यास के आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि अष्टांगयोग जानती हूँ, न ज्ञानियों का संन्यास मार्ग, और न कर्ममार्गियों का धर्मसंचय। भगवान् संन्यासियों को मुक्ति दें, लोक-कामना करने वाले साधकों को लौकिक कामराशि दें, मर्यादा-मार्गियों को धार्मिक सुख दें, परन्तु मुझे तो सदैव कृष्ण के पद-पंकजों के रस-पान में ही परमानन्द है। लोग कहते हैं कि योगाभ्यास से ज्योतिर्ब्रह्म की लयात्मक मुक्ति मिलती है तो मुझे वह मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो केवल श्याम रंग में रँग कर एकरस हो गयी हूँ, और उसी अवस्था में मैं रहूँगी।"

भगवान् के प्रेम और सौन्दर्य स्वरूप के ध्यान में भक्त अनेक मानसिक अवस्थाओं का अनुभव करता है। स्वरूप-सेवा से भक्त जब ऊपर उठ जाता है तो फिर उसे अपने मानसी जगत् में ही भगवान् के बहु भावमय रूप दीखते हैं और उन्हीं के साथ सानुभव अवस्था में वह संयोग-वियोग की अनुभूतियाँ करने लगता है। श्री गोवर्द्धननाथ की स्वरूप-सेवा करते-करते परमानन्द-दास मानसी सेवा में पहुँच गये थे। गोपी रूप परमानन्ददास संयोग-वियोग की ध्यानावस्था में गाते हैं—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन की मोहिनी मूरति, मन मन चित्र बनावति।।
एक बार जेहि मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावति।
मृदु मुसिकानि बंक अवलोकनि, चालि मनोहर भावति।।
कबहुँक निविड़ तिमिर आलिंगति, कबहुँक पिक स्वर गावति।
कबहुँक नैन मूँदि अन्तरगति, बनमाला पहिरावति।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि, ऐसे बिरह गँवावति।।

उक्त पद में अत्यधिक भाव-विभोरता और भक्ति की रसात्मकता है। वार्ताकार ने कहा है कि परमानन्ददास जी से इस पद को सुनकर आचार्य वल्लभ तीन दिन मूर्छित हो भगवान् के सानुभव में रहे थे। परमानन्ददास की वाणी अनुभूति से सिक्त थी, इसीलिए उसमें इतनी प्रभावा-

त्मकता और भावसंक्रमणता है। बाल, सख्य, दास्य और मधुर—इन चार भावों में से परमान्द-दास की भक्ति बाल और मधुर भाव की थी। वैसे साधन रूप में नवधा भक्ति के साथ उक्त सभी भावों का उन्होंने अनुकरण किया था।

परमानन्ददास की भक्ति-भावना के अतिरिक्त उनकी काव्य-प्रतिभा के भी अनेक ऐसे मनमोहक भाव-चित्र हैं जिनमें रसात्मकता है और मुग्धकारी काव्य की सहज कला प्रस्फुटित है। परमानन्ददास का भाव-क्षेत्र सूर की तरह प्रेम-भाव तक ही सीमित है जिसमें ये दोनों कवि गहरे उतरे हैं। बाल-चित्रण में सूर की भाँति परमानन्द स्वामी ने भी बाल-स्वभाव, बाल-चेष्टा और बाल-क्रीड़ाओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण किया है। इन चित्रों में सहज स्वाभाविकता के साथ सार्वजनीनता है। बाल-चेष्टाओं के साथ मातृहृदय की विविध मनोरम भावनाओं का भी सुन्दर चित्रण है।

"एक ग्वालिनि ने बालक कृष्ण को उठाकर अपनी स्नेह भरी छाती से लगा लिया। यशोदा डरी, कहीं उसके प्यारे बालक पर ग्वालिनि कोई जादू टोना न कर जाय। इस शंका के आते ही यशोदा ने ग्वालिनि को हटक दिया। बिचारी ग्वालिनि मन मार कर उठी और बेमन से चल दी। कृष्ण उस ग्वालिनि की गोद के लिए मचलने लगा। यशोदा ने देखा कि ग्वालिनि कोई टोटका कर गयी है। बच्चे को ग्वालिनि की गोद के लिए रोते देख यशोदा गयी और बड़े निहोरे और खुशामद से उस ग्वालिनि को लौटा लायी। ग्वालिनि का मलिन मन खिल उठा और अपने अंचल की ओट में मुसकराती हुई बालक कृष्ण के पास आयी। उसे देख कर बालक चुप हो गया।" वात्सल्य भाव के इस प्रकार के अनेक चित्र परमानन्ददास के काव्य में द्रष्टव्य हैं। बालक और माता के भावों का यह शब्द-चित्र अपने स्वाभाविक और सजीव रूप में नीचे के पद में अंकित है—

रहि री ग्वालि जोबन मदमाती।
मेरे छगन मगन से लालहिं, कत लै उछंग लगावति छाती॥
खीजत ते अब ही राख्यो है, नान्हीं उठत दूध की दाँती।
खेलन दे, घरु जाय आपने, डोलति कहा इतो मदमाती॥
उठि चली ग्वालि, लाल लगे रोवन, तब जसुमति ल्याई बहु भाँती।
परमानन्द ओट दै आँचर, फिरि आई नैननि मुसकाती॥

इस प्रकार देहात के अकृत्रिम और भोले-भाले जीवन, वहाँ की बोलचाल, वहाँ के पशुपक्षी तथा वहाँ के वातावरण के अनेक आकर्षक तथा स्वाभाविक चित्र परमानन्ददास ने अपनी लेखनी से खींचे हैं।

काछिन की आवाज सुनते ही आँगन में सूखते हुए धानों को अपनी छोटी-छोटी उँगलियों की अंजुलि में भर कर बालक कृष्ण को उत्सुकता के साथ ठुमुक-ठुमुक दौड़ने का दृश्य और उस समय उँगलियों की अंजुलि में धान देखकर माता के तुरन्त गोद में उठा कर चूमने तथा बेर पाकर बालक कृष्ण के अत्यन्त प्रसन्न होने का भाव-चित्र निम्नलिखित पद में द्रष्टव्य है—

कोउ मैया बेर बेचन आई।
सुनत ही टेरि नंद रावरि में, भीतर लई बुलाई॥
सूखत धान परे आँगन में, कर अंजुली बनाई।
ठुमुक ही ठुमुक चलत अपने रँग, गोपी जन बलि जाई॥
लिए उठाय उछंग रीति करि, मुख चुंबत न अघाई।
परमानन्द स्वामी आनन्दे, बहुत बेर जब पाई॥

बाल-स्वभाव और बाल-विनोदों के क्रीड़ास्थल मातृ हृदय के चित्र उतारने में सूरदास तो सिद्धहस्त हैं ही, परन्तु परमानन्ददास के काव्य में भी इस प्रकार के सजीव चित्र प्रचुर हैं।

बाल और सख्य भावों के चित्रण के अतिरिक्त शृंगार-भाव की भी, जिसे भक्तिशास्त्र की भाषा में 'मधुर भाव' कहा गया है, मनोरम अभिव्यंजना परमानन्ददास ने अपने पदों में की है। कृष्ण के अपार सौन्दर्य और अपार शक्ति के गुणों पर गोपी-जन मुग्ध हैं। इस आकर्षण से जन्य पूर्वराग की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण परमानन्ददास जी ने किया है। मिलन की कामना, प्रिय का ध्यान, ध्यान में संयोग का सुख और वियोग की विकलता तथा फिर तन्मयता आदि भाव अनेक प्रकार से उन्होंने व्यक्त किये हैं। उनके इन वर्णनों में भक्त के हृदय की वेदना से मिश्रित प्रेम पुलकावलि है। इनमें प्रलाप, व्याधि, जड़ता और उद्वेग आदि प्रेम-दशाओं का चित्रण है, परन्तु इनका काव्य शास्त्रीय ढंग का कृत्रिम रूप नहीं है। इनमें भाव की अनुभूति है, भाव की कल्पना नहीं है। प्रेम-पीर से प्रताड़ित परमानन्ददास की एक गोपी कहती है—

जब तें प्रीति श्याम सौं कीनी।
ता दिन तें मेरे इन नैननि, नैकहुँ नींद न लीनी॥
सदा रहत चित चाक चढ़्यौ सौं, और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन कौं, इहै बिचारत जाय॥
परमानंद पीर प्रेम की, काहू सौं न कहिए।
जैसे बिथा मूक बालक की, अपने तनमन सहिए॥

पूर्वराग प्रेम की विभोरता और विकलता के चित्रों के बाद परमानन्ददास के संयोगावस्था के भावचित्र कुछ अधिक रंगीन हैं। यहाँ संयोग-प्रेम की बहुरूपा मनोदशाओं का वर्णन काव्यशास्त्र में कथित प्रेम-दशाओं से मिलता-जुलता है। गोपियाँ वासकसज्जा, अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका, सम्भोगसुखहर्षिता, मानवती आदि रूपों में चित्रित की गयी हैं। इन अवस्थाओं के द्योतक अनेक पद 'परमानन्दसागर' में हैं।

उक्त संयोग-सुख भावों के उत्कर्षवर्द्धक, उद्दीपक विभाव और अनुभावों के वर्णन भी परमानन्द के काव्य में प्रचुर हैं। अनेक आमोद-प्रमोद परम्परागत होते हुए भी अपनी भावगहनता और प्रभावात्मकता में नूतन हैं। तीनों ऋतुओं के उल्लास और उमंग से भरे आनन्दोत्सवों के वर्णन में भी सूर और परमानन्ददास की प्रतिभा और कला अद्वितीय है। तीनों ऋतुओं के आनन्दोत्सवों को 'रास' (रससमूह) की संज्ञा दी गयी है। सूर की तरह परमानन्ददास ने भी तीनों रासों का वर्णन किया है। इन रासों में रसिक मन की सहगामिनी रंगीली तीनों ऋतुओं का वर्णन

भी रससिक्त है। वर्षा में हिंडोला और वर्षा-विहार का रास, शरद में विमल चाँदनी और पुष्पों से सुसज्जित छबीली रात्रि की शोभा के बीच नर्तन, वादन और गायन का उल्लासपूर्ण शारदी रास तथा प्रकृति की विविध मनोरम प्रफुल्लताओं के बीच होली का रंग भरा वासन्ती रास, इन तीनों रासों का सुखद चित्रण सूर की भाँति 'परमानन्दसागर' में भी है।

अष्टछाप-काव्य के सभी कवियों ने गोपी-कृष्ण के संयोग सुख की विविध लीलाओं का चित्रण किया है; परन्तु विरह का आत्मविषयात्मक प्रभावपूर्ण चित्रण तीन ही कवियों ने किया है: सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने। करुण वियोग का भक्ति के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। पूर्वराग और मान-वियोग की दशाएँ वस्तुतः संयोग अवस्था की ही अंगस्वरूपा हैं। परमानन्ददास के काव्य की इन दो भाव-अवस्थाओं का संकेत पीछे हमने किया है। प्रवास-वियोग की अनुभूति बहुधा भक्त लोगों ने बड़े गहन रूप में की है, और उसमें विरह की चरम वेदनापूर्ण आत्मविस्मृति की अवस्था का परमानन्द ने अनुभव किया है।

परमानन्ददास ने 'परमानन्दसागर' में कृष्ण-चरित्र के कथात्मक अंशों को बहुधा छोड़ दिया है, प्रसंगों को पकड़ कर भावचित्रों के सहारे कथा को केवल इंगित किया है। 'गोपी-परस्परवार्तालाप' रूप में गोपी-विरह तथा 'गोपीउद्धवसंवाद' रूप में 'भँवरगीत' के प्रसंग मुक्तक ढंग से 'परमानन्दसागर' में विद्यमान हैं। इन पदों में गोपी और ब्रजजनों की विकल वेदना का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। इन वर्णनों में काव्यशास्त्र में गिनायी हुई अनेक दशाओं के भाव-चित्र हैं। परन्तु वियोग की जिन अवस्थाओं का चित्रण परमानन्ददास ने किया है वे कृत्रिम अथवा शास्त्रीय ढंग के चित्रण नहीं हैं, उनमें भी कवि की स्वानुभूति है। वैसे परमानन्ददास जो काव्य-शास्त्रोक्त विरह-दशाओं से भली प्रकार परिचित थे। एक पद में उन्हों ने कहा है—"परमानन्द स्वामी के बिछुरे दशमी अवस्था आई"। दशवीं अवस्था 'मरण' की होती है।

मथुरा-गमन के समय एक गोपी विवशता में हाथ मींड़ कर बिसूरती है और अपनी आँखों को कोसती है कि ये दुष्ट लोचन कृष्ण के जाते समय जलमग्न हो गये, भली प्रकार से प्रिय को देख भी नहीं पाये—

चलत न देखन पाये लाल।
नीके करि न बिलोक्यो हरिमुख, इतनो रह्यो जिय साल॥
लोचन मूँदि रहे जल पूरित, दुष्ट भये तिहि काल।
दूर भएँ रथ ऊपर देखे, मोहन मदन गोपाल।
मींड़ति हाथ बिसूरति सुंदरि, आतुर बिरह बिहाल।
परमानन्द स्वामी फिरि चितयो, अंबुज नैन बिसाल॥

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप आदि अनेक मानसिक विरह-दशाओं के संवेदनशील वर्णन 'परमानन्दसागर' में हैं। इनके अतिरिक्त मलिनता, कृशता, अरुचि आदि शारीरिक अवस्थाओं के भी सजीव चित्र हैं। उसी प्रकार गोपी-उद्धव-संवाद के प्रसंग में भी गोपियों की विरह-दशा के मार्मिक भावों की व्यंजना हुई है। नीचे के पद में कवि संदेशवाहक उद्धव के ब्रज आने पर गोपियों की विरह-दशा का वर्णन करता है—

पतियाँ बाँचे हू नहिं आवै।
देखत अंक नयन जल पूरे, गद्गद प्रेम जनावै॥
नन्द किशोर सुहथ अच्छर लिखि, ऊधो हाथ पठाए।
समाचार मधुबन गोकुल के, मुखहीं बाँचि सुनाए।
एसी दशा देख गोपिन की, भक्ति मरम तब जान्यो।
मन क्रम बचन प्रेम पद अंबुज, परमानन्द मन मान्यो।

परमानन्ददास की भाषा-शैली भावानुकूल प्रभावशालिनी है। उसमें सरसता, चित्रमयता, सजीवता और प्रसादगुणपूर्ण अलंकारिता है। हमने अपने ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत परमानन्ददास की भक्ति और काव्य-कुशलता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सूरदास का 'सूरसागर' तो बहुत समय से उपलब्ध है, यद्यपि लाख सवा लाख पदों का 'सूरसागर' तो अभी तक कल्पना-जगत् की वस्तु ही बना हुआ है। 'परमानन्दसागर' के भी अभी बहुत समय तक हिन्दी जगत् को छपे रूप में दर्शन नहीं हुए थे। काँकरौली-विद्या-विभाग ने तथा अलीगढ़ वि० वि० के डॉ० गोवर्द्धन लाल शुक्ल ने इस अमूल्य ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रबन्ध कर वास्तव में बहुत उपयोगी कार्य किया है। यह भक्तिभाव एवं कवित्वपूर्ण ग्रंथ हिन्दी-संसार के सामने आ गया है जिसके आधार पर अब समुचित रूप से परमानन्ददास की प्रतिभा एवं भक्ति का परिचय मिल सकेगा।

●

नगेन्द्र

'रस' शब्द का अर्थ-विकास

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। यद्यपि दर्शन में भी, विशेषकर आनन्दवादी आगम-ग्रंथों में, आत्म-तत्व के व्याख्यान के अंतर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी सौन्दर्य के आस्वाद और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्य-शास्त्र में ही मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य-चेतना एक मिश्र वृत्ति है—इसके योजक तत्व हैं (१) प्रीति अर्थात् आनन्द और (२) विस्मय। भारतीय काव्यशास्त्र इस रहस्य से आरम्भ से ही अवगत था : उसके दो प्रतिनिधि सिद्धान्त--रस और अलंकार क्रमशः प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में प्रीति ताव का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित और विकसित हुआ और उधर विस्मय तत्त्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया। इन दोनों में रस-सिद्धान्त केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है—वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र की आधार-शिला यही है।

रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है : (१) पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; (२) आयुर्वेद का रस; (३) साहित्य का रस; और इसी से मिलता-जुलता (४) मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य के रस में रस का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़ कर निकाले हुए द्रव का, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस प्रकार सौहित्य के प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ-सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है। पदार्थ का सार (या सार-भूत द्रव) भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है। आगे चलकर ये दोनों अर्थ स्वतंत्र रूप में विकसित हो गये। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद—यह अर्थ सौहित्य के रस का ही विकास है। यहाँ पदार्थ-सार तो अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नहीं वरन् गुण (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। सौहित्य का रस जहाँ आस्वाद-प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति-प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक और अर्थ है देह-धातु—अर्थात् शरीर में अंतर्भूत ग्रंथियों का रस जिस पर शरीर का विकास निर्भर रहता है। यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस जहाँ रस का अर्थ है (अ) काव्य-सौन्दर्य और (आ) काव्यास्वाद —तथा काव्यानन्द भी। मोक्ष-रस या आत्म-रस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है; भक्ति-रस का अर्थ भी, सिद्धान्त-भेद होने पर भी, मूलतः यही है।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में आस्वाद का अंतर्भाव तो स्पष्ट है, चाहे उसको ग्रहण करने

का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा; द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्व का भाव भी प्रायः किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र मिलता है। रस शब्द का पहला अर्थ—अर्थात् पदार्थों का सारभूत द्रव—वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है। वनस्पतियों के रसों का वैदिक युग में प्रचुर प्रयोग होता था। मानव-सभ्यता के उस प्रभात-युग में यह स्वाभाविक ही था ; उदाहरणतया—

'महे यत्पित्र ईं रसं दिवे करवत्सरत्' (ऋ० १। ७१,५)

(अर्थात् जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हव्य रूप में रस देता है)।

इसके अतिरिक्त दूध और जल के अर्थ में भी रस का प्रयोग है: 'यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।, (ऋ० ७, १०४, १०)

(हे अग्नि ! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वों, गायों और संतानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है)।

किन्तु इन सबकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग। 'ऋग्वेद' में सोमरस का अत्यंत उच्छ्वसित वाणी में स्तवन किया गया है—

'तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये। सुतं भराय सं सृज।' (ऋ० ९, ६, ६)

(देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुक्त और अभीष्ट वर्षक सोमरस में गव्य मिलाओ)।

'सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपाः।' (ऋ० ९, २३, ५)

(संसार को धारण करनेवाले सोम इन्द्रिय-पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं)।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रवरूप वनस्पति-सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था—अतएव 'आस्वाद' रूप में भी रस का अर्थ-विकास स्वतः ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमें ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन में स्फूर्ति, शक्ति तथा मद का संचार होता था और उसके पान से एक विचित्र आह्लाद की प्राप्ति होती थी। अतः सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अंत में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया। वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानन्द का वाचक बन गया; 'अथर्ववेद' में उपर्युक्त अर्थ-विकास के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्ववेद १०, ५, ४४)

(अकाम, धीर, अमृत स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है, उस धीर अजर सदा-तरुण आत्मा को जाननेवाला मृत्यु से नहीं डरता।)

इसके उपरान्त उपनिषद्-काल का आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् काल को वेदान्त-काल अथवा वैदिक काल का अंतिम चरण भी कहा जाता है। वेद में जहाँ अंतर्जगत और बहिर्जगत, आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व तथा अनुभूति और तर्क दोनों का महत्व है, वहाँ उपनिषद् की प्रवृत्ति एकांत अंतर्मुखी है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि रस के अर्थ में भी इस युग में आकर सूक्ष्म-तत्वों का समावेश हो गया। उपनिषद् में रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ में तो इतना नहीं है ; हाँ द्रव्य की पोषक शक्ति और आस्वाद—द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ में अनेक संदर्भों में मिलता है–

'ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।'
(तैत्तिरीय उपनिषद् २, १ क)

(ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर अन्न-रसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है)।

यहाँ रस का अर्थ केवल द्रव्य नहीं है वरन् द्रव्य-जन्य देह-धातु और शक्ति आदि का है। अर्थात् यहाँ सौहित्य के रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस (देह-धातु) की विवक्षा अधिक है। द्रव्य और द्रव्य-जन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है, तन्मात्रा के अर्थ में यह प्रयोग भी वैदिक ही है। उपनिषद् में इसका स्पष्ट व्यवहार है—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वैतत्। (कठ, २; १, ३)

(रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान (या अनुभव), उसी आत्मा के कारण होता है। यदि वह न रहे, तो (फिर) क्या कुछ बच रहता है ?)।

बाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय के विषय का नाम रस है, और तत्व दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है। यहीं से यह शब्द, गुण, द्रव्य आदि का नाम धारण कर सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों में गया, जहाँ इसका सूक्ष्म, गहन विश्लेषण किया गया। आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति में ही तन्मात्राओं की स्थिति रहती है: शांत आत्मा इन सबसे मुक्त हो जाता है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।' (कठ० १; ३,१५)।

किन्तु भौतिक अर्थ में ही वह परम तत्त्व अरस है, पारमार्थिक अर्थ में वह सर्वरस है—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः .... ।' (छान्दोग्य ३; १४; २)

(वह ब्रह्मज्योति मनोमय है, प्राणशरीर है, प्रकाशरूप है, सत्यसंकल्प है, आकाश उसका आत्मा है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध और सर्वरस है ......)।

रस के अर्थ-विकास के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों (अथवा इस प्रकार के अन्य भी) उद्धरणों का विशिष्ट महत्व है—यहाँ रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि रस भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है। वह परम तत्व अरस भी है और सर्वरस भी है—'अरस' में रस का भौतिक अर्थ अभीष्ट है और 'सर्वरस' में आध्यात्मिक, क्योंकि भौतिक अर्थ में ही वह रस से विहीन और

आध्यत्मिक अर्थ में ही रसमय हो सकता है। लक्षणा की शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तिर-संक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है। रस का यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाता है: 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' (तैत्तिरीय उपनिषद् २, ७) (वह रस-रूप है, इसीलिए रस को पा कर, जहाँ कहीं रस मिलता है उसे प्राप्त कर, मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है।)

रस शब्द के अर्थ-विकास का क्रम यहाँ आकर एक मंज़िल पूरी कर लेता है। उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नहीं हुई, एक ही अर्थ क्रमशः सूक्ष्मतर होता चला गया है। रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियों का रस, अर्थात् 'द्रव्य' रूप रस। 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के 'आस्वाद' का वाचक बना और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोम रस का। सोम रस में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणों का भी वैशिष्टय था—ऊर्जा, स्फूर्त्ति, मस्ती आदि। अतः रस की परिधि में विकास-क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणों का भी समावेश हो गया। सामान्य अन्न-रस जहाँ आस्वाद-विशिष्ट ही होते थे, वहाँ सोमरस में आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था—अर्थात् सोमरस के आस्वाद में प्रकारान्तर से मानसिक तत्त्व का भी विशेष रूप में समावेश हो गया था। विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही रस-तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मरस या ब्रह्मरस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का अर्थ अन्न-रस या पदार्थरस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है।

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥ (इति विश्वः)

रस के उपर्युक्त अर्थों में से शृंङ्गारादौ' अर्थात् 'काव्य-रस' को छोड़ प्रायः अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्भावना इस युग में हो चुकी थी ('प्रायः' में पारद आदि परवर्ती अर्थ-विवृत्तियों का अन्तर्भाव हो सकता है—वैसे 'पारद' के रूप में भी रस का प्रयोग 'देहधातु' आदि का ही अर्थ-विकास है)। काव्यरस के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता। डा० शंकरन् का यही मत है (देखिए—दी थ्योरीज़ ऑफ़ रस एंड ध्वनि; सम एस्पेक्ट्स ऑफ़ सं० अलं०, पृ० ५) और हम भी छानबीन के बाद अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। परन्तु 'ऋग्वेद' की ही अनेक ऋचाओं से यह संकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लक्षणा ऋषियों की चिरवन्दिता शक्ति 'वाक्' के लिए भी रस का अर्थ-प्रसार करने लगी थी : वाणी के लिए 'पीना' क्रिया और 'स्वादु', 'मधु' आदि विशेषणों का प्रयोग इसका असंदिग्ध प्रमाण है। स्वयं डा० शंकरन् द्वारा उद्धृत 'ऋग्वेद' के कतिपय वाक्य हमारे मन्तव्य को पुष्ट करते हैं—

'पिबा त्व १ स्य गिर्वणः' (ऋ० ८, १, २६)।

(हे गीत-रसिक देव! तू इस (गीत के रस) का पान कर)।

'वचः स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्... ..,' (ऋ० १, ११४, ६)।

(रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत) ......।)

'मध्व ऊ षु मधूयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी'...... (ऋ० ५, ७३, ८)।
(मधु-प्रेमी रुद्रगण ! मधुवर्षिणी वह (वाक्) तुम्हारे लिए प्रस्तुत है....)।

'वाचो मधुपृथिवि ! देहि मह्यम्।' (ऋ० १२, १, १६)
(हे पृथिवी ! मुझे वाणी का मधु प्रदान कर)।

'वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः' (पूर्वार्द्ध—ऋ० १०, २४, ६)।

(यहाँ वाणी के लिए न केवल 'मधुमती' वरन् 'मधु के समान दीखने वाली' विशेषणों का प्रयोग किया गया है)।

वाणी के चमत्कार से वैदिक ऋषि पूर्णतः परिचित था—उसकी विभूतियों का उसने अनेक स्थलों पर भाव-विभोर होकर उद्गीथ किया है। 'ऋग्वेद' के उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त 'पीना' क्रिया और स्वादु तथा मधुर विशेषणों से यह स्पष्ट है कि इस चमत्कार की 'मधुर पेय रस' के रूप में भी वैदिक ऋषि कल्पना करते थे और सोमरस के प्रति अबाध आकर्षण होने के नाते यह बिम्ब कदाचित् उन्हें प्रिय भी था। मेरी अपनी धारणा है कि वाणी के चमत्कार के लिए पहले 'आस्वादे' शब्द और फिर आस्वाद्य 'रस' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के बीज कदाचित् यहीं मिल जाते हैं—ऋषि वाणी का पान करते थे और वे वाणी की मधुर एवं स्वादु रूप में भी कल्पना करते थे अर्थात् वाणी उनके लिए मधुर पेय अथवा 'रस' रूप में काव्य थी।

डा० शंकरन् के ही ग्रंथ में उद्धृत 'ऋग्वेद' का वाक्य हमारे अनुमान की पुष्ट कर देता है :

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥
... . तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं।(ऋ० ९, ६७, ३१-३२)

(जो पवमान ऋचाओं के रूप में ऋषियों द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है, वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लेता है.... उसके लिए सरस्वती क्षीर आदि का दोहन करती है)।

यहाँ रस का प्रयोग निश्चय ही ऋचाओं के अर्थात् वाणी के रस के लिए किया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाणी के शब्दार्थ के लिए होने लगा था : किन्तु यह भी व्यावहारिक प्रयोग मात्र था, शास्त्रीय नहीं।

इसके बाद रामायण-महाभारत काल आता है। यों तो 'वाल्मीकि-रामायण' के प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का अत्संत स्पष्ट उल्लेख है,

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम्॥८।
रसैः श्रृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिश्चसंयुक्तं काव्यमेतदगायताम्॥९॥

परन्तु बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है; किसी भी प्रामाणिक संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते। ब्लूमफ़ील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। 'रामा-

यण' में रस का प्रयोग जीवन-रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है। 'महाभारत' में भी वह जल, सुरा, पेय, गंध आदि का ही पर्याय है : केवल दो-एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं जैसे, काम और स्नेह के अर्थ में। महाभारत-काल के पश्चात् (भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना तक) सूत्रकाल आता है : यह मूल दर्शन-सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन दर्शनों के प्रथम आविर्भाव का युग है। इसी युग में वैयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' तथा वात्सायन का 'कामसूत्र' लिखा गया। इनमें से अधिकांश ग्रंथों में रस शब्द का विशेष अर्थ-विकास नहीं हुआ। दर्शन-सूत्रों में तन्मात्रा के अर्थ में और अर्थशास्त्र आदि में द्रव्यादि के रूप में ही उसका प्रयोग होता रहा।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव—हमारे अनुसंधान में सहायक इस युग का एक ग्रंथ है : 'कामसूत्र'। वात्सायन के नाम से प्रचलित 'कामसूत्र' का जो प्रसिद्ध संस्करण 'जयमंगला टीका' के साथ इस समय मिलता है उसमें 'रस' शब्द का प्रयोग रति, काम-शक्ति आदि के अर्थ में प्रायः हुआ है—

'रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।' (कामसूत्र, २,१, ६५)

'शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः।' (का० २, २, ३२)

एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का स्पष्ट प्रयोग है—

'तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्।' (६, २, ३५)।

इस पर 'जयमंगला' टीका है : नायकस्य श्रृङ्गारिदिषु य इष्टो रसो भावः स्थायिसंचारि-सात्विकेषु, लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम्।' (अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय श्रृङ्गारादि रस और स्थायी-संचारी आदि भावों का है)।

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है—वह वात्सायन-कृत मूलसूत्रों में से है या नहीं, यह कहना कठिन है। किन्तु वात्सायन के ही युग में, या उसके आसपास, 'रस' शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। अधिकांश विद्वानों का आज यही मत है कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की रचना कदाचित् ईसा पूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी : यह युग सूत्रकाल कहलाता है और इसका विस्तार ५-६ शती ई० पू० से ५-६ शती ई० तक माना जाता है—इस कालावधि में ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। 'कामसूत्र' की रचना इसके पूर्वार्द्ध में और 'भरत-सूत्र' की कदाचित् उत्तरार्ध में हुई। एक तो भरत-सूत्रों में ही प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इतना सांगोपांग और परिपूर्ण है और दूसरे स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा अनुवंश्य श्लोकों में उनके मन्तव्य का प्रयोग इतने प्रचुर रूप में किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार 'रस' शब्द के शास्त्रीय अर्थ के आविर्भाव का समय 'कामसूत्र' की रचना के आसपास ही पहुँच जाता है। इन दो शताब्दियों में शास्त्रीय अर्थ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को या भरत नाम से रचना करनेवाले सूत्रकार को उसका पूर्ण विस्तार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) 'रस' का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था, जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे।

(२) 'द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्य वाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग' के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा 'आस्वाद और ऊर्जा' आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया।

(३) सोमरस के वर्धमान प्रचार ने 'रस' शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता—'चमत्कार' आदि का समावेश कर दिया। प्रत्येक 'रस' या उसका 'आस्वाद' आनन्दप्रद नहीं होता, किन्तु सोमरस के प्रभाव से 'रस' आनन्द और तन्मयता—चमत्कार आदि का वाचक बन गया।

(४) लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओं के रस आदि) के लिए होने लगा, और दूसरी ओर,

(५) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा।

(६) 'वाणी का रस' काव्य-रस का ही समानार्थक है। यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है, पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोड़ा दूर है, काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है। अतः वाक्-रस को काव्य-रस का वाचक मानना सर्वथा युक्ति-संगत है।

(७) किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है, रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं है।

(८) अतः रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण-महाभारत-काल के पश्चात् भरत के नाट्य-सूत्रों से बहुत पहले—'कामसूत्र' के प्रभाव के फलस्वरूप, अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक हुआ होगा।

●

जगवंश किशोर बलबीर

संस्कृत नाटचशास्त्र में सम्बोधन-निर्देश

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने काव्य के अनेक प्रयोजन बताये हैं। उन्होंने कहा है कि काव्य के उत्पादन व आस्वादन में सहृदय इसलिए प्रयत्नशील होते हैं कि अन्य लाभ होने के साथ-साथ काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान भी होता है। लोक-व्यवहार से अभिप्राय न केवल वैयक्तिक आचार से है बल्कि अन्य व्यक्तियों के प्रति मानव का आचरण किस प्रकार का हो यह भी अभीष्ट है।[1] भारत में यह विषय धर्मशास्त्रों व नीतिशास्त्रों का रहा है, पर काव्य इनसे विलक्षण है। विदेशों में शिष्ट समाज में वैयक्तिक आचरण के पथप्रदर्शनार्थ विशेष पुस्तकों की रचना होती है; जैसे इंगलैण्ड में उपचार सम्बन्धी नियमों के संग्रह विषयक ग्रंथों की और फ्रांस में **सुबुआर-बीव्र** अर्थात् जीवन ज्ञान विषयक ग्रंथों की।[2] समान्यतया जीवन में व्यक्तिविशेष की बात-चीत इत्यादि से उसके समाजिक व सांस्कृतिक स्तर का बोध होता है। उसी प्रकार काव्य के अन्तर्गत नाटक के 'अवस्थानुकृतिर्नाटचम्'[3] होने के कारण रूपकों में भी पात्रविशेष का आचरण अपनी अवस्था के अनुरूप ही होना चाहिए।

सभी नाटचशास्त्रकारों ने रूपकों की कल्पना दृश्यकाव्य के रूप में की और रूपकों, विशेषकर नाटकों, प्रकरणों व नाटिकाओं, की गठन के निमित्त प्रायः पूर्वकालीन ग्रंथों के आधार पर धनंजय ने भी 'दृश्यम्' को 'नृत्यम्' व 'नृत्तम्' से विलक्षण बताने के लिए कहा—"रूपं दृश्य-तयोच्यते"[4] अर्थात् नाटच केवल श्रव्य काव्य न होकर रंगशाला में अभिनेय भी है। देखे जाने के कारण ही इसे दृश्य कहते हैं। नाटच नृत्य से भी भिन्न है, क्योंकि नृत्य तो 'भावाश्रय' होने के कारण आंगिकाभिनय की बहुलता होने से भावों का अभिव्यंजक है जब कि नाटच में पात्रों के सर्वांगीण प्रदर्शन के द्वारा रस को परिपुष्ट किया जाता है। नाटच नृत्त से भी विलक्षण है। स्पष्ट

---

१. तुलनीय—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥ काव्यप्रकाश १, २
तथा 'व्यवहारविदे' सम्बन्धी उनकी वृत्ति—"राजा विगतोचिताचारपरिज्ञानम्।"

२. इन ग्रंथों में प्रायः दैनिक जीवन में शिष्ट सामाजिक व्यवहार कैसा हो यह बताया जाता है। सामान्यतया इन ग्रंथों के कुछ विषय निम्नवत् होते हैं—परिचय कराने की विधि, अभिवादन तथा हाथ मिलाने का ढंग, मेज पर खाने व अतिथियों को बैठाने का ढंग, सम्बोधन निर्देश इत्यादि। ३. धनंजयकृत-दशरूपक (द० रू०) १, ७—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९२७। ४. वही, १, ७, व ९।

है कि पात्र रंगमंच पर प्रस्तुत हों और सात्विक, आहार्य, वाचिक तथा आंगिक चारों प्रकार के अभिनय द्वारा तथा वस्तु के निर्वाह के लिए अग्रसर हों। परन्तु भरत ने कहा है कि इनमें से वाचिक अभिनय का अधिक महत्व है—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यंजयन्ति हि॥ (ना० शा० का०,[5] १५, २)

अर्थात् (नाट्य की रचना के समय कवि द्वारा और अभिनय के समय पात्रों द्वारा—अभिनव गुप्त) वचनों का ध्यान रखना चाहिए। शब्द ही नाट्य का शरीर है, आंगिक, आहार्य व सात्विक अभिनय इसके अर्थ के अभिव्यञ्जक ही हैं।

इससे स्पष्ट है कि कथोपकथन की पद्धति का विशेष अध्ययन होना चाहिए। अतः रूपकों में प्रस्तुत विभिन्न पात्रों के परस्पर सम्बोधन-निर्देश भी अध्ययन के कम महत्वपूर्ण विषय नहीं हैं। नाट्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों में नाटकों इत्यादि में प्रयुक्त आमंत्रणा-विधि की विवेचना की गयी है और कदाचित् इसीलिए कोश ग्रंथों में, विशेषकर अमरकोश[6] में, भी नाट्यवर्ग के अन्तर्गत, यद्यपि संक्षेप में ही सही, भरत के 'नाट्यशास्त्र' अथवा अन्य ग्रंथों के आधार पर नाट्योक्ति का विवरण दिया गया है। पर रूपगोस्वामी[7] ने तो नाट्योक्ति के अन्तर्गत 'प्रकाशम्', 'आत्मगतम्' इत्यादि का विवरण दिया है। उपलब्ध कई रूपकों में आमंत्रणार्थ प्रयुक्त शब्दों को व्याख्याकारों[8] ने समझाया है और यत्र-तत्र तत्सम्बन्धी लक्षणग्रंथों के उद्धरण दिये है। सम्बोधन-निर्देश के

---

५. भरत कृत नाट्यशास्त्र (ना० शा० गा०—नाट्य-गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा, संख्या ६८, जिल्द २; ना० शा० का०—नाट्यशास्त्र, शास्त्र, काशी संस्कृत सीरिज, संख्या ६०। ६. नामलिङ्गानुशासनम् (अमरकोश), भानुजी दीक्षित की व्याख्या सुधा—शिवदत्त तथा नारायण राम आचार्य द्वारा सम्पादित—निर्णय सागर प्रेस, १९४४, वे०—१, ७, ११-१५। ७. रूप गोस्वामी कृत नाटकचन्द्रिका, पृ० १९३- १९५, कासिम बाजार, कलकत्ता संस्करण।

८. वर्णानुक्रमतः व्याख्याकरों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

क—काटयवेम—मालविकाग्निमित्रम् पर (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३५)
ख—जगद्धर—मालतीमाधवम् पर (वही, १९२६)
—वेणीसंहारम् पर (वही, १९३५)
ग—ढुण्डिराज—मुद्राराक्षसम् पर (मो० रा० काले सम्पादित, १९१६)
घ—त्रिपुरारि—मालतीमाधवम् पर (उपर्युक्त संस्करण)
ङ—पृथ्वीधर—मृच्छकटिकम् पर (नि० सा० प्रेस, बम्बई १९२२)
च—रंगनाथ—विक्रमोर्वशीयम् पर (वही, १९२५)
छ—राघवभट्ट—अभिज्ञानशाकुन्तलम् पर (वही, १९५८)
ज—रुचिपति—अनर्घराघवम् पर (वही, १९३७)
झ—वासुदेव—कर्पूरमंजरी पर (वही, १९२७)

अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' के व्याख्याकार ढुण्ढिराज ने कुछ सम्बोधनों को 'गालनम्' बताया है जिससे ज्ञात होता है कि भावावेश में किये सम्बोधननिर्देशों में गाली का अर्थ भी निहित था; जैसे रोषावेश में चाणक्य ने राक्षस को 'दुरात्मन्' कहा (मुद्रा०, अंक १, पृ० ३७ व अंक ३, पृ० ७९) या राक्षस ने दुःखावेश में लक्ष्मी के लिए 'अनभिजाता' शब्द का प्रयोग किया (मुद्रा०, अंक २, पृ० ५१)।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' ऐसा प्रथम ग्रंथ है जिसमें नाटकों में प्रयुक्त लौकिक वाक्यविधान[९] का उल्लेख हुआ है। इसका उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि नाटकों में उत्तम मध्यम व नीच पात्रों के द्वारा समान तथा उनसे उत्कृष्ट व हीन पात्रों के परस्पर सम्बोधन की विधि क्या है (ना०शा० गा० १७, ६६)। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि भरत का विवरण व्यापक अथवा सम्पूर्ण है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में उन सभी पात्रों की सम्बोधनविधि नहीं बतायी गयी जिनका रूपकों में काम पड़े। 'नाट्यशास्त्र' में पहले तो विविध पुरुषपात्रों की सम्बोधन विधि दी गयी है (ना० शा० गा० १७, ६७-८५) और फिर स्त्रीपात्रों की (वही १७, ८६-९४)। धनञ्जय ने भी 'नाट्यशास्त्र' के विभाजन का अनुकरण कर 'दशरूपक' (२, ६७-७१) में पहले तो पुरुषपात्रों के और फिर स्त्रीपात्रों के परस्पर आमंत्रणप्रकार की विवेचना की है। पर उन्होंने या उनके व्याख्याकार धनिक ने इस विधि को भरत के समान सीमित नहीं किया। लेखक ने यह स्वीकार किया है कि यह विवेचन 'दिङ्मात्र' ही है। 'नाट्यदर्पण'[१०] के लेखकों ने अपनी दस कारिकाओं पर सूक्ष्म विवृति दी है। सरस्वती भवन संग्रहालय, वाराणसी में सुरक्षित पुण्डरीककृत 'नाटकलक्षणम्' की एक हस्तलिपि[११] में संबोधना-निर्देश के संक्षिप्त विवरण का प्रत्यक्ष आधार भरत का 'नाट्यशास्त्र' अधिक व 'दशरूपक' कम है। शारदातनय[१२] ने अह्वानार्थों का संकेतमात्र ही किया है और वह भी नाट्य

अ—वीरराघव—महावीरचरितम् पर (वही, १९२६)

—उत्तररामचरितम् पर (मो० रा० काले सम्पादित, १९३४)

तथा दे० रत्नावली—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३८ का, और

कुन्दमाला—आत्माराम एण्ड संस, लाहौर, १९३७ का संस्करण।

९. ना० शा० गा० १७, ६५ पर अभिनव गुप्त—"एकेनापि पदेन सकलो वाक्यार्थः स्फुटीक्रियते।" अर्थात् केवल एक पद से भी वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, इसी अभिप्राय से वाक्यविधान अन्ततोगत्वा पदविधान ही है। १०. रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण (ना० द०)—गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा। ११. हस्तलिपि क्रमसंख्या ३९१, पन्द्रह पत्रों में है। इसकी पुष्पिका में कहा गया है—"इति श्री कर्णाटकजातीयपुण्डरीकविट्ठल-विरचिते नर्तननिर्णये नाटकाविप्रकरणे दशनाटकलक्षणं समाप्तम्।" इससे व अन्य आंतरिक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि 'नाटकलक्षण' नामक यह हस्तलिपि लेखक के बृहद् ग्रंथ का अंश मात्र है। इसका लेखक अवश्य ही दशरूपककार का परवर्ती है। १२. शारदातनय कृत भावप्रकाशनम् (भा० प्र०)—गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा—संख्या ४५; दे० ९, पृ० २७१ व २७७।

में प्रयुक्त विस्मयादिबोधक शब्दों[13] के साथ मिश्रित कर दिया है। अन्य शास्त्रकारों की अपेक्षा शारदातनय की विशेषता यह है कि भरत के अनुरूप उन्होंने भी प्रेम अथवा क्रोध इत्यादि भावावस्था के अनुसार दक्षिण, शठ व धृष्ट नायकों के लिए प्रयुक्त विशिष्ट सम्बोधनों का विन्यास किया है।[14] सर्वेश्वर ने यह विषय तृतीय तथा चतुर्थ प्रकाश में दिया है।[15] तृतीय प्रकाश में अपने सामान्याधार भावप्रकाशन के समान सम्बोधन-निर्देश तथा विस्मयादिबोधक पदों के विषय को सम्मिलित किया है। शिङ्गभूपाल ने विशद विवेचन देते हुए कहा है कि जब पात्र परस्पर सम्मुख हों और नाम के अतिरिक्त किन्हीं अन्य शब्दों का प्रयोग करके उन्हें सम्बोधित किया जाय तो 'नाटयशास्त्र' से अभिज्ञ व्यक्ति उन पदों को 'निर्देश' की संज्ञा देते हैं।[16] भरत के 'नाटयशास्त्र' के समान इनके ग्रंथ में भी अपने से पूज्य समान व दीन पात्रों के लिए क्रमशः पूज्य निर्देश, सदृशनिर्देश तथा कनिष्ठ निर्देश निर्धारित किया गया है। सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश'[17] में इस विषय का प्रतिपादन नाटकों के दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत विधिवत् तथा विस्तारपूर्वक किया है। विश्वनाथ के ग्रन्थ में[18] भरत के 'नाटयशास्त्र' तथा 'दशरूपक' का प्रभाव स्पष्ट है।

रूपकों के पात्रों से सम्बन्धित सम्बोधन-निर्देशों को, अध्ययन की दृष्टि से, हमने निम्न अनुच्छेदों में विभाजित किया है—

§क. विषयप्रवेश

पात्रों की प्रकृति के अनुसार उनको उत्तम, मध्यम व अधम, तीन प्रकार का बताया गया है (ना० द० ४, १५६, पृ० १९५)। भरत ने इन विविध स्तरीय पात्रों के परस्पर सम्बोधन-निर्देश का विधान इस प्रकार किया है—मान्य पात्रों को 'भाव' और उनसे कुछ कम स्तर वालों को 'मारिषः',[19]

---

१३. दे० भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान पूना की एनल्स, जिल्द ३९, भाग ३-४ में प्रस्तुत लेखक का निबंध "टर्म्स ऑफ़ ऐक्स्क्लेमेशन्स इन वर्क्स ऑन संस्कृत ड्रामाटर्जी" (संस्कृत नाट्यशास्त्र में विस्मयादि-बोधक पद)। १४. दे० ना० शा० का० २४, २९२ इत्यादि तथा ना० प्र० ५, पृ० १०७-१०९। १५. सर्वेश्वर कृत साहित्यसार (सा० सा०)—त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरिज, त्रिवेंद्रम १९४८; दे० ३, २५-७६; ४, ८०-८३। १६. शिङ्ग-भूपाल कृत रसार्णवसुधाकर (र० सु०)—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज, त्रिवेंद्रम, १९१६; दे० ३, ३०६-३२२। १७. सागरनन्दीकृत नाटकलक्षणरत्नकोश (ना० र०)—माईल्स डिलों द्वारा सम्पादित—ऑक्सफ़ोर्ड संस्करण; दे० पंक्तियाँ (पं०) २१८९ से २२६० तक। १८. विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण (सा० द०)—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३६; दे० ६, १४४-१५८।

१९. इस विषय पर नाटयशास्त्र के मूल को उद्धृत करना अनावश्यक नहीं—

"मार्षो भावेति वक्तव्यः किंचिदूनस्तु मार्षकः।" ना० शा० गा० १७, ७४।

"मान्यो भावेति वक्तव्यः किंचिदूनस्तु मारिषः।" ना० शा० का० १९-१०।

अभिनव गुप्त की विवृति (पृ० ३८०) से मूल को निर्धारित करने में कोई सहायता

समानस्तर वाले को 'वयस्य' तथा अपने से हीन पात्र को 'हं हो' कह कर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० का० १९, १०)। 'मुद्राराक्षस' (अंक ६, पृ० १३९) में समानस्तरीय सिद्धार्थक व समिद्धार्थक परस्पर 'वयस्य' और (अंक १, पृ० २७) चाणक्य का गुप्तचर शिष्य को 'हं हो ब्रह्मण' से सम्बोधित करता है। भरत ने कहा है (ना० शा० गा० १७, ७२) कि समान पात्र एक दूसरे का नाम भी ले सकते हैं, जैसे 'मुद्राराक्षस' (अंक ७, पृ० १६२) में चाणक्य और राक्षस का परस्पर सम्बोधन। अपने से श्रेष्ठ पात्र को अपेक्षाकृत हीन पात्र अधिकार प्राप्त होने पर उसके नाम से सम्बोधित कर सकता है (ना० शा० गा०, वही); जैसे 'उत्तररामचरित' (अंक १, पृ० १०) में कंचुकी राम को रामचन्द्र कहता है। अपने से हीन पात्रों को 'सौम्य' तथा 'भद्रमुख' तथा ऐसे ही अन्य निर्देशों से पूर्व 'हे' का प्रयोग कर के सम्बोधित किया जा सकता है (ना० शा० गा० १७, ७६)। नाटचदर्पण' में भी यही नियम मिलता है और शिङ्ग भूपाल ने इसी नियम का पालन करते हुए कहा है (र० सु० ३, ३२०) कि छोटे पात्र को या तो उसके अधिकार अर्थात् कार्य की दृष्टि से या 'भद्र' अथवा 'भद्रमुख' कह कर सम्बोधित किया जाय। नाटकों में 'सौम्य' का प्रयोग अप्राप्य है पर 'भद्र' का प्रयोग होता है; जैसे 'शाकुन्तल' (अंक २ पृ० ६६) में दुष्यन्त ने सेनापति को 'भद्र' कह कर सम्बोधित किया है। 'मुद्राराक्षस' (अंक ४) में करभक दौवारिक को 'भद्रमुख' कहता है और राक्षस करभक को 'भद्र'। इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' में विदूषक चाण्डालों को (अंक १०, पृ० २३४) और चारुदत्त के पुत्र को (वही पृ० २३२) 'भद्र-मुख' कह कर सम्बोधित करता है। पर इन निर्देशों के पूर्व 'हे' का प्रयोग अप्राप्य है।

ऊपर कहा गया है कि भरत ने समान पात्रों को 'वयस्य' से सम्बोधित करने का विधान किया है। नाटचदर्पणकारों ने यह स्पष्ट किया कि 'समानता' अवस्था, आयु और गुणों की हो सकती है और एक समान पात्र 'सखा' या अन्य ऐसे ही निर्देशों का प्रयोग कर सकते हैं, तथा मध्यम पात्र परस्पर एक दूसरे का नाम भी लेकर सम्बोधित कर सकते हैं (ना० द०, पृ० २१२)। शिङ्ग भूपाल (र० सु० ३, ३१८) भरत के विधान से सर्वथा सहमत हैं। पर शारदातनय (भा० प्र० ९, पृ० २७७, पं० १४) ने तीन निर्देशों अर्थात् 'वयस्य', 'सखे' व 'हण्डे' का प्रयोग निर्धारित किया है। कदाचित् इसीलिए विश्वनाथ ने (सा० द० ६, १४८) यह विलक्षणता ला दी कि केवल उत्तम पात्र ही परस्पर 'वयस्य' निर्देश का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त 'नाटचशास्त्र' (ना० शा० गा० १७, ७४) तथा 'नाटकलक्षण' (पत्रा १०) में भी निर्देश है कि अधम पात्र अपने समान पात्र को 'हंहो' या 'हण्डा' कह कर सम्बोधित करता है। 'नाटचदर्पण,' 'नाटकलक्षण रत्नकोश' (पं० २२३३), 'रसार्णवसुधाकर' व विश्वनाथ ने इन निर्देशों का भी उल्लेख किया है। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३, ६९) यह तो कहा ही है कि केवल नीच पात्रों के आह्वान में ही 'हण्डे' निर्देश का

नहीं मिलती। पर भरत-परवर्ती नाटचशास्त्रकारों के आधार पर काशी के (द्वितोद्धृत) संस्करण को ही मान्यता देनी होगी। 'नाटक लक्षण' की हस्तलिपि से भी इसी पाठ की पुष्टि होती है और तभी मूल सार्थक होता है। राघवभट्ट ने भी इसी पाठ को उद्धृत किया है; दे० 'ख—आमुखा-न्तर्गत पात्रों से सम्बन्धित निर्देश'।

प्रयोग किया जाय और साथ में एक नये निर्देश 'वड्ढे' का विधान भी किया है जो ऐसे नीच पात्रों के विषय में है जो शिष्टाचार-विहीन हों (वही ७१)। सर्वेश्वर ने यह भी कहा है कि शबर, आभीर, शूद्र इत्यादि सम्बोधनार्थ 'हीमाणु ह' (हीमाण हे?) का प्रयोग करते हैं (सा० सा० ३, ३४-३५)। हम आगे चल कर देखेंगे कि स्त्रीपात्रों में चेटी के लिए 'हञ्जे' का निर्देश है और ये प्रयोग 'अमरकोश' द्वारा सम्मत भी हैं।

§ख. आमुखान्तर्गत पात्रों से सम्बन्धित निर्देश

यह सर्वविदित है कि संस्कृत रूपकों के अभिनय से पूर्व पूर्वरंग का विधान है। पूर्वरंग को सम्पन्न करने के पश्चात् सूत्रधार या अन्य कोई नट, नाटकादि के प्रणेता, अभिनय-सम्बन्धी अवसर व उनकी कथावस्तु इत्यादि की सूचना देता है। यह नट कथावस्तु की प्रस्थापना के कारण स्थापक भी कहला सकता है। धनंजय के अनुसार नाटक के आमुख अथवा प्रस्थापना की यह सूचना चार प्रकार की हो सकती है अर्थात् वस्तु-सूचना जो श्लेष की सहायता से भी हो सकती है, बीज-सूचना तथा पात्र-सूचना। इस प्रकार सूत्रधार, नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक (इसके उदाहरण नहीं मिलते) के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत अथवा उल्लेख करता है (दे० द० रू० ३, २ तथा ७)। अतएव इन पात्रों के रंगमंच पर सर्वप्रथम उपस्थित होने के कारण इनकी परस्पर सम्बोधन-विधि का हम अब अध्ययन करेंगे।

भरत के 'नाटयशास्त्र' में इस बात का कोई विशेष उल्लेख नहीं कि नट व नटी परस्पर किस सम्बोधन-निर्देश का प्रयोग करें; इसीलिए कि वे 'आर्य' शब्द से सम्पन्न 'आर्ये' व 'आर्यपुत्र' का ठीक वैसे ही प्रयोग करते हैं जैसे कोई पति-पत्नी (ना० शा० गा० १८, ८३ व ९४)। अभिनव-गुप्त ने कहा है कि पत्नी तो सहधर्मचारिणी है और नाटयवेद के रहस्य से अभिज्ञ सूत्रधार नटी को 'आर्ये' कह कर ही सम्बोधित करेगा (वही, पृ० ३८२-३८३)। भरत-परवर्ती नाटयशास्त्रकारों में से सभी ने भरत के इस नियम का पालन किया है। 'शाकुन्तल' में नटी द्वारा सूत्रधार के लिए प्रयुक्त 'आर्यपुत्र' की व्याख्या करते हुए राघव भट्ट ने (शाकुन्तल, पृ० ८) इस प्रसंग में भरत द्वारा विहित पति-पत्नी के निर्देश को उद्धृत किया है।

हम ऊपर देख आये हैं कि 'नाटयशास्त्र' में मान्य पात्रों के लिए 'भाव' और उनसे कुछ न्यून पात्रों को 'मारिष' कह कर सम्बोधित करने का नियम दिया गया है; पर 'भाव' सम्बोधन का प्रयोग नाटकों के आमुख के अतिरिक्त अन्यत्र भी उपलब्ध है; जैसे 'शाकुन्तल' (अंक ६, पृ० १८९) में मछेरा दोनों सिपाहियों को 'भावमिश्शे' (भावमिश्राः) और 'मृच्छकटिक' (अंक ५, पृ० १२४ इत्यादि) में वसंतसेना विट को तथा (अंक ८, पृ० १८४-१८५ में) शकार विट को 'भाव' से सम्बोधित करते हैं, पर 'मारिष' का प्रयोग केवल आमुख में ही होता है। इसका कारण यह हो सकता है कि भरत के पश्चात् रचे नाटकों में 'मारिष' का प्रयोग पारिपार्श्विक के लिए ही सीमित कर दिया गया हो। तभी तो भरत-परवर्ती नाटयकारों ने कम से कम 'मारिष' के प्रयोग को केवल सूत्रधार 'अनुग' के लिए निर्धारित किया। इसे कदाचित् 'प्रयोगसंकोच' का उदाहरण माना जा सकता है। इन परवर्ती सभी लेखकों में मतैक्य है कि सूत्रधार (अथवा 'सूत्री' ब०रू०,

'काव्य प्रस्थापक नट' ना० र०) को 'भाव' से सम्बोधित किया जाय और यह अपने साथी को 'मार्ष' अथवा 'मारिष' कह कर बुलाये।[20] 'मालविकाग्निमित्र' (अंक १, पृ० २) और 'उत्तररामचरित' (अंक १, पृ० ५ व ६) में ये प्रयोग उपलब्ध हैं। 'मालतीमाधव' (अंक १, पृ० ५) में भी इसी नियम का अनुकरण किया गया है और व्याख्याकार त्रिपुरारि ने इसकी पुष्टि में एक उद्धरण भी दिया है; उल्लेखनीय बात यह है कि यही उद्धरण काटयवेम ने 'मालविकाग्निमित्र' के उपरिलिखित प्रयोग की व्याख्या में भी दिया है। एतदर्थ 'अनर्घराघव' व व्याख्याकार रुचिपति (पृ० १७) ने जो नियम भरत के नाम से उद्धृत किया है वह 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध नहीं, यद्यपि उसका अभिप्राय धनंजय इत्यादि नाट्यशास्त्रकारों के नियम से भिन्न नहीं है।

§ग. प्रमुख तथा तत्सम्बन्धी पात्रों के निर्देश

संस्कृत नाटकों में, विशेषकर प्रकरणों व नाटिकाओं में, कई नाटकीय परिस्थितियों की कल्पना नायक व नायिका के परस्पर व्यवहार पर भी आश्रित रही है। भरत ने इसीलिए कहा कि नाट्यधर्म पर आश्रित कामोपचार दो प्रकार का है—बाह्य तथा आभ्यन्तर। आभ्यन्तर कामोपचार नाटकों में तथा वेश्या से सम्बन्धित बाह्य कामोपचार को प्रकरण में प्रस्तुत करना चाहिए। (ना० शा० का० २४, १३९-१४१)। नायक-नायिकाओं के 'समागम' के दृश्यों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का निषेध है और कदाचित् इसीलिए उस समयोपयोगी सम्बोधनों का उल्लेख भरत ने सम्बोधनविषयक अध्याय में न कर सामान्याभिनय विषयक अध्याय में किया। भरत का अनुकरण करते हुए शारदातनय ने भी इस प्रकार के सम्बोधित निर्देश दिये हैं जिनसे नायक-नायिका के परस्पर व्यवहार का ज्ञान हो सकता है कि नायक दक्षिण है या शठ अथवा धृष्ट। इन सम्बोधन-निर्देशों का यहाँ उल्लेख करना इसलिए भी प्रासंगिक है कि इन विविध पदों का यत्र-तत्र नाटकों में प्रयोग हुआ है, तो व्याख्याकारों ने तत्सम्बन्धी लक्षण अथवा नियम बताये हैं। दक्षिण नायक के सम्बोधन के लिए भरत ने अनेक पदों का जैसे 'प्रिय', 'कान्त', 'विनीत', 'नाथ', 'स्वामिन्', 'जीवित', तथा 'नन्दन' का विधान किया है (ना० शा० का० २४, २९२)। शारदातनय ने इसी सूची में 'प्रणयिन्', 'दयित', 'सुहृत्', 'सुभग' तथा 'रुचिर' को सम्मिलित किया है, 'जीवित' के स्थान पर 'जीवितेय' का प्रयोग बताया है और 'विनीत' का परित्याग कर दिया है (भा० प्र० ५, पृ० १०७ पं० ७-८ इत्यादि)। भरत के अनुसार मानिनी नायिका शठ अथवा धृष्ट नायक को 'दुःशील', 'दुराचार', 'शठ', 'वाम', 'विरूपक', 'निर्लज्ज' तथा 'निष्ठुर' कह कर सम्बोधित करेगी। शारदातनय ने इस सूची में 'धृष्ट' को भी सम्मिलित किया और 'विरूपक' के स्थान पर 'विरूप' पढ़ा है। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि 'भावप्रकाशन' में लेखक ने कहीं-कहीं इन पदों की व्याख्या की है और कहीं-कहीं भरत की ही व्याख्या में संशोधन भी किये हैं।

'मालतीमाधव' (अंक २, पृ० ६४) में त्रिपुरारि ने कामन्दकी द्वारा प्रयुक्त 'प्रिय' तथा 'सुहृत्' शब्दों की व्याख्या देने के लिए 'भावप्रकाशन' के नियम को उद्धृत किया है। पर यह

---

२०. वे० द० रू० २, ६९; ना० द० ४, २०४; सा० सा० ३, ४९ व ४, ८३; सा० द० ६, १४७; भा० प्र० ९, पृ० २७७ पं० १३; ना० र०, पं० २१६५।

उद्धरण सर्वथा अस्थानिक है। शायद त्रिपुरारि ने सोचा हो कि 'प्रिय' तथा 'सुहृत्' सम्बोधनों को कामोपचार के प्रसंग से हटाया जा सकता है, और इन सम्बोधनों के लक्षण के आधार पर इनका व्यापक प्रयोग किया जा सकता है।

'नाट्यशास्त्र' (गा० १७, ८७) में 'गम्या' अर्थात् सम्बन्ध योग्य कन्या के लिए 'भद्रा' सम्बोधन निर्धारित है। इसी का अनुकरण 'नाट्यदर्पण' (पृ० २११) में मिलता है, यहाँ कहा गया है कि 'भोक्तव्या' अर्थात् उपभोग योग्य कन्या के लिए सर्वप्रथम दर्शन पर 'भद्रा' निर्देश उचित है, यद्यपि प्रिया पत्नी का सम्बोधन 'प्रिया' है, जैसा कि 'नाट्यशास्त्र' (गा० १७, ९३) में कहा गया है कि राजा के अतिरिक्त अन्य नायक श्रृंगारमय अवसरों पर अपनी पत्नी को 'प्रिया' कह कर सम्बोधित करें। इसका, यद्यपि यथार्थतः नहीं, उदाहरण 'शाकुन्तल' (अंक ७ पृ० २५९) में प्राप्त होता है, जहाँ दुष्यन्त शकुन्तला को 'प्रिये' कह कर सम्बोधित करता है। 'भावप्रकाशन' (पृ० २७१) के आधार पर 'साहित्यसार' (३, ६०) में दक्षिण नायक, अपनी प्रियतमा के लिए 'कान्ता' का प्रयोग करता है, पर शठ नायक 'प्रिया' का प्रयोग उस नारी के लिए भी करेगा जो उसे वस्तुतः प्रिय न हो। सागरनन्दी (ना० र० पं० २२५६-२२५७) ने बताया कि नवयुवक नायक अपरिचित नायिका को 'महाभागे' अथवा 'वरोरु' कह कर सम्बोधित करे और यह उसे 'सुभग' अथवा 'महाभाग' कहे। यह प्रयोग 'मालतीमाधव' (अंक २, पृ० ५४) में उपलब्ध है, यद्यपि यहाँ त्रिपुरारि ने इस सम्बोधन की व्याख्या में कोई उद्धरण नहीं दिया।

१—राजा, राजकुल तथा सहायक पुरुषपात्रों के निर्देश

राजा—राजा के सम्बोधन-निर्देश अप्रत्यक्षतया विविध पात्रों के स्तर के अनुसार दिये गये हैं। 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है कि पार्थिव को 'महाराज' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ६९)। यद्यपि पत्नियों द्वारा पति के लिए निर्देश पृथक् हैं पर वे पति के राजा होने पर उसे 'महाराज' शब्द से सम्बोधित करती हैं (ना० शा० गा० १७, ८३)। इसका उदाहरण 'विक्रमोर्वशी' में (अंक ३, पृ० ८०) मिलता है जहाँ उर्वशी राजा को 'महाराज' कहती है। विश्वनाथ (सा० द० ६,१५३) तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र इस नियम से सहमत हैं, पर इस लेखकयुग्म ने कहा है कि रानी उसे 'महाराज' तो कहे पर यौवनावस्था में 'आर्यपुत्र' के निर्देश से सम्बोधित करना चाहिए। (ना० द० ४, १९८)। ब्राह्मणपात्र तथा ऋषि राजा को या तो नाम से या 'राजन्' कहकर या अपत्यार्थ प्रत्यय का प्रयोग कर सम्बोधित करें और राजाओं को इसका बुरा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि द्विजों को पूज्य कहा गया है (ना० शा० गा० १७, ७०, ८१)। शिङ्गभूपाल ने (र० सु० इ० ३०९-३१०) इस नियम का पालन किया है, पर सागर-नन्दी के अनुसार ब्राह्मण राजा को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित करें (ना० इ० पं० २२५८)। अपने नियम को विस्तार देते हुए भरत ने यह भी कहा है कि राजा के समान पात्र, बल्कि कुछ नीच पात्र भी उत्तम राजा का नाम लेकर उसे सम्बोधित कर सकते हैं (ना० शा० गा० १७,७२)। इसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने कहा है कि ये पात्र राजा को नामानुसार 'वत्सराज', अथवा 'सोमवंशमौक्तिकमणे' कह सकते हैं। मूल के पाठान्तर के आधार पर इन काश्मीरी व्याख्याकार

ने कहा है कि परितुष्ट होने पर चाटुकारिता के कारण भी यही निर्देश लागू हो सकता है; जैसे "उदयने महीं शासति को विपदामवकाशः" में (वही, पृ० ३८०)। नाट्यदर्पणकारों ने अपनी व्याख्या में (पृ० २१०) 'नाट्यशास्त्र' द्वारा विहित राजा के निर्देश पर अभिनवगुप्त की विवृति का अनुकरण करके उसे अति व्यापक बना दिया और कहा कि सभी मान्य व्यक्तियों की प्रशंसा में उनके नाम के अतिरिक्त अन्य सम्बोधनों का प्रयोग किया जा सकता है; जैसे विभिन्न पात्रों को 'अमात्य', 'श्रेष्ठि', 'वत्सराज', तथा 'सोमवंशमौक्तिकमणे' कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३.६६) ज्येष्ठ व्यक्तियों, उपाध्याय, पिता इत्यादि अथवा तत्तुल्य पात्रों द्वारा राजा के लिए 'विभु' सम्बोधन का विधान किया है और (वही ३.४८-४९ में) कहा है कि नाटक में उच्च जाति के लोग, विख्यात ब्राह्मण तथा तपस्वी इत्यादि राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करें। सागरनन्दी के अनुसार तपस्वी (ना० र०, पं० २२५९), शिङ्गभूपाल के अनुसार मुनि (र० सु० ३,३११) अथवा विश्वनाथ के अनुसार ऋषि (सा० द० ६,१४५) राजा को 'राजन्' अथवा अपत्यार्थ प्रत्यय के प्रयोग से सम्बोधित करते हैं। 'शाकुन्तल' में (अंक १, पृ० २१) वैखानस दुष्यन्त को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते हैं। सागरनन्दी के अनुसार क्षपणक व भिक्षु उसे 'धर्मोपासक' कहते हैं (ना० र०, पं० २२६०। विदूषक द्वारा राजा के 'राजन्' अथवा 'वयस्य' तथा इसके पर्याय 'सखे' (र० सु० ३,३१२) सम्बोधन-निर्देश के भरत द्वारा विहित नियम का पालन प्रायः सभी परवर्ती लेखकों ने किया है।[२१] 'मालविकाग्निमित्र' (अंक ५, पृ० ९१) तथा 'शाकुन्तल' (अंक २, पृ० ६१) में 'वयस्य' का प्रयोग उपलब्ध है। 'रत्नावली' (अंक १, पृ० ३३) में 'वयस्य', 'महाराज', तथा 'भट्टा' का प्रयोग हुआ है। रथ को चलाने वाला सूत राजा को 'आयुष्मन्' तथा सागरनन्दी के अनुसार 'आर्य' कहेगा। प्रायः अन्य नाट्यशास्त्र-कारों ने 'आयुष्मन्' का पक्ष लिया है।[२२] इस नियम का प्रधानतया प्रयोग 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में उपलब्ध है (दे० अं० १ व ७) और इस नियम का प्रायः सभी लेखकों द्वारा उल्लेख इस बात का निश्चित प्रमाण है कि कालिदास का यह नाटक सर्वमान्य था।

भरत के अनुसार राजा के लिए 'देव' का प्रयोग प्रजा तथा भृत्यों द्वारा होता है (ना० शा० गा० १७-८०)। शिङ्गभूपाल इससे सहमत हैं (इ० सु० ३,३१०)। अन्य भरत-परवर्ती लेखकों ने इस नियम के परिवर्तित रूप का विधान किया है। धनंजय के अनुसार भृत्य राजा को न केवल 'देव' अपितु 'स्वामिन्' भी कहते हैं (द० रू० २,६९)[२३]। विश्वनाथ ने धनंजय

---

२१. दे० ना० शा० गा० १७, ८१; ना० द०; पृ० २११; सा० सा० ४, ८२; र० सु० ३, ३१२; सा० द० ६, १४५। २२. दे० ना० शा० गा० १७, ७५; द० रू० २, ६८; सा० सा० ३, ७६; र० सु० ३, ३१३; सा० द० ६, १५०। २३. दे० "ऑन सम टर्म्स एम्प्लौयेड इन दि इन्स्क्रिप्शंस ऑफ़ दि क्षत्रप्स"—इं० ऐं० ३३, पृ० १६३ इत्यादि (जूर्नाल आजियातिक (१९०२, पृ० ९५-१२५) में प्रकाशित सिल्वें लेवि के फ्रांसीसी निबंध का अंग्रेजी अनुवाद)। इस निबंध में फ्रांसीसी विद्वान् ने 'स्वामी', 'भद्रमुख' व 'सुगृहीतनाम' का ऐतिहासिक अभिलेखों व नाट्यशास्त्र की दृष्टि से आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

का अनुकरण किया है (सा० द० ६.१४४)। पुण्डरीक ने 'देव' सम्बोधन केवल नौकरों द्वारा (ना० ल०, पत्रा १० क) और नाटयदर्पणकारों ने उत्तम, मध्यम व अधम सभी प्रकार की केवल प्रजा द्वारा (ना० द०, पृ० २११) प्रयोजनीय माना है। सर्वेश्वर के अनुसार राजा के प्रधान अधिकारी उसे 'देव' कहकर सम्बोधित करते हैं (सा० सा० ३,६५) और यदि राजा चक्रवर्ती है तो सेनापति, अमात्य तथा जनता के नेता उसे 'स्वामी' कहते हैं (वही ३.४५)। 'शाकुन्तल' (अंक २, पृ० ६४) में सेनापति राजा दुष्यंत के लिए 'देव' का प्रयोग करता है। राघव भट्ट ने इसकी व्याख्या में 'दशरूपक' के नियम को उद्धृत किया है। 'अनर्घराघव' (अंक ७, पृ० ३६५) में सुग्रीव ने राम के लिए 'देव' का प्रयोग किया है और व्याख्याकार रुचिपति ने इसकी पुष्टि में 'अमरकोश' (१,७,१३)—"राजा भट्टारको देवः"—को उद्धृत किया है। कंचुकी राजा को 'महाराज' अथवा 'देव' कहकर सम्बोधित करता है; जैसे 'मालविकाग्निमित्र' (अंक १, पृ० १४) में तथा 'मुद्राराक्षस' (अंक ३, पृ० ७६ इत्यादि) में। 'उत्तररामचरित' में भी (अंक १, पृ० १०) कञ्चुकी अपने अभ्यासानुसार राम को 'रामचन्द्र' कहता है, और शीघ्र ही जब उसे ध्यान आता है कि वे राजा हैं तो उन्हें पहले 'महाराज' और फिर 'देव' से सम्बोधित करता है। इसी प्रकार 'कुन्द-माला' में (अंक १, पृ० ५) जब लक्ष्मण सीता के साथ अरण्य के समीप आते हैं तो मन ही मन सोचते हैं कि सीता को छोड़ जाने का यह अप्रिय आदेश बड़े भाई ने दिया है, पर शीघ्र ही वे अपना विचार बदल कर कहते हैं कि बड़े भाई का नहीं, यह तो 'स्वामी' का आदेश है।

राजा के लिए 'देव' तथा 'स्वामिन्' के अतिरिक्त, भरत ने 'भट्ट' का सम्बोधन भी विहित किया है—सार्वभौम राजा को उसके परिजन 'भट्ट' कहते हैं (ना० शा० गा० १७, ८०)। धनंजय तथा तदनुसार विश्वनाथ ने इस निर्देश का अधम पात्रों द्वारा विधान किया है (द० स० २, ६९; सा० द० ६-१४४)। 'नाटयदर्पण' (पृष्ठ २११) के अनुसार नीच प्रकृति के पात्र राजा को 'भट्टिन्' कहकर सम्बोधित करते हैं। शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३११) ने भट्ट के साथ-साथ 'भट्टारक' का भी विधान किया है। सागरनन्दी (ना० र० पं० २१८९-९०) ने भी राजा के लिए 'महाराज' तथा 'देव' के साथ-साथ 'भट्टारक' का प्रयोग दिया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' (अंक २ पृ० ६३) में दौवारिक राजा को 'भट्टा' कहकर सम्बोधित करता है और इसकी व्याख्या में राघवभट्ट ने 'दशरूपक' का नियम उद्धृत किया है।

रानियाँ—भरत ने नाटकों में रानियों के लिए 'स्वामिनी', 'देवी' व 'भट्टिनी' सम्बोधनों का निर्देशन किया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राजा तथा नौकर प्रमुख रानी (महिषी) को 'देवी' कहें, तथा अन्य रानियों या उनको जो 'भोगिनी' हों अर्थात् सहधर्मचारिणी न हों 'स्वा-मिनी' कहकर सम्बोधित किया जाय (ना० शा० गा० १७,८७–८९)। 'दशरूपक' तथा तदनु-सार 'साहित्यदर्पण' (द० रु० २,७०; सा० द० ६,१५५) में ये विशिष्ट सम्बोधन न देकर यही कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा वैसे ही सम्बोधित की जाती हैं जैसे उनके पति। इस नियम का कदाचित् प्रस्तुत प्रसंग में यह अभिप्राय हो सकता है कि जिस प्रकार राजा के लिए विभिन्न पात्रों द्वारा स्वामी, देव तथा भट्टा अथवा भट्टारक का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार रानियों के लिए भी इनके स्त्रीरूप प्रयोजनीय हैं। परिणामस्वरूप इन दोनों

लेखकों ने भरत का ही अनुकरण किया। 'नाट्यदर्पण' (४,२००) में भी भरत द्वारा विहित तीनों सम्बोधनों को स्वीकार किया गया है, पर 'महिषी' के स्थान पर 'मुख्या' शब्द का प्रयोग करके उसकी व्याख्या में "मुख्या कृताभिषेका" से ज्ञात होता है कि भरत की तरह इस ग्रंथ में भी राजा के लिए अभिषिक्ता प्रिया रानी के लिए 'देवी' सम्बोधन का ही विधान है। सर्वेश्वर (सा० सा० ३,६८) ने सभी राजपुरुषों द्वारा सभी रानियों के लिए 'राजदारिका' और सिंहासनारूढ़ा के लिए 'स्वामिनी' का तथा पुण्डरीक ने राजपत्नी के लिए 'स्वामिनी' तथा 'नन्दिनी' का प्रयोग निर्धारित किया है (ना० ल०, पत्रा १०)। शिङ्गभूपाल ने भरत के सम्बोधनों में थोड़ा सा विकास यह किया कि राजा महिषी को तो 'देवी' ही कहे पर अन्य रानियों को 'प्रिया' कह कर सम्बोधित करे और परिचारकगण भरत के तीनों निर्देशों के अतिरिक्त रानियों को 'भट्टारिका' भी कह सकते हैं (र० सु० ३, ३१५-३१६)। सागरनन्दी ने कहा है कि 'नायकपत्नियों' के लिए 'महादेवी', 'देवी' तथा 'महिषी' सम्बोधन को प्रयुक्त किया जाता है (ना० र०, पं० २१९१)।

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार विदूषक रानी को 'भवती' कहेगा (ना० शा० गा० १७,८२)। इसका अनुकरण प्रायः सभी परवर्ती लेखकों ने किया है।[२४] पर सर्वेश्वर ने इस विधान को अधिक व्यापक बना दिया और कहा कि विदूषक सभी नायिकाओं को (चाहे वे रानियाँ हों या नहीं) तथा राजमाता को भी 'भवती' से सम्बोधित करेगा (सा० सा० ४,८१)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पात्रों के स्तर तथा राजा व रानियों के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार इनके लिए 'देवी', 'स्वामिनी', 'नन्दिनी', 'भट्टिनी', (अमरकोश १,७,१३), 'भट्टारिका' तथा 'भवती' सम्बोधनों का निर्देश है। 'विक्रमोर्वशीयम्' (अंक २ पृ० ५३) में निपुणिका, तथा 'रत्नावली' (अंक १, पृ० ३६) में कांचनमाला रानी को 'भट्टिनी' कहकर सम्बोधित करती है। 'मालतीमाधव' की व्याख्या (अंक ४, पृ० ५४) में भी जगद्धर ने ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृति के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' की कारिका को उद्धृत किया है। उपलब्ध नाटकों में 'स्वामिनी' का प्रयोग प्राप्त नहीं।

युवराज तथा राजकुमार—भरत के अनुसार युवराज को 'स्वामी' और राजकुमार को 'भर्तृदारक' कहना चाहिए (ना० शा० गा० १७,७६)। पर युवराज के लिए 'स्वामी' का प्रयोग नाटकों में उपलब्ध नहीं। धनंजय ने केवल राजा व रानी के लिए सम्बोधन-निर्देश दिये पर राजकुमार के लिए नहीं। पुण्डरीक तथा शिङ्गभूपाल (र० सु० ३.३१४) ने भरत का अनुकरण किया, पर 'नाट्यदर्पण' के अनुरूप (पृ० २१२) बालपन में युवराज तथा अन्य कुमारों के लिए 'भर्तृदारक' तथा 'कुमार' सम्बोधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसी प्रकार सागरनन्दी ने भी कहा कि युवराज को 'कुमार' या 'भर्तृदारक' दोनों ही प्रकार से सम्बोधित किया जा सकता है (ना० र०, पं० २१९२)। पर विश्वनाथ ने 'नाट्यशास्त्र' की कारिका को अन्यथा पढ़कर नये ही अर्थ का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार युवराज के लिए 'स्वामी' और राजकुमार के लिए 'भर्तृदारक' का सम्बोधन तो ठीक 'नाट्य शास्त्र' के अनुरूप ही होगा पर छोटे कुमार (कुमारकः)

---

२४. दे० द० रू० २, ७१; ना० द० ४, १९९; सा० ल०; ना० द० ६, १४९।

को अधम पात्र 'भद्र', 'सौम्य' अथवा 'भद्रमुख' इत्यादि कहकर सम्बोधित करेंगे (सा० द०, छं० १५:४)। 'अमरकोश' (१-७-१२) में 'नाटयदर्पण' के अनुसार नियम दिया है।

राजकुमारी—भरत (ना० शा०, गा० १७, ८९), रामचन्द्र व गुणचन्द्र (ना० द० ४, पृ० २१२) तथा सागरनन्दी (ना० र०, पं० २१९३) के अनुसार परिचारकों द्वारा, तथा विश्वनाथ (सा० द० ६,१५४) के अनुसार जनता द्वारा अविवाहिता राजकुमारी 'भर्तृदारिका' से सम्बोन्धित की जानी चाहिए। सर्वेश्वर के अनुसार 'भर्तृदारिका' सम्बोधन की अधिकारी वह अविवाहिता राजकुमारी है जो राज्यश्री-संयुक्त हो, व सभी व्यक्तियों द्वारा पूज्य हो (सा०-सा० ३,५९)। 'मालतीमाधव' (अंक १) में परिचारिकाएँ मालती को 'भर्तृदारिका' से सम्बोधित करती हैं—जगद्धर इसका अपनी व्याख्या में (पृ० २२) अनुमोदन करते हैं और कहते हैं कि यद्यपि यह विधान तो राजकुमारी के लिए है पर नियम में 'राज' पद ऐश्वर्य का द्योतक है और इस सम्बोधन का प्रयोग मंत्री की पुत्री के लिए भी किया जा सकता है।

सचिव—सचिव (अर्थात् राजमंत्री—अभिनवगुप्त) के लिए भरत तथा अधिकतर भरत-परवर्ती लेखकों ने ब्राह्मणों द्वारा 'अमात्म' तथा 'सचिव' का और अन्य पात्रों तथा हीनपात्रों द्वारा 'आर्य' का निर्देश किया है।[२५] पर शारदातनय ने (भा० प्र०, पृ० २७७, पं० १२) 'भाव' तथा सागरनन्दी (ना० र०, पं० २१९८) ने 'अमात्य' का निर्देश किया है। सर्वेश्वर ने इस अत्यधिक प्रयुक्त 'आर्य' निर्देशके सम्बन्ध में कहा है कि वणिक, पुरोहित, अमात्य, विट, विप्र, तथा विदूषक को सम्बोधित करने के लिए मध्यम पात्र इस पद 'आर्य' का प्रयोग करते हैं (सा० सा० ३, ६४-६५)।

राष्ट्रिय तथा सेनापति—'शाकुन्तल' में 'श्यालः' पात्र को प्रस्तुत किया गया है (अंक ६)। उसके साथी उसे 'आवुत्त' कहकर सम्बोधित करते हैं। जैसा कि हम देखेंगे, शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३१४) तथा सागरनन्दी (ना० र०, पं० २१९५) के अनुसार बहनोई के लिए इस सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। इसके साथ ही 'मृच्छकटिक' में भी शूद्रक ने 'राजश्याल' शकार का अद्वितीय चित्र खींचा है और वहाँ (अंक १ व ८) विट उसे 'काणेलीमातः' (काणेली कन्यकामाता इति देशी प्रकाशः। असती काणेली इत्येके—पृथ्वीधर, पृ० २३), चेट उसे 'भट्टके' तथा 'भट्टालके' और चारुदत्त (अंक १०) उसे 'राष्ट्रियश्याल' कहकर सम्बोधित करते हैं। विचित्रता यह है कि इतने सर्वप्रिय नाटकों में इन प्रसिद्ध पात्रों की सत्ता के बावजूद किसी नाटय शास्त्रकार ने 'राजश्यालः' के लिए सम्बोधन-निर्देश निर्धारित नहीं किये। बल्कि शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३१४) तथा शारदातनय (भा० प्र०, पृ० २७७, पं० १२) ने सेनापति के लिए 'स्याल' सम्बोधन का निर्देश दिया है। पर 'शाकुन्तल' में (अंक २, पृ० ६६) हम देखते हैं कि राजा सेनापति को 'भद्र सेनापते' कहकर सम्बोधित करता है।

विदूषक—विदूषक को सम्बोधित करने के लिए राजा या तो उसका नाम ले सकता है या 'वयस्य' (ना० शा० गा० १७,८२; सा० द० ६, १४६) तथा अन्य ऐसे ही मैत्रीपूर्ण पदों

---

२५. दे० ना० शा० गा० १७, ७१; द० रू० २, ६७; ना० द०, पृ० २१०; र० सु० ३, ३१२; सा० द० ६, १५१।

का (ना० द०, पृ० २१२) प्रयोग करेगा या उसके नाम के पूर्व 'वयस्य' भी जोड़ सकता है (सा सा० ४,८२), या केवल 'वयस्क' तथा 'सहचर' कहकर पुकार सकता है (ना० र०, पं० २१९९) 'शाकुन्तल' में सेनापति उसे 'सखे' से (अंक २, पृ० ६५), 'मृच्छकटिक' में विट (अंक १, पृ० २९,३० व 'मालविकाग्निमित्र' (अंक २, पृ० ३०) में गणदास उसे 'महाब्राह्मण' कहकर और 'विक्रमोर्वशी यम्' (अंक २, पृ० २७) में चेटी उसे 'ब्रह्मबन्धु' कहकर पुकारती है। इस अंतिम नाटक व्याख्याकार रङ्गनाथ ने 'विश्वलोचन' का आधार लेकर 'ब्रह्म बन्धु' को 'दुष्टविप्र' का पर्या बताया है। और यद्यपि 'शाकुन्तल' तथा 'मालविकाग्निमित्र' में विदूषक का फिर भी कुछ आद प्रतीत होता है पर 'मृच्छकटिक' के 'महाब्राह्मण' प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पद आक्षे का द्योतक होने लगा था जैसा कि आजकल हिन्दी भाषा में इसका व्यंगार्थ ही प्रयुक्त होता है

सूत—राजा रथ चलाने वाले सूत को 'सारथि' अथवा 'सूत' शब्द से ही सम्बोधि करता है (सा० सा० ३,६७-६८), अथवा उसके प्रसंग में 'असौ' सर्वनाम का प्रयोग करेग (ना० र०, पं० २२२९)।

२—वेश्या तथा गणिकामाता इत्यादि के निर्देश

वेश्या—भरत ने कहा है कि वेश्या को (उसके—अभिनवगुप्त) सेवक 'अज्जुका' कहक सम्बोधित करें (ना० शा० गा० १७,९२)। यद्यपि धनंजय ने इसका अनुकरण किया (द० रू २,७०) तथापि कदाचित् संक्षेप की दृष्टि से यह स्पष्टतया नहीं कहा कि केवल परिजन ही उ इस प्रकार सम्बोधित करेंगे अथवा सभी पात्र। नाट्यदर्पणकार भरत का अनुकरण करते और 'वेश्या' शब्द की व्याख्या देते हुए कहते हैं—"वेश्या पण्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाय नामान्तर विधानात् परिजनेनाज्जुकेति सेति वेश्या" (ना० द०, पृ० २११) अर्थात् यौवनवती वेश्या को ही उसके सेवक 'अज्जुका' कहते हैं, क्योंकि वृद्धा वेश्या के लिए सम्बोधन-निर्देश पृथ है। 'अज्जुका' शब्द को प्रस्तावित 'आर्यका' के स्थान पर 'अर्जुका' का प्राकृत रूप मानना अधि संगत प्रतीत होता है।[२६] इस निर्देश के विषय में शारदातनय (भा०, प्र०, पृ० २७१, पं० १९-२० तथा सर्वेश्वर (सा० सा० ३,७५-७६) का विधान समान शब्दों में है—

भर्तृमाताङ्गनाभिर्वा चेटीभिर्गणिकाथवा।
वार्तासु सर्वदा कायमज्जुकेति निगद्यते॥

इसमें प्रथम पाद का अर्थ अस्पष्ट है। यहाँ यदि यह अर्थ लगाया जाय कि भरण करने वाले पुरु की माता (?) अन्य स्त्रियों तथा चेटी इत्यादि के द्वारा प्रत्यक्ष तथा तद्विषयक बातचीत में वेश्य को 'अज्जुका' कहकर सम्बोधित किया जाता है तो 'अज्जुका' शब्द के प्रयोग में कुछ विकास हुआ प्रतीत होता है। शिङ्गभूपाल ने इस सम्बोधन को पूज्यनिर्देश के अन्तर्गत लिया है जिससे यह ज्ञा

---

२६. दे० घोषकृत 'नाट्यशास्त्र' का अनुवाद, कलकत्ता १९५१, अध्याय १९, २ पर पादटिप्पणी २, पृ० ३४४। तुलना करो, भानुजी दीक्षित—अमरकोश की व्याख्या-सुध में—"अर्ज अर्जने ण्वादिगण 'प' से बाहुलकादुकण"।

होता है कि निश्चय ही नीचपात्र अथवा परिचायक इत्यादि (अपनी पूज्या) वेश्या को 'अज्जुका' कहकर सम्बोधित करें (र० सु० ३, ३०९)। भरत के इस सर्वमान्य विधान के साथ-साथ सागरनन्दी ने कहा है कि नागर वेश्या को 'वासू' कहकर सम्बोन्धित करेगा (ना० र०, पं० २२२७-२२२८)। इस सम्बोधन का एकमात्र उदाहरण हमें 'मृच्छकटिक' (अंक १ पृ० २७) में मिलता है जहाँ शकार अन्धकार में वसन्तसेना समझकर रदनिका को पकड़ लेता है और उसे 'एशाशि वाशू'... (सं० एषासि वासू...) बताता है।

गणिका माता—केवल भरत (ना० शा० गा० १७, ९३), रामचन्द्र व गुणचन्द्र (ना० द०, पृ० २११) तथा सर्वेश्वर (सा० सा० ३, ७३) ने वृद्धा वेश्या अथवा गणिका माता के लिए सेवकों द्वारा प्रयुक्त 'अत्ता' सम्बोधन का निर्देश दिया है। दूसरी ओर धनंजय (द० रु० २, ७१) ने कुटनी के लिए जो 'अम्बा' का निर्देश दिया है उसे जैसा का तैसा विश्वनाथ (सा० द० ६, १५६) ने भी दिया है। 'मृच्छकटिक' (अंक ४ श्लोक ३०) में गणिका माता का उल्लेख 'अत्तिआ' द्वारा हुआ है। तत्पश्चात् (अंक ९) वसंतसेना की माता की स्वयं उपस्थित हुई है। प्रकाशित संस्करण के अनुसार वह शोधनक (पृ० २०७), व श्रेष्ठी तथा कायस्थ द्वारा (पृ० २२२) 'अज्जा' (आर्या), अधिकरणिक द्वारा 'भद्रे' (वही, पृ० २०७), शकार द्वारा 'बुड्ढ-कुट्टणि' (वृद्धकुट्टनि—वही, पृ० २०८ व २२२) और चारुदत्त द्वारा 'आर्ये' (पृ० २१२) और 'अत्रभवती' (पृ० २२३) से सम्बोधित की गयी है। 'देशीनाममाला' (१, ५१) में अत्ता के चार अर्थों में से 'माता' भी है।

विविध—यह स्पष्ट नहीं कि सर्वेश्वर (सा० सा० ३, ७३) ने गणिका के प्रिय व्यक्ति के लिए 'आवुत्त' सम्बोधन किस आधार प र निर्दिष्ट किया। यह सम्बोधन तो 'बहनोई' के लिए निर्धारित और 'शाकुन्तल' में राजश्याल के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३—स्त्रियों के परस्पर निर्देश

भरत के अनुसार समान वय की सखियाँ आपस में 'हला' सम्बोधन का प्रयोग करती हैं (ना० शा० गा० १७, ९१)। धनंजय ने इसको अधिक व्यापक बना दिया और कहा कि सभी समान स्त्रियाँ आपस में 'हला' कह सकती हैं (द० रू० २, ७०)। पुण्डरीक ने यहाँ पर 'नाटयशास्त्र' का अनुकरण किया, 'दशरूपक' का नहीं। रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने 'समानता' की व्याख्या करते हुए कहा कि वह कुलीनता शील, वय तथा अवस्था पर निर्भर है (ना० द०, पृ० २११)। शिङ्ग-भूपाल ने सखियों के लिए 'हला' तथा 'सखि' दोनों ही सम्बोधनों को स्वीकार किया (र० सु० ३, ३१८)। सर्वेश्वर के अनुसार नाटक में नायिकाएँ चेटी को और कहीं-कहीं गणिका भी राज-कुमारी को 'हला' कहकर सम्बोधित करती है (सा० सा० ३, ३३), पर रूप, सम्पत्ति, शील इत्यादि गुणों में समान नारी अन्य नारी को 'सखि' कहती है (वही; ३,३५)। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरत द्वारा निर्धारित पात्रों के लिए इन्होंने 'हला' नहीं बल्कि 'सखि' का निर्देश किया है। सागरनन्दी के अनुसार महादेवी अपनी सहेली को 'हला' कहकर सम्बोधित करती हैं (ना० र०, पं० २२३२)। जहाँ तक नाटकों का सम्बन्ध है, 'शाकुन्तल' (अंक १, पृ० २६) में अनसूया

ने शकुन्तला को 'हला' कहकर सम्बोधित किया है और व्याख्याकार राघवभट्ट ने भरत के नियम को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीयम्' (अंक १, पृ० १३) में सहजन्या ने मेनका को 'हला' और इसने उसे 'सखि' कहकर सम्बोधित किया है। पर रंगनाथ द्वारा सागरनन्दी के नियम का उद्धरण अस्थानिक और अशुद्ध है—अस्थानिक इसलिए कि यह महादेवी द्वारा चेटी को 'हञ्जे' सम्बोधित करने के विषय में है और अशुद्ध इसलिए कि वह 'नाटकलक्षण रत्नकोश' में उपलब्ध नहीं।[२७] व्यवहार की दृष्टि से नाटकों में प्रयुक्त 'हला' तथा 'सखि' सम्बोधनों में कोई भेद नहीं, क्योंकि प्रकाशित संस्करणों में 'हला' तथा 'सखि' साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं और कहीं-कहीं प्राकृत मूल में 'हला' और छाया में 'सखि' का अन्तःपरिवर्तन मिलता है। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' (अध्याय ८, पूना १९५८) में 'हला' का प्रयोग सखि के आमंत्रण में दिया है (२, १९५)।

सम्बोधन-निर्देश 'हञ्जे' के प्रयोग में कुछ विकास प्रतीत होता है ; भरत के अनुसार यह सम्बोधन-निर्देश 'उत्तमा प्रेष्या' अर्थात् दूती के लिए प्रयुक्त होता है (ना० शा०, गा० १७-९२)। धनंजय ने केवल 'प्रेष्या' के लिए इसका प्रयोग बताया (द० रू० २,७०) और विश्वनाथ ने इनका शब्दशः अनुकरण किया है (सा० द० ६, १५५)। पर रामचन्द्र व गुणचन्द्र के अनुसार 'अनुत्तमा' अर्थात् उत्तमा से भिन्न नारी तथा प्रेष्या के लिए 'हञ्जे' का प्रयोग होना चाहिए (ना० द० ४, २०१)। सागरनन्दी ने कहा है कि महादेवी अपनी चेटी को 'हञ्जे' कहकर सम्बोधित करती है (पं० २२३२)। शिङ्गभूपाल ने 'हञ्जे' को अतिनीच पात्रों के लिए सीमित कर दिया (र० सु० ३, ३२१)। पर सर्वेश्वर के अनुसार 'हञ्जे' का प्रयोग गणिका तथा अन्य स्त्रियों द्वारा परिचारिका के लिए होता है। 'विक्रमोर्वशीयम्' (अंक २, पृ० ५३) में जब औशीनरी चेटी को 'हञ्जे निपुणिके' कहती है तो रंगनाथ ने बताया है कि 'हञ्जे' चेटी के लिए प्रयुक्त होता है। 'मृच्छकटिक' (अंक २ पृ० ४२) में वसंतसेना के चेटी को इस निर्देश से सम्बोधित करने पर पृथ्वीधर कहते हैं : 'हञ्जे नीचे' अर्थात् नीचपात्र के सम्बोधन करने में 'हञ्जे' का प्रयोग होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि नाटचशास्त्रों के मतानुसार भरत के मौलिक विधान में क्रमशः 'प्रयोग-संकोच' होता गया। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि 'नाटचशास्त्र' के अनुसार तो विदूषक चेटी को भी 'भवती' निर्देश से सम्बोधित करता था। (ना० शा० गा० १७,८२)। 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' (वही ४,२८१) में भी इस 'हञ्जे' का प्रयोग चेटी के अह्वान के लिए दिया है और इसे शौरसेनी का शब्द बताया है।

§घ. अन्य पात्रों से सम्बन्धित निर्देश

१—कुटुम्ब के सदस्यों के निर्देश—रूपकों की दृष्टि से पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रमुख है और नाटचशास्त्रकारों ने यही स्वीकार किया है कि पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' और पति उसे 'आर्या' कहकर सम्बोधित करे। 'नाटचशास्त्र' (गा० १७,८३) में बताया गया है कि पति के लिए

---

२७. तुलना कीजिए—विक्रमोर्वशीयम्, पृ० १४ तथा नाटकलक्षणरत्नकोश, पं० २२३१-२२३३।

'आर्यपुत्र' का सम्बोधन यौवनावस्था में ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए अन्यथा केवल 'आर्य' ही उसका सम्बोधन है। अभिनवगुप्त ने न जाने किस आधार पर इसका अपवाद बताया है कि यौवन के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में केवल श्वशुर ही 'आर्यपुत्र' कहकर अपने जामाता को सम्बोधित करता है (ना० शा० गा० १७, ८३ पर नाटयवेदविवृति, पृ० ३८१)। पति के लिए 'आर्यपुत्र' का प्रयोग सभी नाटकों में विद्यमान है। इसकी पुष्टि रंगनाथ (मालविकाग्निमित्रम्, अंक २, पृ० ५५) ने भी सागरनन्दी के उद्धरण से की है, जिसके अनुसार नारी अपने पति को 'आर्यपुत्र', 'जीवितेश' अथवा 'नाथ' कहकर सम्बोधित करती है—अंतिम दोनों निर्देशों के प्रयोग उपलब्ध नहीं के बराबर ही हैं। 'अनर्घराघव' (अंक ७, पृ० ३१९) में रुचिपति ने और 'उत्तर-रामचरित' में वीरराघव ने भी 'आर्यपुत्र' के प्रयोग का उल्लेख किया है, यद्यपि एक स्थान पर (अंक १, पृ० ३५) 'उत्तररामचरित' में सीता ने राम को 'प्रियंवद' कहकर भी सम्बोधित किया है।

'नाटयशास्त्र' के अनुसार ही (ना० शा० गा० १७,९१) पत्नी को 'आर्या' अथवा पितृनाम या पुत्रनाम लेकर बुलाया जा सकता है। श्रृंगार की परिस्थिति में उसके लिए 'प्रिये' प्रयुक्त होना चाहिए (वही १७, ९३)। प्रथम विधान के उदाहरण अभिनवगुप्त ने क्रमशः माठरपुत्री, व सोमशर्मजननी दिये हैं (वही, पृ० ३८३)। 'नाटयदर्पण' (पृ० २१०, २११) में भरत के नियम तथा अभिनवगुप्त के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। शिङ्गभूपाल ने भी भरत का अनुसरण किया है। (र० सु० ३, ३१६) सर्वेश्वर के अनुसार 'विद्याधरी' का प्रेमी उसे 'सौदामिनी' कहकर सम्बोधित करेगा (सा० सा० ३, ७१)। सागरनन्दी के अनुसार पति अपनी पत्नी को 'देवि' या 'दयिते' कहकर सम्बोधित करता है (ना० र०, पं० २२५४-२२५५)।

केवल सागरनन्दी व शिङ्गभूपाल ने पिता के लिए सम्बोधन-निर्देश दिये हैं। इस सम्बन्ध में 'आवुक' तथा 'तात' का प्रयोग किया जा सकता है (ना० र०, पं० २१९५)। कदाचित् इस-लिए अन्य लेखकों ने इनका उल्लेख नहीं किया कि पूज्य निर्देश के अन्तर्गत तो 'तात' का विधान किया ही गया है। 'मृच्छकटिक' में हम देखते हैं कि रोहसेन बराबर 'आवुक' का प्रयोग करता है और इसकी संस्कृत छाया 'पितृ' (पिता) शब्द के रूपों से की गयी है। सम्भव है कि 'हला' तथा 'हञ्जे' शब्दों के समान 'आवुक' का प्रयोग भी स्वीकार्य हो गया और 'अमरकोश' तथा उपर्युक्त ग्रंथों में इसको मान्यता प्रदान की गयी। शिङ्गभूपाल के अनुसार पिता को 'तातपाद' भी कहकर सम्बोधित किया जाता है (र० सु० ३,३१७)। यह केवल आदरसूचक प्रयोग है जैसे 'मुद्राराक्षस' (अं० ६ पृ० १५२) में राक्षस की बात करते हुए चाणक्य 'अमात्यपाद' कहता है और हिन्दी में 'पूज्यपाद' का प्रयोग किया जाता है।

भरत ने माँ के लिए सम्बोधन-निर्देश नहीं किया, और धनंजय तथा उनका अनुकरण करते हुए विश्वनाथ ने पूज्या नारियों के लिए 'अम्बा' शब्द का विधान किया है (द० रू० २२, ७१ तथा सा० द० ६,१५६)। सागरनन्दी ने कहा है कि माता के लिए 'अम्बा' का प्रयोग किया जाना चाहिए (ना० र० पं० २१९६)। शिङ्गभूपाल भी इसी मत के हैं (र० सु० ३,३१७)। 'नाटयदर्पण' में 'अम्बा' के साथ 'आर्या' सम्बोधन का भी विधान है (ना० द०, पृ० २१०)। देशी-कोश के आधार पर राघवभट्ट ने (शाकुन्तल, पृ० २५५) माता के लिए 'अज्ज', 'अज्जू' का

प्रयोग बताया है। सागरनन्दी ने 'अज्जुका' का प्रयोग 'सास' के लिए दिया है (ना० र०, पं०-२१९६), यद्यपि इसका प्रयोग प्रायः वेश्या के लिए स्वीकृत है, और स्वयं इन्होंने भी माना है (वही, पं० २२२७-२२२८)।

पुत्र का सम्बोधन 'वत्स', 'तात', 'पुत्रक' या उसका नाम लेकर अथवा गोत्रनाम से हो सकता है (ना० शा० गा० १७,७८), पर धनंजय ने उसके लिए 'वत्स', 'तात' व 'आयुष्मान्' का विधान किया है (द० रू० २,६८)। 'नाटयदर्पण' में 'पुत्रक' का लोप है (ना० द० ४,२०४) यद्यपि 'शाकुन्तल' में दुष्यन्त भरत को 'पुत्रक' कहकर सम्बोधित करते हैं (अंक ७, पृ० २५७)। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३,६६–६७) केवल 'वत्स' का प्रयोग बताया है, यद्यपि माता उसे 'जात' निर्देश से भी सम्बोधित करती है (वही ३,७४)। यही विधान 'भावप्रकाशन' (पृ० २७१, पं० १५) में भी है। शिङ्गभूपाल ने सामान्य नियम ही दे दिया कि पुत्र तथा सब छोटे व्यक्तियों को 'वत्स', 'पुत्रक', 'दीर्घायु', 'तात', 'जात' इत्यादि कहकर सम्बोधित किया जाता है (र० सु० ३, ३१९)। विश्वनाथ ने भरत का अनुकरण किया है (सा० द० ६,१५०-१५१)।

छोटे भाई बड़े भाई को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करते हैं[१२] और उसकी पत्नी को 'आर्या' कहकर बुलाते हैं (ना० र०, पं० २१९७)। बड़े भाई छोटे भाई को उसी प्रकार बुलायेंगे जैसे बेटे को।

बड़ी बहन को 'स्वसा' और छोटी को 'वत्सा' कहकर सम्बोधित करते हैं (ना० शा० गा० १७, ९०)। सागरनन्दी तथा शिङ्गभूपाल के अनुसार भगिनीपति के लिए 'आवुत्त' निर्दिष्ट है (ना० र०, पं० २१९५; र० सु० ३, ३१४)। पर इन दोनों लेखकों ने बहिन के लिए कोई निर्देश नहीं दिया। बहिन की लड़की के लिए सागरनन्दी ने 'अन्तिका' (ना० र०, पं० २१९६ और गोद ली लड़की के लिए 'कृत्रिमा' सम्बोधन-निर्देश दिये हैं (वही, पं० २१९४)। अन्य सभी सम्बन्धियों के लिए शिङ्गभूपाल ने 'आर्य' का विधान किया है (र० सु० ३, ३१७)।

२—भगवन् व भगवती निर्देश का अधिकारी पात्र—भरत ने कहा है कि जो देवताओं के भी 'देवता' (अर्थात् 'स्तुत्य'—अभिनवगुप्त) हैं, महात्मा व महर्षि हैं, देवता व सम्प्रदायिक मतावलम्बी, अथवा अनेक श्रुतियों के ज्ञाता हैं उनको नर वा नारी सभी 'भगवान्' कहकर सम्बोधित करें (ना० रा० गा० १७-६७-६८)। पुण्डरीक ने भरत की वाणियों का केवल सारांश दे दिया है (ना० ल०, पत्रा १०)। धनंजय ने विद्वान्, देवर्षि और तपस्वी पात्रों के लिए इस निर्देष को केवल उत्तमपात्रों द्वारा प्रयोजनीय कहा है (द० रू० २,६७)। शारदातनय व शिङ्गभूपाल ने 'भगवन्' निर्देश को देवताओं तथा मुनियों तक ही सीमित रखा और इनमें से पहले लेखक ने विद्वानों के लिए 'आर्य' निर्देश का और दूसरे ने 'भाव' का प्रयोग निर्धारित किया (भा० प्र०, पृ० २७७, पं० ९; र० सु० ३, ३०९)। 'अमरकोश' (१, ७,१२) में भी इस प्रसंग में 'भाव' का प्रयोग किया गया है। सर्वेश्वर ने, कदाचित् ज्ञात नाटकों के आधार पर, धनंजय के नियम का ही विकास किया और कहा कि रंगमंच पर उपस्थित पात्रों द्वारा किसी ऐसे वर्ग विशेष के पात्र को, जो सारे 'आश्रमों' में से होकर आया हो, अथवा इनके वेष में हो तो उसे भी 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (सा० सा० ३,५०)। भरत के

'नाट्यशास्त्र' के निर्देशों का विश्वनाथ ने भी अनुकरण किया (सा० द० ६,१४९), पर इन सब के प्रतिकूल, सागरनन्दी का कथन यह है कि राजा ब्राह्मणों को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करे (ना० र०, पं० २२५९)।

साथ ही भरत ने स्वयं तपस्विनियों व देवियों के लिए 'भगवती' निर्देश का विधान किया है (ना० शा० गा० १७, ८६), और इससे पहले जिन पात्रों के लिए 'भगवन्' का विधान किया था (वही, १७,६७) वहाँ उनकी पत्नियों के लिए भी 'भगवती' का ही प्रयोग होता है (अभिनवगुप्त)। इस नियम का अनुकरण धनंजय ने किया (द० रू० २,७०)। 'नाट्यदर्पण' में बताया है कि सरस्वती जैसी देवियाँ या किसी विशेष व्रत को पालन करने वाली व सुपूज्य और अत्यधिक विदुषी नारियाँ 'भगवती' निर्देश की अधिकारिणी हैं (पृ० २११)। पर भरत ने तो साम्प्रदायिक मतावलम्बी नारी और व्रतिनी के लिए 'आर्या' का प्रयोग निर्धारित किया है (ना० शा० गा० १७,९०)। जिस प्रकार वर्ण विशेष के आश्रमागत पुरुषमात्र के लिए 'भगवन्' उसी प्रकार तदनुरूप स्त्रीपात्र के लिए सर्वेश्वर ने 'भगवती' का प्रयोग निर्धारित किया है (सा० सा० ३,७०)। पर नाटकों में 'भगवती' का प्रयोग उपलब्ध नहीं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में काश्यपमुनि को उनके शिष्य (अंक ४, पृ० १३८) और मारीच को दुष्यंत (अंक ७, पृ० २६७) 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करते हैं। इसकी पुष्टि में व्याख्याकार ने 'नाट्यशास्त्र' के नियम का उल्लेख किया है। 'मालतीमाधव' में माधव मेघ को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करता है (अंक ९, पृ० २१४) और इस अनियमितता का आभास होने पर जगद्धर ने अपनी व्याख्या (पृ० १०९) में कहा है कि ऐसा विशेष दुःख के कारण है, क्योंकि माधव ने मेघ को देवता तुल्य माना है। 'महावीरचरित' में विश्वामित्र का सम्बोधन प्रायः 'भगवन्' से हुआ है और दो स्थानों पर (पृ० २८ व १४१) वीरराघव ने एक ही कारिका के द्वारा स्पष्ट किया है कि इस सम्बोधन के अधिकारी पात्र वे ही हैं जो प्राणियों की उत्पत्ति या नाश को, उनके उत्थान व पतन को तथा विद्या व अविद्या को जानते हैं। वस्तुतः विश्वामित्र की गणना 'नाट्यशास्त्र' के महर्षियों में है। यद्यपि 'अनर्घराघव' के प्रारम्भिक दृश्य (पृ० ३५) में भी वामदेव ने विश्वामित्र को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु व्याख्याकार रुचिपति ने एक ऐसे नियम का उद्धरण किया है जो अप्रासंगिक है और इसे भरत द्वारा प्रतिपादित बताया है। वस्तुतः पाठभेद के साथ यह नियम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में प्राप्त है जिसके अनुसार राजा ब्राह्मणों को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करता है।

३—(क) **ब्राह्मणनिर्देश**—प्रायः सभी लेखकों[२८] ने यह विधान किया है कि ब्राह्मण को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। सर्वेश्वर ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्राह्मण के नाम के साथ 'हे शर्मन्' भी लगाया जा सकता है, पर तब ही जब कि वह व्यक्ति विद्या व विनय से युक्त हो। सर्वेश्वर के अनुसार केवल मध्यमपात्र ही उसे 'आर्य' कहते हैं

---

२८. दे० ना० शा० गा० १७, ६९; द० रू० २, ६७; ना० द० पृ० २१०; ना० ल० पत्रा १०––"आर्या विप्राप्रजामात्याः"; भा० प्र० पृ० २७७ पं० ९; र० सु० ३, ३०८; सा० स० ३, ५४-५५।

(सा० सा० ३,५४-५५ व ६४-६५)। सागरनन्दी के अनुसार केवल राजा ही ब्राह्मण को इस प्रकार सम्बोधित करता है (ना० र०, पं० २२५८)। विश्वनाथ का मत है कि ब्राह्मणपात्र अन्य ब्राह्मण को या तो उसके नाम से या अपत्यार्थक प्रत्यय का प्रयोग करके, पर अन्य सभी पात्र उसे 'आर्य' से ही सम्बोन्धित करें (सा० द० ६,१४६)। सर्वेश्वर ने साथ में पुरोहित के लिए भी 'आर्य' निर्देश का विधान किया है (वही)। पर शार्ङ्गरव ने 'शाकुन्तल' (अंक ५, पृ० १६७) में पुरोहित को 'महाब्राह्मण' कहकर सम्बोधित किया है और इसको राघवभट्ट अनुचित नहीं बताते। पर जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, 'मृच्छकटिक' में यह निर्देश विदूषक के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे यह प्रतीत होता है कि कालिदास ने इस निर्देश का आदरार्थ प्रयोग किया है, व्यंग्य में नहीं। रंगनाथ ने उन सामान्य गुणों का उल्लेख किया है जिससे कोई व्यक्ति 'आर्य' निर्देश का अधिकारी हो, पर एतदर्थ जो कारिका उन्होंने भरत सम्मत बतायी है वह 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध नहीं। उनका कथन है कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को 'आर्य' कहा जा सकता है जो 'कुल', 'शील', 'दया', 'दान', 'धर्म', 'सत्य', 'कृतज्ञता' तथा 'अद्रोह' से युक्त हों (विक्रमोर्वशीयम्, पृ० ८)।

'नाट्यशास्त्र' (ना० शा० गा० १७,९०) तथा 'नाट्यदर्पण' (पृ० २१०) में बताया गया है कि 'ब्राह्मणी' को 'आर्या' कह करके सम्बोधित करना चाहिए और पुरोहित तथा सार्थवाहों की पत्नियाँ भी सदा ही 'आर्या' से सम्बोधित होती हैं (ना० शा० गा० १७,९४)। पर नाट्यदर्पणकारों ने इसका अभिप्राय अभिनवगुप्त के कथनानुसार एक तो यह निकाला कि पुरोहित अपनी पत्नी को सदा (यौवनेऽपि) 'आर्या' कहकर बुलायेगा और अन्य पात्र भी उसे 'आर्या' ही कहेंगे (ना० द०, पृ० २१०)।

३—(ख) गुरु-शिष्य निर्देश—भरत के अनुसार 'आचार्य' को 'उपाध्याय' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७,६९)। धनंजय वा नाट्यदर्पणकारों ने गुरु के लिए पृथक् निर्देश नहीं दिये हैं, कदाचित् उनके अनुसार गुरु के लिए भी वे ही निर्देश प्रयुक्त किये जा सकते हैं जो 'पूज्य' या 'वृद्ध' अथवा 'विद्वान्' के लिये हैं। शारदातनय भी इस विषय में मौन हैं, उन्होंने सामान्यतया यही कहा है कि 'विद्वानों, ब्राह्मणों तथा 'गुरुजनों' को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (भा० प्र०, पृ० २७७ पं० ९)। शिङ्गभूपाल तथा विश्वनाथ ने भरत का अनुकरण किया है (र० सु० ३,३०९; सा० द० ६,१५३)। 'मुद्राराक्षस' (अंक १, पृ० २०) में शिष्य चाणक्य को 'उपाध्याय' कहकर ही सम्बोधित करता है। वैसे तो 'नाट्यशास्त्र' (गा० १७,८६) में 'गुरुभार्या' के लिए 'भवती' शब्द का प्रयोग विहित है पर यदि अभिनवगुप्त की व्याख्या को माना जाय तो यहाँ पर गुरुपत्नी नहीं, कोई भी मान्य नारी अभिप्रेत हो सकती है। गुरु की पत्नी के आदरणीय स्थान को देखते हुए यहाँ पर वह भी 'भवती' निर्देश की अधिकारिणी है, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

'नाट्यशास्त्र' (१७,७८) के अनुसार पिता पुत्र को और गुरु शिष्य को 'वत्स', 'तात', 'पुत्रक' अथवा उसका नाम लेकर या गोत्रनाम का प्रयोग करके सम्बोधित करता है। धनंजय के अनुसार पूज्यजन अर्थात् गुरु इत्यादि शिष्य को 'आयुष्मान्', 'वत्स' व 'तात' कहकर सम्बोधित

करते हैं और पुण्डरीक के अनुसार केवल 'वत्स' व 'तात' ही कहकर (द० रु० २६८; ना० ल० पन्ना १०)। यद्यपि 'नाट्यदर्पण' में 'दीक्षित' तथा 'अध्यापित' शिष्यों का उल्लेख तो किया है, पर सम्बोधन की दृष्टि से उन दोनों के लिए 'पुत्र', 'वत्स' अथवा 'तात' निर्देश का प्रयोग होता है (ना०, द०, पृ० २१२)। सर्वेश्वर के अनुसार उपाध्याय तीनों वर्णों के शिष्यों को केवल 'वत्स' से सम्बोधित करता है (सा० सा० ३,६६–६७), पर शिङ्गभूपाल ने 'नाट्यशास्त्र' व 'दशरूपक' के विधान के आधार पर शिष्य के लिए पुत्र के समान, 'वत्स', 'पुत्रक', 'दीर्घायु', 'तात', तथा 'जात' का प्रयोग दिया है (र० सु० ३,३१९)। शारदातनय (भा० प्र०, पृ० २७७, पं० १५–१६) तथा विश्वनाथ (सा० द० ६,१५०-१५१) ने भरत का अनुकरण किया है। इसके परिणामस्वरूप हमें ज्ञात होता है कि सभी लेखकों का मंतव्य यही है कि उपाध्याय व शिष्य का सम्बन्ध पिता व पुत्र का सा है।

३–(ग) पूज्य-पुरुष—भरत ने कहा है कि प्रशांत अर्थात् वीतराग व्यक्ति अथवा तपस्वी को 'साधो' कह कर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७५)। यद्यपि परवर्ती लेखकों में से शिङ्गभूपाल (र० सु० ३, ३१३) व विश्वनाथ (सा० द० ६, १५२) ने इस नियम का पालन किया है, पर किसी भी नाटक में 'साधो' सम्बोधन रूप में प्राप्त नहीं होता। 'नाट्यशास्त्र' (गा० १७, ६९) के अनुसार वृद्ध पुरुष को 'तात' कहना चाहिए और प्रायः सभी लेखक इससे सहमत हैं।[२९] पर धनंजय ने 'तात' के साथ-साथ 'सुगृहीताभिधः' का विधान भी किया है (द० रू० २, ६८)। इस नियम की व्याख्या विश्वनाथ ने की है—जो व्यक्ति अर्थात् शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई गुरुजनों द्वारा उपरि निर्दिष्ट सम्बोधनों के अधिकारी हैं वे ही पूज्यजनों को इन दोनों निर्देशों से सम्बोधित करते हैं। 'मुद्राराक्षस' (अंक १, पृ० २७) में चाणक्य का शिष्य अपने गुरु के नाम के पूर्व 'सुगृहीतनाम 'शब्द का प्रयोग करता है जिसकी व्याख्या में ढुण्ढिराज ने कहा है—"स सुगृहीतनामा स्यात्प्रातर्यः स्मर्यते जनैः", अर्थात् वह व्यक्ति जिसका लोग प्रातःकाल ही स्मरण करें 'सुगृहीतनामा' होगा। इसी आशय की व्याख्या वीरराघव ने (महावीरचरितम्, पृ० ८) दी है—"स सुगृहीतनामा स्याद्यः प्रातः सुखदः स्मृतः", अर्थात् जिस व्यक्ति का प्रातः स्मरण सुखकर हो वही सुगृहीतनाम होगा। संटपीटर्सबर्ग-कोश में त्रिकाण्डशेष के आधार पर वीरराघव द्वारा दिया अर्थ ही पुष्ट होता है, पर सिल्वें लेवि का यह प्रस्ताव कि यहाँ पर 'प्रातः' के स्थान पर 'प्रेतः' (अर्थात् 'दिवंगत व्यक्ति') पाठ अधिक ठीक रहेगा, माननीय नहीं[३०] क्योंकि जैसा कि हमने देखा, नाटक के कथोपकथन में 'सुगृहीताभिधः' का विधान प्रेतात्मा के लिए नहीं हुआ है।

सर्वेश्वर के अनुसार नाटक में उस मुनि को सभी अन्य पात्र 'कुलपति' कह कर सम्बोधित करेंगे जो सब विद्याओं में प्रवीण हो और आश्रम में सर्वोच्च पद पर आरूढ़ हो (सा० सा० ३, ७०)। पर कापालिक के लिए ही 'गुरु' पद का प्रयोग होता है, आचार्य के लिए नहीं (वही ३७३)।

३–(घ) पूज्यनारी—'नाट्यशास्त्र' के अनुसार 'स्थानीया' (अर्थात् ईषद् वृद्धा पूज्या; कुछ

---

२९. दे० ना० द०, पृ० २१२; ना० ल०, पं० १०; र० सु० ३, ३०८; सा० द० ६, १५०

३०. दे० इं० ऐं० ३३, पृ० १६३। (उपर्युक्त पादटिप्पणी २३)।

कम वृद्ध पूज्य नारी—अभिनव गुप्त) का सम्बोधन 'भवती' है (ना० शा० गा० १७, ८६) पर वृद्धा को 'अम्बा' कह कर बुलाते हैं (वही, १७, ८७)। धनंजय ने 'नाटचशास्त्र' के इस विधान को स्वीकार किया है (द० रू० २, ७१)। पर 'नाटचदर्पण' (पृ० २१०) में थोड़ी वृद्ध पूज्या नारी के लिए 'भवती' तथा 'आर्या' दोनों का निर्देश किया है और वृद्धा के लिए 'अम्बा' तथा 'आर्या' का (वही)। 'नाटकलक्षण' तथा 'साहित्यदर्पण' (६, १५६) ने भरत का अनुकरण किया है।

ब्राह्मणी के समान व्रत धारण करने वाली तथा साम्प्रदायिक मतावलाम्बिनी नारी का भी सम्बोधन 'आर्या' है। भरत के इस निर्देश (ना० शा० ग० १७,९०) का अनुकरण 'नाटचदर्पण' में भी हुआ है (ना० द०, पृ० २१०)।

§ ङ—विविध पात्रों के सम्बोधन-निर्देश

नाटचशास्त्रकारों ने बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं में क्षपणकों के लिए 'भदन्त' सम्बोधन का निर्देश किया है।[३१] उल्लेखनीय बात यह है कि धनंजय, जिन्होंने भरत के 'नाटचशास्त्र' का संक्षेप करने का दावा किया, और विश्वनाथ, जिन्होंने नाटच सम्बन्धी परिच्छेद में प्राय: भरत की कारिकाओं को उद्धृत किया है, इन दोनों ने ही इस विषय में कुछ नहीं कहा। हम देखते हैं कि 'मुद्राराक्षस' (अंक ४, पृ० १११) में राक्षस और (अंक ५, पृ० ११६) सिद्धार्थक क्षपणक को 'भदन्त' कह कर ही सम्बोधित करते हैं, पर 'मृच्छकटिक' (अंक ८, पृ० १६४, १६५) में जब चारुदत्त का 'संवाहक' भिक्षु बन जाता है तो शकार उसे 'दुट्टशपणका' (सं० दुष्टक्षपणक) अथवा केवल 'शपणका' (सं० क्षपणक) कह कर सम्बोधित करता है। यह स्पष्ट है कि वह बौद्ध भिक्षु है, क्योंकि 'मृच्छकटिक' में वह 'नमो बुद्धश्श' (सं० नमो बुद्धाय) कहता है।

अन्य धर्मावलम्बियों को उनके विशिष्ट धर्मानुसार सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७९)। पुण्डरीक (ना० ल०, पत्रा १०) व विश्वनाथ (सा० द० ६, १५६) ने भरत की इस कारिका को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या में बताया है कि भरत के 'शेषा: पाषण्डा:' का अभिप्राय पाशुपतादि से है और इनके परम्परागत सम्बोधन-निर्देश निश्चित ही हैं जैसे पाशुपतों का सम्बोधन 'भायूणन्' अथवा 'भासर्वज्ञ' इत्यादि से होता है। नाटचदर्पणकारों ने अभिनवगुप्त की व्याख्या का ही अनुकरण किया है (ना० द०, पृ० २१२) और समझाया है कि इन लोगों को सम्बोधित करते समय 'भा' का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न पात्रों के सम्बोधन-निर्देशों का उल्लेख कर देने के बाद भी विषय समाप्त नहीं हुआ। यदि कोई अन्य पात्र किसी रूपक में सहयोग दे तो उसके लिए भी भरत ने निर्देश दिये हैं। 'कारुक' अर्थात् शिल्पकार (जैसे स्तूपकार—अभिनवगुप्त), शिल्पी (जैसे चित्रकार—वही) इत्यादि के लिए उनके कार्य के अनुरूप सम्बोधन होने चाहिए। महाभाष्य (पा० १, १, ४८ पर १, १, ७, पृ० ११८ पूना संस्करण) में भी 'कारुक' पाँच प्रकार से बताये हैं। 'उद्योत' में 'कुलाल-कर्मार-वर्धाकि-नापित-रजका:' की परिगणना की गयी है। इसके अतिरिक्त, भरत ने एक व्यापक

---

३१. दे० ना० शा० गा० १७, ७९; ना० द०, पृ० २१२; भा० प्र०, पृ० २७७ पं० ११; ना० र०, पं० २२६०।

नियम भी दे दिया है कि नाटक इत्यादि में प्रत्येक व्यक्ति का सम्बोधन उसके कर्म, शिल्प, विद्या व जाति के अनुरूप होना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७७)। इसकी व्याख्या 'नाटयदर्पण' में विस्तार से दी गयी है और कर्म के अन्तर्गत वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, संगीत, नृत्य, वाद्यवादन, चित्र, राजसेवा, शस्त्र-व्यापार इत्यादि दिये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार जैसे 'गान्धिक', 'ताम्बूलिक', 'कृषीवल', 'गोपाल', 'गान्धर्व', 'चित्रकार', 'सेवक' अथवा 'वैद्य' आदि शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए (ना० द०, पृ० २१२-२१३)।

सामान्यतया उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्र स्त्रियों को उसी प्रकार सम्बोधित करें जैसे उनके पतियों को करते हैं (द० रू० २, ७०; सा० द० ६, १५५)।

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत ने नाटक व प्रकरण के जो लक्षण बताये और उनके अनुसार विविध पात्रों के सम्बोधन-निर्देशों का जो विवरण दिया, अधिक परवर्ती लेखकों ने उसीका अनुकरण किया है। नाटक 'दिव्याश्रयोपेत' था, उसमें राजर्षि के चरित का प्रदर्शन होता था (ना० शा० गा० १८, १०), और उसके अंकों में नायक की रानियों, उसके गुरुजन, पुरोहित, अमात्य, सेनापति इत्यादि के वचनों तथा कर्मों के परिणामस्वरूप कथावस्तु का प्रवाह होता था (वही १२, १८), अर्थोपेक्षपकों में विभिन्न पात्रों को प्रस्तुत कर के अप्रदर्शनीय कथावस्तु की सूचना देनी थी, अतएव इन पात्रों की उपस्थिति के कारण आवश्यक था कि उनके सम्बोधन-निर्देश दिये जाते। प्रकरण में भी इन विविध पात्रों के चरित का प्रदर्शन करना अभीष्ट था (वही, १८, ४८), उसमें वेश्या पर केन्द्रित कथावस्तु की कल्पना की गयी है। इसीलिए भरत ने इन सब पात्रों के कथोपकथन की विधि को स्पष्ट किया। दूसरी ओर, संस्कृत रूपकों में पात्रों के लिए विभिन्न भाषा व विभाषाओं का भी विधान है, इसलिए यह भी आवश्यक था कि उनकी भाषा के अनुसार भी सम्बोधन-निर्देश दिये जाते। उल्लेखनीय यह है कि भरत के 'नाटयशास्त्र' तथा प्रसिद्ध नाटकों व रूपकों की प्रामाणिकता होने पर भी सागरनन्दी व सर्वेश्वर ने कई ऐसे नवीन सम्बोधन-निर्देश दिये हैं जिनका आधार या तो अज्ञात नाटयशास्त्र ग्रंथ हैं या वे नाटक आदि जो अभी उपलब्ध नहीं हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य परवर्ती लेखकों ने किन्हीं लक्ष्य-ग्रंथों का अध्ययन न कर के केवल लक्षण-ग्रन्थों का ही अनुकरण किया है। बल्कि विश्वनाथ ने तो इस विषय में कोई विशेष परिश्रम ही नहीं किया, केवल भरत तथा धनंजय की कारिकाओं को एकत्र कर दिया, और भरत द्वारा प्रतिपादित कई ऐसे प्रयोग जो प्रचलित नहीं रहे होंगे उनको भी अनुकरण की चिंता से 'साहित्यदर्पण' में दे दिया। यदि संस्कृत नाटयशास्त्रकारों ने इस विषय का दिङ्मात्र निर्देश किया है तो कदाचित् इसलिए कि प्रमुख प्रयोगों के देने के पश्चात् यह ऐसा विषय है जो नाटककार को विशेषतया बताने की आवश्यकता नहीं, अधिकतर निर्दिष्ट सम्बोधन स्वाभाविक हैं। पर यह विषय महत्वपूर्ण अवश्य है क्योंकि रूपकों में विविध पात्रों के परस्पर सम्मुख होने पर सम्बोधन-विधि समस्याजनक हो सकती है। उपचार विधि के इस अंग की ओर आकृष्ट हो कर नाटयशास्त्रकारों ने नाटककार का ही नहीं अपितु 'सामाजिकों' अर्थात् प्रेक्षकों का भी पथप्रदर्शन किया और सामाजिक सुव्यवस्था तथा सुव्यवहार को रेखांकित किया है।

●

भगीरथ मिश्र

तुलसी का काव्य-दर्शन

काव्यशास्त्र के तीन अंग होते हैं—१. काव्यदर्शन, २. कविशिक्षा और ३. काव्य-शिल्पविधि। गोस्वामी तुलसीदास जी काव्याचार्य के रूप में हमारे सामने नहीं आते; अतएव काव्य-शिल्पविधि और कविशिक्षा से संबंधित उनके विचार उनके ग्रंथों में नहीं मिलते। कवि का रूप उनका प्रमुख नहीं था, अतः कवि-शिक्षा संबंधी बातों की आशा करना उनसे व्यर्थ है; परन्तु वे जीवन और जगत् के अनुभवों में काफ़ी गहरे उतरे थे इस कारण से काव्य-दर्शन (poetic philosophy) अथवा काव्यादर्श (concept of poetry) से संबंधित उनकी उक्तियाँ, उनका दृष्टिकोण भलीभाँति स्पष्ट करती हैं। यहाँ विभिन्न कृतियों में प्राप्त एवं उक्तियों में परिव्याप्त गोस्वामी जी के काव्य-दर्शन संबंधी विचारों का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य के स्वरूप पर प्राप्त उनके विचारों में उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। काव्य एक सीमित एवं कुछ विद्वानों द्वारा ग्राह्य वस्तु ही नहीं है वरन् वह सर्वोपयोगी वस्तु है। उनका कथन है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

कीर्ति अर्थात् यश या सत्कार्यों की ख्याति; भनिति अर्थात् उक्ति या काव्य और ऐश्वर्य अर्थात् संपत्ति वही भली है जिससे लोककल्याण हो, जैसे कि गंगा जी जो अनेक प्रकार से सभी का हित करती हैं। यहाँ पर निश्चयतः तुलसीदास का मन्तव्य यही है कि किसी कुएँ, झील या ताल के पानी का सीमित उपयोग है, एकक्षेत्रीय हित ही उससे होता है; परन्तु गंगा नदी का जल अनेक प्रकार से सर्वोपयोगी है। यही सत्काव्य की भी विशेषता है। संस्कृत या केवल विद्वद्वर्ग की भाषा में लिखे काव्य का भी सीमित उपयोग है; अतः काव्य को बहुजनोपयोगी बनाने के हेतु उसे लोकभाषा में लिखना चाहिए। तुलसी ने काव्य को सुरसरि माना है। साधारण नदी नहीं, जो ग्रीष्म में सूख जाय; वरन् गंगा जी के समान काव्य को होना चाहिए जिसमें प्रवाहित भाव-विचार की धारा युग-युग तक जीवन को सरस बनाती हुई बहती रहे। काव्य किसी क्षुद्र, सामयिक या सीमित भाव या विचार को लेकर महान् नहीं हो सकता, उसमें चाहे कितना उक्ति-वैचिश्य हो और चाहे वह किसी भी उत्तम से उत्तम और सुन्दर भाषा में लिखा गया हो।

असन्दिग्ध रूप से तुलसी वस्तु या वर्ण्य विषय को महत्व देते हैं, भाषा या शैली आदि को नहीं। यद्यपि कबीर के समान उन्होंने संस्कृत की अपेक्षा भाषा को अधिक या विशिष्ट महत्व

देने की चेष्टा नहीं की; क्योंकि वे उसे देववाणी मानते थे और उसके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी; परन्तु उन्होंने काव्य की किसी विशिष्ट भाषा को कोई महत्व प्रदान नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥

और— हरिहर जस सुर नर गिरहुँ, बरनहिं सुकवि समाज।
हाँड़ी, हाटक घटित चरु, राँधे स्वाद सुनाज॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

यहाँ पर तुलसी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। भाषा साधन मात्र है और साधन जितना ही सुलभ और सुगम हो उतना ही अच्छा है। उससे साध्य के प्रति अधिक से अधिक ध्यान रहता है। काव्य में भाषारूप साधन यदि दुरूह या बोझिल हो गया, तो फिर 'हरिभजन के उद्देश्य में कपास ओटना' ही रह जाता है। ध्यान भाषा की दुरूहता और जटिलता में उलझ जाता है और वास्तविक उद्देश्य पीछे पड़ जाता है। यदि कहें कि काव्य के लिए गँवारू भाषा उपयुक्त नहीं, तो उसका भी उत्तर तुलसीदास जी यह देते हैं, कि यह वर्ण्य विषय और भाषा के प्रयोग पर निर्भर है। भाषा का कोई दोष नहीं; जैसा कि ऊपर के दूसरे दोहे से स्पष्ट है।

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को तुलसी ने सिद्धान्त रूप में इस प्रकार रखा है—

सरल कबित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करें बखान॥

यहाँ वर्ण्य विषय या चरित्र की उच्चता का प्रतिपादन है। विषय की उच्चता का वर्णन, सच्चे निर्मल चरित्र वाले व्यक्तियों का चित्रण, सामाजिक हित के लिए महत्व रखता है। यह लोक को उच्च विचार रखने और उच्च जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। इसे कोई भी स्वीकार नहीं करेगा कि समाज में नीच कोटि का जीवन बिताया जाय और दूषित चरित्र का आदर्श ग्रहण किया जाय। इस भावना को लेकर तुलसीदास को एकांगी और आदर्शवादी मात्र कहना उचित नहीं, वरन् इसका निष्कर्ष यही है कि उनका दृष्टिकोण सामाजिक था। सभी कार्यों को वे सामाजिक पृष्ठभूमि में देखते थे। अतः काव्य का वर्ण्य विषय भी उच्च और निर्मल होना चाहिए। ऐसे काव्य का सुजान आदर करेंगे और विरोधी भी उसकी प्रशंसा करेंगे। परन्तु, निर्मल चरित्र का सरल शैली में वर्णन करना तो सरल नहीं। गोस्वामी जी ने लिखा है—"सो न होय बिनु बिमल मति।" अर्थात् इस प्रकार का काव्य बिना निर्मल या स्वच्छ प्रतिभा के नहीं हो सकता।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि तुलसी तो स्वान्तःसुखाय काव्य लिखने वाले व्यक्ति हैं। अतः उनको सुजानों के आदर की क्या चिन्ता थी? और स्वान्तःसुखाय लिखने वाले का सामाजिक दृष्टिकोण से क्या संबंध? वास्तव में तुलसी का 'स्वान्तःसुखाय' शब्द व्यंगपूर्ण है जिसका तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े लेखक और कवि उच्च रचना और समाज का नवनिर्माण एवं परिष्कार करने तथा सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखने का संकल्प करके लेखनी उठाते हैं और परिणाम

कुछ नहीं होता। यदि उसमें कुछ तत्त्व है, तो इस प्रकार के संकल्प द्वारा आत्मप्रचार की कोई आवश्यकता नहीं; वह रचना अपने आप अपना प्रभाव डालेगी। अतः उन्होंने इस प्रकार का कोई महान् संकल्प प्रस्तावित नहीं किया। हाँ, उच्च और निर्मल चरित्र का चित्रण उनका ध्येय अवश्य है जिसे वह पूरा करना चाहते हैं और जिसका पूरा करना वे सरल नहीं समझते। परन्तु स्वान्तः सुखाय लिखते हुए भी वे सज्जनों और विद्वानों द्वारा अपने कृतित्व के सम्मान की आकांक्षा रखते हैं। उनकी सभी कवियों से याचना है—

होउ प्रसन्न देउ बरदानू। साधु समाज भनिति सम्मानू॥

इसके अतिरिक्त भी काव्य को वे वैयक्तिक अर्थात् केवल एक व्यक्ति या कवि तक सीमित वस्तु नहीं मानते वरन् उसके सामाजिक महत्व और प्रचार पर विश्वास रखते हैं। उनका सिद्धान्त है—

मणि माणिक मुक्ता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेइ सुकबि कबित बुध कहईं। उपजहिं अनत अनत छबि लहईं॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥

इस प्रकार तुलसी का काव्य-प्रयोजन और उसकी कसौटी दोनों ही स्पष्ट हो जाते हैं। काव्य का प्रयोजन तो सामाजिक हित है, पर वह केवल कवि के द्वारा कह देने मात्र से संपन्न नहीं हो जाता, उसका यह पक्ष तो समाज में उसके प्रचार और विद्वानों द्वारा उसके आदर के साथ सिद्ध होता है। मणि कैसी भी अच्छी क्यों न हो, उसका मूल्य और महत्व खान में नहीं, पारखियों के पास जाकर ही उसका महत्व ज्ञात होता है और विशेषज्ञों द्वारा प्रतिष्ठित होने पर फिर सर्वसाधारण भी उसे मूल्यवान वस्तु समझते हैं। और यदि विद्वानों और सर्वसाधारण दोनों की ही दृष्टि में उसकी विशेषताएँ अलग-अलग प्रतिभासित और गृहीत हुईं, तो फिर उसका कहना ही क्या? वह तो सर्वश्रेष्ठ है। तुलसी का अपना काव्य इसी कोटि का है, यह वे नहीं कहते। विद्वान् तथा साधारण सभी जन स्वयं उसे श्रेष्ठ कहते हैं।

काव्य की उत्पत्ति—यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के काव्य की उत्पत्ति कैसे होती है? तुलसीदास का काव्य की उत्पत्ति के संबंध में बड़ा ही स्पष्ट मत इस प्रकार का है—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहैं सुजाना॥
जो बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुक्तामनि चारू॥

हृदय समुद्र है। जिस प्रकार समुद्र विशाल और अगाध होता है, अनेक प्रकार की छोटी बड़ी सरिताओं का जल उसमें गिरता रहता है और छोटी-बड़ी अनेक बीचियाँ, ऊर्मियाँ और लहरें उसमें उठती रहती हैं उसी प्रकार हृदय में जीवन के अनेक अनुभव और भाव भरे रहते हैं। उन भावनाओं के बीच बुद्धि इधर-उधर घूमती रहती है जैसे समुद्र में सीपी। यह मति या बुद्धि प्रतिभा-स्वरूपिणी है। इस प्रतिभा-रूपी बुद्धि में जो अनेक अनुभव और भावनाओं से ओतप्रोत है—जब कोई नवीन सद्विचार आ जाता है, तो कवित्व

रूपी मोतियों का जन्म होता है। यहाँ पर कविता के कोई अलौकिक कृत्य होने का विश्वास प्रकट नहीं है। अलौकिकता का समावेश केवल स्वाति-सारदा के रूपक से होता है जो वर-वारि रूपी विचार की प्रेरक हैं। विचार जाग्रत होने की क्रिया को हम चाहे अलौकिक या अदृश्य प्रेरणा मानें या भौतिक परिस्थितिगत क्रिया; परन्तु भावनाओं के समुद्र के बीच प्रतिभा-रूपी बुद्धि के अंतर्गत जब वह विचार पड़ेगा, तभी कवित्व का जन्म होगा; यह तुलसी का काव्योत्पत्ति का सिद्धान्त है। सौन्दर्यशास्त्र का प्रसिद्ध मनीषी वेनेदेतो क्रोचे भी काव्य या कलाओं को कल्पना और भावना द्वारा प्राप्त ज्ञान मानता है; केवल बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान नहीं। कल्पना का तुलसी की सुमति के अन्तर्गत समावेश माना जा सकता है। तुलसी ने काव्यांगों का प्रत्यक्षतः विवेचन नहीं किया है, परन्तु उनकी धारणा में संस्कृत काव्याचार्यों के काव्यांग-विवेचन से एक अधिक विशिष्ट बात देखने को मिलती है। तुलसी ने यद्यपि काव्यशास्त्रीय ढंग से काव्य की आत्मा खोजने और स्पष्ट प्रतिपादित करने का प्रयत्न नहीं किया; पर अपने ढंग से उन्होंने स्पष्ट किया है कि सत्य काव्य की आत्मा है, परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है, अतः उसका वर्णन उनकी दृष्टि से आवश्यक है। कविता को यदि कामिनी माना जाय और शब्द-अर्थ को शरीर, गुणों को लज्जादि गुण और अलंकारों को आभूषण, तो उसके लिए भक्तिभावना वस्त्र या साड़ी के समान है जिसके बिना उसका सब शृंगार-प्रदर्शन व्यर्थ है। उनकी उक्ति है—

> कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
> आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबंध अनेक बिधाना॥
> भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
> कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥
> भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक।
> सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके बिमल बिबेक॥

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसीदास ने 'कबित बिबेक' से काव्यशास्त्र (या काव्यशिल्प विधि) के विविध अंगों का संकेत किया है। शब्द, अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबंध-मुक्तकादि, भेद, भाव, रस, गुण और दोष आदि जो अंग हैं उनके ज्ञान को अपने में तुलसीदास जी अस्वीकार करते हैं। वे इनके फेर में पड़े बिना ही कोरे काग़ज़ पर स्वानुभूत सत्य लिख कर प्रकट कर रहे हैं। सभी जानते हैं कि उनका अनलंकृत सत्य को प्रकट करने वाला ग्रंथ 'रामचरितमानस' समस्त काव्य-विवेक को अपने कलेवर में छिपाये है। अतः उन्होंने उस सत्य को पकड़ा जिसका सहज स्वाभाविक कथन मात्र काव्य बन जाता है।

तुलसी का सत्य राम नाम के रूप में प्रकट हुआ। यह सत्यरूप रामनाम अथवा भक्ति-भावना काव्य का सार है। यह राम या रामनाम की भक्ति है जो अलौकिक आलंबन को लेकर चलने वाली किन्तु रसस्वरूपा है। मधुसूदन सरस्वती का मत है कि जिस प्रकार लौकिक आलंबन से सुख का आधार सामाजिक का हृदय हो जाता है, वैसे ही अलौकिक आलंबन से भी रस के सुखद स्वरूप की जाग्रति होती है। इस अलौकिक आलंबन स्वरूप भक्तिरस का प्रतिपादन काफ़ी हुआ है। अतः भक्ति रसस्वरूपा है और यदि इस रसस्वरूपा रामनाम-भक्ति को तुलसी पुराण,

श्रुति और साथ ही काव्य का भी सार मानते हैं, तो वे आचार्य-परंपरा से प्रमाणित ही हैं, भक्ति-रसाचार्यों से तो वे पूर्णतया सम्मत हैं। इसी क्रम में ही उन्होंने कुछ अधिक व्यापक एवं व्यावहारिक काव्यदृष्टि से लिखा है —

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा।।
मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।।

इसके आगे तुलसी प्रतिपादित करते हैं कि वास्तव में इस राम नाम की भक्तिभावना के बिना अर्थात् सत्यरूप ईश्वर के प्रति प्रेमभाव के बिना चमत्कारपूर्ण काव्य भी सार्थक नहीं है—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ।।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही।।

यहाँ पर उन्होंने भक्ति के लिए परंपरा से आये काव्य-रूपक में एक विशिष्ट और अविच्छिन्न या अनिवार्य स्थान खोज निकाला है। कविता-कामिनी के शरीर, अलंकार, गुणों-दोषों और यहाँ तक कि आत्मा की चर्चा तो अनेक आचार्यों ने की, पर वस्त्र पहिनाना सभी भूल गये। उन्होंने कविता रूपी स्त्री के लिए रामनाम को वसन रूप माना। वसन से युक्त नारी जिस प्रकार अन्य अलंकरणों के अभाव में भी स्वाभाविक एवं सहज शोभा को प्राप्त होती है; वैसे ही काव्य-विवेक से हीन तुलसी का काव्य भी भक्तिभावना से युक्त होने के कारण सहज ही प्रिय हो गया। इसी भाव को स्पष्ट करने वाली उनकी पंक्तियाँ हैं—

जदपि कबित रस एको नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं।।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी।।
प्रिय लागिहि अति सबहिं मम, भनिति राम जस संग।
दारु बिचार कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग।।

इस प्रकार भक्तिभावना को तुलसी ने कविता में सार वस्तु माना है। एक और युक्ति से इस सिद्धान्त को सिद्ध करते हुए और क्षुद्र प्राकृत चरित्रों का गुणगान करने के विरोध में अपने भाव प्रकट करते हुए तुलसी ने लिखा है —

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमरत सारद आवति धाई।।
राम चरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाय न कोटि उपाये।।
कवि कोविद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी।।
कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।।

इस कथन से काव्य के संबंध में तुलसी की उच्च और पवित्र धारणा व्यक्त होती है। यह सत्य है कि यह दृष्टिकोण आज के यथार्थवादी युग में विचित्र जान पड़ता है; परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह दृष्टिकोण समाज का हित करने वाला है। तुलसी ने यह नहीं लिखा कि प्राकृत या लौकिक व्यक्ति का चित्रण या वर्णन ही न होना चाहिए। उन्होंने स्वयं ही अपने 'रामचरितमानस' में मन्थरा, कैकेयी, केवट, सुग्रीव आदि के चरित्र यथार्थ लोकभूमि पर

चित्रित किये हैं; अतः उनका तात्पर्य यह नहीं है कि काव्य में स्वर्ग लोक के अलौकिक व्यक्तियों का वर्णन ही करना चाहिए, लोक के व्यक्तियों का नहीं। वास्तव में उनका अभिप्राय उस समय की चारण वृत्ति से है जिसमें कवि अपने आश्रयदाता से धन और वैभव की प्राप्ति की अभिलाषा में उनकी झूठी-सच्ची प्रशंसा करता था। निश्चय है कि लोक-हृदय इन अनेक अत्याचारी और दुराचारी व्यक्तियों की प्रशंसा में तन्मय न हो सकता था। अतः उन्होंने यह सिद्धान्त बनाया कि गुणगान करना है तो अलौकिक चरित्र वाले परमात्मा का ही गुणगान करना चाहिए। उनके समकालीन और पूर्ववर्ती अनेक कवि लौकिक व्यक्तियों की झूठी-सच्ची प्रशंसा कर ही गये थे। चन्द, गंग, केशव आदि इनमें अग्रगण्य हैं। केशव ने तो इन्द्रजीत को इन्द्र ही बना दिया था और प्रवीण-राय को रमा और शारदा; उदाहरणार्थ—

रतनाकर लालित सदा, परमानंदहिं लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रबीन॥
राय प्रवीण कि शारदा, शुचि रुचि रंजित अंग।
वीणा पुस्तक धारिणी, राजहंस सुत संग॥

निश्चय है कि इन अनेक व्यक्तियों के संबंध में लोक की धारणा ऐसी न थी। अतः उन्होंने प्राकृत जनों के गुणगान का निषेध किया है; उनके वर्णन का नहीं।

इस निषेध का एक और भी कारण है। भरत और राम जैसे कितने व्यक्ति हैं जो राज्य त्याग सकते हैं और अपनी प्रशंसा पर सकुचाते हैं। प्राकृत जनों का तो अपनी प्रशंसा से ऐसा अहं-भाव जाग्रत होता है कि वे उसके आवेश में न्याय-अन्याय सब कुछ कर सकते हैं। इसलिए कवित्व जैसे प्रभावशाली माध्यम का उपयोग सोच-समझ कर करना चाहिए। इसी खतरे से बचाने के लिए उन्होंने कवि के लिए यह नियम ही स्वीकार कर लिया कि प्राकृत जनों का गुणगान ही न किया जाय। इसके साथ ही साथ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तुलसी भक्ति को ही काव्य की आत्मा या सार मानते थे। निश्चय है कि लौकिक आलंबन को स्वीकार करने पर भक्ति प्रशस्ति हो जायगी और उसका उच्च, उदात्त रूप प्रस्फुटित नहीं हो सकता जिसकी सरस माधुरी में एक साथ लाखों मनुष्यों के हृदयों में स्निग्धता और आनंद का संचार हो सके। इसलिए कविता में गुणगान का विषय उनके विचार से ईश्वर या ईश्वरीय अथवा अलौकिक गुणों से संपन्न व्यक्ति ही होना चाहिए, जिसे दूसरे शब्दों में हम ईश्वर का अवतार कह सकते हैं, सामान्य प्राकृत जन नहीं।

तुलसीदास भक्ति को जीवन का मूल तत्त्व या सार मानते हैं। इस भक्ति की दो अव-स्थाएँ होती हैं—साधना की और सिद्धि की। सिद्धि की अवस्था की पहचान ईश्वर का अनुग्रह है। इस अवस्था की भक्ति ही भक्त का साध्य है। जिस प्रकार उन्होंने लौकिक जीवन में यह कहकर भक्ति को सार बतलाया कि —

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो॥

उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी वे भक्ति से प्राप्त ईश्वर की कृपा को ही सर्वस्व मानते

हैं। यद्यपि उनका विचार है कि सरस्वती जब कृपा करती है तभी स्वाती के बूँदों के रूप में सुविचार मति रूपी सीप में बरसते हैं और कविता रूपी मोती की उत्पत्ति होती है, फिर भी वाणी कृपा किसी की प्रेरणा से ही करती है, यह बात तुलसीदास स्पष्ट रीति से प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है —

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरजामी।।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।।

इस प्रकार वाणी की कृपा, जैसी तुलसी कवि के लिए आवश्यक मानते है, भक्ति से ही प्राप्त होती है। हिन्दी काव्य के प्रसंग में इस कथन द्वारा एक बहुत बड़ा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत बहुत से ऐसे सन्तकवि हैं जो बिलकुल निरक्षर थे और उनको कोई कविता की शिक्षा भी नहीं मिली और न संस्कार या प्रवृत्ति ही थी। इनमें कबीर का नाम अग्रगण्य है जिन्होंने स्वयं ही कहा है—'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ'। साथ ही कवि उनकी दृष्टि में बड़ा ही हेय व्यक्ति है—(यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह कवि सामान्य धारणा का कवि है, तुलसी की धारणा का कवि नहीं)। इसके संबंध में उन्होंने स्वयं ही कहा है—"कवी कवीने कबिता मूये कापड़ी केदारौं जाई।" अत: महात्मा कबीर की वृत्ति भी कवि बनने की नहीं थी। यदि हम आचार्य दंडी का यह सिद्धान्त भी स्वीकार करें कि —

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमुत्तमम्।
श्रुतेन यत्नेन वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव किमप्यनुग्रहम्।।

जिसके अनुसार अभ्यास और प्रयत्न से वाणी की कृपा होती है, फिर भी इसके लिए संस्कार की आवश्यकता है। ये संस्कार भक्ति के द्वारा स्वत: बन जाते हैं। इसीसे जितने भी पहुँचे हुए भक्त हैं, वे हमारे सामने प्राय: कविरूप में आते हैं। आधुनिक युग में भी महर्षि श्री अरविन्द के लिए यह सत्य है और अन्य भाषाओं के रहस्यवादियों के लिए भी जिनकी रहस्योक्तियाँ स्वयं काव्य के रूप में हमारे सामने प्रकट हुई हैं। वैदिक ऋषि-मुनियों के भी ऐसे अनुभव काव्यात्मक ही हैं। इस प्रकार तुलसी के काव्य-दर्शन में भक्ति का तत्व प्रधान है। तुलसी के अन्तर्गत स्वयं भी कवि-प्रतिभा का स्फुरण भक्ति का ही परिणाम है—

शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी।।

इनकी उक्तियों में कवि और काव्य के वास्तविक रूप का भी संकेत मिलता है। कवि की उक्ति को वे सत्य-गर्भित मानते हैं। स्वयं वे याचना करते हैं —

सपनेहु साँचेहु मोंहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ।।

अत: कवि को सत्य का चित्रण करना ही अभीष्ट है। काव्य में वर्णित वस्तु सत्य हो; असत्य न लगे यह आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि कवि का सत्य दार्शनिक या वैज्ञानिक के सत्य से भिन्न होता है। कवि तो सत्य को सजीव और साकार रूप में चित्रित करता है। सत्य-चित्रण की इसी सिद्धि के लिए उसे शब्द और अर्थ की साधना करनी पड़ती है। शब्द और अर्थ का ही तो कवि के पास बल है और उसके पास कोई शक्ति नहीं; परन्तु यह शब्द और अर्थ की

शक्ति जो प्रभाव डालती है, वह प्रभाव और कोई शक्ति डाल भी नहीं सकती। इसी शक्ति के संबंध में प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन ने लिखा है—'Poet's speech is thunder, his thought is law, his words are universally intelligible as the plants and animals', कवि की इस शक्ति को तुलसी बड़ी नम्रता से स्वीकार करते हैं—"कबिहिं अरथ आखर बल साँचा" कह कर। अर्थ और अक्षर दोनों का ही बल होना पूर्ण कवित्व के लिए आवश्यक है। एक की ही सिद्धि होने पर उसका स्वरूप अधूरा लगता है।

अर्थ और अक्षर दोनों की सिद्धि होने पर जो रचना प्राप्त होती है, वही काव्य है। तुलसी ने वैसी वाणी को चित्रकूट के प्रसंग में भरत के मुँह से कहला कर, स्वयं उसकी टीका करते हुए कहा है—

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी॥

यह विशेषता भरत की वाणी के लिए सत्य है और तुलसी की वाणी के लिए भी सत्य है। थोड़े अक्षरों में अमित अर्थ। अक्षर सीधे-साधे; पर अर्थ कितना गहरा है, यह सभी जानते हैं। काव्य का यह पूर्ण रूप है। थोड़े शब्दों में अर्थ एवं भाव की गहरी अभिव्यंजना करने वाली रचना ही काव्य है। काव्य के शब्द सामने होते हैं; पर उन शब्दों में परिव्याप्त अर्थ, प्रतिबिम्बित सौन्दर्य और निगूढ़ भाव-संपत्ति को कोई ही पूर्णतया पकड़ सकता है; जितना ही गहरे उतरिए उतना ही और अद्भुत् चमत्कार दिखलायी देता है। काव्य के समग्र वैभव का उद्घाटन संभव नहीं—उसमें नित्य नव्यता है, अगाध रमणीयता है, अथाह रस है। उसके लिए यह सत्य है कि "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"।

संक्षेप में यह तुलसी की काव्य-संबंधी धारणा है। उनके काव्य-दर्शन में प्रतिपादित काव्य का यही स्वरूप उनकी अपनी रचनाओं में सर्वत्र देखने को मिलता है। हम कह सकते हैं कि उनका काव्य-दर्शन सामाजिक एवं व्यावहारिक होते हुए भी अत्यंत उदात्त एवं उत्कृष्ट है और सन्तोष की बात तो यह है कि अपनी रचनाओं में उन्होंने उसे उतारा है, उसका सिद्धान्त-प्रतिपादन मात्र नहीं किया।

●

उदय शंकर शास्त्री

'माधवानल कामकंदला' का रचयिता आलम सूफ़ी था?

हिंदी साहित्य में आलम नाम के कवि की रचनाएँ सदा से बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती रही हैं, इसका कारण उसकी रचनाओं का लालित्य एवं माधुर्य है, परन्तु जहाँ उसकी रचनाएँ इतनी परिचित हैं वहीं उसका जीवनवृत्त उतना ही अपरिचित और अज्ञात है। 'शिवसिंह सरोज' में सेंगर जी ने लिखा है[1] "कि आलम पहिले सनाढय ब्राह्मण थे, फिर एक मुसलमान रंगरेज़िन के चक्कर में पड़े और मुसलमान हो गये और एक अरसे तक औरंगज़ेब के पुत्र (सं० १६२२-१७०७) शाहज़ादा मुअज्ज़म शाह की ख़िदमत में रहे, जो बाद में बहादुर शाह (१७०७-१२ ई०) हुआ।" रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है[2] "कि ये अकबर के समय के एक मुसलमान कवि थे जिन्होंने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् संवत् १६३९-४० वि० में 'माधवानल कामकंदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयों में लिखी। पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर एक एक दोहा या सोरठा है। यह शृंगार-रस की दृष्टि से ही लिखी जान पड़ती है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। इसमें जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नहीं। कहानी भी प्राकृत या अपभ्रंश काल से चली आती हुई कहानी है।"

'सरोज' कार ने आलम की कविता के जो नमूने दिये हैं वे इस प्रकार हैं[3] —

आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै बारि।
गुप्त प्रकट कैसी रहै, दीजे कपट पिटारि॥१॥

जानत औलि किताबनि को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हें।
पालत हौ इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हें।
मौज़म शाह तुम्हें करता करिबे को दिलीपति है बर दीन्हें।
काबिल हैं ते रहैं कितहूँ कहाँ काबिल होत है काबिल कीन्हें।

इस उदाहरण में जो दोहा दिया गया है वह तो 'माधवानल कामकंदला' में है, पर यह सवैया आलम की प्राप्त रचनाओं में तलाश करने से भी नहीं मिलता। इस सवैये के अंतिम चरण में 'काबिल' शब्द तीन बार आने से मेरा तो यह अनुमान है कि यह सवैया किसी 'काबिल' कवि का ही है। पर पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किसी हस्तलेख के आधार पर इसे जैतसिंह का बताया है।

---

१. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ८। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८५। ३. सरोज, पृष्ठ ८।

'ख' प्रति का अंतिम पत्र

'क' प्रति का अंतिम पृष्ठ

'क' प्रति का प्रथम पृष्ठ

'माधवानल कामकंदला' में कवि ने शाहेवक़्त की चर्चा करते समय जलालुद्दीन अकबर और टोडरमल के नाम लिये हैं—

अदली कहै बखान, सुजस प्रगट चोह खंड में।
बिद्या अरथ बिधांन, साही अकबर जगत गुरु।
सिंघनपति जगनाथ सुहेला। आपन गुरू जगत सब चेला।।

अकबर को दो बार जगत्गुरु कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कवि अकबर के 'दीन-इलाही' की बात जानता था। दीनइलाही के अनुयायियों को चेला कहा जाता था और गुरु तो एकमात्र अकबर था ही। अकबर के साथ ही टोडरमल का भी नाम लिया गया है। इतना ही नहीं उसकी जाति तक का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कवि टोडरमल से विशेष परिचित था—

आगे नौबि महाबल मंत्री। राजदीप टोडरमल खत्री।।

यह तो स्पष्ट ही है कि टोडरमल टंडन खत्री थे।[४] टोडरमल की जाति और वैभव के वर्णन से विदित होता है कि आलम अकबर का नहीं, अपितु टोडरमल का आश्रित था। टोडरमल सीतापुर ज़िले के लहरपुर नामक क़सबे में उत्पन्न हुए थे, और अपनी योग्यता से बढ़ते-बढ़ते सम्राट् अकबर के प्रमुख मंत्रियों में पहुँचे थे। आलम के इस ग्रन्थ की रचना के ठीक एक साल पहिले अर्थात् सन् १५८२ ई० में उन्हें 'दीवान कुल' का पद मिला था।[५] अतएव सारे राज्य के वित्तमंत्री (दीवान कुल) ही नहीं, वरन प्रमुख सेनापति के आश्रय में रहकर आलम ने इस ग्रंथ की रचना की हो तो कोई आश्चर्य नहीं, और यह भी कि आलम सीतापुर के आसपास कहीं अवध प्रदेश का ही निवासी रहा हो?[६]

आलम ने अपने ग्रंथ को पूरी मसनवी पद्धति से लिखा है, पहिले उसने परब्रह्म या करतार की वंदना की है, उसके बाद मुहम्मद साहब, और उनके चारों ख़लीफ़ाओं की प्रशंसा करके फिर अपने गुरु की चर्चा की है। ये आलम के गुरु सैयद मुहम्मद ग़ौस, सैयद फ़तह मुहम्मद के पुत्र थे, जो सैयद अब्दुल क़ादिर सानी लाहौरी के पौत्र थे। ये लोग लाहोर के बड़े ही प्रतिष्ठित घराने के सूफ़ी थे। सैयद मुहम्मद अपने बाप की मृत्यु के बाद उनकी गद्दी पर बैठे थे। ये अपने पिता के समान ही प्रख्यात थे, बहुत से लोग इनके शिष्य थे। सन् १००४ हिजरी में इनका देहान्त हुआ और लाहौर में ही अपने पिता की समाधि के पास ही दफ़न किये गये। बाद में अकबर के एक प्रसिद्ध दरबारी नवाब मुहम्मद ज़माँ ख़ाँ ने इनकी समाधि पर एक बड़ा गुम्बद बनवा दिया जो अभी तक विद्यमान है। गुरु की चर्चा के उपरान्त ही उसने अपने आश्रयदाताओं (अकबर,

---

४. दे० हरिश्चन्द्र कला, भाग २ में 'पुरावृत्त संग्रह' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४३ पर यह टिप्पणी—
क्षोणीशेकबरेप्रशाशतिमहीं तस्मिन्नृपालावलिस्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरचिरोवंचत्पदाम्भोरुहे।
तद्राज्यैकधुरन्धरस्यवसुधासाम्राज्यदीक्षागुरोः श्रीमट्टंडनवंश मंडनमणेः श्री टोडरक्ष्मापतेः।

५. अकबर, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १३१।

६. ख़ज़ीनतुल् असफ़िया, सं० ग़ुलाम सरवर लाहौरी, जिल्द, २, पृष्ठ ३४०।

टोडरमल) का उल्लेख किया है। फिर कथा का आरंभ करने के पहिले कुछ पंक्तियाँ रचना के विषय और पद्धति पर भी लिखी हैं। ग्रन्थ का आरंभ आलम ने इस प्रकार किया है —

प्रथमहि पारब्रह्म कहूँ परनौं। पुनि कछु जगत रीति सब बरनौं॥
पारब्रह्म परसोतम स्वामी। घट घट रहै सो अंतरजामी॥
जल थल रहै सरब में सोई। घट घट रहै लखैं नहिं कोई॥
ताकी आदि अंत नहीं जानै। पंडित कहै ग्यांन कर मानै॥
ग्यांनी होय सो गुरमुख धावैं। खोजी होय सो खोजत पावैं॥

दोहा—मन बच क्रम सोवत चलत, जागत चितवत चीत॥
मग लागा डोलै सदा, सो करता घर चीत॥
आलम महमद पीर, जो नर धावै हेत करि।
जीवत सूख सरीर, जग समुद्र परि पाइ है।

चौपई—होति न गगन भौमि कर चहना। दूजा पुरिस महंमद कहना॥
ताकी प्रीति लगी संसारा। चाँद सूर लौ कीन्ह पसारा॥
धरम रूप अवतार लीये आपु। अपने जन्म न कीन्हें पापु॥
उनको नाम लेत जो रहिये। ततछन ताप जुरा नहिं गहिये॥
चारि मीत बैठे इक साथा। बोले बचन जोर के गाथा॥

दोहा—अबाबकर उसमा उमर, चौथा अली सुभांन।
जो इनकी सेवा करै, ताहि होय अति ग्यांन॥

सोरठा—बरनौं चार्‌यौ पीर, आलम प्रघट संसार तस।
ग्यांन मूल मति धीर, बंस रसूलहि चीत घर॥

चौपई—गौस कुतुब्ब कादरी कहिया। जगमनि सैयद मुहदी (मुहंमद) सहिया॥
बैस रसूल कीया परगासा। पुरवै नाम लेत मन आसा॥
जो कोई चित उनसौ लावै। निरभै रहै सदा सुख पावै॥
अपने जन को दिस्टि जब करै। रिधि सिधि बहु संपति भरै॥
जन आलम निश्चै कर जाना। ताके चरन ध्यांन मनमाना॥

दोहा—सैयद मुहंमद पीर सौं, जो मन लावै कोइ।
तीन लोक की संपदा, मन बांछत फल होइ॥

सोरठा—अदली कहै बखांन, सुजस प्रगट चोह खंड में।
बिद्या अरथ बिधांन, साही अकबर जगत गुर॥

चौपई—जगपति राज कोट जुग कीजे । साहि जलाल छत्र पति जीजे ।।
दिल्लीपति अकबर सुलताना । सप्त दीप में जाकी आना ।।
सिंघन पति जगनाथ सुहेला । आपन गुरू जगत सब चेला ।।

× × ×

आगे नौवि महा बल मंत्री । राज दीप टोडरमल खत्री ।।

दोहा—जो मति बिक्रम भोज के, मतो करत अरथाय ।
सुनत बेद सुमरत सदा, पुन्य करत दिन जाय ।।

सोरठा—उत्तम बिरह बियोग, कहो कथा आलम सुमति ।
सुनि सिंगार संजोग, नल कंदल कारन कहति ।।

चौपाई—सन नौसे इक्यावन[7] जबहीं । कथा आरंभ कीन्ह यह तबहीं ।।
काब करों सिंगार बियोगा । कहों बात सुनियो सब लोगा ।।
कछु आपकी (नि) कछु परकी चोरी । जथा सकति यह है मति मोरी ।।
आदि सोरठा एक बनाई । मध्य चौपई पांच लगाई ।।
तबहीं एक दोहरा लेखा । इहि बिधि पूरन ग्रंथ बिसेखा ।।

दोहा—माधो परम पवित्र अति, सुंदर सजल बिचित्र ।
काम कंदला कामनी, बरनो प्रेम चरित्र ।।

जिस प्रति से यह उद्धरण लिया गया है उसका रचनाकाल तो सन् ९९१ हि० (१५८३ ई०) है और लिपिकाल सं० १८६७ (१८१० ई०) है। इस उद्धरण से ऊपर लिखी सारी सूचनाएँ प्राप्त हैं। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने एक लेख में लिखा है,[8] "कि माधवानल कामकंदला की जो प्रतियाँ मिली हैं इनमें शाहेवक़्त की प्रशस्ति कहीं-कहीं मिलती है जो मनसवी शैली के सूफ़ी प्रेमाख्यानों की नकल पर ही रखी गयी है।" परन्तु उसी प्रति का खोज-विवरण बताता है कि उसमें पृष्ठ १ से १० तक में गणेश-वंदना, ईश्वर-वंदना और रसूल का वर्णन, अकबर का वर्णन निर्माणकाल, प्रेम की महिमा का वर्णन, इन्द्र-सभा का वर्णन व जयंती अप्सरा को शाप देना भी वर्णित है।[9] इस प्रति में रसूल और शाहेवक़्त अकबर की चर्चा तो है ही, पर गणेश आदि की जो वंदना है वह बाद का प्रक्षिप्त अंश है। यह जयंती अप्सरा के शाप वाला पूरा का पूरा प्रसंग 'माधवानल कामकंदला चउपई' से लेकर इसमें जोड़ दिया गया है, और यह भी संभावना है कि खोज के एजेंट ने इस बात पर ध्यान न दिया हो कि रसूल की वंदना के बाद मुहम्मद साहब

---

७. यह 'नौसै इक्यावन' सन् गणना करने पर ठीक नहीं बैठता, अतएव अधिक प्रतियों में पाया जाने वाला पाठ 'नौ सौ ईक्यावनवै' ही ग्रहण करना ठीक होगा। ८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५, अंक १-२, पृष्ठ ५२। ९. खोज-रिपोर्ट, भाग १२, पृष्ठ १७५।

के चार खलीफ़ाओं और आलम के गुरु की चर्चा आयी है। दूसरी मुख्य विचारणीय बात यह है कि प्रति में कोई लिपिकाल नहीं दिया गया है, किन्तु जिस प्रति से इसकी प्रतिलिपि की गयी है उसका लिपिकाल संवत् १९३५ वि० है। अतएव जो प्रतियाँ 'माधवानल कामकंदला चउपई' की रचना के बाद के लिपिकाल की हैं उनमें यह प्रक्षिप्तांश है और जो प्रतियाँ इससे पूर्व की हैं उनमें यह प्रक्षिप्तांश नहीं है। कुशललाभ एक हिन्दू रचनाकार था, उसने अपनी रुचि एवं पद्धति से माधवानल की कथा की रचना की। बाद को हिन्दू लिपिकों एवं उसी प्रकार की रुचिवाले लोगों ने 'प्रथमहिं पारब्रह्म को परनौ, पुनि कछु जगत रीति बहु बरनौ।" के ऊपर गणेश-सरस्वती आदि की वंदना इसमें भी जड़ दी।

आगे चलकर एक दूसरे लेख में पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह भी स्वीकार किया है कि "इस प्रबंध-काव्य की दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती हैं। एक वे जिनमें पाँच अर्द्धालियों के बाद नियम से एक दोहा या सोरठा है। दूसरे वे जिनमें पाँच अर्द्धालियों के बाद एक सोरठा और एक दोहा भी है। दूसरे प्रकार की प्रतियों में कुछ वर्णनात्मक अंश बढ़े हुए हैं। यही नहीं, कथा भाग भी कुछ अधिक है।"

खोज (१९२३-२९ ई०) में जो बड़ी पोथी उपलब्ध हुई है उसमें मूल कथा के आगे-पीछे और भी कुछ अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं का संविधान किया गया है। मंगलाचरण के अनन्तर उसमें इन्द्र की सभा का वर्णन है। इसमें जयंती नाम की अप्सरा उर्वशी की भाँति अभिशप्त होती है, वह शिला होकर वन में पड़ी रहती है। माधव अपने गुरु के लिए सामग्री लेने जाता है और शिला देखता है। उसके द्वारा शिला का उद्धार होता है। माधव उसके साथ इन्द्र की सभा देखने की इच्छा करता है। जयंती उसके गुण पर रीझती है, वह पृथ्वी पर कामकंदला के रूप में अवतरित होती है। पुष्पावती नगरी से निर्वासित होकर माधव कामावती नगरी में आता है, वहाँ कामकंदला से उससे परिचय होता है, और विक्रम की सहायता से वह अंत में कामकंदला को प्राप्त करता है।

यहाँ मेरा प्रयोजन 'माधवानल कामकंदला' की कथा का पर्यालोचन करना नहीं है, इस लेख का उद्देश्य यही विचार करने का है कि क्या आलम सूफ़ी था? और उसकी यह रचना मसनवी पद्धति की है? प्रतियों की चर्चा तो आनुषंगिक होने के कारण हुई है। मेरे सामने 'माधवानल कामकंदला' की ५ प्रतियाँ हैं। दो मेरे अपने संग्रह की, दो नागरी प्रचारिणी सभा की प्रतियों के विवरण, एक भारत कला भवन की प्रति की प्रतिलिपि। इन प्रतियों में दोनों प्रकार के पाठों वाली प्रतियाँ हैं। पर अधिकांश प्रतियों में केवल एक दोहा या सोरठा ही है। परन्तु उनकी मुख्य कथावस्तु मूल के इर्द-गिर्द ही रहती है, कहीं-कहीं थोड़ा भटकाव भी दिखाई पड़ता है। वैसे सोरठे और दोहे के क्रम की भी चर्चा प्रतियों में मिलती है, जो इस प्रकार है—

आदि सोरठा एक बनाई। मध्य चौपई पाँच लगाई।
तबहीं एक दोहरा लेखा। इहि बिधि पूरन ग्रंथ बिसेखा। (क प्रति)

और

करे सोरठा दोहरा, और चौपई ठाँनि।
बिरही जन के कारने, अंमृत रस स्यों साँनि ॥७॥ (ख प्रति, पत्र ३)

दूसरी प्रति में भी उसी प्रकार मसनवी-पद्धति दिखाई पड़ती है जैसी कि 'क' प्रति में मिल चुकी है। यह 'ख' प्रति सं० १७४४ की प्रतिलिपि है जो ग्रंथ-रचना के १०४ वर्ष पीछे लिखी गयी है। इसमें किसी प्रकार का क्षेपक नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रति के प्रथम पत्र का पूर्वांश खंडित है, दूसरे पत्र से आलम का परिचय मिलता है, जो पिछली प्रति के समान ही है। पर क्रम और पाठ का अन्तर पर्याप्त है जो इस उद्धृत अंश में देखा जा सकता है—

धरमराज सब देस चलावा। हीदू तुरक दोउ पथ लावा।
आगे नेबी महावल मंत्री। राजदीप टोडरमल खत्री।
तेहि घर कृष्णदास कुल मंगल। सुख अनेक को काटै दुख संकल।

दोहा—जो मति विक्रम भोज कै, मतो करत अरथाइ।
सुनत बेद सुम्रित सदा, पुंनि करत दिन जाइ ॥६॥

चौपई—सन नौ सै इक्यावन जबही। कथा आरंभ कीन्ह यह तबही।
काबि करौं सिंगार बिवोग। कहौं बात सुनियौ सब लोग।
कछु अपनी कछू परकी चोरी। जथा सक्ति कछु अंछिर जोरी।
सब सिंगार बिरह की रीति। माधो काम कंदला प्रीति।
संहसक्रत जोगि मति नहीं मोरी। भाखा बाँधि चौपई जोरी।

दोहा—करे सोरठा दोहरा, और चौपई ठाँनि।
बीरही जन कै कारने, अंमृत रस सौ साँनि ॥७॥

इस 'ख' प्रति में भी रसूल की बंदना, जिसमें मुहम्मद साहब का नाम, उसके बाद उनके चार यारों (खलीफ़ाओं) का वर्णन, गुरु की चर्चा, शाहेवक्त का वर्णन, फिर अपने आश्रयदाता की प्रशंसा आदि मसनवी-पद्धति से ही वर्णित है। यह सही है कि इस प्रति के पहले पत्र का आधा अंश नहीं है जिसमें दो दोहे अर्थात् एक दोहा और पाँच अर्द्धालियाँ तथा एक दोहा और रहा होगा। अब प्रश्न है कि उस छूटे हुए अंश में क्या रहा होगा? उत्तर है कि 'क' प्रति का प्रारंभिक अंश जिसमें इस प्रति के छूटे हुए अंश दिखाई पड़ते हैं।

इन दोनों प्रतियों के लिपिकर्ता हिंदू हैं अतः उनसे यह आशा तो करनी ही नहीं चाहिए कि उन्होंने अपनी ओर से मुहम्मद साहब, चारों खलीफ़ाओं, तथा सैयद मुहदी या मुहीउद्दीन तथा ग़ौस क़ुतुब के नाम इसमें सम्मिलित कर दिये होंगे। और यह भी संभव नहीं लगता कि दोनों लिपिकारों ने एक ही प्रति से प्रतिलिपि की हो, क्योंकि दोनों के आदर्शों (मूल) में बहुत अंतर है। इसमें 'क' प्रति उस शाखा की है जिसमें सोरठा के बाद एक दोहा फिर पाँच अर्द्धालियाँ हैं और

'ख' प्रति उस शाखा की है जिसमें हर पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा दिया गया है। दोनों के समय में भी पर्याप्त अंतर है। प्राचीनता की दृष्टि से 'ख' प्रति अधिक महत्वपूर्ण है। उसका लिपिकाल संवत् १७४४ वि० है जो ग्रंथ-रचना के १०४ वर्ष बाद का है और 'क' प्रति का लिपिकाल संवत् १८६७ है जो ग्रंथ-रचना से २२६ वर्ष बाद है। अतएव इन दोनों प्रतियों के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि मूल प्रति ऐसी अवश्य रही होगी जो पूरी मसनवी-पद्धति से लिखी गयी होगी––आगे चलकर जिस प्रकार उसमें कई बढ़ोतरियाँ हुईं, उसी प्रकार शायद कुछ अंश छूट भी गये हों।

एक महत्त्वपूर्ण बात इस संबंध में और है कि पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "माधवानल कामकंदला से यह भी प्रमाणित होता है कि 'आलम' नाम के जिस कवि ने इस ग्रंथ का निर्माण किया वह जन्मजात मुसलमान नहीं था तथा भरतपुर की जिस प्रति का उल्लेख है उसमें पहले गणेश की वंदना की गयी है, फिर ईश्वर की वंदना है। इससे यही जान पड़ता है कि यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसके संस्कार भारतीय थे पर जो किसी कारणवश मुसलमान हो गया था। यदि यह मानें कि दूसरे प्रकार की प्रतियाँ ही मूल प्रतियाँ हैं तो परब्रह्म-वंदना से यह निश्चित है कि यह किसी जन्मजात मुसल्मान की रचना नहीं है। यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसके संस्कार हिंदू के थे। वह बाद में 'आलम' हो गया।"

पर प्रस्तुत प्रतियों की साखी इस कथन के सर्वथा विपरीत है। एक तो यह कि "प्रथमहिं पारब्रह्म कहँ प्रनवौं' इस अर्धाली से पूर्व गणेश की वंदना है, जो निश्चय ही प्रक्षिप्त है। कारण कि जो संभावना मुसलमान द्वारा परिवर्द्धन की हो सकती है वही संभावना हिन्दू के द्वारा भी तो हो सकती है। परन्तु जीवाराम वैष्णव लिखित प्रति में गणेश की वंदना नहीं है और रसूल का नाम है। 'माधवानल कामकंदला' की पूरी पोथी भर में कहीं भी कोई शब्द ऐसा नहीं मिलता जिससे विदित हो सके कि इसका रचयिता हिन्दू भावापन्न था। टोडरमल के प्रसंग में एक स्थान पर कृष्ण का नाम अवश्य आया है, किन्तु उससे कवि का कोई सरोकार नहीं है। टोडरमल के विषय में यह प्रसिद्धि है कि वह बड़ा भगवद्‌भक्त था। इतना ही नहीं, यात्राओं तक में अपने ठाकुर जी को साथ ले जाता था। कहा जाता है टोडरमल बड़ा पूजा-पाठ करते थे। एक बार वह बादशाह अकबर के साथ सफ़र में थे। किसी दिन कूच के समय जल्दी-जल्दी में उनके ठाकुर जी का सिंहासन छूट गया, या किसी ने वज़ीर का बहुमूल्य बटुवा समझकर चुरा लिया। टोडरमल बिना पूजा किये न कोई काम करते थे, न अन्न मुँह में डाल सकते थे। उन्होंने खाना छोड़ दिया। बादशाह को मालूम हुआ तो बुलाकर समझाया––'ठाकुर जी चोरी गये, तो अन्नदाता ईश्वर तो मौजूद है, वह तो चोरी नहीं गया? स्नान करके उसका ध्यान करके खाना खाओ, आत्महत्या किसी धर्म में पुण्य नहीं है।' टोडरमल ने अकबर की बात मान ली।[१०] वस्तुतः जो आश्रय-दाता इतना धर्मज्ञ हो उसके आश्रित कवि का यह वर्णन उचित ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त वंदना उसने जिस ढंग की की है प्रायः सभी सूफ़ी कवियों ने इसी प्रकार की वंदनाएँ की हैं। यों

---

१०. अकबर, राहुल, पृष्ठ १२७।

उसने पूरे ग्रंथ में कहीं भी सूफ़ियाना कलाम नहीं कहा है और न लोक में परलोक की चर्चा की है। पर प्रेम ही सब कुछ है, इसे वह हर प्रसंग में दुहराता रहा है—कभी सीधे-सीधे तो कभी लक्षणा के द्वारा। आलम की इस कृति में स्थान-स्थान पर आयी हुई इस प्रकार की पंक्तियाँ उसे प्रेम की पीर वाला सूफ़ी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मानी जानी चाहिए—

आलम उत्तम सोइ, अपजस तें संका करै।
रहे ते हियरा खोइ, आप महाई स्रवन सुन॥

*   *   *

प्रेम कथा कछु मोंहि सिखावो।

*   *   *

जानै नेह पतंग, मिलत नैन नहिं रहि सकै।
देखत ही मैं अंग, छूटै बिरह वियोग तै॥

*   *   *

मैं अजान रस नेह न जानु। अन जाने मैं कहा बखानु।

*   *   *

इस जुग मिलै न कोय, पूरबलौ सनबंध है।
बुध भी वैसी होय, आजु न बिछरो माधवा॥
आलम बिरह वियोग, बिछुरन सूल जु मन बसी।
बिरह बियोग संयोग, बैन बियोगी... ..॥
खंड खंड तीरथ करौं, कासी करवत लेउँ।
मन ईछा कर मरि जिऊँ, ढूढ़ि मीत तोहिं लेउं॥
चंद न जाने पीर, ता बिन मरे चकोर दुख।
व्याकुल रहै सरीर, निस अंधियारा सीस धुन॥

*   *   *

बिरह डसत न जीवे कोई। जो रे जिवै सो बउरो होई।
हिये हूक भर नैन जल, बिरह अगन तन होम।
अंतर जर पिंजर करै, स्वाँस प्रघट नहिं धोम॥
रहै तास के ध्यान, स्रवन सुनै नहि बकत मुख।
जिम जोगी गुर ग्यांन, मन माला हित मंत्र पढ़॥
हियरे अंतर दाह, पीर न कोऊ बूझई।
बिरहा अगिन उमाहु, जिह ब्यापै सोई सहै॥
अंध कूप ग्रह देह है, गुपत प्रगट कोऊ लखै।

जारै दीपग देह, तब सो निरखै रूप गुन॥
प्रेम नेम गहि रैन दिन, अंग लगावै राख।
सुनै धुनै सो सीस कूं, दुंद बिरह अस भाख॥
कालकूट ते कठिन है, जिह ब्यापै वह साल।
जम आवै नेरे जरे, बिरह काल को काल॥

ग्रंथ पूरी मसनवी पद्धति का है। इसकी अभी तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं, संभव है आगे कोई और प्रति उपलब्ध हो जिसमें इन समस्याओं का समाधान हो जाय।

इस समय प्राप्त सामग्री की सहायता से इतना तो सिद्ध है कि ग़ौस क़ुतुब (काहिरी) की शाखा के सैयदी मुहदी या मोहिउद्दीन का शिष्य कोई नव मुस्लिम नहीं था। यदि यह कहा जाय कि जब इसने पोथी भर में कहीं भी सूफ़ियाना बात नहीं कही, तो यह सूफ़ी कैसा? इसके उत्तर में मीर हसन की वह मसनवी रखी जा सकती है जिसमें प्रारंभिक वंदना के अतिरिक्त एक भी पंक्ति लोक में परलोक के लिए नहीं है, किन्तु सर्वत्र प्रेम की चर्चा है। उसी भाँति प्रेम की अटूट चर्चा इसमें भी सर्वत्र है, चाहे वह माधव के पक्ष की हो चाहे कामकंदला के—'दोनों तरफ़ है आग बराबर लगी हुई।' यह भी तो सूफ़ियों की पद्धति है।

●

पुत्तूलाल शुक्ल

कुमाउँनी में मुक्तक वर्णिक छन्द-योजना

कुमाउँनी लोकगीतों और लिखित साहित्य में चार प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है: (१) मुक्तक वर्णिक छन्द (२) वृत्तात्मक वर्णिक छन्द (३) मात्रिक छन्द (४) अक्षर मात्रिक छन्द।

वृत्तों और मात्रिक छन्दों से हिन्दी संसार परिचित है, अतः इस लेख में उन छन्दों को स्थान नहीं दिया जा रहा है। वृत्तों और मात्रिकों के जितने भेद प्रस्तुत लेखक संगृहीत कर सका है, वे हिन्दी छन्दःशास्त्र के पूर्व परिचित छन्द हैं, और ऐसे छन्दों का प्रयोग यहाँ की शिक्षित जनता के कवियों ने ही किया है। मुक्तक वर्णिक छन्द यहाँ की सामान्य जनता के छन्द हैं, जिनके दो छन्दों को लिखित साहित्य में भी स्थान मिला है। हिन्दी की बोलियों में मुक्तक वर्णिक छन्दों की दृष्टि से कुमाउँनी बोली सर्वाधिक समृद्ध है, अन्य बोलियों के लोकगीतों में तो मात्रिक छन्दों का प्रयोग होता है। ब्रज और अवधी के एक मात्र मुक्तक वर्णिक छन्द घनाक्षरी को लोकगीतों में कोई स्थान नहीं मिला है। जहाँ समस्त आर्यावर्त की लोकवृत्ति मात्रिक छन्दों में रमी है, वहाँ हिन्दी के पर्वतीय भूभाग--गढ़वाल और कुमाऊँ में लोकवृत्ति मुक्तक वर्णिक छन्दों में रमी है, यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है।

कुमाउँनी के लोकगीतों (भग्नौल, बैर, चाँचर, ऋतुरैण, जागर, बैसी) में मुक्तक वर्णिक छन्दों के गाने का ढंग बिल्कुल अपना है और ऐसी पद्धति हिन्दी-प्रदेश में कहीं प्रचलित नहीं है। क्या यह मुक्तक वर्णिक छन्द वैदिक छन्दों की परम्परा में आते हैं? इन छन्दों के गाने में भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं ह्रस्व, गुरु के अतिरिक्त लुप्त स्वर का प्रयोग स्पष्ट रूप से होता है। इन गीतों में भी वैदिक छन्दों की भाँति व्यंजनों में स्वरों का योग देकर व्यंजनसंख्या में विस्तार होता है और कभी व्यंजन का स्वर निकालकर वर्णसंख्या न्यून कर दी जाती है। मूलतः इन छन्दों में लिपि-वर्ण-मुक्त वाचिक लयात्मकता प्रमुख है और प्रस्तुत लेखक द्वारा कुमाउँनी के मुक्तक वर्णिक छन्दों का जो यह पहली बार शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमें लक्षणों और उदाहरण का पूर्ण साम्य रखा गया है। इन छन्दों में कहीं-कहीं एक वर्ण का अपवाद भी मिलता है, जिसे विस्तार की आशंका से यहाँ नहीं दिया जायेगा।

छान्दसिक दृष्टि से इन छन्दों की गीत-पद्धति वैदिक छन्दों से भले ही मिलती हो, पर निर्भ्रान्त रूप से उन छन्दों की परम्परा में इन्हें रखना कठिन है। तथाकथित वेदपाठियों के पाठ के आधार पर वेदों की गीत-पद्धति के विषय में ही अन्तिम निर्णय पर पहुँचना सन्देह से खाली नहीं है, और उस परम्परा की कड़ियों को मिलाना और भी कठिन है। फिर, अलमोड़े और तिब्बत

की सीमा पर भी तो यही गीत-पद्धति है। तो क्या यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हो सकता है कि हूणों, खसों, मंगोलों और भोटों की सन्तानों को वैदिक छन्दों का उत्तराधिकार मिला हो और जहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से आर्यजाति की परम्परा है, वहाँ से वैदिक छन्द लोक-कण्ठ से विलीन हो गये हों। प्रस्तुत प्रश्न छन्दःशास्त्र की दृष्टि से बहुत ठीक है और बड़ा महत्वपूर्ण है; पर इसका अन्तिम उत्तर केवल छन्दः शास्त्र नहीं दे सकता।

कुमाऊँ-गढ़वाल के अतिरिक्त काँगड़ा-कुलू घाटी और पूर्व में असम, बंगाल और उड़ीसा में लोकगीतों और लिखित साहित्य में प्रचुरता से मुक्त वर्णिक छन्दों का प्रयोग होता है। हिमालय की इस पट्टी में विशेष तर्क से वैदिक प्रभाव सिद्ध करने में इस बात का उत्तर देना कठिन होगा कि गुजराती, मराठी और मलयालम भाषा में मुक्त वर्णिक छन्दों का प्रचुर प्रयोग क्यों होता है। छान्दसिक दृष्टि से भारत को विभिन्न भागों में बाँटना कठिन है, क्योंकि विभिन्न प्रान्तों में भिन्नता की अपेक्षा एकता एवं साम्य के तत्त्व अधिक विद्यमान हैं। विभिन्न प्रान्तों में शब्दों के प्रयोग की एकता का विशेष महत्त्व है, और उससे अधिक महत्ता छान्दसिक साम्य की है, क्योंकि अर्थ की अपेक्षा संगीत का मानव-मर्म से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष में छन्दों की एकता ग़ज़ब की है। हिमालय की चोटी पर जो छन्द गाया जाता है, वही छन्द हिन्द महासागर के तट पर भी गाया जाता है। कुमायूँ का एक पंचवर्णिक छन्द मलयालम और बँगला में समानतः प्रयुक्त होता है। कुमायूँ का चतुर्दशवर्णिक 'भग्नौल' छन्द असम, बंगाल और उड़ीसा के साहित्य में 'पयार' रूप में प्रचलित है, और गुजराती मराठी में भी इसका प्रचुर प्रयोग होता है। कुमायूँ के ६वर्णों के चरण के छन्द का प्रयोग बंगाली में होता है और अष्टवर्णिक छन्द का प्रयोग बंगाली और मराठी एवं गुजराती में। कुमाउँनी के ११ (६+५) वर्णों का छन्द समान रूप से बंगाली और गुजराती में प्रयुक्त होता है। ऐसे अनेक साम्यों का निर्देश किया जा सकता है।

'हिन्दी भाषा मात्रिक छन्दों में भारत की सर्वाधिक समृद्ध भाषा है,' पूर्ण विश्वास के साथ मैं ऐसी घोषणा करता रहा हूँ। पर, मैं मुक्तक वर्णिक छन्दों में घनाक्षरी-परिवार के १० (३ प्राचीन+७नवीन) और सवैया-परिवार के २० छन्दों का निर्देश करके भी हिन्दी के मुक्तक वर्णिक छन्दों को अन्य भाषाओं से न्यून ही मानता रहा। कुमायूँ के इन छन्दों के अध्ययन के बाद मुझे विश्वास हो गया है कि हिन्दी मुक्तवर्णिक छन्दों में किसी से कम नहीं है और यदि कुमाउँनी लोक-साहित्य का विशेष अध्ययन किया जाय और मूल लयों के आधार पर लिखित साहित्य में नवीन प्रयोग किये जायँ, तो मुक्त वर्णिक छन्दों में भी हिन्दी सर्वाधिक समृद्ध हो सकती है। पर, क्या खड़ी बोली कविता इन छन्दों को आत्मसात् कर सकेगी? इसका सकारात्मक उत्तर शायद समय ही दे सकेगा। वर्णसंख्या-क्रम से ये छन्द प्रस्तुत किये जाते हैं—

§ १. **पञ्चवर्णिक : मालू छन्द**—पारी का भीड़ा। को छै घस्यारी॥
मालू वै मालू। नी काटो मालू॥

(उस पार टीले पर कौन घसियारिन है? मालू के पत्तों को मत काटो।) (मालू के पत्ते जानवरों के खाने के अतिरिक्त पुरइन-पत्तों की तरह भोजन-पात्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं।)

(२) कालो छ जूतो। पिङ्ली छ धोती।
नौली छ हस्ती। जर्द अम्बारी।। (वी होलो दूल्हा, का बाबरे)।

(काला जूता है। पीली धोती है। नीली हाथी है। पीली अम्बारी है। वह दूल्हा का पिता है।)

पाँच वर्णों के चरण में, तृतीय वर्ण में लघु उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस स्थिति में इन्द्रवज्रा की सी लय का आभास होता है। तृतीय वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण लघु होने पर भी दीर्घ से उच्चरित किये जाते हैं, जैसे 'कतुक जन्म। कतुक जून।। कतू बखत। डोक भरीण।। (श्यामाचरण पन्त)।। इस छन्द का प्रयोग हीरावल्लभ शर्मा ने 'हिस्सेदार खायकर' (पृ० ७); 'सास-ब्वारी' (पृ० ४), 'पहाड़ी-गीत' (पृ० २२) में किया है।

§२. **षष्ठवर्णिक : राजुली छन्द**— नैखा सुवा नैखा। नारिङ्ग की दाणी।।
मैंले धरी राखी। मालूसाही हुणी।।

(मालूशाही मौखिक प्रबन्धकाव्य की नायिका राजुली सुए से कहती है—ऐ सुए! तू नारंगी की फाँकें मत खा, मत खा। मैंने मालूसाही (नायक) के लिए रख छोड़ी है।)

यद्यपि इस छन्द के ६ वर्ण एक साथ गाये जाते है, पर ४ वर्ण पर लघु यति और ६ वर्णों के बाद पूर्ण विराम आता है। इस लय से अपरिचित व्यक्ति दो-दो वर्णों पर रुककर इस छन्द को पढ़ें, तो लय के समीप पहुँच जायेंगे। इसे खड़ी बोली छन्दों की तरह सरपट नहीं पढ़ना चाहिए, नहीं तो १२ मात्राओं का सारक छन्द लगने लगेगा। इसी से मिलता छन्द रवि बाबू ने 'नैवेद्य' में प्रयुक्त किया है—'यदि कोनो दिन। एकीनार तारे।।तव प्रिय नाम। नाहि झंकारे।।'

मशाल छन्द—इस छन्द में ३ वर्णों पर यति आती है। इसके प्रथम वर्ण में लघु और तृतीय वर्ण में दीर्घ उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस छन्द में एक प्राचीन लोकगीत है—"बचुली रफौला, त्वील धरो बोल।। देशै कै, आजादी। बुलानि, किलै नैं।। स्वतन्त्र, भारत। बड़ौनि, किलै नैं।। (जलती मशाल, बच्ची राम आर्य)

§३. **सप्तवर्णिक : उद्धव छन्द**—इस छन्द में ३ वर्णों पर यति आती है और अन्त में लघु गुरु का प्रयोग होता है।

बाबा जी भी नी पढयाँ। डिप्टी नीन की वण्याँ।।
क्या कमौण नी लग्याँ। मैं पढ़ौं त क्यूं पढ़ौं।।

मनमौजी, गढ़वाली-कवितावली, पृ० ८४।

(पितामह जी ने नहीं पढ़ा, तो क्या डिप्टी नहीं बने: क्या कमाने नहीं लगे? मैं पढ़ूँ तो क्यों पढ़ूँ?)

§४. **अष्टवर्णिक : ज्ञान छन्द**—

न को जन मानिये वे। मैंले तोकें देछ गाली।।
मैं के माफ़ी कर देवे। तू छै मेरी प्यारी साली।।

(तू बुरा मत मान। मैंने तुझे गाली दी है। मुझे माफ़ कर दे। तू मेरी प्यारी साली है।)

इस छन्द में चार वर्णों पर यति आती है। लय के निकट पहुँचने के लिए दो-दो वर्णों के बाद रुककर पढ़ना चाहिए और दो वर्णों का उच्चारण ४ मात्राओं के बराबर करना चाहिए।

जतीन्द्रनाथ सेन गुप्त की कविता 'भोर हये एल' (जीवन रजनी शेषे। दांडाये शियर देशे ।।) और बा० सी० मर्ढेकर की 'आला आषाढ़ श्रावण' कविता (आला पावसाच्या सरी। किती चातक चोंची ने। प्यावा वर्षा ऋतु बड़ी ।।) इसी छन्द में हैं। इस छन्द में ३,३,२ वर्णों के बाद यति आती है।

पूनो छन्द—पूस की पालङ्ग जैसी। चैतकी कँरुवा जैसी।
पून्यौ की चन्दा जैसी। भादौं की भगवा जैसी।।

यह मालूशाही काव्य में राजुली के रूप का वर्णन है। (शुनपति शौक की लड़की पूस की पालक जैसी है। चैत के कँरुवा (एक कली का साग) सी है। पूर्णिमा के चन्द्र जैसी है। भाद्रपद के भगवा जैसी है।) छन्द में 'चन्दा' को 'चाँनदा' सा पढ़ना चाहिए।

अनुष्टुप् छन्द—यह संस्कृत का प्रसिद्ध मुक्तक वर्णिक छन्द है। कुमाऊँनी लिखित साहित्य में पं० चिन्तामणि ज्योत्सी ने 'दुर्गापाठसार' में (सन् १८९७) और सबजज पं० लीलाधर जोशी ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' (सन् १९०८) में और गुमानी पंत (संवत् १८४७-१९०३) ने स्फुट कविताओं में इसका प्रयोग किया है। खड़ी बोली में केवल सियाराम शरण गुप्त ने गीता के समश्लोकी अनुवाद में इस छन्द का प्रयोग किया है।

जो बुद्धी जो क्षुधा निद्रा, जो छाया शक्ति और जो।
तृष्णा स्वरूप ले व्याप्त, नमस्तैसूं पुनः पुनः।।८। (अ०५, दुर्गापाठसार)

(छन्दलक्षण के लिए देखिए—'आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्दयोजना,' पृ० १७०-७२)

§५. ***नववर्णिक : मालूशाही छन्द***—नाजन में को नाज बड़ो। वृक्षन में को वृक्ष बड़ो।
राजन में को राज बड़ो। देशन में को देश बड़ो ।। (हुनेलो)

(मालूशाही काव्य में राजुली नायिका अपनी माँ से पूछती है, अन्नों में कौन अन्न बड़ा है? वृक्षों में कौन वृक्ष बड़ा है? राजाओं में कौन राजा बड़ा है? देशों में कौन देश बड़ा है?)

इस छन्द में ५ वर्णों के बाद यति आती है। द्वितीय और सप्तम वर्ण के लघु होने पर भी दीर्घ उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस छन्द में इन्द्रवज्रा के पूर्वार्द्ध की सी लय निकलती है—SSISS/SSIS के समान पढ़ने पर इस लय के समीप पहुँचा जा सकता है।

झोड़ा छन्द—इस छन्द का प्रसिद्ध नाम 'झोड़ा' है। इस छन्द के दो रूप प्राप्त हैं। एक में ३, ३, ३ वर्णों पर यति होती है, दूसरे में ४,५ वर्णों पर।

(१) शारदा खमरै की पाई। शारदा खमरै की पाई।
शारदा कलम उठौनूं। शारदा गणेश मनाई।। (जमाना क हाल, पृ०१७)

(२) क्या छ तेरी दीदी को नाम। क्या छ तेरे मीना को नाम।।
(तेरी दीदी का क्या नाम है? तेरे जीजा का क्या नाम है?)

लोकगीतों में झोड़ा में नव वर्णों के चरण के अन्त में एक टेक जोड़ देते हैं—

वणिये की, चेलि जमाना। भलि कै तोल।
ढीकुली का, ढाया जमाना। भलि कै तोल।।

(बनिये की लड़की जमुना ! तू अच्छी तरह तोल। ढिकुली की तरह समय परिवर्तन शील है, तू अच्छी तरह तोल।)

§ ६. *दशवर्णिक* : **बुरूँश छन्द**—इस छन्द में ४,६ वर्णों पर यति होती है। प्रसिद्ध भग्नौल छन्द में ८,६ वर्ण होते हैं और अष्टक में दो चतुष्क होते हैं और षष्ठक में दो त्रिक वर्ण होते हैं। सम्पूर्ण छन्द में प्रथम चतुष्क न्यून करने से बुरूँश छन्द बनता है। इसमें एक चतुष्क और दो त्रिकों का योग होता है—

पारा भीड़ा, बुरूँशी फूली छ। मैं जै कुन्यू, मेरी हीरू ऐछ।
गाड़ा पार, बाँसुरी बजै छ। मेरो हिया, टोक्याल छोड़ छ।।

(माँ कहती है—भीड़ा (ढूह) के उस पार बुरूँश फूल का पेड़ लाल लाल फूला है। मैं समझी मेरी हीरू (पुत्री का नाम) आई है। नदी पार बाँसुरी बज रही है। मेरा हृदय सहम कर चीख उठा है।)

काफल पाको छन्द—इस छन्द में ५,५ वर्णों पर यति आती है। ५ वर्णों में ३, २ या २, ३ का योग होता है। पंचक के तृतीय वर्ण में लघु होने की प्रवृत्ति है।

धन छैं भाग, गीता पढ़नी। तैं का तन ह्वै, पाप छोड़नी।।
जैल करछ, गीता क ध्यान। निश्चय मिला, विष्णु भगवान्।।
(हीरावल्लभ शर्मा, सास-ब्वारी, पृ० ५,)

(जो गीता पढ़ते हैं, उनका धन्य भाग्य है। उनके शरीर से पाप छूट जाता है। जो गीता का ध्यान करता है, उसे निश्चय विष्णु भगवान् मिलते हैं।)

रविबाबू ने खेया (दुःखमूर्त्ति) में इस छन्द से मिलते-जुलते छन्द का प्रयोग किया है—

दुःखेर वेशे, एसे छ बोले। तोमार नाहि, तरिब हे।।

§ ७. *एकादश वर्णिक* : **छाना-विलौरी छन्द**—इस छन्द में ६,५ वर्णों पर यति आती है, कहीं-कहीं ५,६ वर्णों पर आती है इसका द्वितीय खण्ड मालू छन्द के बराबर है और प्रथम खण्ड भग्नौल के द्वितीय खण्ड के बराबर है। इससे स्पष्ट है इन मुक्त वर्णिक छन्दों में भी मूल लयों के आधार पर संयोग-विनियोग से नवीन छन्द निर्मित होते हैं।

लागला विलौरी, का घामऽ बौज्यू।
छाना विलौरी, झन दिया बौज्यू।।

(कन्या अपने पिता से कहती है— हे पिता जी ! छाना-विलौरी में मुझे मत देना (मत विवाह करना), वहाँ विलौरी की धूप लगेगी।)

इस छन्द का प्रयोग हीरावल्लभ शर्मा ने 'हिस्सेदार खायकर' (पृ० ८) और 'सासु ब्वारी' में किया है, जिसमें बीच-बीच में १० वर्ण के चरण भी आते हैं। चिन्तामणि पालीवाल ने 'मछली मार मेला' (वलिदान खण्डन, पृ० १४, १५) में इस छन्द का प्रयोग किया है। गुजराती कवि बालमुकुन्द दवे ने 'सहज संगम' में (तोय जोने पेलुं, घण रे ध्यानीं), रवीन्द्रनाथ ने नैवेद्य में (१२ वर्णों के चरण के बीच-बीच में) इस छन्द से मिलते-जुलते छन्द का प्रयोग किया है।

§८. द्वादश वर्णिक : नैवेद्य छन्द—इस छन्द में ६, ६ वर्णों पर यति आती है। इन दोनों षष्ठकों का निर्माण दो त्रिकों या तीन युग्मों से होता है—

> दै भलो नी जामो, अब करौं छाँको। ६ + ६ वर्ण
> डोकिलो फूटिया, छ मैं औंछ झाँको॥
> घिनाली छ मस्त, पै वीकणि खाँको।
> रै टुटी गेछ ऊ, थुमो लै छ बाँको॥ (रामदत्त पन्त, गीतमाला, पृ० ५७,)

(दही ठीक जमा नहीं, अब मठा कौन बनायेगा। मथने का पात्र फूटा है, मुझे मृगी आती है। घी-दूध तो बहुत है, पर उसको खाता कौन है। मथनी टूट गयी है, डंडा टेढ़ा हो गया है।) रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' पुस्तक में इस छन्द का प्रचुर प्रयोग किया है (कांपाये आमार, हृदयेर सीमा। वाजिबे तोमार, असीम महिमा।)

§९. त्रयोदश वर्णिक : भग्नौली—भग्नौल का अन्तिम वर्ण न्यून करने से यह छन्द बनता है। इस छन्द में ८, ५ वर्णों पर यति होती है। इसका अन्तिम वर्ण दीर्घ ही होता है, भग्नौल का अन्तिम वर्ण लघु भी होता है। मराठी में इसे चन्द्रकान्त छन्द कहते हैं (अखंडित असावेसें, वाटतें पायीं—तुकाराम)

> घन घोर बादल में, जाणी को लुकीं। ८ + ५ वर्ण
> नीला आकाशन रूप,ऽ चमकैं दीं॥ ८ + (१) + ४ वर्ण
> मोर मुकुट पैहरीं, क्ये भले देखीं। ८ + ५ वर्ण
> खुली लट लटकिया, खुटन लोटीं॥' ८ + ५ (गीतमाला, पृ० ४३)

(घनघोर बादल में जाने कौन छिपा है! नीले आकाश में रूप चमक रहा है। मोर मुकुट पहिन कर क्या शोभा देता है। लटकती खुली लटें पैरों में लोट रही हैं।)

§१०. चतुर्दश वर्णिक : भग्नौल छन्द—यह कुमायूं-गढ़वाल का सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक प्रयुक्त और श्रेष्ठ छन्द है। इसमें ८,६ वर्णों पर यति आती है। अष्टक खण्ड दो चतुष्कों, चार युग्मों अथवा दो त्रिकों और एक युग्म से निर्मित होता है। पयार की भाँति २ + ३ + ३ वर्णों का योग कम दिखाई पड़ता है। दूसरे खण्ड में दो त्रिकों या तीन युग्मों का योग होता है। चरणान्त में आठों गणों का प्रयोग मिलता है। इस छन्द की यह प्रवृत्ति इसे मुक्त वर्णिक छन्द का समस्त गौरव प्रदान करती है। पयार के चरणान्त में भी सभी गण प्रयुक्त होते हैं।

कुमाऊँ के लोकगीतों और प्रबन्धकाव्यों में इस छन्द का प्रचुर प्रयोग होता है। कुमाऊँ के मौखिक महाकाव्य 'मालूशाही' में इसी छन्द का प्रयोग है। खिमानन्द शर्मा ने मालूशाही के कथानक को ४८ पृ० की पुस्तिका 'वीर बालक हरू सिंह हीत' में इसी छन्द में निबद्ध किया है। चिन्तामणि पालीवाल ने 'बलिदान खण्डन' (४२½ छन्द) 'दिल्ली की झलक' (१४८½ छन्द) में; हीरावल्लभ शर्मा ने 'जमानाक हाल' (७८ छन्द), 'मित्र उपदेश' (८४ छन्द) में, बच्चीराम आर्य ने 'जलती मशाल' (३९½ छन्द) में और रामदत्त पन्त ने 'गान्धी गीत' (२० छन्द) में तथा श्यामाचरण पन्त ने 'मुफ़्ती बाजार' (अप्रकाशित) में भग्नौल छन्द का प्रयोग

किया है। असमी, बंगाली, उड़िया में इसका समकक्ष छन्द पयार बहुत प्रचलित है। तुकाराम और ज्ञानेश्वर ने अभंगों में इस छन्द का प्रयोग किया है। पटवर्द्धन ने मराठी में इसका नाम 'लवंगलता' रखा है।

उदा०—नायक : सर्ग रिट मुसी चील, भिमैं पड़ी छाया।
नायिका : जैसी तेरी पाणि तीस, तैंसी मेरी माया।।
नायक : बड़ा हानि भेलि सुवा, बड़ा हानि भैल।
नायिका : तुम जाला तलि हुणि, मैं कसि कै रौल।। (लोकगीत)

(नायक—प्रिये ! आकाश में चील घूमती है, पर छाया धरती पर ही रहती है (मैं कहीं जाऊँ, मन तुम्हारे पास रहेगा)। नायिका—मेरी ममता तुम्हारे प्रति इतनी तीव्र है, जैसे तुम्हारी पानी की तृषा। नायक—प्रिये ! (तुम मुझे रोकती हो), अतः बहुत बड़ी हानि होगी। नायिका—तुम नीचे (देश) चले जाओगे, तो मैं कैसे रहूँगी।)

§ ११. *पञ्चदशवर्णिक* : **मैथिली छन्द**—इस छन्द में ८, ७ वर्णों पर यति होती है। खड़ी बोली में 'मेघनादवध', 'सिद्धराज,' 'नहुष' और 'विष्णुप्रिया' खण्डकाव्य (गुप्त जी) तथा 'गान्धी-चरित' महाकाव्य (अनूप शर्मा) में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। भग्नौल छन्द के अंत में एक गुरु वर्ण जोड़ने से यह छन्द बनता है। इसके चरणान्त में मगण, रगण, सगण आते हैं, पर पहाड़ी गीतों में यगण भी आता है, क्योंकि उच्चारण में यगण का प्रथम अक्षर दीर्घ कर दिया जाता है—

तू च बूबा एकूं तो लाडुलू अहा ! जीतू जी।
तू च बूबा सबूते स्वरूप कनू जीतू जी।
लोक-बोली कनी माली मैं इक हे जिया बै।
मेरि वैणूलि बाटुली, न्यालल् मेरी जिया बै।
जीतू, 'रसिक'—'गढ़वाली-कवितावली' पृ० १४१।

(माँ कहती है—अरे जीतू ! तू ही तो एक मेरा लाड़ला बेटा है। जीतू ! तू सब में कैसा स्वरूपवान् बेटा है। जीतू कहता है, हे माँ मुझे लोग कैसी बोली मारेंगे। हे माँ ! मेरी बहिन मेरा रास्ता देखती रहेगी।)

§ १२. *षोडशवर्णिक* : **विनय छन्द**—इस छन्द में ८,८ वर्णों पर यति होती है। यह ज्ञान छन्द का दुगुना है। मराठी में इसे वनहरिणी छन्द कहते हैं। प्रो० विष्णुभिकाजी कोलते और नारायण काले ने इस छन्द का प्रयोग किया है (छन्दोरचना)। गुजराती कवि मनसुखलाल झवेरी ने 'विपर्यय' में इस छन्द का प्रयोग किया है 'मटकुंय नथी मार्यु, हजजी एक तहीं ज आ'। रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' (१५) में इस छन्द का प्रयोग किया है—'प्रतिदिन तव गाथा, गांबो आमि सुमधुर।' हिन्दी में रूप घनाक्षरी की अर्द्धाली अर्चना छन्द को इसका एक भेद माना जा सकता है—'हे प्रजापते ! त्रिलोक, में है एक तू अनन्य।' (चन्द्राकर)।

पापी छ कै जै हो अहो, टुक्यो दीनो भलो हुँछ।
पै हो केलै पापी ए तू, आश करी बैठ रूँछ।।

खेल खेलै बीती गई, उमर लै क्यनी रई।

तुमरा भजन बिना, अब गाला-गाला ऊँछ॥ (रामदत्त पंत गीतामाला, पृ० १८)

(पापी समझकर किसी को वहिष्कृत कर देना क्या अच्छा है। फिर, इतने पापी आशा करके क्यों बैठे रहते हैं! उमर कुछ नहीं रही, खेल-खेल में ही बीत गयी। तुम्हारे भजन बिना अब गले-गले तक आ गयी है।)

§ *१३. अर्द्धसम मुक्तवर्णिक :* **बीणई छन्द**—इसके प्रथम और तृतीय चरण में १२ वर्ण (६, ६ वर्णों पर यति) और द्वितीय-चतुर्थ चरण में ६ वर्ण होते हैं। प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ चरणों में प्रायः अन्त्यानुप्रास होता है। इस छन्द को ६ वर्णों की षट्पदी के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है—

पारा भिड़ा को छू, भागी सूर-सूर,
मुरली बाजिगे।
पारा भीड़ा को छू, सुवा! रूड़-भूड़,
बीणई बाजिगे॥ (लोकगीत)

(उस पार के भीड़े (ढूह) पर कौन भाग्यशालिनी है? अभी स्वर-साधना के साथ मुरली बजी है। उस पार के भीड़े पर कौन है? हे प्रिये! अभी बीणई (एक तार का बहुत छोटा बाजा, जिसे मुँह में दाबकर एक उँगली से बजाया जाता है इससे बड़ी सुन्दर लयें निकलतीं हैं, स्थानीय मेलों में एक दो आने का मिलता है) बजी है, मैं व्याकुल हो उठा हूँ।

§ *१४. विषम विकर्षाधार :* **बैर छन्द**—यह छन्द नायक-नायिका के वार्तालाप के रूप में लोकगीतों में प्रचलित है। एक शिखर पर एक घास काटने वाला, दूसरे शिखर पर एक घास काटनेवाली परस्पर दो-दो पंक्तियों के छन्द में प्रश्नोत्तर करते हैं। प्रेमपूर्ण भावुकता की अभिव्यक्ति, तार्किकता एवं विवेक जागरित करने की यह सुन्दर लोक-शैली है। यह विवादमय शृङ्गार बड़ा निर्मल निश्छल और उदात्त होता है। स्थानीय मेलों या पर्वों के अवसर पर स्थानीय आशु कवि लोग इस छन्द में बड़े सुन्दर प्रश्नोत्तर करते हैं। सैकड़ों स्त्री-पुरुष जय-पराजय का निर्णय देखने के लिए बैठते हैं (मैदान के विरहा-गीत गानेवालों से इसकी तुलना की जा सकती है)।

इस छन्द की प्रथम पंक्ति या ध्रुवक में ६ वर्ण होते हैं (अर्थात् भग्नौल छन्द का द्वितीयार्द्ध) और दूसरी पंक्ति में १४ वर्णों के भग्नौल छन्द का चरण होता है, जिसमें ८, ६ वर्णों पर यति होती है। चरणान्त में प्रायः तुक भी होता है। कभी-कभी पद शैली की भाँति एक ध्रुवक के बाद एकाधिक चरण समान अन्त्यानुप्रास में आते हैं और कभी युग्मक अन्त्यानुप्रास के रूप में। लोकगीतों में 'दातुलै की धार' (हसिए की धार) इस छन्द में प्रसिद्ध कविता है। इसी आधार पर पं० श्यामाचरण पन्त ने इसी छन्द में 'दातुलै की धार' शीर्षक पुस्तक में ४४ पद्य सन् १९४० में सटीक प्रकाशित किये थे। यह कविता कुमाउँनी की श्रेष्ठ कविताओं में एक है। भग्नौल छन्द के बाद बैर छन्द का सर्वाधिक महत्व है। लोकगीतों में 'जोड़' (तुक) मिलाने के लिए कभी-कभी ध्रुवक निरर्थक भी रखा जाता है।

(१) तिमुली की पात। — ६(३+३) वर्ण

क्याल जैसी पाकि रईं, भूलि गैछ बात। — ८+६ वर्ण

(तिमुली के पत्ते जैसी हरी प्रिये! तुम यह भूल गयी हो कि तुम केले जैसी पकी हो)।

(२) गढ़वाली उदाहरण—गंगा जू को पौणों। — ६ वर्ण

धूला माठी जखी कखी, जोग्यों को बिछौणों। — ८+६ वर्ण

(दयानन्द बहुगुना, गढ़वाली-कवितावली, पृ० १३७)

(गंगा जी के अतिथि हैं। जहाँ-तहाँ धूल-मिट्टी योगियों का बिछौना है।)

(३) नवीन विकर्षाधार

दातुलै की धार। दारमा-जोहार। — ६ वर्ण + ६ वर्ण

बाकरोंक पुठ पर, वादि दियो भार। — ८+६ वर्ण

कतू हाथ पार।

'स्यूः स्यूः' कूनै उनी जानी, बूड़ा थोकदार। — ८+६ वर्ण

श्यामाचरण पन्त, दातुलै की धार, पृ० २१।

इस विकर्ष में ६, ६, १४, ६, १४ वर्णों में क, क, क, क, क अन्त्यानुप्रास है।

(दारमा-जोहार के, हसिये की धार के समान शिखर के सँकरे मार्ग में बकरियों की पीठ पर बोझ बाँधकर वृद्ध थोकदार (महाजन) 'स्युः स्युः' (शिव शिव, तथा बकरी भगाने का शब्द) कहते हुए हाथ में तकुली घुमाते हुए आते-जाते हैं।)

गोविन्दवल्लभ पन्त ने 'मदारी' उपन्यास में इस छन्द का खड़ी बोली में प्रयोग किया है। लक्षण और लय जानने पर यह पहाड़ी छन्द हिन्दी पाठकों को विशेष मनोरम लगेगा। नायक नवाब' नायिका 'तितली' से कहता है—

उग गये धान। — ६ वर्ण

आँखों में गड़ी है तेरी, मृदु मुसकान। — ८+६ वर्ण

कानों में बसा है तेरा, विमोहक गान। — ,, ,,

तूने बंदी किया मेरा, तन-धन-ध्यान। — ,, ,,

तुझे तज अब कहाँ, जा सकूँगा प्राण॥ — ,, ,,

(मदारी, पृ० ३०४)

डा० सत्येन्द्र

लोकतत्व : दर्शन तथा अध्ययन

§१. लोकतत्व की एक चर्चा यों की जाती है : (अ) "अतः हमें यह मानना ही चाहिए कि इन रूमानी वैदिक संवादों (उर्वशी-पुरुरवा तथा यम-यमी संवादों) में उस साहित्यिक शैली का अवशेष हमें मिलता है जो अनिवार्यतः लोक-कविता (folk-poetry) के स्वाभाव की थी, और जो संहिताओं की कट्टर धर्मानुष्ठानिक कविता से भिन्न थी, किन्तु जो परवर्ती वैदिक युग में मर गयी थी।"[१] (आ) "जायसी सच्चे पृथिवी पुत्र थे। वे भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है। गाँव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है। जनता की उक्तियाँ, भावनाएँ और मान्यताएँ मानों स्वयं छंद में बँध कर उनके काव्य में गुँथ गयी हैं।"[२]

§२. इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतत्व के विविध पर्त प्रतीत होते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि लोकतत्व जीवनव्यापी हैं, और प्रत्येक मानव में उसके जन्म से ही बद्धमूल हैं। ये उसकी प्रकृति के ही अंग हो गये हैं। हमने लोक-मानस पर प्रकाश डालते हुए यह स्थापना की थी कि मानवी मानस पहले तो दो विभागों में बाँटा जा सकता है जिन्हें आज का मनोविज्ञान चेतन तथा अवचेतन मानस कहता है। चेतन मानस की क्रिया-प्रक्रिया का विचार शुद्ध मनोविज्ञान का विषय रहा है। अवचेतन की क्रिया-प्रक्रियाओं का अनुसंधान करने वाला नया विज्ञान मनोविश्लेषण-विज्ञान कहलाता है। फ्रायड-जुंग-एडलर के त्रिगुट ने इस अवचेतन के विविध पहलुओं को स्पष्ट किया है, किन्तु वास्तविक बात यह है कि यह अवचेतन मानस भी दो स्तर वाला है : (क) इसका चेतना-संपर्कित अवचेतन मानस ऊपरी पर्त है। इसे ऐतिहासिक या उपार्जित अवचेतन कह सकते हैं। मनोविश्लेषण का अब तक का पक्ष वस्तुतः इसी स्तर से संबंधित था। यह दमित और कुण्ठित भावना का वह कोश है जो चेतना के अत्याचार से क्षुब्ध हो पीछे छिप गया है, और घायल सर्प की भाँति बदला लेने के लिए परिकर अवसर की ताक में फुंकारता रहता है।

(ख) इस अवचेतन का निचला स्तर उत्तराधिकारावतरित सहज मानस का है। मानव ने जिस दिन पहले-पहल आँख खोली उस दिन उसे जो दिव्यादिव्य अनुभूति हुई वह

---

१. डॉ० एस० के० डे०; एन्शेन्ट एराटिक्स एण्ड एराटिक लिटरेचर; पृ० ६, १०।
२. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; पद्मावत-संजीवनी टीका; पृ० ७।

उसके समस्त अस्तित्व में समा गयी। उसके शरीर का रोम-रोम और अणु-अणु उस प्रकृति से अभिभूत हो गया। इसे कोई चाहे तो आदिम मानस (primitive mind) कह सकता है। यह आदिम मानस प्रत्येक मानव को आज भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। इस पर हम अन्यत्र भली प्रकार विचार कर चुके हैं।[3] यही लोक-मानस है।

(i) यहाँ हम इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि यह मानस दमित या कुंठित चेतन का रूप नहीं बल्कि यह हमारे सहज मानस की तरह या हमारे समस्त मानवीय मानस के लिए बीज
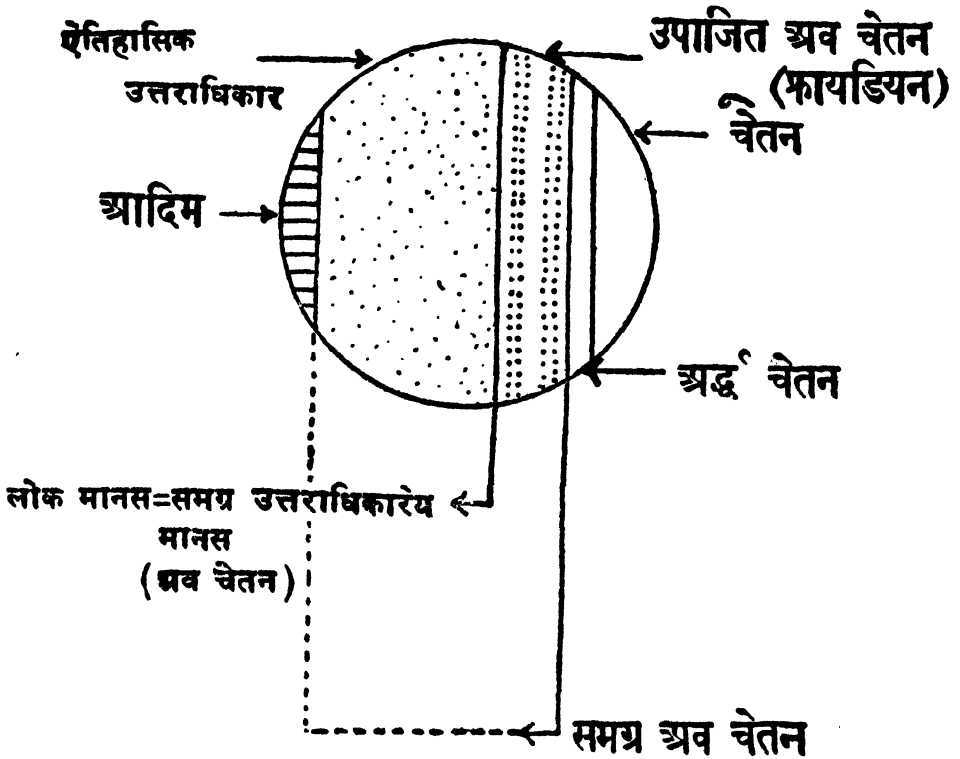
की तरह सहजात है। यह विश्व के समस्त मानव मात्र में विद्यमान है और वस्तुत: इसी की मौलिक अवस्थिति के कारण विश्व भर के मानव सामान्य प्रक्रियाओं में समान प्रतीत होते हैं। यह मानस देशव्यापी भी हैं और कालव्यापी भी हैं।

(ii) इसकी देश-व्यापी स्थिति भौगोलिक सीमाओं में इसे विश्व भर में व्याप्त सिद्ध करती है। यह लोक-मानस का भौगोलिक पक्ष है। इस मूल या आदिम लोक-मानस में वे तत्त्व भी विद्यमान हैं जो भौगोलिक पृष्ठभूमि से सामग्री ग्रहण कर सकते हैं, और अपने प्रवृत्ति-मूल को अक्षुण्ण रखते

---

३. देखिए—मध्ययुगीन साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन।

हुए भी क्षेत्रीय मानव के स्वरूप को भौगोलिक वातावरण में पनपने योग्य बना सकती हैं। इसी के कारण स्थानीय संस्कृतियों का निर्माण होता है। (iii) इसकी कालव्यापी स्थिति ऐतिहासिक पक्ष को प्रकट करती है। मूल उद्भव के काल से लेकर आज पर्यन्त यह मानस मानव-मानव में अवतरित होता चला आया है। इसके सहज आदिम मूल में वे तत्व भी विद्यमान हैं जो काल की गति से होने वाले संघातों से प्राप्त विषयों और सामग्रियों को ग्रहण कर सकें, और उन्हें अपने अनुकूल रखते हुए भी, मानव के स्वरूप को विविध ऐतिहासिक युगों के अनुकूल ढालते रहें। (iv) यह मानस ही मूलतः लोकतत्व का निर्धारक है। यह मनुष्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति में किसी न किसी प्रकार से विद्यमान अवश्य रहता है। यह न तो संग्रहीत मानस (collective mind) है, और न उपार्जित ही। उपार्जित की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है। संग्रहीत मानस से भी इसका भेद समझ लेना आवश्यक है।

वैसे तो सी० जी० जुंग ने लिखा है कि "आधुनिक मनोविज्ञान अवचेतन कल्पना की उद्भावनाओं को अवचेतन में घटित होते रहने वाले व्यापारों को आत्म-छबियों के रूप में, अथवा अवचेतन मानस मूल (unconscious psyche) के निज विषयक कथन के रूप में मानते हैं। ये दो कोटियों में रखे जाते हैं। प्रथमतः, ऊहाएँ (स्वप्नों को मिलाकर), जो निजत्व गुणों से युक्त होने के कारण निर्विवादेन विगत निजी अनुभवों से विस्मृत या दमित बातों से संबंधित होती हैं, और इनको व्यक्तिगत विस्मृति(amnasis) से पूरी तरह समझाया जा सकता है। दूसरे, वे ऊहाएँ (स्वप्नों को मिलाकर) जो निर्वैयक्तिक प्रकृति की होती हैं, जिन्हें व्यक्ति के अपने विगत कालीन अनुभवों के रूप में नहीं परिणत किया जा सकता, और ऐसे ही जिन्हें व्यक्तिशः उपार्जित किसी वस्तु के रूप में नहीं समझाया जा सकता। ये ऊहा-चित्र निर्विवादेन धर्मगाथिक मानकों (type) से अपना निकटतम साम्य रखते हैं। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि ये सामान्य मानव मूल मानसिकता के किसी संग्रहीत (और निजी नहीं) निर्माण-तत्वों के समवायी हैं, और, मानव शरीर के निर्मायक तत्वों की भाँति उत्तराधिकारावगत (inherited)। इसी को जुंग महोदय ने 'संग्रहीत अवचेतन' का नाम दिया है।[4] जुंग महोदय ने जिस रूप में 'संग्रहीत मानस' की परिभाषा दी है, वह एक प्रकार से प्रायः वही है जो हमारे लोक-मानस की है। केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर प्रतीत होता है, वे उसे निर्माण-तत्वों के समवायी मानते हैं। हमने उसे आरंभिक आदिम मूल मानसिकता के रूप में ग्रहण किया है, यद्यपि हमने भी उनकी प्रवृत्ति में निरन्तर निर्मायक तत्वों का शील परिलक्षित किया है। ऐसा लगता है जैसे जुंग उस मानस को पूर्णतः अवचेतनानुरूपी समझते हों; और चेतन प्रक्रियाओं के क्षीण होने पर ही इनका दमित भावनाओं की तरह उद्धरण होता हो। हमने यह माना है कि यह मानव में अवचेतनस्थ होते हुए भी मानव की प्रत्येक अभिव्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में वेष्टित रखते हैं। चेतन में भी एक विशिष्ट व्यापार रहता है जिसे मनोविज्ञान की व्याख्या से नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुतः यह अन्तर मार्गों का ही अन्तर प्रतीत होता है। हम मानवीय अभिव्यक्तियों की

---

४. इन्ट्रोडक्शन टू दि साइंस ऑफ़ मैथालॉजी; पृ० १०२, १०३।

प्रकृति में लोक-मानसिकता की परंपरागत व्याप्ति देख कर लोक-मानस की सत्ता का साक्षात्कार कर चुके थे। जुंग महोदय ने अपने मनोविश्लेषण के अनुसंधान में इस संग्रहीत तत्वों के आक्षेप को भी अवचेतन में स्फुरित होते पाया है। हमें यहीं यह संदेह होता है कि क्या निर्माण-मूलक अनुभव अवचेतन को उत्तराधिकार में मिल सकते हैं ? इसीलिए हमारा लोक-मानस आदिमतम मानव की प्रथम मानसिकता का परिणाम ही सिद्ध होता है। अस्तु, जुंग का यह संग्रहीत मानस तो प्रायः हमारे लोक-मानस का ही प्रतिरूप है, किन्तु 'संग्रहीत मानस' की एक और परिभाषा भी हो सकती है। मानव की समष्टि में मानवता विशेषित जो सामान्य चेतन-प्रक्रिया मिलती है, वह भी 'संग्रहीत मानस' (collective mind) कहा जा सकता है। यह संग्रहीत मानस तो निष्कर्ष-प्राप्त मानस है, अथवा व्यष्टि-व्याप्त चेतना प्रक्रियाओं का समष्टिरूपेण ग्रहीत मानस का अमूर्त (abstract)) प्रतिपादन-माना।

§३. किन्तु, यह समस्त ऊहापोह हमने यहाँ इसीलिए की है कि हम लोक-मानस की सत्ता को वैज्ञानिक धरातल पर और भी अच्छी तरह समझ सकें। इसी लोक-मानस की अभिव्यक्ति जहाँ जिस परिभाषा में मिलती है, वहाँ उसी मात्रा में लोकतत्व विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से लोकतात्विक अध्ययन का मूल लक्ष्य भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों में लोकतत्वों का अनुसंधान करना होगा।

§४. लोकतत्व की तात्विकता को लेकर आज हमने जिस लोक-मानस का प्रत्यक्षीकरण किया है, उससे लोकतत्व के क्षेत्र में एकदम क्रान्ति प्रस्तुत प्रतीत होती है। इसे क्रान्ति न भी कहें तो विकास कह सकते हैं और इस विकास की ये सीढ़ियाँ हो सकती हैं : लोकतत्व क्रमशः (अ) सभ्यता विरहित प्रगतिरुद्ध आदिम प्राणियों में अर्थात् प्रिमिटिव या जंगली जातियों में, (आ) सभ्यता विरहित अनपढ़ ग्रामीण समाज में, (इ) सभ्यता विरहित निरक्षर नगर-समाज में, (ई) अर्द्धसभ्य अर्द्ध-शिक्षित नगर-समाज में, (उ) सभ्य समाज में। इससे यह स्पष्ट है कि धीरे-धीरे लोकतत्व की सत्ता का विस्तार होता गया है, और आज संपूर्ण मानव-समाज में उच्च से उच्च स्तर पर भी स्वीकार किया जाने लगा है। इसी का यह परिणाम है कि अब जंगली लोगों के लोक-साहित्य को ही अध्ययन का विषय नहीं बनाया जाता, नगरों के नागरिकों से भी लोक-साहित्य के संकलन की प्रथा आरंभ हो गयी है। इसी को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने के लिए अब साहित्य में भी लोकतत्व के अनुसंधान के प्रयत्न होने लगे हैं।

§ ५. किन्तु लोकतत्व और लोक-मानस के क्षेत्र को आज और भी विस्तृत रूप दे दिया गया है। उसमें इतने पारिभाषिक लोक-मानस की प्रत्यक्ष व्याप्ति की आवश्यकता नहीं। सामान्य अर्थ में सामान्य लोक संबंधित बातें भी लोकतत्व-युक्त मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति को लें तो उसमें ये तन्तु मिलेंगे—(क) भाषा वर्ग—(अ) लोक-प्रचलित सामान्य लोकभाषा या जनपदीय भाषा; (आ) इसमें लोक-प्रचलित मुहावरे; (इ) इसमें ठेठ ग्राम्य या जनपदीय शब्द; (ई) इसमें प्रयुक्त लोकोक्तियाँ; (उ) लोक ज्ञान-विज्ञान विषयक ठेठ किन्तु पारिभाषिक शब्दावली; (ऊ) विविध ज्ञान-विज्ञान से लिये गये

पारिभाषिक शब्दों की लोकतात्विक परिणति।[5] (ख) छन्द वर्ग में—(अ) वे छन्द जिनको शास्त्रों ने स्वीकार नहीं किया; (आ) वे गीत जो किसी लोकाचार का आवश्यक अंग रहे हैं; (इ) वे गीत और छन्द जो अत्यधिक लोक-प्रचलित होने के कारण उच्च साहित्य द्वारा परित्यक्त हो गये हैं; (ई) वे छन्द जिनके निर्माण का आधार अशास्त्रीय पद्धति हो, (उ) तुकें या टेकें। (ग) प्रतिपादक वर्ग में—(अ) ऐसे उपमान या अवर्ण्य जो लोक-क्षेत्रीय हों; (आ) संदर्भित कथांश या नाम जो लोक-प्रचलित हों या लोकवार्त्ता परक हों; (इ) विविध रीति-रिवाज, लोक-विश्वास, लोक ज्ञान-विज्ञान, देवी-देवता, पूजा-अनुष्ठानादि; (ई) धर्म गाथा विषयक प्रसंग। (घ) प्रतिपाद्य वर्ग में—i (अ) कथावस्तु में लोक-कथा या पुराण-कथा का कथानक; (आ) उस कथानक के कथा मानक रूप (tale type); (इ) कथा मानक रूपों में अभिप्राय (motive); (ई) अभिप्रायों में मूल मानक। ii (अ) प्रतिपाद्य दर्शन और सिद्धान्त; (आ) चेतन पक्ष तथा अवचेतन पक्ष; (इ) मूल मानक की दार्शनिक और सैद्धान्तिक प्रणालियाँ। ऊपर जो विश्लेषित विस्तृति साहित्यिक अभिव्यक्ति के तंतुओं को दी गयी है, उसमें उन तन्तुओं के लोकतात्विक पक्ष की ओर संकेत साथ ही दिया गया है, इससे यह प्रकट हो सकता है कि लोकतत्व का क्षेत्र अब समग्र अभिव्यक्तिपरक हो गया है।

§ ६. इस समग्र लोकतत्व के अध्ययन के लिए अब तक जो प्रयत्न किये गये हैं उनके प्रकारों का संक्षेप में यहाँ अवलोकन करना समीचीन होगा। इस दिशा में सब से प्रथम प्रयत्न 'लोक-क्षेत्रीय वर्तमान लोकवार्त्ता का संकलन' का दृष्टिगत होता है। यह संकलन आदिम या जंगली जातियों से पूरी-पूरी तरह किया जाना चाहिए। विश्व भर के प्रिमिटिव कहे जाने वाले लोगों की वार्त्ता का संकलन हो कर उसका कोश प्रस्तुत होना चाहिए। (क) दूसरा प्रयत्न इसी प्रकार ऐतिहासिक लोकवार्त्ता का संकलन—अर्थात् विश्व-साहित्य में उपलब्ध उस सामग्री का संकलन जिनमें लोक-क्षेत्रीय लोकवार्त्ता के तत्व विद्यमान हों। उदाहरणार्थ; लोक-क्षेत्र के संकलन में एक 'चोर शिरोमणि' की कथा मिलती है। यह चोर राजा और राज्य के समस्त अधिकारियों को मूर्ख बनाता है और उन्हें छलता है। यह तो वर्तमानकालिक वार्त्ता है। यही वार्त्ता ऐतिहासिक अस्तित्व भी रखती है। (१) कई हज़ार वर्ष पूर्व मिस्र में चौथे राजकुल का आरंभकर्ता खूफू महान् था। उसका युग पिरेमिडों का युग है। यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस को एक पुजारी ने खूफू महान् से पूर्व के एक सम्राट् रहम्प्सिनिटस विषयक एक लोक-कहानी सुनायी। इस सम्राट् ने अपने खजाने का पक्का भवन बनवाया। कारीगर ने उसकी दिवाल में एक ऐसा पत्थर लगाया जो बाहर से निकाल लिया जा सकता था और उससे खजाने में घुसा जा सकता था। इस कारीगर ने यह रहस्य अपने दो लड़कों को बताया। कारीगर की मृत्यु के बाद दोनों भाई पत्थर हटा कर खजाने से खजाना चुराने लगे। इसमें ये अभिप्राय आये हैं—राजा ने इस चोर को पकड़ने के उपाय किये। खजाने की

---

५. जैसे सिद्धों के 'ख-सम' (=शून्य) को परमतत्व के अर्थ में संतों ने भी ग्रहण किया पर उसमें लोक-क्षेत्र में प्रचलित अर्थ (खसम=पति) भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार विशिष्ट पारिभाषिक शब्द को लोक-भूमि पर ला कर उसे अपने लिए पुनः पारिभाषिक बना लिया।

चोरी करते समय एक भाई जाल में फँस गया। उसके कहने से दूसरा भाई उसका सिर काट ले गया। वह भाई अपने भाई के धड़ को उस धड़ के रक्षकों को धोखा देकर चुरा ले गया। राजा ने अपनी लड़की को चोर को पकड़ने भेजा। चोर उससे मिला और भाई का सिर काटने और उसका धड़ चुरा ले जाने की बात उससे बतायी। लड़की जब उसे पकड़ने लगी तो वह उसके हाथ में एक कटा हाथ देकर चम्पत हो गया। राजा ने मुनादी करा के उसे क्षमा किया और अपनी लड़की से उसकी शादी कर दी। आज भारत में लोक क्षेत्र से संकलित 'चोर-शिरोमणि' की कथा का और इस मिस्र के चोर-शिरोमणि के कथा-विधान का साम्य अत्यन्त स्पष्ट है। अतः ऐसी सामग्री को साहित्य और वार्ता से एकत्र कर के उन्हें इतिहास-क्रम में प्रस्तुत करना तथा इनका भी कोश बनाना चाहिए। (ख) तब ऐसी सामग्री में से तुलनाएँ प्रस्तुत करना। इन तुलनाओं से साम्य-वैषम्य के युगों और क्षेत्रों का निर्वाचन करना। (ग) कथा-सामग्री की इस तुलना के द्वारा—(१) 'मूल-कहानियों' का रूप निर्धारण करना। (२) मूल कहानियों में से 'कथामानकों' (tale type) का निरूपण करना, (३) कथा मानकों से अभिप्रायों का संकलन, (४) अभिप्रायों में से आदि मूलक अभिप्रायों की स्थापना, (५) अभिप्रायों के धर्मगाथा और लोककथा में प्रयोग। (घ) इस रूप में प्रस्तुत मूल कहानियों, कथा मानकों और अभिप्रायों का जातिगतक्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, ऐतिहासिक परिवर्तन-संवर्द्धन, इनकी यात्राएँ तथा आदान-प्रदान आदि पर विचार। (ङ) अन्य लोक-साहित्यिक रूपों का भी इस प्रकार संकलन-विश्लेषण-अध्ययन। (च) इसी के साथ अभिप्रायों के आदिमूल मानक (arch type) पर विचार; उदाहरणार्थ—'बालक-अभिप्राय' (child motif) लिया जा सकता है।

पहले 'बालक-अभिप्राय' के विविध रूपों को विश्व संकलित वार्त्ता-कोशों से तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है, यथा—मिस्र की पुराण-कथा में 'होरस' की ऐसी ही अवस्था है। होरस का पिता ओसिरिस उसके भाई सेत द्वारा एक कफ़न में ज़िन्दा बंद कर समुद्र में बहा दिया जाता है। सेत राजा हो जाता है। ओसिरिस की स्त्री आइसिस मारी-मारी फिरती है। तभी होरस का जन्म होता है। सेत को पता लग जाता है। वह माँ-बेटे को एक मकान में बंदी बना लेता है। सेत होरस को मार डालना चाहता है कि कहीं वह अपने पिता के राज्य का दावेदार न बने। किन्तु थोक आइसिस को इस संकट की सूचना दे देता है। आइसिस होरस को लेकर भाग कर बूटो (Buto) पहुँचती है। वहाँ होरस को नगर की कुमारी देवी उआज़ीत (Uazit) को सौंप वह ओसिरिस की खोज में निकल जाती है।[६] यह देवी सर्पिणी थी। इस कथा में होरस के पिता नहीं, या मारी-मारी फिरती है, बंदी हो जाती है, फिर वह होरस से बिछुड़ भी जाती है, उसका पालन-पोषण सर्पिणी (देवी) करती है। यूनान में ज़ियस का पिता क्रोनस तो स्वयं ही अपने पुत्र का शत्रु है, क्योंकि भविष्यवक्ता ने बताया है कि उसका पुत्र ही उसे मारेगा। अतः ज़ियस को जन्म लेते ही या तो क्रीट की एक गुफा में ले जाकर छिपाया गया, या वह गुफा में ही पैदा हुआ, और वहाँ गुप्त रूप से उसका पालन-पोषण डिक्टीअन देवियों ने और क्यूरेटीज ने किया। डायोनीसियस

---

६. ईजिप्शियन मिथ एण्ड लीजेण्ड : डानाल्ड ए० मेकेंज़ी, पृ० १८-१९।

जब गर्भ में छः महीने का था, उसकी माँ सेमेले (Semele) की मृत्यु हो गयी। सेमेले की भस्म से डायोनीसिअस को उसका पिता ज़ियस उठा लाया। तीन महीने अपनी जाँघ को काट कर उसमें रखा। पूरे नौ महीने हो जाने पर ज़िअस ने उसे हर्मीज़ को सौंप दिया, उसने इनो और अथमस को सौंप दिया। उसकी विमाता हेरा उसके प्राणों की गाहक थी। उसे और भी कई दिव्य व्यक्तियों के पास पालन-पोषण के लिए रहना पड़ा। अपोलो की माँ लीटो को पुत्र के साथ मारे-मारे फिरना पड़ा है। बालक अपोलो ने माँ को पाशविक ट्रियोस के अत्याचारों से रक्षा करनी पड़ी है—लीटो को भी हेरा के भय से मारे-मारे फिरना पड़ा है और एक गुप्त स्थान पर अपोलो को जन्म देना पड़ा है।

भारत में तो बाल-देव के वर्णन वैदिक काल से ही मिल जाते हैं। इन्द्र के बालपन का जो वृत्त ऊपर दिया गया है, वह भी ऐसे ही बाल-देवों के समकक्ष है। पैदा होते ही उसे माँ से पृथक् होना पड़ा है, तथा दूसरों के हाथों ही उसका पालन-पोषण हुआ है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। कुमार जो मूलतः बाल-देव ही हैं, उनकी स्थिति भी कुछ विचित्र है। उनमें मूलरूप में माता-पिता-हीनता का तत्व विद्यमान है, क्योंकि विविध वृत्तों पर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि पार्वती ने उन्हें गर्भ में धारण नहीं किया। उन्हें अग्नि ने धारण किया, इस भय से अग्नि कुछ काल तक भागती-छिपती फिरी थी तो अंगिरा ने धारण किया, तब अग्नि ने। वह भी उस तेज को धारण किये न रह सकी, गंगा जी को दिया, गंगाजी ने कृत्तिकाओं (षड्मातृकाओं) को दिया। उन्होंने उसका पालन-पोषण किया। सर-भू भी कुमार का नाम है, उन्हें सरपत से उत्पन्न माना है। इस प्रकार जब माँ ही नहीं तो, पिता कहाँ? पिता तो सदैव ही विकल्पित होता है।[7] फिर भी यदि पितृत्व स्वीकार भी किया जाय तो मातृहीन तो मानना ही पड़ेगा। ऐसे बालकों की कथा में यही होता है कि वह कई स्थानों पर पलता है। यहाँ पहले तो गर्भ ही कई स्थानों पर गया है, फिर 'षड्मातृकाओं' का विश्लेषण कर दें तो छः माताओं ने पालन किया।

उधर गणेश जी बाल देव के रूप में आते हैं, उनकी स्थिति कुमार से उलटी है। कुमार की माता नहीं थी, गणेश के पिता नहीं। बिना पिता के जन्म हुआ है—अर्थात् पिता नहीं। एक जंगल में एकांत गुफा में वह त्याज्य माता के साथ रहता है। यह सब लोक-कथा के अनुरूप है।

जैन वृत्तांतों में हनुमान-जन्म भी माँ की असहायावस्था में हुआ है। उनकी माँ अंजना

---

७. प्राचीन आरमीनियनों के आनुष्ठानिक गीतों में दैवी बालक के जन्म का यह वर्णन है—"आकाश प्रसव पीड़ा से पीड़ित था, पृथ्वी भी पीड़ित थी। और बैंजनी समुद्र प्रसव पीड़ा से पीड़ित था। रक्ताक्त समुद्र-सरपत अनिव-वेदना ग्रस्त था। पोली समुद्री सरपत के नरकुल ने धुंआँ निकाला। पोली समुद्री सरपत के नरकुल ने अग्नि की लपटें निकालीं। और उन अग्नि-शिखाओं से एक छोटा बालक पैदा हुआ।"

कुमार के अग्नि गर्भ से और सरपत से जन्म लेने से यह वर्णन कितना साम्य रखता है। 'माधवानल कामकंदला' के एक संस्करण में राजपुरोहित को शिव रेत के सरपत-आधान से उत्पन्न माधव नदी के किनारे प्राप्त हुआ है।

को सास-ससुर ने चरित्र-दोष के सन्देह में निकाल दिया था। ऐसी असहायावस्था में ही हनुमान जी का जन्म हुआ था। जैन क्षेत्र के 'प्रद्युम्न चरित्र' में प्रद्युम्न जन्म के समय ही माँ-बाप से पृथक् कर दिया गया। उसे एक दैत्य पूर्व जन्म की शत्रुता के कारण उड़ा ले गया और एक पत्थर के नीचे दबा दिया। वहाँ से उसे विद्याधर कालभँवर और उसकी पत्नी ले गये, और उसका पालन-पोषण किया। उसने बाल्यावस्था में ही अनेक अद्भुत पराक्रम दिखाये।

धर्मगाथा के क्षेत्र में ऐसे कितने ही बालकों का उल्लेख है जिन्हें असहायावस्था में दिखाया गया है। प्रह्लाद को भी धर्मगाथा में ऐसी असहायावस्था में दिखाया गया है जैसे उसके माता-पिता या अभिभावक हैं ही नहीं। स्वयं उसका पिता ही उसका शत्रु बन गया है। प्रह्लाद बालक को अनेक घातक कष्टों में से होकर निकलना पड़ा है। प्रह्लाद को पहाड़ से नदी में गिराया गया, जेल में भूखों मारा गया, आग में जलाया गया, उत्तप्त स्तम्भ से बाँधा गया, किंतु सब संकटों से वह बच गया।[८]

इसी प्रकार भारत में अनेक लोक-कथाएँ हैं जिनमें बालवीर का जन्म असहायावस्था में होता है, या जन्म के उपरान्त ही वह असहायावस्था या अनाथावस्था में पड़ जाता है। यह असहायावस्था या अनाथावस्था वाला बालक या तो बाल्यकाल में ही चमत्कार दिखाता है, या बाद में आकर अत्यन्त प्रबल दिखायी पड़ता है। (१) उदयन-कथा में मृगावती को गरुड़ उड़ा ले गया। पिता-रहित स्थिति में उसका जन्म हुआ। साधुओं के आश्रम में पालन-पोषण हुआ। (२) शकुन्तला को अप्सरा उड़ा ले गयी। पति से वियुक्तावस्था में भरत का जन्म हुआ। यह भरत सिंहों से खेलता था। (३) राजा नल के जन्म के समय उसकी माँ मंझा को राजा प्रमथ ने महल से निष्कासित कर दिया था। उसे चांडालों को सौंप दिया कि इसे मार डालो। पर चांडालों ने दया कर उसे छोड़ दिया। वह जंगलों में भटकती फिरी, ऐसे ही बियावान में हींस के लता-गुल्म में नल उत्पन्न हुआ। नाल काटने के लिए और जन्म के गीत गाने के लिए देवी आयी थी। तब

---

८. प्रह्लाद की इस बाल-कथा को 'कुल्लेर्वो' की कथा से मिलाइए। फ़िनिश (फ़िनलैंड की) पुराकालीन 'कुल्लेर्वो' नामक वीर की गाथा 'कलेवल' में दी गयी है। उन्टेमो नामक एक वीर ने अपने भाई कलेर्वो के समस्त वर्ग को नेस्तनाबूद कर दिया, केवल उसकी जवान पत्नी ही बच रही, वह गर्भवती थी। उसके पुत्र हुआ, जिसका नाम कुल्लेर्वो रखा गया। यह बालक तीसरे दिन ही पालने से उतर पड़ा और जब केवल तीन महीने ही का था और केवल घुटने तक ऊँचा था, तभी अपने पिता के शत्रु से बदला लेने का विचार करने लगा। अन्टेमों को पता चला तो उसने उसे मरवा डालने के कई यत्न किये—पहले एक बोतल में बंद कर लहरों में फेंक दिया गया। दो रातें बीत जाने पर देखा तो वह बोतल से बाहर निकल आया था। और लहरों पर बैठा ताँबे के दंड को लिये, उसके रेशमी डोरे को पानी में डाल कर मछली का शिकार कर रहा था। तब बहुत सी सूखी लकड़ी की भारी आग में डाल दिया गया, तीन दिन तक यह आग धधकती रही, तीसरे दिन भी वह उसमें जीवित था, बाल तक बाँका नहीं हुआ था। अब उसे पेड़ से बाँध दिया गया। यहाँ भी वह जीवित रहा—पेड़ पर बैठा चित्र बना रहा था।

मंझा और नल को एक सेठ साथ ले गया। उसके यहाँ दोनों का पालन-पोषण हुआ। बाल्यावस्था में ही नल ने दानव को मार कर मोतिनी से विवाह किया था।

अब इन समस्त रूपों की तुलना से यह स्पष्ट विदित होता है कि इसमें चार तत्व हैं—(१) परित्यक्तावस्था, (२) अजेयत्व, (३) द्वियौनत्व, (४) आदिअन्तैक्य। इनसे कथा के चार रूप प्रस्तुत होते हैं—(१) बाल-कथा, (२) वीर-कथा, (३) काम-कथा, (४) धर्म-कथा या मोक्ष-कथा। इन चारों तत्वों के योगायोग से भारत, यूनान तथा अन्य देशों की धर्म-गाथाएँ तथा लोकगाथाएँ पल्लवित हुई हैं—धर्मगाथाओं में यह बालक 'देवता' बन गया है, बाल-कथाओं में विलक्षण बालक। यह बाल-रूप वैयक्तिक मनोमूल का भी उतना ही परिणाम है जितना कि संग्रहीत मनोमूल का। संग्रहीत मनोमूल सृष्टि आदि मूल बालक का वाहन बना है। वैयक्तिक मनोमूल का आधार 'प्रथम मानव' है। इस समस्त सारणी को यों समझा जा सकता है—
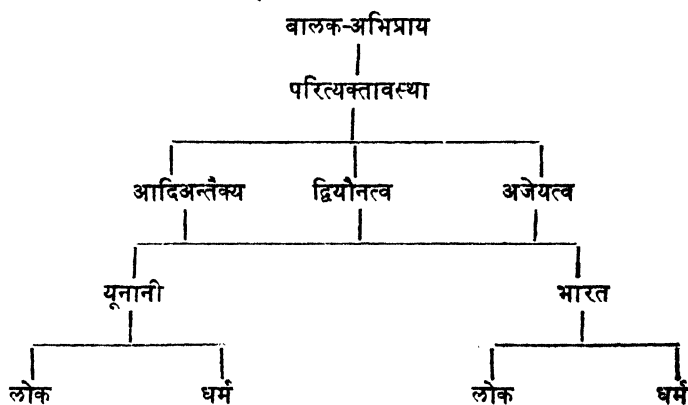
इस प्रकार इन लोकतत्वों के सूत्रों का विवरण और इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। (ज) तब इन तत्वों का साहित्य उसकी ऊँची से ऊँची अभिव्यक्ति में खोजना अपेक्षित होगा, क्योंकि जिस प्रकार साहित्यकार जानबूझ कर अलंकार, रीति, वृत्ति, छन्द, रस आदि का उपयोग करता है और अपनी अनुभूति उसके द्वारा प्रकट करता है वैसे ही अनजान और जान में वह इन लोकतत्वों का भी उपयोग अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए करता है। इन अनुभूतियों के इस माध्यम का किस कवि ने साहित्यिक सौन्दर्याभिवृद्धि के लिए किस प्रकार उपयोग किया है, यह जानना आज आवश्यक हो गया है, क्योंकि साहित्य-शास्त्र में जिन जड़ तत्वों के उपयोग से काव्य-सृष्टि के अध्ययन का उल्लेख हुआ है, उनका जीवन की गहराइयों से उतना संबंध नहीं। ऐसा ही अध्ययन धर्म और अस्थाओं का भी करना होगा। उनके लोक-विकास से साहित्य को और मानवीय सभ्यता को क्या मिला है, यह अनुसंधान भी अपेक्षित होगा।

§७. वस्तुतः मानव का समस्त प्रयत्न अपने स्वरूप की समग्र उपलब्धि के लिए है। इस उपलब्धि की सफलता के लिए लोकतात्विक अध्ययन आज अनिवार्य सा प्रतीत होता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

संत साधना में सीमा और असीम

सन्तों और योगियों की दृष्टि में यह सारा व्यक्त जगत् सीमा और असीम की क्रीड़ा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्व है जो उसे सीमा की ओर खींच रहा है, इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है? अरूप गतिमय असीम को सीमा में उपलब्ध करने का परिणाम । गति असीम है, तालों में बँधने पर वह सीमित हो जाती है और एक रूप ग्रहण करती है। सीमा और असीम के इस द्वंद्व को ही हम नृत्य के रूप में उपलब्ध करते हैं। स्वर अनन्त हैं, छन्द उसको सीमा में बाँधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बंधनों में बँधा हुआ स्वर ही काव्य और गान के रूप में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है। अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो, इस सीमा और असीम की केलि-लीला दिखाई दे रही है। मध्य-युग के संतों और भक्तों ने नाना भाव से इस तत्व को हृदयंगम किया है। किसी ने शिव-शक्ति के रूप में, किसी ने प्राण-अपान के रूप में, किसी ने चित्-अचित् के रूप में इस द्वंद्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव, सीमा से बँधा हुआ है, वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा में बाँध कर देखना चाहता है, यही उसके लिए सहज है और अरूप तत्व को या अध्यात्म-तत्व को इसी सहज भाषा में कहने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य के इस शरीर में यह ब्रह्माण्डव्यापी लीला चला करती है। इस ब्रह्माण्ड की इस विश्व-व्यापी लीला को ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति, अलेख और लेख, राम और जानकी, कृष्ण और राधा की लीलाओं के रूप में ग्रहण किया गया है। जीव इन नाम-रूपों के माध्यम से अनाम और अरूप को स्मरण करता है और प्राप्त करता है। दूसरा रास्ता नहीं, यही सहज मार्ग है। इसी मार्ग से चलता हुआ साधक नाम और रूप के बंधन से छूट कर 'स्वयं-रूप' हो रहता है।

यह क्या कभी संभव है कि जिसे वह शिव, ब्रह्म या राम कहता है, जिसे वह अरूप और अनाम तत्व मानता है उसे नाम और रूप के माध्यमों को छोड़ कर अन्य किसी माध्यमों से ग्रहण कर सके? शायद नहीं। परन्तु अरूप तत्व किसी-न-किसी दिन उसे दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्म-समर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय कर के अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित

तरंग-वारि-धारा में या ऐसे ही किसी संकटापन्न स्थान में अनायास फेंक देने के उल्लास से चंचल हो उठता है तो भगवान् के निर्मल प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह में दया, माया और त्याग-तप में, उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है वह बड़ा ही क्षणिक होता है। हर उड़ान को धरती नीचे खींच लेती है, हर गति को सीमा अपने में समेट लेती है। यदि हम कमल के ठोस आधार के बिना भी उसकी प्रफुल्लता को हृदयंगम कर लेते तो उस अनन्त, अपार, रूप-हीन, सीमा-हीन, अनवच्छिन्न (एक्स्ट्रेक्ट) प्रफुल्लता के माध्यम से अरूप तत्व को अनायास पा जाते—

हदै छाँड़ि बेहद गया, हुवा निरंतर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास ॥

इस दोहे में कबीरदास ने उसी अनाम, अरूप की ओर इंगित किया है। फूल के बिना क्या प्रफुल्लता की कल्पना की जा सकती है? सोचने से दिमाग़ में चक्कर आने लगता है। सूर्य के ठोस बिंब में जो ज्योति है उसे क्या उस ठोस की कल्पना किये बिना ध्यान में लाया जा सकता है? बड़ी कठिन साधना है। जगत् में हम इस अनन्त ज्योति को, अनन्त प्रेम को, अनन्त प्रफुल्लता को देख अवश्य लेते हैं, परन्तु क्षण-भर में वह विलीन हो जाती है। किस रूप में वह अरूप परम तत्व नहीं झलक जाता। प्रत्येक पिंड में वह मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में दिख अवश्य जाता है। जिस क्षण दिखाई देता है वह क्षण मनुष्य-जीवन का सब से सार्थक, सब से महत्वपूर्ण और सब से उत्तम क्षण होता है। खोजने वाला यदि कुछ अभ्यास करे तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। संपूर्ण रूप तो उसी ज्योति से परिपूर्ण है। उस असीम को नित्य सीमा में देखा जा सकता है; देखने की दृष्टि होनी चाहिए—

दादू अलख अलाह का, कुछ कैसा है नूर।
बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब पूर ॥

संपूर्ण रूपों को परिपूर्ण कर के वह वर्तमान है और सब से ऊपर है। वेदों की भाषा में कहें तो वह सब को व्याप्त कर के भी सब से दश अंगुल ऊपर रहता है। "स सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्"—सब को व्याप्त कर के सब से ऊपर। यह कहने की एक पद्धति-मात्र है। इसका भाव वही है जो कबीर ने कहना चाहा था। यह रूप के छोटे से अंश में झलक जाने वाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है।

प्रतिक्षण, प्रतिवस्तु में, प्रति क्रिया में उसे देखा जा सकता है। अभागे-से-अभागे मनुष्य के जीवन में कोई-न-कोई क्षण ऐसा आता है जिसमें वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है, प्रेम-स्निग्ध आचरण में उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसू में वह अपार पारावार उमड़ आता है और प्रफुल्ल प्राणों में वह आनन्द का महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है। परन्तु मनुष्य उसे हमेशा के लिए बाँध नहीं पाता। सब बंधनों में विराजते रहने पर भी वह निर्बन्ध है, विराट है, अरूप है। क्यों नहीं उसे चिरकाल तक बाँधा जा सकता है? कबीरदास ने बड़े दुःख से कहा था कि हाय, हाय, सीमा से अभिलक्षिता प्रिया जिस प्रेमिक के लिए नित्य व्याकुल हो कर खोजती फिरती थी, वही सौंदर्य और प्रेम का आश्रयस्थल आनन्द-

मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणों में कैसे लिपट जाएगी, तेरे कपड़े तो गंदे हैं और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है। एक क्षण की हिचक और अनन्त काल का वियोग! —

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पांइ॥

यह जो ऊपरी आवरण की गंदगी है, भीतर चित्त में जमी हुई मैल की किट्ट है, वही इस मिलन में बाधक है। साधना के द्वारा इसी मैल को दूर किया जा सकता है। अभ्यास के द्वारा चित्त की इसी गंदगी को साफ़ किया जाता है, क्योंकि जिस समय वह दिखाई दे जाय और उसके चरणों की पगध्वनि सुनाई दे जाय उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गंदगी के कारण होती है। उसीको दूर करने के लिए नाना भाव के साधनों का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नहीं है कि जो परम प्रेयान् तत्व है उसे कहीं बाहर से ढूंढ़ लाया जाय। परम प्रेयान् तत्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखाई देगा। कबीरदास ने कहा है—

मोंको कहाँ ढूंढ़ै बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तौ कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं जोग बैराग में।
खोजी होइ तौ तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में॥—कबीर, पृ० २३०।

नाथ साधकों ने अपनी विशिष्ट भाषा में इसी तत्व को इस प्रकार व्यक्त किया है कि यह जो सीमा और असीम का द्वंद्व है वही सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। जिस दिन इस अरूप और रूप का परिचय हो जाएगा, जिस दिन इनका द्वंद्व मिट जाएगा, दोनों समरस हो जाएँगे, वही परम चरितार्थता का दिन है। सच तो यह है कि भाषा-गत विभिन्नता और जटिल रूपकों की कल्पना के अन्तराल में वह एक तत्व मध्ययुग के सभी भक्तों में दिखाई दे रहा है। इसी तत्व को उपलब्ध करने का साधन है समरसीकरण। नाथ-साधकों ने और शाक्त-साधकों ने जो बात कही है उसकी भाषा और साधना-प्रणाली में भेद है, फिर भी मूल तत्व वही है। अरूप और रूप, अर्थात् शक्ति और शिव, जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जाएँगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टि-चक्र अपने आप निश्शेष हो जाएगा। शक्ति कुंडलिनी रूप से देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार रूप में इसी पिंड में स्थित है। नाथ साधकों ने कहा है कि कुण्डली जन्म-जन्मान्तरों के मल के भार से दबी हुई है। यह वही भाव है जिसे कबीरदास ने 'धण मैली' कह कर प्रकट करना चाहा है। नाथ और शाक्त साधकों का विश्वास है कि यदि मनुष्य गुरूपदिष्ट मार्ग में स्थित रह कर उसकी बताई विधियों से निष्ठापूर्वक आचरित ध्यान और धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोध कर पवित्र करे, तो फिर परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्म-रंध्र को ढँक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोयी हुई हैं। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो

प्रकार की है : स्थूल और सूक्ष्म। कहा गया है कि साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं। अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूल कुंडलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं, परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी परासंवित्, जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है, उसको पहचाने बिना परम-पद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध हो कर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को 'पिंड-ब्रह्माण्डैक्य' भी कहते हैं—तो योगियों की परम-काम्य कैवल्य अवस्था वाली 'सहज समाधि' प्राप्त होती है जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।

जो इस सहज समाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरणकमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति-सामरस्य ही—

अनुवुभूषति यो निजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः ॥—सि० सि० सं० ५५८।

यही सहज समाधि है। कबीरदास ने इसी को प्रकट करने के लिए कहा है कि—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तें उपजी दिन दिन अधिक चली ॥
जँह जँह डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा ॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खावँपियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखौं दूजा ॥
आँख न मूंदौं कान न रूंधौं तनिक कष्ट नहीं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुंदर रूप निहारौं ॥
सबद निरंतर से मन लागा मलिन बासना त्यागी।
ऊठतबैठत कबहुं न छूटै ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुखसुख से कोई परे परमपद तेहि पद रहा समाई ॥

योगमार्गी साधकों ने विवेक और वैराग्य पर अधिक बल दिया है। विवेक से सत् और असत् का ठीक-ठीक स्वरूप समझ में आता है, वैराग्य से असत् का त्याग होता है। किन्तु केवल वैराग्य मात्र पर्याप्त नहीं है। अन्तरतर में बैठे हुए परम देवता के साथ जब तक प्रीति-सम्बन्ध का भाव उदित नहीं होता, तब तक सिंहद्वार बन्द ही रहेगा और उस महाप्रेमिक का भक्त के हृदय के अन्तःपुर में प्रवेश करना कठिन ही रह जाएगा। इसीलिए सिंहद्वार का खुलना आवश्यक है—

सुरति समाणी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुलि गया स्यंभ दुवार ॥

संतों के साहित्य में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत मिलेंगी जिन्हें मूल तत्व के समझे बिना अटपटी, बेतुकी और निरर्थक मान लिया जा सकता है। अस्तु।

योग-प्रथित साधनाओं का जो रूप है वह नाना भाव से एक ही विषय की ओर संकेत

करता है। मनुष्य के प्राण (अर्थात् वायु), वाक्, मन और बुद्धि बहिर्मुख हैं, उन्हें अन्तर्मुख करके साम्यावस्था में ले आना ही योग है। संसार भर के जीव इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति में उलझे हुए हैं। उस बहिर्मुखी प्रवृत्ति से उन्हें बचना है तो धारा को उलटना होगा। जो बहिर्मुख है वह अन्तर्मुख होने पर ही धन्य हो जाता है। सारा भ्रमजाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है। यही समस्त दुःख और क्लेश का हेतु है। इससे निरत हो कर अन्तर्मुख होने की प्रकृति का नाम ही निरति है। अन्तर्मुखी वृत्ति निरति है और भीतर पैठने का और मन और पवन को समरस करने का नाम समाधि है। योगी यहीं आकर रुक जाता है। शुद्ध चैतन्य अपने को 'केवल' चैतन्य के रूप में उपलब्ध कर ले तो उसे 'केवल' प्राप्त हो जाता है। परन्तु क्या सारी साधना का आडंबर इतने के लिए ही है? क्या चित् का यह अहेतुक औत्सुक्य जो मनुष्य को इतना कुछ करने के लिए यत्नशील बनाता है सिर्फ़ इसीलिए है कि समझ लिया जाय कि वह कुछ नहीं था? यह अकारण, अहेतुक उल्लास किसी और गहरी बात की ओर इंगित नहीं करता? कब तक टिकेगी यह निराधार निरर्थक समाधि? जन्म-मरण का यह चक्र, कर्म और भ्रम का यह जंजाल क्या इतना ही कमजोर है कि सिर्फ़ केवल चिन्मात्र की उपलब्धि के बाद निरस्त-तेज हो जाएगा? सन्त साधक कहता है कि यहीं रुकना खतरे से खाली नहीं। और गहराई में कोई प्रेमी है, उसे पहचानना आवश्यक है, उसे जब तक नहीं पहचाना जाता तब तक योग अधूरा है। 'उनमनि' को तारी टूटते ही फिर संसार का बन्धन नीचे की ओर खींचता है। 'सुरति' मूल रूप में स्मरण या स्मृति ही है, पर स्मृति किसकी? अन्तरतर में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की? बिरले ही योगी उसे पहचान पाते हैं। अगर निर्भय-निश्शंक भाव से उस आयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाता है तो सुरति को प्रेमरूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय की सुरति (स्मृति) से सुरति (सु-रति—परमाप्रीति) नहीं प्राप्त होती तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है, सुरति साधार है। निरति और सुरति का, या प्राण-मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। यह लक्ष्य है प्रिय-समागम। योग-साधना केवल पाँच इन्द्रियों, मन और प्राण के बहिर्मुख की रोक है। सही लक्ष्य है प्रिय-समागम। उस प्रिय की पुकार का ही फल है कि मनुष्य साधना-मार्ग की ओर अग्रसर होता है—

> कर्म औ मर्म संसार सब बस्तु है, पीव की परख कोइ संत जानै।
> सुरत और निरत मन पवन को पकरि के, गंग औ जमुन के घाट आनै।
> पांच को नाथ करि साथ सोऽहं लिया, अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
> कहै कबीर सोइ संत निर्भय धरा, जन्म औ मर्न का भर्म मानै।

सुरति-साधना स्थायी सिद्धि—प्रीति—प्रदान करती है।

लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। योग-साधना हमें शब्द और अर्थ की गहराई में ले जाती है। यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है, पर अर्थ क्या केवल अर्थ है? वह अपने आप में क्या कोई भाषा नहीं है? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चंद्रकिरणें शाम तक रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं? ये क्या कुछ कह नहीं जातीं? किसके लिए यह आयोजन है? इतना रंग, इतना

राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत् में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है वह क्या निरर्थक अर्थ मात्र है ? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है तो क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलाता रहता ? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने को व्याकुल वेदना क्या उनमें नहीं सुनाई पड़ती ? कवि जो भाषा सुना करता है वह क्या केवल पागल मन का विकल्पमात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं वे क्या सब का ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं ? कौन बताएगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सुकी भाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत् जो इतना रागमय है, छन्दोमय, वर्णमय है, ध्वनिमय है वह व्यर्थ है ? नहीं। 'व्यर्थ' अर्थात् अर्थ-शून्य, निरर्थक। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति, इतना व्याकुल कंपन उठा करता है वह पराशक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है, हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कंपन और आत्मनिवेदन मानव हृदय के अन्तरतर में विलसित हो रहा है।

सन्त-साधक मानता है कि ऊपर जिसकी चर्चा की गयी है उस सहज समाधि को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हो सकते हैं। कुछ मार्गों की जानकारी हमें प्राप्त है, परन्तु और भी सहस्रों मार्ग हैं। यदि इस मूल-तत्व को ध्यान में रखा जाय, तो किसी मार्ग के समझने में बहुत कठिनाई नहीं होगी। जब किसी मार्ग का अनुयायी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयों की सीमा में बँधी हुई किसी भी प्रक्रिया, मंत्र, नाम, मूर्ति, ध्यान आदि को अपने आप में ही चरम लक्ष्य मान ले तो समझना चाहिए कि वह ग़लत रास्ते जा रहा है। मूल वस्तु है हृदयस्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में निरंतर व्यक्त होते रहने वाले परम प्रेयान् के वास्तविक, असीम, अनन्त रूप को जगत् में अभिव्यक्त होने वाली अनन्त वासनाओं, विद्याओं और कर्मों के साथ एक रूप कर के देखने की योग्यता प्राप्त करना। बाक़ी सब साधन हैं। साध्य यही है। जिस कारण से भी यह स्थिति प्राप्त हो सके वही स्वागत योग्य है। गुरु की कृपा से चित्त में उस परम प्रेयान् को पाने की व्याकुलता जग सकती है परन्तु अनाड़ी गुरु साधन को ही साध्य बता कर मार्ग रुद्ध कर सकता है। इसलिए सहज मार्ग तो यह है कि जब कभी संयोग से या भाग्य से किसी रूप में वह अरूप सौंदर्य झलक जाय, उसी क्षण उसे ही अपना गुरु मान लिया जाय। मानव-गुरु इस वास्तविक गुरु को प्राप्त कराने में सहायक हो सकता है। गुरु रूप में वह जब आता है तो क्षणिक दर्शन के बाद भी चित्त में अद्भुत व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। जिस दिन यह व्याकुलता आ जाय, जिस दिन एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाय उसी दिन को सच्चा प्रेमोदय का काल समझना चाहिए। साधारण व्यक्तियों के सच्चे प्रेम में भी यह क्षण-दर्शन-जन्य व्याकुलता और उसकी तड़प दिखाई दे जाती है। फिर वह व्यक्ति तो धन्य है जो इस तत्व में रमा हुआ है कि उसे साहचर्य ही अधिक और वियोग ही कम मिलता है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी को देख कर पुरुरवा के चित्त में उत्पन्न हुई व्याकुलता से इस तत्व की ओर इंगित किया है।

पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि 'हे सुन्दरि, दैवयोग से एक क्षण के लिए भी तुम जिस मनुष्य के अबन्ध्य नयनों के सामने उपस्थित हो जाती हो वही तुम्हारे लिए व्याकुल हो जाता है। फिर जो सखियाँ निरन्तर साथ रहने के कारण ही स्नेहार्द्र हैं उनकी तो बात ही क्या है'—

यदृच्छया त्वं सकृदप्यबन्ध्ययोः, पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्, सखीजनस्ते किमुनार्द्रसौहृदः॥

इसी प्रकार की व्याकुलता जिस दिन पिंड-स्थित शोभा या प्रीति को देख कर ब्रह्माण्डस्थित शोभा और प्रीति के लिए उत्पन्न हो जाय वही दिन धन्य होता है। इस विरह के बिना मनुष्य का जीवन निष्फल है। उसका होना भी क्या, न होना भी क्या? जिस हृदय में यह प्रेम की व्याकुलता नहीं है वह है भी तो क्या, नहीं भी है तो क्या? वह श्मशान है। कबीर ने कहा है कि—

बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥

सच्चा गुरु इसी व्याकुलता को जगा देता है। इस प्रकार सांसारिक दृष्टि से जो व्यक्ति सुखी था, वह देखते-देखते असुखी और व्याकुल हो जाता है। यह सत्गुरु की कृपा है, या कसकर मारा हुआ बाण। इस शब्द की चोट से गुरु जब मारता है तो उसका बाण हृदय को आरपार कर के बेध देता है। यही व्याकुलता साधना का वास्तविक आरंभ है। जिसे गुरु का बाण लग जाता है वह व्यवहार की दुनिया से समाप्त ही हो जाता है। बड़ी जबरदस्त चोट होती है यह—

सतगुरु मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि,
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दुआ सूँ फूटि।
मारया है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि,
पडया पुकारै बृक्ष तरि, आजि मेरै कै काल्हि॥

इसी व्याकुलता से मनुष्य का जीवन चरितार्थ होता है। सहज साधना इसी व्याकुलता को जगा देने से स्वयं अग्रसर होने लगती है। नाम के साथ नामी जुड़ा हुआ है, व्याकुल भाव से उच्चरित नाम नामी को खींच लाता है। 'मंत्र' क्या है? शब्द द्वारा अभिव्यक्त अर्थ के साथ मानस योग। मंत्रशास्त्र में बताया गया है कि जब तक अभीष्ट अर्थ के साथ मानस संयोग नहीं होता तब तक मंत्र से सिद्धि नहीं मिलती। इसे ही 'मंत्र-चैतन्य' कहते हैं। मंत्र के साथ चेतन-संबंध ही मंत्र-चैतन्य है। सन्त 'नाम' और 'सुमिरन' के द्वारा इसी चैतन्य को उद्बुद्ध करता है।

'मन्त्र-चैतन्य' के इस सिद्धान्त को यदि हम ठीक पकड़ लें तो बहुत-सी और बातें आसान हो जाएंगी। मन्त्र-साधना करने वाले अनेक प्रकार के यन्त्रों की भी साधना करते हैं। अनेक प्रकार को टेढ़ी-सीधी लकीरों के यन्त्र को देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति हैरान हो कर सोचता है कि यह कैसा ऊलजलूल प्रयास है। क्या कहीं इन ज्यामितिक आकृतियों की कोई आध्यात्मिक व्याख्या हो सकती है? क्या इन जंतरों का तावीज पहनने से कोई सिद्धि मिलती है? मगर जैसे 'छू मन्तर' वाले अधकचरे ओझों ने मन्त्रतत्व को समझने में बाधा खड़ी की है उसी प्रकार यंत्रों को भी अविश्वसनीय बना देने में सहायता की है। 'यंत्र' शब्द का अर्थ है संयमित या केन्द्रित करना। यह भी मंत्र के समान समझ में आने योग्य बात है।

यन्त्र-मन्त्रं की साधना करने वालों के मूल विश्वास को स्मरण कीजिए। किसी शब्द के अर्थ का यदि ध्यान किया जाय, उसके साथ 'चैतन्य' का संपूर्ण योग साध लिया जाय तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान शक्ति के केन्द्र हैं। अभिलषित सिद्धि के लिए अभिलषित शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। ध्यान के द्वारा अभीष्ट देवता को उत्पादित देवता के रूप में कार्य-सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जा सकता है। अब, शरीर के जिस केन्द्र में स्थित शक्ति को उद्‌बुद्ध करना है उसका ठोक-ठोक परिज्ञान हो तो ध्यान केन्द्रित करने में सहायता मिलती है। 'यंत्र' मूल रूप में विभिन्न शक्ति-केन्द्रों के मान-चित्र के समान हैं जो साधक को अभीष्ट शक्ति के उद्‌बुद्ध करने की साधना में सहायक हैं। 'यंत्र' कहने का मतलब ही है मन को संयत कर के केन्द्रित करने का प्रयास। इस प्रकार की केन्द्रित चेतना मंत्र-सिद्धि में सहायक हो, यह बिल्कुल समझ में आने वाली बात है। परन्तु जो लोग इस तत्ववाद को समझे बिना केवल भोजपत्र पर बनी लकीरों को ही सब-कुछ मान लेते हैं, वे बिस्मिल्ला ही ग़लत बोल देते हैं। उनकी ओर ध्यान देंगे तो मूल तत्ववाद छूट जाएगा। वस्तुतः यंत्र भी मन्त्र-चैतन्य का सहायक हो कर ही कृतकार्य हो सकता है। यंत्र और मंत्र एक ही चैतन्य जागरण के साधक हैं। 'तंत्र' का अर्थ है विस्तार। जब शक्ति एक स्थान पर उद्‌बुद्ध हो जाय तो उसे संपूर्ण देह के बिभिन्न केन्द्रों में प्रसारित करने की प्रक्रिया ही तंत्र है।

स्पष्ट है कि यह चैतन्य-संयोग, उसका केन्द्रीकरण और फिर उसे संपूर्ण देह में व्याप्त करना ही मूल बात है। सन्त-साधकों ने इस मूल तत्व को पकड़ लिया है। यही वह 'हरि-सागर' है जिसे न भूलने का उपदेश कबीरदास नाना भाव से दे गये हैं। छोटी-छोटी सिद्धियाँ 'छीलर' हैं—क्षुद्र जलाशय। जिसे समुद्र मिल गया है उसके लिए छिछले ताल-तलैयों का क्या मूल्य है?

मन्त्र-चैतन्य को सन्त-साधकों ने 'सुमिरन' कहा है। यह नहीं समझना चाहिए कि वे छोटी-मोटी सिद्धियों को भगवान् की अंशगत महिमा मानते ही नहीं। कैसे अस्वीकार किया जा सकता है कि भगवान् की ये विभूतियाँ हैं ही नहीं। पर उन्हीं को सब कुछ मान लेना वैसा ही है जैसा प्यास बुझाने के लिए ओस पर निर्भर करना। ओस भी जल का ही रूप है, ठीक है, पर प्यास उससे नहीं बुझती—

जिहि हरि जैसा जांणियाँ, तिनकूँ तैसा लाभ।
ओसाँ प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ॥

सच्चे प्रेम से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिसे सच्ची व्याकुलता प्राप्त है वह विधि-निषेधों के बंधन में नहीं बँधा रहता। लोक-लाज और शास्त्र के प्रति निष्ठा भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। सहज साधक के लिए यह प्रेम ही बड़ी चीज़ है। किसी प्रकार का ऊपरी दिखावा, मानसिक संकोच, प्रयत्न में झिझक और उपलब्धि में हिचक, इस सच्चे प्रेमिक को परिपूर्ण आत्मसमर्पण के मार्ग से विचलित नहीं कर सकता। वह सती ही क्या जो लाज से चिता पर न चढ़ सके—

बिरहिणि थी तो क्यों रही, जली न पिव के नालि।
रहु रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि॥

जिसके चित्त में प्रेमोदय-जन्य व्याकुलता आ जाती है उसका होना सार्थक हो जाता है। मनुष्य का होना, उसकी सत्ता, यही तो भाव है—भाव, अर्थात् होना। भावों के आधार पर ही मनुष्य जीता है। भाव की चरितार्थता, जैसा पहले ही बताया गया है—किसी के लिए होने में हैं। जो होना केवल होने के लिए है, केवल सत्ता मात्र है, जो दलित द्राक्षा की तरह से निचोड़ कर अपने आपको किसी के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के लिए व्याकुल नहीं है उसका होना व्यर्थ ही है। उससे तो न होना अच्छा—

कै बिरहिनि कूं मींच दे, कै आपा दिखराइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ॥

सगुण मार्गी वैष्णव साधकों ने इस प्रेम-साधना को एक दूसरा ही रूप दिया है। मूल-तत्व यहाँ भी वही है—भगवान् की लीला। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप उसका एक अंग है; इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है जो उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते हैं, परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है। अवतार का सिद्धान्त असीम को सीमा में उपलब्ध करने का एक सुलभ मार्ग है। सन्तों के साहित्य में अनेक रूप में यह लीला व्यक्त हुई है।

इस प्रकार सन्तों ने सीमा और असीम के मिलन-व्यापार को अत्यन्त मार्मिक प्रेम-साधना का रूप दिया है।

●

विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि

मध्ययुग को सांस्कृतिक दृष्टि से ह्रास का युग स्वीकार करने पर भी भक्तिसाधना और साहित्य की दृष्टि से वह उत्कर्ष और अभ्युदय का युग माना जाता है। इस युग में देश के प्रायः सभी भागों में बड़े-बड़े तत्वज्ञानी, दार्शनिक, मननशील गंभीर विचारक, उच्च कोटि के साधक और वीतराग भगवद्भक्त पैदा हुए। विद्वान् पंडितों और शास्त्रवेत्ताओं से लेकर निरक्षर साधु-सन्तों तक ने भगवद्भक्ति के सम्बन्ध में अपने शास्त्रसम्मत अथवा स्वानुभूति-निर्भर स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये। योग, तन्त्र, साधना, कर्मकांड आदि के साथ सगुणोप्रासना के लिए पूजन, अर्चन, प्रपत्ति और दैन्य, कार्पण्य आदि का मार्ग ग्रहण किया गया। सगुणोपासना से पूर्व वैदिक, तान्त्रिक, श्रौत और मिश्र चार प्रकार की उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। वृद्धहारीत स्मृति में श्रौत, स्मार्त और आगम तीन प्रकार की उपासना-पद्धतियों का उल्लेख है। इन विविध उपासनाओं के भीतर से ही सगुणोपासना का प्रादुर्भाव हुआ। किसी बाह्य प्रभाव से सगुण या समूर्त को स्वीकार नहीं किया गया। आराधना की प्रक्रिया या प्रकार पर संहिताओं में विस्तार से विचार किया गया है। अत्रिसंहिता के अनुसार आराधना की दो प्रक्रियाएँ हैं: अमूर्त और समूर्त। अग्नि में आहुति के माध्यम से उपासना अमूर्त आराधना है। यह ब्राह्मण-काल के यज्ञ-हवन का ही रूप है। प्रतिमा-पूजन समूर्त आराधना कही जाती है जो यज्ञकाल के बाद प्रचलित हुई। कदाचित् अमूर्त आराधना को याज्ञिक रूप में स्वीकार करने के कारण ही यज्ञों से मूर्तिपूजा का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। प्रतिमा-पूजन का प्रारम्भ कब से हुआ, यह एक विवादास्पंद प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे द्राविड़ी पद्धति सिद्ध किया है और कुछ विद्वान् इसे भागवत सम्प्रदायों की ही देन ठहराते हैं। जैन और बौद्धों में भी प्रतिमा-पूजन बहुत प्रारम्भ से चला आ रहा है। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि समूर्त आराधना का आलम्बन प्रतिमा-पूजन किस युग में प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव भक्ति में स्वीकृत माधुर्य भाव के मूल बीज वैदिक भक्ति या ब्राह्मणकालीन यज्ञ-यागादि में खोजना कदाचित् द्राविड़ प्राणायाम समझा जायगा अतः हम उन्हीं मूल स्रोतों का अवगाहन करना समीचीन समझते हैं जिनमें माधुर्य भक्ति के तत्व स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं। भागवत सम्प्रदाय के नाम से पांचरात्र मत के उपासकों का ग्रहण होता रहा है। 'पांचरात्र' ग्रंथ के लेखक चित्रशिखंडी आदि सात ऋषियों को माना जाता है। यह निर्णय करना तो कठिन है कि पांचरात्र-संहिताओं की रचना किसने की, किस काल में की, और कितनी संहिताएँ पांचरात्र के अन्तर्गत हैं किन्तु सामान्यतः इनका रचनाकाल 'महाभारत' से पहले का माना जाता है। कुछ

संहिताएँ बाद में भी रची गयीं और पांचरात्र के भीतर ही उनका परिगणन होता रहा। इन संहिताओं में भक्ति का वर्णन-विवेचन जिस रूप में हुआ है, यदि उसको माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि में रख कर अनुशीलन किया जाय तो बड़े विस्मयकारी तथ्य सामने आते हैं। पांचरात्र-संहिताओं में चार विषयों का वर्णन माना जाता है जिसे ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद के नाम से व्यवहृत करते हैं। ज्ञानपाद में ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण आता है, योगपाद में यौगिक क्रियाओं का वर्णन है, क्रियापाद में मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण की विधि, मूर्ति-स्थापन, पूजन आदि का समावेश रहता है, और चर्यापाद में नित्य नैमित्तिक कर्म, पूजन-विधान, वर्णाश्रम धर्म, पर्व आदि का वर्णन रहता है। किन्तु क्रियापाद और चर्यापाद ही संहिताओं का मुख्य विषय बन गया था जो परवर्ती सगुणोपासना में बड़े समारोह के साथ गृहीत हुआ। वल्लभ-सम्प्रदाय और राधावल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-पूजा-पद्धति में 'चर्या' का बाहुल्य देख कर कुछ विद्वानों को उसके ऊपर मुग़लकालीन विलास-वैभव के प्रभाव का भ्रम हुआ था; यथार्थ में पांचरात्र-संहिताओं के चर्या भाग में इन विधियों का प्रचुरता के साथ वर्णन हुआ था, वही परवर्ती काल में विस्तार को प्राप्त हुआ।

'जयाख्य संहिता' में समूर्तार्चन का विस्तार करते हुए उसके दो भेद किये गये हैं : एक समाधि-उपाय और दूसरा मंत्र-उपाय। मंत्रोपाय को समाधि-उपाय से श्रेष्ठतर कहा गया है। मंत्र को विष्णु की साक्षात् शक्ति माना गया है। मन्त्र-शक्ति का सर्वप्रथम प्रकाश नाद रूप होता है जिसे केवल महायोगी ही अनुभव करता है। नाद के बाद बिन्दु आता है। नाद और बिन्दु, नाम और रूप की अभिव्यंजना करने वाले हैं। इनको निर्गुणोपासना में बहुत उच्च स्थान मिला, किन्तु नाद को मन्त्र रूप में सगुणोपासक भी मानते रहे। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में शरणागति के छः प्रकारों का वर्णन किया गया है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्,
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

यह षड्विध शरणागति माधुर्यभक्ति के पूर्व की स्थितियों में प्रपत्ति या पुष्टि का परिचय देने वाली है। इस संहिता में प्रभु की शक्ति को उससे अभिन्न स्वीकार किया गया है। इस शक्ति को लक्ष्मी, श्री, कमला, रति, शिवा, नारायणी, विष्णु-शक्ति आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

पांचरात्र-संहिता के अन्तर्गत 'ज्ञानामृतसार' नामक संहिता है। इसका रचनाकाल संदिग्ध है। विषयवस्तु को देख कर इसे मध्ययुग के पूर्वभाग का स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें प्रभु-सेवा की छः विधियाँ वर्णित हैं जिनमें स्मरण, कीर्तन, प्रणति, पादवन्दन, अर्चन और समर्पण हैं। इसमें कृष्ण की प्रिय गोपिका राधा का भी वर्णन हुआ है।

पांचरात्र-संहिताओं का अनुसरण करने वाली उपनिषदों का भी मध्ययुग के उत्तर भाग में निर्माण किया गया जिनमें 'नृसिंहतापिनी', 'रामतापिनी', 'गोपालतापिनी' आदि उपनिषदों का वैष्णव भक्ति के माधुर्य भाव में बड़ा योगदान रहा। पांचरात्र संहिताओं के विवेचन में भक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन हुआ वह परवर्ती काल में अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

शंकराचार्य और अप्पय दीक्षित ने पांचरात्र संहिताओं को उनके वर्ण्य विषय के आधार पर अवैदिक बता कर उनकी पद्धति का तिरस्कार किया है। फलतः शंकर के विरोध में विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार करने वाले रामानुजाचार्य ने पांचरात्र मत को वेदों के समान स्वतः प्रमाण माना और उसका समर्थन किया। इस तथ्य से एक बात स्पष्ट होती है कि पांचरात्र मत भक्ति पर आश्रित था, ज्ञान मार्ग का ग्रहण होने पर भी एकान्त रूप से ज्ञान में उसकी आस्था नहीं थी। क्रिया और चर्या द्वारा उसने ज्ञान, क्रिया और इच्छा के समन्वय की चेष्टा भक्ति मार्ग द्वारा की थी। इस भक्ति मार्ग के उन्मेष में ही माधुर्य भाव के बीज का भी संधान किया जा सकता है। पांचरात्र मत में क्रिया और चर्या के अतिरिक्त प्रेम और माधुर्य को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया था।

वैखानस आगम भी वैष्णव साधना के प्रेरक रहे हैं किन्तु उनका माधुर्य भक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। वैखानस आगम वैदिक परम्परा के समीप बने रहे और मर्यादा मार्ग पर चल कर आराधना का विधान करते रहे। मरीचि के अनुसार आराधना के चार प्रकार हैं—जप, अग्निहोत्र, अर्चना, ध्यान। याज्ञिक कर्मकाण्ड वैखानस मत में विशेष रूप से मान्य रहा। अतः माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि में इनका योगदान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मध्ययुग में शैव और शाक्त मत का प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। शासक वर्ग में शैव धर्मानुयायी वैष्णवों की अपेक्षा अधिक थे। किन्तु बढ़ते हुए वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण उत्तर मध्ययुग में शैव धर्म राजकीय स्तर पर तो सम्मानित रहा, फिर भी जन सामान्य ने वैष्णव धर्म के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था। शैवागम और शाक्त तंत्रों की साधना-पद्धति का आंशिक प्रभाव माधुर्य भक्ति के राधा-तत्व पर अनेक विद्वानों ने दिखाया है। शैवों में शिव-शक्ति की जैसी कल्पना है और शाक्तों में त्रिपुरसुन्दरी का जो रूप वर्णित हुआ है उसे राधाभाव, गोपीभाव आदि के साथ मिला कर देखने का आग्रह अनेक ग्रन्थों में देखा जा सकता है। युगल तत्व या युगनद्ध भाव के मूल बीज भी शैव और शाक्तों की साधना-पद्धति में उपलब्ध होते हैं। तन्त्र में कृष्ण को कामबीजात्मक और राधा को रतिबीजात्मिका कहा गया है। "युगनद्ध वह स्थिति है, जहाँ संक्लेश और व्यवधान की अभिज्ञा के द्वारा संसार का सर्वथा निरसन हो जाता है, परम निवृत्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह ग्राहक और ग्राह्य का, सान्त और अनन्त का, प्रज्ञा और उपाय का, शून्यता और करुणा का, पुरुष और नारी का पूर्णतः सम्मिलन-सामरस्य है।" बौद्ध तान्त्रिक साधना, सहजिया साधना, वैष्णव सहजिया साधना—सब में युगल रूप का वर्णन है जिसे माधुर्य भक्ति में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। तान्त्रिक साधना में शिव-शक्ति के मिलन द्वारा उत्पन्न केवलानन्द ही परमसाध्य माना गया है। गोपीनाथ कविराज ने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि—"प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्व अथवा शिव और शक्ति हैं, त्रिपुरा सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौड़ीय दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं।" तन्त्र में परकीया-साधना का जैसा कामलिप्त वर्णन मिलता है उसे यान्त्रिक रूप से हटाकर माधुर्य भाव में प्रेम का साधन बनाया गया।

बौद्ध तान्त्रिक साधना का भी माधुर्य भक्ति के विकास में अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। बौद्ध

सहजिया सम्प्रदाय वास्तव में मधुर भाव का पोषक था। बौद्धों की महायान शाखा के अन्तर्गत मन्त्रयान और वज्रयान भेदों का उदय हुआ। वज्रयान का ही नाम सहजयान हुआ। योगी साधना द्वारा सहज स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। इस सहज स्थिति की प्राप्ति गुरु कृपा से मानी गयी है। वज्रयान के प्रमुख ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतन्त्र' में कठोर कर्मकाण्ड, नियम-पालन और मर्यादाओं की सर्वथा अवहेलना करके कामनाओं के उपभोग का उपदेश दिया गया है। यही उपदेश परवर्ती वाममार्ग के लिए पथप्रदर्शक हुआ होगा।

दक्षिण भारत के आलवार भक्तों के मनमोहक गीतों में माधुर्य भक्ति का सुन्दर रूप देखने में आता है। आलवारों के चार सहस्र गीत बताये जाते हैं जिन्हें 'नालायर प्रबंधम्' में नाथमुनि ने संकलित किया है। इस प्रबन्ध का आदर दक्षिण भारत के वैष्णव समाज में वेदों के समान है। छठी शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक इनका रचना-काल माना जाता है। बारह आलवार भक्तों ने इन गीतों की अपने उल्लास के क्षणों में रचना की है। आलवार भक्तों के गीतों की मर्मस्पर्शिता उनकी मधुर भाव-व्यंजना में है। मधुर भाव की व्यंजना के लिए आलवार भक्तों ने जीवात्मा को नायिका और परमात्मा को नायक रूप में स्वीकार किया है। आलवार भक्त अपने प्रियतम (कृष्ण) के सदृश श्याम वर्ण वाले मेघों को देख कर आनन्द का अनुभव करता है और हंस से प्रिय के पास संदेशा ले जाने के लिए निवेदन करता है। इन भक्तों में नम्मालवार, शठकोप, अंजल, गोदा और तिरूमंगई के गीत मधुर भाव की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में आलवार भक्तों के सम्बन्ध में विचार करते हुए माधुर्य भाव की छाया का संकेत किया है। आलवारों में तिरुमंगई ने सब से अधिक गीतों की रचना की है और मधुर भाव का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से इनके गीतों में दृष्टिगत होता है। एक गीत में वे कहते हैं—'हे कमनीयकान्त, मैं इस बात की शपथ कर रही हूँ, जिससे सब लोग इसे सुन लें कि जब तक वह विराट रूप धारी जिसने विश्व को दीर्घकाय बनकर नाप लिया था, मेरे सुन्दर और पूर्ण यौवन का रसास्वादन नहीं करता, मैं अचिरात ही उस कदम्ब वृक्ष के समीप जाऊँगी, उसकी लताओं में अपने को बाँध कर आत्मघात कर लूँगी।' यह विरह भाव से उत्पन्न एक ऐसी मनो-विकृति का चित्र है जिसमें नायिका (जीवात्मा) परमात्मा का वियोग सहने में अपने को असमर्थ पा रही है।

सूफ़ी साधकों में भी माधुर्य भाव की झाँकी देखी जा सकती है। सूफ़ी अपने प्रेम को 'ईश्वरीय प्रेम' की संज्ञा देते थे। सूफ़ियों ने अपने ईश्वर को प्रियतमा का रूप दिया और उसकी प्राप्ति के लिए स्वयं साधक प्रिय बनकर भटकने का बीड़ा उठाया। सूफ़ियों में राबिया का उल्लेख मिलता है जो अपने प्रियतम से मिलने को निशीथ में अपने घर की छत पर जा कर परमात्मा का सम्बोधन कर, विरह कातर हो ऊँचे स्वर से पुकार कर कहती है—'हे ईश्वर! संसार का कोलाहल शान्त हो गया है, प्रेमी अपनी प्रिया के साथ है, मेरा तो तू ही एकमात्र प्रेमी है, फिर तू क्यों मुझसे मिलने को नहीं आता ?' जायसी ने अपने 'इश्क़ हक़ीक़ी' के वर्णन में जिन परिस्थितियों की उद्-भावना की है वे प्रेम की सांसारिक स्थितियों के उन्नयन द्वारा ही की गयी हैं। यथार्थ में सूफ़ियों का प्रेम ईश्वरीय था, किन्तु उसमें लौकिक प्रेम की झलक इसलिए बनी हुई थी कि वह लोक-कथाओं

के माध्यम से व्यक्त हुआ था। स्मरण रहे कि माधुर्य भाव का आधार लोक-जीवन से सर्वथा असम्पृक्त नहीं होता।

मध्ययुगीन निर्गुण सन्तों की अभिव्यक्तियों में माधुर्य भाव का पुट देखा जा सकता है। दाम्पत्य-सम्बन्ध के रूपकों की भरमार तो कबीर, दादू, नानक आदि सभी में मिलती है। दाम्पत्य भाव को पृष्ठभूमि में रख कर आलंकारिक शैली से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन निर्गुण धारा में क्यों प्रवर्तित हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में प्रेम की अभिव्यंजना के लिए लौकिक रूपकों के आश्रय की परिपाटी पड़ गयी थी। कबीर ने तो 'भरतार और पिया', 'राम की बहुरिया' और 'प्रियतमा' आदि सभी का वर्णन किया है। निर्गुणोपासक सन्तों ने स्वकीया रूप से माधुर्य भाव की भक्ति व्यंजित की है, परकीया को स्वीकार नहीं किया। माधुर्य भाव की व्यंजना रससिक्त होने तथा प्रेम के स्वरूप को हृदयंगम कराने में अधिक समर्थ है, इसी कारण निर्गुणोपासक भी इसकी अवहेलना न कर सके। किन्तु माधुर्य भाव के मर्यादारूप में इनका अटूट विश्वास था। उच्छृंखल प्रेम और अनैतिक आचरण का वर्णन इन सन्त कवियों के लिए सर्वथा असम्भव था। नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय में भी नैतिकता का आग्रह प्रबल होने के कारण नारी को उच्च स्थान नहीं मिला था। कौल, पाशुपत, कापालिक आदि मतों में सहज साधना का वर्णन करते हुए पुरुष और नारी के माध्यम से मधुर भाव की अभिव्यक्ति हुई है। परवर्ती वैष्णव सहजिया-सम्प्रदाय में तो मधुर भाव परकीया भाव के माध्यम से अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ। कहना न होगा यह विकास माधुर्य भक्ति के उज्ज्वल पक्ष को विवृत न करके उसके विकृत रूप को ही सामने लाया।

माधुर्य भक्ति के उपकरणों का चयन पांचरात्र ग्रन्थों से लेकर सहजिया सम्प्रदाय की साधना-पद्धतियों से होता रहा। इसमें भागवत पुराण तथा नारद और शांडिल्य के भक्ति सूत्रों का बहुत अधिक योगदान रहा। जब माधुर्य भक्ति चैतन्य मत के पंडितों के हाथ आयी तब उसकी पूरी रूपरेखा ही तैयार नहीं हुई, वरन् उसका बाह्याभ्यंतर सभी सर्वांग-पूर्ण बना दिया गया। एक ओर उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया तो दूसरी ओर उसकी सिद्धि के लिए साहित्य और दर्शन से प्रमाण-तर्क भी चयन किये गये। इस संदर्भ में माधुर्य भक्ति के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भक्ति के विभाग या भक्ति के रूपों का निर्णय करना कठिन है। भक्ति अनेक प्रकार की होती है और उसके आधार भी विभिन्न हो सकते हैं। विभिन्न स्रोतों के आधार पर, उपास्य देवों के आधार पर और प्रपत्तियों के आधार पर भक्ति के विभाग सम्भव हैं। देवता-भेद से भी भक्ति-सम्प्रदायों का वर्णन देखने में आता है। शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति के रूपों का विवरण अनेक ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन विभाजनों में बोपदेवकृत विभाजन यहाँ दिखाना आवश्यक है। माधुर्य भक्ति के प्रसंग में इस विभाजन की उपादेयता असंदिग्ध है। बोपदेव का विभाजन वैज्ञानिक होने के साथ सर्वांगपूर्ण भी कहा जा सकता है—
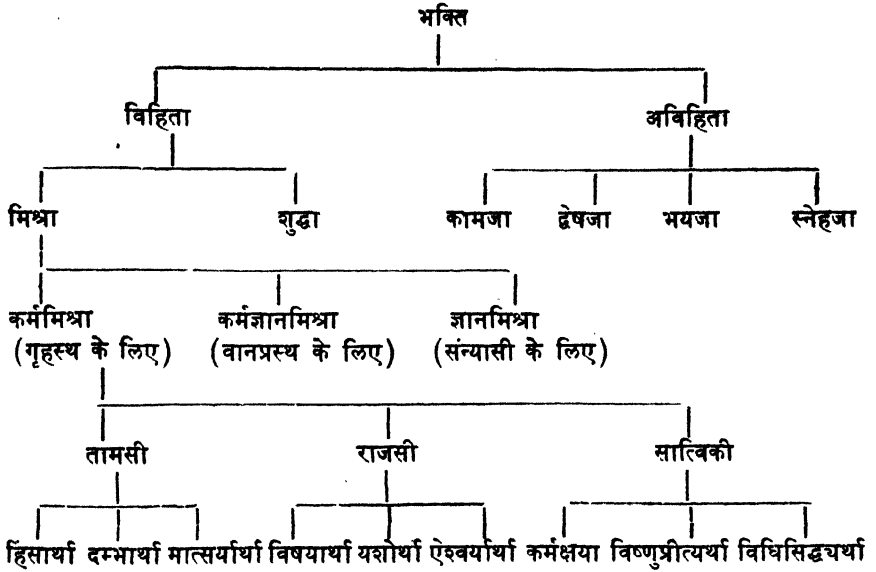
वेद-प्रतिपादित मर्यादा पालन करते हुए भगवान् में मनोभिनिवेश विहिता भक्ति कही जाती है। मर्यादा का ध्यान न रखते हुए भगवान् में मनोभिनिवेश अविहिता भक्ति समझना चाहिए। विहित भक्ति के समस्त प्रकार सगुण भक्ति के नाम से अभिहित होते हैं। इसमें ज्ञानमिश्रा भक्ति को भिक्षु और परमहंसों के लिए कहा गया है। वह निर्गुण कही गयी है। विहिता के भीतर शुद्धा भी एक भेद है जिसके लिए निष्काम और अविच्छिन्न होना आवश्यक है। रजोगुण तथा तमोगुण से रहित शुद्ध सत्व से उद्वेलित अन्तःकरण वाला कोई भी भक्त इसका अनुगमन कर सकता है। अविहिता भक्ति के चार भेदों के क्रमशः चार प्रकार के अधिकारी बताये गये हैं— गोपियाँ, कंस, चौद्यादिक नृप तथा वृष्णि वंशी सम्बन्धी। यह सब विवरण 'मुक्ताफल' में विस्तार से द्रष्टव्य है। माधुर्य भक्ति के प्रवर्तन में इस विवरण की उपादेयता को ध्यान में रखना आवश्यक है, अतः इसका उल्लेख किया गया।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ में भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—'द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते।' अथवा—'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिभक्तिरिति।' 'नारदभक्तिसूत्र' में, 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' तथा 'शांडिल्यभक्तिसूत्र' में 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' द्वारा भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन परिभाषाओं में प्रेम और अनुराग के द्वारा चित्त के द्रवीभाव को प्रमुख स्थान दिया गया है। मधुरा भक्ति के क्षेत्र में इस भाव का प्राधान्य इन परिभाषाओं के मार्ग से ही कदाचित् पहुँचा होगा।

माधुर्य भक्ति के स्वरूप-बोध के लिए भक्ति के विषय में गौड़ीय आचार्यों के विवेचन पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। साम्प्रदायिक भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश गौड़ीय ग्रन्थों

के द्वारा सर्वाधिक हुआ और शास्त्रीय दृष्टि से इस सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव वल्लभ, राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदायों पर भी पड़ा। रूप गोस्वामी ने अपने सुप्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति के दो प्रमुख भेद किये हैं: गौणी और परा। साधन दशा की भक्ति को गौणी और सिद्ध दशा की भक्ति को परा भक्ति कहा गया है। गौणी के पुन: दो भेद किये हैं—वैधी और रागानुगा। शास्त्रानुमोदित भक्ति वैधी है। इस भक्ति के आलम्बन ऐश्वर्यमय विभु ईश्वर हैं। इसीका नाम मर्यादामयिनी है। वैधी भक्ति अपने दोनों कूलों में आबद्ध रहती है, किन्तु रागानुगा भक्ति में राग या स्नेह प्रधान है। वह कूल किनारों के बन्धन स्वीकार नहीं करती और यदृच्छया प्रवाहित होनेवाली नदी के समान चलती है। यथार्थ में रागानुगा भक्ति ही मधुर भाव का मूलाधार है। 'राग' शब्द की व्याख्या करते हुए रूप गोस्वामी ने लिखा है कि जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावत: विषयों के प्रति, विषय संसर्ग के प्रति इच्छा से युक्त आकर्षण होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान् के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, तब उसे राग कहते हैं। यह राग जहाँ प्रबल या प्रधान रहे उसे रागात्मिका भक्ति कहा जायगा। यह रागात्मिका भक्ति उत्तम कोटि की भक्ति मानी जाती है—

> अनन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इस उत्तमा भक्ति के पुन: तीन भेद किये गये हैं, साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेमा भक्ति। इसमें साधन भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। रागानुगा के पुन: दो भेद हैं कामानुगा और सम्बन्धानुगा। इन भेद-प्रभेदों के प्रपंच में न पड़कर हमारा तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही प्रकाशित करना है कि गौड़ीय सम्प्रदाय में माधुर्य भाव का इतना व्यापक विस्तार हुआ कि परवर्ती साम्प्रदायिक भक्तों ने भी किसी न किसी रूप में उसे ग्रहण किया।

माधुर्य भाव की भक्ति को शास्त्रीय रूप देने के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' में इसका रसानुवर्ती विवेचन हुआ। जिस प्रकार काव्य में रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट होकर होती है, तथैव इसको भी रस रूप में प्रस्तुत किया गया। कृष्ण भक्ति के आलम्बन-विभाग में कृष्ण को विषय माना गया। कृष्ण-भक्ति आधार हुई। साधक और सिद्ध आदि का निरूपण हुआ। साधना तथा कृपा से यह भक्तिरस निष्पन्न माना गया। उद्दीपन विभावों के वर्णन में कृष्ण के गुण, चेष्टा, प्रसाधन तथा अन्याय रूपों का वर्णन किया गया। गुणों के अन्तर्गत कायिक, बौद्धिक, मानसिक को स्थान मिला। तदनन्तर वय-भेद, रूप-भेद आदि का विस्तार किया गया। इसमें कैशोर अवस्था को महत्व देकर उसका आद्य, मध्य, शेष आदि स्थितियों में वर्णन किया गया। गौड़ीय आचार्यों ने भक्ति रस में मुख्यरूप से शान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुर को स्थान दिया। इनके भाव शान्त, विश्वस्त, मित्रता, स्नेह, श्याम माने गये। इसी प्रकार वर्णों तथा देवताओं की भी कल्पना की गयी। इस रस के परिपाक के लिए लीलाओं का वर्णन किया गया और प्रकट लीला और अप्रकट लीला के रूप में दो भेद किये गये। 'वन वृन्दावन' में प्रकट लीला और 'मन वृन्दावन' में अप्रकट लीला और 'निस्य वृन्दावन' में नित्य लीला मानी गयी।

माधुर्य भाव का विशद विवेचन करने वाले ग्रन्थों का उद्धरण या विवरण प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उपर्युक्त विवरण केवल प्रासंगिक रूप से इसलिए दिया है ताकि मध्ययुगीन माधुर्य भाव की रूपरेखा पाठक के अन्तर्मन में उभर सके। मूल प्रश्न तो यह है कि यह माधुर्योपासना मर्यादा का उल्लंघन करने वाली होने पर भी इस प्रकार ग्राह्य क्यों बनती रही और साधकों की विशाल परम्परा इसे क्यों स्वीकार करती रही। यथार्थ में इसका मूल कारण यह है कि भक्ति का यह मार्ग लौकिक जीवन का तिरस्कार नहीं करता। लोक को उसके यथार्थ रूप में पाकर उसका शोधन करता है। वासनाओं को स्वीकार करते हुए वासनाओं के परिमार्जन, उन्नयन या शोधन की यह प्रक्रिया संसार के प्रत्येक देश के धर्मों में किसी न किसी रूप में पायी जाती है। इस पद्धति का लक्ष्य है संसार को ग्रहण करते हुए मानव मन में लीन आनन्द को उद्बुद्ध करना। इन्द्रिय-दमन से भी साधक को भगवत् प्रेम ही उपलब्ध करना होता है। उसका लक्ष्य भी यही है। माधुर्य भाव से चलने वाला भी उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य अपने समस्त प्रयत्नों के बावजूद अपने भीतर पैठे हुए काम भाव को सर्वथा उच्छिन्न या निरस्त नहीं कर पाता। अतः यदि उसे साधन बना कर उसका उन्नयन किया जाय तो उसका मार्ग प्रशस्त बन सकता है। उन्नयन की भावना ही इसका लक्ष्य माना जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए बौद्धों, तान्त्रिकों, शैवों, शाक्तों तथा सूफ़ियों आदि ने काम का तिरस्कार नहीं किया; उसे दिव्य प्रेम की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसका पूरे समारोह के साथ उन्नयन करने का प्रयत्न किया। माधुर्य भक्ति में जिस प्रेम की स्वीकृति है वह न तो यौन सम्बन्ध से उद्भूत कामेच्छापरक प्रेम माना गया है और न इस प्रेम को साधारण सामाजिक बन्धन का आधार ही कहा जा सकता है। इस प्रेम के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है कि वासनाजन्य प्रेम में स्वसुख की कामना का प्राधान्य रहता है, उसमें प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है। इस प्रेम को स्वसुख-विवर्जित स्वीकार किया गया है। माधुर्यभाव-प्रधान भक्ति में परम्परा-प्राप्त मान्यताओं में पूरा परिवर्तन किया गया। लोक में शृंगारभाव, जो दाम्पत्य भाव से पूर्णतया संश्लिष्ट है, निम्नकोटि का माना जाता है। उसके ऊपर वात्सल्य भाव है, वात्सल्य से ऊपर सख्य भाव का स्थान है, सख्य से ऊपर दास्य भाव है और दास्य से ऊपर निर्वेद का परिपोषक शान्त भाव है। यह क्रम उत्तरोत्तर उत्कर्ष की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है, किन्तु माधुर्य भाव में इस क्रम का पूर्णतया विपर्यय दृष्टिगत होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य यह क्रम उत्कर्ष-विधान की दृष्टि से ग्राह्य है। कान्ता भाव दाम्पत्य भाव या शृंगार भाव सब एक ही अर्थ के द्योतक हैं। मधुर या उज्ज्वल रस भी इसी भाव के द्योतक शब्द हैं। दाम्पत्य भाव के वर्णन में स्वकीया-परकीया का विवेचन भी हुआ। चैतन्य मत में परकीया-भाव से कान्ता की स्वीकृति हुई। निम्बार्क-सम्प्रदाय और वल्लभ-सम्प्रदाय में स्वकीया भाव गृहीत हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय ने स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित राधा का स्वरूप माना, किन्तु लौकिक दृष्टि से स्वकीया-भाव ही इस सम्प्रदाय में दृष्टिगत होता है।

प्रेमलक्षणा भक्ति या माधुर्यभाव-प्रधान भक्ति की एक विशेषता यह है कि इसमें विधि-निषेध के बाह्य प्रपंचों से मुक्ति मिल जाती है। विधि-निषेध का प्रपंच सदैव बाह्याडंबर में पर्यवसित होता है, अतः इससे बचकर यदि भक्ति का पथ प्रशस्त किया जाय तो निश्चय ही वह सर्वजन-

सुलभ और आकर्षक होगा। गृहस्थाश्रम में रहने वालों के लिए तो इस मार्ग में और भी सुविधाएँ प्राप्त हैं। अपने दैनन्दिन जीवन की अनुभूतियों को भक्ति पथ पर आरूढ़ करने की दिशा में भी इससे सहायता मिलना सम्भव है। राधा-कृष्ण का दाम्पत्य भाव अपने लौकिक जीवन के दाम्पत्य भाव के मेल में देखा जा सकता है और शनैः शनैः कामवासनाओं का उन्नयन करते हुए भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ा जा सकता है। किन्तु यह उन्नयन-प्रक्रिया जितनी कहने में सरल है उतनी ही क्रियान्वित करने में कठिन भी है। इस मार्ग का रहस्य भलीभाँति हृदयंगम न करके यदि इसे सामान्य लौकिक कामवासना के रूप में ही ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उदात्ततत्व कामकेलि के कर्दम में पंकिल होकर यौन भावनाओं की तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। उस दशा में न तो शृंगार का उन्नयन ही सम्भव होगा और न साधक की आत्मा का अभ्युदय ही हो सकेगा।

भक्ति के विकास के साथ परमात्मा के प्रति अनुराग और प्रेम की जैसी अभिव्यक्तियाँ हुई यदि उनके क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि महाभारत-काल में परमात्मा के प्रति भय और संभ्रम का ही भाव नहीं था, वरन् सम्मान, प्रेम और अनुराग का भी भाव भक्त के मन में पूरी तरह आ चुका था। पांचरात्र-सम्प्रदाय के भक्तों ने ईश्वर की भक्ति के जो रूप स्वीकार किये थे उनमें प्रेम और अनुराग का विशेष स्थान था। भागवत सम्प्रदाय के नाम से अन्य जो सम्प्रदाय महाभारत-काल में विद्यमान थे वे भी इस भाव से अपरिचित नहीं थे। पुराणकाल में तो इस भाव का प्राधान्य ही हो गया था। भागवतपुराण की नवधा भक्ति के मूल में इस भाव का अंश सबसे अधिक मात्रा में है। आलवारों, सिद्धों, सहजियों, सूफ़ियों और निर्गुणियों तक में इस भाव की रेखाएँ मिलती हैं। इस निबन्ध में हमारा तात्पर्य केवल उन धूमिल रेखाओं को स्पष्ट करना ही है। उन रेखाओं के द्वारा पूरा चित्र उभारना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः मोटी-मोटी बातों की ओर ही पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

●

रघुवंश

लोक-काव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति

लोक की अभिव्यक्ति को साहित्य कहने के साथ ही यह मान लिया गया है कि लोकगीत तथा गाथाएँ आदि लोक-काव्य के रूप हैं। सामान्य अर्थबोध की दृष्टि से इस प्रकार का अभिधान स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु साहित्य के सजग अध्येता को उनके मौलिक अन्तर को दृष्टि में रखना चाहिए।[1] इस अन्तर के प्रति सजग न रहने से काव्य तथा लोक-काव्य दोनों के मूल्यों अथवा प्रतिमानों के प्रति भ्रामक प्रतिपत्तियाँ ग्रहण की जाती हैं और जिनसे हम भ्रामक निष्पत्तियों तक पहुँचते हैं। इसी प्रकार की एक स्थिति लोक-काव्य की भावभूमि के सम्बन्ध में है। लोक-साहित्य के विवेचकों ने प्राय: लोक-काव्य की भावभूमि को काव्य की भावभूमि के समकक्ष स्वीकार कर लिया है। इस समकक्षता को स्वयंसिद्ध मान लेने के कारण ही उन्होंने लोक-काव्य की भावभूमि को रसभूमि ही माना है। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में सामान्यत: और लोकगीतों के संदर्भ में विशेषत: विभिन्न रसों की स्वतंत्र चर्चा इस बात का साक्ष्य है।

निर्दिष्ट निबन्ध में कहा गया है लोक की अभिव्यक्ति लोक जीवन की प्रक्रिया का अंग है, पर साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या सम्बद्ध हो कर भी अपनी तटस्थता अथवा असम्पृक्ति में उसका अंग नहीं हो सकती। साहित्य जीवन का सर्जन है, पुन: जीने की प्रक्रिया है। लोकाभिव्यक्ति के क्षणों में भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता में प्रमुखत: जीवन का अनुभव करता है, जब कि साहित्यिक यथार्थ जीवन के सर्जन में भी सामाजिक जीवन का अनुभव न कर के सर्जन के असम्पृक्त सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार यह लोक-साहित्य तथा साहित्य की आधारभूमि का अन्तर है जिससे लोक-काव्य और काव्य की भावभूमि का स्तर-भेद भी स्पष्ट होता है। इस मौलिक अन्तर के कारण दोनों के रस-बोध में भारी अन्तर है।

काव्याभिव्यक्ति में कवि की स्थिति स्पष्ट और निश्चित है। पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर आनन्द (रसबोध) प्राप्त करता है या आधुनिक दृष्टि से सक्रिय सहभोग (active participation) की स्थिति में कवि की सर्जनप्रक्रिया का अनुभव करता है। परन्तु दोनों ही स्थितियों में कवि (स्रष्टा के रूप में) और पाठक (रसज्ञ के रूप में) की दो भिन्न स्थितियाँ मानी जायँगी। पर जहाँ तक लोकाभिव्यक्ति का प्रश्न है इसमें ये दो स्थितियाँ सम्भव नहीं हैं, यहाँ स्रष्टा

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का 'साहित्य और लोक-साहित्य' नामक शोध-निबन्ध (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ)।

और उपभोक्ता की समस्थिति है, दोनों का एक ही व्यक्तित्व में समाहार हो जाता है। काव्य की भावभूमि के इस अन्तर के कारण लोक-काव्य में रसनिष्पत्ति की स्थिति प्रतिपादित होना संभव नहीं है।

वस्तुतः 'रसनिष्पत्ति' शब्द अपनी काव्यशास्त्रीय विवेचनाओं में 'काव्यानुभूति', 'सौन्दर्यानुभूति' तथा 'काव्यानन्द' आदि शब्दों का समानार्थी है, अर्थात् इसके द्वारा काव्य की भावभूमि के सौन्दर्यबोध को व्यक्त करने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। भरत ने इसके विषय में कहा है—'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[2] और इसके आधार पर काव्य की रस-परक व्याख्या का गम्भीर और तत्वपूर्ण सिद्धान्त विकसित हुआ है। वस्तुतः भरत ने अपने सूत्र-वाक्य के माध्यम से एक ऐसे काव्य-सिद्धान्त का आधार प्रस्तुत किया है जिसमें काव्यानुभूति की व्याख्या के लिए मानस की संवेगात्मक प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का आधार स्वीकृत है।[3] भरत ने विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के संयोग से रस-निष्पत्ति को स्वीकार किया है। यद्यपि भरत के इस सूत्र-वाक्य के आधार पर रस-सिद्धान्त सम्बन्धी सूक्ष्म और गहन चिन्तन काव्य की मौलिक प्रकृति की दृष्टि से हुआ है, पर उन्होंने रस के अंगों के निरूपण और रस-भेद-विवेचन की ऐसी परम्परा भी डाली है जिसके भ्रमजाल से रसनिष्पत्ति का सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्तक अन्ततः निकल नहीं सका है।

यह अवश्य है कि भट्ट लोल्लट की ही नहीं भरत की दृष्टि में भी रस के निरूपण में रंगमंच की व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षक का दृष्टिकोण नहीं।[4] यही कारण है कि उन्होंने रस के अंगों का जितना स्पष्ट उल्लेख किया है, उतनी ही स्पष्टता से रस का रसों में विभाजन किया है। उनके द्वारा व्यवहृत शब्द 'संयोग', 'आस्वाद्य' तथा 'उपचित' (विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भावों की स्थायी भाव की अनुकूलता ग्रहण करना) प्रायः इसी व्यावहारिक दृष्टि का परिचय देते हैं। आगे के आचार्यों के द्वारा रस की सूक्ष्म और गहन विवेचना प्रस्तुत किये जाने पर भी रस की यह व्यावहारिक दृष्टि एक स्तर पर सदा स्वीकार्य रही है, जिसके अनुसार रसनिष्पत्ति अर्थात् रसास्वादन को सामान्य भावात्मक प्रक्रिया के रूप पर ग्रहण किया गया है और एक ओर विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि को उसके सहयोगी अंग के रूप में निर्धारित किया गया तथा दूसरी ओर स्थायी भावों के आधार पर विभिन्न रसों का नामकरण किया जाता रहा। इसी व्यावहारिक दृष्टि के कारण लोक-काव्य में भी रस की अवतारण तथा विवेचना की गयी है।

लोक-काव्य में रस की स्थिति मानने वालों की मान्यता रसनिष्पत्ति के प्रथम विवेचक आचार्य भट्ट लोल्लट से अधिक भिन्न नहीं है। उन्होंने विभाव को रस का कारण माना, और स्थायी भाव की 'उपचित' अवस्था का नाम रस माना है। परन्तु प्रमुख बात है कि इन्होंने रस को अनुकार्य में माना है, यद्यपि रूपादिक अनुसन्धान से अनुकर्त्ता (नट) में भी विद्यमान स्वीकार किया है।[5] भट्ट लोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने 'प्रतीयमान' शब्द का प्रयोग किया

---

२. नाट्य०; ६; ३२। ३. लेखक; रस-सिद्धान्त और मनोविज्ञान (हिं० अनुशीलन; वर्ष ३, अंक २)। ४. कान्तिचन्द्र पाण्डेय; कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भाग १; पृ० २९, ३०। ५. अभिनव भारती; पृ० २६४।

जिसकी व्याख्या करने में गोविन्द ठक्कुर ने इस मत को आरोपवाद का नया रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।[६] परन्तु इसके बावजूद इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस को जीवन की सामान्य भावात्मक-प्रक्रिया से भिन्न नहीं माना गया है। इसका समाधान 'संयोग' के भट्ट लोल्लट द्वारा ग्रहीत अर्थों से हो जाता है। 'संयोग' को चाहे स्थायी भाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध माना जाय, चाहे अनुभाव को अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध से उनकी अनुमिति कराने वाला माना जाय, अथवा यह माना जाय कि संचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्ध से उनकी रस रूप में पुष्टि कराते हैं, इन सभी स्थितियों में यह मान कर चला गया है कि जीवन के समान काव्य में (नाटक में) भाव-संवेगों का सांगोपोग संयोग ही रस है अर्थात् रस की स्थिति जीवन और काव्य में समान आधार पर स्वीकृत है। यदि यहाँ यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तुत संदर्भ में वृत्त का अर्थ 'काव्यवृत्त' है जिसकी कल्पना कवि करता है,[७] तब भी कवि की इस कल्पना का आधार जगत् है, और यह कवि के प्रत्यक्ष-बोध, स्मृतियों तथा विचारों के स्वतंत्र संयोग-रूप कल्पना पर आधारित है। इस रूप में जब आचार्य कहते हैं कि रस की स्थिति अनुकार्य (चरित्र) में है, तो वे कवि-कल्पित चरित्रों की भावात्मक प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक आधार को स्वीकार करते हैं। परन्तु इससे उनकी काव्यात्मक रसानुभूति सम्बन्धी सौन्दर्य दृष्टि का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।[८] अभिनेताओं के कौशलपूर्ण अभिनय अथवा सामाजिकों के आरोपमूलक चमत्कार हेतु से भी इससे भिन्न कुछ सिद्ध नहीं हो पाता।

इस दृष्टि से लोक-साहित्य अथवा काव्य में रस की स्थिति सहज स्वाभाविक है। लोक-काव्य में अनुकार्य तथा अनुकर्ता का विभेद होता ही नहीं। लोक-काव्य लोक-प्रवाह का स्पन्दित अंग है, यह लोक-मानस की अभिव्यक्ति है और इस लोकाभिव्यक्ति की अधिकांश भावना और प्राणवत्ता उस गतिशील परम्परा पर आधारित है जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आयी है और उस वातावरण से स्फुरित है जो लोकजीवन की नानाविधि स्थिति-परिस्थितियों से अभिन्न है। इसी कारण लोक-काव्य में साहित्यिक अभिव्यक्ति की दो कोटियाँ स्वीकार्य नहीं हैं, यहाँ रचयिता और उपयभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनों का समाहार एक ही व्यक्तित्व में हो जाता है। लोक-काव्य जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी भावोद्वेलित तरंग है जो जीवन के सहज यथार्थ से अपनी अभिव्यक्ति के क्षणों में भी अविच्छिन्न रूप से बँधी रहती है।[९] अतः भट्ट लोल्लट की व्याख्या के अनुसार लोक-काव्य में रस की स्थिति सहज मान्य होगी। लोकाभिव्यक्ति जीवन से अभिन्न है, अतः स्थायी भावों के उत्पन्न करने के लिए आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के समुचित विस्तार की आवश्यकता नहीं होती, बहुत कुछ उनकी स्थिति जीवन में निहित

---

६. 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः' (का० प्र०; ४; २८ के अन्तर्गत)। ७. आनन्दप्रकाश दीक्षित; काव्य में रस (अप्रकाशित प्रबन्ध); पृ० २००। ८. लेखक; रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान; हिन्दी-अनुशीलन; वर्ष ३, अंक २। ९. लेखक; साहित्य और लोक-साहित्य (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ)।

रहती है। स्थायी भाव के पुनः प्रतीति योग्य होने के लिए अनुभाव-कार्यों की योजना भी इसी कारण हो जाती है और उसके रस रूप में उपचित होने के लिए सहकारी रूप व्यभिचारी भावों की सांगोपांग स्थिति भी आवश्यक नहीं रह जाती। यह हृदय-तत्व से संवेदित ऐसा भावात्मक प्रवाह है जो अपनी रस दशा में सहज माना जायगा, क्योंकि यहाँ अनुसन्धानवश प्रतीयमान होने की अपेक्षा नहीं रह जाती है।

रससूत्र के दूसरे व्याख्याकार आचार्य शंकुक की दृष्टि भी दृश्यकाव्य पर प्रधानतः रही है। उन्होंने रसनिष्पत्ति का आधार आरोप के स्थान पर अनुमान माना है। अपनी स्थापना में वह रस-सिद्धान्त को जीवन की स्थिति से काव्य-सौंदर्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करने में एक क़दम आगे बढ़े हैं। भट्ट लोल्लट ने स्थायी भाव की उपचित अवस्था 'रस' को सीधे वास्तविक चरित्रों (जीवन अथवा काल्पनिक काव्यवृत्त के) से सम्बद्ध मान लिया है। परन्तु शंकुक ने वास्तविक पात्रों के स्थायी भाव को विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी आदि संचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान हुआ माना है।[10] यहाँ स्पष्टतः शंकुक ने स्थायी भाव की स्थिति मात्र को वास्तविक जीवन में माना है, जो अनुक्रियमाण स्थायी भाव (रति) अभिनय से रस (शृंगार) होता है। इस प्रकार यह रस जीवन से सम्बद्ध न हो कर काव्याभिव्यक्ति से सम्बद्ध है, ऐसा माना जा सकता है। अपने अनुमान की विशिष्ट (काव्य तथा कलागत) स्थिति समझाने के लिए उन्होंने 'चित्र-तुरग-न्याय' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिससे भी यही सिद्ध होता है कि इस आचार्य ने रस को जीवन से अलग काव्य के संदर्भ में रख कर देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि काव्य में कल्पना तत्व की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में शंकुक का अनुमान जीवन के प्रत्यक्ष-बोध की स्मृति और अनुभव तक सीमित रह जाता है।[11] इस स्थिति में वास्तविक पात्र (आश्रय) के स्थायी भाव के अनुमान मात्र से सामाजिक में रस-दशा मानी जायगी। यह ठीक है कि 'चित्र-तुरग' के उल्लेख द्वारा शंकुक समस्त काव्याभिव्यक्ति को सामान्य प्रत्यक्ष-बोध तथा स्मृति-संयोग के क्षेत्र से उठा कर कल्पना के व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, फिर भी वह जीवन में भावों और संवेगों की स्थिति तथा काव्य की रस-दशा का सम्बन्ध निरूपित नहीं कर सके हैं।

लोक-काव्याभिव्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन की प्रक्रिया का अंग है। सारा लोक-समाज इस अभिव्यवित के माध्यम से उस लोक-परम्परा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युग-समाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। अतः इस अभिव्यवित में वास्तविक जीवन के स्थायी भावों की स्थिति और काव्य (अभिनय) के स्तर पर रस-दशा की स्थिति का अन्तर इस रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक दूसरी दृष्टि से लोक-काव्य की अभिव्यक्ति में इस सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित रसनिष्पत्ति को

---

१०. अभिनव भारती; पृ० २७४।

११. हिन्दी साहित्य कोश; रसनिष्पत्ति (लेखक द्वारा)।

स्वीकार किया जा सकता है। शंकुक ने माना है कि वास्तविक जीवन के स्थायी भाव कारण-कार्य-सहकारियों से अर्जित (सक्रिया भावावस्था में) हो कर काव्यात्मक (अभिनयात्मक) अनुकरण रूप में 'अनुमान के बल से' रस-दशा को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः लोक कवि या गायक अपने ही स्थायी भाव को अर्जित करता है और अपनी आत्माभिव्यक्ति की अनुकृति में 'अनुमान के बल से' (स्मृति-संयोग, अनुभव-ज्ञान के साथ कल्पना की व्यापक सीमाओं में) ऐसी भावावेश की स्थिति प्राप्त करता है जो शंकुक की रस-दशा से अधिक भिन्न नहीं है। अपने जीवन से सम्पृक्त अभिव्यक्ति में लोक-जीवन अपनी यथार्थ भावाभिव्यक्तियों को अधिक मार्मिकता से अनुभव करता है, और इसका कारण अपने ही जीवन का कल्पना की मुक्ति के साथ अनुभावन करना है।

वस्तुतः रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त को काव्य की भावभूमि पर पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय भट्ट नायक को है। एक प्रकार से अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद तथा भट्टनायक के भोगवाद में तात्विक अन्तर नहीं है, एक की दृष्टि में प्रधानतः काव्य है और दूसरे की दृष्टि में नाट्य। इन्होंने रस की स्थिति को व्यक्ति-निरपेक्ष माना है। चाहे भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियों के द्वारा अथवा लक्षणा तथा व्यंजना के द्वारा दर्शक या पाठक प्रत्यक्ष जीवन के 'निजत्व के मोह से' असम्पृक्त होता है। नाटकीय कलात्मक प्रदर्शन अथवा काव्यात्मक सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण उसका मन 'विशिष्टता के बोध' को भूलता जाता है और जितना वह 'व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के बोध' को विस्मृत कर पाता है उतना ही वर्णित व्यक्ति या स्थिति को वह साधारणीकृत निरपेक्ष रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता है। इस स्थिति के बाद कलात्मक सौन्दर्य के स्तर पर वह (सामाजिक) स्थायी भाव का रस रूप में भोग करता है जो अपनी 'विलक्षणता में लौकिक अनुभव से भिन्न' है, 'आनन्द रूप' कहा जा सकता है। इस प्रकार भट्ट नायक के अनुसार 'भावकत्व शक्ति' और 'साधारणीकरण-व्यापार' से 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष' दूर हो जाता है, और तदनन्तर भोजकत्व शक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादि का रस रूप में भोग करता है जो अपनी विलक्षणता में ब्रह्मानन्द के समान 'लौकिक अनुभव से भिन्न' होता है, अतः यह रस संवित् विश्रान्ति है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य के शुद्ध स्तर पर रस-सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या माना जा सकता है। भोगवाद से समता रखते हुए भी अभिनव का मत कई दृष्टियों से भिन्न है। उन्होंने अनुमान के अर्थ से प्रतीति को अस्वीकार करके भी प्रतीति के अतिरिक्त भोग का अर्थ स्वीकार नहीं किया। स्थायी भाव का ही भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्त में बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तु का भोग कैसे किया जा सकता है ? भोग भी व्यवहार है, अतः उसके साथ प्रतीति आपसे आप स्वीकृत हो जाती है।[१२] अभिनव ने भोग-व्यापार को अन्ततः व्यंजना अथवा ध्वनन व्यापार माना है। साथ ही उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिकों के अन्तःकरण में 'वासना रूप स्थायी भावों' को स्वीकार किया है। इस 'वासना-संवाद' को रस-हेतु मानने से रस का सामाजिक के भावों से सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अभिनव ने साधारणी-

---

१२. अभिनव भारती; भाग १; पृ० २७९।

करण के दो स्तर माने हैं—एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है (भट्टनायक) और दूसरे स्तर पर सामाजिक का 'व्यक्तित्व-बन्धन' नष्ट हो जाता है अर्थात् विभावादि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।[13] अभिनव ने, इसके अतिरिक्त रस के काव्यात्मक आयाम की व्याख्या करने के लिए सामाजिक को 'सहृदय' रूप में स्वीकार किया है, 'विघ्नविनिर्मुक्ति' की चर्चा की है और रस को संवित् विश्रान्ति कहा है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर यदि लोकाभिव्यक्ति पर विचार किया जाय तो दोनों की स्थितियों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। रस-निष्पत्ति की व्याख्या में आचार्यों ने जिस 'निजत्व के मोह' के दूर होने की 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष' दूर होने की और व्यक्ति-वैशिष्टय के बोध के विस्मृत होने की चर्चा की है, लोकाभिव्यक्ति के संदर्भ में इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लोक-गायक इस अभिव्यक्ति (लोक-काव्य) के प्रति न तटस्थ है और न निजत्व की भावना से असम्पृक ही है। वह इसके दुःख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा, तथा उत्साह-निराशा आदि का सक्रिय अनुभव करता है। अतः काव्य-रस के विषय में जो विलक्षणता, विघ्नविनिर्मुक्ति तथा संवित् विश्रान्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है, वह लोकाभिव्यक्ति के स्तर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। साधारणीकरण की स्थिति को भी यहाँ इस रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक-गायक अभिव्यक्ति के सम्पूर्ण भावावेग को सामाजिक स्तर पर भी व्यक्तिगत रूप में ग्रहण करता है।

परन्तु फिर भी लोकाभिव्यक्ति (काव्य) का संवेदन मात्र जीवन की साधारण स्थितियों-परिस्थितियों के संवेदन से भिन्न है। इसके दो कारण हैं। पहले तो यह अभिव्यक्ति सक्रिय रूप से सर्जनात्मक है, दूसरे इसका सहभोग सामाजिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है। काव्य पाठक का सर्जन नहीं है, वह उसका पुनः सर्जन कर सकता है, और इसी प्रकार पाठक काव्यानुभूति का सहभोगी होता है। परन्तु लोक-गायक लोक-मानस के स्तर पर लोक-प्रवाह में अपनी अभिव्यक्ति का स्वयं स्रष्टा भी है और भोक्ता भी। सहभोगी तो वह अपने सम्पूर्ण सामाजिक स्तर पर है, क्योंकि उसके सर्जन में और उसके भोग में सारे समाज का योग है।[14]

---

१३. हि० सा० को०; साधारणीकरण; (लेखक)। १४. प्रस्तुत विषय की यहाँ स्थापना मात्र हो सकी है, अन्यत्र समुचित विवेचना और प्रतिपादन किया जा सकेगा।

ब्रजेश्वर वर्मा

'ब्रह्मवैवर्त' की कृष्णकथा के तीन प्रसंग

[हिंदी कृष्णकाव्य की पृष्ठभूमि में]

हिंदी कृष्णकाव्य के स्रोत और उपकरणों के संबंध में प्रायः 'ब्रह्मवैवर्त' के श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड का भी उल्लेख हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस पुराण में कृष्णकथा जितने विस्तार से कही गयी है उसकी तुलना केवल 'श्रीमद्भागवत' से की जा सकती है। परन्तु हिंदी कृष्ण-काव्य पर 'ब्रह्मवैवर्त' का ऋण किस सीमा तक स्वीकार किया जाना चाहिए इसका यत्किंचित् अनुमान निम्नलिखित तीन प्रसंगों से लगाया जा सकता है।

§१. 'ब्रह्मवैवर्त'[१] में श्रीकृष्ण-जन्म का प्रधान हेतु श्रीदामा द्वारा राधा का शापित होना बताया गया है, पृथ्वी का भार उतारना कदाचित् गौण हेतु है। दूसरे और तीसरे अध्याय के १८५ श्लोकों में उस प्रसंग का विस्तार से वर्णन है जिसके फलस्वरूप श्रीदामा और राधा में कलह हुआ, दोनों ने एक दूसरे को मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दिया तथा श्रीकृष्ण ने राधा का प्रिय करने के लिए स्वयं देवताओं सहित अवतार धारण करने का वचन दिया। संक्षेप में कथा इस प्रकार है : एक बार गोलोक की रासक्रीड़ा के मध्य से श्रीकृष्ण राधा को छोड़ कर उन्हींके समान एक अन्य परम सुन्दरी गोपी, विरजा के साथ उसके रसेन्द्रसार-विरचित मंदिर में विहार करने चले गये। राधा ने जब यह सुना तो वे रथारूढ़ होकर 'त्रिषष्टि शतकोटि' गोपियों के साथ वहाँ पहुँचीं। मंदिर के द्वार पर लाख गोपों सहित श्रीदामा द्वारपाल के रूप में नियुक्त थे। उन्हें देखकर राधा ने कहा, 'दूर हट, रति-लंपट-किंकर, दूर हट!' परन्तु श्रीदामा ने राधा को मार्ग नहीं दिया। राधा की सखियों और गोपों सहित श्रीदामा के बीच बल-प्रयोग होने लगा। ऐसा कोलाहल हुआ कि मंदिर के भीतर से ही श्रीकृष्ण ने स्थिति का अनुमान कर लिया। कुपित राधा का सामना करने का उन्हें साहस नहीं हुआ और वे तुरंत अंतर्धान हो गये। विरजा भी अत्यन्त भयातुर हो गयी, और प्राणांत करके उसने अपना शरीर सरिता के रूप में परिणत कर लिया। कोटि योजनों में विस्तृत होकर वह सरिता गोलोक में वर्तुलाकार फैल गयी।[२]

राधा ने रति-गृह में जाकर जब श्रीकृष्ण को नहीं पाया तथा विरजा को सरिता रूप में देखा तो वे घर लौट गयीं। इधर श्रीकृष्ण को विरजा का विरह दुखी करने लगा। उनका

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्मखंड, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, संवत् १९६६ वि०।
२. वही, अध्याय २, श्लोक २३-२३; ५९-६८।

विलाप सुन कर वह पुनः स्त्री बन गयी और दोनों रति-सुख में लीन हो गये। विरजा ने सात पुत्रों को जन्म दिया जो उसके रति-सुख में बाधक होने के कारण अभिशप्त होकर सात द्वीपों के सात सागर बन गयें। इस बाधा से खिन्न हो कर श्रीकृष्ण पहले ही विरजा को छोड़कर राधा के यहाँ चले गये। परन्तु जब उन्हें पुत्र तथा पति से वियुक्त विरजा का ध्यान आया तो वे पुनः उसके यहाँ लौट आये और निर्बाध रूप से संयोग-सुख में निमग्न हो गये। इधर राधा ने जब यह सुना तो वे रुदन करते हुए कोप-भवन में चली गयीं। इतने में श्रीकृष्ण उन्हें मनाने के लिए उनके यहाँ पहुँचे। श्रीदामा राधा के ही द्वार पर स्थित थे। श्रीकृष्ण को देखकर राधा ने उन्हें खूब बुरा-भला कहा।[३] विरजाकांत, रति-चौर, रति-लंपट, नदीकांत आदि विशेषणों से संबोधित करते हुए राधा ने मनुष्यों का व्यवहार करने वाले कृष्ण को गोलोक से भारत में मनुष्य-योनि प्राप्त करने का शाप दिया और धूर्त्त कृष्ण को सामने से हटाने के लिए अपनी सखियों को आदेश दिया। सखियों द्वारा कृष्ण के वारण किये जाने पर श्रीदामा को क्रोध आ गया और उन्होंने सक्रोध राधिका से कहा—माता, तुम मदीश्वर से कटु वाक्य क्यों कहती हो ? देवी, बिना बिचारे व्यर्थ ही भर्त्सना करती हो।[४] यहाँ पर पुराणकार ने श्रीदामा के माध्यम से परब्रह्म निर्गुण श्रीकृष्ण का सविस्तर माहात्म्य वर्णन किया है।[५] परन्तु राधा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपनी निंदा करने वाले मूढ़ श्रीदामा को गोलोक से बहिर्भूत होकर आसुरी योनि में जाने का शाप दिया और चुनौती दी कि इस शाप से उनकी रक्षा उनका ईश्वर (श्रीकृष्ण) भी नहीं कर सकता।[६] प्रत्युत्तर में श्रीदामा ने भी कहा—अम्बिके, तुम मनुष्यों की भाँति कोप करती हो, अतः तुम मानुषी योनि पाओगी, इसमें कोई संदेह न होगा।[७] श्रीदामा ने राधा को वृन्दावनवासी हरि के अंश रायाण नामक वैश्य की पत्नी होने, राधा के शाप से रायाण के महायोगी बनने, गोकुल में कृष्ण को प्राप्त करके राधा के बिहार करने, फिर सौ वर्ष तक हरि से उनके वियुक्त होने, तदुपरांत कृष्ण को पुनः प्राप्त करके गोलोक लौटने की भविष्यवाणी की।[८] इन्हीं शापों के फलस्वरूप श्रीदामा शंखचूड़ हुए, राधा का वृषभानु के यहाँ जन्म हुआ तथा हरि का राधा के साथ पृथ्वी पर अवतार हुआ।

कहना न होगा कि हिंदी कृष्णकाव्य में इस प्रसंग की कहीं छाया भी नहीं मिलती।

§२. मध्ययुग के कृष्णभक्ति-संप्रदायों में राधा की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और यद्यपि कृष्णकाव्य का मूल उपजीव्य 'श्रीमद्भागवत' रहा, राधाकृष्ण के लोक-विश्रुत आख्यान के लोक कवि की कल्पना द्वारा निरंतर वर्द्धमान प्रसंग उसमें सम्मिलित होते गये। 'ब्रह्मवैवर्त' में भी मध्ययुग की उसी प्रवृत्ति के, किंचित् भिन्न रूप में, दर्शन होते हैं जिसके परिणामस्वरूप कृष्णकथा राधाकृष्णकथा बन गयी, कृष्णभक्ति राधाकृष्ण-भक्ति तथा कृष्णकाव्य राधाकृष्ण काव्य। 'ब्रह्मवैवर्त' में तो राधा की महत्ता इतनी अधिक है कि यदि हम उसे राधा-पुराण कहें

---

३. वही, अध्याय ३, श्लोक १–४८, ४. वही, श्लोक ५९–७७, ५. वही श्लोक ७८–९४, ६. वही, श्लोक ९९–१००, ७. वही, श्लोक १०२–१०३, ८. वही, श्लोक १०४–१०६।

तो अत्युक्ति न होगी। राधा के संबंध में इतने अधिक विवरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। कुछ रोचक बातें यहाँ दी जा रहीं हैं।

राधा के रायाण-पत्नी होने का तो शाप श्रीदामा ने ही दिया था, कृष्ण ने उन्हें समझा-बुझाकर वृषभानु के घर में जन्म लेने भेजा। परन्तु वे वृषभानु की पत्नी, जिसका नाम इस पुराण में कलावती दिया गया है, के गर्भ में नहीं रहीं। उसका गर्भ तो नव मास तक वायु से भरा रहा, दसवें मास में वायु का निःसरण हुआ और उसी समय अयोनिसंभवा राधा स्वात्मरूप त्याग कर शिशु रूप में कलावती के समीप रोती हुई आ गिरीं।[9]

राधा की माता कलावती तीन अयोनिसंभवा मानसी कन्याओं में से एक है। शेष दो रत्नमाला और मेनका हैं, जो क्रमशः अयोनिसंभवा सीता और पार्वती की माताएँ हैं[10]। कलावती कान्यकुब्ज के श्रेष्ठ नृप भनंदन की कन्या है, जो उन्हें यज्ञ के अंत में यज्ञ-कुंड से प्राप्त हुई थी।[11] वृषभानु पद्मावती के जठर से गोकुल में उत्पन्न हुए। उनके पिता सुरभान थे।[12] कलावती के जन्मोत्सव, नामकरण आदि का विस्तृत वर्णन करते हुए पुराणकार उसके रूप का वर्णन करता है जिसे देख कर एक बार राजमार्ग पर जाते हुए जितेन्द्रिय, ज्ञानी नंद भी मूर्च्छित हो गये।[13] नंद ने भनंदन से प्रस्ताव किया कि वे अपनी कन्या का विवाह सुरभान-सुत 'श्रीमान्वृषभानु व्रजाधिप' से कर दें। भनंदन ने उत्तर दिया कि संबंध विधिवश है। अंत में नंद की इच्छा पूरी हुई, विवाह में खूब यौतुक-दान मिला। इन्हीं कलावती और वृषभानु की कन्या राधा हुईं—परन्तु दैवात्, सुदामा (श्रीदामा) के शाप से, श्रीकृष्ण की आज्ञा से।[14]

'ब्रह्मवैवर्त' पुराण के अतिरिक्त राधा के जन्म और माता-पिता की कथा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। हिंदी कृष्णकाव्य इस विषय में भी 'ब्रह्मवैवर्त' से सर्वथा अप्रभावित है। यहाँ राधा की माता का नाम कीर्ति है, परन्तु उनके और उनके पति वृषभानु से संबंधित कोई विवरण नहीं मिलता। राधा-कृष्ण के काल्पनिक प्रेम-प्रसंगों की उद्भावना में अवश्य कुछ असंबद्ध प्रसंग कल्पित होते रहे हैं; परन्तु उनमें भी 'ब्रह्मवैवर्त' की उपर्युक्त कथा का आभास तक नहीं मिलता।

§३. तीसरा प्रसंग राधाकृष्ण के प्रथम मिलन, विवाह और रति-विहार का है। पंद्रहवें अध्याय में वर्णन है कि एक बार नंद शिशु कृष्ण को लेकर वृन्दावन गये। इतने में कृष्ण ने अपनी माया द्वारा नभ को मेघाच्छन्न कर दिया। काननांतर श्यामल हो गया, झंझावात छा गया, दारुण वज्र का गर्जन होने लगा, अति स्थूल वृष्टि धारा टूट पड़ी, वृक्षकंपित होकर गिरने लगे. नंद भयभीत हो गये और गो-वत्स छोड़कर घर लौटने का विचार करने लगे। बालक हरि रोने लगे। इतने में परम सुन्दरी राधा कृष्ण के सन्निकट आ गयीं।[15] उस परम रूपवती को देखकर नन्द विस्मित हो गये। उन्होंने साश्रु नेत्र होकर राधा को नमन किया और बताया कि मैं गर्ग के मुख

---

९. वही, अध्याय ६, श्लोक २२४–२२७। १०. वही, अध्याय १७, श्लोक ३३–३८। ११. वही, श्लोक ११०। १२. वही, श्लोक १०६–१०७। १३. वही, श्लोक १२०। ६. वही, श्लोक ११२–१४३। १४. वही, अध्याय १५, श्लोक ९१–२२१। १५. वही,

से सुन चुका हूँ कि तुम हरि की प्रिया हो। मैं यह भी जानता हूँ कि कृष्ण महाविष्णु, परम निर्गुण और अच्युत हैं, तथापि मैं विष्णु माया से मोहित हूँ। प्राणनाथ को लो और सुखपूर्वक जाओ, फिर मनोरथ पूर्ण करके मेरे पुत्र को ले आना। इस प्रकार नंद ने रोते हुए बालक को दे दिया और राधा उसे लेकर चलीं।[१६] नंद ने राधा-कृष्ण की अनन्य दास्य भक्ति की जगदंबिका परमेश्वरी से याचना की। राधा ने अपने और कृष्ण के चरणों में अहर्निशि भक्ति का नंद को वरदान दिया तथा आनंदपूर्वक कृष्ण को वक्ष से लगाकर चुंबन करती हुई दूर रास मंडल में ले गयीं।[१७] पुराणकार ने यहाँ रासमंडल का अत्यंत राजसी वैभवयुक्त वर्णन किया है। राधा देवी रास-गृह के भीतर गयीं, जहाँ कर्पूर समन्वित ताम्बूल, रत्नकुम्भस्थ स्वच्छ शीतल जल तथा सुधामधु के कलश सजे हुए थे। राधा ने देखा, वहाँ कमनीय किशोर श्याम-सुन्दर पुरुष हैं, जो चंदन से विभूषित, पीतवस्त्र धारण किये हुए, प्रसन्नवदन, मुस्कुराते हुए पुष्प-शैया पर लेटे हैं। मंजीर, केयूर, वलय, मणि-कुंडल, कौस्तुभ मणि, शिखि-पच्छ आदि से सुशोभित नव-यौवन कृष्ण को सम्मुख देखकर तथा अपने क्रोड को शून्य पाकर रासेश्वरी राधा विस्मय-विमुग्ध हो गयीं। निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई पुलकांकित, सस्मिता, मदनातुरा राधा को देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—राधा, सुरसंसद के गोलोक-वृत्तांत का स्मरण करो। आज वह पुरास्वीकृत पूर्ण करूँगा। तुम मेरी प्राणाधिका प्रेयसी हो।[१८] राधा-कृष्ण के अभेद, राधा की महिमा तथा कृष्ण और श्रीकृष्ण का अंतर समझाने, भेद-बुद्धि वालों को अभिशाप देने, 'राधा' नाम की व्युत्पत्ति बताने तथा राधा की कृपा का वर्णन करने के उपरांत पुराणकार ने ब्रह्मा के प्रकट होने और माता राधा का स्तवन करने का वर्णन किया है। राधा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मा भी राधाकृष्ण की अभिन्नता का कथन करते हैं तथा बताते हैं कि वेद में इसका निरूपण नहीं है। वे कहते हैं—जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड श्री-कृष्ण का अंश है, उसी प्रकार शक्ति-स्वरूपा आप उस सभी में स्थित हैं। सभी पुरुष हरि के अंश हैं, तथा निखिल स्त्रियाँ आपकी अंश हैं।[१९]

इसके उपरांत ब्रह्मा ने हुताशन प्रज्वलित की, हवन का उपक्रम किया, कृष्ण को शयन से उठाकर अग्नि के समीप बिठाया। विधिपूर्वक हवन करके उन्होंने अग्नि की प्रदक्षिणा करायी, तथा वेदोक्त सप्त मंत्रों के पाठ के साथ राधिका का हाथ हरि के वक्ष पर तथा श्रीकृष्ण का हाथ राधा की पीठपर स्थापित करते हुए राधा और कृष्ण द्वारा परस्पर पुष्प-मालाओं का आदान-प्रदान कराया। विवाह की अन्य 'वेदोक्त' विधियाँ सम्पन्न करते हुए ब्रह्मा ने कृष्ण को प्रणाम किया और राधा का कन्यादान किया। विवाह-कार्य सम्पन्न होने पर देवताओं ने पुष्पवर्षा की, मुरज, दुदंभि आदि का वादन किया। अंत में भक्ति की याचना करके तथा पूर्ण आश्वासन पाकर ब्रह्मा चले गये।[२०]

अब पुराणकार को राधा-कृष्ण के रति-विलास के वर्णन का अवसर मिलता है, जिसमें

---

१ श्लोक २५—२८। १६. वही, श्लोक ३२—६। १७. वही, श्लोक ४६—५३। १८. वही, लोक ५४—५७। १९. वही, श्लोक १०३—१०४। २०. वही, श्लोक ११६—१३५।

वह उच्छिष्ट ताम्बूल-चर्वण, मधुपान तथा चंदन, अगरु, कस्तूरी, कुंकुम से अंग-लेपन का वर्णन करते हुए उनकी सुरति का अत्यंत खुला चित्रण करता है।[21]

राधा का शृंगार करने के बाद कृष्ण कैशोर छोड़कर पुनः शिशु रूप हो जाते हैं और क्षुधित होकर रोने लगते हैं—ठीक उसी प्रकार भयभीत जैसा नंद ने उन्हें राधा को दिया था। शोकार्त, विरहातुर राधा इधर-उधर देखती हुई रोने लगती हैं। कृष्ण उन्हें नित्य रति का आश्वासन देते हैं।[22] राधा बालक को गोद में लेकर नंद-मंदिर जाती हैं—और उसे यशोदा को सौंपते हुए कहती हैं, तुम्हारे स्वामी ने इसे गोष्ठ में मुझे दिया था, मेघाच्छन्न दुर्दिन में इसके वस्त्र गीले हो गये हैं, यह भूख के कारण रो रहा है। यशोदा कृष्ण को लेकर उन्हें दूध पिलाने लगती हैं।[23]

राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन के इस वर्णन में जयदेव के 'गीत-गोविंद' से कुछ समता अवश्य पायी जाती है। कहीं-कहीं तो कुछ शब्दावली की भी विशेष रूप से आकाश के मेघाच्छन्न होने के वर्णन में समानता है। 'सूरसागर' में भी वृन्दावन के सुख-विलास संबंधी वर्णन में एक पद आया है, जिसमें गगन के फहराने, काली घटा के एकत्र होने, आँधी, बिजली आदि का लगभग ऐसा ही उल्लेख है तथा कहा गया है कि नंद भयभीत होकर राधा से कहते हैं कि तुम कृष्ण को घर ले जाओ, दोनों साथ-साथ जाओ। यह सुनकर राधा कृष्ण का हाथ पकड़ लेती है और दोनों घने वन की ओर विहार के हेतु चल देते हैं।[24]

इस अंतर के साथ कि 'सूरसागर' के वर्णन में मानवीय स्वाभाविकता है, जबकि पुराण और 'गीतगोविंद' कृष्ण को शिशु रूप में वर्णित करते हुए अलौकिक चमत्कार की व्यंजना की ओर अधिक उन्मुख हैं, तीनों में जो साम्य है वह आकस्मिक अथवा किसी समान स्रोत पर आधारित, एक दूसरे से असंबद्ध नहीं कहा जा सकता। 'सूरसागर' का वर्णन तो 'गीतगोविंद' से प्रभावित माना ही जायगा, क्योंकि दोनों के पूर्वापर रचनाकाल के विषय में कोई सन्देह नहीं है, परन्तु यही बात 'ब्रह्मवैवर्त' के विषय में निःसंकोच नहीं कही जा सकती। 'ब्रह्मवैवर्त' के रचनाकाल का निर्णय करने में उसके अनेक वर्णन-चित्रण सहायक हो सकते हैं और उनमें राधा-कृष्ण का यह प्रथम मिलन और विवाह भी सम्मिलित है। 'सूरसागर' में राधा-कृष्ण विवाह का वर्णन रास-क्रीड़ा के अंतर्गत हुआ है और उसमें यद्यपि ब्रह्मा के योगदान का उल्लेख है, परन्तु विवाह के पूर्वापर प्रसंगों में 'ब्रह्मवैवर्त' से पर्याप्त भिन्नता है।

* * *

उपर्युक्त तीन प्रसंगों से ही सूचित होता है कि 'ब्रह्मवैवर्त' के 'श्रीकृष्ण जन्म खंड' में राधा की अत्यधिक महत्ता है। वैष्णव धर्म में राधा की इतनी, और इस प्रकार की महत्ता १६वीं शताब्दी ईसवी से पहले भी कभी थी, इसका कोई प्रमाण आज तक नहीं मिला। यह बात भी 'ब्रह्मवैवर्त' के रचना-काल के निर्णय में सहायक हो सकती है। इस पुराण के अध्ययन से एक और

---

२१. वही, श्लोक १४०–१६०। २२. वही, श्लोक १६३–१७०। २३. वही, श्लोक ७१–१७५। २४. सूरसागर, पद १३०२।

तथ्य असंदिग्ध रूप में हमारे सामने आता है, और वह यह कि इस पुराण पर शाक्त मत का असाधारण प्रभाव है। पुराण की जगदम्बिका राधिका शाक्तों की चंडिका या दुर्गा की ही प्रतिच्छाया हैं, तथा पुराणकार की राधा-भक्ति शाक्तों की मातृ-भक्ति का ही रूपांतरण है। इस वस्तुस्थिति से यह भी संकेत मिलता है कि इस पुराण की रचना उसी प्रदेश में हुई होगी जहाँ माँ दुर्गा की उपासना जन-जीवन में समायी हुई है। संपूर्ण पुराण के अध्ययन के उपरांत मन में यह प्रश्न भी स्वभावतः उठने लगता है कि क्या 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण की रचना में सोलहवीं शताब्दी ईसवी के गौड़ीय वैष्णव आचार्य—रूप गोस्वामी अथवा उनके भतीजे जीव गोस्वामी—का कोई हाथ रहा होगा? परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अधिक विस्तार की आवश्यकता है।

•

पारसनाथ तिवारी

संतों द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द का अर्थ-विकास

कामशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में जहाँ 'सुरति' शब्द का प्रयोग रतिक्रीड़ा तथा प्रेम (सु-रति) के अर्थ में हुआ है वहाँ दूसरी ओर संत-साहित्य में उसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है जो आगे चलकर स्मृति या ध्यान के समानान्तर अर्थ में विकसित हो गया और उसी अर्थ में तुलसी,[1] सूर[2] आदि सगुण भक्तों ने भी उसका प्रयोग किया। सेनापति ने यमक के सहारे एक ही पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग उक्त तीनों अर्थों में किया है—"सेनापति साँवरे की सुरति की सुरति की सुरति कराइ करि डारत बिहाल हैं।"[3]

संतों द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द के संबंध में सबसे पहले डॉ० बड़थ्वाल ने विस्तार से विचार किया[4] और यह मत निर्धारित किया कि "हिंदी में सुरति का सामान्य अर्थ है स्मृति, याद . . .और इस अर्थ में यह शब्द संस्कृत के 'स्मृति' शब्द से निकला है। 'म्' का लोप, 'अ' का 'उ' में परिवर्तन और उसके संसर्ग से 'र' का आगम—इस प्रकार 'सुरति' शब्द सिद्ध हुआ।"[5] संपूर्णानन्द जी ने 'सुरति' को 'स्रोत' से व्युत्पन्न माना है और उसका अर्थ 'चित्तवृत्ति-प्रवाह' किया है।[6] 'धम्मपद' में मन के ३६ स्रोत माने गये हैं—आँख, कान, नाक, जीभ, काया (त्वचा) आदि ३६ स्रोतों में मन सदैव प्रसरण करता रहता है—

> यस्स छत्तिसती सोता मना पस्सवना,
> वाहा वहन्ति दुदिट्ठि संकप्पा राग निस्सिता॥(२४, ६)

अर्थात् जिसके छत्तीस स्रोत मन को भली लगने वाली वस्तुओं में ही लगाते हैं उसके लिए (वे) रागनिःसृत संकल्प दुर्दृष्टि का ही वहन करते हैं।

किंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह दोनों व्युत्पत्तियाँ संदेहास्पद प्रतीत होती हैं। 'स्मृति' का विकसित रूप मध्यकालीन हिंदी साहित्य में 'सुंम्रित' या 'सिंम्रित' मिलता है और 'स्रोत' से 'सुरति' होना तो और भी अधिक असंभव जान पड़ता है। 'उ' के 'ओ' में परिवर्तित हो जाने के

---

१. उदा०—बार बार रघुनायकहिं सुरति कराएहु मोरि।—रामचरितमानस; उ० का०; दो० १९ (क), गी० प्रे० संस्क०। २. घर को बन की सुरति न काहूँ लेहु वही यह कहत फिरै।—सूरसुषमा; पृ० १९२। ३. योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ, वारांणसी, पृ० २४ पर डा० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत। ४. दे० वही; सुरति-निरति, पृ० २३–३३। ५. वही; पृ० २३–२४। ६. विद्यापीठ (त्रैमासिक); भाग २; पृ० १३५।

उदाहरण हिंदी में अनेक मिलते हैं; जैसे—सं० कुक्षि > हिं० 'कोख', हिं० 'छूत' > संत० 'छोति', हिं० 'भूल' > संत० 'भोलि' (उदा० 'जे मनि पाड़ी **भोलि**' —कबीर), हिं० 'सुधि' > संत० 'सोधी' (उदा० '**सोधी** सईं न दाति'—कबीर) हिं० सूझ > संत० 'सोझी' (उदा० 'गुर बिन **सोझी** झ न होइ' = सूझ बूझ नहीं होती—नानक; गुरगमि तैं **सोझी** पाई—कबीर); किंतु 'ओ' के 'उ' में परिवर्तन के उदाहरण दुर्लभ ही हैं; और फिर 'स्रोत' से 'सुरति' का संबंध जोड़ना तो कष्टकल्पना ही ज्ञात होती है।

मेरा विचार है कि संतों का 'सुरति' शब्द सं० 'श्रुति' (श्रवणार्थे) से विकसित हुआ है। उपनिषदों में संतों के शब्दयोग से मिलते-जुलते अनेक उल्लेखों (दे० छान्दोग्य० ५।१०।१०; वृहदारण्यक० ५।९।१; मैत्र्युपनिषद् ६।२२-२३) के साथ ही साथ छान्दोग्योपनिषद् (३।१३।८) में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जो 'सुरति' शब्द के अर्थ-विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे **स**ᳪस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा **श्रुतिर्य**त्रैतत्कर्णावपि गृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति तदेतद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद।

जहाँ इस शरीर में स्पर्श से जो उष्णत्व जानता है, उसका इस प्रकार **श्रवण** भी होता है जब दोनों कानों को अँगुलियों से ढक कर (रथ के) घोष के समान, (वृषभादि के) नाद के समान और जलती हुई अग्नि के समान जो सुनता है; वही इसका दृष्ट और श्रुत ज्ञान प्रसिद्ध है। (इस प्रकार) वह दर्शनीय और विश्रुत (दोनों) है; जो ऐसा जानता है, जो ऐसा जानता है।

पूर्ववर्ती संतों की वाणी में इस शब्द के ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनसे **उसके श्रवणार्थ** की ही पुष्टि होती है। इस संबंध में कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

१—नाथपंथ के सम्मानित ग्रंथ 'मछींद्र गोरखबोध' में गोरखनाथ की इस जिज्ञासा पर कि—

कौंन बीरज कौंन षेत्र। कौंन श्रवण कौंन नेत्र॥

मत्स्येन्द्र ने उत्तर दिया—

अवधू मंत्र बीरज मति षेत्र। **सुरति श्रवण** निरति नेत्र॥[७]

२—पुनः उसी ग्रन्थ में गोरख के यह पूछने पर कि—

करण बिन कौंन श्रवण। मुख बिन कौंन सबद॥

मत्स्येंद्र का कथन है—

करण बिन सुरति श्रवण। मुख बिन लय सबद॥[८]

३—'सिस्ट पुराण' में यह बतलाया गया है कि "काया उपरांति क्षेत्र नांहीं. . . चक्षु उपरांति दृष्टि नांहीं। **श्रवण उपरांति सुरति नाहीं**।"[९]

---

७. गोरखबानी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल संपादित; साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; प्र० संस्क०; पृ० १८७। ८. वही; पृ० १९६। ९. वही; पृ० २३६।

४—'सुनने' से 'सुरति' का संबंध 'रोमावली' की निम्नलिखित पंक्ति से भी ध्वनित होता है—

दृष्टि कहै क्यूं लीजै दीजै। **सुरति** कहै क्यूं बोलिए **सुणिए**॥[१०]

५—गोरखनाथ की एक सबदी में निर्वाण पद का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा, **सुरति लुकाइबा कानं।**
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबानं॥[११]

६—ऐन विरह (=सच्चा विरह) उत्पन्न हो जाने पर सारा स्थूल-सूक्ष्म संघात प्रिय की मधुर वाणी की **सुरति** या **श्रवण के लिए कान बन जाता है,** स्मरण के लिए रसना बन जाता है और देखने के लिए नेत्र बन जाता है—

सब घट श्रवनां सुरति सौं, सब घट रसना बैंन।
सब घट नैंना ह्वै रहे, दादू बिरहा अैंन।[१२]

७—'सुरति' का श्रवण से संबंध दिखाने के लिए दादूवाणी के दो स्थल और भी द्रष्टव्य हैं—

(क) श्रवणौं सुरति गई नैंन न सूझै।
मुधि बुधि नाठी कह्या न बूझै॥[१३]

(ख) श्रवणौं सुरति जब जाई।
ए तबका सुणिहै भाई॥[१४]

'श्री गुरुग्रंथ साहब' में भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें मे कुछ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

८—जीउ पाइ तनु साजिआ, राखिआ बणत बणाइ।
अक्खी देखै जिहवा बोलै, **कन्नी सुरति समाइ॥**[१५] (नानक)

९—**सुरति** मति चतुराई ताकी किआ करि आखि बखाणिए।[१६] (गुरु अंगद)

१०—हरि आपे **सुरति** सबद धुनि आपे।[१७] (रामदास)

११—भुजबल बीर ब्रहम सुख सागर गरत परत गहि लेहु अगुरीआ।
स्रवन न सुरति नैन सुन्दर नही आरत दुआरि रटत पिंगुरीआ॥[१८] (अर्जुन देव)

१२—सबद सत्ति सत्ति प्रभु बकता।
सुरति सत्ति सत्ति जसु सुनता॥[१९] (अर्जुन देव)

१३—**जेता सबदु सुरति धुनि तेती** जेता रूपु काइआ तेरी।[२०] (नानक)

---

१०. वही; पृ० २०४। ११. वही; सबदी ७५; पृ० २७। १२. स्वामी दादू दयाल जी की वाणी, मंगलदास संपादित, पृ० ७८। १३. वही; पृ० ५७०। १४. वही; पृ० ६१०। १५. श्री गुरुग्रंथ साहब; सर्व हिन्द सिक्ख मिशन संस्करण; पृ० १३८–१५, १६। १६. वही; पृ० वही; पंक्ति २०, २१। १७. वही; पृ० १६५–१३, १४। १८. वही; पृ० २०३–३, ४, ५। १९. वही; पृ० २८५–१२। २०. वही; पृ० ३५०–६।

१४—नामै सुरति सुनी मन भाई।
जो नाम सुनावै सो मेरा मीत सखाई॥[21] (रामदास)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पूर्ववर्त्ती संतों में 'सुरति' शब्द का प्रयोग प्रथमतः सुनने की क्रिया अथवा श्रवण के लिए आरंभ हुआ और शब्द या नाद से इसका संबंध स्वभावतः जुड़ गया। संतों की साधना मुख्यतया शब्द या अनाहत नाद की साधना है जो स्वतः एक सूक्ष्म प्रक्रिया है और 'सुरति' शब्द भी इसी प्रक्रिया से संबद्ध होने के कारण शनैः शनैः सूक्ष्म अर्थ-विकास की ओर अग्रसर होने लगा।

'ब्रह्मंडे सो पिंडे जानि' इस सिद्धान्त-वाक्य के अनुसार योगियों तथा सन्तों की यह मान्यता है कि बाह्य जगत् में जो महाशब्द परिव्याप्त हो रहा है उसी का प्रतिरूप पिंड अथवा शरीर में भी अनाहत नाद होकर समाया हुआ है। साधक को उसीमें मन लगाना चाहिए; यही परमार्थ है—शेष सब दुनियावी धंधे व्यर्थ हैं। इस अंतर्मुखी साधना के लिए संतों ने बाह्य स्थूल इंद्रियों की अपेक्षा उनके अंतर्मुखी सूक्ष्म रूप को ही अधिक महत्व दिया। गोरखनाथ ने जब 'दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कानं' द्वारा निर्वाणपद का निरूपण किया तो उसमें इंद्रियों की इसी अंतर्मुखी वृत्ति या प्रत्याहार की ओर संकेत किया है। इस प्रकार जो स्थूल श्रवणेन्द्रिय या कान है, 'सुरति' उसीकी आंतरिक सूक्ष्म इंद्रिय या वृत्ति मानी गयी और इस 'सुरति' को शब्द के साथ एकाकार करने के उपदेशों से संत-साहित्य भरा पड़ा है; उदाहरणतया —

१—बरष (= बिरिष, वृक्ष) एक देषिलै हो पंडिता
तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई॥[22]

२—उनमुन धुनि में सुरति समाऊँ उलटी गंग बहाऊँगा।[23]

३—भटक की तुम कथा छोड़ो, सुरति शब्द समाव।[24]

४—मनुवा सबद सुनत सुख पावै।
जेहि बिधि धुधकत नाम अनाहद, तेहि बिधि सुरति लगावै।[25]

५—गुरमुखि सुरति सबद नीसानु।[26] (नानक)

इसी सूक्ष्म साधना को संतों की पारिभाषिक शब्दावली में 'सुरति-शब्द योग' कहा गया। साधना के क्षेत्र में संतों की यह एक मौलिक विशेषता है जो उन्हें नाथयोगियों की स्थूल काया-साधना या हठयोग से पृथक् करती है। संतों की विचारधारा के अनुसार योगियों की हठयोग द्वारा प्राप्त समाधि जड़ समाधि है। इसके विपरीत सुरति-शब्दयोग सूक्ष्म मन की सूक्ष्म साधना है। यह सुरति-साधना संतों में इतनी प्रचलित हुई कि 'सुरति कमाना' एक मुहावरा हो गया और सुरति साधने वाले को 'सुरती' कहा जाने लगा। नानक ने कहा है —

---

२१. वही; पृ० ३६७—१२, १३। २२. गो० बा०; सबदी २२१, पृ० ७२। २३. गुलाल साहब, महात्माओं की बाणी; भुरकुड़ा, गाजीपुर; पद १०७—२, पृ० ३९। २४. वही; पद १६४—२; पृ० ५७। २५. भीखा साहब; वही; पद ३०२—२, पृ० १०९। २६. श्री गुरुग्रंथ साहब; पृ० ४१४—१०।

सभि **सुरती** मिलि **सुरति** कमाई।
सभ की मति मिलि कीमति पाई॥[२७] (नानक)

श्रवणेन्द्रिय की सूक्ष्म वृत्ति को शब्द की ओर उन्मुख करने की भावना में पुनः विकास हुआ और वह केवल श्रवणेन्द्रिय की सूक्ष्म वृत्ति की परिधि में सीमित न रह कर समग्र चित्त की वृत्ति बन गयी और 'ध्यान' अथवा 'याद' या 'खयाल' का समानार्थी हो गयी; क्योंकि शब्द-साधना में ध्यान को ही प्रमुखता दी जाती थी। मेरा अनुमान है कि तुलसी, सूर आदि के आविर्भाव-काल तक यह शब्द इस अर्थ में भलीभाँति जनता में प्रचारित हो चुका था; किंतु इसके आदि प्रचारक संत लोग ही ज्ञात होते हैं। इस अर्थ में यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि आज का साधारण ग्रामीण भी कहता है कि 'अमुक बात हमारी **सुरता** में नहीं आती' अर्थात् याददाश्त में नहीं आती। मुहावरे में 'सुरता से उतर जाना' या 'सुरता पर चढ़ना' भी कहा जाता है। ठीक-ठीक इसी अर्थ में प्रयुक्त इस शब्द के उदाहरण संत-साहित्य में अत्यधिक संख्या में मिलते हैं; जिनमें से कुछ रोचक उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—सीप की सुरति आकास बसतु है, चित्त चकोर चंद लाई।[२८] (यारी)
[सीप की सुरति = सीप की चित्तवृत्ति।]

२—जन हरिदास भजि रांम मनि मेल राखै नहीं
सुरति संसार सूं उलटि तांणै।[२९]

३—जिसकी सुरति जहां रहै, तिसका तहां बिसराम।[३०]

अस्तु, ध्यान अथवा स्मृति का समानार्थी हो जाने पर ध्यान की निरंतरता के आधार पर सुरति के लिए अनेक रूपकों की सृष्टि हुई—'सुरति धागा'[३१] अथवा 'सुरति डोर'[३२] की चर्चा होने लगी। कदाचित् ध्यान की मस्ती के आधार पर सुरति को शराब भी माना गया—

प्रेम पियाला सुरति भरि पीयो, देखो उल्टी बाट।[३३] (यारी)

यही नहीं, हठयोग की कुंडलिनी के अनुकरण पर परवर्ती संतों ने उसे शक्ति या चेतना का एसा गतिमान तेजपुंज भी माना जो साधना के उत्कर्ष या अपकर्ष के कारण पिंड में ऊर्ध्वगामी अथवा तिरोगामी होता रहता है। गुलाल साहब कहते हैं—

देखो संतो सुरति चढ़ी असमान, दूजा और न आन।
जगमग ज्योति बरत अति निर्मल, देखि दरस कुर्बान॥[३४]

---

२७. वही; पृ० ३४९—३, ४। २८. महात्माओं की वाणी; पद ७-३, पृ० ३। २९. श्री हरिपुरुष जी की वाणी; जोधपुर; पृ० २९८-२। ३०. दादूबानी, योगप्रवाह, पृ० २८ पर डा० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत। ३१. उदा०—अवधू सुरति धागा सहज लागा। (हरिदास निरंजनी, श्री हरिपुरुष की वाणी; पृ० ९६)। ३२. तुल०—सुरति डोरी लगाय गगनहिं उठत है झंकार।—गुलाल साहब; महात्माओं की वाणी; पद १६५-२; पृ० ५८। ३३. वही; पद ८-५; पृ० ४। ३४. वही; पद १८७-१; पृ० ६५।

'शब्द विलास'[35] में कबीर के नाम से संकलित एक पद में बताया गया है —

जगर मगर एक नग्र, अग्र की डोर है।
बूझौ संत सुजान, शब्द घनघोर है।।
रूप नालि की डोर, निरंजन बास है।
सुरति रहै बिल्हमाय, मिलावत श्वास है।।
सोहं सुमिरन होय, सो दक्षिण कोन है।
तहँवा सुरति समाय, रहै उनमौन है।।

तथा— ऐसी तीखी सुरति है, फोरि गई ब्रह्मंड।
पीव कों न्यारा देखिया, सात दीप नौ खंड।।

पहले राधास्वामी-संप्रदाय वालों ने और फिर उन्हीं के अनुकरण पर अन्य परवर्ती संतों ने एक 'सुरति कमल' की भी कल्पना की जिसकी स्थिति सहस्रदल-कमल तथा ब्रह्मरंध्र मे भी आगे मानी गयी।

रूपक की परंपरा निरंतर आगे बढ़ती गयी, और कालांतर में 'सुरति' शब्द का पूर्ण मानवीकरण हो गया। कबीरपंथ की एक परवर्ती रचना 'सुरति-शब्द-संवाद'[36] में, जिसके तथाकथित रचयिता कबीर साहब बताये गये हैं, सुरति को शिष्य और शब्द को गुरु मानकर दोनों का वार्तालाप दिया हुआ है। परवर्ती संतसाहित्य में, और प्रमुख रूप से राधास्वामी-संप्रदाय के साहित्य में सुरति का वर्णन अनेक स्थलों पर अभिसारिका अथवा सुहागिन के रूप में भी मिलता है। 'सुरति' शब्द से संबद्ध इस मधुर भावना के विकास में दो प्रमुख प्रेरक तत्व ज्ञात होते हैं : प्रथमतः 'सुरति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंगवाची है और शब्द पुंलिंगवाची है (बौद्ध सिद्धों के सहजिया संप्रदाय में प्रज्ञा तथा उपाय के युगनद्ध रूप में तथा वैष्णव सहजिया संप्रदाय में राधाकृष्ण के युगल रूप में मधुर भावना की परंपरा पहले से वर्त्तमान थी); दूसरे 'सुरति' शब्द की कामशास्त्री परंपरा मैथुनपरक है। संतों की विचारधारा में विरह-भावना की प्रमुखता होने के कारण इस रूपक का आश्रय लेने में और भी अधिक प्रोत्साहन मिला होगा।

इस प्रकार मूल रूप से श्रवणार्थवाची 'सुरति' शब्द का साधना-भेद तथा परिस्थिति-भेद के कारण अभिसारिका के रूप तक पहुँच जाने का यह संक्षिप्त इतिहास है।

---

३५. बड़ैया गद्दी, जिला जौनपुर के स्व० महंथ गुरुशरणपति साहब द्वारा सं० १९६५ वि० में प्रकाशित (दे० पृ० १२३-२४ तथा १३०)। ३६. वहीं से सं० १९६४ में प्रकाशित।

●

नन्ददुलारे वाजपेयी

राष्ट्रीय साहित्य

साहित्य के विवेचन में दो तथ्य आज प्रायः स्वीकृत किये जा चुके हैं : एक यह कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, द्वितीय यह कि राष्ट्रीय होकर ही कोई साहित्य सारवान हो सकता है। प्रथम का आशय यह है कि साहित्य केवल कुछ नियमों का पालन करके निर्मित कर दी जाने वाली रचना अथवा मात्र-कल्पना द्वारा गढ़ी हुई प्रतिमा नहीं है। द्वितीय का आशय यह है कि अनुभूत चेतना, प्रवृत्ति, आशा तथा आकांक्षा से युक्त होने के कारण ही साहित्य का प्रभाव अबाध है। परन्तु इस व्यापक भूमि पर पहुँचने के लिए वह कवि के अपने परिवेश और उसके विशेष आत्म-गत अनुभव का ही आश्रय ले सकता है। इसलिए कहा जाता है कि राष्ट्रीय और जातीय चेतना के विशिष्ट स्वरूप को मूर्त्त किये बिना साहित्य अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण नहीं रख सकता और न वह सार्वभौम ही बन सकता है। वह मात्र शैली-शिल्प अथवा सिद्धान्त-प्रवचन बन जायगा। राष्ट्र या जाति के विशिष्ट अस्तित्व से युक्त न होने के कारण उसकी जीवन-शक्ति क्षीण और निष्प्रभ रहेगी। राष्ट्रीयता या जातीयता से हमारा आशय केवल जातीय बाह्य गुणों और विशेषताओं से नहीं है, केवल उन लक्षणों से नहीं है जो हम परम्परा के नाम पर दोहराते चले आते हैं; प्रत्यक्ष राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक सक्रिय और गंभीर जीवन से है जो एक साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से युक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय है। इसीलिए वह एक साथ राष्ट्र और सार्वभौमत्व की सीमाओं का स्पर्श करता है। स्पष्ट है कि हम यहाँ श्रेष्ठ और स्थायी साहित्य को दृष्टि में रखकर ही विचार कर रहे हैं, क्योंकि जैसे काल की दृष्टि से बहुत सी कृतियाँ केवल तात्कालिक महत्व की सिद्ध होती हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी कुछ कृतियाँ जातीय जीवन के ऊपरी स्तरों से ही संबद्ध रहती हैं तथा उसकी विशिष्ट गहराइयों में जाने की क्षमता नहीं रखतीं। अतएव यदि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वर्तमान समय में हमारी विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप क्या है और उसकी गहरी गति-विधि किस दिशा में है, तो यह उचित ही होगा।

वर्तमान समय की वास्तविक परिस्थिति भी इस कार्य के लिए हमें आमंत्रित करती है। बड़ी संख्या में नये सिद्धान्त और नयी विचारणा विदेशों से हमारे यहाँ प्रवेश कर रही हैं। न तो हम उन्हें वर्जित ही कर सकते हैं, क्योंकि आधुनिक समय में विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के जीवन से परिचित हो गये हैं और एक दूसरे के प्रभावों को अपना रहे हैं। पर इस प्रभाव-ग्रहण को हम अपने जातीय साहित्य का प्रतिनिधि रूप नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें हमारे जातीय जीवन की विशिष्ट प्रेरणाएँ और प्रशस्त तथा तलवर्ती भूमिकाएँ नहीं आ पाती हैं। वह बहुत कुछ ऊपरी

उपक्रम होता है और कुछ व्यक्तियों, समूहों या वर्गों तक ही सीमित रहता है। अतएव हमें अपनी मौलिक जातीय चेतना से संसर्ग रखना होगा ही जो व्यक्तिगत या खंडित वस्तु नहीं है, वरन् सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय और ऐतिहासिक है।

वह विवेक हमें कहाँ से प्राप्त हो जिसके आधार पर हम अपनी समष्टि से उत्तम के चयन द्वारा अपनी स्पष्ट इकाई को अक्षुण्ण रखते हुए जीवन की नवरचना की ओर प्रयाण कर सकें। बाहर से आने वाले विचारों का सक्रिय अध्ययन करने के लिए हमारे पास कौन सी दृष्टि होगी ? वह दृष्टि वस्तुतः हमें अपने भीतर से ही प्राप्त हो सकती है। हमारी विशिष्टता इसमें नहीं है और न हमारा कोई योगदान ही इसमें है कि विश्व की ज्योति और ज्वाला किस प्रकार हम पर टूटती है; किन्तु इसमें है कि किस प्रकार हम चयन-पूर्वक उन्हें आत्मसात् करते हैं और परिपूर्ण संकल्पित आचरण तथा कार्य के द्वारा उनका अनुशासन करते हैं।

ऊँचाई के इस स्तर तक उठने की क्षमता क्या हम में है ? क्या उन उपकरणों का आकलन और सन्निवेश हम अपने साहित्य में कर रहे हैं ? सच पूछा जाय तो इस विषय पर हम सतर्क रह कर भी आशावान और आश्वस्त हैं। हम अपनी आशा और आश्वासन के लिए उपयुक्त कारण भी पाते हैं।

भारत आधुनिक युग के विश्व-जीवन में अन्य राष्ट्रों का समभागी होकर भी उनमे भिन्न है। राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है। उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आपात और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश ही है। जिन परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रतिक्रिया से भारत गुज़रा है वे अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखती हैं। उनके अनुरूप हमारी चेतना और व्यापक जीवन-परिवेदनों का निर्माण हुआ है। उदाहरण के लिए अमेरिका का इतिहास तीन सौ वर्ष पुराना है तो हमारा इतिहास कम-से-कम तीन सहस्र वर्षों की दीर्घ अवधि को आबद्ध किये हुए है। ऐसे दो देशों की राष्ट्रीय चेतना और समस्याओं में अन्तर होना स्वाभाविक है। अतएव बहुत ऊँचे धरातल पर कतिपय आदर्शों की भूमिका में समान होकर भी व्यावहारिक धरातल पर एक दूसरे से भिन्नता हमें स्वीकार करनी पड़ेगी। यही नहीं, जनसंख्या और भौगोलिक विस्तार तथा संपत्ति का अनुपात भी दोनों देशों में एक दूसरे से बहुत भिन्न है। दोनों की समस्याएँ एक सी नहीं हैं। एक ओर अपार वैभव है तो दूसरी ओर बहुत अभाव। किन्तु ऐतिहासिक अवधि के अन्तर के कारण संस्कृति के क्षेत्र में जहाँ अमेरिका नवजात है वहाँ भारत बहुत समृद्ध है। अतएव जो विचार और दर्शन अमेरिका में उत्पन्न हुए हैं, वे सदा और यथावत् हमारे स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।

लम्बी और समृद्ध विरासत कभी-कभी हमसे भारवाहिता भी कराती है और हमारे विकास की गति को पूर्णतया अवरुद्ध नहीं तो अपेक्षाकृत मंथर अवश्य बना देती है। अमेरिका इस भारवाहिता से मुक्त है। उसे एक साफ़ स्लेट पर नया जीवन लिखने का अवसर मिला है; उसके विकास में चमत्कारी क्षिप्रता है और उसके लिए यह एक गौरव की बात है कि वह बहुत थोड़े समय में संसार का सबसे संपन्न और अत्यधिक सबल राष्ट्र बन गया है। किन्तु दूसरी ओर जीवन की जिन गहराइओं तक पहुँचने का अवसर हमें मिला है, बहुत दूर तक अमेरिका

को उनका अनुभव नहीं है। इस तुलना में वह सरल रेखाओं से बने हुए एक सादे चित्र के समान है जब कि हम एक अधिक गंभीर अनुभव की वाणी बोल सकते हैं।

अमेरिका के सर्वोत्तम लेखकों ने अपनी इस पृष्ठभूमि और परिस्थिति के कारण एक मध्यम मार्ग अपनाया है। इसमें सर्वप्रमुख स्थान मानवतावादी दृष्टिकोण को मिला है। मार्क ट्वेन और वाल्ट ह्विटमेन जैसे लेखक और कवि इस तत्व-विशेष की उपस्थिति के कारण अन्य देशों में भी महत्ता और सम्मान पा सके हैं। उनकी मानवतावादी दृष्टि में एक प्रकार की सरलता है, क्योंकि लम्बे इतिहास के अनुभवों से जो जटिलता आती है, उससे ये लेखक सर्वथा मुक्त हैं। केवल वस्तु में ही नहीं, शिल्प में भी इसी सरलता का प्रसार मिलता है और वाल्ट ह्विटमेन का वह काव्य-शिल्प सामने उपस्थित होता है जिसे फैलाव वाला पद्य (sprawling verse) कहा गया है। अनेक कारणों से यह मध्य मार्ग भारतीय वातावरण के अनुकूल है, क्योंकि भारत सदैव सहिष्णुता और अतिशयों के बीच से मार्ग निकाल कर चलने वाला देश रहा है। यही नहीं वर्तमान युग के बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ हमारे राष्ट्रीय विकास में मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता रही है। अतएव यद्यपि हमारी परिस्थितियाँ अपने ढंग से अधिक जटिल हैं और भौतिक जीवन की समस्याएँ हमें प्रबल रूप में आक्रान्त करती हैं, तथापि मानवतावाद को केन्द्र बनाकर चलने वाला मध्य मार्ग हमारी भावनाओं और आशंसाओं के अनुरूप पड़ता है। स्पष्ट है कि यह निष्कर्ष निकालते हुए हम पूर्णतया अमेरिका के उत्कृष्ट साहित्य को ही प्रतिमान बना रहे हैं।

इस मानवतावादी भूमिका के साथ एक और तत्व अमेरिका के जीवन और रीति नीति के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति 'स्वतन्त्रता' तथा 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' (liberty of the individual) जैसे शब्दों के साथ की जाती है। ये शब्द मनुष्य के संकल्प को महत्व देते हैं और उसे परिस्थिति के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। इनका मौलिक विरोध समस्त प्रकार के नियतिवाद (determinism) के साथ है। यह उस दृष्टिकोण का नाम है जिनमें मनुष्येतर प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक शक्तियों को मूलकर्ता और नियामक बनाया जाता है। भाग्यवाद और प्रकृतिवाद की उत्पत्ति इसी 'डिटर्मिनिस्टिक' दृष्टि से होती है, अतएव मानवतावाद जहाँ तक मनुष्य की स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति का आख्यान करता है, मनुष्य को एक विशिष्ट गौरव का पद प्रदान करता है वहाँ तक उसकी मौलिक प्रेरणा स्वतन्त्रता से युक्त है। वर्तमान युग में हमने केवल विदेशी शासन के ही नहीं, किन्तु अपनी पुरानी मृत रुढ़ियों के बंधन भी तोड़ फेंके हैं और एक नये जीवन की ओर अपना अभियान आरम्भ किया है। हमारी यह परिस्थिति स्वभावतः ऐसे दृष्टिकोण को हमारे हृदय के समीप लाती है जिसमें स्वतन्त्रता और मानवीय कर्त्तव्य की प्रधानता है।

'स्वतन्त्रता' या 'मुक्ति' शब्द भारत के लिए नया नहीं है। यह केवल वर्तमान काल की परिस्थिति से सम्बद्ध न होकर हमारी संस्कृति के गहनतम स्तर और हमारे तत्व-चिन्तन के केन्द्र से युक्त है। भारतीय वेदान्त विश्व के दर्शनों में एक अनूठा दर्शन है जो मनुष्य को केवल प्रकृति से प्रबलतर ही नहीं मानता, प्रत्युत समस्त सृष्टि की मूल शक्ति के साथ उसे अभिन्न करता है। मुक्ति का आशय इसमें जीवन से पलायन नहीं, प्रत्युत जैसा कि वर्तमान युग में भी विवेकानन्द

ने प्रस्तुत किया, अनन्त अभय और अमरत्व है। इसीलिए 'स्वतन्त्रता' या 'मुक्ति' शब्द का हमारे लिए बहुत गंभीर अर्थ है। इस विषय की हमारी परिकल्पना संभवतः वर्तमान युग की परिस्थिति में इससे व्यक्त अमरीकी मंतव्य से कहीं विशाल और भव्य है। उसकी उपस्थिति के कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा स्वतंत्रता जैसे तत्व जब भी हमारे समक्ष आते हैं तब उनके साथ हमारी सहज सहानुभूति हो जाती है। किन्तु उनमें हमें जो कुछ मिलता है वह केवल आरंभिक वस्तु है और अपनी पुष्ट संस्कृति के उत्तराधिकारी हम उससे कहीं आगे जाना चाहते हैं।

इसीलिए विदेशियों को कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों और आस्थाओं से युक्त भारत रूस जैसे साम्यवादी देशों से क्यों कर बंधुत्व का संबंध रखना चाहता है? उनकी दृष्टि में रूस और अमेरिका दिन और रात के समान हैं। एक से प्रेम करने के लिए दूसरे से घृणा भी उतनी ही अनिवार्य है। अतएव भारत की मनोवृत्ति समझने में उन्हें कठिनाई होती है और उस कठिनाई का दोष वे कभी-कभी भारत पर भी रखते हैं। भारत उन्हें अस्थिर और अनिश्चित प्रतीत होता है, क्योंकि वे अपने ही केन्द्र से भारत को परीक्षा करना चाहते हैं। वे यह सोचने का प्रयास नहीं करते कि उनके समान ही भारत का भी अपना एक केन्द्र है और उसे समझ लेने पर उसकी गतिविधि में विशृंखलता अथवा अनिश्चय के दर्शन नहीं होते, वरन् वहाँ एक सक्रिय संकल्प प्राप्त होता है। केवल तात्कालिक इतिहास और परिस्थितियों को देखने वाले इस केन्द्र और संकल्प की तह तक नहीं पहुँच पाते। ऐसी स्थिति में जैसे पश्चिम को समझने में कठिनाई होती है कि उसका मित्र होकर भारत रूस का भी मित्र कैसे हो सकता है, उसी प्रकार भारत को भी यह समझने में कठिनाई होती है कि शान्ति के लिए समान रूप से आकुल होकर भी पश्चिम और रूस मित्र क्यों नहीं हो पाते?

रूस के साथ मार्क्सवाद का नाम युक्त है। मार्क्सवाद को व्यावहारिक धरातल पर उतारने का सबसे बड़ा कार्य रूस ने ही किया है। इसीलिए विदेश के विद्वान् बहुधा उसे इस सिद्धान्त और उसके उन्हें प्रिय न लगने वाले लक्षणों के आधार पर देखते हैं, किन्तु अमेरिका और भारत के समान रूस का भी एक इतिहास है। उस इतिहास में भी अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें हम अपने समीप पाते हैं और सन् १९१७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् भी जिनका तिरोभाव नहीं हुआ है। भारत इतिहास और संस्कृति की इसी गतिमानता में रूस को देखता है। अमेरिका के समान वह भी अल्प जनसंख्या और विशाल-विस्तार का देश है। पश्चिमी राष्ट्रों में वह बहुत समय तक पिछड़ा रहा है तथा अन्य देशों के निहित स्वार्थ वहाँ जड़ जमाये रहे हैं। एक समय तक एक विदेशी भाषा अर्थात् फ्रेंच वहाँ की राजभाषा रही है। १९वीं शती में स्पष्टतः दो प्रकार के बुद्धिवादी वहाँ मिलते हैं। एक जो पश्चिमी विकास से प्रभावित होकर रूस के पश्चिमीकरण के पक्षपाती थे और दूसरे वे जो राष्ट्रीयता और जातीयता के हिमायती थे। इस द्वितीय कोटि के लोगों से उस सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसे 'स्लावोफ़िलिज्म' या स्लावप्रेम कहा गया है। साम्यवादियों की विजय के साथ एक विशेष रूप में इस राष्ट्रीय भावना की पुष्टि हम स्तालिन के शासनकाल में देखते हैं। वहाँ की अनेक बातें हमें पसन्द नहीं आतीं, किन्तु ऐतिहासिक विकास में विज्ञान की प्रमुखता के साथ ताल्स्ताय जैसे लेखकों का उदय और राष्ट्रीय भावना का क्रमशः विकास, अभाव

की स्थिति से सम्पन्नता की ओर वहाँ की जनता का संकल्पित और कर्मठ अभियान हमें अपनी भावना के अतिशय समीप प्रतीत होता है।

रूस और साम्यवाद ने गोर्की और उसके पश्चात् 'नो अर्डिनरी समर', 'एण्ड क्वाएट फ्लोज़ दी डॉन', 'दि फ़ाल ऑफ़ पेरिस' जैसी औपन्यासिक कृतियों के यशस्वी रचयिताओं के रूप में क्रमशः कान्सतैन्तिन फ़ेदिन, शोलाखोव और इलिया एहरेनबुर्ग जैसे लेखक भी दिये हैं। रूस ही नहीं, समस्त विश्व के साहित्य-क्षेत्र में इनका सम्मान हुआ है। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में उपन्यास के विशिष्ट विकास के द्वारा रूस विश्व के साहित्यक रंगमंच पर उपस्थित हुआ था। उनकी यह परम्परा सोवियत काल में भी विकसित होती रही है। जैसे हमने अमेरिका के उल्लेख में उसके सर्वोत्तम पर ध्यान रखा था, वैसे ही यहाँ भी हमारा ध्यान रूस के सर्वोत्तम पर ही केन्द्रित है। जैसे अमरीकावासियों ने अपनी क्षमता के बल पर एक नये महाद्वीप पर विश्व के एक अग्रणी राष्ट्र की सृष्टि की, वैसे ही एक भिन्न व्यवस्था का आश्रय लेकर रूस ने भी बहुत ही स्वल्पकाल में अपने को एक अग्रणी और अत्यधिक सबल राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत किया है। कितना भी विरुद्ध होकर कोई यह सम्मान उस देश से छीन नहीं सकता।

रूस की उपन्यास-परम्परा में ताल्स्ताय का उल्लेख करते हुए मैथ्यू ऑर्नाल्ड ने उसके उपन्यासों को 'जीवन का वास्तविक प्रतिरूप' (slice of life) शब्द-समुच्य से पुकारा है। महाकाव्यात्मक उपन्यास (epic novel) की चर्चा हुई थी और जैसे एक युग में महाकाव्य समस्त राष्ट्र के जीवन की समष्टि का अभिव्यंजक माना जाता था, उसी प्रकार आधुनिक युग के महाकाव्य-स्थानापन्न के रूप में उपन्यास को स्वीकार किया गया है। व्यापक ज़ीवन को अनु-स्यूत करते हुए, विविध चित्रों को एक पट में उतारते हुए उपन्यास-सृष्टि की यह परम्परा अन्य देशों के कतिपय पुराने लेखकों में भी प्राप्त होती है, पर मुख्यतः वह आधुनिक रूस की विशिष्टता है। आज भी उसका क्रम हमें वहाँ चलता हुआ दिखाई पड़ता है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिवादी उपन्यासों की बाढ़ के समक्ष यह स्वस्थ पद्धति या शैली हमें अधिक गंभीर रूप में प्रभावित करती है।

रूस में विभिन्न देशों के स्थायी साहित्य (classics) का भी पर्याप्त प्रचार हुआ है। कहा जाता है कि शेक्सपियर के नाटक जितने अधिक रूस में खेले जाते हैं, उतने अन्य किसी भी देश में नहीं। भारत के कालिदास और शूद्रक, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द्र भी वहाँ के अत्यधिक प्रिय विदेशी लेखक और कलाकार हैं। यह सच है कि इन नाट्य अभिनयों और उपर्युक्त लेखकों की कृतियों की व्याख्या को रूस में एक नया मोड़ दिया गया है, किन्तु उससे हमें इन कृतिकारों और उनकी कृतियों को एक नये रूप में समझने और महत्व देने का अवसर ही मिला है। रूस के सिद्धान्त और कार्यों में सामाजिकता का जो आग्रह है, जन-जीवन की जो महत्ता है, वह हमें एकाकी व्यक्तित्व की धारणा की तुलना में अधिक स्वस्थ और उपादेय प्रतीत होती है। मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति एक प्रकार का संश्लिष्ट ऐतिहासिक विवेचन तो हमें देती ही है, वह सामाजिक विकास के कई महत्वपूर्ण तथ्यों और प्रवृत्तियों को भी सामने लाती है।

यह सत्य है कि रूस की नयी समाज-व्यवस्था में अधिनायकतंत्र का उदय हुआ। यह भी

सच है कि पास्तर्नाक जैसे लेखकों का इस व्यवस्था में दमन होता है और अपने विचारों को आज़ादी से व्यक्त-करने में समय समय पर लेखकवृन्द वहाँ स्वयं को बाधित पाते हैं। आर्थिक पीठका और वर्गसंघर्ष को बहुत अधिक महत्व देकर की हुई उनकी व्याख्याओं में असंतुलन भी प्राप्त होता है, किन्तु रूस में जो कुछ स्वस्थ और सुन्दर है उसके साथ इन दुबर्लताओं को भी प्रश्रय देने के लिए हम बाध्य नहीं हैं जो किसी प्रकार हमारे अनुकूल नहीं। हमारा अभ्यास विरोध की बातों पर बहुत जोर देने का नहीं है, क्योंकि हम उस भविष्य की परिकल्पना से परिचालित हैं जिसमें विश्व के समस्त राष्ट्रों और मतों को परस्पर मिलजुल कर रहना होगा। पश्चिम की संस्कृति आज अपने को ऐसी बन्द गली के छोर पर पाती है जिसके आगे कोई राह नहीं है। यह भावना उसके काव्य में, साहित्य में और इतिहास, दर्शन में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। टी० एस० इलियट और टायनबी जैसे कवि और इतिहासकार उसका जीवन्त और समग्र अनुभव करते हुए पुनर्मूल्यांकन और नयी दिशाओं की खोज करते हुए पाये जाते हैं। इसके विपरीत भारत विकास के लिए मार्ग ही देखता है। आधुनिक भारत में निर्मित होनेवाला जीवन केवल आरम्भ की स्थिति में है। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि पश्चिम के विकासकाल के तत्व और उसकी विरासत के अनुकूल अंश स्वीकार करते हुए भी भारत पश्चिम की गति को अपनी गति न बनाये।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य हमारे जीवन और इतिहास के अनुरूप विकसित हुआ है। उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु-युग में उसकी उन्मुखता वर्तमान यथार्थ की ओर थी, द्विवेदी युग में इस वर्तमान का संबंध अतीत से जोड़ने के प्रयत्न किये गये हैं तथा छायावादी कवियों ने भविष्य की परिकल्पना के साथ भी उसका योग किया है। इसके पश्चात् पुनः वर्तमान की ओर उन्मुखता है। अब वह विकास के द्वितीय सोपान पर आरूढ़ है। अनेक कवि, कथाकार और साहित्य-चिन्तक इस प्रक्रिया में सामने आये हैं तथा उन्होंने विश्व-साहित्य की पृष्ठभूमि में अपने साहित्य को उसकी पुष्ट और स्वतन्त्र रूपरेखा प्रदान की है।

भारतेन्दु-युग में नयी चेतना का अत्यंत सरल रूप दिखाई देता है। एक लम्बी निद्रा के पश्चात् आँखें खोलकर देश अपनी वास्तविकता का साक्षात्कार करता है। विवर्तन के एक ही आकुल क्षण में एक युग का अवसान होकर एक नये युग का आविर्भाव होता है। राष्ट्रीयता और जातीयता के पुनरुन्मेष के साथ आसपास के जगत् तथा पश्चिम के अनाहूत अतिथि सम्राट् की यथार्थमूलक स्वीकृति और तज्जन्य प्रतिक्रिया दिखाई देती है। काव्य में पराधीनता का बोध प्रधान है और उसके साथ आकांक्षित उन्मुक्ति की छटपटाहट भी। राष्ट्र अपनी समष्टि के पुनर्मूल्यांकन में संलग्न होता है। हिन्दी-काव्य में इसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है, यह एक तात्कालिक और सहज प्रतिक्रिया थी। गंभीर चिन्तन का योग उसके साथ इस समय नहीं हुआ।

द्विवेदी-युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों का आविर्भाव होता है। वे पौराणिक आख्यानों का आश्रय लेकर उनमें नये युग के अर्थों का संचार करते हैं, प्रत्येक क्षण के अतीत की गौरव गरिमा का स्मरण करते देख पड़ते हैं। इनके केन्द्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्य महारथी हैं—आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रतिमा गढ़ने में

जिनका महत्वपूर्ण योग है। इन लोगों का कार्य अपनी ही विरासत और अपनी ही साहित्यिक पृष्ठभूमि से संबद्ध है। जो शक्ति उन्हें क्रियाशील बनाती है, वह उनकी आन्तरिक शक्ति ही है।

सन् १९२० के बाद हमें आधुनिक हिंदी-साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण कवि, उपन्यासकार और समीक्षक प्राप्त होते हैं। प्रसाद, निराला और पंत जैसे महान् कवियों की एक साथ अवतारणा किसी भी साहित्य के इतिहास में कोई साधारण घटना नहीं है; इनके कल्पनाशील सौन्दर्योन्मुख काव्य के अंतरंग में नये युग की चेतना के साथ संस्कृति के गहनतर तत्वों का भी योग है। उन्मुक्ति की एक आकांक्षा, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के समस्त जन-समाज को एकान्वित करने वाली मानवतावादी भूमिका यहाँ विद्यमान है। अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करने में इन कवियों ने भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का ही उपयोग किया है।

'कामायनी' छायावादी युग की समग्रता को समाविष्ट करनेवाली अन्यतम सिद्धि है। प्रतीकों का आश्रय लेकर मनुष्य का स्वरूप उसमें केवल भारतीय इतिहास के आधार पर ही नहीं, समस्त मानव-जाति के इतिहास की गतिमानता में देखा गया है। संस्कृति की उसकी परिकल्पना राष्ट्र की सीमाओं से कहीं विशाल है। वह मनुष्य के मूल सत्व का स्पर्श कराती है। मानव व्यक्तित्व के सम्मान को केन्द्र में रखकर एक व्यापक जीवन-दर्शन का भवन उसमें निर्मित किया गया है, वह नये रूप से युक्त नये युग का महाकाव्य है। अपनी विशेषता में वह अप्रतिम है और हम विश्वासपूर्वक एक प्रदेय के रूप में उसे विश्व के समक्ष उपस्थित कर सकते हैं।

छायावादी युग की समाप्ति के साथ-साथ जिस नये युग का आविर्भाव हिन्दी-कविता के क्षेत्र में हुआ उसमें भी हमें अनेक अतिशयताओं के बीच मूलतः उसी मानवतावाद का स्वर सुनाई पड़ता है जिसकी चर्चा हम अभी-अभी कर चुके हैं।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में विश्व के बड़े साहित्यिकों में परिगणित होने योग्य हमारे प्रेमचन्द हैं। उनकी तुलना बहुधा तात्सताय से की गयी है, क्योंकि मानवतावादी दृष्टि की दोनों में ही प्रधानता है। बृहत् सामाजिक अन्याय के उद्घाटन को हम प्रेमचन्द के कृतित्व का मूलसत्व कह सकते हैं, किन्तु इस अन्याय की कसौटी वे कहाँ से प्राप्त करते हैं?—मनुष्य के व्यक्तित्व में अटल और अदम्य आस्था के द्वारा। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के गतिमान चित्रपट को अपनी कृतियों में उन्होंने सजीव किया है। वस्तु-विन्यास सरल है और उपकरण साधारण, किन्तु आस्था की अपार शक्ति उनकी कृतियों में स्पंदित होती है। निश्चय ही भारतीय उपन्यास की रूपरेखा पुष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए वे सदा स्मरणीय रहेंगे।

समीक्षा के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्य-शास्त्र पर पुनर्चिन्तन कर हिन्दी-कविता के भावी विकास के लिए न केवल नये मानदण्ड ही निर्धारित किये, नये तत्वों से समाविष्ट होकर सामने आने वाले उसके नये-नये रूपों को उपयुक्त आधार भी प्रदान किया। काव्य को लोक-मंगल की कसौटी पर कसकर वस्तुतः उन्होंने भी विश्व-साहित्य की मानवतावादी परम्परा को भारतीय चिन्तन की स्वस्थ गतिविधि से ही परिचित कराया है।

आज हिन्दी के कुछ साहित्यकार आधुनिकता के पुजारी बन गये हैं। इस शब्द का आशय समझने के लिए वे पश्चिमी विद्वानों के द्वारा किये गये विवेचनों को पढ़ते हैं। अपनी जड़ें पश्चिम में जमाकर उसके फल वे भारत को देने के अभिलाषी हैं। वे यह सोचने का प्रयास नहीं करते कि आधुनिकता शब्द का भारत के लिए अपना अर्थ भी हो सकता है और वस्तुतः यही उसकी आत्मा का वास्तविक परिचायक भी होगा। आधुनिकता भारत के लिए पश्चिम से नहीं, केवल आधुनिक भारत से ही नहीं, किन्तु समस्त भारतीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन और आत्मसात् के द्वारा ही अर्थ-ग्रहण कर सकती है। जैसे पश्चिम के कवि और इतिहासकार अपने विकास की समष्टि को एक इकाई के रूप में देखकर अपने वर्तमान को समझने और भविष्य के लिए दिशाएँ खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं, वैसे ही हमें भी अपनी समष्टि को इकाई के रूप में देखकर अपना मार्ग तय करना है। अमेरिका और रूस, पश्चिम और चीन सब का प्रदेय इस विलक्षण युग में हमारी अपनी विरासत के साथ हमें प्राप्य है। किन्तु उसे हम तब तक ग्रहण नहीं कर सकते जब तक हम उसके पीछे दौड़ते हैं। अपने केन्द्र में स्थित रहकर एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्मसात् कर ही हम उसका उचित और स्वस्थ उपयोग कर सकते हैं। वेद और उपनिषद् से लेकर बुद्ध और गांधी तक भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शन अपनी ऊर्जा से विकसित और पुष्पित होता रहा है। इन सबको अपनी आत्मा में स्थान देकर अपने स्वतन्त्र चिन्तन से कुछ निर्माण करके ही हम बुद्धिवादी निर्माता और भारतीय लेखक होने का दावा कर सकते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त आधुनिकता ही हमारे जीवन और साहित्य का वास्तविक संस्कार कर उसे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कहलाने का गौरव प्रदान कर सकती है।